गीता-दर्शन

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

3

संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला

विनम्र निवेदन

प्रस्तुत 'गीता-दर्शन'' (तीन खण्डोंमें), पूर्व प्रकाशित 'गीता-दर्शन' तेरह खण्डोंका ही एक नवीन संस्करण है। श्रीमद्भगवद्गीता पर परमपूज्य 'महाराजश्री' स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजीका प्रायः दस दिवसीय प्रवचन सत्रका आयोजन श्रीमती सरला एवं श्रीबसन्तकुमार बिरला द्वारा, बिरला पार्क, कोलकातामें सन् 1974 से प्रति वर्ष आयोजित किया जाता रहा। यह क्रम सन् 1986 पर्यन्त, लगातार तेरह वर्षों तक चलता रहा।

पूज्य महाराजश्रीने 19 नवम्बर 1987के दिन वृन्दावनमें अपनी लीलाका संवरण कर लिया। उपरोक्त प्रवचन श्रृंखलामें श्रीमद्भगवतगीताके पन्द्रहवें अध्याय तक ही प्रवचन हो पाये थे। इन प्रवचनोंकी रिकार्डिंग कर ली जाती थी, तदन्तर सुनके लिख लिया जाता था।

प्रथम तीन प्रवचन-सत्रोंका संकलन श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठीने किया। उसके अगले 'गीता-दर्शन' के दस खण्डोंका संकलन स्वयं श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरलाने किया है। पिछले पच्चीस वर्षोंमें 'गीता-दर्शन'के तेरह खण्डोंके सम्पूर्ण सेटकी माँग पाठक वर्ग द्वारा निरन्तर बनी हुई है।

कुछ माह पूर्व सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्टके न्यासी श्री केवलकिशन सेठीने श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला का 'गीता-दर्शन'के तेरह खण्डोंको तीन खण्डोंमें उपलब्ध करवाये जानेका सुझाव जब ट्रस्टके चेयरमैन स्वामीश्री सच्चिदानन्द सरस्वतीजीके समक्ष प्रस्तुत किया तब उन्होंने इस कार्यके लिए अपनी सहर्ष स्वीकृति प्रदान की। श्रीस्वामीजीने तत्काल श्रीसोमदत्त द्विवेदीको, इस कार्यको शीघ्र-से-शीघ्र सम्पन्न करने हेतु आवश्यक निर्देश दिए। परमादरणीय वीतराग स्वामीश्री गोविन्दानन्द सरस्वतीजीका अथक प्रयास था कि यह ग्रन्थ संशोधित रूपमें पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत हो। संशोधनमें ब्रह्मचारी रामनरेशजीका सहयोग सराहनीय है।

आज हम इस बातसे अत्यधिक हर्षित हैं कि पूज्य महाराजश्री जी की श्रीमद्भगवद्गीताकी अनुपम व्याख्याका यह प्रसाद अब हमें इस नवीन कलेवरमें उपलब्ध हो रहा है। इन तीन खण्डोंमें पूज्य महाराजश्रीके रोचक, सरस, प्रसन्न एवं गम्भीर शैलीमें प्रदत्त 130 प्रवचनोंका बेजोड़ संकलन है जिसके माध्यमसे भगवान् श्रीकृष्णका सन्देश 'गीता-दर्शन' साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है। हमें पूर्ण विश्वास है कि सुधी पाठक वर्ग पूज्य महाराजश्रीकी प्रस्तुत व्याख्यासे अवश्य लाभान्वित होंगे।

पुनर्मुद्रणमें प्रकाशनकी अशुद्धियाँ, त्रुटियाँ जहाँ कहीं भी रह गयी हों, आप हमें अवश्य लिखें जिससे कि अगले संस्करणमें शुद्ध किया जा सके। परमपूज्य महाराजश्रीके श्रीचरणोंमें बारम्बार प्रणाम सहित...

–ट्रस्टी

सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट
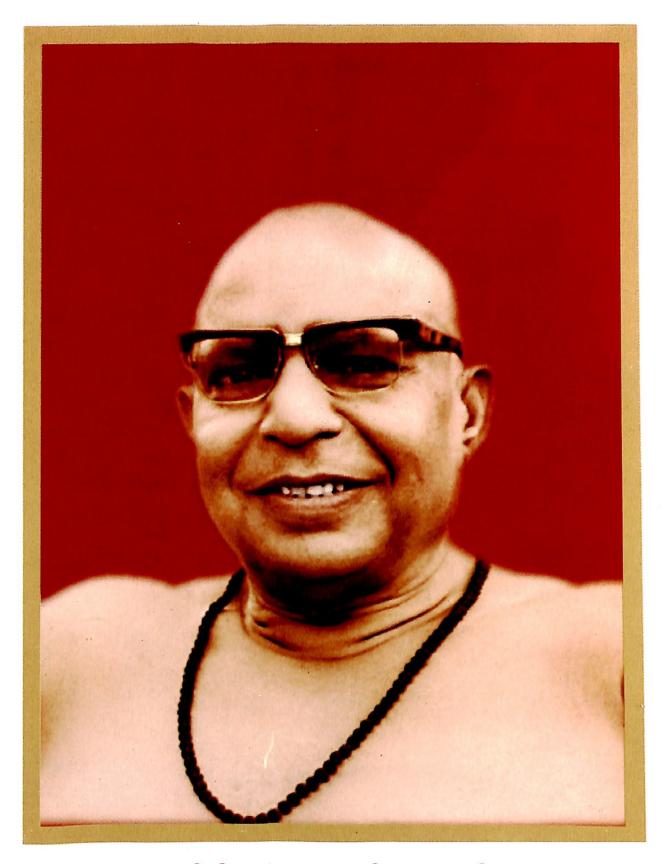
स्वामीश्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

मङ्गलं विश्वरूपाय

कर्मयोगी श्रीघनश्यामदास बिरलाकी प्रेरणासे प्रवर्तित गीता-प्रवचनका यह नवम भाग आपके हाथोंमें उपस्थित है। इसमें भगवान् श्रीकृष्णके विराट् विश्वरूपका वर्णन है। जीवन-मरण, हेय-उपादेय, सुख-दुःख, बन्धन-मुक्ति सब उन्हींका स्वरूप है। भीष्म, द्रोण, दुर्योधन-शल्य सब उन्हींके शरीरमें हैं। ऋषि, मुनि, देवता, मानव, दानव कुछ भी उनसे अलग नहीं है। क्षर-अक्षर, बाह्य-आभ्यन्तर, दिशा-विदिशा, भूत-भविष्य-वर्तमान सब उनका ही स्वरूप है। हम सब भी उनसे एक रहकर उनके शरीरमें स्फुरित हो रहे हैं। वह सहस्र-शीर्षा पुरुष प्रत्यक्ष है। वही देखता है, वही दिखाता है। प्रपन्न व्यक्ति उन्हींसे दिव्य-दृष्टि प्राप्त करके उनका अनुभव कर सकता है।

श्रीमती सरला बिरला एवं श्रीबसन्तकुमार बिरलाके प्रेम, श्रद्धा एवं साधनका ही यह सत्फल है। विश्वरूप भगवान् उनको और उनके समस्त परिवारको सद्भाव, सद्विचार एवं अपनी भक्ति प्रदान करें।

विश्वरूपाय मङ्गलम्।

अखण्डानन्द सरस्वती

प्रस्तुति

पूज्यश्री स्वामीजी महाराज, सत्संगप्रेमियो!

इस महायज्ञके शुभारम्भपर मैं पूज्यश्री स्वामीजीको प्रणाम करती हूँ तथा आप सबका स्वागत करती हूँ। पूज्य स्वामीजी अपनी वाणीसे हमें अमृत पान करायेंगे, हम सब उसके लिए उत्सुक हैं। पूज्य महाराजजीको अच्छा स्वास्थ्य तथा लम्बी उम्र ईश्वर दें, यही प्रार्थना करती हूँ।

अनेक धन्यवाद!

—सरला बिरला

गीता अध्याय - 11

प्रवचन : 1

(19.11.82)

अम्ब त्वामनुसंदधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।

भगवद् गीता अम्बा है। अम्बा माने माँ। इसके मूल धातुका अर्थ होता है 'वर्ण'। वर्णमयी माँ। पचास वर्णोंसे मातृका बनती है। 'अ'से लेकर 'क्ष'तक।यह मातृका है, माता है, स्वरोंके रूपमें, वर्णोंके रूपमें, उनसे बने पदोंके रूपमें, वाक्योंके रूपमें—सबके प्रति स्नेह, वात्सल्यकी वर्षा करनेवाली, अमृत रस पिलानेवाली भगवद्गीता अम्बा है। इसका निवास भगवान्‌का हृदय है। भगवान्‌को भी साकार रूप देनेवाली यही है। यदि ये अम्बा न हो तो भगवान्‌का रूप भी कोई नहीं जान सकता।

यही स्वतन्त्र परावाक्‌के रूपमें रहती हैं। मूलाधारमें पश्यन्तीके रूपमें आती है। मणिपूरकमें मध्यमा वाक्‌के रूपमें कण्ठमें आती हैं और वैखरी वाणीके रूपमें आती हैं—मुखमें जीभ पर इनको परा वाक् कहो, मूल सरस्वती कहो, जगदम्बा कहो, ईश्वरकी भी माँ कहो—इसीसे गीताका निरूपण करते हैं।

या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।

भगवान्‌ने यह कहा कि गीता! तुम हमारे हृदयमें-से बाहर निकलो! तुम प्रकाशित हो जाओ—ऐसा भगवान्‌ने नहीं कहा। यह स्वयं भगवान्‌के मुँहसे—मुखारविन्दसे प्रकट हुई। अर्थात गीताका ज्ञान ईश्वराधीन ज्ञान नहीं है। यह स्वतन्त्र ज्ञान है। अपौरूषेय ज्ञान है। यह श्रीकृष्णके द्वारा निर्मित नहीं है। यह जीवके द्वारा भी निर्मित नहीं है। यह ईश्वर निर्मित भी नहीं है।यह अनादि है, यह अपौरुषेय है। जब-जब श्रीकृष्णावतार होता है, प्रत्येक द्वापरमें तब-तब एक ही ज्ञान प्रकट होता है। अनेक श्री कृष्णका अवतार होता है। अनेक श्री कृष्णमें जो ज्ञान रहता है वह एक होता है। वह एक ज्ञान प्रकट होता है। इस ज्ञानका नाम गीता है।

भगवान् श्रीकृष्ण इसकी रचना नहीं करते। इसका गान करते हैं। रचना करना दूसरी चीज है और गाना दूसरी वस्तु है। बना बनाया गाना गा दिया जाता है। इसे संगीत कहनेका अभिप्राय है। यह मधुर है—यह ललित है। इसमें स्वर है, ताल है, व्यवस्था है, मर्यादा है। संगीत अमर्यादित होने पर संगीत नहीं रहता। संगीतमें स्वर, ताल, लय, विराम, मूर्च्छना, जातियाँ सब व्यवस्थित होनी चाहिए। गीताका ज्ञान समग्ररूपसे व्यवस्थित है, मधुर है, गम्भीर है और स्वतःसिद्ध ज्ञान है। परिस्थितियाँ बदलती है, समय बदलता है, पर नित्य-संगीत हमेशा ही उपयोगी होता है। जो अनुपयोगी होता है, उसे लोग छोड़ जाते हैं।

काशीके प्रकाण्ड पण्डित महामहोपाध्याय श्रीशिवकुमार शास्त्रीने एक प्रसंगमें लिखा है—यह काम लोगोंने क्यो छोड़ दिया? क्योंकि यह अनुपयोगी था। जिस वस्तुका उपयोग नहीं रहता वह छूट जाती है। परन्तु

यह गीताका योग सर्वदा उपयोग करनेके लिए है। जहाँ जीवन है वहाँ गीताका उपयोग है। जीवन और गीताका उपयोग एक साथ जुड़ा हुआ है। यह मित्र-मित्रका संवाद है।

अर्जुनके मनमें उदासी आयी। विवाद हुआ। उसने कहा—'मैं शस्त्र-शस्त्र फेंक कर भीख माँगकर खाऊँगा।'

श्रीकृष्ण घोड़ेकी बागडोर तो संभालकर रखी ही, अर्जुनके कन्धे पर हाथ रखा और कहा—मित्र,जब दो मित्र इकट्ठे हो तब किसी निश्चयकी घोषणा अकेले नहीं करनी चाहिए। सलाह तो कर लेनी चाहिए।

अर्जुनने कहा—मेरी बुद्धि काम नहीं करती। तुम सलाह दो मैं मानूँगा।

'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।' 2.7

श्रीकृष्णने अर्जुनको अनेक प्रकारसे समझाया। अन्तमें कह दिया—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ 10.42

सम्पूर्ण जगतको विस्तब्ध करके अपनी मुठ्ठीमें रखा है। धरतीसे मैं कहता हूँ अपनी जगह पर स्थिर रहो। हटो मत। दृढ़ रहो। हमारी आज्ञासे पृथ्वी दृढ़ है। जल रसीला प्रवाहित रहता है। तेज तेजस्वी रहता है। वायु प्राण देता है। आकाश अवकाश देता है। सम्पूर्ण जगत मेरे एकांशसे स्तब्ध, स्तम्भित अपनी-अपनी मर्यादामें स्थित है।

सम्पूर्ण जगत्को स्थिर रखनेवाले, मर्यादामें रखनेवाले तुम्ही हो। यह बात तो बड़ी गुप्त थी। तुमने मुझसे कह दी। ऐसा लगता है कि तुमने अपने जीवनका रहस्य—गुप्त-से-गुप्त बात मुझे बता दी। ग्यारहवें अध्यायमें आरम्भमें ही अर्जुन कहता है—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्।
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर॥
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम।
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो॥
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ 11.1-4

अर्जुनका कहना है कि जो बात, जो वचन तुमने मुझसे कहा है, वह केवल मुझपर अनुग्रह करनेके लिए ही कहा है। बोलनेके ढंगसे प्रकट होता है कि यह सब तुमने अपने किसी स्वार्थसे नहीं कहा है। अपनी ख्यातिके लिए नहीं कहा है। अपने लाभके लिए नहीं कहा है। अपनी पूजाके लिए नहीं कहा है। केवल अनुग्रह करके यह बात कही है। यह अनुग्रह सबके ऊपर है? नहीं, अर्जुनने कहा—नहीं। मैं तो अनुभव करता हूँ कि यह अनुग्रह केवल मुझपर है—'मदनुग्रहाय'।

मदनुग्रहाय—मेरे ऊपर अनुग्रह करनेके लिए तुमने यह बात बतायी है। वैसे अनुग्रह शब्द यह बताता है कि पहले कुछ हो, उसके बाद अनुग्रह होगा। अनुग्रह छोटा भाई है। इसका बड़ा भाई कोई होना चाहिए। जैसे अनुमानका बड़ा भाई है प्रत्यक्ष प्रमाण और छोटा भाई होता है अनुमान। जो प्रत्यक्षमूलक और प्रत्यक्षफलक होता है, उसको अनुमान कहते हैं। प्रत्यक्षके आधारपर ही अनुमान होता है। निराधार अनुमान नहीं होता। अनुग्रहका भी कोई आधार चाहिए। जैसे अनुज बड़े भाईका छोटा-भाई है। अनुज—आगे चलनेवालेके पीछे चलनेवाला है। ऐसे ही अनुग्रहके पहले कुछ चाहिए। इसमें भक्तोंका और वेदान्तियोंका थोड़ा-सा मतभेद है। कहते हैं ईश्वरके सामने एक समस्या है। वे किसपर कृपा करें और किसपर न करें? यदि कृपा करें तो उनके सब हैं, सबपर करें और न करें तो किसीपर न करें। फिर तो कृपाका कोई अर्थ ही नहीं रहा। सार्वजनिक हो गयी। है तो सार्वजनिक और नहीं है तो बिल्कुल नहीं है।

हमारे आर्यसमाजी भाइयोंने कृपाको अछूता कर दिया। वे कहते हैं, ईश्वर निराकार है और न्यायशील है। वह कृपा नहीं करता। वह न्याय करता है। हम लोगोंने देखा कि ईश्वर मात्र न्याय करेगा तब तो हमारे लिए कोई मार्ग नहीं, कोई स्थान नहीं। इतनी त्रुटियाँ हैं अपने जीवनमें, इतने अपराध हैं कि न्याय प्राप्त करके हम आगे बढ़ नहीं सकते, ईश्वरमें करुणा अवश्य होनी चाहिए। यदि वह करुणा करके उद्धार नहीं करेगा तो हम बढ़ नहीं सकते। उद्धार माने ऊपर उठाना। उद्धार माने यह नहीं कि नरकसे उद्धार कर दिया। उद्धार माने जिस स्थितिमें हम अटक गये हैं वहाँसे उठाकर हमको आगे बढ़ाना।

सब काम मरनेके बादके लिए नहीं होता। इस जीवनमें भी तो कुछ होता है न! इस जीवनमें जहाँ हम पिछड़ गये हैं वहाँ वह हमें आगे बढ़ावे। जहाँ गिर गये हैं वहाँसे वह हमें उठा ले। जो हम नहीं समझते हैं वह हमें समझा दे। यदि ईश्वर यह नहीं कर सकता तो उसमें ईश्वरत्व क्या है? तब व्यवस्था चाहिए कि किसपर अनुग्रह करें किसपर न करें! इसके लिए वेदान्तदर्शनमें एक विवरण है—

नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति। (ब्रह्मसूत्र 2.1.34)

भगवान् किसीके साथ पक्षपात नहीं करते। और किसीके साथ निर्दयता, क्रूरता भी नहीं करते। तब क्या करते हैं? अनुग्रह करते हैं। अनुग्रह कैसे करते हैं? 'गृह्णन्तम्'—जो भगवान्का पाँव पकड़ ले उसको वे पकड़ लेते हैं। अनुग्रह क्या हुआ? जो उनकी ओर देखे उसकी ओर देखकर अपनी आँखोंमें बिठा लेते हैं। देखनेवाला तो केवल देखता है। भगवान् तो अपनी आँखोंमें बिठा लेते हैं। उनको कोई सिर झुकावे तो उसके सिरको उठाकर अपने हृदयसे लगा लेते हैं। उनकी ओर कोई एक कदम चले तो सौ कदम पार करके उसके साथ मिल जाते हैं। सम्मुख होना—***'सनमुख होई जीव मोहि जबही—जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं'***—यह भगवान्का अनुग्रह है।

अर्जुनने जब कहा कि 'शिष्यस्तेऽहम्'—तब उसको पहले गुरुत्व दिखाया—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वम् (2.11)

डाँट दिया, फटकार दिया कि हमको गुरु बनाकर, हमारे शिष्य होकर तुम शोकग्रस्त हो! हमारे होकर

दुःखी रहोंगे तो हमारी बदनामी होगी। अपने गुरुकी बदनामी न हो, अपने इष्टकी बदनामी न तो—अपने पिता-माताको बदनामी न हो, इसका ख्याल तो रखना ही चाहिए। मेरे होकर तुम शोक करोगे तो लोग मेरा बनना ही पसन्द नहीं करेंगे। भक्ति सम्प्रदायका ही लोप हो जायेगा। मेरा अपना हो और दुःखी हो यह दोनों एक साथ नहीं हो सकता। अर्जुन कहता है तुमने मुझपर अनुग्रह किया, मुझे अपना बना लिया। अनुग्रह किस रूपमें किया? तुमने कुछ वचन कहे—कैसे वचन कहे? 'परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्'—ये वचन गुह्य हैं—गुह्य माने गोपनीय है। जैसे मनुष्य अपने शरीरके गुह्य स्थानको वस्त्रोंके द्वारा गूहन करके छिपाकर, आवृत करके रखता है, ऐसे ही यह वचन जो तुमने कहे हैं—परमं गुह्यं हैं—छिपाने योग्य हैं। भगवद्-गीतामें भगवान्ने—'गुह्य' शब्दका प्रयोग स्वयं भी बहुत किया है।

'गुह्यात् गुह्यतरम्': 'गुह्यतमम्, परमं गुह्यतमम्' में गुह्यात् गुह्यतर आजाता है। संस्कृत भाषामें परम शब्दका अर्थ ऐसा होगा कि 'परा-मा-यस्मिन्—तत् परमा' जिसकी शोभा सबसे बड़ी हो, परा—जिसमें सर्वश्रेष्ठ लक्ष्मीका निवास हो, 'तत्र श्रीर्विजयो भूतिः' और पराका प्रमा 'यस्मिन्' जिसमें परम सच्चा ज्ञान, यथार्थ ज्ञान, तत्त्वज्ञान भरा हुआ हो, ऐसा परम गुह्य वचन। इसका नाम क्या दें? 'अध्यात्मसंज्ञितम्' इसका नाम है 'अध्यात्म'। अच्छा भाई, मैंने तो तुमको बहुत गुह्य बात बतायी—दोनों आपसमें बातचीत करते हैं—कृष्णने कहा कि अर्जुन, मैंने तो तुमको बहुत गुह्य बात बतायी। तुम समझ भी ..ये कि मैं तुम्हारे ऊपर अनुग्रह भी कर रहा हूँ—इसका कुछ नतीजा निकला कि नहीं? कुछ फल हुआ कि नहीं। जो श्रेष्ठ वचन होते हैं वे कभी व्यर्थ नहीं जाते। व्यर्थ बोलना ही नहीं चाहिए। अभिप्राययुक्त वचन ही बोलना चाहिए। वाणीका अपव्यय नहीं होना चाहिए।

अच्छा भाई, हमने तो बोल दिया—इसका कुछ परिणाम निकला? कुछ नतीजा हुआ? परिणतिका हो गया—नति और परिणतिमें जो फल होता है उसको बोलेंगे नतीजा। भाषा तो सब एक ही जगहसे निकली हैं। लड़ाई करनेवाले भाषाके मूलको नहीं जानते। नतीजा निकला इसका? 'मोहोऽयं विगतो मम'। हमारा जो मोह है यह विगतकी वस्तु हो गयी। भूतमें कभी मोह था—अब नहीं है। 'मोहोऽयं विगतो मम'। मोह शब्दका अर्थ संस्कृतमें होता है चित्तकी विपरीतता। 'मुह वैचित्त्ये'। जब चित्त विपरीत हो जाता है। आत्माको शरीर समझना भी मोह है। शरीरको आत्मा समझना भी मोह है। और फिर हमारे जन्मसे पहलेकी चीजें हैं, उनको अपना समझना मोह है कि नहीं?

उन्हें अपना मत मानो। धरती है, चाँदी है, सोना है—तुम्हारे जन्मके पहलेके हैं ये सब। तुम धरतीपर पैदा हुए और धरतीको अपनी मानकर फँस गये। हम धरतीके हैं, ऐसा मानकर धरतीकी सेवा करो। हम माँके पुत्र हैं तो पुत्रका कर्त्तव्य होता है माँकी सेवा करना। माँको अपनी मानकर अपनी इच्छाके अनुसार उसको नचाना—यह तो कर्त्तव्य नहीं होता है। यह मोह है। मोह क्या है? ये मेरे, ये मेरे, ये मेरे—यही मोह है। सब ईश्वरके हैं, यह कहो, तब भी चलेगा। सब स्वयंप्रकाश है, यह भी चलेगा। परन्तु यह मेरी और यह तेरी—करके अपने हृदयको कठोर बना लेना और अपने हृदयमें हिंसाको स्थान देना—यह मोह है। अर्जुनने कहा—मेरा मोह छूट गया। तो वचनका फल निकला—हाँ महाराज, फल इसलिए निकला कि आपने बड़ी युक्तिसे समझाया।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥

हे कमलपत्राक्ष—यह श्रीकृष्णके लिए सम्बोधन है। पहली नजर श्रीकृष्णकी सुन्दरतापर और सुन्दरतामें भी आँखपर—यह अर्जुनकी दृष्टि है। आँख-से-आँख मिली है। कमलपत्राक्ष—कमल-दलके समान जिनके नेत्र हैं। अर्जुनकी दृष्टि कहाँ है? कृष्णकी आँखपर, उनके इशारेको देख रहा है। मैंने तुम्हारे मुखसे सुना कि संसारकी उत्पत्ति और प्रलय कैसे होते हैं। 'भवनं भवः' होनेका नाम है भव और 'अप्ययनम् अप्ययः' डूब जाना—सो जाना—प्रलीन हो जाना। यह संसारके जितने प्राणी हैं ये कैसे जनम जाते हैं और कैसे इनका प्रलय हो जाता है यह मैंने तुमसे सुना। यहाँ एक अद्भुत बात है। माण्डूक्योपनिषद्में है—

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः
सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥ (6)

यह जो परमेश्वर है यह सर्वज्ञ है, सर्वेश्वर है और सम्पूर्ण प्राणियोंका जन्म और प्रलय यही है। माने इसीमें इसीसे सबका जन्म होता है और इसीसे इसीमें सबका प्रलय होता है। यह तो वेदका मन्त्र ही उद्धृत कर दिया। लेकिन 'श्रुतौ' शब्द जो है वह दो अर्थोंमें आया है। श्रुतौ माने मैंने श्रवण किया और दूसरा अर्थ है श्रुतौ—मैंने वेदोंमें भी सुना है—माण्डूक्य उपनिषद् भी यही बोलती है—श्रुतौ उपनिषदि।

लेकिन वह उपनिषद् तुमने स्वयं मुझे सुनायी। तुमने उपनिषद् मुझे सुना दी और वह भी विस्तारसे और अपनी महिमा भी सुनायी 'माहात्म्यमपि चाव्ययम्'। अपनी विभूतियाँ सुनायी। अपना योग सुनाया—क्या वैभव है भगवान्का? सूर्य, नक्षत्र, ग्रह, तारे। यह पृथिवी दृढ़ रहती है, फटती नहीं है, धारिणी शक्ति है। यह जल भगवान्की आप्यायिनी शक्ति है जो तृप्ति देता है। यह तेज है—यह भगवान्की तेजस्विनी, प्रकाशिनी शक्ति है। वायु है, प्राणिनी शक्ति है। आकाश है—यह भगवान्की श्रावणी शक्ति है।

मैंने तुम्हारी अद्भुत, अव्यय महिमा (जिसका कभी व्यय नहीं होता) तुमसे सुनी। असलमें जो कभी अपने स्वरूपसे विचलित न हो, च्युत न हो उसको असल कहते हैं। यथार्थ—असल शब्द भी संस्कृतका ही है। न सलति इति असल। सल् गतौ जिससे सलिल बनता है—सलिल शब्द जिस धातुसे बनता है उससे असल शब्द बनता है। असलमें बाहरी आदमीसे बात करते हैं—तो दूसरेकी चर्चा करते हैं। वे ऐसे हैं, वे ऐसे हैं, वे ऐसे हैं। पर अपनी बात सबको बताना सम्भव नहीं है। मित्रके लिए ही सम्भव है। जैसे कोई बतावे कि हमारे पास इतनी पूँजी है, इतने हीरे हैं, इतनी मोटरें हैं—यह बात सबको नहीं बतायी जाती। बल्कि हमको तो ऐसा मालूम है कि कहीं-कहीं पति अपनी पत्नीको भी नहीं बताते। पत्नी अपने पतिको भी नहीं बताती है कि हमारे पास क्या-क्या है?

अपनी बात जो श्रीकृष्णने अर्जुनको बतायी यह तो बड़ी दुर्लभ बात है। सत्य क्या है? ईश्वर क्या है? यथार्थ क्या है? श्रीकृष्णने अपनी ओर इशारा करके उँगली अपने हृदयकी ओर रखी—यह है सत्य। इस तरह अपनी महिमा बतायी। आत्माकी जो यह महिमा है, यह अव्यय है। कभी इसका व्यय नहीं होता। कितना भी

करो। आत्मरूपसे ईश्वरका बोध होगा क्योंकि बाहरकी जो चीज होगी वह कभी आयेगी, कभी जायेगी। अपना आपा तो न आता है, न जाता है। अव्यय महिमा किसीकी है, तो आत्माकी है और श्रीकृष्णने स्पष्टरूपसे बता दिया।

अच्छा अर्जुन, मैंने तो बता दिया, तुमको कैसा लगा? कहीं तुमको ऐसा तो नहीं लगता कि झूठ-मूठ डींग हाँक रहा हूँ। मित्रकी बात है। मित्रके मनमें ऐसा लग सकता है कि देखो—यह क्या 'अपने मियाँ मिट्ठू' बन रहे हैं। सात सौ श्लोक हैं गीतामें और सात सौसे भी अधिक बार अस्मत् शब्दका प्रयोग है। अहं मया, मम, मयि, आदि। सात सौसे भी अधिक बार—किसी-किसी श्लोकमें तो 4-4, 5-5 बार अस्मत् शब्दका प्रयोग है।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु, मामेवैष्यसि। (18.65)

एक श्लोकमें पाँच बार मैं मैं मैं—कहीं अर्जुन तुम्हें ऐसा तो नहीं लगता कि यह मैं मैं मैं करके—बस अपनी तारीफ अपनी प्रशंसाके पुल बाँधते जा रहे हैं, डींग हाकते जा रहे हैं। अर्जुनने कहा—ना, ना, हे परमेश्वर! तुमने अपने आपको जैसा बतलाया है—एतत् तत्—यह बात ऐसी ही है। तुम परमेश्वर हो। एक योगी भी कोई बात झूठमूठ कहे तो वह भी सच हो जाती है। यह योगदर्शनकी सिद्धि है।.

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। (2.36)

जब जीवनमें सत्यकी प्रतिष्ठा हो जाती है तो बिना किये क्रियाका फल मिल जाता है। इसका अर्थ है कि यदि उसके मुँहसे कोई बात निकल गयी तो वह सच्ची होकर रहेगी। तुम तो साक्षात् परमेश्वर हो। जब योगियोंकी बात इतनी पक्की होती है तो तुम्हारी बात पक्की हो, इसमें तो शंका ही क्या है? तुम तो परमेश्वर हो।

द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम।

जैसा तुमने अपनेको बताया है, तुम्हारे उसी ईश्वररूपको—ईश-रूपको, जैसे ईश्वरसे ऐश्वर्य होता है वैसे ईशसे एक हो जाता है। तुम्हारे हम उस ईश्वरीय रूपको देखना चाहते हैं।

द्रष्टुमिच्छामि।

सम्बोधन देखो, कमलपत्राक्षसे शुरू किया अर्थात् सुन्दरतासे किन्तु केवल सुन्दर ही किसीको कहा जाय कि वे बड़े सुन्दर हैं तो बात पूरी बनती नहीं। अभी एक सज्जन बोल रहे थे हमने लड़कीको देखकर ब्याह किया है, पार्टीको देखकर नहीं किया। यहाँ केवल सुन्दरता ही नहीं, पारमैश्वर्य है। परमेश्वर-रूप सारी दुनियाका 'अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम्' परमेश्वर है। वह ईश्वरोंका भी ईश्वर है। ब्रह्मा, विष्णु, महेशको प्रशासित करना उसका स्वभाव है। 'ईशनं शीलमस्य स ईश्वरः'। शील अर्थमें प्रत्यय लगता है। और ईश्वरः च परमः च परमेश्वरः'। ब्रह्मा, विष्णु, महेशको जो नचाता है। 'विधि हरि-सम्भु नचावन हारे'—वह हो तुम। तुम्हारी बात झूठी कैसे हो सकती है। अब क्या चाहते हो?। 'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपं' बता तो दिया तुम्हें (11 वें अध्यायके अन्तमें उपसंहारमें ऐसा है।'

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।

एक हुआ ज्ञान, एक हुआ दर्शन और एक हुआ प्रवेश। तुमने ज्ञान तो करा दिया कि तुम कैसे हो परन्तु अब मैं तुम्हारे विश्व रूपको देखना चाहता हूँ—तुम मेरी सभी इच्छाएँ पूरी करते आये हो—मेरे लिए तुमने क्या नहीं किया। भगवान्ने इन्द्रसे वरदान माँगा—अर्जुन आपका पुत्र है, इससे मेरी मित्रता बनी रहे। इन्द्रको प्रसन्न करके श्रीकृष्णने अर्जुनसे मैत्री बनाये रखनेका वरदान माँगा। कौरवोंके पास सन्देश भेज दिया—अर्जुन और मैं—हम दोनोंको जो दो समझते हैं वे मूर्ख हैं। जो अर्जुनका मित्र है वह मेरा मित्र, जो अर्जुनका शत्रु वह मेरा शत्रु। 'यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि'। कृष्णो धनञ्जयस्य आत्मा।' मेरे लिए तुमने क्या-क्या नहीं किया। सारथि बन गये। हमारे पार्षद—हमारी सभाके सदस्य बन गये। पहरेदार बन गये। हमारे दूत बन गये। हमारे लिए कौरवोंकी सभामें तुमने विराट्-रूप प्रकट किया। मेरी एक छोटी-सी इच्छा और है। क्या? जैसा रूप तुमने अपना अभी बताया है उसका मैं दर्शन करना चाहता हूँ। कौन-सा रूप देखना चाहते हो? 'ऐश्वरम्'—ईश्वर-रूप देखना चाहता हूँ। क्योंकि पहले भी तुमने कई बार कहा, पर मैंने ध्यान नहीं दिया।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।

ऐश्वर्य-योगकी चर्चा तुमने बहुत बार की। कौन-सा आसन करें, कौन-सा प्राणायाम करें—क्या प्रत्याहार, धारणा, ध्यान करें कि तुम्हारे ईश्वरूपका दर्शन हो—यह मैं उपाय नहीं पूछ रहा हूँ। मैं तो कह रहा हूँ कि मुझे उपाय न करना पड़े और तुम दर्शन भी करा दो। 'द्रष्टमिच्छामि ते रूपम् ऐश्वरम्' बिना साधनके तुम दर्शन करना चाहते हो। उपाय तो बादमें छोड़ ही देने पड़ते हैं। एक सन्तसे किसीने आग्रह किया कि हमको शीघ्र-से-शीघ्र भगवान्का दर्शन करा दो। बोले—भाई, शीघ्र-से-शीघ्र क्यों? बोले घण्टे भरके बाद तो दूकानपर जाना है। आफिस जानेकी शीघ्रता है। इसलिए घण्टे भरके भीतर ही भगवान्का दर्शन हो जाना चाहिए। ऐसे दर्शन नहीं होता। महात्माने पूछा—अच्छा मान लो तुम्हें भगवान्के दर्शन अभी हो जायँ तो तुम अपना जीवन कैसा व्यतीत करोगे? पूछनेवालेने कहा—भगवान्का भजन करूँगा, सेवा करूँगा। अच्छा तो दर्शनके बाद सेवा ही करोगे न! भजन ही तो करोगे? तो जो काम दर्शनके बाद करना है वह काम अभीसे करो।

यह नहीं, यह करो तो यह होगा—उसके पास जाओ तो यह होगा। जो कर सकता है उसका कर देता है। पुरुषोत्तमका स्वभाव जो है, वह दूसरेके पास भेजना नहीं है। जो अन्य पुरुष होता है—संस्कृतमें 'प्रथम पुरुष' बोलते हैं। वह तो दूर होता है। जो मध्यम पुरुष होता है वह पास होता है। लेकिन उत्तम पुरुष तो अपनी आत्मामें ही होता है। सः होता है प्रथम पुरुष, अन्य पुरुष त्वम् होता है मध्यम पुरुष और अहम् होता है उत्तम पुरुष—तुम तो उत्तम पुरुष हो। इसका मतलब यह है कि यदि तुमने कभी कोई साधन करके अपने आपका दर्शन किया हो, साक्षात्कार किया हो तो जो तुमने किया है उसका फल हमको दे दो। और यदि तुम बिना किसी उपायके ही स्वयं अपने आपको जानते हो कि मैं पुरुषोत्तम हूँ तो जैसे तुम स्वयं जानते हो अपनेको वैसे

हमको भी स्वयं जना दो। कुछ उपाय, साधन करनेकी जरूरत नहीं है—हम नहीं करेंगे। हमको तो तुम अपना रूप दिखाओ।

अब अर्जुनके मनमें आया कि मैं जरा उद्धत निवेदन कर रहा हूँ। हमारी योग्यता है कि नहीं इसपर विचार किये बिना तुम दर्शन करा ही दो तो, यह कहना उचित नहीं है। एक सज्जन एक सेठके पास गये और बोले कि हमको पाँच लाख रुपया दे दो, हम गो-सेवाका काम करेंगे। हमारे सामनेकी ही बात है। सेठ तो नहीं हैं पर माँगनेवाले सज्जन तो हैं। सेठने कहा कि तुमने अबतक कितनी गायें रखी हैं? उनकी क्या सेवा की है? गायोंके बारेमें तुम्हारा क्या अनुभव है? अपनी योग्यता भी तो देखनी चाहिए। तुम कहते हो ईश्वररूपका दर्शन कराओ—तुम देख सकोगे या नहीं?—बोले हाँ यह तो हमसे गलती हुई।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥

अब मैं तुम्हारे ऊपर छोड़ता हूँ। मैंने अपनी इच्छा तो प्रकट कर दी लेकिन हे प्रभो! प्रभो कहनेका अर्थ है कि यदि मैं योग्य नहीं हूँ तब भी तुम दर्शन तो करा सकते हो क्योंकि प्रभु हो, समर्थ हो। प्रभु शब्दका अर्थ संस्कृतमें समर्थ होता है। यदि उस रूपका दर्शन आप मेरे लिए शक्य मानते हो तो 'योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्'। हे योगेश्वर! योगेश्वरका अर्थ है—यदि कोई उपाय करना हो—योग माने उपाय; वैद्य लोग तो कई दवाओंको मिलाते हैं तो उसको योग बोलते हैं और योगी लोग आत्मयोगको ही योग बोलते हैं। अनात्मासे वियोगको ही योगी लोग योग बोलते हैं। गीतामें भी वियोगको योग बताया है।

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्। (6.23)

दुःखके संयोगके वियोगका नाम योग है। अनात्म-प्रकृति और प्राकृत वस्तुसे जो योग है उसको योगी लोग योग कहते हैं। योगका अर्थ एकाग्रता भी होता है और जुड़ना भी होता है। समाधिके रूपमें भी योग शब्दहै और जुड़नेके अर्थमें योग शब्द है। हे योगेश्वर! यदि एकाग्रतासे दीखता हो तो हमको एकाग्र बना दो। और यदि तुम्हारे आलिंगनसे, तुम्हारे स्पर्शसे होता हो तो वह भी कर दो। लेकिन अपनी अव्यय आत्माका दर्शन, अविनाशी आत्माका दर्शन मुझे कराओ। मेरे मनमें बड़ी इच्छा है। यदि मैं दर्शन के योग्य नहीं हूँ तो मुझे योग्य बना लो।

श्रीभगवानुवाच—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥

देखो, प्रभु यह नहीं बोले कि मैं तुमको कोई उपाय बताता हूँ। करो आसन-प्राणायाम, योग करो। भगवान्ने यह नहीं कहा कि तुम योग करो। बोले कि पश्य—देखो—पहला शब्द बोले कि 'पश्य' मे पार्थ

रूपाणि—देखनेसे ऐसा मालूम पड़ता है कि अन्वय करेंगे तो 'हे पार्थ मे=मम रूपाणि पश्य'—हे अर्जुन, मेरे रूपोंको देखो—लेकिन में रूपाणिके स्थानपर 'मे पार्थ' कहकर गजब कर दिया। इसका अर्थ होता है—मेरे प्यारे अर्जुन, 'मे पार्थ—'पश्य' के बाद 'मे' हो जाता है नहीं तो 'मम' रहता। बोले पश्य 'मे पार्थ रुपाणि'—पार्थका मतलब है प्रथनशील। पृथिवीमें जो धातु है—जो वस्तु फैलकर बड़ी होनेवाली है—अर्जुन, तुम ब्रह्मसे एक होनेवाले हो, मुक्त होनेवाले हो—तुम विश्वात्मासे एक होनेवाले हो।

पार्थका दूसरा अर्थ है-पृथा माने कुन्ता और उसके पुत्र पार्थ और तीसरा अर्थ है—पाति इति पः, स एव अर्थो यस्य असो पार्थः। जो केवल परमात्माको चाहता है। देखो तुमने अपनी इच्छा प्रकट की—यह इच्छा प्रकट नहीं की कि मैं कौरवोंपर विजय प्राप्त करूँ—मैं धर्म-राज्यकी स्थापना करूँ, तुमने तो केवल यह इच्छा प्रकट की कि तुम्हारे स्वरूपका दर्शन हो जाय। हे प्यारे पार्थ! देखो, मेरे रूपको, देखो, यह ऐश्वर्य-रूप है। जो हम देख रहे हैं—'शतशः सहस्रशः' सैकड़ों हजारों माने असंख्य अगणित जो रूप हम देख रहे हैं ये भगवान्के रूप हैं। 'पश्य मे पार्थ रूपाणि'—जिसके द्वारा किसीका निरूपण होता हो, उसको रूप कहते हैं। 'रूप्यते अनेन इति रूपम्'। जिसके द्वारा हम समझ सकें, कि कोई कितना बड़ा है, उसकी लम्बाई-चौड़ाई कितनी है; उसकी आयु कितनी लम्बी है, उसके अंग-प्रत्यंग कितने बड़े हैं—जिनके द्वारा हम किसीको समझ सकें उसका नाम है। रूप देखो, मेरे रूप सैकड़ों-हजारों देखो। जैसे जादूगर-बोलता है न! देख लो, देख लो!!वैसे बड़े मायावी-मायापति बोले—देख लो, देख लो—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥

इनके प्रकार अनेक हैं—है एक चीजपर विधा अनेक है। विधा माने प्रकार। विशेष अवधानके लिए जो विशेष प्रकार होता है उसे 'विधा' बोलते हैं। धारणा—ठीक-ठीक अवधारणा हो जाय किसी वस्तुकी, उसकी रीतिका नाम 'विधा' होता है। इनकी रीति अलग-अलग है—एक आमका पेड़ है, एक बड़का पेड़ है, एक अंगूरकी लता है। एक धरती है पर ये सबके सब परमात्माको दिखानेवाले दिव्य हैं—सबमें दिव्यता भरी हुई है। 'नाना-वर्णाकृतीनि च।' इनके रंग रूप निराले हैं। वर्ण-माने रंग रूप और आकृति माने आकार। जैसे एक आदमीका रंग साँवला है या गोरा है या पीला है—वह तो है वर्ण। और आकृति है—वह आड़ी है कि टेढ़ी है कि लम्बी है। नाक नुकीली है कि चपटी यह आकृति है। नाना प्रकारके रंग देखो, नाना प्रकारकी आकृतियाँ देखो। सबकी शक्ल-सूरत बिल्कुल अलग-अलग—सबका नाम, रूप अलग-अलग, सबका आकार-प्रकार अलग-अलग—नाम-रूप क्रियात्मक समग्र प्रपञ्च—यह देखो मेरा ऐश्वर्यरूप है।

बहु स्यां प्रजायेय। (छान्दोग्य० 6.2.3)

यह मैं सबके रूपमें प्रकट हो रहा हूँ। केवल लौकिक ही नहीं-जो कुछ अलौकिक है सो भी देखो!

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 2

(20-11-82)

अम्ब त्वाम् अनुसंदधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।

अर्जुनने बड़ी ही शालीनता और विनयके साथ अपनी इच्छा प्रकट की कि मैं आपका ऐश्वर-रूप देखना चाहता हूँ। उसने यह भी कहाकि यदि मैं इसको देखनेकी योग्यता रखता हूँ—तो मुझे इसका दर्शन कराइये। केवल हमारी इच्छा ही इसके लिए पर्याप्त नहीं है, कि मैं कुछ चाहूँ और वह कर दिया जावे। उसके लिए मेरी योग्यता भी देख लीजिये। यदि हो तो दिखाइये और न हो तो मत दिखाइये। यह भी एक बोलनेकी शिष्ट शैली है। किसीसे यह कहना कि आप यह काम कर दीजिये, उसके साथ-साथ यह भी कहना चाहिए कि यदि आप उचित समझें तो कर दीजिये। अपनी इच्छा दूसरेके ऊपर लादी नहीं जाती है। भगवान्के ऐश्वर-रूपका जो दर्शन है यह ईश्वरके रूपका है। ईश्वरीय रूप माने विश्वरूप। एक देहधारी व्यक्ति जो पंचभूतोंके सम्मिश्रणसे बना हुआ है, उसको ऐश्वर-रूप नहीं कहते हैं वह तो देवरूप है। जीवने पूर्व-पूर्व जन्ममें जो कर्म किये हैं, उनकी जो संचित राशि है, उसमें-से प्रारब्धके अनुरूप यह जो शरीर प्राप्त हुए हैं—पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता, दानव—वे तो प्रारब्ध-रूप हैं। देवरूप हैं। जीवके कर्मानुसार बने हुए रूप हैं। और ईश्वरका जो रूप है उसमें न संचित कर्मका लेश है, न प्रारब्धका लेश है, न वहाँ कर्ता, कर्मका कोई सम्बन्ध है। ईश्वरीय-रूप तो स्वत: सिद्ध होता है। इसका निर्माण नहीं होता। उसका दर्शन होता है। दर्शन पूर्वसिद्ध वस्तुका होता है। जो वस्तु पहलेसे होती है, उसका दर्शन होता है। और जो बनायी जाती है वह तो कृतक होती है, कृत्रिम होती है, बनावटी होती है। अर्जुनने ईश्वरसे इसी रूपके दर्शनकी प्रार्थना की। यह कल सुनाया था।

अब आगे भगवान्ने तुरन्त बोलना शुरू कर दिया। श्रीभगवानुवाच—माने आगे जो कुछ कहा जा रहा है वह भगवान्की वाणी है भगवान्के वचन है। यहाँ 'उवाच' में जो क्रिया पद है भूतार्थक है। उसका अर्थ यह नहीं है कि कभी भगवान् बोले थे। उसका अर्थ है, भगवान् बोल रहे हैं। पहले भी बोले, अब भी बोल रहे हैं—आगे भी बोलेंगे। ये भगवान्के वचन है, यह इसका अभिप्राय है। भगवान् बोल रहे हैं—हम सबके सामने कह रहे हैं। हमेशासे कह रहे हैं। क्या कह रहे हैं, कि मुझे देखो।

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः। (11.5)

इसमें अर्जुनके लिए तीन सम्बोधन हैं। इस वचन-परम्परामें एक है पार्थ, दूसरा है भारत और तीसरा है गुडाकेश। बार-बार अपने मित्रको अभिमुख करनेके लिए भगवान् ऐसा बोलते हैं। पार्थका लौकिक सम्बन्धसे अर्थ है कुन्तीपुत्र। पृथा-पृथा माने कुन्ती। कुन्तीका अर्थ है जिसकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण हो। कुन्त जो बन्दूकके सिरेपर संगीन लगाते हैं। बहुत सूक्ष्म—सूक्ष्म और एकाग्र बुद्धि, जो निरूपणीय वस्तुकी तहतक पहुँच जाय, उसके सच्चे स्वरूपको प्रकट कर दे, उसका नाम कुन्ती है। पृथाका अर्थ है प्रथनशील। जिसकी कीर्ति चारों ओर फैली हुई हो वह। तो सम्बन्धसे अर्जुन बड़े कीर्तिशाली भी हैं और सूक्ष्म बुद्धिशालिनी कुन्तीके पुत्र

होनेसे सूक्ष्म बुद्धिसम्पन्न भी हैं। एक बात यह है कि अब उनके जीवनका प्रयोजन परमात्मा है। 'पाति इति प: स एव अर्थो यस्य स पार्थ:।'

जो सबकी रक्षा करनेवाला परमात्मा है, वही अर्जुनके लिए अर्थ है, धर्म है, काम है, मोक्ष है। अर्जुनको श्रीकृष्णके सिवाय और कोई पुरुषार्थ नहीं है। वे केवल श्रीकृष्णकी प्रसन्नता, श्रीकृष्णका ज्ञान, श्रीकृष्णका स्वरूप चाहते हैं। भारतका एक अर्थ है वंशसे श्रेष्ठ भारतवंशी होनेके कारण वंशके श्रेष्ठ। दूसरा है 'भा प्रतिभा तस्यांरत: भारत:'। जो प्रतिभा-परायण हो। नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि, बुद्धि हर समय जागती हुई होनी चाहिए। प्रमाद बुद्धिमें नहीं होना चाहिए। जागती हुई बुद्धि ही मनुष्यके लिए कल्याणकारिणी होती है, सोती हुई बुद्धि नहीं। भा माने प्रकाश—दीप्ति। हर समय नयी-नयी बात सूझती है, अर्जुनकी बुद्धि कभी सोती नहीं। वह कोई काम बुद्धिको छोड़कर नहीं करते हैं। यह युद्ध क्षेत्र है, यह कोई अरण्यभूमि तो है नहीं, रण-भूमि है। दोनों ओरकी सेनाएँ शंख बजा-बजाकर और शस्त्र-अस्त्रके प्रहारके लिए तत्पर है। यहाँ भी अर्जुनने बुद्धिका परित्याग नहीं किया। श्रीकृष्णने कहा—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्॥ (1.21.22)

मैं देख तो लूँ कि लड़नेके लिए कौन-कौन आये हैं। इनसे लड़ना योग्य भी है या नहीं? माने परिस्थिति चाहे कितनी भी भयंकर हो परन्तु उचित-अनुचितका विचार करके, सोच-विचारकर काम करना चाहिए। नारेके चक्करमें नहीं आना चाहिए। जो भी काम करना हो, विवेकपूर्वक विचार करके ही करना चाहिए। अर्जुनकी रति है—भा में, प्रतिभामें, ज्ञानमें। तीसरा सम्बन्ध इस प्रसंगमें गुडाकेशसे। अर्जुनका यह नाम थोड़ा अप्रसिद्ध है। शास्त्रोंमें तो है ही—

अङ्गुष्ठतर्जनीयोगो गुडा नाम्नैष मुद्रिका।

जब अंगूठा और तर्जनी दोनोंको एकमें मिलाते हैं तो उसका संस्कृतमें नाम होता है गुडा। गुडा माने घुंघराला। गुडाकेश माने घुंघराले बाल। अर्जुनके बाल बड़े सुन्दर हैं और प्रभावशाली व्यक्तित्वके लिए बालोंका सौन्दर्य भी अपेक्षित है। हम देहकी अपेक्षा नहीं करते हैं।

सुन्दरको सुन्दर कहकर पुकारते हैं। बंगालके केशकी तो बड़ी प्रसिद्धि है। हम लोगोंके गाँवमें बोलते हैं—'छाजा बाजा केश, यह है बंगला देश।' घर बढ़िया बनाते हैं। बाजा बढ़िया बजाते हैं। अर्थात् संगीत—स्वर सौष्ठव बंगालका प्रसिद्ध है। और बाल यहाँ बहुत अच्छे होते हैं। अर्जुनके केश बड़े सुन्दर थे। इसलिए गुडाकेश कहते हैं पर शारीरिक सौन्दर्यसे भगवान् अर्जुनकी ओर आकृष्ट हों और उसको अपना विश्वरूप दिखायें—यह आवश्यक नहीं है। इसके लिए तो संयमी, सदाचारी होना चाहिए। 'गुडाका निद्रा यस्या एष: गुडाकेश:। गुडाका अर्थात् निद्रा। उसका स्वामी है अर्जुन, माने निद्रापर अर्जुनका वश है। जब चाहे तब सो जाय, जब चाहे तब जाग जाय। यह नहीं है कि नींद अर्जुनको सोनेके लिए विवश करती हो।

यहाँ निद्रा शब्दका अर्थ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति—इन पाँचों वृत्तियोंके साथ है। जब

चाहे तब देखे और जब चाहे तब न देखे। कोई बात कर रहा हो—उसका मन हो तो सुने, उसका मन न हो तो न सुने। श्रोत्र-वृत्तिपर भी निरोध है। गुडाकेशका अर्थ है कि अपनी सम्पूर्ण चित्तवृत्तियोंको प्रमाण, विकल्प, विपर्यय, निद्रा, स्मृति—इनको अर्जुन अपने वशमें रखते हैं. जैसे बड़े-बड़े योगी लोग वृत्तिनिरोध करनेमें समर्थ होते हैं वैसे अर्जुन भी वृत्तिनिरोध करनेमें समर्थ है। इसलए गुडाकेश—अर्जुनके अधिकारका सूचक गुडाकेश शब्द है। एक गुडाकेश शब्दका और अर्थशास्त्रमें प्रसिद्ध है। उद्योगपर्वमें महाभारतमें इन नामोंके अर्थ दिये हुए हैं।

'गुडं ब्रह्माण्डम् आसि व्याप्नोति इति गुडाकः शिवः, स ईशो यस्य।' गुडाक माने शंकरजी—यह ब्रह्माण्ड गोल है इसमें व्याप्त होनेके कारण शंकरजीका एक नाम है गुडाक। वह है ईश जिसके। इसका अर्थ है कि अर्जुन बड़े वीर हैं। उन्होंने अपने युद्ध-कौशलसे शंकरजीको प्रसन्न कर दिया। पूजा नहीं की। मन्त्रका जप नहीं किया। चन्दन, अक्षत, बेलपत्र शङ्करजीको नहीं चढ़ाये। दोनोंमें लड़ाई हो गयी तो अपनी बाणविद्यासे अर्जुनने शङ्करजीको संतुष्ट कर दिया। और उन्होंने प्रसन्न होकर अर्जुनको पाशुपत अस्त्र दिया जो अमोघ होता है। अपनी वीरता, वीर्यके द्वारा शङ्करजीको भी सन्तुष्ट करनेवाले हैं अर्जुन। ये भगवान्‌के बहुत प्यारे हैं। सौन्दर्यका वाचक भी गुडाकेश शब्द है, और संयमी, योगीका वाचक भी गुडाकेश शब्द है और जिसको देवताका आधिदैविक प्रसाद प्राप्त है, उसका भी यह वाचक है।

केशवाला अर्थ तो अधिभौतिक है। शङ्करजी वाला अर्थ आधिदैविक है और निद्राको जीतनेवाला जो गुडाकेश शब्द है वह आध्यात्मिक है। उसका अर्थ है अर्जुन आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक—तीनों प्रकारकी योग्यतासे सम्पन्न है। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण उनपर प्रसन्न होकर कहते हैं—अर्जुन, देखो मेरे सैकंड़ो रूप, हजारों रूप। माने हमारे विश्वरूपका दर्शन करो। जैसे जीव एक शरीर होता है, वैसे यह सम्पूर्ण विश्व ईश्वरका शरीर है। भगवान् शरीरी हैं। जैसे इस शरीरमें जीव शरीरी होता है, वैसे विश्वमें ईश्वर शरीरी है। सम्पूर्ण विश्वमें उसके हाथ, उसके पाँव, उसके सिर हैं, जैसे वेदोंमें सहस्रशीर्षा पुरुषका वर्णन है। कहा गया है—उनके हजारों सिर हैं, और हजारों हाथ हैं और हजारों पाँव हैं—वहाँ हजारकी गिनती नहीं है। ब्राह्मण लोग पुरुष-सूक्त का पाठ करते हैं तो हजार सिर, हजार पाँव, हजार हाथ ऐसे बोलते हैं। यदि हजार सिर हो तो दो हजार हाथ भी होने चाहिए और दो हजार पाँव होने चाहिए। वहाँ गिनतीमें तात्पर्य नहीं है। 'शतशोऽथ सहस्रशः'। सैकड़ो और हजारो उनके रूप हैं। आश्चर्य यह है कि सब-के-सब भगवान्‌के निरूपणमें समर्थ हैं। एक-एक रूपको हम गौरसे देखें तो उसमें से भगवान् निकल आवेंगे। बात समझमें आनी कठिन जरूर है। पर आप सोनेको पहचाननेकी कोशिश करें कि स्वर्ण यह है तो आप कंगनके रूपमें पहचानेंगे, तब भी पूरी पहचान नहीं है। कंगन तो उसमें गढ़ा हुआ है। सिल्लीके रूपमें पहचाने तो वह भी बनायी हुई है। चूर्णके रूपमें सोनेको पहचाने तो वह भी गलत है। द्रवके रूपमें पहचाने तो वह भी गला हुआ है, पर गला हुआ भी तो सोनेका रूप नहीं है।

जब हम सोनेके पहचानकी कोशिश करेंगे तो जहाँ ज्ञान होता है वहाँ पहचान जायेंगे। स्वर्ण और स्वर्णाभाव—दोनो जिस वृत्तिसे ज्ञात होते हैं उस वृत्तिसे अवच्छिन्न तो चैतन्य है। उसको आत्मा कहते हैं।

आत्मासे भिन्न स्वर्ण नामका कोई द्रव नहीं है। और आत्मा ही सोना है। जब ऐसे ही सम्पूर्ण वस्तुओंके बारे में सोचेंगे तो लगेगा असलमें वस्तु, वस्तु नहीं हैं। ये आत्मदेव ही एकमात्र वस्तु है। रिश्तेदार, नातेदार बात छोड़ो। ये सम्पूर्ण दृश्यमान प्रपञ्च जो हैं वे आत्मासे भिन्न नहीं है। आत्मासे भिन्न और परमात्मा भी नहीं है।

रामानुजाचार्य आदि मानते हैं कि परमात्मासे भिन्न आत्मा नहीं है। और शङ्कराचार्य आदि मानते हैं कि आत्मासे भिन्न परमात्मा नहीं है। यह अद्‌भुत शैली है। आओ देखो हजारों रूप, उनके नाना विधान, नाना प्रकार और नानावर्ण! आकृतियाँ नाना हैं और सब-की-सब दिव्य हैं। जैसा लौकिक हम अपनी इन्द्रियोंके द्वारा देखते हैं वैसा नहीं है। उससे बहुत विलक्षण हैं जरा-सी आँख उससे कितना रूप देख सकती है। एक फर्लांग, दो फर्लांग, एक माइल, दो माइल। खुर्दवीन लगाओ तो उससे छोटी-से-छोटी चीज दिखेगी और दूरबीन लगालो तो दूरकी चीज भी दिखेगी। पर कितनी दूर तक? उसकी एक सीमा होगी। असलमें ये जितने पदार्थ हमको दिख रहे हैं, ये दिखनेमें तो छोटे-मोटे हैं—क्योंकि हमारी इन्द्रियां ही छोटी-छोटी हैं तो पूर्णको ये दिखा कैसे सकती हैं। परन्तु इनकी तहमें घुसकर विचारकर देखें तो हमें इन्द्रियोंसे जितना दिखता है, यदि उसको सम्पूर्ण मानते हैं तो—वह समझदारीसे परेकी बात हो जाती है। हम जितना देखते हैं, उतना ही नहीं है। हमारे पास शक्ति सीमित है। मान लीजिए पाँचकी जगह छह इन्द्रियां होती तो हम दुनियांको और देख पाते। हमारे मनमें जितनी विज्ञता है, जितनी सूक्ष्मता है, उससे भी सूक्ष्म होती तो हम और ज्यादा देख सकते!

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्। (योगसूत्र 3.26)

यदि सूर्यमें संयम करे तो चौदह भुवनका ज्ञान हो सकता है। चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् (3.27)। चन्द्रमामें संयम करें तो हर तारेका ज्ञान हो सकता है।

इसप्रकार हम जितना देखते हैं, उतनेमें ही फँसे हुए हैं। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि भाई, जरा अपनी नजर फैलाओ, देखो—

पश्यादित्यान्वसून्रूद्रानश्विनौ मरुतस्तथा। (11.6)

एक नहीं बहुत सारे सूर्य हैं। आदित्य माने सूर्य—बारह सूर्योका वर्णन पुराणोंमें आता है। वसून् आठ वसुओंका वर्णन आता है। देखो वसु। जो इन आँखोंसे नहीं देखे जा सकते उन देवताओंको देखो। रूद्रान्—रूद्रोंको देखो। अश्विनौ—अश्विनीकुमारको देखो। उनचास मरुद्‌गणको देखो। देखो अर्जुन, देखो, जिनको तुमने पहले कभी नहीं देखा है। बहून्यदृष्टपूर्वाणि—जैसे कोई जादूगर, जादू दिखानेवाला खड़ा हो और बोले, देख लो-खोल दो पलक, देख लो झलक, पलकमें खलक। जैसे कोई आश्चर्य दिखानेके लिए जादूगर खड़ा हो! उस प्रकार अर्जुनको भगवान् बोलते हैं—जो तुमने कभी नहीं देखा, वह देखो!

आश्चर्यका अर्थ यही होता है, जो चीज पहले कभी नहीं देखी गयी हो उसको जब एक बार देखते है तो आश्चर्य हो जाता है। मैंने कभी नीबूका सत नहीं देखा था। बचपनकी बात है। हमारे सामने एक ने जरा सत एक गिलास पानीमें डाला और उसकी मैल तैर कर अलग हो गयी और जल स्वच्छ हो गया। बड़ा आश्चर्य हुआकि यह कौनसा चूर्ण है जिससे पानी बिलकुल स्वच्छ हो गया। सोडाके दो पाउडर अलग-अलग रखे थे।

उन्हें एकमें मिलाया और वह पानी खौलने लगा, उसमें उफान आया। मैंने कभी नहीं देखा था तो बड़ा आश्चर्य हुआ। जब देख लिया तो वह रोज-रोजकी चीज हो गयी। उसमें कुछ आश्चर्य नहीं रहा। परन्तु यह ईश्वरका रूप ऐसा आश्चर्यमय—'नानाश्चर्याणि' है। आह! आह! आह! जिसको देखकर आदमी बोले वही आश्चर्य।

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम् आश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति, श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ (2.29)

कोई आश्चर्यमय पुरुष, आश्चर्यमय नेत्रोंसे इस आश्चर्य-रूप दृश्यको देखता है। उपनिषद्में है—

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा। (कठ1.2.7)

जो इस तत्वका निरूपण करता है, वह भी आश्चर्य है। उनकी बहू ऐसी है, उनकी बेटी ऐसी, उनका बेटा ऐसा, उनका व्यापार ऐसा, उनकी संपदा ऐसी, उनकी दरिद्रता ऐसी—इसका वर्णन तो सब लोग करते हैं लेकिन जो परमात्माका वर्णन करे— वह आश्चर्य है। किसको दुनियामें इतनी फुर्सत है कि परमात्माका वर्णन करने जाय।

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा।

जिसने परमात्माको प्राप्त कर लिया, उसके समान कुशल और कोई नहीं है। देखने वाला आश्चर्य, देखना आश्चर्य, देखा जानेवाला आश्चर्य, वक्ता आश्चर्य, वचन आश्चर्य, वाच्य आश्चर्य, श्रोता आश्चर्य—कहाँसे मिले? कहीं सिनेमा हो, कहीं जादूका खेल हो—हजारों लाखों आदमी इकट्ठा हो जाते हैं। परन्तु परमात्माको सुननेवाले कितने होते हैं? उसको समझना और भी मुश्किल है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।

आओ, आश्चर्य देखो। क्या देखें— क्या आश्चर्य है—

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥

देखो, मेरी ओर देखो, दूसरी ओर मत देखो। श्रीकृष्णके छोटेसे व्यक्तित्वको देखो—वह जब यशोदाकी गोदमें दूध पी रहें हो तब भी आश्चर्य है। यशोदा मैया दूध पिला रही थी। मनमें आया नन्हासा वालक। ज्यादा दूध पियेगा तो अपच हो जायेगा। लाल-पीली टट्टी आने लगेगी। मना किया। मना करते ही उन्हें जो जम्हाई आयी सो यशोदा माता क्या देखती हैं कि उनके मुँहमें, पेटके भीतर। न तो उनकी कमर मुट्ठि भरसे अधिक थी, न उनका पेट बड़ा, न उनका मुँह कुछ बड़ा हुआ—वे थे ज्यों-के-त्यों, गोदमें ही और मैया देखती क्या हैं—सारी दुनियाँका गड़बड़झाला—कृष्णके मुँहमें—यह आश्चर्य है!

श्रीकृष्णका जो व्यक्तित्व है वह साधारण लोगोंकी दृष्टिमें साधारण है और जिनको असाधारण दृष्टि प्राप्त है उनके लिए तो—यह देखो इहैकस्थं जगत्कृत्स्नम्— जितना चल दृष्य, जगत्— गच्छति परिवर्तते, जितना भी परिवर्तन है, वह सम्पूर्ण जगत है। देखो चराचर सृष्टि मेरे अन्दर — ये पहाड़ हैं। मेरे अन्दर यह समुद्र लहरा रहा है। ये नदियाँ बह रही हैं। और यह सृष्टि सूर्यकी परिक्रमा कर रही है। दृढ़ है हटती नहीं है। यह चराचर

जगत् हमारे शरीरमें देखो। अभी तो कुछ नहीं दिखता है। और भी कुछ तुम्हारा देखनेका मन हो—मनमें थाकि हम जीतेगें-था न तुम्हारे मनमें! अपनी जीत देखनी हो तो आओ, हम तुम्हारी जीत भी दिखा देते हैं। यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि। हम जीतेगें कि वे जीतेगें? तुम्हारे मनमें संशय है न ! आओ हम तुमको दिखाते हैं जो तुम देखना चाहो वह देख लो! देखो जन्म, देखो जीवन, देखो मौत, देखो सृष्टि, देखो स्थिति, देखो प्रलय।

आओ मेरे समान कुश्ती लड़नेवाला कौन है? आजाओ— कोई ललकार देते हैं। आओ, मेरे समान बाँसुरी बजानेवाला कौन है? मेरे समान गानेवाला कौन है। हर बातमें अभिमान—यह क्या जादुगरकी तरह बोल रहे हो? यह देखो, यह देखो, यह देखो—मैं तो देख रहा हूँ कि मेरे रथपर बैठे हो और घोड़ोंकी बागडोर तुम्हारे हाथमें है और मेरी ओर देख-देखकर बोलते जा रहे हो। कुछ दिखाओ तो सही! सिर्फ कहनेसे क्या होता है?

कृष्णने कहा ठीक बात है—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ (11.8)

'न तु मां शक्नोसि द्रष्टुम्'। 'शक्यसे' की जगह 'शक्नोसि' बोलना पसन्द करते हैं। श्रीकृष्णको पाणिनीय व्याकरणका कुछ अभ्यास नहीं था। पाणिनि श्रीकृष्णके बाद हुए हैं तो अभ्यास कहाँसे होगा? क्योंकि पाणिनिके सूत्रोंमें वासुदेवका नाम आता है, अर्जुनका भी नाम आता है। पाणिनिकी अष्टाध्यायी है—जब वासुदेव और अर्जुनका नाम पाणिनिकी अष्टाध्यायीमें है तो वासुदेव और अर्जुन तो पहले ही हो गये। पहले हो गये तो उन्हें पाणिनिके व्याकरणका अभ्यास कैसे होगा? फिर गाँवमें रहे थे तो जरूरी नहीं कि शुद्ध ही बोलें। व्याकरणका कोई अभ्यास भी नहीं था। दूसरी बात यह है कि जहाँ व्याकरणके विरुद्ध किसी शब्दका प्रयोग आता है, वहाँ ऐसा मानते हैं कि पहले जो लोग थे उनको वेदोंका बहुत अधिक अभ्यास होता था। वेदोंका बहुत अधिक अभ्यास होनेके कारण वेदोंमें जैसा शब्दोंका संस्कार होता है वैसा ही बुद्धिमें आरूढ़ हो जाता था और जिह्वापर वे रूप इस प्रकार बैठ जाते थे कि किसी व्याकरणके संस्कारके बिना ही वैदिक संस्कारसे संस्कृत होकर वैसे शब्दोंका प्रयोग करते थे। वे अपशब्द नहीं हैं बल्कि पवित्र होते हैं।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।

अर्जुन, तुम अपनी इन्हीं आँखोंसे मुझे देखना चाहते हो तो नहीं देख सकते। संसारमें जितने रूप हैं—जो प्रयोगशालामें दिखाई पड़ते हैं वे क्या अपनी आँखसे देख सकते हैं? दूधमें जो कीटाणु हैं वे आँखसे दीखते हैं? आपके दहीमें कितने कीटाणु हैं, यह क्या आप देख सकते हैं? आँखकी शक्ति तो बहुत सीमित है। देशमें भी सीमित है। थोड़ी दूरतककी चीज ही दिखती है और कालमें तो इतनी सीमित है कि भूत और भविष्यको आँख देख ही नहीं पाती है। और वस्तुमें इतनी सीमित है कि इससे कुछ बड़ा हो तो नहीं देख सकेगी और इससे छोटा हो तब भी नहीं देख सकती। अब इस आँखसे कोई विराट् भगवान्को देखना चाहे तो कैसे सम्भव होगा? यह विराट् जो विविध रूपोंमें विराजमान है उसको आपकी यह आँख कैसे देख

सकेगी? अत: प्रभु बोले ठीक है—यही आँख जिससे तुम देखते रहे हो—यह मेरी माँ है यह मेरे पिताजी हैं—ये मेरे शत्रु और मित्र हैं। ये काले हैं, गोरे हैं, लाल हैं, ये लम्बे हैं, नाटे हैं। 'अनेनेव स्वचक्षुषा।' इस आँखसे तुम मुझे देखना चाहो तो नहीं देख सकते। तब 'दिव्यं: ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्'। तुम्हें मैं दिव्य चक्षु देता हूँ।

दिव्य चक्षु मध्यवर्ती नेत्र है। क्योंकि आत्मदृष्टि, ब्रह्मदृष्टि सर्वोत्तम दृष्टि है। और यह जो लौकिक आँख है जिससे हम संसारको देखते हैं, यह निम्न दृष्टि है। इसके बीचमें एक अन्तर्दृष्टि होती है। वह अन्तर्दृष्टि कैसी होती है? न तो वह पञ्चभूतसे बनी हुई है, पाँच भौतिक शरीरसे बनी हुई नहीं। और न तो शुद्ध चेतन है। चिन्मात्र वस्तु और लोकवस्तुको देखनेवाली जो दृष्टि है, उस दृष्टिके मध्यमें एक दिव्य दृष्टि होती है। दिव्य दृष्टिका मतलब है कि इन इन्द्रियोंसे जो चीज नहीं दिखायी पड़ती है, वह उससे दीखती है। एक आचार्यने तो कहा 'एकाग्रं मन एव दिव्यं चक्षुः'। एकाग्र मन ही दिव्य दृष्टि है। जब मनमें एकाग्रता आती है तब यह जो देहमें परिच्छिन्न सीमित दृष्टि है—इस सीमाको पार कर जाती है और वह असीम पदार्थको देखनेमें समर्थ हो जाती है। परन्तु भगवान्‌के लिए तो यह सब खेल है। दिव्यका प्रयोग गीतामें और भी है। इसी अध्यायमें कई बार है। लेकिन भगवान् कहते हैं कि मेरा जन्म, कर्म दिव्य है। इसपर आप लोगोंकी दृष्टि जरूर गयी होगी।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ (4.9)

भगवान्‌ने कहा कि मेरा जन्म दिव्य है और मेरा कर्म दिव्य है। जन्म, कर्मकी दिव्यताका अर्थ क्या होता है? एक खेल है। दिव्य शब्दका एक अर्थ होता है-खेल। पहला ही अर्थ है खेल। खेल माने जिसमें पाप-पुण्य नहीं लगता। जब कर्म साधारणरूपसे करते हैं तो उससे पाप-पुण्यकी उत्पत्ति होती है। अपेक्षा बुद्धिसे जो कर्म होता है कि इस कर्मका यह फल हो और वह हमको मिले वहाँ कर्म खेल नहीं होता। वहाँ तो कर्म वस्तुत: कर्म होता है और करनेवालेको चिपक जाता है। जहाँ कर्ता हो, पूर्व संकल्प हो और जो आयाससाध्य हो, उसमें कुछ अपेक्षा हो और बादमें उसके फलकी उत्पत्ति हो तो वह साधारण कर्म होता है। लेकिन जहाँ कर्ता भी न हो और कोई कामना भी न हो और उससे किसी फलकी आकांक्षा भी न हो और कर्म कर रहे हैं तो, वह तो खेल खेल ही हो जाता है।

खेल माने 'खे लीयते'। 'ख' और ली धातुसे खेल बनता है। यह संस्कृतका शब्द है। लेकिन जिसका फल आसमानमें लीन हो जाय, करनेवालेको फल लगे नहीं—पाप-पुण्य लगे नहीं। दिवु धातु जो है, उसका पहला अर्थ है 'खेल' क्रीडा; अन्य अर्थ हैं—विजिगीषा, अपने विजयको दिखाना, व्यवहार, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति, गति। दिव्य शब्द बड़ा विलक्षण है। भगवान् जब अपने जन्मको दिव्य कहते हैं—तब उनका अर्थ यह होता है कि जैसे जीवोंका जन्म कर्मके अनुसार होता है वैसे मेरा ज़न्म कर्मके अनुसार नहीं है। जैसे ब्रह्ममें यह समग्र सृष्टि प्रतीतमात्र होती है, वैसा यह प्रतीतिमात्र भी नहीं है।

यह तो भगवत्-संकल्प ही इसमें मूल हेतु है। ऐसा जन्म है भगवान्‌का जन्म कर्ममूलक नहीं है। ऐसा

जन्म है भगवान्‌का जिससे नरक-स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती, जिसमें मृत्यु नहीं होती, जिसमें जड़ता नहीं होती। इस अर्थमें 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्—दिव्य शब्दका प्रयोग किया है। यहाँ 'दिव्य चक्षु' का अर्थ है जो अपञ्चीकृत पञ्च महाभूतोंमें-से तेजस् तत्त्वसे बनी हुई न हो। हमलोगोंकी आँख कैसे बनती है? जैसे यह रूप आप देखते हैं—लाल रूप है, हरा रूप है—यह कैसे बना? इसमें पाँचों भूतोंका मिश्रण है। गुलाबका फूल है, कमलका फूल है। इसमें सुगन्ध पृथिवीका अंश है। इसमें रसीलापन जलका अंश है। इसमें जो रूप है, चमक है वह तेजका अंश है। और इसमें जो हिलना-डोरना है यह वायुका अंश है। और यह जब चुरमुर-चुरमुर बोलेगा, आवाज करेगा तो वह आकाशका अंश है। परन्तु हमारी इन्द्रियोंमें ऐसा नहीं है। विषयमें तो पाँचों चीजें मिली हुई होती हैं पर इन्द्रियोंमें एक-एक चीज अलग-अलग होती है। कानमें केवल शब्द है, त्वचामें केवल स्पर्श है, आँखमें केवल रूप है। इसलिए अपञ्चीकृत पंचभूतोंसे बनी हुई होती हैं इन्द्रियाँ। इनमें पाँचोंका मिश्रण नहीं होता। ये एक-एक विषयको ग्रहण करती है।

यह भी आपको प्रसंगवश सुना देते हैं कि हमारी जीभसे जो रसका, स्वादका, ग्रहण होता है, वह किसी भी मशीनके द्वारा यदि आप ग्रहण करना चाहें तो नहीं ग्रहण कर सकते। जो स्वाद आता है-खट्टा-मीठा-चरपरा वह जीभसे ही आता है। लेबोरेटरीमें कोई मशीन लगाकर आप निश्चय कीजिये कि यह चीज कैसी है? वह तो रसनाको ही ग्राह्य है। इसीसे जब लेबोरेटरीमें पंचभूतोंकी परीक्षा की गयी तब पाँच नहीं चार निकले। जलतत्त्व ही नहीं निकला, लेबोरेटरीमें। वह तो, दो प्रकारका गैस मिला देते हैं उससे पानीकी वर्षा हो जाती है। पानी तो बन जाता है पर हमारी जीभपर जो स्वाद आता है, उस स्वादका पता मशीनसे चल सकता है कि नहीं? नहीं चल सकता। इसलिए रसनाको भी पाँचवीं इन्द्रिय मानना चाहिए और उसमें ग्रहण किया हुआ जो विषय है-स्वाद-रस उसको भी एक पदार्थ मानना आवश्यक है और उस रसका आश्रय जल है। जबतक जीभपर पानी नहीं होगा तबतक स्वाद कैसे मालूम पड़ेगा! प्रसंगवश यह बात आपको सुनायी।

हमारी जो आँख है वह कितना देख सकती है। यह किसी भी वस्तुको पूरी नहीं देख सकती है। इसकी भी एक मर्यादा है। इसलिए दिव्य दृष्टिकी आवश्यकता होती है। ऐसी दिव्य दृष्टि जो पाँचोंको देख सकती हो। अब आप दिव्य दृष्टिको फिरसे समझिये। आँख केवल रूपको देख सकती है। लेकिन अर्जुनको जो दीख रहा है, वह केवल रूप नहीं दिख रहा है—उसको गन्ध भी दिख रही है, यहाँ तक कि मरे हुए, मरनेवाले लोग भी दीख रहे हैं। जो आगे मरेंगे,

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठायुध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान॥ (11.34)

जो आगे मरेंगे उनको भी देखनेकी शक्ति अर्जुनकी दृष्टिमें आजाती है। वहाँ भूत और भविष्यकी सीमा नहीं रहती है। वहाँ पूर्व और पश्चिमकी सीमा नहीं रहती है। वहाँ सूक्ष्म और स्थूलकी सीमा नहीं रहती है। ऐसी दृष्टि जो इन आँखोंसे बहुत विलक्षण है और अद्वैत दृष्टिसे निम्न कोटिकी है। ऐसी दिव्य-दृष्टि भगवान् अर्जुनको देते हैं। अर्जुन ब्रह्मको नहीं देख पाते अर्जुन तो विश्वविराट्‌को इस दृष्टिके द्वारा देखते हैं। 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः

पश्य मे योगमैश्वरम्। मेरा ईश्वरयोग देखो-ऐश्वरयोगका अर्थ ऐसा अद्भुत है। नवें अध्यायमें इसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तिमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। (4.9.5)

यहाँ भी यह पद है—'पश्य मे योगमैश्वरम्'। जरा देखो, यह ईश्वरीय योग देखो। ईश्वरीय योगकी क्या विशेषता है? एक तो कह दिया—तुमको यह दुनिया दिखती है? अर्जुन—हाँ, दिखती है महाराज। कहाँ दिखती है? देख, मुझमें है-'मत्स्थानि सर्वभूतानि'। मैं आकाशसे बड़ा हूँ। मुझमें है दुनिया—बोले अच्छा महाराज, एक बात बताओ—जैसी मैं दुनिया देख रहा हूँ—वैसी आप भी देखते हैं? बोले—'न च मत्स्थानि भूतानि'। बोले—कुछ नहीं, तुम्हारी दृष्टिसे सारी सृष्टि मुझमें है और मेरी दृष्टिसे सृष्टि मुझमें है ही नहीं। यह क्या आश्चर्य है? यह आश्चर्य है। यह आश्चर्य है कि आकाशमें नीलिमा है। हाँ जी, हमारी आँख बताती है कि आकाशंमें नीलिमा है। अब कहीं आकाश भी आँखवाला है! और उससे पूछो कि क्यों आकाशजी—आप नीले हो? तो आकाशको अपने अन्दर नीलिमा बिलकुल नहीं दिख सकती।

योग-दर्शनमें यही विभाग किया हुआ है। 'कृतार्थके प्रति यह सृष्टि नहीं है; और साधारणके प्रति यह सृष्टि है।' तब ईश्वरके प्रति यह सृष्टि क्या है? है भी और नहीं भी है। है कहो तो जीवदृष्टिसे है। ईश्वर-दृष्टिसे नहीं है। ईश्वर-दृष्टिसे नहीं कहो तो जीव-दृष्टिसे है। इसलिए अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीय अर्थात् न हाँ बोल सकते, न ना बोल सकते। यह ईश्वरीय सृष्टि 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' और न च मत्स्थानि भूतानि'। यह भगवान्में है भी और नहीं भी है।

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥ (11.9-10)

ऐसा कहा भगवान् महायोगेश्वरेश्वरने। भगवान्—श्रीहरि, भगवान् महायोगेश्वर हैं। एक होते हैं योगीश्वर और एक होते हैं योगेश्वर—इन दोनोंमें फरक होता है। जैसे एक होती है मण्डली और उसमें एक होते हैं मंडलीश्वर, महात्माओंमें होते हैं। असलमें शब्द मण्डलीश्वर ही है। बादमें लोगोंने उसको मण्डलेश्वर बना दिया। दुनियामें बहुत-से योगी होते हैं। अष्टांग-योगी हैं, हठयोगी हैं, मन्त्रयोगी हैं, राजयोगी हैं, लययोगी हैं—उनका जो नियन्त्रण करे, योगकी शिक्षा दे—योगमें स्थिर करे, उसका नाम होता है योगीश्वर। लेकिन जो जिसको चाहे योग दे दे, योग ही जिसके हाथमें है, वह योगेश्वर है। अर्जुनसे भगवान्ने यह नहीं कहा कि तू आसन, प्राणायाम साध, तब तुझे दृष्टि प्राप्त होगी और तू मुझे देख सकेगा। उससे बिना योग कराये अर्जुनको योगका फल देनेमें समर्थ हैं श्रीकृष्ण। इसलिए वे योगेश्वर हैं।

वह भी देना नहीं पड़ता है—वचनसे बोल दिया देख और अर्जुन देखने लगा, इसलिए महायोगेश्वर। सीधा प्रश्न यह है कि भगवान् यह सब करते क्यों हैं? क्या मतलब है? कुछ न कुछ तो प्रयोजन होगा। बिना प्रयोजनके मूर्खसे-मूर्ख आदमी भी कोई काम नहीं करता है। कामना दूसरी चीज होती है और प्रयोजन दूसरी चीज होती है! अनुबन्ध-चतुष्टयके बिना कोई ग्रन्थ होता ही नहीं है। और उसमें एक प्रयोजन होता है।

अच्छा तो भगवान्का क्या प्रयोजन है? प्रयोजनके लिए हरि शब्दका प्रयोग है। हरति दुःखम्। हरि माने सीधे चोर होता है। जो हर ले उसका नाम हरि। सोते समय हर ले और ध्यान दूसरी हो तब हर ले तब वह चोर होता है, पाकेटमार होता है। और आँखके सामने ही ठग ले—तो वह ठग हो जाता है। मारकर लूट ले तो वह लुटेरा हो जाता है। सुनारोंके बारेमें तो 'पश्यतोहर' शब्दका प्रयोग आता है। तुम्हें पता ही नहीं चलेगा और ले लेंगे। हरि हैं माने 'हरति दुःखम्'। जो अर्जुनका विश्वका दुःख मिटानेके लिए यह रूप दिखा रहे हैं। 'हरति वासनाम्', 'हरति पापम्' क्योंकि पापसे दुःख होता है तो पाप ही हर लेते हैं। वासनासे पाप होता है, वासनाको हर लेते हैं। 'हरति अभिमानम्'। वासना अहंताके आश्रित रहती है। उसको हर लेते हैं। अहंकारसे छुड़ा लेते हैं। अज्ञानको हर लेते हैं क्योंकि अहंकार अज्ञानसे होता है, इसलिए इनका नाम हरि है।

मनोहर—सबके मनको अपनी ओर खींचनेवाले हैं। परमसुन्दर परममधुर—परमाश्चर्य—लोगोंकी इन्द्रियोंको अपनी ओर खींचनेवाले, मनको खींचनेवाले। भागवतमें तो कहते हैं—'प्रारब्धहृत्' जीवोंके प्रारब्धको ही चुरा लेते हैं। उनके जीवनमें प्रारब्धसे जो दुःख आनेवाला हो—बोले दुःख चुरानेका क्लेश कौन उठावे, उसका प्रारब्ध ही हर लें। प्रारब्ध हरनेकी भी युक्ति है। प्रारब्ध आपका जैसा भी अच्छा-बुरा हो, फल कहाँ देगा? आपके अन्तःकरणमें। चाहे वियोग हो या संयोग हो—चाहे मृत्यु हो, चाहे जन्म हो—उस मृत्यु-जन्मका, संयोग-वियोगका जो सुख-दुःख है, वह हृदयमें ही होता है। और जब भगवान् आकर हृदयमें बैठ जाते हैं तो हृदय भर जाता है।

अब प्रारब्धके जो फल आते हैं उनको दिलमें घुसनेकी जगह नहीं मिलती है। वे जब दिलमें घुसनेकी जगह नहीं मिलती है तो वापिस हो जाते हैं। इसलिए जहाँ आकर प्रारब्ध सुख-दुःख देता है—बिना मनमें आये तो सुख-दुःख दे ही नहीं सकता। भगवान् उसी मनमें आजाते हैं, उसमें तनिक भी स्थान नहीं छोड़ते। डॉक्टर लोग एक इन्जेक्शन लगाकर सुख-दुःखका होना बन्द कर देते हैं। एक गोली खिलाकर सुख-दुःखका अनुभव होना बन्द कर देते हैं। तो भगवान् स्वयं आकर हृदयमें जब बैठ जाते हैं तब प्रारब्धके लिए कोई स्थान नहीं होता। इसलिए हरिका अर्थ है—तुम्हारे जीवनमें प्रारब्धसे जो कुछ आनेवाला है, उसको भी ये हृदयमें बैठकर चुरा लेते हैं। इसलिए हरि हैं। ये भगवान् क्लेशघ्न हैं। ये प्रारब्धहृत् हैं, प्रारब्धहारी हैं। ऐसे भगवान्ने अर्जुनसे कहा—देखो अर्जुन, 'परमं रूपमैश्वरम्'।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 3

(21-11-82)

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको अपने ऐश्वररूपका दर्शन कराया। ऐश्वर माने ईश्वरीय रूप। जीव कर्मवश एक शरीरमें आता है, बारम्बार भिन्न-भिन्न शरीर ग्रहण करता है। परन्तु ईश्वर सर्व शरीरी है। यह बात आपलोग दूसरे मजहबोंकी नजरसे या दृष्टिकोणसे समझनेकी कोशिश करेंगे तो नहीं समझ सकेंगे। क्योंकि लोगोंने ईश्वरको प्राय: संसारका—जगत्का निमित्तकारण माना है। ईसाई भी, मुसलमान भी, पारसी भी, आर्यसमाजी भी, ब्रह्मसमाजी भी और हमारे जितने द्वैतवादी हैं वे सब ऐसा मानते हैं कि जैसे कुम्हार माटीसे घड़ा बनाता है या जुलाहा सूतसे कपड़ा बुनता है, इसी प्रकार ईश्वरने—कुम्हारकी तरह, जुलाहेकी तरह, किसी और उपादानसे, परमाणुसे यह सृष्टि बनायी। वैदिक धर्मका सिद्धान्त यह है कि विश्वके रूपमें बनता भी भगवान् ही है और बनाता भी भगवान् ही है। वही माटी है और वही कुम्हार है—उपादान कारण जिसको कहते हैं वह ईश्वर ही है, इस जगत्का। इसलिए सूतसे चाहे जैसे कपड़े बनें वे सब सूत-रूप ही होते हैं। जैसे माटीसे जितने रूप बनें वे सब माटी ही होते हैं—चाहे घड़ा हो, सकोरा हो या खपरैल हो। ऐसे ही ईश्वरसे बनी हुई यह सृष्टि, ईश्वर-रूप ही है।

यदि पाश्चात्य मजहबोंकी दृष्टिसे इस सृष्टिको आप पहचाननेकी कोशिश करेंगे तो उपादानके रूपमें ईश्वरको नहीं पहचान सकेगे। इसलिए जगत्के रूपमें भी ईश्वरको नहीं पहचान सकेंगे। तब राग-द्वेषकी जो आत्यन्तिक निवृत्ति होनी चाहिए, वह कभी होगी ही नहीं। यह अच्छा है, वह बुरा है, यह उचित है, वह अनुचित है, किन्तु सम्पूर्ण जगत् ईश्वर-रूप है, यह जो राग-द्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्तिरूप स्थिति है वह नहीं मिल सकेगी। इसलिए अर्जुनको भगवान्ने बताया है कि जैसे जीवका शरीर यह देह है— पशुके शरीरमें जीव है, पक्षीके शरीरमें जीव है, कीट-पतंगके शरीरमें जीव है—जीवोंके जैसे एक-एक शरीर होते हैं वैसे ही यह समग्र विश्व ईश्वरका शरीर है। आप भी अपनेको देहधारीके रूपमें मानते हैं परन्तु इस देहमें कितने कीटाणु होते हैं—तो हमारे पूरे शरीरमें कितने कीटाणु होंगे और उनका शरीर कैसा-कैसा होगा और देहके रूपमें वे सब मैं ही हूँ।

अब समझ लो कि मेरे शरीरमें एक कीटाणु ऐसा हो जो अर्जुनके रूपमें हो और मैं कृष्णके रूपमें उसको अपना दर्शन कराऊँ तो मेरा सम्पूर्ण शरीर ही देवताओंसे और जीवात्माओंसे और पृथिवीसे, जलसे, अग्निसे भरा हुआ भी इस कीटाणुको दिखेगा, और वह सब मेरा स्वरूप होगा। ठीक इसी प्रकार श्रीकृष्णके शरीरमें अर्जुन सब प्रकारके जीवोंको और अजीवोंको भी सचराचर विश्वको श्रीकृष्णके रूपमें ही देख रहा है। विराट् विश्वके रूपमें श्रीकृष्णको ही देख रहा है।

यह बात बार-बार दुहरायी जाती है। लेकिन जगत्का उपादान कारण माने मैटर, मसाला—जिससे यह दुनिया बनी है वह ईश्वर है, यह बात हम लोगोंके ध्यानमें जल्दी नहीं बैठती है। यही श्रीकृष्णने अर्जुनके लिए किया। दिखा दिया उसको—

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥ 11.10-12

अनेक मुख हैं, अनेक नयन हैं। अनेक अद्भुत वस्तुएँ जो कभी नहीं देखी गयी हैं, वे उनके शरीरमें हैं। अनेक दिव्य आभरण धारण किये हुए हैं और अनेक आयुध उठाये हुए हैं। वे आयुध भी दिव्य-ही-दिव्य हैं। दिव्य माल्य और वस्त्र धारण किये हुए हैं। दिव्य गन्धका अनुलेपन है। उनके शरीरमें सब आश्चर्य-ही-आश्चर्य है। न कहीं ओर है न छोर। न आदि है न अन्त: 'विश्वतोमुखम्'-जिधर देखो उधर भगवान्-ही-भगवान्। इसको अभूत उपमा बोलते हैं—जैसा कभी न हुआ हो ऐसा। अभूतोपमालंकार होता है शास्त्रमें। इसको मम्मटने तो अतिशयोक्तिके रूपमें स्वीकार किया है और दूसरे आचार्योंने अभूतोपमाके रूपमें ही इसको स्वीकार किया है। क्योंकि ऐसा उपमान सृष्टिमें और कहीं मिलता नहीं इसलिए कल्पना की—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।

हजारों सूर्य एक साथ उदय हों और उनका प्रकाश, उनकी आभा चारों ओर फैल जाये तो कदाचित् वह उस विराट्-रूपके सदृश हो सकती है।

'महात्मन:' बड़ा भारी है शरीर जिसका—आत्मा शब्दका अर्थ संस्कृतमें शरीर भी होता है। 'महान् आत्मा शरीरं यस्य।' इतना बड़ा शरीर है—न ओर न छोर, पूर्वकी ओर यहाँसे अपनी नजर हम फेकें—फेंकते जायँ—कहीं पूर्वका ओर-छोर नहीं मिलेगा। कोई अपने मनसे, बुद्धिसे पूर्वकी आदि ढूँढ़ना चाहे या पूर्वका अन्त ढूँढ़ना चाहे तो नहीं मिलेगा। पश्चिमका, ऊपरका, नीचेका आदि-अन्त नहीं मिलेगा। यदि आप सबका आदि अन्त ढूँढ़ना चाहें तो इससे फायदा क्या होगा? कौन-सी आमदनी हो जायगी इससे? क्या मुनाफा होगा? मुनाफा यह होगा कि आपको सत्यका ज्ञान हो जायेगा। तो ढूँढ़ने आप कहीं भी जावेंगे तो न अन्त मिलेगा न आदि मिलेगी। लेकिन हमलोग उस आदि, अन्तको ढूँढ़ लेते हैं। वह हमारा व्यापार है। वह आदि, अन्त कहाँ है? जहाँ हमारा 'मैं' है। वहीसे पूर्व, पश्चिम, उत्तर दक्षिण, ऊपर, नीचे—सब वहीसे शुरू होता है। अगर आप अपनेको ढूँढ़ लें तो देखेंगे हमसे शुरू होकर हमारे बायें, पूरब है। हमसे शुरू होकर हमारे दाहिने पश्चिम रहता है। हमसे शुरू होकर हमारे सामने दक्षिण है और हमसे शुरू होकर हमारे पीछे उत्तर है। उनका ओर-छोर यदि ढूँढ़ना हो तो 'मैं' को जानना पड़ता है। यदि 'मैं' को नहीं जानेंगे तो कोई

चीज नहीं जान सकते। भूतकी आदि आप जानने जाँय तो कभी मिलेगी? अज्ञानान्धकारमें, घोर अन्धकारमें, अज्ञान निद्रामें डूब जायेंगे।

अच्छा भविष्यका अन्त ढूँढ़ने जायें तो कहीं मिलेगा? परन्तु यह जो वर्तमान है, यहीसे भूतकी आदि है और यही भूतका अन्त है। और यहीं भविष्यकी आदि है और भविष्यका अन्त है। इसके कहनेका अभिप्राय है कि अपने मैंको जाने बिना जो कुछ भी हम जानना चाहते हैं उसमें सिवाय अज्ञानके और कुछ भी नहीं मिलेगा। इसलिए महात्मा लोग जो वासनानुसारी नहीं होते हैं कि हमें यह वस्तु चाहिए, ऐसी वस्तु चाहिए, यह चाहिए, वह चाहिए वह पहले जहाँसे वासनाएँ उठती हैं उसके मूल 'मैं' का अनुसन्धान करते हैं—कि आत्मा क्या है? इसीको 'कोऽहम्' बोलते हैं और इसीको 'सोऽहम्' बोलते हैं। मैं कौन हूँ? मैं वह हूँ। कौन? कालका आदि, अन्त जहाँसे शुरू होता है। वह देशका आदि, अन्त जहाँसे शुरू होता है। वस्तुओंका भान जहाँसे प्रारम्भ होता है, वह मैं हूँ। उत्पत्ति कब हुई, कहाँ हुई, कैसे हुई, क्या हुई? यह ढूँढ़ने जाओगे तो कुछ नहीं मिलेगा। केवल अज्ञान हाथ लगेगा। लेकिन मालूम कैसे पड़ता है? उत्पत्तिका मूल ढूँढ़ोगे और कहीं नहीं मिलेगा। लेकिन भानका मूल ढूँढो। मालूम कैसे पड़ता है? मेरे 'मैं' से मालूम पड़ता है। मुझसे मालूम पड़ता है। यदि वह 'मैं' मालूम पड़ जाय तो सब कुछ मालूम पड़ जाय। यदि सृष्टि मालूम न पड़े तो क्या है? भगवान् आवें सामने और मालूम न पड़े तो क्या है? ईश्वर सामने हो और मालूम न पड़े तो क्या है? आप सब हैं और मालूम न पड़े तो क्या है? जहाँसे मालूम पड़ना प्रारम्भ होता है, वहाँ सत्यका दर्शन होता है। इसलिए कल्पना करो ऐसा है, ऐसा है—कल्पना करनेसे नहीं बनेगा।

इस भावको ढूँढ़ना पड़ेगा कि यह भाव क्या है? 'यदि भाःसदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।' यह जो आत्मदेव हैं यह सबसे महान् हैं, क्योंकि ईश्वरको ये ही जानते हैं। जीवको ये ही जानते हैं। जगत्को ये ही जानते हैं। इसलिए आत्मा जो जाग्रत्में विषयोंको ग्रहण करता है, जो स्वप्नमें विषयोंको बनाता है, जो सुषुप्तिमें सबका उपसंहार कर लेता है और तीनोंमें स्वयं जगमग-जगमग झलकता रहता है, वही सबके भानका निमित्तकारण है और वही सबके होनेका, अस्ति-का उपादान कारण है और वह तो एक सरीखा ही रहता है। यह बात ध्यानमें आनेकी है। आपको यह तो मालूम नहीं कि आपकी आँखमें कितनी ताकत है? आपकी खुर्दबीन कितना गुना करके वस्तुको दिखाती है। और फिर वस्तुको नापते है, तोलते हैं तो झूठी होगी ही। आप यहाँ जिसको एक किलो तौल लें और फिर ऊपरके देशमें राकेटमें बैठकर जायँ तो वहाँ उसका एक किलो वजन नहीं रहेगा। एक किलो वजन उस चीजका नहीं है, यहाँकी परिस्थितिके अनुरूप उसका एक किलो वजन है; वह तो देशिक है, कालिक है। इसलिए विराट्को देखना चाहनेपर महात्माने (भगवान्के लिए महात्मा शब्दका प्रयोग है। अर्जुनको उसे अपनेमें ही दिखा दिया, उस महात्माके शरीरमें अर्जुनने समस्त जगत्को देखा।

तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥ (11.13-14)

सम्पूर्ण जगत् 'कृत्स्नं जगत्' एकमें स्थित है। ज्ञानकी प्रक्रिया यही है कि जितनी अनेकताएँ दिखती हैं जब एकमें समा जायँ जबतक तीन दीखता है, दो दीखता है—तबतक वस्तुका ज्ञान ठीक नहीं हुआ। जब ज्ञानमें 'मैं' जाननेवाला और यह जाना जानेवाला 'यह' भी भेद न रहे, शुद्ध ज्ञान ही रहे तब ज्ञानस्वरूप अनुभव स्वरूप होता है। देखा उसने 'अनेकधा प्रविभक्त' बँट तो गया है अनेकों प्रकार, लेकिन सब एकमें ही स्थित है।

देवदेवके शरीरमें अर्जुनने इस विश्व-विराटको देखा। इसके बाद अर्जुनकी क्या स्थिति हुई, यह बताते हैं।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥

पहले विस्मयका भाव हुआ। विस्मय माने आश्चर्य। अद्‌भुत दर्शनके कारण विस्मयका, आश्चर्यका भाव अर्जुनके हृदयमें हुआ। फिर वह उसमें आविष्ट हो गया। आविष्ट हो गया तो स्थायीभाव हो गया और स्थायीभाव हो गया तो भगवान् तो हैं आलम्बन और उनका यह विराट्रूप है उद्दीपन और 'हृष्टरोमा' 'प्रणम्य कृताञ्जलिः' अनुभाव, सात्त्विक और संचारी सभी भाव उसमें आगये और अद्भुतरसका उदय हुआ और उसका अनुभव हुआ, तादात्म्यापन हो गया अर्जुन। अर्जुनको यही न मालूम पड़े कि मैं इस विराट्से अलग हूँ या इस विराट्के एक हूँ।

मधुसूदन सरस्वतीने यहाँ अद्भुत रस माना है चूँकि आश्चर्यका अनुभव हुआ। परन्तु पण्डितराज जगन्नाथके मतमें यहाँ अद्भुतरस नहीं है। यहाँ अर्जुनको धनञ्जय कहा गया है। अर्जुन दिग्विजय करके धन ले आते हैं इसलिए उनका नाम धनञ्जय है अथवा 'धत्ते इति धनं साधनं—तत् जयति'—साधन-सम्पत्तिके बिना ही भगवान्ने उन्हें सारे साधन दे दिये। और शरीरमें रोमाञ्च हुआ। हाथ जुड़ गये और सिरसे प्रणाम करके भगवान्के प्रति उन्होंने भाषण किया।

प्रणामकी भी अनेक रीतियाँ हैं—जैसे हाथ जोड़नेका; अभिप्राय यह है कि आपकी आज्ञा मैं अपने हाथोंपर लेना चाहता हूँ। आप जो आज्ञा करेंगे सो मैं करूँगा। हमारे हाथ जुड़े हुए हैं मानो खाली हैं। सब काम छोड़कर मैं आपकी आज्ञाकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। दोनों हाथ आपके हैं। सिर झुकानेका अर्थ होता है कि हम अपनी बुद्धि, अपने विचार आपके सामने झुका रहे हैं। आपके विचार ही हमारे विचार है। हमारे विचार आपसे अलग नहीं है और जब साष्टांग प्रणाम करते हैं—तब उसका अर्थ होता है कि हम सम्पूर्ण जीवन ही आपको अर्पित करते हैं—सिरसे पाँव तक।

आपके विचारके अनुसार विचार, आपके कर्मके अनुसार कर्म,आपके प्रेमके अनुसार प्रेम और आप जहाँ ले चलेंगे वहाँ चलनेको तैयार। सिरसे, आँखसे, हाथसे, हृदयसे, पाँवसे, साष्टांग प्रणाम होता है। कोई भी क्रिया यदि भावको प्रकट न करे—कोई भी वचन यदि भावको प्रकट न करे तो वह थोथा है, दिखाना मात्र है।

उसमें किसी-न-किसी भावकी अभिव्यक्तिका सामर्थ्य होना चाहिए। प्रणमनका अर्थ होता है झुकना। भगवान्‌के सामने अर्जुन झुक गया और 'कृताञ्जलिरभाषत'।

मनुस्मृति आदि ग्रन्थोंमें जो प्रणामका विधान है वह तो ऐसे है—दाहिने हाथसे दाहिना पाँव छूना और बाँये हाथसे बाँया और हाथ उतान हों, मानें हथेली ऊपरकी हो और पाँवका निचला हिस्सा छूते हैं प्रणाम करते समय और यह भी बताकर—अमुक-अमुक गोत्र और अमुकका पुत्र और अमुक नामवाला मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ। पहचान करानेवालेकी जरूरत नहीं है। अपनी पहचान स्वयं दे देनी चाहिए। और उतान हाथ करनेका अर्थ यह है कि आपके चरणोंसे आशीर्वाद, कोई शक्तिबल हमारे लिए अपेक्षित है, जो उसको मैं अपने हाथोंमें लेता हूँ, सिरसे लगाता हूँ, शिरोधार्य करता हूँ।

प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत।' 'अर्जुन उवाच'—अब अर्जुनकी वाणी है—अर्जुन शब्दका अर्थ संस्कृत भाषामें पाणिनि व्याकरणके अनुसार तो अर्जन करनेवाला होता है—'अर्जनात् अर्जुन:' पर नीलकण्ठने—महाभारतके व्याख्याताने ऋजुत्वात् अर्जुन: किया है। यह शब्द पाणिनि व्याकरणसे नहीं बनता है। लेकिन उन्होंने निरुक्तके अनुसार अर्थ किया है। जो बहुत सरल है, सीधा है। जिसके हृदयमें दाँव-पेंच होता है, कुटिलता होती है, वह किसी वस्तुको देखे भी तो ईमानदारीसे सच्चे रूपमें ग्रहण नहीं कर पाता है। लेकिन यदि हृदय सरल हो तो सामने वालेकी बात उसके हृदयमें प्रवेश करके बैठ जाती है। यह अर्जुन ऋजु है, सरल है। सरल चित्त हैं इसलिए उसको अर्जुन कहते हैं। उन्होंने देखा और देखकर कहा कि मैं—सचमुच देख रहा हूँ।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥ 11.15-16

अर्जुनने कहा है देव, क्या खेल है. आपका! आपके शरीरमें मैं देवताओंको देख रहा हूँ। सब इन्द्रादि जितने देवता हैं, सब हैं। अपने शरीरमें भी इन्द्रादि देवताओंकी अभिव्यक्ति होती है। हाथमें इन्द्रकी, पाँवमें विष्णुकी—गतिके देवता विष्णु हैं। कर्मके देवता इन्द्र हैं। बोलनेवाली जीभके देवता अग्नि हैं और स्वाद लेनेवाली जीभके देवता वरुण हैं। आँखोंमें सूर्य हैं। कानोंमें दिक् देवता हैं। त्वचामें वायु हैं। नासिकामें अश्विनीकुमार हैं। जैसे पिण्डमें होता है, ठीक ऐसे ही ब्रह्माण्डमें होता है। लेकिन श्रीकृष्णने अर्जुनको ब्रह्माण्डरूप नहीं दिखाया।

ब्रह्माण्ड तो पंचभूतोंमें बनते हैं और कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड होते हैं। आकाशमें न जाने कितने ब्रह्माण्ड हैं। सबमें हवा चलती है। सबमें गरमी रहती है। सबमें पानी होता है। सबमें धरती होती है। पंचभूतोंके बने हुए कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड होते हैं। अर्जुनको विश्वात्मक विराट् शरीर भगवान्‌ने दिखा दिया अपनी देहमें। देह शब्दका अर्थ संस्कृतमें होता है 'जो बहुत वस्तुओंसे बना हो।' 'दिह् उपचये'। राशि-शशि पदार्थ हैं-देहके-

देह—यह बात आपको मालूम ही होगी कि जब बहुत-से पार्ट जोड़कर कोई मशीन बनायी जाती है तब वह मशीन मशीनके लिए नहीं होती। मशीन किसी दूसरेके लिए होती है। बैलगाड़ी बनाओ, चाहे मोटर बनाओ, चाहे राकेट बनाओ—जब उसके पुरजे बहुत-से हैं और सब जोड़े गये हैं, तो वह चीज स्वयंके लिए नहीं होती है। किसी औरके लिए होती है। अर्जुनके लिए भगवान्‌ने अपना विराट् देह प्रकट किया। उसमें सम्पूर्ण भूतविशेष अर्थात् जितने भूतविशेष हैं—उनका संघ है। फिर देखा कि ब्रह्माजी भी उसमें हैं।

ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थम् ऋर्षीश्च सर्वान्-उरगांश्च दिव्यान्।

सम्पूर्ण विश्वसृष्टिके स्वामी हैं, ईश हैं, वे ब्रह्माजी कमलासनपर बैठे हुए हैं। देखा—ब्रह्माजी भी श्रीकृष्णके शरीरके एक कोनेमें, कमलपर बैठे हैं।

इसका दूसरा अर्थ भी होता है। ब्रह्मा माने ब्रह्माजी और ईश माने शंकरजी और कमलासनस्थ माने विष्णुजी 'कमलाया आसने तिष्ठति इति कमलासस्थ:' लक्ष्मी, नारायण दोनों। श्रीकृष्णके विराट् शरीरमें ही ब्रह्मा हैं, शंकर हैं—लक्ष्मी-नारायण हैं। सबके सब श्रीकृष्णके शरीरमें बैठे हुए हैं। मह:, जन; तप: लोकमें रहनेवाले जितने ऋषि हैं और जितने पातालमें रहनेवाले दिव्य सर्प हैं—किसीके अनेक बाहु हैं, अनेक पेट हैं, अनेक मुँह हैं, अनेक नेत्र हैं-भगवान् चारों ओर देखते हैं। आप अपनी घर-गृहस्थी देखनेका ख्याल करें तो घर-गृहस्थी एकबार भूल जायगी। जिनकी चिन्तामें आप दिन रात मगन रहते हैं। छोटे दर्जेपर ही चिन्ता होती है। यदि महान् वस्तुओंको देखें तो उसमें कहीं चिन्ता नहीं होगी। महात्माओंके बारेमें वर्णन आता है कि महात्मालोग आकाशको ही अपना शरीर समझते हैं। उसमें न प्यार है, न विचार है, न वासना है, शान्त अपने स्वरूपमें स्थिर हो जाते हैं।

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप। 11.16

विराट्का न आदि है, न अन्त है, न मध्य है। जिसका आदि और अन्त होता है, उसीका मध्य होता है। गणना आपको करनी हो तो हम जिस पृथिवीपर रहते हैं, इसका कितना गुणा आकाश है, गणितके लिए कोई आधार नहीं है। कोई दिमाग, कोई कम्प्यूटर इसकी गणना नहीं कर सकता। और आकाशके किस हिस्सेमें यह धरती है? अरबवें खरबवें? जब आकाशका ओर-छोर ही मालूम नहीं है तो पृथिवी आकाशके किस हिस्सेमें है—यह कैसे मालूम हो सकता है? और कं ब्रह्म, खं ब्रह्म—यह आकाश तो भगवान्‌का शरीर है। जिसका शरीर आकाश है, उसका आदि अन्त, मध्यको भी जाना जाय। यदि 100 वर्ष पहले जन्म हुआ और सौवें वर्षमें शरीरका अन्त हो रहा है तो इसका मध्य होगा पचासवाँ वर्ष। लेकिन जिसका आदि और अन्त दोनों न हो, उसका मध्य कहाँसे होगा? तो हे बिश्वेश्वर, हे विश्वरूप, तुम्हारे आदि अन्त, मध्यको मैं नहीं देख रहा हूँ।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥ 11.17

आपके सिरपर किरीट है—ब्रह्मलोकका किरीट होता है। वेदोंकी गदा होती है और कालचक्र होता

है और तीनों राशि प्रकाशमय स्वरूप है। चारों ओर दीप्ति फैली हुई है। आँखें देख नहीं पाती हैं। यह तो तुमने दिव्य दृष्टि दे दी हैं। इसके कारण मैं देख रहा हूँ, पर देखना कोई आसान नहीं है। चारों ओर जैसे आग जल रही हो। चारों ओर जैसे सूर्य उग रहे हों? अप्रमेयम् किसी प्रमाणके द्वारा आपको देखा नहीं जा सकता। प्रमाण होता है, देखनेवालेके पास और लक्षण होता है, जो चीज देखी जाती है, उसके पास।'

कल कोई स्त्री-पुरुषके बारेमें चर्चा कर रहा था। स्त्री और पुरुषमें क्या अन्तर है, क्या विशेषता है? स्त्री-शरीर ग्रहण प्रधान होता है और पुरुष शरीर त्याग-प्रधान होता है। यह प्राकृत विभाग है। गर्भाधान कराना पुरुषका काम है और उस गर्भको ग्रहण करके अपने अन्दर पालन-पोषण करना, यह स्त्रीका काम है। संग्रह और त्याग दोनोंमें प्राकृत विशेषता है। बीजका त्याग, बीजका वपन, यह पुरुष-धर्म है और बीजको ग्रहण करके उसमें.अंकुर, पौधा उत्पन्न करना यह क्षेत्रधर्म है। कुरसीपर समान रूपसे बैठ सकते हैं—उसमें कोई प्राकृत भेद नहीं है। पढ़ाई समान रूपसे कर सकते हैं, ऊँचे ओहदेपर समानरूपसे जा सकते हैं परन्तु स्त्रीका लक्षण है गर्भाधान—गर्भको अपने भीतर ग्रहण करना और पुरुषका धर्म है बीजका परित्याग करना। इसी प्रकार कमाई करके पुरुष ले आवे और स्त्रीको दे दे। स्त्री उसको सम्हाले यह स्त्री-धर्म है। सम्हालना स्त्रीका धर्म है और लाना पुरुषका धर्म है। यह स्त्री-पुरुषका लक्षण हुआ।

पर यह मालूम कैसे पड़ेगा? यह तो बुद्धिसे मालूम पड़ेगा। आँखसे स्त्री-अभिव्यंजक चिह्न दूसरे होते हैं और पुरुष-अभिव्यंजक चिह्न दूसरे होते हैं। यह प्रमेय है, हमारे पास नेत्र आदिका रूप प्रमाण है और स्त्री-पुरुषके जो लक्षण हैं उनके द्वारा इनका बोध होता है। लेकिन भगवान्‌को पहचानना हो तो कौन-सा प्रमाण है? और भगवान्‌का कौन-सा लक्षण? किसी भी प्रमाणके द्वारा आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा ये जो प्रत्यक्ष प्रमाणके कारण हैं, हमारे पास इनके द्वारा परमात्माका पूरा ग्रहण नहीं हो सकता और जो योगज प्रत्यक्ष है, उसमें भी तारतम्य होता है। जिसका प्रत्यक्ष नहीं होता उसका अनुमान भी नहीं हो सकता। उपमान तो परमात्माका कोई है ही नहीं, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि प्रमाणोंसे भी परमात्माका ग्रहण नहीं होता। इसलिए परमात्माको अप्रमेय बोलते हैं—माने वे प्रमाणके विषय नहीं है।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥ 11.18

वह अक्षर तत्त्व परम वेदितव्य है। लिपिके लिए झगड़ा होता है। चीनी लिपि ऊपरसे नीचे जाती है, वह ठीक है कि अरबी-फारसी लिपि ठीक है जो दाहिनेसे बाएँकी ओर जाती है, या नागरी लिपि ठीक है जो बाएँसे दाहिनेकी ओर चलती है। आकृति भी अनेक है। 'क' की आकृति अंग्रेजीमें और है—अरबी-फारसीमें और है। तेलुगू-तामिलमें और है—बंगला-असामियामें और है। लिपियाँ अलग-अलग हैं। लिपिकें माने रंग खोद करके लिपि बनायी जाती है। कोई ताड़पत्र आदिमें लिखित करके लिपि बनाई जाती है। और कोई टंकणके द्वारा टाइप करके लिपि बनायी जाती है। किसीको लिपि कहते हैं, किसीको लेख कहते हैं। किसीको टंकण कहते हैं। उनमें मुँहसे एक क अथवा ख बोलनेके लिए जो इशारे होते हैं—वे सबमें अलग-अलग हैं

परन्तु उन संकेतोंसे जो चीज बोली जायगी-अ क च ट त प वह तो एक ही होगी। इशारे अनेक होनेपर भी जो अक्षर हैं, वह एक है।

लिपि तो क्षर है—माने 'क्षरति'-बदल जाती है, नष्ट हो जाती है। परन्तु अक्षर वह है जो 'न क्षरति'। अ एक ही रहेगा चाहे तामिलमें लिखो चाहे बंगलामें लिखो चाहे नागरीमें लिखो अ तो एक ही रहेगा। क्योंकि कंठ, तालु आदिके आघातसे 'अ' का जो उच्चारण होगा वह एक ही होगा चाहे लिपि उसका उच्चारण करनेके लिए अनेक बना दो। इशारे—लिपियाँ 'क्षर' होती हैं और 'अक्षर' एक होता है। इसी प्रकार इस संसारमें जितने 'क्षर' हैं—वे 'अक्षर' को प्रकट करनेके लिए इशारे हैं। सारेके सारे भूत 'क्षर' हैं और जो कूटस्थ है उसको 'अक्षर' कहते हैं। अक्षर भी अनेक होते हैं। उनसे बनते हैं—पद। पदोंसे बनते हैं—वाक्य। वाक्योसे निकलते हैं—अर्थ। अर्थसूचक वाक्य होता है। अर्थ भी होते हैं अनेक। उन अनेक अर्थोंमें जो एक परमार्थ है उसको अक्षर परमत्त्व कहते हैं। अश्नुते इति अक्षरम्।' जो सबमें व्याप्त हो उसका नाम अक्षर होता है।

अर्जुन कहते हैं कि प्रभु, इस विनाशी जगत्‌में आप अविनाशी हैं। इस अनेकरूप जगतमें आप एक हैं। इस अनित्य जगत्‌में आप नित्य हैं इस छोटेसे जगत्‌में आप बिना ओर-छोरके हैं। इस दुःखरूप जगत्‌में आप आनन्दरूप हैं आप जड़में चित् हैं। आप दुःखमें परमानन्दस्वरूप हैं। ऐसा आपका स्वरूप है 'त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं' जानने योग्य यदि कोई वस्तु है तो यह परमात्मा है। त्वं परमं वेदितव्यं। आप जानते हैं—बहुत-बहुत चीजें जानते हैं। आजकल तो लाटसाहब नहीं होते हैं। हमारे बचपनमें तो ऐसे कहते थे कि हमारा आज-कलका पढ़ा-लिखा जो आदमी है उसको यह मालूम रहता है कि लाटसाहबके कितने कुत्ते हैं। यह ज्ञान रहता है और कौन लाट कबसे आया, कितने दिन रहा? उसकी पत्नी कौन, उसके बच्चे कौन—यह सब लोगोंको पढ़ाया जाता है। सब वेदितव्य हैं—आप उनको जानो। हम आपकी जानकारीमें कोई बाधा नहीं डालना चाहते। आपको जो जाननेका शौक है वही तो जानेंगे न!

एक विदेशी विद्वान्‌ने एक डिक्शनरी लिखी। एक महिलाने उस डिक्शनरीको आदिसे अन्ततक पढ़ा और पढ़कर उनको चिट्ठी लिखी कि आपने अपनी डिक्शनरीमें १४० गालीके शब्द लिखे हैं। इनकी क्या जरूरत थी। जबाब दिया उन्होंने कि गिनती तो हमको भी मालूम नहीं थी। आपने मालूम करायी यह आपकी कृपा है। लेकिन आपकी दिलचस्पी केवल गालीके शब्दोंमें ही क्यों हुई? इसका कारण नहीं मालूम पड़ता। तो वेदितव्य तो बहुत हैं। इतिहास पढ़ लिया, डिग्री भी मिल गयी। लेकिन अपने इतिहासका तो पता नहीं। हमारे गाँवके आस-पासके कोई आते हैं तो हम उनसे पूछ लेते हैं कि तुम्हारे दादा कौन थे? दादाका नाम तो वे बता देते हैं। पर परदादाका नाम उनको पता नहीं। अपना गोत्र ब्राह्मणोंसे पूछते हैं तो उनको पता नहीं रहता। आपकी दिलचस्पी, रुचि जिसमें हो, उसको ही जानते हैं। पर सब वेदितव्योंके साथ एक परम वेदितव्य जुड़ा हुआ है। जिसको जाने बिना कोई भी ज्ञान पूरा नहीं होता है। उसको परमवेदितव्य बोलते हैं।

गीतामें बताया है—'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (15.15) 'अहं वेदवेद्यः'। मैं वेदोंसे ही जाना जाता हूँ।

'सर्वैर्वेदैर्वेद्य:'। वेदमें चाहे ऊपरसे कुछ भी वर्णन हो परन्तु उसका तात्पर्य मुझमें है। 'अहमेव वेद्य:'। मैं ही केवल जानने योग्य हूँ। और

'अहं वेदवेद्य:'। यदि इस जीवनमें हमको नहीं जानोगे—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति।
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः॥ केन उप० 2.5

यदि तुमने इसी जीवनमें परमात्माको जान लिया तो तुम्हारा जीवन सत्य हो गया। परमात्मासे मिल गया।

यदि इसी जीवनमें परमात्माको नहीं जाना तो 'महती विनष्टि:'। अगले जन्मके लिए कुछ रखना ही नहीं। आपको जो कुछ जानना है, जो कुछ करना है, जो कुछ पाना है, जो कुछ छोड़ना है, इसी जीवनमें। इन चारों बातोंपर आप ध्यान दें। आपको इस जीवनमें जो जानना है सो जान लीजिये, जो करना है सो कर लीजिये—जो पाना है सो पा लीजिये। जो छोड़ना है सो छोड़ दीजिये। अगले जन्मके लिए कुछ उधार मत रखिये। नहीं तो 'महती विनष्टि:'। फिर न आप कर सकेंगे, न पा सकेंगे, न छोड़ सकेंगे। वैसे जीवनकी अनेक सम्भावनाएँ हैं परन्तु उनके होनेपर भी जो आवश्यक है—आप अपना धन पूरा करना चाहते हैं? आपको कल्पना है कि आपके पास कितना हो जावेगा तब आप पूरा मानेगे? जितना भी बढ़ता जायगा—और, और, औरकी वासना बढ़ती जायगी। वह कभी पूरा नहीं होगा। जो आप करना चाहते हैं—कहीं आपको जाकर सन्तोष होगा? कि जो करना था सो कर लिया? जो पाना था सो पा लिया? जो छोड़ना था सो छोड़ दिया? नहीं, ऐसे आपको सन्तोष नहीं होगा। जब आपकी आत्माका जो पूर्णस्वरूप है उसको आप जानेंगे तभी आपका जीवन पूरा होगा और तभी सत्यका साक्षात्कार होगा।

जो सत्यके ज्ञानके बिना भी अपनेको ज्ञानी मानते हैं और सत्यको समझे बिना ही करते रहते हैं—सत्यको समझे बिना ही पाते रहते हैं—उनका जीवन कैसा है? उनका जीवन तो ऐसा है जैसे—हमको पैसा चाहिए—चाहे ईमानदारीसे मिले, चाहे बेईमानीसे। जो चाहे बोलते रहते हैं पर सत्यको समझते नहीं, उनका जीवन कैसा है? सत्य चाहे कुछ भी हो, हम तो बोलते रहेंगे। जो लेते हैं—हमारे हकका हो या न हो, हम तो लेते रहेंगे। सत्यके ज्ञानके बिना हमारा जीवन कैसा हो रहा है—सच्चाईको तो समझते नहीं—तो 'परमं वेदितव्यम्' क्या है—यह जो परमात्माका अक्षर स्वरूप है—जो नाशवान्में अविनाशी है, जो अनेकमें एक है, जो जड़तामें ज्ञान है, दु:खमें सुख है, वह जानने योग्य है। एक परमात्मा ही जानने योग्य है।

न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्मात् लोकादमृता भवन्ति॥ केन 2.5

यह दुनियाका जो परम विधान है, जहाँसे यह दुनिया निकलती है और जहाँ यह समाती है उसका ठिकाना कौन-सा है? इसको जाननेमें यह जो वासनाओंका झगड़ा है, आप सब भले लोग हैं—आपके बीचमें बोलने लायक नहीं है पर सब एक दूसरेकी जेब काटनेको तैयार है।

यह मारामारी जो है यह उस समय टूट जायगी जब आप सत्यके साक्षात्कारके मार्गपर चल पड़ें। दुनियामें चाल यही है कि उनकी मोटर पीछे रह जाय हमारी मोटर आगे बढ़ जाय। उनके जेबमें है वह हमारी जेबमें आजावे। यह दुनियाकी गति है। यह मारामारी क्यों? असलमें सत्यके साथ साक्षात्कार नहीं है। यदि सत्यके साक्षात्कारके लिए प्रयास प्रारम्भ हो जाय—हम उसको आवश्यक समझें और हमारे जीवनकी वासना सत्यकी ओर मुड़ जाय तो हमारे जीवनमें जितने दोष हैं—चोरी, दया, व्यभिचार क्या—अनाचार क्या, दुराचार क्या, भ्रष्टाचार क्या, वे सब दूर हो जायेंगे क्योंकि उस सत्यके ज्ञानकी जिज्ञासा होने मात्रसे जीवनकी दिशा मुड़ जाती है। 'त्वमव्यय: शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे'। मैंने जान लिया। मे मम मत:। मेरी मान्यता ऐसी है, मेरा विचार ऐसा है—मेरा ज्ञान ऐसा है, 'मत:' में मति रहती है। 'त्वमव्यय: शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे'।

एक बातपर आप ध्यान दें। आपका ईश्वरसे कुछ मतभेद है कि उसके मनसे आपका मन मिलता है? ईश्वरकी मतिसे आपकी मति मिलती है कि नहीं मिलती? गुरुके अनुभवसे चेलेका अनुभव मिलता है कि नहीं मिलता। ईश्वरकी नजरसे जीवकी नजर मिलती है कि नहीं मिलती? आपका सारा दु:ख मिट जायगा, अगर आप इस बातपर ध्यान देंगे। आप ज्ञानमें ईश्वरसे मतभेद रखेंगे तो आपका ज्ञान झूठा है। यदि आप ईश्वरके प्यारसे अपना प्यार अलग बना रहे हैं तो आपका प्यार टिकाऊ नहीं होगा। आप ईश्वरको छोड़कर औरको पकड़ना चाहते हैं तो कभी पकड़ नहीं सकेंगे। आप अपनी युक्तिपर विचार कीजिये। अपनी बुद्धिपर विचार कीजिये। कभी आप सोचते हैं कि ईश्वरको यह दुनिया कैसी दिखती है। जैसी ईश्वरको यह दुनिया दीखती है यदि वैसी ही आपको दीखने लग जायेगी तब तो आपकी दृष्टि सच्ची होगी। और ईश्वरको जैसी यह दुनिया दीखती है वैसी आप नहीं देख पाते हैं तो आपकी आँख बिलकुल अधूरी है। और अधूरी दुनियाको देख रही है, सच्ची नहीं देख रही है—आओ ईश्वरकी आँखमें आँख मिलाकर देखें।

ईश्वरने कहा—अर्जुन, मैं देखता हूँ। यह सम्पूर्ण विश्व मेरा स्वरूप है। अर्जुनने कहा—हाँ महाराज, यह सम्पूर्ण विश्व आपका स्वरूप है। तब अर्जुन भय किस बातका? जब जीवन,जन्म और मृत्यु दोनों ईश्वरका स्वरूप है। जब होना और न होना दोनों ईश्वरका स्वरूप है तब भय किसका? छूटनेका शोक किसका? मरनेका भय किसका? इस परिवर्तनशील वर्त्तमानमें मोह किसका? भगवान्पर जब दृष्टि जाती है—तब शोक, मोह और भयको अपने जीवनसे भगा देती है। देखो, यदि आपका जीवन शोक, मोह, भयसे मुक्त न हो तो आप सुखी नहीं होंगे। जो स्वयं सुखी नहीं है, वह दूसरेको सुखी नहीं रख सकता। इसलिए ईश्वरकी दृष्टिसे अपनी दृष्टि मिलना आवश्यक है। वह अविनाशी है, वह शाश्वत धर्मका गोप्ता=रक्षक है, वह सनातन पुरुष है। आप वह जैसा है, उसको वैसा जानिये और जैसा वह देखता है वैसा देखिये। मालिककी नजरसे अपनी नजर मिल जाने दीजिये और देखिये शान्ति ही शान्ति है—आनन्द ही आनन्द है!

ॐ शान्ति:, शान्ति:, शान्ति:

●

प्रवचन : 4

(22-11-82)

अर्जुन विश्वरूपका दर्शन कर रहे हैं। विश्वरूपका दर्शन भगवत्-कृपापात्र मनुष्यको ही होता है। कौरवोंकी सभामें भगवान्ने जब विश्वरूप प्रकट किया तो भीष्म, द्रोण, कृप और दूसरे जो वहाँ कुछ महापुरुष थे, वही देख सके। धृतराष्ट्रको तो भगवान्ने देखनेके लिए आँख दी, तब देख सके। जो संसारकी छोटी-छोटी वस्तुओंको पकड़कर बैठा है उसको महान्का दर्शन नहीं होगा। हमारा मन, हमारा नेत्र अगर छोटी-छोटी वस्तुओंको ही पकड़कर बैठा रहेगा तो जो भगवान्का महान् विश्वरूप है उसका दर्शन कहाँसे होगा? अर्जुनको भूल गया अपना शरीर, भूल गया अपना परिवार और दीखने लगे भगवान्।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥
द्यावा पृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥
अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद् भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥
रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं, दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥
नभः स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥ 11.19-24

धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो'—अर्जुन कहते हैं कि जिस विश्वरूपका मैं दर्शन कर रहा हूँ उसका कालमें न आदि है, न अन्त है, न मध्य है। काल उसमें मालूम पड़ता है। कालमें भगवान् नहीं होते। कालकी गोदमें भगवान् यदि होंगे तो भगवान्से पहले भी काल होगा— बादमें भी काल होगा। भगवान्की उत्पत्ति और भगवान्का प्रलय कालमें होगा। इसलिए भगवान् कोई कालिक तत्त्व नहीं है बल्कि भगवान्ने अनेक रूपमें अपनेको प्रकट करके जो क्रम दिखाया पहला मिनट, दूसरा मिनट, तीसरा मिनट, पहले दिन फिर रात। पहले रात, फिर दिन—यह जो क्रम मालूम पड़ता है, इस क्रमकी संवित्का ही नाम काल है। संवित् तो परमात्मा है और काल संवित्का विषय है—इसलिए काल आता है, जाता है। जा रहा है, जा रहा है, काल जा रहा है, परन्तु ज्ञान एक सरीखा। जिसने रात देखी, उसीने दिन देखा। जिसने जाग्रत् देखा, उसीने सुषुप्ति देखी। देखनेवाला एक है और ये कालके खण्ड-खण्ड अवयव जो हैं ये अनेक हैं। आदि, मध्य, अन्त कालमें होता है। और जो

उसका अधिष्ठान है, माने जिसमें आदि, मध्य, अन्त मालूम पड़ता है वह सत् है। जिसको मालूम पड़ता है वह चित् है और परमार्थमें दोनों एक हैं। इसलिए काल चित्स्वरूप अधिष्ठानमें कल्पना मात्र है, परमात्माका स्पर्श नहीं करता।

अनादिममध्यान्तमनन्तवीर्यम् । उनका जो वीर्य है—वीर्य माने वीरभाव। वीरभावका अर्थ है, सामने दृश्य कैसा भी हो, उसमें विकार न हो—उसको देखकर, जन्मको देखकर, यौवनको देखकर, वृद्धताको देखकर, मृत्युको भी देखकर जिसके मनमें विकार न हो उसको वीर कहते हैं। उस वीरके भावका नाम वीर्य। वह किसीसे पराभूत नहीं होता। चाहे कुछ भी आवे, कुछ भी जावे। इस वीरताका परमात्मामें कहीं भी अन्त नहीं है। कितनी सृष्टि होती है, कितने प्रलय होते हैं। कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हैं। जैसे एक घड़ेसे दूसरे घड़ेको मारकर फोड़ दिया जाय, ऐसे दिन-रात कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड बनते रहते हैं और परमात्मा ज्यों-का-त्यों रहता है। उसकी शक्तिपर किसीका प्रभाव नहीं पड़ता है।

'अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्'। संसारमें जितने भी काम हो रहे हैं—कर्मके भारका वहन करनेवाला यह बाहु है। चाहे बोझ उठाना हो तो इससे उठा लो-उसका वहन करो और चाहे कर्तव्यका भार उठाना हो तो करके वहन करो। इसलिए जो प्राणियोंके पास बाहु है और प्राणियोंमें खास करके मनुष्यके पास ही बाहु है। उस बाहुसे कर्मके भारका वहन किया जाता है। जब चाहें, जहाँ चाहें कलमसे लिख लें और मूसलसे धान कूट लें। ऐसे काम—भोजनका ग्रास उठा लें, चावल उठा लें, तिल उठा लें, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वस्तु उठा लें। इतने मोड़वाला इच्छायन्त्र अभीतक सृष्टिमें बना नहीं है। कहते हैं—लोगोंने यान्त्रिक मानव बनाया है। पर इतने मोड़ और इतनी स्वच्छता, मनुष्यके सिवाय दूसरे किसी प्राणीमें नहीं है। कर्म करनेका अधिकार मनुष्यको है। प्रकृतिसे कहो, ईश्वरसे कहो ये दोनों हाथ मिले हैं।

चाहें तो ये पत्नीका बोझ वहन करनेके लिए भी हैं और पतिका बोझ वहन करनेके लिए भी हैं। और अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिए हैं। संसारमें जितने बाहु हैं माने कर्म करनेकी संसारमें जितनी शक्तियाँ हैं वे सब परमात्माकी शक्तियाँ हैं । हम लोगोंके जो हाथ हैं ये हमारे हाथ नहीं हैं, ये भगवान्के हाथ हैं। जब अपने हाथ मानते हैं तब हम गड़बड़ कर बैठते हैं। और जब भगवान्के हाथ मानते हैं तब इनसे कोई भी अपवित्र, कलुषित कर्म नहीं होगा। जितने हाथ हैं, संसारमें जितनी वस्तुएँ हैं वे सब भगवान्की बाहु हैं। अर्थात् जितना भी कर्म हो रहा है, उसमें भगवान्की शक्ति ही काम कर रही है।

'अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्'। 'ये चक्षुषि चन्द्रसूर्यौ'—वेदमें वर्णन आता है कि ये चन्द्रमा और सूर्य विराट् भगवान्के नेत्र हैं, माने वे चन्द्रमासे भी देखते हैं और सूर्यसे भी देखते हैं। आप देखिये तापन और प्रकाशन दोनों शक्तियाँ सूर्यमें होती हैं। और आह्लादन और प्रकाशन ये दोनों शक्तियाँ चन्द्रमामें होती है। आह्लाद—आनन्द देना और प्रकाशित करना तथा प्रकाशित करना और ताप देना। कर्मयोगके ये दो उदाहरण प्रस्तुत कर दिये हैं भगवान्ने अपने नेत्रोंके द्वारा। 'स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्या चन्द्रमसाविव (ऋग्वेद 5.5.15)।

जैसे सूर्य और चन्द्रमा प्रतिक्षण चलते ही रहते हैं, उनकी गतिमें कहीं रुकावट नहीं है, वे कहीं

आसक्त होकर रुक नहीं जाते हैं और कभी किसीसे द्वेष करके अपना ताप, प्रकाश और आह्लाद देनेसे रुकते नहीं। कर्मयोगीके लिए कोई आदर्श है तो सूर्य और चन्द्रमा हैं। चलते रहो, प्रकाश बरसाते रहो, आनन्द बरसाते रहो, शीतलता बरसाते रहो। ताप और शीतलता, प्रकाश और आनन्द—ये भगवान्‌की आँखोंसे बरसते हैं। और निरन्तर बरसते रहते हैं। कभी इनकी गति में अवरोध नहीं होता है। यही कर्मयोगीका काम है।

श्रीकृष्णने अपना पहला चेला सूर्य को ही बनाया है। गीतामें है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्। 4.1

यह कर्मयोग पहले मैंने सूर्य को बताया, ऐसा भगवान् कहते हैं। भगवान् का निकटवर्ती शिष्य सूर्य है। कर्मयोगकी शिक्षा उसे दी गयी है। वह तपाता भी है और प्रकाशतापी है। चन्द्रमा और सूर्य भगवान्‌के नेत्र हैं, जब हम विराट् स्वरूपको देखते हैं। कौन देख रहा है? भगवान् देख रहे हैं। शशिसूर्यनेत्रम्। नेत्र शब्दका अर्थ आँख तो होता ही है। पर संस्कृतमें इसका अर्थ नेता भी होता है। नी प्रापणे धातुसे ष्ट्रन्प्रत्यय होकर नेतृ शब्द बनता है, उसका अर्थ होता है नेता माने संसारमें अपने-अपने कर्ममें संलग्न रहनेके लिए भगवान्‌के दोनों नेत्र नैताका काम करते हैं। भाई हमारे पीछे-पीछे चलो। जैसे हम काम करते रहते हैं वैसे तुम भी काम करो। 'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्' मनुष्यसे बड़ी संसारमें और कोई वस्तु नहीं है। जितना भी स्वर्गका वैकुठका, अधिदेवका, अधिभूतका निरूपण है—

मत्त्वा कर्माणि सीव्यन्ति इति मनुष्यः। निरुक्त 1.7

मनके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ करके मनुष्य उसमें-से कर्त्तव्यकी शिक्षा ग्रहण करता है। स्वर्गका वर्णन है—अब स्वर्ग है कि नहीं यह तो खास-खास लोग वहाँ जाकर देखते होंगे। लेकिन इतना हमारी समझमें आता है। कि स्वर्ग पानेके लिए जो कर्म करने चाहिए वह हमारे लिए उपादेय है। मनुष्य जीवनमें इन कर्मोंका ही उपयोग है। वे श्रेष्ठ कर्म हम अपने जीवनमें करें। स्वर्ग मिलेगा तब देख लेंगे और नहीं मिलेगा तो कोई पछतावा भी नहीं है। क्योंकि हमने अच्छे काम किये। अच्छे काम हम करते रहें—बादमें स्वर्ग मिलेगा कि नहीं, वह जो उसके अनुभवी हैं उनके ऊपर छोड़ दिया जाय। नरकका भी वर्णन इसलिए है कि जिन कर्मोंसे नरक मिलता है, वे कर्म नहीं करने चाहिए। मनुष्यके जीवनमें उसका उपयोग यही है।

अब जो नरकसे लौटकर आये हैं, उसका स्मरण करेंगे कि नरक कैसा है? और जिनके मनमें वहाँ पहुँचनेकी योजना है—वे उसकी योजना बनाया करें। हमारे जीवनमें इतना ही अभिप्राय है कि स्वर्ग-प्रापक कर्म हम करें और नरक प्रापक कर्म हम न करें। मनुष्यके जीवनमें उसकी यही उपयोगिता है। ये सूर्य और चन्द्रमा भगवान्‌की आँखें हैं। हर समय खुली रहती हैं और सबको ये देखती रहती हैं। इनकी दृष्टि कभी बन्द नहीं होती। इनकी पलकें नहीं झपकतीं। ये निर्निमेष हैं। मनुष्यकी दृष्टि भी निर्निमेष हमेशा सजग रहनी चाहिए। जिसको ताप देना हो तपा लो। आगपर चढ़ाकर गला लो। उसको पीटनासे पीट लो। आभूषण बनाना हो, बना लो। बेचना हो बेच लो। उसमें ताप भी है, प्रकाश भी है। आह्लाद भी है और प्रकाश भी है। ये ही भगवान्‌की आँखें हैं, जो हमेशा हमको देखनेको मिलती हैं।

पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रम्। 11.15

भगवान्‌का मुख क्या है? अग्नि। ये अग्नि देवता हमेशा लोगोंको भोजन देते हैं। भोजन करते भी हैं और भोजन देते भी हैं। यह अग्निकी विशेषता है। 'अग्रे नयति'। आगे बढ़नेका साधन अग्नि है। अग्नि एक तो होती है भौतिक अग्नि जो लकड़ी आदिसे जलती है और एक होती है जठराग्नि जो पित्तमें रहकर अन्नको पचाती है। और एक होती है बाडवाग्नि जो जलमें-से प्रकट होती है। एक है वैद्युताग्नि जो आकाशमें बिजलीके रूप में गिरती है। अग्नि भगवान्‌का मुख है। वे बोलते भी इसीसे हैं और भोजन भी इसीसे करते हैं—और भोजन भी इसीसे पकाते हैं। ये आजकल जितनी फैक्टिरियाँ-कारखाने चलते हैं—कोई कपड़ा बनाकर खाता है, कोई सीमेंट बनाकर खाता है—खाये ही जाता है।

यह भोजन अग्निकी शक्तिसे ही मिलता है। अग्निका विभाग है विद्युत् और अग्निका विभाग है काष्ठादिसे प्रज्वलित होना, पेटमें रहनेवाली अग्नि, जलसे बननेवाली अग्नि। जलके वेगसे विद्युत्‌की रचना होती है। यह भगवान्‌का सब बल्ब है। अग्निके द्वारा वे बोलते हैं। और अग्निके द्वारा ही मनुष्यको आगे बढ़ाते हैं। 'अग्रे नयति इति अग्निः'। जो हमको आगे बढ़ावे उसका नाम अग्नि होता है। आपलोग ईशावास्य उपनिषद् कभी पढ़ते होंगे। 'अग्ने नय सुपथाराये' हे अग्निदेवता हमको सुन्दर मार्गसे ले चलो, जिसमें हम धन-संपदासे परिपूर्ण हो जायें 'राये' माने जो धन हम चाहते हैं, उस संपदाकी प्राप्तिके लिए तुम हमको आगे ले चलो।

'हुताशनं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्' ये पानीसे बना विश्व यदि तपाया न जाय, तप्त न हो तो उपयोगी होगा ही नहीं। असलमें यदि मनुष्यके या प्राणियोंके जीवनमें दुःखकी, तापकी सृष्टि न होती, रेलगाड़ीमें अगर भाप पैदा न की जाती तो वह आगे कैसे बढ़ती? यह ताप मनुष्यके जीवनमें आगे बढ़नेके लिए शक्ति और प्रेरणा देता है। 'स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्'। जहाँ कहीं गरमी मालूम पड़ी कि ठण्डमें जानेकी रुचि पैदा हो जाती है। तो भगवान् तपा-तपाकर इस विश्वको पक्का करते हैं।

मैंने एक सत्पुरुषके व्याख्यानमें सुना था कि भगवान्‌ने पहले जब मनुष्य-सृष्टि करना प्रारम्भ किया तो जरा आँच तेज हो गयी तो जो काले लोग हैं न! हबशी निग्रो—ये पैदा हो गये। फिर उन्होंने कहा—ओ हो ज्यादा आँच दे दी यह ठीक नहीं है। तो जल्दीसे पकनेके पहले ही उतार दिया। तब गोरे लोग पैदा हो गये। फिर वही सावधानीसे जब बनाया तो ये गोरे और कालेके बीचमें हम भारतीयोंको बनाया। भगवान् पक्की, कच्ची, कच्ची-पक्की रसोई बनाते हैं, न जली न कच्ची रही। यह ताप दे-देकर ही भगवान् यह सृष्टि बनाते हैं। सारे विश्वमें जो भी निर्माण होता है उसमें तापकी आवश्यकता होती है। ताप ही निर्माणका मूल है।

अपने तेजसे भगवान् विश्वको तप्त कर रहे हैं।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।

ये जो पृथिवी और द्युलोक है इनके बीचमें अन्तरिक्ष है और जितनी दिशाएँ हैं वे सब एक ही भगवान्‌से व्याप्त हो रही हैं। व्याप्तिका अर्थ भी ध्यानमें लेने योग्य है। जैसे हम एक लोहेका गोला उठावें और

आसक्त होकर रुक नहीं जाते हैं और कभी किसीसे द्वेष करके अपना ताप, प्रकाश और आह्लाद देनेसे रुकते नहीं। कर्मयोगीके लिए कोई आदर्श है तो सूर्य और चन्द्रमा हैं। चलते रहो, प्रकाश बरसाते रहो, आनन्द बरसाते रहो, शीतलता बरसाते रहो। ताप और शीतलता, प्रकाश और आनन्द—ये भगवान्की आँखोंसे बरसते हैं। और निरन्तर बरसते रहते हैं। कभी इनकी गति में अवरोध नहीं होता है। यही कर्मयोगीका काम है।

श्रीकृष्णने अपना पहला चेला सूर्य को ही बनाया है। गीतामें है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्। 4.1

यह कर्मयोग पहले मैंने सूर्य को बताया, ऐसा भगवान् कहते हैं। भगवान् का निकटवर्ती शिष्य सूर्य है। कर्मयोगकी शिक्षा उसे दी गयी है। वह तपाता भी है और प्रकाशतापी है। चन्द्रमा और सूर्य भगवान्के नेत्र हैं, जब हम विराट् स्वरूपको देखते हैं। कौन देख रहा है? भगवान् देख रहे हैं। शशिसूर्यनेत्रम्। नेत्र शब्दका अर्थ आँख तो होता ही है। पर संस्कृतमें इसका अर्थ नेता भी होता है। नी प्रापणे धातुसे ष्ट्रन्प्रत्यय होकर नेतृ शब्द बनता है, उसका अर्थ होता है नेता माने संसारमें अपने-अपने कर्ममें संलग्न रहनेके लिए भगवान्के दोनों नेत्र नैताका काम करते हैं। भाई हमारे पीछे-पीछे चलो। जैसे हम काम करते रहते हैं वैसे तुम भी काम करो। 'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्' मनुष्यसे बड़ी संसारमें और कोई वस्तु नहीं है। जितना भी स्वर्गका वैकुठका, अधिदेवका, अधिभूतका निरूपण है—

मत्त्वा कर्माणि सीव्यन्ति इति मनुष्यः। निरुक्त 1.7

मनके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ करके मनुष्य उसमें-से कर्त्तव्यकी शिक्षा ग्रहण करता है। स्वर्गका वर्णन है—अब स्वर्ग है कि नहीं यह तो खास-खास लोग वहाँ जाकर देखते होंगे। लेकिन इतना हमारी समझमें आता है। कि स्वर्ग पानेके लिए जो कर्म करने चाहिए वह हमारे लिए उपादेय है। मनुष्य जीवनमें इन कर्मोंका ही उपयोग है। वे श्रेष्ठ कर्म हम अपने जीवनमें करें। स्वर्ग मिलेगा तब देख लेंगे और नहीं मिलेगा तो कोई पछतावा भी नहीं है। क्योंकि हमने अच्छे काम किये। अच्छे काम हम करते रहें—बादमें स्वर्ग मिलेगा कि नहीं, वह जो उसके अनुभवी हैं उनके ऊपर छोड़ दिया जाय। नरकका भी वर्णन इसलिए है कि जिन कर्मोंसे नरक मिलता है, वे कर्म नहीं करने चाहिए। मनुष्यके जीवनमें उसका उपयोग यही है।

अब जो नरकसे लौटकर आये हैं, उसका स्मरण करेंगे कि नरक कैसा है? और जिनके मनमें वहाँ पहुँचनेकी योजना है—वे उसकी योजना बनाया करें। हमारे जीवनमें इतना ही अभिप्राय है कि स्वर्ग-प्रापक कर्म हम करें और नरक प्रापक कर्म हम न करें। मनुष्यके जीवनमें उसकी यही उपयोगिता है। ये सूर्य और चन्द्रमा भगवान्की आँखें हैं। हर समय खुली रहती हैं और सबको ये देखती रहती हैं। इनकी दृष्टि कभी बन्द नहीं होती। इनकी पलकें नहीं झपकतीं। ये निर्निमेष हैं। मनुष्यकी दृष्टि भी निर्निमेष हमेशा सजग रहनी चाहिए। जिसको ताप देना हो तपा लो। आगपर चढ़ाकर गला लो। उसको पीटनासे पीट लो। आभूषण बनाना हो, बना लो। बेचना हो बेच लो। उसमें ताप भी है, प्रकाश भी है। आह्लाद भी है और प्रकाश भी है। ये ही भगवान्की आँखें हैं, जो हमेशा हमको देखनेको मिलती हैं।

दिशा बोलते हैं—चारों कोनोंको भी लेते हैं। कोई दस दिशा बोल लेते हैं—ऊपर और नीचे। दोनोंको और जोड़ देते हैं। तो दिक् शब्दका अर्थ दिशा होता है। सर्वत्र एक ही परमात्मा भरपूर है।

'दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं, लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्'। आपके इस उग्र रूपको देखकर तीनों लोक व्यथित हो रहे हैं। ऐसा मैं देख रहा हूँ। महात्माजी आप ऐसा रूप क्यों दिखा रहे हैं—जिससे सबको व्यथा पहुँचे। संस्कृतमें आत्मा शब्दका एक अर्थ पेट भी होता है। 'महान् आत्मा उदरं यस्य'-जिसका पेट बड़ा हो उसको महात्मा कहेंगे। देखो यह लक्षण मेरे ऊपर तो पूरी तरह लागू होता है।

जिसका पेट बड़ा हो, जिसके पेटमें बहुत-सी बातें पच जायें, उगलनेकी जरूरत नहीं पड़े कि जो अनुभव हो सो उगलते जाओ। जिसको उगलनेकी जरूरत न पड़े। दुनिया भरकी जानी हुई बातें जिसके पेटमें पच जायँ—ओहो! आप ऐसे महात्मा सारी दुनियाको पेटमें लिये बैठे हैं—बाबा! आपसे बड़ा और कोई नहीं होगा। आपके इस बड़प्पनको देखकर दुनिया काँप रही है।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताःप्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥ 11.21

दो तरहका पाठ मिलता है। एक 'त्वां' और एक 'त्वा'। आजकल जिन ग्रन्थोंकी टीका-टिप्पणी संस्कृतमें बहुत अधिक मिलती है, उनमें गीता ही प्रधान है। कोई 900 के लगभग गीतापर टीकाएँ लिखी गयी हैं। इस समय जो उपलब्ध है उनकी संख्या 900 के लगभग है और जो नहीं हैं उनकी बात तो छोड़ देते हैं। प्रचुर प्रचारित यह ग्रन्थ है। इसके अर्थको देखने लगते हैं और पाठ-भेदको भी कहीं-कहीं देखते हैं तो आश्चर्य होता है।

अमी हि त्वा सुरसंघा विशन्ति। अमी तु आ असुर संघा विशन्ति=अमी त्वा सुरसंघा विशन्ति; तथैव अमी तु आ आ विशन्ति। आ को यहाँसे उठाकर विशन्तिके पहले जोड़ देंगे। आ-विशन्ति। ये जितने देवता-दानव हैं, ये सब आपमें प्रवेश कर रहें हैं। चाहे कोई देवताका व्यवहार करे चाहे दैत्यका। सब परमात्माके अन्दर ही हैं। देवतासे राग मत करो दैत्यसे द्वेष मत करो। संसारमें देवता और दैत्य भगवान्के शरीरमें दिखायी पड़ते हैं।

एक छोटी-सी कथा आपको सुनाता हूँ। श्री रामानुजाचार्यजी महाराज भगवान्के श्रीविग्रहपर अपना हाथ फिरा रहे थे। भक्त लोग मूर्तिको प्रत्यक्ष भगवान् मानते हैं। असलमें जिनके यहाँ जड़ और चेतन दो तत्त्व हैं, उनके लिए भगवान्की मूर्ति परमात्मा नहीं होती, भगवान् नहीं होती। पर जिनके यहाँ तत्त्व एक ही है उनके लिए मूर्ति भी भगवान् होती है। यह दर्शन है, यह सिद्धान्त है। एक जड़ है, एक चेतन है। दो तत्त्व हैं। तो बोले—मूर्ति तो जड़ है, चेतन भगवान् तो कोई और हैं। लेकिन जिनके लिए चेतन एक ही तत्त्व है उनके लिए मूर्ति भी भगवान्-स्वरूप हैं। और असलमें चेतन अपनी आत्माके सिवाय दूसरा कोई नहीं होता।

जो दृश्य है उसका नाम चेतन नहीं होता। जो द्रष्टा है उसीका नाम चेतन होता है। ज्ञानस्वरूप है वह! यदि चेतनताको हम कही ढूँढ़ेगे—मशीनकी नोकपर, प्रयोगशालामें चेतनताको ढूँढ़ेगे, तो ढूँढ़नेवाला ही वहाँ चेतन होगा। ढूँढ़ा जानेवाला चेतन नहीं होगा। जो लोग द्वैत मानते हैं वे मूर्तिपूजा करना पसन्द नहीं करते। जड़की पूजा हम क्यों करेंगे? लेकिन जो मानते हैं कि चेतन ही चेतन सब कुछ है, आत्मा के सिवाय दूसरी कोई वस्तु ही नहीं, वह तो पेड़-पौधेकी भी पूजा करते हैं। तुलसीकी, पीपलकी, गायकी, ब्राह्मणकी, स्त्रीकी, पुरुषकी— सबकी पूजा करते हैं। तंत्रोंमें तो एक वर्षकी कन्यासे लेकरके 19 वर्षतकको कन्याकी पूजा की अलग-अलग विधि है। ये सब साक्षात् जगज्जनी जगदम्बा हैं—इनके पेटमें सम्पूर्ण विश्वसृष्टि भरपूर बैठी हुई है।

अब कथाको सुनें। श्रीरामानुजाचार्यजी भगवान्की मूर्तिपर हाथ फिरा रहे हैं और अपने मनमें बोल रहे हैं—गुनगुनाते जा रहे हैं कि 'आपके चरणारविन्दसे अमृतकी एक धारा झरझर बह रही है। और जिसने अपना मन इसमें लगा दिया उसको तो दूसरी किसी वस्तुकी इच्छा नहीं होती। जब भौंरेके सामने झर-झर मकरन्द झरता हुआ अरविन्द कमल है तब वह सूखी घासकी ओर क्यों देखने जायगा?' आँखोंसे प्रेमके आँसू गिर रहे हैं और वे भगवान्के शरीरपर हाथ फिरा रहे हैं। सो उन्हें लगा कि भगवान्की पीठपर कोई घाव है। व्याकुल हो गये कि भगवान्की पीठपर यह घाव कहाँसे आया? इतने व्याकुल हुए कि भगवान्की मूर्ति बोल पड़ी। बोले—'रामानुज रोते क्यों हो? ये तो तुमने वाक्‌बाण मारे हैं—दूसरोंका खण्डन करनेके लिए जो वचनके बाण मारे हैं वे ही हमारी पीठमें लगे हैं और उसीका घाव है। एक तो भगवान्के पीठमें घाव और दूसरे उसके निमित्त स्वयं रामानुजाचार्य। प्रभु बोले कि खण्डनके जितने बाण हैं वे सब मुझे ही लगे हैं। श्रीरामानुजाचार्यने कहा—यह क्या बात है महाराज! हमने तो अधर्मका खण्डन किया। हमने तो जो श्रुति-विरुद्ध था उसका खण्डन किया। वे बोले—सब मेरा ही स्वरूप है, जो कुछ विरुद्ध है, जो कुछ अनुरुद्ध है, जो कुछ सिद्ध है, जो कुछ साध्य है, सब मेरा ही स्वरूप है।

अब तो रामानुजाचार्यकी आँखोंसे आंसू गिरने लगे। मुझसे बड़ा अपराध हुआ महाराज। तो भगवान्ने कहा देखो, अबसे खण्डन-मण्डन छोड़ दो। और मेरा भजन करो, सर्वरूपमें मेरा दर्शन करके अपने जीवनको जीवनमुक्तिके विलक्षण सुखसे, हमारी कृपा और भक्तिके विलक्षण सुखसे जीवन भर दो। यह खण्डन-मण्डन करनेमें क्या मजा है?

क्या संघर्ष ही जीवन है? शान्ति जीवन नहीं है? क्या श्रम ही जीवन है? विश्राम जीवन नहीं है? क्या अशान्ति ही जीवन है? अशान्ति किसलिए? शान्तिकी प्राप्तिके लिए और शान्ति कभी मिले ही नहीं। हमेशा अशान्ति अशान्तिमें ही जीवन व्यतीत हो 'अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति।' सब-के-सब दैत्य आपमें प्रवेश कर रहे हैं। सब-के-सब देवता आपमें ही प्रवेश कर रहे हैं। और 'अमी तु आ विशन्ति' सम्पूर्ण रूपसे आपमें ही प्रवेश कर रहे हैं—केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति। कुछ लोग ऐसे हैं कि हाय हाय! प्रवेश कर जायेंगे तो हम कहाँ रहेंगे? अपने अस्तित्वका लोप होनेके कारण डर जाते हैं और हाथ जोड़-जोड़कर भगवान्की अनुकूल भावनासे प्रार्थना करते हैं—हे प्रभो, हमारी रक्षा करो। हमारी रक्षा करो।

जो भगवान्के अनुकूल हैं, पहले उनका दर्शन करते हैं। भगवान्के जो भक्त हैं—वे हाथ जोड़कर भगवान्की स्तुति कर रहे हैं। 'प्राञ्जलयः' का अर्थ हाथ बन्द करना नहीं होता है—खुले हाथसे महाराज आपके प्रसादके हम अभिलाषी हैं। और डरते-डरते हाथ जोड़कर भगवान्के सामने गुनगुना रहे हैं। अनुकूल हैं।

स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः।
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥ 11.21

ये सब अनुकूल हैं। महर्षि, बड़े-बड़े सिद्ध, बड़े-बड़े ज्ञानवान् महर्षि होते हैं। महान् ऋषि महर्षि। ये बड़े भारी महान् ऋषि हैं। जो छोटे दर्जेमें है वह महान् नहीं होता। एक जिलेका नेता महान् नहीं होता, एक प्रान्तका नेता महान् नहीं होता। एक राष्ट्रका नेता भी महान् नहीं होता। महान् वह होता है जो सम्पूर्ण विश्व-सम्पूर्ण मानवताको अपनी दृष्टिमें रखे वह, जिससे सबको सुख मिले। जो सबका सुख चाहता है। जो हिन्दुस्तानका सुख चाहता है पाकिस्तानका नहीं और जो पाकिस्तानका सुख चाहता है—हिन्दुस्तानका नहीं, वह तो टुकड़ा नेता है। जो मुसलमानको दुःखी करना चाहता है हिन्दूको सुखी और हिन्दूको दुःखी करना चाहता है मुसलमानको सुखी, वह बड़ा नेता नहीं है। महान् ज्ञान उसका है, जिसके ज्ञानमें पापी और पुण्यात्मा दोनों होते हैं। पापियोंकी उन्नति भी—उनकी पवित्रता भी जिसके ध्यानमें रहती है, वह महापुरुष होता है। वह श्रीकृष्ण 'अपि चेत् सुदुराचारो भजते माभनन्यभाक्'। (1.30) दुराचारका भी कल्याण करनेके लिए श्रीकृष्ण तैयार हैं।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥ 4.36

जो सबका कल्याण चाहता है, वह महात्मा होता है। वह ऋषि होता है।

वेदमन्त्रोंके जो द्रष्टा हैं उनको ऋषि कहते हैं। 'ऋषयो मन्त्र-द्रष्टारः'। ये जो वेदके मन्त्र हैं किसी जातिके लिए नहीं है। इनमें साम्प्रदायिकता नहीं है। इनमें राष्ट्रीयता नहीं है। सम्पूर्ण विश्व मानवसे लेकर कीट-पतंगपर्यन्त सबके कल्याणके मन्त्र आते हैं। आप सुनेंगे—मण्डूक भी मन्त्रके ऋषि हैं। मण्डूक-सूक्त है वेदोंमें। माण्डूक्य उपनिषद् है। तितिरि है—तैत्तिरीय उपनिषद् है। कितना ज्ञान है तीतरमें और कितना ज्ञान है मण्डूकमें, कितना ज्ञान है श्वेताश्वतरमें। स्त्रियाँ जो हैं वे मन्त्र-दर्शन करनेवाली हैं। वहाँ स्त्री-पुरुषका भेद नहीं। स्त्री-पुरुषका भेद लिंग-भेद है। और मनुष्य और पशुका जाति-भेद है और जो ईसाई, मुसलमान, हिन्दूका भेद है यह आचार्यमूलक सम्प्रदाय-भेद है। नदीके घेरेमें, समुद्रके घेरेमें होनेसे कोई वस्तु भिन्न हो जाती हो सो बात नहीं है। पूर्णताकी दृष्टि ही महर्षिकी दृष्टि है। जो महर्षि हैं, सिद्ध हैं, वे सब-के-सब पुष्कल—'पुष्टा कलाः येषु ते'—जिसमें परिपुष्ट कला है, माने सकलके रूपमें परमेश्वरकी वे आराधना करते हैं—ये सब परमेश्वरका स्वरूप है।

'स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।' एक स्तोत्र शब्द है और एक स्तुति है। स्तुति शब्द भाव-प्रधान होता है और स्तोत्र शब्द वर्णप्रधान होता है। 'स्तुत्यते अनेन इति स्तोत्रम्; स्तवनं स्तुतिः।' जब हम अपने भावसे

भगवान्की स्तुति करते हैं तो उसका नाम स्तुति हो जाता है। और जब हम दूसरेके लिए हुए स्तोत्रका पाठ करते हैं तब उसका नाम स्तोत्र होता है। उसमें अपना भाव मिलाना पड़ता है। जिसने जिस भावसे स्तुति की है, उस भावके साथ हम एक हो जाते हैं कि नहीं? यदि एक हो जायेंगे तो वह स्तोत्र हमारा हो जायेगा और नहीं तो वह स्तोत्र उसका रहेगा और हम अलग हो जायेंगे। धीरे-धीरे अभ्यास करते-करते हो भी जाता है। हम अपनी भावमय स्तुतिसे भगवान्की स्तुति करते हैं।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥ 11.22

मैं ही क्या, सब देख रहे हैं, आपको। रुद्र, आदित्य, वसु साध्य ये देवताओंके गण भी आपको देख रहे हैं। रुद्रगण ग्यारह होते हैं, आदित्यगण बारह होते हैं। वसुगण आठ होते हैं। इस प्रकार विश्वदेवा, साध्यगण, अश्विनीकुमार दो होते हैं। मरुद्गण उनचास होते हैं। और पितरोंके भी अनेक गण होते हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि संसारमें जितने प्राणी हैं, गन्धर्व, यक्ष. असुर, सिद्ध ये संघ-के-संघ आश्चर्यचकित होकर तुम्हींको निहार रहे हैं। कोई भी तुम्हारा पार नहीं पाता। 'आश्चर्यवद् पश्यति कश्चिदेनम्; श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चिद्' (2.29)। देखकर, सुनकर भी तुम्हारे पूर्ण रूपको नहीं जान पाते हैं। तुम्हारे अधूरे रूपको देखकर आश्चर्यचकित हो रहे हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥ 11.23

महाराज, आपका यह महान् रूप है। महान्में महत्त्व तो भरा हुआ है। यह ही पूजनीय है, आदरणीय है। इसमें तो कोई शंका नहीं। 'मह्यते इति महत्'—पूज्य है आपका रूप—चाहे किसी भी रूपमें वह प्रकट हो। 'मौतका रूप धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे नाथ! भक्त लोग कहते हैं कि मैं तुम्हें मृत्युका रूप धारण किये हुए देखकर भी डरूँगा नहीं। एक भक्तके सामने बड़ा भारी काला नाग आया—ओहो प्यारे! मैं तुमसे बहुत दिनोंसे अलग था। आज तुम साँप बनकर मुझे अपने पास बुलानेको आये हो? आँखोंसे झर-झर आँसू गिरने लगा। यह है भावकी प्रधानता। कुत्ता रोटी लेकर भागने लगा। नामदेवजी दौड़े। थोड़ा घी ले ले भाई! चुपड़ लेने दे। ऐसे ही क्यों रोटी लेकर जा रहा है? गधा प्यासा मर रहा था, गंगोत्तरीका जल रामेश्वर ले जा रहे थे—देखा, गधा प्यासा है। बोले—ओ हो! ये हमारे भगवान् हैं—प्यासे भगवान् और वह काँवरमें लाया हुआ जल नामदेवने गर्दभ भगवान्को पिला दिया। यशोदा मैया तो कभी-कभी कृष्णको भी गधा कह देती थीं।

कथा है कि किसी समय—एकदम खूब कीचड़में लथपथ हो रहे थे कृष्ण। यशोदा मैयाको आया गुस्सा। बोलीं—ओ कन्हैया! मालूम पड़ता है तू पूर्व जन्ममें सूअर था। तभी तो मिट्टीमें लोटता है। सो महाराज कृष्णको मुसकान आगयी! अरे, मैयाने तो हमारे पूर्व जन्मको पहचान लिया। देखो ये हैं हमारे भगवान् जो केवल ब्राह्मणोंके रूपमें नहीं आते, मछलीके रूपमें आते हैं—बंगालमें तो लोग आत्मसात् कर लेते हैं। सूअरके रूपमें आते हैं—सिंहके रूपमें आते हैं। पक्षीके रूपमें आते हैं। घोड़ेके रूपमें आते हैं। स्त्रीके रूपमें आते हैं।

पुरुषके रूपमें आते हैं। यह जो हमारा सर्वरूप है भगवान्का, असलमें यही महत्, यही महनीय, यही पूजनीय रूप है भगवान्का। हमारे पूज्योंने भी इसकी पूजा की है। इसलिए पूज्य-पूजनीय ये हमारे भगवान्के रूप हैं। उनको पहचानने भरकी आवश्यकता है। आपका यह स्वरूप महान् रूप—जिसमें बहुत-से मुख—हमलोग जितने मुख देखते हैं—या अनुभव करते हैं—मुख तो चींटीके भी होता है—कीड़ेके भी होता है, वे सब भगवान्के ही मुख हैं। इसीसे चींटीको भी थोड़ा आटा दे देते हैं। कबूतरको भी चना देते हैं। उनके मुखसे भी भगवान् ही खाते हैं। 'बहुवक्त्रनेत्रम्'--सब आँखोंसे भगवान् ही देख रहे हैं।

एक महात्माके पास कोई सज्जन आये—बोले। महाराज, आप हमको अपना चेला बनालें। महात्माजीने उनको कोई जादूकी चिड़िया दी, बोले इसे ले जाओ और कोई ऐसी जगह मारकर आओ जहाँ कोई देखता न तो। चेला गया। कहीं आड़ देखा कि कोई देख नहीं रहा है और उसका गला ऐंठ दिया और आया। महाराज, ऐसी जगह मारा जहाँ किसीने नहीं देखा। फिर एक दूसरे चेलेको दिया। वह घूमकर आया बहुत देरतक और बोला महाराज ऐसी कोई जगह नहीं मिली, जहाँ कोई न देखता हो। शान्तिपर्वमें कहा गया है—'तस्मात् पश्यन्ति पादपाः।' (184.13) पेड़ भी देखते हैं। कीड़े-मकोड़े भी देखते हैं। सूर्य-चन्द्रमा भी देखते हैं। दिशाएँ देखतीं हैं। और देखनेवालेकी आँख तो देखती थी और भगवान् तो देख ही रहे थे। ऐसी कौन-सी जगह है जहाँ भगवान्की दृष्टि न हो और भगवान् न देख रहे हों। लोग कहते हैं ऐसे एकान्तमें अपराध करके आये हैं महाराज, कि सुराग नहीं लगेगा। सुराग नहीं, अरे! वह बात तो तुम्हारे वहाँसे लौटनेके पहले ही दुनिया भरमें फैल गयी। देखनेवाले बहुत हैं। बहुवक्त्रनेत्रम् भगवान्के अनेक मुख हैं और अनेक नेत्र हैं। महाबाहो बहुबाहूरुपादम्। उनके बाहू, उरु बहुत सारे हैं। बहुतसे उदर हैं और बड़ी कराल उनकी दाढ़ हैं। इनको देखकर सारी दुनिया प्रव्यथित हो रही है और मैं भी प्रव्यथित हो रहा हूँ।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं-
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥ 11.24

हे विष्णो—विष्णु शब्द ऋग्वेदमें बीसों बार आता है, दो तो विष्णुसूक्त हैं। एक ही ऋग्वेदमें, एक ही शाखामें दो विष्णुसूक्त हैं। विष्णु शब्दका अर्थ संस्कृतमें होता है—वेवेष्टि जैसे हम पोथीको वेष्टनमें लपेट देते हैं। ऐसे जो सम्पूर्ण विश्वको अपने अन्दर लपेटकर बैठा है, उसको विष्णु कहते हैं। यह जो सम्पूर्ण विश्व है, यह विष्णुसे घिरा हुआ है। प्रत्येक भी घिरा हुआ है और सम्पूर्ण भी घिरा हुआ है। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसमें विष्णु भरपूर नहीं। इसीसे आप कभी विष्णु-सहस्रनामका पाठ करते हो तो देखेंगे भगवान्का पहला नाम है विश्व और दूसरा नाम है विष्णु। 'विश्वं विष्णुर्वषट्कारः'। आप भगवान्को कहाँ ढूँढते हैं? 'हमको क्या तूं ढूँढे बन्दे हम तो तेरे पासमें।' भगवान्को कहाँ ढूँढते हैं? गौरसे देखते नहीं है। यदि हम गौरसे देखें तो सांप नहीं दिखेगा, रस्सी दिखेगी। यदि हम गौरसे देखें तो यह सम्पूर्ण दुनिया परमात्माके रूपमें दिखेगी।

'नभ:स्पृशं दीप्तमनेकवर्णम्'। आकाशस्पर्शी है। सब जगहसे आकाशका स्पर्श कर रहा है। आकाश अवकाशात्मक है तो उसका स्पर्श करनेवाला तो अनन्त ही होगा। जो आकाशसे बड़ा होगा, वह सर्वतोमुख आकाशको स्पर्श करेगा। वह प्रदीप्त हो रहा है। चारों ओर उसके चमक है। यह जो स्त्रीमें, पुरुषमें, बालकमें, बालिकामें चमक है वह परमात्माकी है। 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी' (श्वेताश्व० उप०4.3)। वही स्त्री है। वही पुरुष है। वही कुमार है। 'त्वं जातो भवसि विश्वतोमुख:' (वहीं)। सम्पूर्ण रूपमें वही परमात्मा है। उसके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। अच्छा भाई! कुमार है, कुमारी है, स्त्री है, पुरुष है। ये बुड्ढे लोग कौन हैं? बोले 'जीर्णो दण्डेनवञ्चसि'। बुड्ढे बाबा बन करके लठिया टेकते हुए तुम्हीं चलते हो और लोगोंको धोखा देते हो कि तुमको पहचान न सके। ऐसा कुछ है ही नहीं जो परमात्माका स्वरूप न हो।

'नभ: स्पृशम्' उसीकी चमक है, हमारी आँखमें चमक है, हमारे मनमें चमक है, हमारे चाममें चमक है, हमारी इन्द्रियोंमें चमक है। यह किसकी चमक है? सब लाल-काले पीले-हरे पत्ते चमक रहे हैं। इसीकी चमक सबमें भरी हुई है। 'दीप्तम्' अनेक वर्ण अनेक उसके रंग है। 'व्यात्ताननम्' उसका मुँह फैला हुआ है। सबको निगलनेके लिए तैयार है। 'दीप्त-विशालनेत्रम्'। बड़े-बड़े उसके नेत्र हैं। देखकर तुमको हमारी अन्तरात्मा हमारा मन प्रव्यथित हो रहा है। न तो हमारे मनमें धैर्य है, न शान्ति है—देखो हम और भी तो देख रहे हैं न!

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास॥
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥
11.25-27

ये सब, वह काल कराल दाढ़े—तुम्हारा मुँह बड़ा कराल लगता है। क्योंकि बड़ी-बड़ी दाढ़ें दिख रही है और ऐसा लगता है कि प्रलयाग्नि कालानल प्रकट हो गया है। ऐसा तुम्हारा मुख है। हमको तो पूर्व-पश्चिममें-उत्तर-दक्षिणका पता ही नहीं चलता है। और शान्ति, मनमें नहीं है। हे देवेश, हे जगन्निवास, मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाओ। और मैं क्या आश्चर्य देख रहा हूँ। जिन्होंने दुनिया बड़े जोरसे पकड़ रखी है हिलानेपर भी नहीं छोड़ते है उनका नाम है धृतराष्ट्र और उनके पुत्र कौन हैं। दुर्योधनादि। माने जो बुरे-बुरे काम करके संसारकी सम्पत्ति इकट्ठी करते हैं। योधन माने अपनी जीवन-संग्राममें जो ईमानदारीके साथ युद्ध नहीं करते हैं, दुष्टतासे युद्ध करते हैं, छल-कपटसे युद्ध करते हैं, उनका नाम हो गया दुर्योधन।

यह जो दुनियाको पकड़ने वाले धृतराष्ट्र हैं 'धृतं राष्ट्रं येन'—जो दुनियाको बड़े जोरसे पकड़कर बैठा

हुआ है। उसके जो बेटे हैं वे क्या करते हैं? इस समय उनकी क्या स्थिति है? तब वे सब राजाओंके साथ; अरे औरोंकी तो बात क्या, ये भीष्म देवता, ये द्रोणाचार्य, ये कर्ण और केवल दुर्योधनकी सेनाके ही नहीं—हमारी सेनामें भी जो बड़े-बड़े योद्धा हैं वे भी! ये कहाँ भागे जा रहे हैं—'वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति'। विश्व रूपका दर्शन और बहुतोंको हुआ परन्तु यह रूप जिसमें भीष्म द्रोण, कर्ण, दुर्योधन और पाण्डवी, कौरवी सेना सब-की-सब नष्ट हो रही हो—ऐसा किसीको नहीं दिखाया। 'वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति'। जल्दी-जल्दी करके ये तुम्हारे मुखमें प्रवेश कर रहे हैं।

भगवान्के मुख कैसे हैं? 'दंष्ट्राकराल'—बड़े भयावह। अर्जुनने देखा कि भगवान्के दाँतोंके बीचमें जो छेद हैं, उनमें कई लगे हुए हैं और उनका सिर चूर-चूर हो रहा है। यह सारी सृष्टि तुम्हारी ओर वैसे ही बहकर जा रही है जैसे नदी।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीराविशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥ 11.28

अर्थात् जैसे नदीके बहुत सारे वेग, बहुत-सा ज्वार बहुत-सी तरंगे बड़ी-बड़ी लहरें—समुद्रकी ओर दौड़ करके जाती हैं वैसे ही यह नरलोक, वीर—सब-के-सब तुम्हारे जलते हुए आगके समान मुखमें प्रवेश कर रहे हैं। जैसे कोई कीड़ा-मकोड़ा, जैसे शलभ-पतिंगा अपने नाशके लिए आगमें जाकर कूदें, ऐसे ये कूद रहे हैं। अर्जुनने बहुत बढ़िया देखा। यदि यह न देखता तो उसके मनमें युद्धके लिए जितना उत्साह जगना चाहिए शायद उतना नहीं जगता।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 5

(23-11-82)

अम्ब त्वां अनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।

अर्जुन श्रीकृष्णके विश्वरूपका दर्शन कर रहे हैं। विश्वरूपका दर्शन कराया अर्थात् सृष्टि, स्थिति, प्रलय सबको एक साथ भगवान्ने दिखाया। इससे कोई भी ऐसी बात नहीं रह जाती जो भगवान्के स्वरूपके बाहर हो। शरीरको ऊपरसे देखते हैं तो चाम बहुत सुन्दर चिकना-चिकना दिखायी पड़ता है पर यह समग्र रूपका दर्शन नहीं है। इसके भीतर शिराएँ हैं, वायु भी चलती है, खून भी चलता है, माँस भी है, चरबी भी है। कोई-कोई देखनेमें बहुत बढ़िया भी लगते हैं। इसमें कोटि-कोटि कीटाणु हैं। कोई रोगके हैं, कोई आरोग्यके हैं। कोई सद्भावका स्थान है—जैसे सिरका अगला भाग, कोई दुर्भावका स्थान है जैसे सिरका पिछला भाग। कोई भूरे रङ्गका है, कोई सफेद रङ्गका है। हम अपने पूरे शरीरको ही ठीक-ठीक नहीं देख पाते हैं। यह तो विश्वरूपका मॉडेल ही है।

यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।

जैसा इस शरीरमें है वैसा ही समूचे ब्रह्माण्डमें है। एक दिन हमारे रक्तकी जाँच हुई। हमारे डॉक्टर मित्रने हमको दिखाया कि उस दिन रक्तमें सफेद कीटाणु बढ़ गये थे। फिर औषधि देनेके बाद जब जाँच हुई तब दिखाया श्वेत कीटाणु कम हो गये और लाल कीटाणु बढ़ गये। उसी शरीरमें मल भी होता है। मूत्र भी होता है। बहुत-से कीड़े मरते होते हैं, बहुत पैदा होते हैं। यदि हम इस नमूनेको ठीक-ठीक जाँच करके देख लें तो यह जो विश्वकी सृष्टि है, स्थिति है, संहार है इसका रहस्य हृदयंगम हो जाता है।

लेकिन मूल बात तो यह है कि मनुष्यको अपनी ओर देखनेकी फुरसत, अवकाश ही नहीं है। यह हीरा, मोती देखता है, सोना, चाँदी देखता है, कल-कारखाना देखता है। खाना-पीना देखता है, पड़ोसीको देखता है पर जो सबको देखनेवाला है, उसको नहीं देखता। यदि इस शरीरको देखे तो विराट्का ज्ञान होगा और यदि स्वप्न सहित अपने अन्तःशरीर, सूक्ष्म शरीरको देखे तो हिरण्यगर्भ-पर्यन्त सूक्ष्म समष्टिका बोध हो जायेगा। और यदि कारण शरीरको देखे तो प्राज्ञ अर्थात् ईश्वर-पर्यन्त सृष्टिका बोध हो जायेगा। और यदि अपनी शुद्ध आत्माको देखें तो ब्रह्मत्वका बोध हो जायगा। पर यह मनुष्य इतना व्यस्त है—जैसे यह अपने लिए हो ही नहीं। स्त्रीके लिए है, पुत्रके लिए है, परिवारके लिए है, शत्रुके लिए हैं, मित्रके लिए है—अरे बाबा—सबके लिए तुम हो तो अपने लिए भी तो हो न? अपनेको खोकर तो सबके लिए नहीं हो! विश्वरूपका रहस्य यही है कि जो कुछ हुआ, हो रहा है, होगा सब भगवान्के शरीरमें है। उसमें अच्छा करके ललचनेकी जरूरत नहीं है और बुरा कहकर घृणा करनेकी आवश्यकता नहीं है।

आपने कभी ध्यान दिया होगा कि आपके शरीरमें पाँवके नाखूनसे लेकर और सिरके बाल तक जो कुछ बाहर निकलता है वह सब गन्दा होता है। कोई चीज ऐसी बताओ—बाल निकलें तो गन्दे—लगे हैं—जब

काट लोगे तो क्या हो जायगा? नाखून हैं, कानमें खोंट है, आँखमें कीचड़ है, नाकमें बलगम है। मुँहमें थूँक है। खून है, हड्डी है—गन्दगीका पिटारा कौन है? जहाँ शरीरका सम्बन्ध नहीं होगा वहाँ गन्दगी होगी ही नहीं। अपवित्रता होती वहाँ है जहाँ किसी प्राणीके शरीरसे निकली हुई वस्तुका सम्बन्ध होता है। चाहे पशुका हो, चाहे पक्षीका हो, पर हम 'मैं मैं' करके छाती तानकर चलते हैं। ऐसा मालूम होता है, जैसे परमेश्वरको मात देनेके लिए चल रहे हैं। इस शरीरपर इतनी शान तो जरा विश्वरूपको देखो तो मालूम पड़ेगा कि अपना मन जो है उसे उद्विग्न, व्यग्र करनेका कोई काम नहीं है। सहज भावसे चलना होगा।

सबसे भयंकर हमको इस दुनियामें मृत्यु दीखती है। महात्मा लोग मृत्युको मधुर बना लेते हैं। जब हम मृत्युको अभीष्ट बना लेते हैं, उस समय अभीष्ट हो जाता है। बुद्धिपूर्वक सोच विचारकर—जैसे विनोबाजीने अपने शरीरका त्याग किया—मृत्यु अभीष्ट हो गयी। जैसे पहले तीन दिन उपवास करते हैं, सात दिन करते हैं, ग्यारह दिन करते हैं, मासव्यापी चान्द्रायण करते हैं। फिर पुण्यद क्षेत्रमें गंगा-यमुनाके तटपर अपने शरीरका परित्याग करते हैं। या योगमें स्थित होकर करते हैं—वहाँ मृत्यु भी मधुर हो जाती है। आप सोते हैं तब भी सब छूटता है और मरते हैं तब भी सब छूटता है। पर सोते समय आशा रहती है—कल जगेंगे तो यह दुनिया मिलेगी और मरते समय अपनी बनायी हुई दुनिया छूटनेके डरसे हम थरथर कांपने लगते हैं। अवस्थामें कोई भेद नहीं है। विस्मृति तो दोनोंमें ही होती है।
अर्जुनको मृत्युका भी दर्शन हो रहा है।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गाः विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥ (11.29)

अर्जुनने कहा—जैसे जलता हुआ दीपक हो और बहुत प्यार करके पतंगा उसपर टूटता है कि हमारा बहुत प्रिय है। मोहित हो जाता है, ऐसी मान्यता है। अब वह क्या सोचकर गिरता है यह तो उसने किसीको बताया नहीं। सम्भावना ही तो है न! अब वह उसको बुझानेके लिए दौड़ता है या स्वयं मरनेके लिए दौड़ता है—पर पतंग जलते हुए दीपकपर, जलती हुई आगपर जाकर गिर पड़ता है। किसलिए गिरता है। अपने नाशका हेतु स्वयं बनता है।

वैसे एक बात आपके ध्यानमें ला दें। संस्कृत भाषामें किसी वस्तुकी नवीन उत्पत्ति नहीं मानी जाती है। उत्पत्ति शब्दका अर्थ है कि जो चीज नीचे दबी थी वह उत् माने ऊपर पत्ति माने पत्तन—जो छिपी हुई चीज थी वह जाहिर हो गयी। इसका नाम उत्पत्ति होता है यानी प्रादुर्भाव है—जो चीज छिपी ती, उसका प्रकट होना इसका नाम जन्म है। और नाश शब्दका अर्थ अत्यन्त अभाव नहीं होता। भाषामें ये शब्द जान-बूझकर रखे हुए—'नश अदर्शने' जो चीज अबतक दीख रही थी वह अब नहीं दीख रही है। न दीखनेका ही नाम नाश हो गया—और दीखने लगनेका नाम हो गया उत्पत्ति। दुनियाको भूल जानेका नाम मृत्यु है और शरीरको मैं माननेका नाम जन्म हुआ।

उत्पत्ति और विनाशका जैसा अर्थ साधारण लोगोंमें समझा जाता है वह तो संस्कृत भाषामें है ही नहीं।

संस्कृत भाषाका अर्थ भी यह नहीं है कि कोई नया शब्द किसीने गढ़ दिया। उसका भी अर्थ है—पहलेसे जो धातु है, जो प्रत्यय है उसका संस्कार करके शब्दको निकाल लिया—भू धातु है चाहे भव कहो चाहे भव्य कहो—चाहे भविष्यमाण कहो चाहे बोभूयमान कहो—अनेक प्रक्रियाएँ हैं उसकी। भवन कहो भवानि कहो। धातु पहलेसे रहती है, प्रत्यय माने अपने मनकी वृत्ति जोड़-जोड़ करके हम एक वस्तुमें-से जैसे शब्द निकालते हैं। एक पत्थर है, उसमें-से लोढ़ा भी निकाल सकते हैं, ऊखल भी निकाल सकते हैं और राम-कृष्णकी मूर्ति भी निकाल सकते हैं और शालग्रामकी शिला भी निकाल सकते हैं।

पत्थर तो धातुके रूपमें और जो हमने उसमें अपनी मानसिक कल्पनासे रूप निकाले उनका नाम हुआ प्रत्यय। संस्कृत माने यही होता है कि भलीभाँति हम उसको संस्कार दें। एक हीरा निकला। उसमें-से मिट्टीको धो दिया, दोषापनयन कर दिया। जहाँ कहीं कमी थी उसको पूरा कर दिया। जो बेडौलपना था उसको दूर कर दिया। जो छेद नहीं था उसमें छेद कर दिया।

दोषापनयन, गुणाधान और हीनांगपूर्ति हीरेके ये तीन संस्कार कर दिये गये—वह कामका हो गया। इसी तरह शब्द तो पहलेसे हैं परन्तु वे मिट्टीमें दबे हुए हैं—बेडौलको सुडौल बना देते हैं, मिट्टी धो देते हैं। कोई भी नया शब्द नहीं निकलता है। यह जन्म और मृत्युका दुनियामें कोई अर्थ नहीं है। यह केवल अपने सुखके लिए जन्मको हम अच्छा मानते हैं और कभी-कभी ऐसा समय आता है, जब जन्मको बुरा माना जाता है। मृत्युको हम लोग सामान्यरूपसे बुरा मानते हैं। पर कोई-कोई समय आता है जब मृत्युको अच्छा माना जाता है।

इस सृष्टिका यही क्रम है। यह सब-की-सब सेना जो इकट्ठी हुई है कौरवी और पाण्डवी—ये जैसे पतिंगे आगमें गिरते हैं ऐसे अपने अदर्शनके लिए, विनाशके लिए भगवान्‌के मुखमें 'अभिविज्वलन्ति वक्त्राणि'—यह क्रियापद नहीं है यह 'शत्रन्त' है। वक्त्राणिका विशेषण है। उसमें प्रवेश कर रहे हैं। और वह भी 'समृद्धवेगा:'—बड़े बेगसे, जोरसे कहाँ जा रहे हैं? मालूम तो नहीं पड़ता है। घड़ीमें एक-एक सेकेण्ड सुई चलती है—एक-एक-एक मिनट चलती है। घण्टे चलती है। घण्टे-घण्टे चलती है। चौबीस घण्टे पूरे करती है। यह घड़ी चल-चलकर हमको भी साथ चला रही है। घड़ी जितनी चलती है, कम-से-कम उतने वेगसे तो हम चलते ही हैं—और कहाँ जा रहे हैं? बस उसकी याद मत करो, नहीं तो डर जाओगे। घड़ी कहाँ जा रही है? घड़ीकी एक डिजाइन बनी—यह शरीरका आकार हुआ और वह कितने चक्कर लगानेकी उसमें योग्यता है यह साँस लेनेके लिए धौंकनी कितनी चलेगी? वह हुआ। और किस-किसकी घड़ी है?

यह देखा इसकी कितनी आयु है और कितनी गरमी-सरदीमें वह काम करेगी। ज्यादा सरदीमें जानेपर ठप्प हो जायगी। ज्यादा गरमीमें जानेपर जल जायगी। यह आपकी घड़ी जैसी होती है, आपके शरीरकी धड़कन जो है—यह चलती रहती है। और पेटमें ही चलनी शुरू होती है। मृत्युपर्यन्त चलती है। यह घड़ीकी सूई है, कितने चक्कर लगायेगी। यह पक्का है। इसकी डिजाइन क्या है? शकल-सूरत क्या है? यह भी पक्का है। और कितनी गरमी-सरदी सहेगी? कितना सुख-दुःख सहेगी—यह गरमी-सरदीकी तरह है। कितने चक्कर

लगायेगी यह उमरकी तरह है और कैसी शकल-सूरत है, यह जैसी आप मशीन बनाते हैं बिलकुल वैसे ही है। यह अपने ढङ्गसे घड़ी चल रही है। जब चक्कर लगानेकी शक्ति पूरी हो जायेगी, क्षीण हो जायेगी, समाप्त हो जायेगी।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः। 11.30

आपके मुखसे ज्वाला निकल रही है और यह सारा जो दृश्यभाव प्रपञ्च है—लेलिह्यसे—तुम उसको चाट रहे हो—जैसे हम लोग चाटते हैं ऐसे—'लेलिह्यसे'। लिह् आस्वादने—धातु है संस्कृतमें। कुछ मुँहमें आये हैं—कुछ नहीं आये हैं। अच्छा ठीक है नहीं आये हैं—उनके लिए अर्जुन आलङ्कारिक रूपमें बोल रहा है कि जैसे सामने कोई बहुत बढ़िया चीज खानेकी रखी हो और आदमी अपनी जीभसे मुँहके दोनों कोनोंको चाटे। इस प्रकार भगवान्‌का यह विश्वरूप है—यह चटनी बना डालनेके लिए भगवान्‌की जीभ लपलपा रही है। 'लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात्'। सबको ग्रस्त कर लेनेके लिए जीभ लपलपा रही है। आगकी लपटें निकल रही हैं—'वदनैर्ज्वलद्भिः तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं। भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो'। तुम्हारे पेटसे सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है। और तुम्हारी उग्र किरणें हैं, आभास है, वह सबको तपा रही हैं—पका रही हैं। महाभारतमें यक्षने युधिष्ठिरसे एक प्रश्न किया है। दुनियामें क्या हो रहा है?

भूतानि कालः पचतीति वार्ता। वनपर्व 313.118

यह काल सबको पका रहा है। काल एक दिन सबको खाना चाहता है। जैसे हम लोगोंके घरमें खाना पकता है वैसे सब लोग अभी पकाये जा रहे हैं। बटलोईमें आगये, पतीलीमें चढ़ गये हैं। इस प्रकार भगवान् सबको पका रहे हैं। तुम्हारा नाम तो विष्णु है, विष्णुका काम तो पालन करना है। यह तुम सबको मृत्युकी ओर क्यों ले जा रहे हैं? उनको यह शंका है कि तुम विष्णु हो तो तुमको रक्षा करनी चाहिए, पालन करना चाहिए—यह खा क्यों रहे हो? पका क्यों रहे हो? इसलिए अन्तमें 'विष्णु' सम्बोधन कर दिया। अब बताओ तुम कौन हो? क्या हमारे प्यारे कृष्ण ही हो कि संसारकी रक्षा करनेवाले, पालन करनेवाले विष्णु हो, कि तुम संहार करनेवाले कोई और हो?

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥ 11.31

हे देववर—देवता होते हैं अलग-अलग। जैसे रूपको दिखानेवाला देवता, आँखमें बैठकर रहता है। और स्वादको चखानेवाला देवता जीभमें बैठकर रहता है। ऐसे ही विश्वसृष्टिमें देवता अलग-अलग होते हैं। एक देवताकी पूजा करोगे तो केवल एक काम होगा और सब देवता जिसमें है उस ईश्वरकी पूजा करोगे तो सब काम होंगे। यदि तुम्हें कुछ नहीं चाहिए तो तुम आत्माके रूपमें ईश्वरकी पूजा करो, उससे बढ़िया और तो कुछ है ही नहीं। जब कुछ चाहिए तब अन्यकी पूजा अभीष्ट होती है। आजकल तो ऐसी गड़बड़ होती है—विभाग-विभागके मिनिस्टर होते हैं न! ऐसे देवताओंका विभाग भी अलग-अलग होता है। जल-विभागके देवता वरुण हैं। रूप-विभागके देवता अग्नि हैं। शब्द-विभागके देवता दिक् हैं। कर्मके देवता इन्द्र हैं।

जैसे मिनिस्ट्रीमें विभाग बँटे रहते हैं ऐसे इन देवताओंके विभाग बँटे हुए हैं। आजकलके देवता गड़बड़ बहुत करते हैं। हमारे एक मुम्बईमें भक्त थे। उनको शिक्षा-विभागसे कोई काम लेना था। उसने कहा इतना रुपया हमारे काममें खर्च करना पड़ेगा तो सेठ बोले ले लो। उन्होंने कहा—नहीं, हम नहीं लेंगे। जाकर स्वास्थ्य-विभागवालेको दे दो। जब स्वास्थ्य-विभागवालेका कोई काम होगा तो हमारे विभागमें दिला देंगे। हम तुम्हारा काम करेंगे और अपने विभागमें लेंगे तो पकड़े जायेंगे। तुम दूसरे विभागमें दो। इस तरहसे ये आजकलके देवता करते हैं। यह बात अलग है कि देवता है कि देवताका पार्ट है। पार्ट भी ठीक नहीं होता है। ये देवता लोग तो बहुत छोटे-छोटे हैं और आप परमेश्वर हैं। इतना उग्ररूप धारण करके क्यों आये हैं? हम आपको नमस्कार करते हैं। आप देववर हैं। मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाइये। 'विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यम्'। सृष्टिके आदिमें जो आपका रूप है, उसको देखनेकी मैंने इच्छा प्रकट की थी। देख तो लिया परन्तु मैं जानना चाहता हूँ कि आप कौन हैं? 'आद्यम् आदौ भवम्'।

एक पन्थाई बात आपको इसी श्लोकपर सुनाते हैं। वैष्णवोंका और शैवोंका शास्त्रार्थ है। गीतापर तो बहुत टीकाएँ हैं। अर्जुनने कहा कि आदिरूप दिखाओ और मैं उस रूपको जानना चाहता हूँ। शैव लोग कहते हैं कि श्रीकृष्णका आदि रूप तो शिव है और यह श्रीकृष्ण-रूप तो बादका है। और वैष्णव लोग कहते हैं कि आदिरूप श्रीकृष्ण हैं। अब इस बातको लेकर दोनोंमें बड़ा झगड़ा है। श्रीदीक्षितजीका ग्रन्थ ही है, इसका निर्णय करनेके लिए। पन्थमें जब आग्रह हो जाता है तो ऐसा ही होता है जैसे पार्टीमें हो जाता है—अपनी पार्टीका आदमी दूध धुला होता है और दूसरेकी पार्टीका आदमी बिलकुल गन्दा होता है। ऐसे ही शैव-वैष्णव भी जब आपसमें लड़ाई करते हैं तो शैव वैष्णवोंको दस गाली सुनाते हैं और वैष्णव लोग शैवोंको दस गाली सुनाते हैं। यह शिया-सुन्नीका झगड़ा यह कैथोलिक-प्रोटेस्टण्टका झगड़ा—इस झगड़ेके चक्करमें बिलकुल नहीं पड़ना चाहिए। ईश्वर एक है और वह चेतनरूपसे आपका आत्मा है। उसमें शिव-विष्णुका भेद नहीं है।

'न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्'। हे प्रभो! आप क्या करना चाहते हैं, यह हमको मालूम नहीं पड़ता। आपकी प्रवृत्ति क्या है, यह ज्ञान नहीं होता। इस रूपमें जब आप हैं तो करना क्या चाहते हैं? आप युद्ध चाहते हैं कि शान्ति चाहते हैं कि संघर्ष चाहते हैं? बाबा लड़ना है तो सीधे-सीधे कह दो। लड़ जाओ और मारना है तो सीधे-सीधे कह दो मर जाओ। ये इतना उग्ररूप हमको क्यों दिखा रहे हो? आखिर आप क्या करना चाहते हैं? आगे भगवान्की वाणी है—'श्रीभगवानुवाच' जबतक सामनेवाला आदमी चुप नहीं हो जाय तबतक भगवान् बोलते नहीं हैं। यह शिष्टानुशिष्ट मर्यादा है।

मैंने एक बार देखा जहाँ चाँदीका सट्टा होता है—दस, बीस, पचास आदमी सब एक साथ बोलते थे। एक साथ सबका बोलना यह शिष्ट प्रकृति नहीं है। सभ्यताकी बात नहीं है। जबतक सामनेवाला बोलते-बोलते चुप न हो जाय तबतक सभ्य मनुष्य बोलना पसन्द नहीं करेगा। भगवान्की वाणी कब सुनाई पड़ती है जब जीव चुप हो जाता है। जब जीव शान्त हो जाता है, उसकी वाणी बन्द हो जाती है। उसका मन शान्त हो जाता

है, तब शान्त मनवालेके प्रति, निर्वचनके प्रति, निर्वासनके प्रति, अमनाके प्रति भगवान्की वाणी अभिव्यक्त होती है। वह तो भीतर ही हैं।

भागवतमें तो ऐसा कहा है कि भगवान्की बाँसुरी निरन्तर बजती ही रहती है। पाँच हजार वर्ष पहले नहीं बजी थी। वह अब भी बज रही है। उसके पहले भी बजती थी। आगे भी बजती रहेगी लेकिन हम लोग अपने मनके चक्करमें—अपनी वाणीके चक्करमें इनकी चंचलतामें, वासनामें ऐसे लथपथ रहते हैं कि उस वंशीध्वनिको सुन नहीं पाते हैं। ये भगवान् गा रहे हैं। अनादि कालसे गा रहे हैं। अर्जुन जीव है और भगवान् उस जीवके अन्तर्यामी नारायण हैं। नर है जीव, नारायण हैं भगवान्। नारायण नरको अपना सङ्गीत अनादि कालसे सुना रहे हैं। लोरी दे रहे हैं कि सो जा बेटा, जरा वासना छोड़कर, चञ्चलता छोड़कर सो तो जा—लोरी दे रहे हैं-जैसे अपने बच्चेको लोरी दे रहे हैं। कभी जगाते हैं जा पढ़ आ। भगवान्की बाँसुरी बज रही है। वह कब सुनायी पड़ती है, जब हम शान्त होकर उसको सुनना चाहते हैं। श्रीभगवानुवाच—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥ 11.32

अब देख मैं क्या करना चाहता हूँ। पहले मुझे पहचान। 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः'। भगवान्ने कहा—मैं काल हूँ काल। बड़े भयंकर रूपमें थे न! यह काल भी एक अजब, गजबका तत्त्व है। जैन और वैशेषिक दर्शन और मीमांसक लोग कालको वास्तविक द्रव्य मानते हैं और चार्वाक मनकी कल्पना मानता है। क्यों? यदि हम कहीं संगीत-सभामें बैठ जायँ तो पता ही नहीं चलता कि कितना काल बीत गया। और कहीं मुर्दनीमें, मातमपुर्सीमें बैठ जायँ तो थोड़ा-सा समय भी बहुत बड़ा लगता है। मन लग जाय तो काल कुछ नहीं और मन न लगे तो काल बड़ा भारी लम्बा हो जाता है। ये काल मनकी खुमारी है, ऐसा चार्वाक मानते हैं। विज्ञानमें जो अन्तर पड़ता है, विज्ञानका ही एक रूप है काल—माने बुद्धिसे मालूम पड़ता है। उसका यह अर्थ है।

सांख्य और योग कालको महत्तत्त्वकी एक अवस्था मानते हैं। वेदान्तमें अविद्याकी वृत्ति मानते हैं। और भक्तलोग भगवान्की शक्ति, भगवान्का संकल्प और भगवान्की चेष्टा मानते हैं। काल परमात्माके स्वरूपमें नहीं है। यह जो हमलोग सूर्यकी चालको नापते हैं और बताते हैं—इतना काल बीत गया और इतना काल आनेवाला है। चन्द्रमाकी चालको नापते हैं। पृथिवीकी चालको नापते हैं। नापते हैं दूसरेको और नाम धरते हैं कालका।

कालकी गति औपाधिक मालूम पड़ती है। दूसरेको गिनते हैं और कालको बताते हैं। पृथिवी एक मिनटमें कितना चलती है तो कालकी गति हो गयी। चन्द्रमा एक मिनटमें कितना चलता है—कालकी गति हो गयी। सूर्य अपनी धुरीमें कैसे घूमता है—कालकी गति हो गयी। सूर्य-चन्द्रमाकी गतिसे कालका क्या सम्बन्ध है? इसको कहते हैं—नापते हैं दूसरेको और बताते हैं दूसरेको। और यदि नापनेके लिए कोई साधन न रहे तो काल अखण्ड होगा—और अखण्ड वस्तु परमात्मासे अलग नहीं रहेगी।

असलमें परमात्माका ही नाम है 'अखण्डकाल'; यह बात छोड़ देते हैं। यह बात दसवें अध्यायमें भी आयी है। ज्यादा फिलासफीकी बात करेंगे तो आप लोग बोर हो जायेंगे। हमारा मतलब यह है कि हमारे जीवनमें मामूली-मामूली चीजें जो चल रही हैं, इनका मूल कहाँ है, यह भी एक विचारका विषय है। हमारे जो लोग रसोई बनाते हैं वे सभी सोचते हैं कि इसमें क्या चीज मिलावेंगे तो अच्छी बनेगी। फिर किससे छोंकेगे? क्या मसाला डालेंगे? एक चिन्तनका विषय यहभी है और एक चिन्तनका विषय यह भी है। आप लोग हमको ठीक-ठिकानेसे रोटी पहुँचा दिया करो तो हम यही सब सोचते रहेंगे। वह तो रोटीकी फिकरमें यह सब छूट जाता है। बड़ी गम्भीर-गम्भीर बातें चिन्तन करनेके लिए सृष्टिके स्तरमें हैं।

दसवें अध्यायमें श्रीकृष्णने कहा 'कालः कलयतामहम्'—जो गणना करनेवाली चीज है—गिनती जिससे होती हैं, वह काल है। जैसे गड़रिया अपने भेड़ोंको गिनता है—सौ है कि पाँच सौ हैं। हम तो गाँवके रहनेवाले हैं न! दस गड़ेरियाकी भेड़ें एकमें मिल जाती हैं पर जब चरानेको चलते हैं तो बिलकुल अलग-अलग कर लेते हैं और गिन लेते हैं कि हमारी उतनी हैं कि नहीं। इस प्रकार संसारमें भेड़ोंकी गिनती करनेवाला जो है न, 'कलनात्कालः' वह गड़ेरिया भगवान् है—'कालोऽस्मि'। वह 'कालः कलयतामहम्' गिननेवालोंमें काल है और इस समय लोकक्षय करनेके लिए एक कौरवीय और पाण्डवीय सेना जो बढ़ गयी है उसका नाश करनेके लिए बढ़कर आया है। तुम क्यों आये हो बाबा!

'लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः'। हमारी प्रवृत्तिका कारण यह है कि लोगोंको मैं समेटना चाहता हूँ। बहुत फैला दिया। घरमें दस पतीली थीं। छोटी थी उसको उससे बड़ीमें डाला,उसको उससे बड़ीमें, उसकी उससे बड़ीमें। बड़ा भारी जो पतीला है घरमें उसमें सब आगये। उसको प्रधान बोलते हैं। 'प्रलीयन्ते अस्मिन् इति'। सारी छोटी-छोटी जो पतीलियाँ थीं वह सब एकमें रख दी गयीं। इसका नाम हो गया समाहार। सबको खानेके लिए आया हूँ यह मेरी प्रवृत्ति है।

अब देख ले मेरे प्यारे अर्जुन, 'ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः'। जो हमारे सामने बड़े-बड़े योधा दिखायी पड़ रहे हैं; युद्ध करनेमें बड़े निपुण—दोनों सेनाओंमें—जो सामने धनुष, बाण, तलवार, तरकस लेकर खड़े हैं—तुम इनको मारो, चाहे न मारो—अर्जुन तुम रहो, ये नहीं रहेंगे। तुम जो सोचते हो कि ये बने रहेंगे—सो ये बने नहीं रहेंगे। तुम्हारे बिना भी—तुम धनुष-बाण फेंक दो—अपने हाथको निकम्मा बना लो—इनको कुछ न कहो तब भी यह पक्का है कि ये नहीं रहेंगे। जो बुरा है वह भी नहीं रहेगा, जो भला है वह भी नहीं रहेगा। यह अपने मनमें आग्रहका ग्रह नहीं बसाना चाहिए।

ज्योतिषी कोई यहाँ होंगे तो बुरा मानेंगे। ज्योतिषी लोग आते हैं तो अपने साथ कोई-न-कोई दो चार ग्रह लेकर आते हैं, उनके पीछे-पीछे चलते हैं। यह प्रकृतिका नियम है कि ये जो आसमानमें ग्रह हैं उनमेंसे किस ग्रहका इस पृथिवीपर क्या प्रभाव पड़ता है—यह निकालंनेके लिए तो गणित है और पृथिवी के किस अंशपर किस ग्रहका प्रभाव पड़ेगा, यह भी ज्योतिषसे निकाला जा सकता है, इसका गणित है। परन्तु एक व्यक्तिपर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा इसको निकालनेके लिए कोई गणित नहीं है। अपनी-अपनी

मान्यताएँ हैं। जैसे डॉक्टर कोई दवा रोगीको देता जाय और सौ रोगियोंको दिया और उसमेंसे तीस-चालीस तक मर जायँ तब तो वह उस दवाको बुरा नहीं मानता है। लेकिन पचास-साठ मर जायँ तो उस दवाको बुरा मानने लगता है।

इसी प्रकार लोक व्यवहारमें अनुभव किया जाता है। डॉक्टर लोग यहाँ बैठे होंगे—हमारे गाँवमें यह बात कही जाती है कि जो पहले सौ रोगीको मार लेता है वह अच्छा डॉक्टर होता है। आकाशमें चन्द्रमा है वह महीनेके कम-से-कम साढ़े छः, पौने सात दिन तक सबको खराब रहता है। चतुर्थमें, अष्टममें, द्वादशमें। अगर ज्योतिषीको राहु-केतु नहीं मिलेंगे तब वह कह देगा कि चन्द्रमाकी ही पूजा करवाओ। यह तुम्हारे लिए ठीक नहीं है। डॉक्टरके पास जाओ और वह डिस्टलवाटरका भी इञ्जेक्शन न लगावे तो उसकी फीस कैसे मिलेगी?

ये जो मान्यताएँ (दुराग्रह) अपने मनमें बैठ गयीं, ये छोटे-छोटे ग्रह हैं। लेकिन सबसे बड़ा मनमें दुराग्रह है, संग्रह है, परिग्रह है—ये सब ग्रह—राहु केतु, शनैश्चर—ये सब-के-सब तुम्हारे हृदयमें रहते हैं। आग्रहग्रहग्रहीता हो गये हो। दुराग्रह छोड़ो। तुम्हारे होने-न-होनेसे दुनियाका कुछ बना-बिगड़ा नहीं। बड़े-बड़े अवतार हुए। चले गये। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि आये चले गये। इस संसारकी गतिमें क्या फर्क पड़ा है? कहाँ इस संसारकी गतिमें फर्क पड़ा है? इसीलिए जो अवधूत होते हैं, जो विरक्त होते हैं, जो सृष्टिके रहस्यको समझनेवाले होते हैं वे कहते हैं—चाहे बायें, चाहे दाहिने-यहाँ यों भी वाह-वाह है, यहाँ यों भी वाह-वाह है। राजी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रजा है। महात्माओंकी दृष्टि बड़ी विलक्षण होती है। इसलिए अर्जुन देखो—कोई रहेगा तो नहीं।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।

इसलिए अर्जुन क्या बैठ गये?

विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः। 1.47

मनमें यह आग्रह है कि ये सब जिन्दा रहें। मनमें यह आग्रह है कि धर्मराज्यकी स्थापना हो। मनमें यह आग्रह है कि मैं बड़ा भारी वीर हूँ। और मनमें बड़ा भारी आग्रह है कि मैं बड़ा भारी ज्ञानी हूँ—बड़ा भारी समझदार हूँ। हमको लड़ना नहीं चाहिए। धर्मराज्यकी स्थापना भी होनी चाहिए। हमको लड़ना भी नहीं चाहिए—इधर कोई मरना भी नहीं चाहिए। यह क्या हुआ। यह तो अपनी ही वृत्तियोंमें लड़ाई है।

शामको एक सज्जन सोचने लगे कि सन्ध्यावन्दन करें। सात्त्विक वृत्ति आयी। फिर मनमें आया कि नहीं, आज क्लबमें चलें। सन्ध्यावन्दन तो लौटकर कर लेंगे। क्या जल्दी है? बोले भाई—क्लब नहीं, सिनेमा ही देख आवें। अच्छा सिनेमा क्या देखेंगे—अब सो जायँ। तमोगुणी वृत्ति आगयी। अब इतनी वृत्तियोंका परस्पर विरोध हो गया—'गुणवृत्तिविरोधाच्च' (योग शास्त्र २.१५) जिसके मनमें सत्त्वगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी—वृत्तियोंका इतना संघर्ष मचा हुआ है वह चित्त संस्कारके किस काममें सफल होगा। निर्द्वन्द होकर कटु सोचना पड़ता है। जैसे बाघ अपने शिकारपर कूद पड़ता है। जैसे संन्यासी अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए सबको

छोड़कर चल देता है। वैसे साहसके साथ उत्साहके साथ अपने लक्ष्यपर टूट पड़ना चाहिए। बैठनेसे क्या होगा?

'ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे'। बाबा यदि तुम नहीं लड़ोगे तब भी ये कोई नहीं रहेंगे। इसलिए तुम उठो, देखो मैं तुम्हारा मित्र हूँ—सखा हूँ। तुम्हें यश देना चाहता हूँ। विश्वरूपसे मैं बोल रहा हूँ कि शत्रुओंको तुम जीत लोगे। जो सताये उसका नाम शत्रु होता है। 'शातनात् शत्रुः'। इनको जीत लो और बहुत बड़े राज्यका भोग करो—'समृद्धं राज्यं भुंक्ष्व'—यह मत देखो कि जब पिण्डदानका लोप हो जायगा तो हमारे पितर लोग जो स्वर्गमें हैं वे भूखे-प्यासे मर जायेंगे। अर्जुनको यह भी तो फिकर लगी थी न कि पितरोंका क्या होगा—'लुप्तपिण्डोदकक्रियाः'। (1.42) यह फिकर मत करो कि स्वर्गमें उन्हें खाना मिलेगा कि नहीं! वे भी अपना पुण्य लेकर जायेंगे—उन्हें खाने-पीनेको मिल जायगा। तुम यह तो देखो कि यह जो शत्रु तुम्हारे सामने तुम्हें कष्ट दे रहे हैं, उन्हें नष्ट करो और समृद्ध राज्य, निष्कंटक राज्य तुम्हारे सामने है, उसका भोग करो।

बाबा, इतने लोगोंको कौन मारे—'मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'—मैं तुमसे इसलिए कहता हूँ कि तुम सव्यसाची हो। अर्जुनने उद्योगपर्वमें बड़ा ललकार कर कहा है कि मैं सव्य और अपसव्य दाहिने और बाँये—दोनों हाथोंसे गाण्डीव धनुषको चलाता हूँ और मैं चाहूँ तो मिनटोंमें दुनियाका संहार कर सकता हूँ। मेरे पास ऐसे-ऐसे बाण हैं—बाण माने यह नहीं कि बच्चे विजयादशमीपर खेलते हैं। बाण तो विश्वको ध्वंस करनेकी शक्ति रखनेवाला होता है। हजारों-लाखों मील दूर जाकर मार सकता है और लौटकर फिर फेंकने वालेके हाथमें आ सकता है। इस प्रकार बाणोंका वर्णन शास्त्रमें आता है। तो अर्जुन दोनों हाथोंसे बाण चलानेमें समर्थ था। भगवान् बोले—इसलिए तुमसे कह रहा हूँ कि ये जो तुम्हारे सामने वीर खड़े हैं, इनको तो कालने मैंने—पहलेसे ही मार रखा है। अब तुम इनपर विजय प्राप्त करनेमें निमित्त मात्र बन जाओ।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥ 11.34

नाम लेकर बोलते हैं—ये द्रोणाचार्य। जिनकी आयु सैकड़ों वर्ष है। अब मरनेके लिए तैयार हैं। देखो, तुमने देख ही लिया कि ये मेरे शरीरमें मर गये। ये भीष्म जो इच्छा-मृत्यु धारण करनेवाले हैं, जब चाहें तब मरें। ये जयद्रथ हैं जिनके पिता बड़ी भारी तपस्या कर रहे हैं कि मेरे पुत्रके सिरको जो धरतीपर गिरावे उसका सिर भी गिर जाय। और ये कर्ण जिसके पास इन्द्रकी दी हुई शक्ति है, जिसको अमोघ कवच प्राप्त है। वह कर्ण, जिसकी प्रतिज्ञा है कि जबतक भीष्म जिन्दा रहेंगे तबतक मैं नहीं लड़ूँगा। जब भीष्म हार जायेंगे, गिर जायेंगे तब मैं लड़ूँगा। वह कर्ण है। और भी तुम्हारे पक्षके, उनके पक्षके बड़े-बड़े योद्धा भी हैं। मैंने पहले ही इन्हें मार दिया है। 'मया हतास्त्वं जहि मा व्यथिष्ठाः'।

अर्जुनने कहा कि जब तुमने मार ही दिया है तो वे मारे हुएको क्यों मारना? पिसे हुएको क्या पीसना।

मार दिया—अपने आप मर जायेंगे। हमको इसमें क्यों लगाते हो? बोले कि नहीं भाई—पिता, पितामह आदि भले कैसे भी मर जायें परन्तु पुत्रका तो कर्तव्य होता है कि आगमें लेजाकर उनको जलावे, अन्त्येष्टि कर्म करे। मार तो दिया है इनको हमने, लेकिन अन्त्येष्टि कर्म करनेका विभाग अब तुम्हारे सिरपर आगया है। 'मया हतांस्त्वं, जहि मा व्यथिष्ठाः'। रोओ-गाओ मत 'युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्'। सिर मत पीटो, युद्ध करो। तुम जेता हो। जेता अर्जुनका महाभारतमें एक नाम है। 'जि' धातुसे तृच् प्रत्यय होकरके यह जेता शब्द बनता है। अथवा यह क्रिया पद भी हो सकता है—जेतासि। जैसे 'भवितासि' होता है वैसे एक 'जेतासि' होता है। तुम जैता हो, तुम्हारा नाम ही जेता है। तुम्हारे शत्रु सब-के-सब मर जायेंगे। मैं पक्की भविष्यवाणी करता हूँ कि तुम्हें शत्रुओंपर विजय प्राप्त होगी।

इसपर कोई टीकाकारोंने ऐसा अर्थ निकाल कि अर्जुनके मनमें जो शङ्का थी पहले कि—यदि वा नो जयेयुः' (2.6) हम जीतेंगे कि वे जीतेंगे इसका तो कुछ पता नहीं तो भगवान्ने स्वमुखसे दूर कर दिया कि जीत तुम्हारी होगी। बोले कि नहीं अब तो वह श्रीकृष्णके शरीरमें सब मरे हुआको देख चुका है तब अपनी जीतके बारेमें तो उसे शङ्का नहीं है। तो फिर 'जेतासि' कहनेका क्या अभिप्राय है? अरे भाई, देख तूने मुझे पहचान लिया। बड़े-बड़े ज्ञानी पुरुष जो होते हैं, उनके शरीरमें भी प्रारब्ध होता है। क्योंकि तत्त्वज्ञान होनेपर भी प्रारब्ध तो जबतक शरीर रहता है तबतक रहता ही है।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ 18.59

तुम्हारा तो स्वभाव है—तुम्हारे प्रारब्धमें यह बात भरी हुई है। मैं जैसे मरे हुए भीष्म, द्रोणको दिखा सकता हूँ वैसे तुम्हारा प्रारब्ध भी तो देख सकता हूँ। 'जेतासि'—आगे तुमको यह काम करना है। तुम्हें शत्रुओंको मारना पड़ेगा। 'संजय उवाच'—अब भगवान् जब चुप हो गये तो संजय धृतराष्ट्रको समझाते हैं।

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥ 11.35

अर्जुनने तो हाथ जोड़ दिया, थरथर काँपने लगे। अर्जुनका एक नाम किरीटी भी है। दस नाम अर्जुनके प्रसिद्ध है। हमारे घरमें कर्मकाण्ड और ज्योतिषका काम होता था तो मैं उसको बहुत बढ़िया समझता था। हमारे पिता-पितामह सब करते थे। मैं ज्योतिषका रहस्य जानता हूँ। परन्तु उसकी पोलपट्टी भी हमको सब मालूम है। यह तो लोगोंके मनमें धैर्य नहीं होता। किरीटी भगवान्का एक नाम है। जब बैल, गाय व भैंसके पाँवमें एक बीमारी होती है, गाँवमें उसको खंगवा बोलते हैं। तो अर्जुनके दस नाम पीपलके पत्तेपर लिखकर उसको पशुके गलेमें बाँधा जाता है। उन दस नामोंमें 'अर्जुनः, फाल्गुनः, जिष्णुः, किरीटी, श्वेत-वाहनः, वीभत्सुः, विजयः, पार्थः, सव्यसाची, धनञ्जयः'—ये सब अर्जुनके नाम हैं। किरीटी माने जो किरीट धारण किये हुए हो उसका किरीटी नाम होता है।

उसने ज्यों केशवका वचन सुना तो 'कृताञ्जलिर्वेपमानः'। हाथ उसके जुड़ गये। बाबा, जो कहो सो

****

करनेको तैयार हूँ। देखो कहीं कोई गलती न हो जाय। थरथर काँपने लगा। संस्कृत भाषामें—महाभारतके उद्योग पर्वमें—तो लिखा है कि चूँकि कृष्णके शरीरमें-से रश्मियाँ निकलती हैं;बड़ी तेजस्विनी रश्मियाँ, किरणें निकलती हैं—इसलिए उनका नाम 'केशव' है। केशव शब्दका दूसरा अर्थ है—अर्जुनके केश भी बड़े सुन्दर हैं और श्रीकृष्णके केश भी बड़े सुन्दर हैं। 'प्रशस्ताः केशा अस्य इति केशवः'। इसका दूसरा अर्थ भी है—क, अ और ईश तीनोंका जो प्रशासन करे—ब्रह्मा, विष्णु, महेशके प्रशासक केशव।

उनके सामने तो हाथ जुड़ गया और नमस्कार करके फिरसे उसने श्रीकृष्णसे कहा—वाणी उसकी गद्गद् हो गयी थी और 'भीतभीतः' डरा-डरा-सा, डरे हुएसे भी ज्यादा डरा 'भीतादपि-भीताः'—जो श्रीकृष्णके इस स्वरूपमें लोग डरे-डरे लग रहे थे, उनसे भी अधिक डरा हुआ अर्जुन प्रणाम करके बोला—'अर्जुन उवाच'—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च। 11.36

इस स्तुतिको बतानेके लिए मैंने अबतक जल्दी की। स्तुति और भगवान्के वचन 11वें अध्यायके सार-सार हैं।

हे हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यति इति स्थाने,
अनुरज्यते च त्वयि इति स्थाने,
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति इति स्थाने,
सर्वे सिद्धसंघाः नमस्यन्ति इति च स्थाने।

अरे सब ठीक-ठीक हो रहा है। तुम्हारा कीर्तन करनेसे जगत्में आनन्दका सञ्चार होता है। वह बिलकुल उचित है। संसारके सब लोग तुमसे प्रेम करते हैं। तुमको देखकर राक्षस लोग भाग जाते हैं। यह भी बिलकुल ठीक है। और बड़े-बड़े सिद्ध लोग तुम्हारे चरणोंमें नमस्कार करते हैं, यह भी ठीक है। आज मैंने देख लिया, ये बड़े-बड़े लोग जो तुम्हारे सम्बन्धमें व्यवहार करते हैं, वह सर्वथा उचित है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

****

****

प्रवचन : 6

(24-11-82)

अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद् गीते भवद्वेषिणीम्।

वर्णमयी माँ अम्बा शब्दका अर्थ होता है। वर्णमयी माँ—साक्षात् परावाक् जगत्की जननी—यह वर्णमयी माँ है। बस, नये-नये नाम रखते जाते हैं, वस्तु एक ही है। नामसे ही सृष्टिका विस्तार हुआ है। रूपका हेतु भी नाम ही है। वैसे श्रुतिमें नाम और रूप दोनों एक कक्षाके माने जाते हैं। एक ही वस्तुकी व्याकृति है—नाम और रूप। 'नामरूपे व्याकरवाणि'। (छान्दोग्य 6.3.2)। जगत् जननी जगदम्बा परावाक् भगवती गीता शब्दमयी है। इसमें अब अर्जुनकी वाणी बोलते हैं। बोलनेके पहले उसने हाथ जोड़कर श्रीकृष्णको नमस्कार किया। वाणी गद्गद हो रही थी। पुनः प्रणाम किया।

भगवान्को नमस्कार करके तब अर्जुनने यह बात कही है। 'नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य'। प्रणामका अर्थ है—नम्र हो गया है। नम्र हो गया माने अभिमान टूट गया। विश्वरूपको देखनेपर अपने शरीरमें जो मैंपनेका अभिमान है, यह टूट जाता है। वैसे लौकिक बात है कि यदि अपने धनका, विद्याका या सुन्दरताका या शरीरकी शक्तिका अभिमान हो तो अपने-से बड़ेको देखना चाहिए। बड़ेको देखोगे तो अपना अभिमान कम हो जावेगा और यदि गरीबी सता रही हो तो अपनेसे गरीबको देखना चाहिए। जब अपनेसे भी गरीबको देखेंगे तो अपनी गरीबीका दुःख कम हो जाता है। अपनेसे बड़ेको देखना—यह अभिमानको कम करनेवाली वस्तु है।

अर्जुन बोले—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या,
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति,
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥ 11

पहले एक बात सुना दूँ। यह जो श्लोक है यह विष्णुपञ्जर नामके ग्रन्थमें मन्त्रके रूपमें उल्लिखित है। 'स्थाने हृषीकेश' यह एक मन्त्र है। जब किसी भी प्रकारका मनुष्यके जीवनमें भय हो तो इसका पाठ करना चाहिए। भूतका भय, प्रेतका भय, चोरका भय, शत्रुका भय, रोगका भय—सभी प्रकारके भयोंको मिटानेके लिए इसका उपयोग होता है। किस काममें कैसे इसका उपयोग करना चाहिए? मन्त्रसार-सुधानिधि नामक संस्कृत ग्रन्थमें इसका प्रयोग बताया हुआ है कि कैसा भय उपस्थित होनेपर इसका कैसे प्रयोग करना चाहिए।

****

*****

'स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च'। हे हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यति इति स्थाने'। 'युक्ते द्वे सांप्रतं स्थाने'। (अमरकोश 3.4.11)। यह 'स्थाने' एक अव्यय शब्द है, हर विभक्तिमें ज्यों-का-त्यों रहता है और इसका अर्थ होता है—'युक्तं साम्प्रतं'। समयके अनुसार है और 'युक्त' माने सुसङ्गत है, युक्तियुक्त है। स्थाने सप्तमीका एक-वचन नहीं है—अव्यय है। अथवा 'हे स्थाने हृषीकेश'—बिलकुल सच्ची बात है कृष्ण, क्या कि आप इन्द्रियोंके स्वामी हो? हृषीकाणि इन्द्रियाणि तेषामीशः हृषीकेशः, इसके सम्बोधनमें होता है—हृषीकेश—आप इन्द्रियोंके स्वामी हैं। आपकी वजहसे हमारे हाथ,पाँव, जीभ चलते हैं।

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥ भाग० 4.9.6

यदि भगवान् हमारे भीतर बैठे हुए न हों, अन्तर्यामी न हों तो हमारी जीभ बोल भी नहीं सकती है। भगवान् भीतर हैं, इसीलिए हमारे हाथ काम करते हैं। हमारे पाँव काम करते हैं। उस पावर-हाउससे हमारे हृदयके वल्बका ऐसा कनेक्शन है कि उस कनेक्शनकी वजहसे ही हृदयमें रोशनी होती है और वह सब इन्द्रियोंके द्वारा बाहर निकलती हैं। और सब इन्द्रियाँ उसीसे सञ्चालित होती है। यह बहुत ही सङ्गत है, इसके बिना किसी वल्बमें रोशनी कैसे आती है?

अच्छा, तो यह सम्बन्ध है। यह उजागर कैसे होता है? उसके लिए कहते हैं—'तव प्रकीर्त्या'—भगवान्का कीर्तन किया जाय। प्रकृष्ट कीर्तन—भगवान्का नाम लेकर ही जगत्में आनन्द है। उसीसे अनुराग, प्रेमकी वृद्धि हो जाती है।

यहाँ दूसरी बात अर्जुनके मनमें यह है कि आपने यह जो हमें विश्वरूप दिखाया है, इससे आपकी कीर्तिका विस्तार हुआ है। भगवान् भक्तवत्सल हैं। भक्तकी इच्छा मान करके उसके रथके सारथि बनते हैं, माने जीवनमें दिशा देते हैं। सारथि बननेका अर्थ है कि भगवान् बता देते हैं कि जहाँसे दो-तीन-चार रास्ते फूट रहे हैं, वहाँसे तुमको किस रास्तेसे चलना चाहिए। अन्तर्यामी प्रेरणा देते हैं। प्रेरणा भगवान्से प्राप्त होती है। आपकी कीर्ति बढ़ी। क्या कीर्ति बढ़ी? कि हमारे सारथि बने। लोग कहेंगे भगवान् बड़े भक्तवत्सल हैं—अपने भक्तका पक्ष लेते हैं तो आपकी भक्ति करेंगे। भक्तिका सम्प्रदाय बढ़ेगा। दूसरे मेरी इच्छा पूरी करनेके लिए आपने अपना विश्वरूप प्रकट कर दिया। यशोदा मैय्याने विश्वरूप देखा था तो उनके मनमें देखनेकी कोई इच्छा नहीं थी। कौरवोंने देखा था तो उनके मनमें भी कोई इच्छा नहीं थी। धृतराष्ट्रने कौरवोंकी सभामें देखा था। उत्तङ्कने देखा तो उनके मनमें भी कोई इच्छा नहीं थी। उत्तङ्कने भगवान्को धमकाया कि तुमने महाभारत युद्ध कराकर देशका सत्यानाश कर दिया तब भगवान्ने अपना विश्वरूप दिखाया। उत्तङ्क, तुम मुझे क्या शाप देना चाहते हो? तुम तो मेरे शरीरमें एक कीटाणुके बराबर भी नहीं हो!

*****

*****

परन्तु अर्जुनको जो भगवान्ने अपना विश्वरूप दिखाया वह 'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरम् पुरुषोत्तम'। मैंने इच्छा प्रकट की और मेरी इच्छासे तुमने यह विश्वरूप दिखाया जो स्वयं अपनी इच्छासे कभी-कभी प्रकट किया करते हो। इससे तुम्हारी कीर्ति बढ़ेगी। और इस कीर्तिकी वृद्धिसे क्या होगा कि आगे भी जो जगत्में होगे उनको आनन्द होगा। भगवान् कभी हमारी इच्छा भी पूरी करेंगे। 'प्रकीर्त्या जगत् प्रहृष्यति'।

संसारमें हर्ष और अनुराग दोनों बाहरसे आते हैं। किसीके बेटा हुआ, बड़ा हर्ष हुआ—प्रशंसा हुई, बड़ा हर्ष हुआ। जो सुख पहुँचाता है उससे अनुराग होता है। लेकिन यहाँ तो अद्भुत हुआ, भगवान्के सम्बन्धसे हर्ष और भगवान्के सम्बन्धसे अनुराग—'जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।' आप अपनेको तौल सकते हैं। आपके घरमें पाँच रुपया आजाय तो आपको उससे हर्ष होता है या आप पाँच बार भगवान्का नाम लेते हैं उससे हर्ष होता है।

यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि हम अपने मुखसे भगवान्का नाम ले सकें।

नाम चिन्तामणिः कृष्णचैतन्यरसविग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वात् नामनामिनोः॥

भगवत्-सन्दर्भधृत पद्मपुराण, पृ०103

यह जो भगवान्का नाम है यह तो चिन्तामणि है। साक्षात् भगवत्-स्वरूप है। यह चैतन्यरस-विग्रह है। 'अभिन्नत्वात् नाम-नामिनोः'—नाम और नामीमें कोई भेद नहीं है। भगवान्का नाम मुखपर आजाय, उनका प्रकीर्तन हो जाय। 'हरे! नारायण!'— इससे केवल लेनेवालेको ही हर्ष हो यह बात नहीं है। इसकी ध्वनि जो संसारमें फैलती है वह उसे आनन्दसे भर देती है। 'जगत्प्रहृष्यति, अनुरज्यते च'। अनुरज्यते माने अनुरागसे भरपूर हो जाता है। भगवान्का प्रेम हमारे मनमें आवे इसके लिए भगवान्की कीर्ति जो है, प्रकीर्ति—प्रकृष्ट कीर्ति, उत्तम कीर्ति—वही मुख्य हेतु है। यह तो आपके ध्यानमें होगा ही कि श्रीकृष्णकी माताका नाम है—यशोदा और राधारानीके माताका नाम है—कीर्तिदा। कीर्ति और यश। जो कीर्तिदान करे वह कीर्तिदा उससे राधा माने आराधनाकी उत्पत्ति होती है हृदयमें और जो यशदान करे वह यशोदा।

यशोदासे श्रीकृष्णकी उत्पत्ति होती है हृदयमें। यह कीर्तिदा और यशोदा एक ही चीजके नाम हैं। बतायें, है तो गुप्त बात—बता देते हैं! यशोदा और कीर्तिदा दोनों कथाके नाम हैं। भगवान्की जो कथा है यही कीर्तिदा है और यही यशोदा है। इसीसे आराधना-रूपी राधिका और इसीसे परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण—ये अपने हृदयमें उत्पन्न होते हैं। दोनोंका अनादि नित्य सम्बन्ध है, दोनोंका अनादि नित्य सम्बन्ध है, दोनोंकी माँ कथा है। ये शब्दमयी गीता जगज्जननी, जगदम्बा है। 'जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च'—प्रहर्षरूप श्रीकृष्ण और अनुरागरूपा श्रीराधा ये दोनों जगत्में भगवान्की प्रकीर्तिसे आते हैं।

'जगत्प्रहृष्यति स्थाने इति स्थाने युक्तम्'। 'जगत् अनुरज्यते इत्यपि युक्तम्'। रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति'। विघ्न डालनेवाले बहुत हैं। जो भगवत-भजनमें विघ्न डालनेवाले हैं, उनके लिए इस शब्दका प्रयोग सर्वोत्तम है। ये न देवता हैं न दैत्य हैं न मनुष्य हैं—ये तो राक्षस हैं। भगवद्भजनमें जो विघ्न डाले वह राक्षस।

*****

जब भगवान्के नामका कीर्तन, कथाका कीर्तन, गुणका कीर्तन होने लगता है तो राक्षस लोग भयभीत होकर भाग जाते हैं। 'दिशो द्रवन्ति'। अरे बाबा यहाँ तो गुञ्जाइश नहीं है।

एक बार मैंने ऐसा देखा—एक बहुत बड़ा आयोजन, एक प्रकारसे मेला था। लाखों आदमी उसमें आते थे। श्री उड़िया बाबाजी महाराज थे। करपात्रीजीके गुरु थे—विश्वेश्वरानन्दजी। वे भी आये हुए थे। उसमें आवागढ़के राजा थे, वे 60-70 बालकोंको लेकर बैण्ड बाजेके साथ 'राम-हरे सुखधाम-हरे' गाते हुए आये। सो एक वेदान्ती सज्जन वहाँ बैठे थे, वे उठकर बड़े जोरसे भागे। बोले संसार आया—द्वैत आया, द्वैत आगया। सब लोग भगवान्के नामको सह भी नहीं सकते हैं। जिनका हृदय कठोर हो गया है—'यस्तु प्रकृत्या अश्मसमान एव'। पत्थरका दिल जिसका हो गया है अथवा—'कष्टेन वा व्याकरणेन नष्टः' दिन भर व्याकरण रटते-रटते जिसका दिल बिगड़ गया है।

ये लोग भगवान्का नाम सहन नहीं कर सकते। इनसे सुना नहीं जाता। हमारे यहाँ प्रातःकाल आरती होती है और शंख बजाते हैं—जब महादेवजीके मन्दिरमें और नृत्यगोपालके मन्दिरमें दोनों ओर शंख बजाते हैं तब कुत्तोंको शंखध्वनि सहन नहीं होती है। वे स्वयं बड़े जोरसे चिल्लाने लगते हैं। भगवान्का नाम सब नहीं सह सकते। 'दिशो द्रवन्ति—युक्तम्' ठीक है, उनको भाग जाना चाहिए। उनका भागना ही युक्त है। हमारा अभिप्राय जो सच्चे वेदान्ती हैं उनसे नहीं है। सच्चे वेदान्तीका तो अपना आत्मा ही भगवान् है। वह तो अपनी कीर्ति, अपना नाम, अपना यश सुनते हैं और परमानन्दमें मग्न होते हैं। ये जो अधूरे हैं, कच्चे हैं, बच्चे हैं, उन्हींको द्वैतसे दुश्मनी होती है—द्वैत तो हमारा स्वरूप है। 'सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः।' कपिल आदि जो बड़े-बड़े सिद्ध हैं वे संघबद्ध होकर आरहे हैं और आपको नमस्कार कर रहे हैं। 'नमस्यन्ति च'।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥

आजकल कोई पाणिनि व्याकरणका विद्वान् हो तो कहेगा 'नमेरन्' नहीं चाहिए, 'नमेयुः' चाहिए। परस्मैपदी प्रयोग होना चाहिए, आत्मनेपदी प्रयोग नहीं होना चाहिए। परन्तु वह तो लौकिक विषय है; यह तो वैदिक विषय है। 'कस्माच्च ते'—ते का अर्थ वे। आपको=क्यों न नमस्कार करें—ऐसे नहीं बोलते हैं—'ते तुभ्यं न नमेरन्' ऐसे बोलते हैं। और वैसे तो ऐसी भी युक्ति है कि चाहे तो ऐसे भी कर दें—वे आपको भला क्यों नमस्कार नहीं करेंगे? 'नम इव आचरन्ति इति नमन्ते'—एक विशेष प्रत्ययसे यह रूप बन सकता है। 'नमेरन् महात्मन्'—महात्मा आपका स्वरूप बहुत बड़ा है। बड़प्पनको भगवान् कैसे प्रकट करते हैं।

'गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे'। गुरुसे भी गुरु हैं भगवान्। यह योगदर्शनमें आया है—स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् (1.) यह परमेश्वर ये जितने गुरु हुए हैं, पहलेके पहले, उनका भी गुरु है। उनको भी ज्ञान इसीने दिया है। जैसे पितासे पुत्र उत्पन्न होता है, तो पुत्रकी उत्पत्तिका कारण भी पिता है और उसको वही सिखाता है—शिक्षा भी वही देता है तो जिसने यह सृष्टि बनायी है वही शिक्षाका आदि गुरु है। और किसी भी कालमें उनका अभाव नहीं है। हमेशा रहता है। 'अतिशयेन गुरुर्गरीयान्' तस्मै गरीयसे। अतिशय गुरु है। उससे

बड़ा और कोई गुरु नहीं है। असली गुरु तो सबका परमेश्वर ही है। 'ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे'। एक ब्रह्मा नहीं होते—बहुत सारे ब्रह्मा होते हैं।

गर्गसंहितामें एक कथा है कि जब पृथिवीपर बहुत उत्पात हुआ तो ब्रह्मा-इन्द्र-शंकर सब-के-सब गोलोकमें गये। गोलोकमें महिलाओंकी प्रधानता है। वहाँ श्रीराधारानीका राज्य है और वहाँ मन्त्री भी महिला, दीवान भी महिला—क्लर्क भी महिला, चपरासी भी महिला—सब वहाँ महिला ही महिला हैं। वहाँ महिलाओंका राज्य है। और वे बड़े बलवानोंसे भी बलवान होती हैं। जब ब्रह्मा, शङ्कर, इन्द्र सब गोलोकके द्वारपर पहुँचे तो वहाँ चन्द्रानना नामकी एक सखी देख-रेख कर रही थी। वही वेत्र-धारिणी थी। इन्द्रने बताया ये ब्रह्माजी हैं और ब्रह्माजीने बताया ये इन्द्र हैं। परस्पर एक दूसरेका परिचय देने लगे। क्योंकि—दूसरा तो कोई परिचय देनेवाला था नहीं।

तो उस सखीने पूछा तुम लोग बार-बार ब्रह्मा-ब्रह्मा बोलते हो, इन्द्र-इन्द्र बोलते हो! यहाँ तो दिनभरमें सैकड़ो ब्रह्मा आते हैं, सैकड़ों इन्द्र आते हैं—भगवान्के दर्शन करनेके लिए। तुम लोग यह तो बताओ कि किस गाँवके ब्रह्मा हो? किस ब्रह्माण्डके ब्रह्मा हो? अब तो इन्द्रको भी मालूम नहीं कि किस ब्रह्माण्डके ब्रह्मा हैं। उस सखीकी ओर टुकुर-टुकुर देखने लगे कि यह क्या पूछती है? ब्रह्माजीने बताया कि हम उस ब्रह्माण्डके ब्रह्मा हैं जिसमें वामनावतार हुआ था—और जब वे त्रिविकम हुए तो—उनके पदनखसे निर्भिन्न होकर ब्रह्माण्डका शिरोभाग टूट गया था और उससे गङ्गाजीकी धारा प्रकट हुई थी। हम उस ब्रह्माण्डसे आये हैं।

तो एक ब्रह्मा नहीं, करोड़ों ब्रह्मा जिनसे प्रकट होते हैं, उनको आदि बनानेवाले ये भगवान् हैं। 'अनन्त देवेश जगन्निवास—त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्'। हे अनन्त-अनन्त! माने विभागशून्य। अनन्त माने जिसके बढ़नेकी भी गुंजाइश न हो और जिसके टुकड़े करनेकी भी गुंजाइश न हो, उसको बोलते हैं अनन्त। अनन्त बटे दो नहीं होता है। और अनन्त-अनन्त दो भी नहीं होता है। अनन्त माने बहुत्व नहीं। जिसका ओर-छोर, आदि-अन्त न हो उसको अनन्त कहते हैं। न कालमें आदि अन्त हो—न देशमें आदि अन्त हो—उसको अनन्त कहते हैं। अनन्तको समझनेकी जो कोशिश करेगा वह कालमें जहाँ भूत प्रारम्भ होता है, वहाँ भी अन्त नहीं है और वर्तमानमें तो है ही है। जहाँ पूर्व प्रारम्भ होता है वहाँ भी अन्त नहीं है—जहाँ पश्चिम समाप्त होता है वहाँ भी अन्त नहीं है।

अनन्त शब्दका अर्थ यदि समझना होगा तो जानना होगा कि देश-काल क्या होते हैं और कैसे वे अन्त करते हैं—वस्तुमें जो घड़ा है, वह कपड़ा नहीं। जो कपड़ा है सो घड़ा नहीं—दोनोंका अन्त मिलता है। लेकिन परमात्मा वह है जो देश, काल, वस्तुमें कहीं भी जिसका अन्त नहीं होता है, वह अनन्त है। और ये सब देवता हैं! देवता दो तरहके होते हैं एकको कहते हैं—'आजान-देवता' और दूसरेको कहते हैं 'कर्मदेवता'। भाई मेरे; शास्त्रोंको समझनेके लिए यह सब जरूरी होता है। ये सूर्य हैं—ये आजान देवता हैं। वायु हैं—ये आजान देवता हैं। आजान देवता माने जन्मसे देवता, इनको देवता होनेके लिए कुछ कर्म नहीं करना पड़ता है।

अजानत एवोत्पत्तित एव ये देवास्त आजानदेवाः।

ऐसा शंकराचार्यने कहा है—(बृहदा० 4.3.33 भाष्य)।

पाँच भूतोंका रस इकट्ठा हुआ और वह सूर्यके रूपमें परिणत हो गया। सूर्यमें सब देवोंका सामर्थ्य है। फूलोंमें वे सुगन्ध देते हैं और जलकी वर्षा भी करते हैं सूर्य ही। लोगोंमें चमक भी देते हैं सूर्य ही। शरीरमें ऊष्मा देते हैं सूर्य ही। ये प्राण जो बाहर निकलकर लौट आते हैं वह भी सूर्यकी शक्तिसे सम्भव है। ये जो हमारे शब्द हैं, वे सूर्यकी किरणोंमें जो गति है, वायु है, उसपर आरूढ़ हो करके आकाशमें यात्रा करते हैं। ये सूर्य आजान देवता हैं। वायु, अग्नि आजान देवता हैं लेकिन इन्द्र देवता नहीं हैं। वह कर्म देवता है। उसने पहले बहुतसे यज्ञ किये—यज्ञ करके वह इन्द्र हो गया।

देवता भी अनेक प्रकारके होते हैं। 'देवानां गुणलिङ्गानाम्' (भागवत 3.25.32) ये हमारे सामने विषयोंको प्रकाशित करते हैं। सूर्य न हो तो तरह-तरहके रूप हमको दिखायी नहीं पड़ेंगे और अग्नि न हो तो तरह-तरहके रस भी खानेको नहीं मिलेंगे। ये जो खट्टा, मीठा और भिन्न-भिन्न प्रकारके रसोंका परिपाक है, यह सूर्य और अग्निके बिना, तेजस् तत्त्वके बिना नहीं हो सकता। इन सम्पूर्ण देवताओंके एक स्वामी हैं भगवान्। एक जगत् नहीं हजार-हजार जगत् जिसमें निवास करते हैं। जैसे रज्जुमें मालाकी, सर्पकी अनेक कल्पनाएँ होती हैं वैसे ही जिस अधिष्टान-स्वरूप परमात्मामें अनेक-अनेक जगत्‌की कल्पना होती है—सम्पूर्ण जगत्‌के निवास वही हैं।

'त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्'। वहीं भगवान् अक्षर हैं। 'अश्नुते इति अक्षरम्'—महाभाष्यमें अक्षर शब्दका अर्थ दिया हुआ है—'अश्नुते व्याप्नोति'—जो सब लिपियोंमें और सब भाषाओंमें है, जिसके बिना कोई पद बन नहीं सकता; जैसे राम एक पद है, कृष्ण एक पद है—यदि उसमें र अ म ये अक्षर न हों तो राम पद कैसे बनेगा? जितने पद बनते हैं वे सब अक्षरसे बनते हैं। लिपियाँ जितनी बनती हैं, सब अक्षरोंको प्रकट करनेके लिए बनती हैं। और जितने वाक्य बनते हैं ये सब पदोंसे बनते हैं। तो अक्षरोंसे पद और पदोंसे वाक्य और वाक्य पढ़कर-सुनकर हम किसी अर्थको बताते हैं या ग्रहण करते हैं। तो वह अक्षर तत्त्व जो है सर्व व्यापी है, सर्व लिपियोंमें, सर्व पदोंमें, सर्व वाक्योंमें, सर्व वस्तुओंमें व्याप्त है। वह अक्षर कौन है? वह यही परमेश्वर हमारे भगवान् हैं।

'सदसत्तत्परं यत्'—जो अस्ति पद, जिसको हम बोलते हैं और जिसको बोलते हैं नहीं हैं। अद्भुत बात है। हम कहते हैं कि नहीं है परन्तु उसमें भी है बोलते हैं। बिना है के नहीं होता नहीं। लोग कहेंगे यह सब विस्तार करनेका क्या प्रयोजन है—लेकिन अभावमें भी सद्बुद्धि होती है। अभावका शास्त्रके अनुसार एक प्रतियोगी होता है। जिसका अभाव होता है उसे प्रतियोगी कहा जाता है। जैसे, हम कहते हैं, यहाँ घड़ा नहीं है, तो इस 'नहीं है' का प्रतियोगी कौन है? घड़ा! कोई भी अभाव बिना सद्बुद्धिके हो ही नहीं सकता। किसका अभाव? जब सत् होगा तब सत्‌के अभावका बोध होगा। इसलिए सद्बुद्धि भी है और असद्बुद्धि भी बुद्धि है। दोनोंमें ज्ञान है—भावका भी ज्ञान होता है—अभावका भी ज्ञान होता है। इसलिए कोई अभाव ऐसा नहीं होता है

जिसमें ज्ञान न हो—अभावका भी ज्ञान होता है। वस्तुका भावाभाव हो सकता है। परन्तु ज्ञानका भावाभाव नहीं हो सकता। वह सत्‌में भी है और असत्‌में भी है। वह अस्तिमें भी है और नास्तिमें भी अनुगत है। जो कुछ है; बस यही है। यह बात विलक्षण है।

दूसरे मजहबोंमें जो भगवान् माने जाते हैं वे निराकार होते हैं या साकार होते हैं और यह जो सब मजहबोंसे परे जो भगवान्‌का सच्चा रूप है, उसमें 'अमृतं चैव, मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन' कौन ऐसा मजहब है जो मौतको भगवान् मानता हो? आपलोग ढूँढ़कर बताओ। हम गीतामें स्पष्ट पढ़ते हैं। 'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।' मैं अमृत हूँ मैं मृत्यु हूँ। अच्छा, दुनियाके कौन भगवान् हैं जो यह हिम्मत करके बोल दें। भगवानोंकी हिम्मत टूट जाती है कि मैं असत् हूँ—यह कह दे! सदसच्चाहमर्जुन—मैं ही सत् हूँ और मैं ही असत् हूँ। दुनियामें जो अच्छा है वह भी मैं—बोले यह सत्पुरुष है, महात्मा है, वसिष्ठ हैं। विश्वमित्र हैं। भगवान् बोले मैं हूँ। बोले महाराज यह रावण है, यह कुम्भकर्ण है—अब दूसरे भगवान् होते तो डर जाते—कहेंगे नहीं, नहीं मैं रावण-कुम्भकर्ण नहीं हूँ। और ये छाती ठोंककर सामने बोलनेवाले हैं—मैं ही रावण हूँ; मैं ही कुम्भकर्ण हूँ। हनुमानजीने कह दिया—'*जाके बल लवलेस ते जितेहु चराचर झारि। तासु दूत हौं*'—तुम्हारे अन्दर रहकर जो तुमको शक्ति दे रहा है, तुमको बल दे रहा है। अच्छेके रूपमें, बुरेके रूपमें—वह भगवान् है।

एक बात है। जो भजनीय भगवान् होते हैं, वे भजनीय भगवान् अच्छे-ही-अच्छे होते हैं और जो ज्ञेय भगवान् होते हैं, वे अच्छे-बुरे दोनों होते हैं। हमको जिनको जानना है, पहलेसे ही हम निश्चय कर लेंगे कि हम अच्छे होंगे तो जानेंगे, बुरे होंगे तो जानेंगे। जहर होगा तो जानेंगे, अमृत होगा तो जानेंगे। हमको तो सत्यका ज्ञान प्राप्त करना है।

अच्छा भाई, हम जिनकी सेवा करें वह अच्छा होना चाहिए और जिससे परहेज करें वह बुरा होना चाहिए लेकिन जो सच्ची चीज है वह क्या है? अच्छाई और बुराई। मौतमें अगले जन्मकी कारणता होती है। और जन्ममें भी मृत्युकी कारणता होती है। दुनियामें जिसको हम बहुत अच्छा देखते हैं, आगे चलकर वह हमें बहुत दुःख देता है। जिसको बहुत बुरा देखते हैं, उसमें-से सुख निकल आता है। जो वर्तमानमें बहुत भयंकर दिखता है वह भविष्यके लिए सुख देनेवाला हो जाता है और जो वर्तमानमें बहुत सुखकारक है, वह भविष्यमें बहुत रुलानेवाला हो जाता है। यह संसारका नियम है, इसको कोई काट नहीं सकता।

हमारे गाँवमें एक बड़े-बूढ़े थे वे ऐसे बोलते थे। 'सराहो मत सराहो मत निन्दना पड़ेगा—निन्दो मत निन्दो मत—सराहना पड़ेगा।' दुनियामें किस बुराईमें-से अच्छाई निकलेगी और किस बुराईमें-से अच्छाई निकलेगी, पहलेसे ही यह कैसे बताया जा सकता है।

गोबरमें-से बिजलीकी रोशनी निकल आती है—देखो क्या आश्चर्य है? और बिजली घरमें आग लगा देती है। दुनियामें सब जगह परमात्माको देखना—कहो कि अच्छा-बुरा बस यही भगवान् है, नहीं—'तत्परं यत्' इन दोनोंका परम्—'तत्परम्'। जिसको अच्छाई-बुराई कभी स्पर्श नहीं करती। दोनोंसे जो विलक्षण

है,'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन'। मैं सत् हूँ, मैं असत् हूँ—ठीक है, बहुत बढ़िया-महाराज, अच्छा बताया। देखो मैं सत् हूँ—सत्राजित्की स्यमन्तक मणि खो गयी थी तो इतनी खोज की, इतनी खोज की कि जाकर जाम्बवान्से लड़ाई करके निकालकर ले आये। यह सत्पुरुषका काम है। कलंक नहीं लगने दिया। मैं असत् भी हूँ—कैसे? गोपियोंके घरमें मैंने माखनकी चोरी की। गोपियोंसे छेड़छाड़ की थी। मैयाके पूछनेपर बोल दिया मैंने माटी नहीं खायी है और जरासंधके सामनेसे युद्धमें भाग गया। ये भगवान्के सब रूप हैं। मत्स्य, कच्छप, वराह—सत्-असत् वही हैं। असलमें वे दोनोंसे विलक्षण हैं। 'तत्परं यत्' जो भी उसके परे है वह भगवान्का स्वरूप है। 13 वें अध्यायमें आप पढ़ेंगे 'न सत्तन्नासदुच्यते' (13.12)। न का अन्वय 'उच्यते' इस क्रियापदके साथ है। न उसको सत् कह सकते हैं, न असत् कह सकते।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥ 11.38

'त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः'—तुम आदिदेव हो—स्पष्टरूपसे अपने शरीरमें देखो आपकी आदि कहाँ है? कानकी आदि कहाँ है? जीभकी आदि कहाँ है? जीभमें रसज्ञानकी शक्ति, कानमें शब्द-ज्ञानकी शक्ति, आँखमें रूपज्ञानकी शक्ति कहाँसे आती है? एक ही जगह है, वहींसे ये बिजलीके तार फैलते हैं। आँखमें आकर रोशनी कर दी। कानमें आकर सुना दिया, जीभमें आकर स्वाद ले लिया, हाथको हिला दिया, पाँवको चला दिया।

'त्वमादिदेवः' ये सब इन्द्रियरूप जो देवता हैं, विषयोंके प्रकाशक इनके आदि भगवान् हैं। यह तो हुआ पिण्डमें; इसी प्रकार ब्रह्माण्डमें—सबके प्रकाशक हैं भगवान् 'आदिदेव'—अधिदेवके भी प्रकाशक हैं। अध्यात्मके भी प्रकाशक हैं और अधिभूतके भी प्रकाशक हैं—इनको बोलेंगे आदिदेव। 'त्वमादिदेवः पुरुषः'—रहते कहाँ हैं? अता-पता क्या है? 'पुरि शयनात् पुरुषः'—सबके हृदयमें भगवान् रहते हैं। पुरुष शब्दका अर्थ होता है 'पूर्षु शेते' यह जो अलग-अलग पुरी बनी है 'नवद्वारे पुरे देही' यह जो नौ दरवाजेवाली नगरी है, इस नगरीमें एक हृदयरूप पलंग बिछा है—उस पलंगपर सबके घरमें रहते हैं? भगवान्ने अपने लिए कोई घर नहीं बनाया। सबके घरमें एक साथ! बोले किसके घरमें रहें, किसके घरमें न रहे? मच्छरके हृदयमें भी रहते हैं, चींटीके हृदयमें भी रहते हैं। यहाँतक कि वृक्ष आदि हैं, जो कण-कण हैं, इनमें भी रहते हैं।

एक बार मैंने कल्पना की कि मेरा अंगूठा कट गया। कटके अलग हो गया। उसमें चेतना नहीं रही। चेतनावाला मैं तो शरीरके रूपमें रह गया। अब अँगूठेमें चेतना नहीं रही। एक कल्पना हुई कि अब यह सट जायेगा तो इसमें कीड़े पड़ेंगे। तो वे कीड़े जो हजारों लाखों अलग-अलग होंगे अभी उसमें खून है, खूनमें कीड़े हैं सो—सड़ जानेके बाद कीड़े बढ़ेंगे सो—उनमें चेतना कहाँसे आवेगी? अरे भाई, चेतन जो मूल तत्त्व है वह पैदा नहीं होता है। जो होता है वही पैदा होता है। जो नहीं होता है वह पैदा होता ही नहीं। कीड़ेमें चेतना कहाँसे आयेगी? सारी सृष्टि चिन्मयी है—चेतन रूप ही है। 'पुरुषः पुराणः', पुराणः पुरापि नव इव'—जब

इसको देखोगे नया-नया मालूम होगा। पहले भी नया, आज भी नया, आगे भी नया। नित्य-नूतन, चिर सुन्दर, चिर सुकुमार। पुराण माने बुड्ढा नहीं—पुराण माने नित्य नूतन।

त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।

यह दुनिया रखी कहाँ जाती है? पहले तो बताया कि आदि देव हैं। पुरुष हैं—सबमें रहते हैं। और नित्य-नूतन हैं—और इतना ही नहीं—सृष्टिके कर्ता भी हैं, निर्वाहक भी हैं और सृष्टिके निधान माने खजाने भी हैं। जैसे जेवर पहनते हैं और फिर उसे तिजोरीमें रख देते हैं। यह जो सम्पूर्ण विश्वरूप आभूषण है, इनको रखनेकी तिजोरी कौन-सी है? लाकर कौन-सा है? आभूषण बनवाते हैं—कंगन बना, हार बना, कुण्डल बना—डिजाइन बदली फिर हर साल या सालमें दो वार स्त्रियाँ बदल सकती हैं तो बदल लेती हैं—उसको गलवा देती हैं फिर दूसरे ढंगका बनवा लेती हैं। भले इसमें स्वर्णका संहार हो जाय। लेकिन उनको नयी डिजाइन चाहिए। गलनेके बाद जेवर किसमें होते हैं, वही उनका खजाना है। स्वर्ण है। ऐसे ही यह सारी दुनिया जो दीख रही है, यह गलनेके बाद, मिटनेके बाद, गढ़नेके बाद जिस रूपमें जाकर समा जाती है, उसका नाम—निधान! यही तुम हो।

वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप।

जाननेवाले तुम हो—वेत्ता माने जाननेवाले। 'वेत्तासि'—विद् धातुसे तृच् प्रत्यय करके यह शब्द बनता है। जानेवाले तुम हो। 'वेद्यं च', जो जाना जाता है सो भी तुम हो। दुनियामें जो मजहबी ईश्वर होता है वह जाननेवाला तो होता है पर जाना जानेवाला जो विश्व है उससे निराला होता है। हमारे ब्रह्मसमाजी भाई, आर्यसमाजी भाई, मुसलमान भाई, ईसाई भाई ये ईश्वरको दुनिया बनानेवाला तो मानते हैं पर बनी हुई दुनियाके रूपमें नहीं मानते हैं। जाननेवाला तो मानते हैं पर जाने जानेवाली जो दुनिया है उसको ईश्वरका रूप नहीं मानते। इसको हमारे दर्शन-शास्त्रमें अभिन्न निमित्तोपादान कारण कहते हैं। आप तेरहवें अध्यायमें पढ़ लें—परमात्माका क्या स्वरूप है।

चरं च अचरमेव च।

वह ब्रह्म क्या है? जो चलने-फिरनेवाली चिड़िया, मनुष्य, पशु, कीड़ा,मकोड़ा जो चलनेवाला है सो 'चर' वही है और 'अचरमेव च' यह जो पहाड़ है, धरती है, पेड़-पौधे हैं, वह भी वही है। जब इस बातको जान लोगे तब तुम्हें आँख बन्द कर-कर ध्यान करनेकी जरूरत नहीं रहेगी। क्योंकि खुली आँखसे ईश्वर दिख रहा है। तब वैकुण्ठ जानेकी जरूरत नहीं रहेगी तब समाधि लगाकर उसके पास जानेकी जरूरत नहीं रहेगी। वेत्ता भी वही है, वेद्य भी वही है। 'जहँ-जहँ डोलूँ सोइ परिकरमा, जो कुछ करौं सो पूजा'। जंगलमें भेजनेके लिए नहीं है हमारा ज्ञान और गुफामें कैद करनेके लिए नहीं है हमारा ज्ञान। हम व्यवहारमें जिससे बोलते हैं वह भी परमात्माका स्वरूप है, जिससे हँसते हैं वह भी परमात्माका स्वरूप है। छूनेवाला भी वही है और जो छूया जाता है वह भी वही है।

'वेत्तासि' माने जाननेवाला। उसको संस्कृतमें ऐसे बोलेंगे श्रोता, स्पृष्टा, दृष्टा, रसयिता, घ्राता

परमात्मा है। ठीक है परन्तु श्रव्य भी परमात्मा है। स्पृश्य भी परमात्मा है, दृश्य भी परमात्मा है, रस्य भी परमात्मा है और घ्रेय भी परमात्मा है। वही विषयी है—'वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम' स्वयं प्रकाशमान है—अथवा सबका आधार है। धाम शब्दका दोनों अर्थ होता है। पूरेका फलितार्थ बताते हैं। 'त्वया ततं विश्वमनन्तरूप'। हे अनन्तरूप—सब रूप उसीके हैं। जिसके रूपोंका अन्त नहीं है। उन्हें कोई गिनना चाहे कि हम गिन लें—नहीं गिन सकते। न बुद्धि गिन सकती है न कम्प्यूटर गिन सकता है। किसी गणितकी सीमामें आनेवाला नहीं है। उसके रूपोंका अन्त नहीं है। इसलिए अनन्त रूप बोलते हैं। कैसा भगवान्! बिहारीका वह दोहा स्मरण करने योग्य है।

लिखनि बैठि जाकी सब गहि गहि गरब जरूर।
पये न केते जगतके चतुर चितेरे कूर॥

बड़े-बड़े चित्रकार अभिमान लेकर बैठे, हम उसकी तस्वीर बना देते हैं। चित्र बना देंगे। लेकिन बड़े-बड़े चित्रकार निष्फल हो गये। उनका गर्व टूट गया। उसकी तस्वीर नहीं बन सकी। उसके रूपोंका अन्त नहीं है। नित्य-नूतन है। चिर सुन्दर है, चिर सुकुमार है। परन्तु रूप अनन्त है। तब 'त्वया ततं विश्वमनन्तरूप'।

यह विश्व एक कपड़ेके समान है और ईश्वर सूतके समान है। दूसरे मजहबवाले ईश्वरको जुलाहेके समान मानते हैं वह जुलाहा जैसे कपड़ा बुनता है। वैसे ईश्वर कपड़ा बुनकर उसको बाजारमें बेचनेके लिए भेज देता है और खुद अलग बैठ जाता है और यह वैदिक धर्म मजहब नहीं है। यह धर्म केवल भारतके लिए है, यह तो कहीं है ही नहीं। यह धर्म केवल हिन्दूके लिए है ऐसा कहीं है ही नहीं।

हम आपको बड़े प्रामाणिक रूपसे सच बताते हैं कि चारों वेदके जितने भी विस्तार आजकल मिलते हैं, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् सहित और उनके जो छहों अङ्ग मिलते हैं, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्दः, ज्योतिष और निरुक्तये जो छहों दर्शन मिलते हैं तथा जो महाभारत और वाल्मीकि-रामायण आदि हैं, ये जो अठारह पुराण मिलते हैं, इनमें कहीं एक जगह भी यह बात नहीं है कि हम जिस धर्मका वर्णन करते हैं वह केवल हिन्दुओंके लिए है। कहीं एक जगह भी यह बात नहीं है कि मुहम्मद ईसा जरथुस्तके समान किसी आचार्यने किसी समयमें यह धर्म चलाया है, ऐसा बिलकुल नहीं है।

वे आचार्यमूलक धर्म हैं और बौद्धोंका धर्म संघमूलक है। संघने यहाँ धर्म बनाया। न यह धर्म संघका बनाया हुआ है—न किसी आचार्यका बनाया हुआ है और न किसी खास विभागके लिए है। इसमें तो मनुष्यमात्रका ही नहीं, पशुधर्मका भी वर्णन है। कीट-धर्मका भी वर्णन है, पतङ्ग-धर्मका भी वर्णन है। पक्षी-धर्मका भी वर्णन है। हमारा परमेश्वर सबको धारण कर रहा है और सबमें धर्म है। अपनेको रोकनेकी शक्ति सबमें होती है। धर्म मानें रोकनेकी शक्ति। 'धारणात् धर्मः' जिसमें जो योग्यता है, उस योग्यताके विपरीत कर्ममें जब प्रवृत्ति होती है तब भीतर जो एक शक्ति है, वह हमको उस कामको करनेसे रोकती है, वह धृति है।

इसीलिए मनुने धर्मका वर्णन किया तो 'धृति'का नाम पहले लिया। धृति अर्थात् धारणा शक्ति हमारा धर्म है। ऐसा क्यों है? हमारे तो जड़ भी ईश्वर और चेतन भी ईश्वर। यही सनातन धर्मका रहस्यात्मक रूप है। यदि सब कुछ भगवान् न होता तो पत्थरमें भगवान्की पूजा नहीं की जा सकती। यदि सब भगवान् न होते तो पति परमेश्वर नहीं हो सकते थे। तब पत्नी जगज्जननी जगदम्बा नहीं हो सकती थी, तब पिता ईश्वर नहीं हो सकता था। तब गुरु ईश्वर नहीं हो सकता था। तब तुलसी और पीपल ईश्वर नहीं हो सकते थे।

अगर सब ईश्वर नहीं होते तो 'त्वया ततं विश्वमनन्तरूप' कैसे कहा जाता। विलायतसे जो धर्म सीखकर आते हैं उन्हें हमारे धर्म और ईश्वरका पता नहीं है। हम लोगोंको बेकार अनुपयोगी समझकर अलग कर दिया गया है। हमलोग पीछे फेंक दिये गये। हमलोग जो पीछे फेंक दिये गये तो हममें ईश्वर और धर्म सम्बन्धी जो बुद्धि थी वह भी फेंक दी गयी। 'त्वया ततं विश्वमनन्तरूप। यह सम्पूर्ण विश्व जैसे वस्त्रमें सूत—इस प्रकार सम्पूर्ण विश्वमें परमात्मा ही भरपूर है। देखो भगवान्का दर्शन करो।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥ 11.39

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

•

प्रवचन : 7

(25-11-82)

अम्ब त्वामनुसंदधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।

गीता अम्बा है। मराठीमें बोलते हैं गीताई। आई माने माँ? मैं तुम्हारा अनुसन्धान करता हूँ। माताका ध्यान कर रहा हूँ। यह माता वर्णमयी हैं। शब्दमयी माँ हैं। परावाक्। इसीसे श्रीकृष्णके मुख-कमलसे इसका अवतार हुआ।

नमःपुरस्तादथ पृष्ठतस्ते, नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥ 11.40

अर्जुन अपना विनय अपनी नम्रता भगवान्के सामने प्रकट कर रहे हैं। 'नमः पुरस्ताद्'—सामनेसे आपको नमस्कार करता हूँ। अथवा 'पुरः नमः स्ताद्' इसमें विसर्गका लोप हो गया है पुरस्ताद् आपके सामने नमस्कार करता हूँ। नमस्कार माने अहंता-ममता छोड़कर मैं आपकी शरणमें आया हूँ। नमनका अर्थ नम्र होना भी है और 'न मे इति नमः'—नमः शब्दका अर्थ 'मेरा कुछ नहीं—सब कुछ तेरा'। नचावे तो नाचो, बुलावे तो बोलो। 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'। भगवान्की कठपुतली बनकर नाचनेका नाम नमः है। 'उमा दारु जोषितकी नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं॥ विधि हरि संभु नचावन हारे।' यह अहम्-अहम्-अहम्, मम-मम-मम तो व्यर्थ हैं—'नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते'। सामनेसे नमस्कार है। पीछेसे नमस्कार है—'नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्वः' हे सर्वस्वरूप आपको सब ओरसे नमस्कार है।

आप अनन्तवीर्य हैं। आप ही अनन्तविक्रम हैं। और 'सर्वः' आप ही सब हैं। 'यतः सर्वं समाप्नोषि'। क्योंकि आप सबमें व्यापक हैं। सब क्यों हैं? क्योंकि सबमें व्याप्त हैं इसलिए सब हैं। इसको बदल भी दे सकते हैं—सबमें व्याप्त होनेसे सब हैं और सब होनेसे सबमें व्याप्त हैं। 'यतस्त्वं सर्वः अतः सर्वं समाप्नोषि—यतः सर्वं समाप्नोषि अतः सर्वोऽसि। इसको केवल साकारी भी नहीं समझते, केवल निराकारी भी नहीं समझते। हमारे सब आचार्योंके मतमें जो वैदिक हैं—शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क, बल्लभ सबके मतमें जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण परमात्मा है। अवान्तर भेद हैं—यह बात दूसरी है।

केवल सातवें आसमानमें रहकर परमेश्वर संसारका संचालन नहीं करता, इस जगत्के रूपमें रहकर जगत्का संचालन करता है। इसलिए हमारा ईश्वर मजहबी ईश्वर नहीं है। न आचार्यमूलक है, न संघमूलक है। न पुस्तकमूलक है—अमुक किताबमें लिखा हुआ है, इसलिए अमुक आचार्यने पहले कहा है, इसलिए अमुक संघने इसका निर्माण किया है, इसलिए वह ऐसा है, यह हम नहीं मानते—जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है वह। वही कुम्हारा, वही माटी। परिणामी है कि विवर्ती है—यह प्रश्न अवान्तर है। परन्तु 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः'। परमात्मा हमारा सर्वस्वरूप है।

सर्वस्वरूप परमात्मा है। यह जो आचार्योंके द्वारा चलाये हुए मजहब हैं उनमें नहीं होता है। आचार्योंके पहले भी धर्म था, ईश्वर था, पुस्तकोंके पहले भी धर्म था, ईश्वर था, संघोंके पहले भी धर्म था, ईश्वर था। बौद्धादिकोंने संघमूलक धर्मको स्वीकार किया। साम्प्रदायिकोंने आचार्यमूलक धर्मको स्वीकार किया। हम अपौरुषेय ज्ञान-मूलक धर्मको स्वीकार करते हैं और उसमें सब-का-सब परमात्मा है।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥

11.41-42

अब अर्जुनके मनमें आया कि मैंने श्रीकृष्णके साथ जैसा शिष्टानुशिष्ट व्यवहार करना चाहिए वैसा व्यवहार नहीं किया। ऐसे अप्रमेय साक्षात् परमेश्वरके साथ मैंने जो व्यवहार किये वे अनुचित थे। तो क्षमा माँगते हैं। 'सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तम्'। तुम मेरे सखा हो—'सहैव ख्यायते इति सखा', तुम्हारा हमारा नाम एक साथ लिया जाता है—श्रीकृष्णार्जुन, राम श्याम-श्रीकृष्ण-उद्धव, श्रीकृष्ण-सुदामा—जो दोका नाम एक साथ लिया जाता है तब उनको सखा बोलते हैं। लोक-व्यवहारमें—'सहैव खादति'से भी सखा बनता है। जो एक साथ खावें, एक साथ पीयें। वे सखा कहलाते हैं। देना-लेना, पूछना-बताना, खाना-खिलाना : यह प्रीतिका लक्षण है। सो हम लोगोंका साथ होता था। और उस समय हम अभिमानकारक शब्द तुम्हारे लिए प्रयुक्त कर लेते थे। शब्दोंका अर्जुनने उल्लेख किया है। 'हे कृष्ण, हे यादव, हे सखेति।'

सारस्वत व्याकरणके अनुसार तो 'सखे इति'। में 'सखेति' हो सकता है। यहाँ ए के स्थानपर अय होनेके बाद 'य' का लोप हो जानेपर भी सन्धि हो गयी। पर कोई-कोई—हे सखे अति ऐसा पदच्छेद करते हैं। हे सखे अति—हे अति सखे—हमारे सखा-सर्वस्व तुम, ऐसा कह करके मैंने तुम्हें सम्बोधन किया। अच्छा; इसमें यदि देखें तो कोई अपराध तो मालूम नहीं पड़ता। क्योंकि किसीका नाम लेकर पुकारना कोई अपराध हो गया? अर्जुनने कृष्ण कहकर पुकारा तो क्या अपराध हुआ?

अच्छा रामचन्द्रको 'हे राघव' कहकर पुकारें—तो कोई अपराध हो गया? और मित्रको मित्र कहकर पुकारें तो इसमें क्या अपराध होता है? उसके स्नेहका सूचक है। यह तो बड़े ही प्रेमका सूचक है। तुम हमको इतना प्रेम करते हो—मित्र कह दिया? यदुवंशी कह दिया? कृष्ण कह दिया—इसमें क्या अपराध हुआ? पर अर्जुनको मालूम पड़ता है कि मैंने अपराध किया। अपराधकी कोई बात तो होनी चाहिए। वह क्या है? वह यह कि कृष्णको कृष्ण कहकर जब अर्जुन पुकारते थे तब उनको यह ध्यान नहीं रहता था कि कृष्ण माने सच्चिदानन्दस्वरूप।

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः।
तयोरैक्यं परंब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥

तब उनको ख्याल होता था? कृष्ण माने काले। कृष्णवर्ण-वालेको ही कृष्ण कहते हैं।

किसी कालेको काला कहना, गूँगेको गूँगा कहना, लंगड़ेको लंगड़ा कहना यह तो अपराध है। अन्धेको अन्धा नहीं प्रज्ञाचक्षु कहकर बोलना चाहिए। आदरपूर्वक बोलना चाहिए। एकबार अप्सराओंकी सभा थी और शंकर, महाकाली दोनों उसमें गये थे। अप्सराएँ तो थीं गोरी-गोरी चमाचम चमकें, बिजलीकी तरह इधर-ऊधर फुदकें! उनके बीचमें शंकरजीने पुकारा—ओ काली! कालीजी बेहद नाराज हुई। यह पुराणकी कथा है। ये देवी लोग कब नाराज हो जायँ उसका पता नहीं है। कभी कारणसे रूठती हैं कभी बिना कारणके रूठ जाती हैं। वे बोली गोरी-गोरी अप्सराओंके बीचमें हमारा अपमान करनेको तुमने काली कहकर पुकारा है। महादेवजीने बहुत मनाया। नहीं मानीं। फिर बड़ी भारी तपस्याकी और काले शरीरको छोड़कर उसमें-से गोरी होकर निकलीं, तब गौरी हुई। दुर्गापाठमें भी इसका इशारा है।

कृष्णको अर्जुन सच्चिदानन्दघन ब्रह्म समझकर कृष्ण नहीं पुकारते थे। मित्रतामें 'काला' कहकर पुकारते थे। इसलिए कृष्ण कहना अपराध हो गया। अब रही बात यादवकी। राघव बोले तो रामचन्द्र प्रसन्न होते हैं। रघु हैं, राघव हैं, कौरव हैं—भारत हैं—भरतवंशी होनेसे पूर्वजोंका नाम है। बड़ा उत्तम है। अर्जुन जब यादव कहकर पुकारते थे तो उसमें एक व्यंग होता था। राजा यदुने अपने पिताकी आज्ञा नहीं मानी और राज्यसे वंचित हो गये। तो अर्जुन श्रीकृष्णको जब यादव कहकर पुकारते थे तो उसका अर्थ होता है राज्यच्युत—पिताकी आज्ञाका पालन जो नहीं करता था उसके वंशमें उत्पन्न होना अपराध हो गया! शब्द तो यही है पर भाव तो देखना पड़ता है!

हे सखे—जो अप्रमेय है, अच्युत है उसको सखा कहकर पुकारना—जिसको अभी ये बोलते हैं 'पितासि लोकस्य चराचरस्य। जिसको बोलते हैं 'वायुर्यमोऽग्निर्वरुण: शशांक:'। उसको ही सखा कहकर पुकारा तो अपराध हो गया! गीताप्रेसमें हम लोगोंका एक संकेत था। सामने-सामने बोल लेते थे। कल्याणके सम्पादन-विभागमें कोई आता था तो भाईजी यदि उस आदमीसे हमको सावधान रखना चाहते थे, तो उसका परिचय देते थे कि ये हमारे ही जैसे हैं। हम लोग समझ जाते थे कि ये क्या कह रहे हैं। ये हमारे जैसे हैं। यह तो भक्तोंकी वाणी हो गयी। इसमें बड़ी निन्दा वहाँ और कोई नहीं थी। ये सांकेतिक शब्द हैं—सखा बोलना—सखेति। इसमें बहुतसे हैं 'अजानता महिमानं तवेदम्'।

किसी-किसी पुस्तकमें 'इमम्' पाठ है और शांकरभाष्यमें 'इदम्' पाठ ही है। तो इसकी संगति लगाते हैं कि 'इदं विश्वरूपम्' यह जो विश्वरूप है, इसको न जानकर और तुम्हारी महिमाको न जानकर—यह विश्वरूप तुम्हारी महिमा है—यह बड़े रूपमें तुम ही अपनेको प्रकट कर रहे हो, यह हमको मालूम नहीं था—हमको ज्ञात नहीं था—इसलिए मैंने ऐसा कहा। 'अजानता महिमानं तवेदम्-मया प्रमादात्।' कभी प्रमादवश कह दिया और कभी प्रेमसे कह दिया। इसमें अजानता महिमानम्का सम्बन्ध जोड़ते हैं—कृष्णके साथ। आप साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमेश्वर हैं—आपकी यह महिमा मालूम नहीं थी। और प्रमादवश मैंने यादव कह दिया। और 'प्रणयेन सखा इति'—प्रणयसे मैंने सखा कहा। 'सखेति हे सखे इति'।

यथासंख्य अलंकारकी दृष्टिसे ऐसा फर्क करते हैं। 'अजानता—कृष्ण इति, प्रमादात्-यादव इति, प्रणयेन सखे इति।'

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि-विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥ 11.42

हँसी-हँसीमें मैंने तुम्हारा असत्कार किया। मैंने तुम्हारे लिए हँसी उड़ाने जैसे शब्द कहे। किसीको व्यंग्यसे कहें कि आप तो बड़े सच्चे हैं तो बड़े सच्चेका अर्थ वहाँ झूठा होता है। अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि। वाच्यमें-से जो ध्वनि निकलती है कि सच्चे हैं, उसका अत्यन्त तिरस्कार हो गया। बिलकुल झूठा अर्थ हो गया। हाँ-हाँ हम तुमको जानते हैं। माँने पूछा मिट्टी खायी; बोले नहीं खायी। कितने सच्चे हो तुम! गोपियोंने पूछा माखन चुराया? राम-राम, मैं नन्द बाबाका बेटा कभी माखनकी चोरी कर सकता हूँ? हम तो दूसरेके बनवाये हुए कुण्डमें भी नहाना पसन्द नहीं करते। दूसरेके खुदवाये हुए तालाबमें स्नान करना हो तो कम-से-कम दो मुट्ठी माटी निकालकर बाहर रखते हैं। हम तुम्हारे घरका माखन खायेंगे?

'तुम तो कितने सच्चे हो?' तुम्हारी हँसी उड़ानेके लिए मैंने ऐसी बातें कह दीं। असत्कार किया। और एक जगह नहीं—विहारके साथ, जब घूमनेके लिए जाते थे, उस समय भी, सोते समय भी, आसनपर बैठते समय भी, भोजन करते समय भी, प्रत्येक क्रियामें, हमलोग भूल ही जाते हैं। यह तो अर्जुनकी भावना है कि हम लोगोंके किए हुए असत्कारको भी वह अपना मानकर भगवान्से क्षमा माँग रहा है। हम चलते हैं—पौधोंको, फूलको, फलको रौंदते हुए—मचमच जूता पहनकर विश्वरूप भगवान्के ऊपर रौंदते हुए। सोते हैं तो भगवान्का स्मरण करके नहीं सोते हैं। उपनिषदोंकी दृष्टिसे जब हम सोने लगते हैं तब परमात्मासे एक हो जाते हैं।

सति संपद्य न विदु: सति संपद्यामहे। छान्दोग्य उप० 6.9.2

जब जीवात्मा सम्पूर्ण प्रपञ्चको छोड़कर इसको भूलकर अपने स्वरूपमें स्थित होता है तब वहाँ कोई परिच्छिन्नता नहीं रहती है। परन्तु अपरिच्छिन्नताका ज्ञान भी नहीं होता है कि मैं अपरिच्छिन्न है। सोते तो हैं परमात्मामें परन्तु उन्हें ज्ञान नहीं होता कि मैं परमात्मामें सोता हूँ। यदि यह स्मरण करके सोवें कि बस अब ऑफिस नहीं है, अब बाजार नहीं है। अब काम-धन्धा नहीं है। अब तो 'जिस सिरका है यह बाल उसी सिरमें जोड़ दो' अर्थात् जहाँसे मैं निकला हूँ अब उसी परमात्मामें शयन कर रहा हूँ। यह तो सत्कारकी बात हुई और जाते हैं परमात्मामें परन्तु अज्ञाननिद्रा बलात् ले जाकर ढकेल देती है। उसमें—यदि जान-बूझकर प्रवेश करें तो क्या पूछना है! वह जाग्रत और सुषुप्तिकी सन्धि परमात्मासे मिलन हो जायगी।

हम भोजन करते हैं। आप जानते हैं भोक्ता तो भगवान् ही हैं। चराचर सृष्टिका भोजन भगवान् करते हैं। 'अत्ता: चराचरग्रहणात्। (1.2.9)' इस ब्रह्मसूत्रमें बताया कि चराचर सृष्टिके भोक्ता भगवान् हैं। 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदन:....' (क० उप० 1.2.24)। ब्रह्मशक्ति प्रज्ञा और क्षत्रशक्ति प्राण ये प्रज्ञा और प्राण दोनों आत्माके साथी हैं—उपाधि हैं। प्राणके द्वारा बल यह अभिव्यक्ति होती है और प्रज्ञाके

द्वारा ज्ञानकी अभिव्यक्ति होती है—ये भगवान् प्राण और प्रज्ञा—ब्रह्म और क्षत्र दोनोंको एक साथ निगल लेते हैं।

जेमनके साथ तेमन भी चाहिए। जेमनवार—जीमना, भोजन। तेमन माने अचार-चटनी जो लगाते हैं। 'मृत्युर्यस्योपसेचनम्' (क० 1.2.24)—मौत तो भगवान्की चटनी है और प्रज्ञा और प्राण ब्रह्म और क्षत्र जिसके ओदन हैं, भात हैं। भगवान् कुछ बंगाली टाइपके होंगे। क्योंकि उनको भात पसन्द है। सारे भागवतमें रोटीका कहीं वर्णन ही नहीं है। जहाँ देखो वहाँ भात ही भात है। भात भगवान्को बहुत प्यारा है। भात—'भज्यते'से है। पहले तो ऊखलमें कुटता है—जब छिलका अलग होता है तो तमोगुण है—उसकी लाली रजोगुण है, उसका सात्त्विक शेष अंश है, वह प्रकट होता है और उसको फिर पानीमें पकाते हैं। फिर जब वह पके तो उसमें अभिमानकी कणिका नहीं होनी चाहिए। कण नहीं होना चाहिए। सब गल जाना चाहिए। मधुर होना चाहिए। उज्ज्वल होना चाहिए। तब संस्कृतमें उसका नाम होता है—भक्त। भात जिसको बोलते हैं। भगवान्को बहुत प्यारा है। बहुत प्यारा है। हमलोग भोजन करते हैं और भोजन करनेवाला भीतर बैठा हुआ है।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ गीता 15.14

जो चार प्रकारका अन्न हम भोजन करते हैं। चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेय सबको भगवान् खाते हैं पर हम खाते समय यह भूल जाते हैं कि हम भगवान्को खिला रहे हैं। हम तो स्वयं भोक्ता बन बैठते हैं। अपराध हो गया न! जो असली खानेवाला है उसको तो देखा ही नहीं, जो कहीं अपने हृदयमें-से जाता नहीं—हमेशा भोक्ता है, उस भोक्ताको तो भूल गये और अपने साक्षीपनेको, भूलें, हमारा काम है उस भोक्ताको देखना। खा रहा है भगवान्। भोजन कर रहा है भगवान्!

भोक्ता भोज्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।
श्वेताश्वतर 1.12

इस भोक्ताको भूल जाते हैं तो उसका तिरस्कार ही तो होता है न! हमारे घरमें बैठकर कोई खा रहा है उसको तो हम भूल गये और स्वयं खाने लगे। यह शिष्टाचारकी पद्धति तो नहीं है। इसमें अपराध है।

'एकोऽथवा'—कभी-कभी एकान्तमें जहाँ कोई नहीं होता था वहाँ भी मैं आपका तिरस्कार कर बैठता था। ऐसा वर्णन आता है कि कभी-कभी मस्तीमें अर्जुन अपना पाँव भी श्रीकृष्णकी गोदमें रख लेते थे। श्रीकृष्णने तो अपने महत्त्वके कारण अर्जुनके सारे अपराध सह लिये। अर्जुनके मुखसे यह बात प्रथम स्कन्धमें निकली है। अर्जुन क्या-क्या नहीं करते थे। श्रीकृष्णने कहाकि जो मैं सो अर्जुन 'सत्त्वमेकं द्विधा स्थितम्'। जो नर है सो नारायण है— जो नारायण है सो नर है। जो अर्जुन करता है सो मैं करता हूँ। जो मैं करता हूँ सो अर्जुन करता है।

भगवान्की तो इतनी दिव्य दृष्टि—व्यापक दृष्टि, पर अर्जुनकी समझमें यह बात नहीं आती थी। 'एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षम्। (11.42)। 'तत्समक्षम्' का अर्थ है कि पिताके सामने भी, मित्रोंके सामने भी।

पहले जिनका वर्णन किया सखा और पिता—उनके सामने कहा मैं तुम्हारा अपराध करता था। 'तत्क्षामये त्वामहम-प्रमेयम्'—मैं तुमसे क्षमा करवाता हूँ। आप क्षमा कर दीजिये। असलमें सहनशक्तिका नाम क्षमा है। निरपराधको क्षमा करनेका तो कोई प्रश्न ही नहीं है। जहाँ अपराधको क्षमा करते हैं—वहाँ क्षमा-क्षमा है।

एक जगह ऐसे वर्णन किया है। गोपियाँ फूल चुन रही हैं, वृन्दावनमें। श्रीकृष्णके सखा ग्वालबाल आये उन्होंने कहा हमारे सखाके उपवनमें तुम लोग पुष्प चयन कर रही हो? पशुपतिकी पूजा करनी है। तो गोपीने कहा 'यस्य चेते पशवः'—गौएँ जिनकी इतनी हैं वे क्या पशुपति नहीं हैं? हमारे कृष्णकी पूजा करो। गोपियोंने कहा यह क्यों नहीं कहते: 'यस्य वयमेते पशवः'—जिसके हम पशु हैं—उसकी पूजा करो। गोपोंने कहा—नहीं तुम अपराध करती हो। उन्होंने कहा कि हम अपराध नहीं करती हैं। अपराधी तो तुम हो—जिनके साथ राधा नहीं है, वे अपराध हैं; हम तो राधाके साथ हैं, हम अपराध कैसे हैं?

क्षामये—इसका अर्थ है कि हमसे जो अपराध हुआ है उसको आप क्षमा कीजिये। क्षमा करवाते हैं।

गीतामें शब्दोंका प्रयोग बड़ा विलक्षण है। एक सम्बोधन 'अच्युत' है और एक 'अप्रमेयम्' है। अच्युतका अर्थ है कि साधारण लोग जो हैं वे किसीका अपराध देखकर अपने स्वरूपसे च्युत हो जाते हैं। क्रोध कर बैठते हैं और आप तो अच्युत हैं। महाप्रलयमें भी अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होते हैं। बड़े-से-बड़े अपराधको देखकर भी आप स्वरूपसे च्युत नहीं होते हैं। आपका तो स्वभाव ही है अपराध क्षमा करना।

दूसरे आप अप्रमेय हैं। आप इतने ही नहीं हैं जितना हम आपको जानते हैं। 'अप्रमेयम्'। आपको कोई भी प्रमा, कोई भी प्रमाण अपना विषय नहीं बना सकता। सबसे परे हैं। दुनियामें जो भी मालूम पड़ता है वह किसी मालूम करनेवालेको, मालूम पड़नेवालेको पड़ता है। एक होता है 'ज्ञाता' और 'ज्ञेय'। वेत्तासि वेद्यं च। आप जानते हैं और आप जाने जाते हैं। गुरु नानक बोलते हैं—*'आपन खेल आप करि देखें, खेल संकोचे तब नानक लेखे'*। अपना खेल स्वयं देखता है। 'आपे अमृतका घड़ा है और वही पीनेवाला है। *'आपहि ढूँढ़े, आप ढुढ़ावे आपहि ढूँढ़नहारी'*। वही ढूँढ़ता है, वही ढूँढ़वाता है, वही ढूँढ़नेवाला है।

अब यह जो 'वेत्ता' और 'वेद्य' का, 'ज्ञाता' और 'ज्ञेय' का, 'प्रमाता' का और 'प्रमेय' का खेल हो रहा है, इसमें प्रमाता, प्रमेय, प्रमाणका विषय न होकर अपरोक्ष है। माने स्वर्गादिके समान परोक्ष नहीं है और घटादिके समान प्रत्यक्ष नहीं है। घटादिके समान वेद्य न होकर, साक्षात् अपरोक्ष है—अपना आपा ही है। वैसे क्षमाकी पद्धति यह है कि दूसरेसे कोई गलती हो जाये तो क्षमा करना चाहिए। अपनेसे कोई गलती हो जाय तो उसको क्षमा नहीं करना चाहिए। अपनी गलतीका दण्ड अपनेको देना चाहिए। क्षमाकी रीति यह है। यहाँ क्या है? भगवान्के स्वरूपके सिवाय और कोई है ही नहीं। भगवान् आँखोंसे दीखते नहीं है। प्रमाणकी नोकपर—किसी प्रमाणके आगे आते नहीं हैं। प्रमेय तो बाधित हो जाता है। और जो प्रमाता है उसका वास्तविक स्वरूप, प्रमातृत्वसे भी विलक्षण जो शुद्ध चैतन्य है आत्मा, वह साक्षात् ब्रह्म है। भागवतमें यही परिभाषा ब्रह्मकी है।

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज् ज्ञानमद्वयम्। 1.2.11

जिसमें ज्ञाता और ज्ञेयका भेद नहीं होता है, ऐसा अद्वितीय ज्ञान ही तत्त्व है—तो अप्रमेयका अर्थ है—'दृश्यत्वेन अप्रमेयत्व' जो दृश्य होगा वह प्रमेय अवश्य होगा। श्रुति—वेदमें परमात्माको अप्रमेय कहा, वह क्या है? वह अपनी आत्मासे अलग कभी नहीं होता। प्रत्यगात्माका नाम ही अप्रमेय है। यह प्रमाणकी कसौटीपर कसनेका नहीं है।

जो लोग विषयमें परमात्माको ढूँढ़ने गये, वे तो लेबोरेटरीमें चले गये। अब वहाँ वह अनुसंधान कर रहे हैं; पर यह ईश्वर बिलकुल कहीं नहीं मिलेगा। और जो लोग स्वर्ग-वैकुण्ठकी ओर ढूँढ़ने लगे वे परोक्षमें गये और अज्ञानान्धकारमें डूब गये। क्योंकि परोक्षताका कहीं भी अन्त नहीं है—अज्ञात ही अज्ञात है। और जिन्होंने अपने आपमें परमात्माको ढूँढ़ा उन्होंने साक्षात्—जिसके विनाशका कभी अनुभव नहीं हो सकता—'न कश्चित् सन्दिग्धे नाहमिति'—मैं नहीं हूँ यह अनुभव किसीको नहीं हो सकता और मैं अचेतन हूँ—यह अनुभव भी नहीं होगा। मैं अप्रिय हूँ यह अनुभव भी नहीं होगा। परिच्छिन्नता भी अदृश्य होती है। इसलिए मैं परिच्छिन्न हूँ, यह अनुभव भी कभी किसी किसीको नहीं होगा।

जिन लोगोंने यन्त्रसे, इन्द्रियोंसे परमात्माको ढूँढ़ा वे जड़वादी हो गये। और जिन लोगोंने श्रद्धासे परमात्माको ढूँढ़ा वे परोक्षवादी हो गये। और जिन्होंने बुद्धिसे परमात्माको ढूँढ़ा वे शून्यवादी हो गये। और जिन्होंने अपनेमें परमात्माको ढूँढ़ा उन्होंने साक्षात् अपरोक्ष परमात्माका दर्शन किया। अप्रमेय शब्दका यही अर्थ है।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव। 11.43

तुम चराचर लोकके पिता हो। यह ईश्वर चराचर लोकका पिता है। लोक माने दृश्य—जो हम दुनिया देखते हैं। जो देखा जाता है उसको कहते है लोक। उसमें दो तरहकी चीजें देखनेमें आती है। एक चलती-फिरती और एक स्थिर। जो स्थिर होती है उसको अचर बोलते हैं और जो चलती-फिरती होती है उसको चर बोलते हैं। पर परमात्माका जो वास्तविक रूप है उसमें चर-अचर दोनों परमात्मा है 'चरं चाचरमेव च'। गीतामें ब्रह्मतत्त्वका जहाँ निरूपण है, वहाँ चर और अचर दोनों ही परमात्मा हैं। वह तो हमको वासनाके कारण भेद करना पड़ता है। देखो कङ्गन भी सोना है, हार भी सोना है, कुण्डल भी सोना है, पर कानको सजानेकी वासना कुण्डलको कानमें ले जाती है और हाथको सजानेकी वासना कङ्गनको हाथमें ले आती है। और हृदयको सजानेकी वासना हारको हृदयपर ले आती है। सोना तो एक ही है—और जिसके मनमें सजानेकी वासना नहीं है, उसके लिए आकारका कोई भेद नहीं है।

एक परमेश्वर परिपूर्ण है। हम अपनी वासनाके अनुसार एक ही तत्त्वमें अनेक प्रकारके भेद बना लेते हैं। हमें धर्म सीखना है—'रामो विग्रहवान् धर्मः (अरण्यकाण्ड 37.13)। मूर्तिमान् धर्मका नाम है। कहाँ हमको सद्भाव सीखना है, कहाँ चिद्भाव सीखना है। यह जानना चाहिए। ज्ञान सीखना है तो कपिल सर्वस्व हैं। उनसे द्रष्टा-दृश्यका विवेक करके चेतनका स्वरूप समझ लो। यदि आनन्दभाव सीखना है तो हमारे नारदादि भक्तिके

आचार्य हैं, उनसे आनन्दभाव प्राप्त कर लो। सद्भावके लिए राम, चिद्भावके लिए कपिलादि और आनन्द भावके लिए नारदादि। ये सब भगवान्के अवतार हैं। तीनों भावोंको एक साथ देखना हो तो ये गीतावक्ता हैं! यह चरवाहा—जो गायोंका चरवाहा होता है—वही सच्चिदानन्द होता है। गाय माने—हमारी आँख दूसरे रास्ते चल रही है, कान दूसरे रास्ते चल रहे हैं, ये सब इन्द्रियाँ हैं 'गच्छन्ति'। ये सब चलती-फिरती रहती हैं। इन सबको एक सूत्रमें बाँधकर जो रखे वह संयमी, उनका चरवाहा होता है, गोप होता है। और उन गोपोंके सखा होते हैं वह परमेश्वर साक्षात् भगवान्, सच्चिदानन्दघन-यह ब्रह्म।

'त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्'। चराचरके लोगोंके पूज्य तुम्हीं हो। भीष्म पितामहने कहा—कि मैं पहचानता हूँ कृष्ण कि तुम कौन हो? युधिष्ठिरकी सभामें जब सहदेवने प्रस्ताव किया—सबसे पहले पूजा होनी चाहिए श्रीकृष्णकी! भीष्म पितामहने दोनों हाथ उठाकर-समर्थन किया कि—यह सारी दुनिया श्रीकृष्णके वशमें है। 'पूजनीय है। 'गुरुर्गरीयान्'। गुरुके भी गुरु हैं—सबको ज्ञान देनेवाले हैं। 'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' (योगसूत्र 1.26)। पिता भी वेदोंमें लिखा ही है इनको, 'त्वं नः पिता जनिता नो विधाता'। वही पिता है, वही गुरु है, शिक्षक है और वही हमारा पूज्य है।

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव। 11.43

इसके समान तो और कोई है ही नहीं। श्रुति स्पष्टरूपसे कहती है कि इसके सिवाय दूसरा कोई नहीं है। न कोई जनयिता है, न कोई पूज्य ही, न इनके समान कोई है तो अधिक तो होगा ही कहाँसे! निरतिशय और निरुत्तर शब्दका प्रयोग करते हैं। हिन्दीमें तो निरुत्तरका अर्थ लाजवाब हो जाता है न! लाजवाब नहीं। जिसके बाद कोई न हो। जिसके बाद कुछ बोलनेका, कुछ सोचनेका, कुछ जाननेका है ही नहीं, उसको निरुत्तर बोलते हैं। 'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव'। प्रभावकी प्रतिमा, उपमा, उपमान नहीं है—'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः (श्वेताश्व 4.15)। वेद भगवान् कहते हैं कि ईश्वरकी कोई प्रतिमा नहीं है। प्रतिमा माने प्रतिमान नहीं है। यदि कोई ईश्वरका मॉडेल बनाना चाहे कि ईश्वर है तो वह नहीं बना सकता—इसकी उपमा, उपमान कोई है ही नहीं। उसके प्रभाव अप्रतिम हैं। कोई उसके समान प्रभावशाली नहीं है। तीनों लोक भूर्भुवः स्वः होते हैं न! स्वर्ग-नरक-पाताल भी होता है—और सत्त्व, रज, तम भी होता है। और कार्य, कार्य-कारण और केवल कारण ये तीनों लोकमय हैं और इन तीनोंसे जो विलक्षण है, वह परमात्मा है।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युःप्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥ 11.44

'तस्मात् कार्यं प्रणिधाय-प्रणम्य च' अपने शरीरको संयत करके प्रणाम करता हूँ। यह नहीं चलने-चलते मार दिया घुटनेपर कि प्रणाम करता हूँ। चलते समय किसीको छूकर प्रणाम नहीं करना चाहिए। दूसरे हाथ जोड़ लो। चलते समय प्रणाम नहीं करना। सोते समय प्रणाम नहीं करना। ध्यान करते समय प्रणाम नहीं करना। कोई अन्यमनस्क हो उस समय प्रणाम नहीं करना। प्रणामका भी विधान है। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि

हम रास्तेमें चलते हैं तो घुटनेपर हाथ मारते हैं—नाखून—लग जाता है—और कहते हैं महाराज, कुछ चेतावनीकी बात सुना दीजिये। अब उनको क्या चेतावनी सुनावें—चेतावनी तो यही है कि हमारे घुटनेपर न मारें! फिर बोलते हैं कि महाराज, कुछ तत्त्वकी बात सुना दीजिये। अच्छा भाई, पाँच मिनट चलो मेरे साथ—अभी तो चल रहे हैं? तो कहेंगे कि नहीं-नहीं अभी तो दूकानपर जानेकी जल्दी है। अब उनको तत्त्वकी बात क्या सुनावें।

एक हाथसे प्रणाम करना भी भारतीय संस्कृतिमें नहीं है। दोनों हाथोंसे प्रणाम होता है। नमस्कार मुखसे भी बोलते हैं। हाथ जोड़कर भी प्रणाम करते हैं। सिर झुकाकर भी प्रणाम करनेके समय शरीरकी जैसी स्थिति होनी चाहिए—जैसे हम देखते हैं—चौराहेपर जो पुलिसवाले खड़े होते हैं, कभी जब साहबकी मोटरमें हम निकलते हैं तो फट अपना पाँव पीटकर तनकर खड़े हो जाते हैं। वह भी एक प्रणामकी पद्धति है। छाती तो तन गयी और बोलते है 'प्रणाम महाराज! ॐ नमो नारायणाय स्वामीजी—हे भगवान्! 'प्रणिधाय कायम्' का अर्थ है—जो अपना शरीर है, काय है, वह सर्वथा प्रणहित करके तब प्रणाम करना चाहिए। प्रणाम एक प्रकारसे भगवन्नामका उच्चारण है। नामके ही साथ प्र-उपसर्ग जुड़ गया तो प्रणाम बन गया। प्रणाम है भगवान्के सामने नमन। उसीकी जो प्रकृष्ट रीति है, उसको प्रणाम बोलते हैं।

हे ईश—जो सबका नियन्ता है। 'ईड' माने 'स्तुत्य' है। ईश और ईड्य दोनों वैदिक शब्द है। वेदप्रतिपाद्य जो परमेश्वर है, उसको स्तुत्य और ईश कहते हैं। मैं आपको प्रसन्न करता हूँ। 'प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्'। मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाइये। संस्कृत भाषामें प्रसन्न होनेका अर्थ है—निर्मल हो जाना। निर्मलता ईश्वरमें क्या है? ईश्वरमें निर्मलता यह है कि अपनेको छिपाकर बैठा देगा पर्दा ओढ़कर—अपने ढँक रखा है—हम उसको पहचान नहीं पाते हैं। 'प्रसादये' माने अब पर्दा हटा दो। हम तुम्हें पहचान लें कि तुम ही हो! 'आपमें आप छिपे पर्दा ढके बैठे हो। खूब जाना है कि अनजान बने बैठे हो।' 'प्रसादये' का अर्थ यह है कि हमने आपसे कपट किया, सो तो ठीक है। मैं अज्ञानी आपसे कपट करूँ तो इसमें आश्चर्य क्या? लेकिन आप इतने महान् होकर भी हमसे अपनेको छिपाते हैं। नहीं-नहीं—'प्रसादये त्वाम्' अब प्रकट कर दो अपनेको।

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम। 11.44

बहुत लोग तो कहते हैं कि यहाँ उपमा दो ही है—'पितेव-पुत्रस्य, सखेव सख्युः'। और 'प्रिया-प्रियायार्हसि'। शङ्कराचार्य आदि सब आचार्योंने तीन मानकर ही व्याख्या की है। यदि पुत्रसे कोई अपराध हो जाय तो पिता उसको क्षमा करता है। आप हमारे पिता सरीखे हैं अब न फुफेरे भाई और न ममेरे भाई, ऐसा सम्बन्ध नहीं है। तुम हमारे मामा वसुदेवके लड़के हो और मैं तुम्हारी बुआका पुत्र हूँ—ऐसे नहीं; अब तो 'पितेव पुत्रस्य'। जैसे पिता अपने पुत्रका अपराध क्षमा करता है। ऐसे आप हमारा अपराध क्षमा कर दीजिये।

'सखेव सख्युः'। जैसे एक सखा अपने सखाका अपराध क्षमा करता है, ऐसे क्षमा कर दीजिये। और

'प्रियः प्रियायाः' जैसे अपनी पत्नीका प्रिय पति, अपनी पत्नीका अपराध क्षमा करता है—सन्धि तो आर्ष है—'प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम'।

हमारे कई विद्वान् गीताके एक-एक शब्दको व्याकरण सम्मत बनाना चाहते हैं, वे कहते हैं इसमें 'प्रियायाः' क्यों जोड़ते हैं। ऐसे ही कह दो न 'प्रियः प्रियाय अर्हसि देव सोढुम्'। षष्ठीके अर्थमें चतुर्थी है, जैसे अपने प्रियके लिए। महाभारतमें ऐसे बहुत प्रयोग मिलते हैं कि जहाँ षष्ठीके अर्थमें चतुर्थीका प्रयोग होता है। मैं तुम्हारा प्रिय, तुम मेरे प्रिय। हम दोनों प्यारे-प्यारे, अब हमारा अपराध तो सहना तुम्हें उचित ही है।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ 11.45

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 8

(26-11-82)

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ 11.44.42

'तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायम्' शरीर भी संयममें होना चाहिए, प्रणिधाय कायम्। प्रणाम करे किसीकी ओर देखे किसीकी ओर—पाँव पटकता है तो यह अशिष्ट प्रणाम हो जायगा। 'कायं प्रणिधाय'। शरीरको पूर्ण रूपसे संयत करके। और प्रणम्य—अहंकारको आपके सामने झुकाकर—प्रणामका अर्थ होता है जिसको हम प्रणाम करते हैं उसको अपनेसे श्रेष्ठ मानते हैं। अपनी अपेक्षा दूसरेकी श्रेष्ठताका सूचक जो क्रियाकलाप है, उसको प्रणाम कहते हैं—अपने अपकर्षका ज्ञापक जो व्यापार है, वह प्रणाम है। कहीं-कहीं व्यंग्यसे बोले कि महाराज, आपको दूर हीसे प्रणाम है। वह दूसरी बात है।

प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।

आपको मैं प्रसन्न करना चाहता हूँ। प्रसन्न करना चाहता हूँ—माने मनाना चाहता हूँ। जब पत्नी रूठती हैं तो पति उसका प्रसादन करता है। प्रसादन माने—मान किया है, किसी कारणसे उसने अपना अपमान समझा है, उसको प्रसन्न करनेकी प्रक्रिया। क्यों प्रसन्न करना चाहते हैं? बोले ईशम्—ईड्यम्—ईड्यम् आप जगत्के नियन्ता हैं और ईड्य हैं माने स्तुत्य हैं। वेदोंमें आपकी स्तुति आती है और वेदोंमें, परमेश्वरके रूपमें आपका वर्णन आता है, ऐसे परमेश्वरके साथ मैंने धृष्टताका व्यवहार किया। इसलिए आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ। प्रसन्न करनेमें तीन बात कहीं है—कल मैंने दो-की व्याख्या की थी। आज तीनोंकी सुना देंगे।

'पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः—प्रियः प्रियाया इव हे देव सोढुम् अर्हसि।' तीन अपराध अर्जुनने अपने पहले बताये थे। 'अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वापि।' कुछ अपराध मैंने अज्ञानके कारण किये, कुछ प्रमादसे किये और कुछ प्रेमसे भी किये। अज्ञानसे जो प्रमाद किया, अपराध किया,उसके लिए 'पितेव पुत्रस्य'। जो सबका पालन करनेवाला है—सबका पिता—वह अपने पुत्रका अपराध क्षमा करता है। श्रीमद्भागवतमें इसके लिए एक बहुत उत्तम भाव प्रकट किया हुआ है—

उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे।
किमस्ति नास्ति व्यपदेशभूषितं तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः॥
10.14.12

ब्रह्माजी पिता, माता दोनों मान करके भगवान्से क्षमा प्रार्थना करते हैं। क्योंकि ब्रह्माजीने अपराध किया था और वहाँ भी अजानता महिमानं था। श्रीकृष्ण भगवान्की महिमाको न जानकर उन्होंने बछड़ोंकी

ओर ग्वालबालोंकी चोरी कर ली थी। वह अपराध था ही। कलके श्लोकोंमें पिताके रुपमें भगवान्का वर्णन किया और ये श्लोक जो मैं बोल रहा हूँ। इनमें माताके रुपमें वर्णन है। कहते हैं—

उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः।

जब माताके गर्भमें बच्चा रहता है तो अपने पाँव उछालता है उससे माँको चोट भी लगती है। लेकिन 'किं कल्पते.....'

हे इन्द्रियातीत प्रभो—आपको पाँव लगेगा कहाँसे 'अधोक्षजागसे।' कहते हैं कि कोई आसमानपर थूके तो थूकनेवाले पर ही गिरता है। सब जगत्के जो माता-पिता हैं उनके गर्भमें हैं—अनजानमें अपना पाँव पीटते हैं, उछालते हैं—जानते तो हैं नहीं कि हम माँके पेटमें हैं और माँको उससे चोट लगेगी। 'अजानता महिमानम्'। माता-पिताकी महिमाका ज्ञान नहीं है। इसलिए माता अपने बच्चेके पाँव पीटनेको कभी अपराध नहीं मानती है।

किमस्ति नास्ति व्यपदेशभूषितं तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः।

हम कहें कि परमात्मा है अस्ति और हम कहें कि परमात्मा नास्ति। चाहें हम हाँ बोलें कि ना बोलें—आपके पेटमें रहकर ही तो हाँ ना बोलते हैं—कि क्या आपके पेटके भीतर हमारा निवास नहीं है? हम जो कुछ बोलते हैं आपके पेटमें रहते हुए ही बोलते हैं। आपके पेटमें रहते हुए ही बोलते हैं। इसलिए माताके पेटमें रहनेवाले बच्चेकी क्रिया जैसे माताके लिए अपराध नहीं होती, वैसे हमारी जो क्रिया है, यह आपके लिए अपराध नहीं होगी। यह क्षमाकी भी एक प्रक्रिया है।

एक बात इस प्रसंगमें और भी ध्यान देनेकी है। बौद्ध और जैन पुनर्जन्म मानते हैं। वे ईश्वरको तो नहीं मानते पर ईश्वरको न माननेपर भी हम उनको आस्तिक मानते हैं। ये हमारे चार्वाक आदि हैं, जो पुनर्जन्मको नहीं मानते । वे नरक स्वर्ग भी नहीं मानते तो जो चार्वाक मतानुयायी हैं वे हिन्दू हैं कि नहीं! इस बातको छोड़ दें। हमारी जो नयी पीढ़ी आ रही है—वे चोटी नहीं रखेगी, जनेऊ नहीं पहनेगी, ईश्वरको नहीं मानेगी—भगवान् करें ऐसा न हो—और वह पुनर्जन्मको नहीं मानेगी। तब उनके हिन्दुत्वमें कहीं बाधा पड़ सकती है क्या? इसलिए जो लोग हिन्दुत्त्वको मजहबी रूप देना चाहते हैं—जैसे ईसाई एक मजहब है—इसी प्रकार हिन्दू भी एक मजहब है ऐसा मानकर हिन्दुत्वके साथ न्याय नहीं करते हैं। हमारा बच्चा चोटी नहीं रखेगा तब भी हिन्दू है, जनेऊ नहीं पहनेगा तब भी हिन्दू है। नरक-स्वर्ग नहीं मानेगा तब भी हिन्दू है। पुनर्जन्म नहीं मानेगा तब भी हिन्दू है। हम उसको हिन्दुत्वसे बहिष्कृत नहीं कर सकते। यह बात हम अभी आपको और स्पष्ट करेंगे।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। 11.53

कौन ऐसा मजहब है दुनियामें कि जो कह दे कि जो कुरान शरीफको न मानता हो वह मुसलमान है। जो बाइबिलको नहीं मानता हो वह ईसाई है। कौन कहेगा कि कुरानशरीफके हिसाबसे चलनेसे ईश्वर नहीं मिलेगा? बाइबिलके अनुसार चलनेसे ईश्वर नहीं मिलेगा? सब मजहबोंसे परे यह हमारी गीता है जो कहती है—'नाहं वेदैर्न तपसा'। तपसा, वेदका ज्ञान प्राप्त करो, यज्ञका ज्ञान प्राप्त करो—इससे ईश्वर नहीं मिलता अपने

मूल ग्रन्थको ही ऐसा बोलनेवाला कोई मजहब नहीं हो सकता। यह तो विश्वधर्म है—सम्पूर्ण प्राणियोंके लिए जो ईश्वरीय धर्म है उसका इसमें वर्णन है।

अजानता महिमानं तवेदम्।
पितेव पुत्रस्य यो नः पिता जनिता यो विधाता। ऋग्वेद 10.82.3

हम उसको जानें कि न जानें, मानें कि न मानें वह हमारा पिता है। हम अपने पिताको नहीं पहचानते, यह सही बात है परन्तु पिता तो हमको पहचानता है कि यह मेरा पुत्र है। उसके ज्ञानमें तो कोई अन्तर नहीं है। हम उसकी दयासे, कृपासे कभी वञ्चित नहीं हो सकते। हम चाहे खोटे हैं, चाहे खरे हैं, अच्छे हैं कि बुरे हैं। पिताकी प्रीति सबके ऊपर समान होती है। जैसे पिता पुत्रका अपराध क्षमा करता है, वैसे आप भी कीजिये, क्योंकि पुत्र अज्ञानी है।

'सखेव सख्युः'। मित्र मित्रके साथ प्रमाद करता है। दण्डवत् प्रणाम करनेकी तो कोई जरूरत ही नहीं है। कभी हाथ भी मिलाया या नहीं मिलाया। हाथ मिलानेकी प्रथा वैसे पुरानी है। वाल्मीकि रामायणमें हाथ मिलानेका वर्णन कई बार है। भागवतमें भी कई बार है। यह नहीं कि सब कुछ पश्चिमसे ही आया है, ऐसा नहीं सोचना चाहिए। सूर्योदय तो पूर्वमें ही होता है। ज्ञानका, सूर्यका उदय पूर्वमें होता है। पूर्व—यह सर्वनाम है। 'पूर्वस्मिन्' बोलते हैं—सब जगहोंका नाम पूर्व है। कहीं भी किसी भी जगहको आप पूर्व बोल दीजिये और वह पूरब हो जायगा। किसी भी जगहको पश्चिम बोल दीजिये, दक्षिण बोल दीजिये, उत्तर बोल दीजिये। सब जगह दक्षिण भी है। कोई भी जगह उत्तर है, कोई भी जगह पूर्व है। यह तो अपने मनमें ही पूर्व-पश्चिमका भेद है।

'सखेव सख्युः'—मित्रसे जब कोई प्रमाद होता है तब मित्र उसको क्षमा ही नहीं करता है, उसको मैत्रीका सूचक मानता है। देखो, हमको कितना अपना मानते हैं—हमारे लिए शिष्टाचारकी जरूरत नहीं है, उठनेकी जरूरत नहीं। हाथ जोड़नेकी जरूरत नहीं है। बड़े आदरसे श्रीमान् कहनेकी जरूरत नहीं है। मारवाड़ियोंमें कोई नामके साथ 'जी' लगावे तो वे मना कर देते हैं—नहीं-नहीं आप 'जी' नहीं बोलिये। ईश्वरके लिए भी 'नमो भगवते' नहीं बोला जाता है—आपको नमस्कार है ऐसे ईश्वरके लिए नहीं—तुम्हें नमस्कार है ऐसे बोला जाता है। 'नमस्ते—त्वां नमामि'। 'तुभ्यं नमः' इतना अपना है, इतना अपना है ईश्वर! अपना सखा है। और वह जीवके अपराधको तो कभी अपराध गिनता ही नहीं। प्रमादको भी अपराध नहीं मानता है।

तीसरी बात 'प्रणयेन वापि'—'अजानता पितेव पुत्रस्य'—'अजानता पुत्र इव' और 'प्रमादात् सख्युः सखा इव' और 'प्रणयेन प्रियायाः प्रिय इव'। प्रेमसे अपनी अनेक प्रकारकी बात कह देते हैं और वह अब प्रणयसे कहते हैं। प्रेमसे कहीं हुई बातको अपराध नहीं माना जाता। प्रेमसे की हुई क्रियाको अपराध नहीं माना जाता, इसलिए अर्जुन यहाँ 'प्रियः प्रियायाः इव' ऐसे बोलते हैं। तीन हेतु पहले बताये थे। प्रणय, प्रमाद और अज्ञान। तीनोंके लिए यहाँ तीन उपमाएँ दी गयी हैं। प्रियः प्रियायाः है कि देव सोढुम—'प्रियायाः इव'—एक

तो इवका अध्याहार करना पड़ेगा। बाहरसे लेना पड़ेगा और यह जो 'प्रियायाः' में सन्धि हो गयी है यह व्याकरणके अनुसार नहीं होनी चाहिए। ये जो हमारे व्यासके शब्दरत्न हैं वे पाणिनि-व्याकरणमें नहीं आते हैं। महाभारतमें ऐसे अनेक प्रयोग मिलते हैं जो पाणिनि-व्याकरणसे निराले हैं। हे देव, सहनेमें ही आपकी योग्यता है। और 'अर्हसि देव सोढुम्'-हे देव सोढुम् अर्हसि। आप सहनके योग्य हैं माने आपकी योग्यता यही है कि आप हमारे अपराधको सहन करें। आपका बड़प्पन इसीमें है कि हमसे अपराध बार-बार बनें और आप उसे बार-बार सहन करें।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ 11.45

बताते हैं कि 'पूर्वम् अदृष्टम्' अदृष्टपूर्वं पहले जो मैंने कभी नहीं देखा था, ऐसा आपका रूप देखकर एक ओर तो बड़ा हर्ष हुआ और दूसरी ओर 'भयेन च प्रव्यथितं मनो मे'। मेरे मनमें भयके कारण व्यथा भी आयी। माने हर्ष भी हुआ और व्यथा भी हुई। उसको 'भावशाबल्य' बोलते हैं। दो प्रकारके भाव एक साथ हर्ष भी और भय भी। ऐसा कब होता है? जब अपने सामने बहुत बड़ा पदार्थ आजाय तो उसको देखकर हर्ष भी होता है—अरे! इसको हम कैसे सँभाल सकेंगे, इसको हम सह सकेंगे कि नहीं सह सकेंगे? ऐसी दशा होती है। तब अर्जुन तुम चाहते क्या हो? हर्ष भी हो रहा है। दुःखी भी हो रहे हो और ठीक भी हो रहे हो।

तो अब मैं क्या करूँ? बोले—'तदेव मे दर्शय देवरूपम्'—हे देव, मुझे अपना वही रूप दिखाइये। जैसे हमेशा हमारे पास रहते हो, वैसे ही रहो। एक ओर विश्वरूप भी देख रहे हो। हृष्ट भी हो रहे। 'दर्शय देव रूपम्' हमको वही रूप दिखाइये। अच्छा मैंने आपको आज्ञा दी है कि वही रूप दिखाइये? यह भी एक प्रमाद हुआ—यह भी एक अपराध हुआ। 'प्रसीद देवेश जगन्निवास'—हे देवेश आप हमारे ऊपर प्रसन्न हो जाओ क्योंकि सम्पूर्ण जगत् आपका ही है।

भगवान्‌में ही राग है, भगवान्‌में ही वैराग्य है। भगवान्‌में ही ज्ञान है, भगवान्‌में ही अज्ञान है। भगवान्‌में ही धर्म है, भगवान्‌में ही अधर्म है—सनातन धर्मकी यह मान्यता है, स्वीकृति है। ये भगवान्‌के सिंहासनमें जो चार जोड़े आठ पाँव हैं—इसपर भगवान् बैठेंगे और भगवान्‌का शरीर है—ज्ञान, अज्ञान, सुख, दुःख, राग, वैराग्य। इसीलिए जो महात्मा लोग भगवान्‌को पहचान लेते हैं उनको कहीं विक्षेप ही नहीं होता। ये भी हैं, ये भी हैं जिन्होंने जीवन और मृत्युके रूपमें भगवान्‌को पहचान लिया। जो सत्ययुग और त्रेतायुग दोनोंके रूपमें भगवान् को पहचानेंगे और कलियुगके रूपमें नहीं, सिर पीटते उनकी जिन्दगी बीत जायगी।

यह बुरा, यह बुरा—आज ऐसा हो गया, कल ऐसा हो गया। रोते रहो जिन्दगी भर, क्या होगा? और सच पूछो तो तुम्हारे पिताजी भी तुम्हारे बारेमें ऐसा ही सोचते थे कि हमारा लड़का ऐसा हो गया। और उनके पिताजी भी अपने लड़केके बारेमें ऐसा ही सोचते थे कि आजकल ऐसा हो गया। अब उनकी उम्रमें जब पचीस वर्षका फर्क पड़ता है, उसको वो स्वीकार करनेको तैयार नहीं होते। सासका घूँघट एक हाथ लम्बा था, उसकी

बहूका घूँघट सिरपर आया और उसकी बहूका घूँघट कन्धेपर चला गया। और उसकी बहू जो है वह साड़ी पहनती ही नहीं, तो घूँघट कहाँसे आवेगा? सबने यही कहा कि अब कलियुग आगया।

ऐसे ही कलियुग-कलियुग कहते जिन्दगी बीत जाती है। जो है, भगवान्की ओरसे जो आ रहा है, उसको उन्मुक्त हृदयसे स्वीकार करते जाओ। भगवान्की रायमें राय मिलाओ। दुःख नामकी कोई चीज है ही नहीं। भगवान् जब देते हैं तो बहुत बढ़िया, जब लेते हैं तब बहुत बुरे? हमने यह दशा देखी है कि धरोहर भी किसीके पास रखते हैं, तो रखते समय उनको मालूम पड़ता है कि हमारा विश्वास करते हैं, हमारे पास रख रहे हैं—आनन्द होता है। और यदि अपनी ही धरोहर उसके सामने लेनेको जाये तो उसको तकलीफ होती है।

ईश्वरने जो वस्तु हमारे सामने रख दी, हमको दी—उसकी बड़ी कृपा और ले ली तो हमको जिम्मेदारीसे मुक्त कर दिया। प्रसन्न होना चाहिए। उसका देना भी ठीक, उसका लेना भी ठीक। ये जो अनुपयोगी चीज है, वह जायेगी। कुछ हमारे दादाने छोड़ा था। कुछ हमारे पिताजीने छोड़ा था। कुछ मैंने छोड़ा। कुछ बेटे छोड़ेंगे। कुछ उनके बेटे छोड़ेंगे। जो अनुपयोगी होगा, वह छूटता जायगा। उसके लिए रोनेकी कोई जरूरत नहीं है। ईश्वरकी ओरसे जो आवे सिर झुकाकर स्वीकार करते जाओ। सबके मूलमें है 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्'। देखो हम मजहबी बात नहीं, कर रहे हैं—अगर हमको भी किसी ऊँचे सिंहासनपर बैठा दिया जाता तो हम ऐसा नहीं बोलते। फिर तो बोलते नहीं—नहीं हमारा ही जो कानून है वही ठीक है। स्वयं नहीं मानते यह अलग बात है।

देखो, किसी-किसी आचार्यकी परम्परापर 123.24 तक मानते हैं कि इतनी पीढ़ीसे उनकी परम्परा चल रही है। लेकिन चार पीढ़ी पहले उस गद्दीपर बैठे हुए लोग जैसे रहते थे वैसे आजके कहाँ रहते हैं? तो स्वयं अपनी गद्दीकी परम्परा भी तोड़ते जाते हैं और दूसरोंको कोसते भी रहते हैं। भगवान् जो राय करे उसीमें आनन्द है। भगवान्की रायमें राय मिलाओ, पत्थरसे सिर मत टकराओ। कालकी गतिको कोई रोक नहीं सकता है। जगन्निवास—जगन्निवासका क्या अर्थ है? जगच्च जगच्च जगच्च जगन्ति, तेषां जगतां निवासः जगन्निवासः— कितनी दुनिया बदली, अबतक लेकिन वह तो वही है। परमात्मामें अन्तर नहीं पड़ा उसको हम पहचानते हैं; जब वह एक है तो बदलनेवाली चीजके लिए वह क्या है? यह तो सिनेमाका दृश्य है। आता है, जाता है।

'सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते'। इस समय आप हजार-हजार हाथसे हमारे सामने प्रकट हो रहे हैं। 'विश्वमूर्ते'—समस्त विश्व आपकी मूर्ति है। मूर्ति उसको कहते हैं जो अमूर्तसे मूर्त होती है। मूर्ति माने—जैसे एक पत्थर हमने देखा और मनमें आया कि इसको द्विभुज या चतुर्भुजके रूपमें बनावें। आँख बन्द करके इस पत्थरको देखा कि कहाँ-कहाँ काटनेसे इसमें चतुर्भुज निकल आवेगा? पहले पत्थरमें चतुर्भुज अमूर्त था। फिर हमारी कल्पनामें आया। फिर गढ़के हमने उसको प्रकट किया। ऐसे परमात्माकी जो मूर्ति है, वह अमूर्तकी मूर्ति है। अमूर्तको अभिव्यक्त करनेवाली जो प्रक्रिया है उसको मूर्ति बना देना; जैसा आजकल साहित्यमें

बोलते हैं—'अभिव्यक्ति देना'। जो अव्यक्त भाव था उसको अभिव्यक्ति दे दी ऐसे जो अमूर्त पदार्थ था, उसको मूर्ति दे दी। यह विश्व जो है वह भगवान्की मूर्ति है। आप विश्वमूर्ति हैं, आप सहस्रबाहु हैं। आपको उसी रूपमें देखना चाहता हूँ—जरा मन वहाँ बैठ गया है—आँखें लग गयी हैं।

किरीट तो अब भी बहुत है। अभी तो विश्व-रूपके सिरपर एक नहीं हजार किरीट हैं। मैं अब एक किरीट वाला देखना चाहता हूँ।

किरीट माने मुकुट। किरीटिनम्—माने जिसमेंसे किरणें निकलती हैं। जिससे रश्मियोंका उद्दीर्ण होना है उसका नाम होता है किरीट। किरीटिनं गदिनम्—गदा बोलती है। जब किसीको मारते हैं तब चटाचट, पटापट बोलती है—'गदति इति गदा।' चक्र जब किसीको लगता है तब आवाज नहीं होती और गदा जब किसीको लगती है तब खटसे आवाज होती है। इसलिए 'गदनं गदा'। आपको हम गदिनंके रूपमें देखना चाहते हैं—'गदिनं चक्रहस्तम्।' कालचक्र घूम रहा है हाथमें। सहस्रार—कालके हजारों अरे होते हैं। जैसे रथका पहिया होता है और उसमें आड़े-आड़े अरे लगे होते हैं, उसी प्रकार भगवान्के पास जो चक्र है उसमें सहस्र अरे हैं। उसको 'शतार' भी कहते हैं,'सहस्रार' भी कहते हैं। हमारा हाथ है यह पंचार है। इसके पाँच अरे हैं और इसको हम कितनी कलासे मोड़ सकते हैं कि भगवान् चक्र जब फेंकते हैं तब हजारों मोड़से मुड़के, शत्रुओंको मारके और फिर उनके हाथमें लौट आता है।

यह जो कालचक्र है, इसकी भी हजारों प्रकारकी गतियाँ है। यही बच्चा बनकर आता है यही जवान बनकर आता है। यही जीवन बनकर आता है, यही मृत्यु बनकर आता है। यह सब चक्रके अरे हैं। और इनमें मोड़ होते ही होते हैं। बिना मोड़के कालचक्र नहीं होता। ये चक्र जिसके हाथमें है, उसको हम कहते हैं भगवान्।

वैसे हाथ होता है हँसानेके लिए, 'हस्यतेति'। जिससे हम हँसे उसका नाम होता है। हस्त। इससे ऐसे काम करो, ऐसे काम करो कि तुम्हारे जीवनमें हँसी-खुशी बनी रहे। जीवनमें हँसी-खुशी बनाये रखनेके लिए ये हाथ हैं। कभी हाथ जोड़कर हँसाते हैं—कभी दिखाकर हँसाते हैं। यो करके भी हँसाते हैं—त्यों करके भी हँसाते हैं। यह हाथ तो हँसनेके लिए है। इसमें जितने मोड़ हैं यह सब हँसनेके लिए हैं। आज मैं आपको कोई गम्भीर बात नहीं सुना रहा हूँ। यदि आपके पास हाथ है तो आप निरन्तर हँसते रहेंगे। ऐसे-ऐसे काम कीजिये कि मजा-ही-मजा मजा ही-मजा आता जाय। जो छूटता जाय उस पर भी हँसिये, जो आता जाय उसमें भी हँसिये। बनता जाय उसमें भी हँसिये, जो बिगड़ता जाय उसमें भी हँसिये।

यह कालचक्र भगवान्के हाथमें है। 'चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव'। मैं तुमको वैसे ही मनुष्यके रूपमें देखना चाहता हूँ, सखाके रूपमें, मित्रके रूपमें, 'तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते। आप वही चतुर्भुज रूप धारण कीजिये—धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष—ये चारों पुरुषार्थ जिनकी भुजामें निवास करते हैं, वे चतुर्भुज! हमारे कोई भक्त बोलते हैं आप मनुष्य बोलते हैं—पुरुष बोलते हैं, और स्त्री क्यों नहीं बोलते? क्या स्त्री मनुष्य नहीं है? क्या स्त्रीमें पौरुष नहीं है? पुरुषत्व, जीवनत्व, मनुष्यत्व—स्त्री, पुरुष

दोनोंमें ही रहता है—जब ब्याह करते हैं तो पहले तो रहते हैं द्विभुज, फिर ब्याह होता है तो हो जाते हैं चतुर्भुज। लक्ष्मीनारायण, पतिके दो हाथ पत्नीके दो हाथ चतुर्भुज हो गये। और दोनों जब मन मिलाकर काम करते हैं तो जो काम नारायण कर सकते हैं वह वे कर सकते हैं। और यदि मन न मिले तो चतुष्पाद हो जाते हैं। चतुर्भुज नहीं चतुष्पाद हो जाते हैं—पशुके समान। मन मिलाकर काम करो तो नारायणवाला काम कर सकते हो। भगवान्‌का रूप चतुर्भुज है। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष—चारोंको देनेवाला है। वैसे ब्रह्मका वर्णन कभी चतुष्पादके रूपमें भी आता है, कभी चतुर्भुजके रूपमें भी आता है। माण्डूक्य-उपनिषद्‌में चतुष्पादके रूपमें वर्णन है। विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय—ये चतुष्पाद है।

वैष्णवोंमें चतुष्पाद दूसरी तरहका मानते हैं। एक पादमें संसारको मानते हैं और तीन पादमें परमात्माको—'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादोऽस्यामृतं दिवि' (ऋग्वेद 10.90.3)। और वेदान्ती तीन पादको प्रपञ्च मानते हैं और केवल एक पाद तुरीय पादको ब्रह्मसाक्षात् मानते हैं। इसका अर्थ है कि ब्रह्माण्ड काल नहीं है। वह उपासनाके लिए कालका अध्यारोप करते हैं—तत्त्वज्ञानके लिए पादका अध्यारोप करते हैं। जैसे जानवरके चार पाद होते हैं, ऐसे चार पाद भगवान्‌में नहीं है। जैसे एक रुपयेमें पहले चार चवन्नी हुआ करती थी—अब तो कितनी होती हैं, हमको मालूम नहीं—वह अलग-अलग नहीं होती है इसी प्रकार परमात्मामें चार पाद हैं। वह परमात्मा तो एक ही है। उसमें चार चवन्नियाँ नहीं हैं। इसमें चार भुजा नहीं है। पर उसमें जो-जो हम चाहते हैं, सब उसीमें भरा हुआ है। इसीलिए उसको हम चतुर्भुज कहते हैं। पर हमारे चैतन्य महाप्रभुके जो व्याख्याता हैं, उन्हें चतुर्भुजजी पसन्द नहीं है। वे कहते हैं—द्विभुज ही भगवान् हैं। रामचन्द्रके जो भक्त हैं वे भी द्विभुज कृष्णचन्द्रके जो भक्त हैं वे भी द्विभुज मानते हैं। माने अर्थ और काम उनके पुरुषार्थ नहीं हैं; उनके धर्म और मोक्ष ही पुरुषार्थ हैं। दो भुजा मानते हैं भगवान्‌में, चतुर्भुजेन' का अर्थ बदल दिया है। चैतन्य महाप्रभुके सम्प्रदायमें दो टीकाएँ तो स्पष्ट छपी हुई मिलती हैं बाजारमें—एक विश्वनाथ चक्रवर्तीकी और एक विद्याभूषणकी—'चतुर्भुज' का क्या अर्थ होगा। 'चतुर्भुजानां देवानाम् इनः श्रेष्ठः, तत्सम्बोधने चतुर्भुजेन'—चतुर्भुजों (अर्थात् देवों) में श्रेष्ठ= चतुर्भुजेन।

अर्जुनने कहा—हे चतुर्भुजोंमें श्रेष्ठ! आप अपना वही रूप दिखाइये। भगवान्‌की वाणी है—अर्जुन, मैंने जो तुमको यह रूपका दर्शन कराया—यह प्रसन्न होकर कराया है।

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥ 11.47
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ 11.48
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥ 11.49

अर्जुन, मैंने तुम्हें जो विश्वरूपका दर्शन कराया है यह प्रसन्न होकर कराया है। प्रसन्न होकर माने जो

व्यक्तित्वका पर्दा मैंने ओढ़ रखा था, उसको थोड़ी देरके लिए हटा दिया। मैंने खोल पहन रखी थी व्यक्तित्वकी—जैसे मनुष्य साढ़े तीन हाथके होते हैं—उतने साढ़े तीन हाथके बड़े श्रीकृष्णके रूपमें यह मैंने तुम लोगोंके साथ मिल-जुलकर रहनेके लिए एक पोशाक पहन रखी थी। भलेमानुष लोग जिस देशमें जाते हैं वहाँकी वेशभूषा धारण करके उन लोगोंमें मिल जाते हैं। हम तुम्हारे साथ रहते हैं तो तुम्हारे जैसी वेशभूषा धारण करके रहते हैं। और जब तुम्हें दिखाना हुआ कि जीवन क्या है और मृत्यु क्या है? और शत्रु क्या है और मित्र क्या है? जब यह तुम्हें साफ-साफ दिखाना हुआ तब मैं प्रसन्न हुआ और प्रसन्न होकर तुम्हें दिखा दिया माने प्रसन्नतामें पर्दा नहीं रहता है।

हम जिसके ऊपर प्रसन्न होते हैं कि यह मेरा प्यारा है—अपने प्यारेके सामने कोई पर्दा नहीं रहता। बच्चेको माँ दूध पिलाती है तब पर्दा नहीं करती है। पति-पत्नी एक साथ रहते हैं। तब उनके बीचमें पर्दा नहीं रहता। मित्र-मित्रमें पर्दा नहीं है। यह जो आवरण है, यह तो झूठे ही जो लोग अपनेको कट्टर कहते हैं—जिनको न तो रसास्वादनकी प्रक्रिया मालूम है और न सत्यके साक्षात्कारका पता है, वे ही ऐसे ही रहना ऐसे ही रहनाकी धारणामें फँस गये हैं।

प्रसाद क्या है? 'प्रसादस्तु प्रसन्नता'—प्रसाद है यह अर्जुनके प्रति भगवान्‌का। प्रसाद क्या हुआ? विश्वके रूपमें साक्षात् भगवान् है। सुख-दुःखसे ऊपर उठ गये हैं। दोनों भगवान्, राग-द्वेषसे ऊपर उठ गये। धर्म-अधर्मसे ऊपर उठ गये, दोनों भगवान्! ज्ञान-अज्ञानसे ऊपर उठ गये—दोनों भगवान्। अरे भाई जब हम सोते हैं तो हम ही रहते हैं कि दूसरे हो जाते हैं। तो उस समय अज्ञान हम होते हैं कि नहीं होते। सोते हैं तब सो जानेपर हम तो हम ही रहते हैं न!

सोते समयका जो अज्ञान है, वह कौन है? हम हैं और अपना बनाके देखते हैं वह बनानेवाला कौन हैं? हम ही तो हैं और उसको मिटानेवाला कौन है? हम ही तो हैं। जागकर हम किसीसे राग द्वेष करते है, किसीसे मित्रता करते हैं—किसीसे शत्रुता करते हैं तो हम ही तो हैं न! जब सुखी होते हैं तब भी हम ही होते हैं, दुःखी होते हैं तब भी हम ही होते हैं। यह सुख-दुःख, राग-द्वेष आते-जाते रहते हैं—धर्म-अधर्म आते-जाते रहते हैं।

कोई कितना भी धर्मात्मा होनेकी डींग हाँके तो दूसरेको समझा सकता है कि हम अखण्ड धर्मात्मा हैं। लेकिन जब वह अपनी ओर देखेगा तब उसको मालूम पड़ेगा कि वह लोगोंको धोखेमें डालता है कि स्वयं धोखेमें है। सभीके जीवनमें धर्म-अधर्म दोनों ही होते हैं। कोई नितान्त दूधका धुला हुआ नहीं होता है और न कोई गन्दगीमें पला हुआ होता है। यह जीवनका एक सत्य है और इसको स्वीकार किये बिना कोई सुख-दुःखमें समान नहीं रह सकता। इस सत्यका साक्षात्कार तो जीवनमें करना ही पड़ेगा।

यह मैंने कैसे दिखाया? 'आत्मयोगात्'—जब मैं अपनेको एक देह मानता हूँ तो एक देह हूँ और जब मैं अपनेको सम्पूर्ण विश्व मानता हूँ तो सम्पूर्ण विश्व हूँ। मैंने यहाँ कई बार सुनाया—एक ब्राह्मणको हिन्दू होनेमें कौन-सी प्रक्रिया करनी पड़ेगी? क्या साधन करेगा तो एक ब्राह्मण हिन्दू हो जायगा? ब्राह्मण तो एक छोटा-सा

वर्ण है, और हिन्दू तो बहुत बड़ा समाज है। हिन्दू जाति नहीं है। हिन्दू वर्ण भी नहीं है—हिन्दू मजहब भी नहीं है। हिन्दू तो समाज है—मानव-समाज है।

अच्छा, एक हिन्दूको मनुष्य होनेमें कौन-सी साधना करनी पड़ेगी कौन-सी पूजा, जप, तप, प्रायश्चित करेगा तब वह मनुष्य होगा? अरे वह मनुष्य तो पहले से है, बादमें अपनेको हिन्दू, अपनेको संन्यासी मान लिया। संन्यासी तो पैदा हुआ ही था। बादमें अपनेको गृहस्थ मान लिया। प्रत्येक व्यक्ति संन्यासीके रूपमें ही पैदा होता है। समझो तब मालूम पड़ेगा। जब पैदा होता है तब न माँ, न बापकी पहचान है न जातिकी पहचान है—न चोटी है, न जनेऊ है, न भाषा है, न अपना है, न पराया है। प्रत्येक व्यक्ति संन्यासीके रूपमें पैदा होता है।

इसीसे जानेकी भी मुख्य प्रक्रिया कही है। जाते समय जैसा आया था, वैसा ही जाय। एक संन्यासीको हिन्दू होनेमें, एक हिंन्दूको मनुष्य होनेमें और मनुष्यको जीव होनेमें, जीवको ईश्वर होनेमें, ईश्वरको ब्रह्म होनेमें—किसी साधनाकी जरूरत नहीं पड़ती; वह तो एक सत्य है; उसको समझना पड़ता है—'आत्मयोगात् दर्शितम्'—अपने आपको जहाँ जोड़ दिया, मनुष्य वही बन जाता है।

पहले कोई गृहस्थकी निन्दा करता था तब बुरा लगता था। अब संन्यासीकी निन्दा करता है तो बुरा लगता है। पहले हिन्दूकी निन्दा करता था तो बुरा लगता था। अब मनुष्यकी निन्दा करता है तो बुरा लगता है। अब ईश्वरकी निन्दा करते हैं तो बुरा लगता है। अरे बाबा सब वही है। निन्दा करनेवाला भी वही है और जिसकी निन्दाकी जाती है वह भी वही है। दोनोंमें किसी प्रकारका फर्क नहीं है। यह तो 'आत्मयोग' है।

आपने अपनेको कहाँ जोड़ दिया? पहले हम सारा भारतवर्ष मानते थे। पहले महाभारतमें जिस भारतका वर्णन है उसमें रूस और दर्रे बानियार और कम्बोज, आर्यायन माने ईरान ये सब थे। पहले हम ही भारतवर्षके अन्तर्गत मानते थे। श्रीलंकाको तो थोड़े दिन पहले भारत मानते थे, बर्माको हमारे युवा कालमें भारत मानते थे। हमारे जीवनकालमें कराँची, लाहौर, ढाका भारत था।

हम अपनेको छोटा करते गये और वे पराये होते गये। आत्मयोग ही इसमें है। जहाँ आत्मीयता होगी वहाँ हम है। सम्पूर्ण विश्वमें आत्मीयता होगी तो हम सम्पूर्ण विश्व हैं। और साक्षात् परब्रह्म परमात्मामें आत्मयोग होगा तो हम साक्षात् परब्रह्म परमात्मा है। अपने जुड़नेकी ही बात है। श्रीकृष्णने अर्जुनके साथ अपनेको जोड़कर दिखा दिया कि मैं सम्पूर्ण विश्व हूँ।

'दर्शितम् आत्मयोगात् तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्। मैंने जो अपना तेजोमय, अनन्त, आद्य विश्वरूप दिखाया है, यह तुम्हारे सिवाय दूसरे किसीने कभी नहीं देखा था। दूसरेने देखा भी था तो भीष्म, द्रोण, जयद्रथको, कर्णको मरते हुए नहीं देखा था। सबसे विलक्षण हुआ। न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैः—मार दिया ग्वालेने—ऐसा ऐसा बमगोला फेंका महाराज!

हमारे वेदान्तियोंमें चर्चा चलती है तब ऐसे ही बोलते हैं कि भाई, यह जो तुमने बात कही है, यह तो बमगोला है।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ 11.48

यह मत समझना कि सब काटते ही काटते है आगे है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥ 11.54

साफ बता दिया, इसके लिए चाहिए अनन्यभक्ति। अनन्यभक्तिसे भगवान्का ऐसा दर्शन होता है। अनन्यभक्ति माने जिसमें भगवान्के सिवाय दूसरा कोई न हो। ऐसी भक्ति चाहिए बाबा, भगवान्को काटो मत। इतना भगवान् और इतना भगवान् नहीं। अन्यतासे रहित भगवान्—जिस भगवान्के सिवाय दूसरा कोई नहीं। जिस भक्तके हृदयमें वह भगवान् आगया वह देख सकता है। और कहो कि आधा-तिहाई करते रहेंगे—ये तो भगवान्को भी टुकड़े-टुकड़े करके देखना चाहते हैं। हिन्दुस्तान, पाकिस्तानका टुकड़ा क्यों किया, टुकड़े-टुकड़े करनेवालोंको ऐसा शौक होता है। भाई-भाईमें बँटवारा होता है तो एकके खेतमें, बीचमें मेंढ़ पड़ जाती है।

हरिद्वारके पास ज्वालापुरमें एक मन्दिर है। बड़ा भारी हनुमानजीका विशाल मन्दिर और उसका विशाल प्रांगण था। जब दो गुरुभाइयोंने आपसमें झगड़ा किया तो ठीक हनुमानजीके बीचमें दीवाल खींच दी गयी। एक ओरका आँगन एकको गया। दूसरे ओरका आँगन दूसरेको गया—हनुमानजी बेचारे टुकुर-टुकुर देखते ही रह गये—खड़े ही रहे! उनके देखते-देखते उनका आँगन बँट गया। यह ईश्वरके बारेमें बँटवारा ठीक नहीं है।

'न वेदैर्नयज्ञाध्ययनैर्नदानैः'—कहो कि हम क्या कर लेंगे? वेद पढ़ेंगे—यज्ञ करेंगे। वेद पढ़कर जो वेदका यज्ञ नहीं जानता है वह केवल भारवाही है। जैसे ऊँटपर दो-चार मन पुस्तकें लाद दी जायँ तो वह केवल पुस्तकोंका बोझ ही ढोता है। उन पुस्तकोंमें क्या लिखा है वह नहीं जानता 'दर्वी पाकरसं यथा'। कलछीसे बढ़िया-बढ़िया भोजन बनता है और कलछी उसमें घूमती है। जैसे उसको स्वाद नहीं आता!

वैसे ही बड़े-बड़े वेद पढ़ते हैं—यज्ञोंके बारेमें जानकारी रखते हैं। बड़े-बड़े दान करते हैं, बड़े-बड़े कर्म करते हैं, बड़ी उग्र तपस्या करते हैं, सब कुछ करते हैं, पर यह नहीं जानते हैं कौन करा रहा है, यह नहीं जानते हैं किसके लिए कर रहे हैं, यह नहीं जानते हैं, क्या कर रहे हैं। 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः। (कठ० उप०1.2.5) जैसे एक अन्धेके पीछे दूसरा अन्धा चलता है। इस प्रकार—एक भेड़के पीछे दूसरी भेंड़, समझने का तो प्रयास ही नहीं करते हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

•

प्रवचन : 9

(27-11-82)

अम्ब त्वाम् अनुसंदधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।

भगवान्ने अर्जुनसे कहाकि मैंने प्रसन्न होकर इस परमरूपका दर्शन तुम्हें कराया है। और कैसे कराया उसकी युक्ति भी बता दी। 'आत्मयोगात्' अपने आपको विश्वरूपके साथ जोड़कर आत्माका योग कर दिया कि मैं विश्वरूप हूँ। विश्वरूप हो गये। जैसे आप अपनेको अग्रवालसे जोड़ लें तो अग्रवाल और पूरे राजस्थानसे जोड़ लें तो पूरे राजस्थानी और भारतसे जोड़ लें तो भारतीय। एक ब्राह्मण अपने ब्रह्मणत्वका अभिमान करे तो ब्राह्मण और हिन्दुत्वका अभिमान करे तो हिन्दू।

पहले इस विषयपर बहुत चर्चा हो चुकी है विद्वानोंकी। इन्दौरके महाराजने एक विदेशी स्त्रीसे विवाह किया और शङ्कराचार्यने उसकी शुद्धि करवायी थी। उसका नाम शर्मिष्ठा रखा गया था। अभी 2-4 बरस पहले तक थीं वे। पण्डितोंने उसका विरोध किया। तब शङ्कराचार्यने यह प्रश्न उठाया कि हिन्दू कौन है? 'किं नाम हिन्दुत्वम्'। हिन्दू किसको कहते हैं। चोटी-वाला? शङ्कराचार्यने बता दिया कि हमारे तो चोटी नहीं है—हमको हिन्दू मानते हो कि नहीं! जनेऊवाला? हमारे जनेऊ भी नहीं है। अच्छा तो पुनर्जन्म माने सो? हमारे चार्वाक हैं ये लोकयतवादी है उनको हिन्दू मानोगे कि नहीं? ईश्वरको माने सो? बौद्धको हिन्दू मानोगे कि नहीं? एक बात नहीं कही कि जिसकी भारतमें जन्म-भूमि हो वह हिन्दू? बोले कि जो विदेशी यहाँ आकर जन्म लेते हैं, वे हिन्दू है कि नहीं? अब मैं आपको कहाँ तक सुनाऊँ—इसकी कई कक्षाएँ हैं। सावरकरने भी जो परिभाषाकी वह यही थी कि हिन्दू वह है भारत जिसकी जन्मभूमि और पितृभूमि हो। विदेशी हों, जो दो-तीन-चार पीढ़ीसे यहीं हों—उनकी जन्मभूमि है। मुसलमान भी यहाँ दस-दस पीढ़ीसे रहते हैं—उनको हिन्दू मानोगे कि नहीं?

विद्वानोंके विचारसे यह बात निकलती है कि जो अपनेको हिन्दू माने सो हिन्दू। भगवान् जब अपनेको द्विभुज मानते हैं तब द्विभुज, अपनेको चतुर्भुज मानते हैं तो चतुर्भुज, अपनेको विश्वरूप मानते हैं तो विश्वरूप। हमारे मनमें संन्यासीपनेकी संविद् कभी नहीं हुई। संन्यासी होनेके पहले ही ब्रह्मसंविद्का जागरण हो गया था। उसमें-से कहाँ संन्यासी, कहाँ गृहस्थ, कहाँ भारतीय, कहाँ अभारतीय—इसलिए मानवताका पक्ष अपने चित्तमें प्रारम्भसे ही अधिक रहा, किसी घेरेमें बँधे नहीं।

तो यह भगवान्का विश्वरूप क्या है? आत्माका विश्वके साथ योग है। और उसीके द्वारा भगवान्ने अर्जुनको विश्वरूपका दर्शन कराया। सत्य-संकल्प हैं प्रभु और यह विश्व तो तेजोमय है, ज्योतिर्मय है। जैसे आगमें-से लपट निकलती है, उसको हमलोग देखते हैं कि दाहिने जाती हैं कि बाँये जाती हैं, पीली है कि सफेद है और उसमें जो लपटें निकलती हैं, उनसे गाय बनती है कि घोड़ा बनता है कि हाथी बनता है? उसके लक्षण लिखे हैं शास्त्रमें। तेजोमय रूप है। भगवान् सबके रूपमें प्रकट हैं। और इसको कोई गिनना चाहे, तौलना चाहे, कोई घेरा बनाना चाहे तो नहीं बना सकता।

श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा कि तुम्हारे सिवा इसको पहले किसीने नहीं देखा। असलमें पति भी एक संविद् है—एक ज्ञान है—यह मेरा पति है। पत्नी भी एक ज्ञान है—मेरी यह पत्नी है। इसको संविद् बोलते हैं। संविद् माने ज्ञान। यह संविद् है, यह ज्ञान है। महात्मा भी ऐसा साधन करते हैं—मैं शरीर नहीं हूँ, पृथिवी हूँ, मैं जल हूँ, मैं अग्नि हूँ, मैं वायु हूँ—आकृतिमें, आकारमें अपनेको बाँधकर तत्त्वसे इसको मिलाते हैं। मैं वायु, मैं आकाश हूँ—इसको पञ्चभूतोंकी धारणा बोलते हैं। योगवासिष्ठमें तो बड़े विस्तारसे है। हमारे भी 'भक्ति सर्वस्व' नामक ग्रन्थमें बहुत करके पञ्चभूतोंकी धारणाका उल्लेख है।

मनुष्यकी धारणा शरीरमें अहंभाव अधिक होनेसे सच्ची नहीं होती है। और भगवान्को तो शरीरमें अहंभाव है ही नहीं—वह तो चाहे जहाँ जो-भी हो—ऐसा सोच लेते हैं। मैं सूअर हूँ, मैं मछली हूँ—ऐसे भगवान् सोच लेते हैं। और फिर वह सच्ची निकलती है, वह उनका ज्ञान है। और ऐसा ठीक ज्ञान है कि सबको वैसा दिखायी देने लगता है। यह जो मजहब बनते हैं, जैसे—जैन और बौद्धोंका जो मजहब बना वह मजहब है—वह संघके द्वारा बनाया गया। एक सोसाइटी बन गयी—वह न महाबीर स्वामीने बनायी, न ऋषभदेवने बनायी, न बुद्धने। और इन लोगोंने किसी संघकी कल्पना नहीं की थी। बादके लोगोंने बनायी। और जैसे ईसा, मुहम्मदसे धर्म बनते हैं तो आचार्यमूलक होते हैं। सिक्खोंका धर्म पहले तो आचार्यमूलक था बादमें ग्रन्थमूलक हो गया।

पर जिसको हमलोग वैदिक धर्म कहते हैं वह ग्रन्थमूलक, पुस्तकमूलक नहीं है। वह ज्ञानमूलक है—कुछ मन्त्रोंके समूहको 'वेद' नहीं कहते हैं। विद्याको वेद कहते हैं। वह हृदयमें रहती है। बल्कि शङ्कराचार्यने तो 'वेद' का विलक्षण अर्थ किया है—वह 'तैत्तिरीय उपनिषद्के—'तस्य यजुरेव शिरः' (2.3.1)इस मन्त्रके भाष्य में देखें। वे कहते हैं—'मनोवृत्त्युपाधिपरिच्छिन्न मनोवृत्ति-निष्ठम् आत्मचैतन्यमनादिनिधनं यजुः शब्दवाच्यम् आत्मविज्ञानं मन्त्रा इति'—अर्थात् आत्मा ही वेद है। और 'अन्यथा विषयत्वे रूपादिवद् अनित्यत्वं च'—यदि आत्मासे अन्य होगा 'वेद' नामका कोई ग्रन्थ तो वह अनित्य होगा। उसमें नित्यता होगी ही नहीं। आत्मब्रह्मचैतन्यके सिवाय और कुछ नित्य हो ही नहीं सकता। आत्म-चैतन्यके अतिरिक्त ईश्वर भी होगा तो वह अनित्य हो जायगा।

कभी आवेगा, कभी जावेगा, कभी मालूम पड़ेगा, कभी नहीं मालूम पड़ेगा। आत्मचैतन्य ही अखण्ड वेदस्वरूप जो है, यही ईश्वर है, यही वेद है—तैत्तिरीय उपनिषद्के भाष्यमें आप देखें। यह बात इसलिए कही कि एक तो किसी मजहबमें विश्व परमात्मा रूप नहीं है। मजहबी लोग ऐसा बोलनेका साहस नहीं कर सकते। इसमें जो हमारे आचार्यको मानता है सो भी, नहीं मानता है सो भी, जो किताबी है सो भी, जो गैर किताबी है सो भी—सब परमात्माका स्वरूप है। वे तो कहते हैं हमारे आचार्यको नहीं मानेगा वह कुफ्र है—दोजखमें जायेगा। इसलिए हमारा धर्म मजहब नहीं है—ज्ञान है। इसमें पोथीपर भी आश्रय नहीं है।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवं रूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥

अक्षर ज्ञान होता है और यज्ञका अनुष्ठान होता है और दोनोंके बारेमें जानकारी प्राप्त की जाती है। वेदका अक्षर ज्ञान तो हो जाय पर उसका अनुष्ठान न होवे तो वह वेदका बोझ हो जाता है। उसको हमलोग केवल इसी दृष्टिसे अच्छा मानते हैं कि चलो वेदोंकी रक्षा तो होती रहेगी। लोगोंको कण्ठस्थ रहेगा, लोग पढ़ेंगे। और यदि चारों वेद पढ़ लेनेपर यज्ञ करना न आवे और कराना न आवे तो अनुष्ठानके बिना वेद सफल कैसे होंगे? वेद पढ़े और उसमें जो यज्ञ करानेको कहे गये हैं उन्हें कराना आवे, श्रौतसूत्र आदिका भी अध्ययन करे।

धर्मसूत्र, गृह्यसूत्रमें अपने घरमें कैसे खाना, कैसे पीना, कैसे रहना—ऐसी बातें बतायी गयी हैं। देखो जो लोग वस्तुग्राही हैं—क्रियाको और द्रव्यको बहुत महत्त्व देते हैं—उनके कामकी एक बात सुनाते हैं। मुँह धोते समय, कुल्ला करते समय—वैसे तो मुँह साफ हो जाना चाहिए। लेकिन वहाँ साफ कहा गया कि दाँतमें कोई ऐसी चीज चिपक गयी हो जो छूटती ही न हो तो उससे मुँह अशुद्ध नहीं होता। यह भी शास्त्रमें लिखा है। और मुँह धोते समय जूठे पानीके जो छीटे शरीरपर आजाते हैं उससे भी शरीर जूठा नहीं होता। यह बात मनुस्मृतिमें है। एक-एक बातका गम्भीर चिन्तन, सूक्ष्म चिन्तन मिलता है। दानका चिन्तन है—श्रद्धाका दान, हर्षका दान, भयका दान, सम्बन्धका दान। दानके कितने भेद होते हैं? 'द्विहेतुं षडधिष्ठानम्' यह श्लोक इस विषयमें प्रसिद्ध है।

दानके दो कारण होते हैं। श्रद्धा और शक्ति, छह उसके अधिष्ठान होते हैं। छह उसके अङ्ग होते हैं। चार उसके प्रकार होते हैं—छह उसके फल होते हैं। यह सब बहुत सूक्ष्मरीतिसे चिन्तन किया हुआ है। ऊपर-ऊपरकी योजना नहीं है। बहुत सूक्ष्म चिन्तन है। पर यह नन्दनन्दन महाशय कहते हैं कि चाहे वेद कितना पढ़ो, यज्ञ कितना करो, उनसे में ऐसा नहीं दीख सकता हूँ। उससे तुम अपने भक्तिको अलंकृत कर सकते हो। व्यक्तित्वमें आभूषण पहन सकते हो। मेरे विश्वरूपका दर्शन नहीं हो सकता। दानसे भी नहीं, कर्मसे भी नहीं, उग्र तपस्यासे भी नहीं। कोई मजहब अपने मूल ग्रन्थके सम्बन्धमें और अपने परम्परागत आचारके सम्बन्धमें ऐसा नहीं बोल सकता। यदि मुझे ऐसा कोई देखना चाहे तो अर्जुन इन सब साधनोंसे मेरा विश्वरूप नहीं दिखता है। मैंने सचमुच प्रसन्न होकरके तुम्हें इस रूपका दर्शन कराया है।

बोले कि आपको तो आदित्यने देखा, वसुने देखा बड़े-बड़े सिद्ध लोग दर्शन करके आपकी स्तुति कर रहे हैं। यह तो मैंने देखा। भगवान् बोले—हाँ, तुमने जो देखा वह मेरे विश्वरूपका ही एक हिस्सा था। मैं ही स्तुति कर रहा था और मैं ही आदित्य वसु होकर अपनेको देख रहा था। मैं ही था। लेकिन मनुष्य रूपमें दूसरा ऐसा कोई नहीं है जो मेरे उस रूपको देख ले। इसलिए मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्' (11.49)। 'मा ते व्यथा'—लोकत्रयं प्रव्यथितम् महात्मन्। तुम कहते हो कि सबको व्यथा हो रही है, मैं व्यथित हो रहा हूँ। तो बोले व्यथा मत करो और—

'दिशो न जाने न लभे च शर्म'।

अपना विमूढ़ भाव बता रहे हो हमको! यही मालूम पड़ता कि क्या उत्तर, क्या पूर्व, क्या दक्षिण—यह भी असलमें भगवान्के विश्वरूपमें है। तो विमूढ़ भावका अर्थ है दिङ्मूढ़ होना और व्यथाका अर्थ है कष्ट

अनुभव करना, सङ्कट अनुभव करना। क्योंकि अपना जो माना हुआ है वह सब छूट जाता है। जब सर्वको परमेश्वरके रूपमें देखने लगते हैं तो अपनी बनायी हुई दुनिया अपनी नहीं रहती, भगवान्की हो जाती है। और भगवान्की होनेमें भी लोगोंको तकलीफ होती है। भगवान्की दी हुई चीज अगर फिर भगवान्की हो जाय—तो गाली देने लगते हैं। तुमने छीन क्यों लिया? 'तेरी तुझको सौंपते क्या लागत है मोर'—तुम्हारी चीज है तुमने दिया, तुमने लिया—इसमें मेरा क्या लगता है? यह भगवान्का जो पूर्णरूप है, इसमें जिसकी अघोर वृत्ति हो जाती है, वह महात्मा हो जाता है।

आदमीको भय क्यों लगता है? दूसरेके मरनेसे नहीं लगता है। अपना सम्बन्ध टूटनेसे लगता है। अपनी बनायी हुई चीज छूटनेसे लगता है। हम कभी काशीमें मणिकर्णिका घाटपर जाकर बैठते थे। कितने मुर्दे आते थे, जलते थे, जलाये जाते थे। लेकिन जब वहाँ बैठे-बैठे देखते थे कि हमारे कोई रिश्तेदार आये हैं, कोई सम्बन्धी आये हैं—जान-पहचानके आये हैं तो दुःख हो जाता। सम्बन्धसे दुःख होता है, मृत्युसे दुःख नहीं होता। यह भगवान्का जो घोर रूप है इसका कोई ध्यान करे तो उसका लाभ तुरन्त होगा। उसके मनकी कामवासना शान्त हो जायगी। यह भगवान्का जो रौद्ररुप है इसका दर्शन करो, चाहे नृसिंहका दर्शन करो, काम शान्त हो जायगा। 'व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वम्-तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य व्यपेतभीः। अब भय मत करो—जब डर होता है, भय होता है—सपनेमें चोर दिख जाता है, भूत दिख जाता है तो भी करने लग जाते हैं। यह अनुकरणमूलक शब्द है। जैसे आप चप्पलको चप्पल बोलते हैं तो चलते समय यह चप-चप बोलती है। यह हवा तेज चलती है, तब इसे झंझा बोलते हैं क्योंकि यह झन-झन-झन बोलती है। अनुकरण-मूलक शब्द होते हैं। इनकी धातु खोजनेकी जरूरत नहीं होती, प्रत्यय करनेकी जरूरत नहीं होती।

'तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य'। 'प्रपश्य' का अर्थ यह है कि—पहले तुम हमको व्यक्तिके रूपमें देखते थे कि मैं श्रीकृष्ण तुम्हारे रथका सारथि हूँ। फिर तुमने मेरे—विश्वरूपको देखा। अब जो तुम मेरा रूप देख रहे हो यह साक्षात् ब्रह्म है। गौरसे देखो—देखनेमें यह द्विभुज है कि चतुर्भुज है—प्रपश्य। जो 'पश्य' क्रियापदके साथ 'प्र' उपसर्गका योग है—उसका अर्थ है 'प्रकर्षेण पश्य' देखो यह विश्वरूपका भी मूल यही है—व्यक्तित्वका मूल भी यही है। यही जो अव्यक्त ब्रह्मरूप है वही विश्वरूप होता है। और वही व्यक्ति होता है। व्यक्तिमें विश्वरूप है, विश्वरूपमें व्यक्ति है। और दोनों अनादि, अनन्त, अद्वितीय ज्ञानमें है—बिना ज्ञानके कोई रूप नहीं होता—रूप हो और मालूम न पड़े तो रूप कहाँ है? इसीसे सृष्टिका विचार होता है।

जो साधारण जिज्ञासु होते हैं वे उत्पत्ति क्रमसे कहते हैं—मिट्टी पानीमें-से निकली, पानी गरमीमें-से निकला, गरमी हवामें-से निकली, हवा आसमानमें-से निकली, ऐसे यह उत्पत्तिक्रमका जो विचार है वह परोक्ष परमात्मा, छिपे हुए परमात्माकी ओर जानेका मार्ग है। और यह भान कैसे होता है? आँखसे मुँह दीखता है। मनसे आँख दिखती है। अब यह भानकी प्रक्रिया है। यह भारतीय प्रणालीकी विशेषता है। यह विश्वके पर्देपर किसी जातिमें, किसी मजहबमें कहीं नहीं है। यह हमारी प्रक्रिया है कि हम भान क्रमसे सृष्टिको देखना चाहते हैं। फिर कहते हैं—कि सपनेमें तो सब एक साथ भान होता है—वहाँ बाप और बेटा दोनों एक साथ पैदा

हुए। मिट्टी और पानी एक साथ पैदा हुए, पैदा नहीं हुए, पैदा हुए-मालूम पड़ते हैं। मालूम पड़नेके सिवाय और कोई चारा नहीं है। '**प्रपश्य**' का अर्थ हुआ—प्रकृष्ट ज्ञान-स्वरूप, सर्वोत्तम ज्ञान-स्वरूप। जो मेरा स्वरूप है, उसको देखो।

सञ्जय बोलते हैं—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥ 11.50

वासुदेव हो गये अब—यह विश्वरूप है—वह वासुदेव नहीं है। वह वसुदेवका बेटा नहीं है। अर्जुनके रथपर सारथिके रूपमें जो है वे वसुदेवके पुत्र हैं। अब वासुदेव हो गये। संस्कृतमें वासुदेव, शब्दका अर्थ बहुत विलक्षण होता है। 'वसौ दीव्यति इति वसुदेवः' जो कारणवारिमें प्रकाशमान रहता है। कारणवारि माने समझ लो कि जैसे मनुष्यकी, पशुकी या पक्षीकी उत्पत्ति होती है तो उसमें जो वीर्य होता है वह जलरूप—उसको बोलते हैं कारणरूप। उसमें जैसे चेतना रहती है—उसको बोलते हैं बीजायन—नार माने जल होता है। आपो नारा इति प्रोक्ताः (1.10)। उस जगत्के मूलरूप जैसे—ब्रह्माण्ड है या अण्डा है। इस अण्डेमें एक तरहका जल है। उसमें सबमें बीजका संस्कार है। उसमें जो चेतना है उसको बोलते हैं—'नारायण'—और उसमें जो प्रकाशमान चैतन्य है उसको बोलते हैं 'वसुदेव' और 'वसुदेव एव वासुदेवः'। विष्णु-पुराणमें बताया—'वसति दीव्यति' दो क्रियापदसे वासुदेव शब्द बना—जो सबमें बसता है और सबमें प्रकाशता है। माने कारण रूपमें सबसे-सबमें आवर्त है, आया हुआ है, अनुगामी है और ज्ञानके रूपमें सर्वत्र विराजमान है। उस सत्तास्वरूप ज्ञान और ज्ञानस्वरूप सत्ताका नाम वसुदेव है। वही वासुदेवके रूपमें प्रकट होते हैं।

भागवतमें वसुदेव शब्दकी व्याख्या दूसरी तरहसे है। 'सत्त्वं विशुद्धं वसुदेव-शब्दितम्' (4.3.23) वसुदेव माने शुद्ध अन्तःकरण। शुद्ध अन्तःकरणमें जिनका अवतार होता है। जिनका प्रतिबिम्ब होता है—इसलिए अन्तःकरणको शुद्ध कर दें—अन्तःकरणको शुद्ध करना ही इस जीवकी साधना है। ये नानाप्रकारकी मान्यताएँ, वासनाएँ ठूँस-ठूँस करके अध्यारोपित करके—ऐसे बोलते हैं कि सबसे बड़े ज्ञानी हम ही हुए हैं। हमसे पहले तो कोई था ही नहीं—सबको काट देंगे।

तो ये कहाँसे ज्ञान लेकर आये हैं? ये जो छोटे-छोटे फिरके बनते हैं। पन्थ बनते हैं—ये तो फिरका-परस्ती है, यह जो पन्थ-परस्ती है—यह अनादि ज्ञानपर दृष्टि न रखनेके कारण ही है। संस्कृतमें ऐसा नहीं मानते हैं। 'कपिलो यदि सर्वज्ञः कणादो नास्ति का प्रमा'? यदि कपिल सर्वज्ञ थे तो कणाद सर्वज्ञ नहीं है? इसका निर्णय कैसे करोगे? 'जैमिनिर्यदि सर्वज्ञो व्यासो नास्तीति का प्रमा'। यदि जैमिनि सर्वज्ञ है तो व्यास सर्वज्ञ नहीं है? इसमें क्या प्रमाण है। एकको ऐसा पकड़ते हैं—महाराज, घड़ियालकी पकड़से। जो शुद्ध ज्ञान है उसको तो छोड़ देते हैं। एक आदमीको पकड़ लेते हैं और उसके पीछे विचारे मरते रहते हैं। फिर लड़ते हैं—हमारे गुरुने कहा सो ठीक, दूसरेके गुरुका कहा हुआ झूठा। महाराज! गुरु तो विचारे आनन्दमें थे और चेले लाठी चलाने

लगे। चेले अदालतमें जाते हैं। यह जो बात है यह ज्ञानका तिरस्कार है। यह कोई साधना करनेसे नहीं,जैसा भगवान्‌का दर्शन है—यह कुछ करनेसे नहीं होता है—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ 11.53

चार बार नकार नकार नकार नकार बोल दिया। एक ही नकार काफी होता है। अगर एक होता तब भी काम चल जाता, लेकिन अत्यन्त निषेध करनेके लिए ये हैं—इन साधनोंसे भगवान् बिलकुल नहीं मिलता है।

एक नकारकी बात आपको सुनाते हैं। काशीमें एक धनी सज्जन नन्दनसाव थे। आज भी उनके नामकी गली है जो चौंकसे नीचीबागकी तरफ है—नीची बागसे और नीचे है। एक ब्राह्मण नन्दनसावसे कुछ पानेकी आशासे आये थे। नन्दनसाव बड़े उदार थे। देते भी थे। लेकिन उनके मुनीमोंने ऐसा कुछ किया कि वे बेचारे नन्दनसावसे मिल ही न सके। एक दिन रास्तेमें नन्दनसावको वे मिले तो सावने पूछा—पण्डितजी क्या हाल-चाल है? बोले क्या पूछते हो? नन्दन नाम ही ऐसा है। 'आदौ नकारः परतो नकारः मध्ये नकारेण हतो दकारः'। शुरूमें 'न' है, अन्तमें 'न' है—बीचमें 'द' था देनेवाला, सो उसमें 'न' कार—ने 'द' कारको मार डाला। 'इत्थं नकारामयसंयुतस्य का दानशक्तिः खलु नन्दनस्य।' जब तीन-तीन न तुम्हारे नाममें लगे हैं तो तुम्हारे अन्दर दान शक्ति कहाँ? अब लो नन्दसाव तो महाराज! पाँव पकड़कर लेट गये—बोले पण्डितजी, तुमको जो चाहिए सो ले लो। यह कृष्णने अपने दर्शनके लिए चार-चार नकार कर दिया।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।

जैसा तुमने मुझे देखा है वैसा नहीं देख सकते। दूसरे नहीं देख सकते। अर्जुनने कहा तुम देखनेका ढंग तो बताओ। नाहीं नाहीं नाहीं, कहीं हाँ तो बोलो! हमारे एक बुजुर्गने हमको बताया था—पहले ना ना करते जाओ। कि हम नहीं दे सकते—नहीं कर सकते पर पीछेसे भी अगर हाँ कर दो तो बात सफल हो जाती है। लेकिन पहलेसे हाँ, हाँ करते जाओ कि हाँ देंगे—हाँ देंगे और बादमें ना कर दो तो विचारा मर जायगा न! धोखा हुआ उसको। पहले ना-ना करो लेकिन बादमें हाँ जरूर कर दो।

श्रीकृष्णने पहले तो किया ना-ना और बादमें कर दिया 'हाँ'-मिल सकते हैं, एक युक्ति है, क्या युक्ति है? 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन' (11.54)—जहाँ सन्धि होनी चाहिए, वहाँ भी सन्धि नहीं की। व्याकरणकी दृष्टिसे यहाँ 'शक्योऽहमेवम्' ऐसा होना चाहिए था। परन्तु अपने मिलनेकी खुशीमें व्याकरण भूल गये। जब कहीं बहुत खुशी होती है, बहुत घबड़ाहट होती है, बहुत शोक होता है तो बात भूल जाती है। श्रीकृष्णको भी—पाणिनीय व्याकरण उस समय था तो नहीं, लेकिन जो संस्कृतका प्रयोग होता है उसमें पाणिनि व्याकरणको ही मुख्य माना जाता है।

'भक्त्या त्वनन्यया शक्य-अहमेवं विधोऽर्जुन—श्रीकृष्णने कहा—प्यारे अर्जुन, तुम बड़े-भोले-भाले

हो, सीधे हो इसलिए यह तो कह दिया, इससे नहीं मिलूँगा, इससे नहीं मिलूँगा और यदि मैं मिलने वाली बात न बताऊँ तो तुम भोले-भाले-गड़बड़ा जाओगे, इसलिए वह भी बताना जरूरी है। कैसे मिलते हो महाराज? अनन्य भक्तिसे मैं मिलता हूँ। 'अनन्यया भक्त्या, अहमेवंविधोऽर्जुन ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप'। (11.54) अर्जुन सुनो—मैं अनन्यभक्तिसे मिल सकता हूँ। जैसा तुमने मुझे देखा है—व्यक्तिके रूपमें देखा सो, द्विभुज कृष्णके रूपमें देखा सो, चतुर्भुज विष्णुके रूपमें देखा सो, विश्वरूपके रूपमें देखा सो, और ब्रह्माके रूपमें देखा सो—ऐसा मैं मिल सकता हूँ तो अनन्यभक्तिसे ही मिल सकता हूँ। अनन्य शब्दसे श्रीकृष्णको थोड़ा प्रेम है। इसका दो अर्थ होता है—एक तो 'अन्य-योग व्यवच्छेद' माने दूसरेके साथ सम्बन्ध हो ही नहीं। और दूसरा अर्थ होता है—'अनन्य'—केवल अपने इष्टदेवके साथ ही सम्बन्ध हो। दोनोंमें अन्तर है। दूसरेके साथ सम्बन्ध न होना 'अन्ययोग व्यवच्छेद' है और अपने इष्टदेवसे ही एक मात्र सम्बन्ध होना अनन्यता है, अनन्यनिष्ठा है। निष्ठामें जो अनन्यता है वह इष्टदेवके प्रति है। और अन्यके प्रति व्यवच्छेद है, दूसरेके प्रति निष्ठा नहीं है। भक्ति चाहिए अनन्य।

इसपर पण्डितोंका तो बहुत शास्त्रार्थ है। यदि मैं साहित्यकी, काव्यकी, बात छोड़कर दर्शन शास्त्रकी बात करने लग जाऊँ तो हमारा दिमाग घूम जाता है। एक बात देखो—भक्ति क्या है? भक्ति है अनुराग। भगवान् मुझसे कितना प्रेम करते हैं, इस बातका जब हम चिन्तन करते हैं तो हमारे हृदयमें भगवान्‌के प्रति अनुरागका उदय होता है। भगवान्‌के बच्चे हैं हम! 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'। (अथर्ववेद 12.1.12): पृथिवी मेरी माँ है, मैं पृथिवीका पुत्र हूँ। पृथिवी पत्नी किसकी हैं? भगवान्‌की।

जिन राजाओंने अपनेको भूपति बनाया वे मारे गये कि नहीं, वे नहीं रहेंगे। जो अपनेको भगवान्‌की पत्नीका पति बनायेगा—वह कैसे रहेगा? जो श्रीपति बनेगा कि मैं लक्ष्मीपति हूँ—लक्ष्मी तो भगवान्‌की पत्नी है। तुम कहाँसे आगये बीचमें—दाल-भातमें मूसलचन्द। लक्ष्मी भगवान्‌की और लक्ष्मीके भगवान्। तुम बीचमें लक्ष्मीपति और भूमिपति कहाँसे आगये?

यह है अनन्यता—भगवान् ही हमारी माता और भगवान् ही हमारे पिता। प्रकृतिकी गोदमें हम रहते हैं। भगवान्‌की गोदमें हम रहते हैं। उनका ही जो दिया हुआ जल है वह पीते हैं। उनकी दी हुई रोशनीमें देखते हैं। उनकी दी हुई हवामें उनकी साँसमें साँस लेते हैं—यह वायु भगवान्‌की श्वास है। और यह प्रकाश उनके नेत्र हैं। हम उनकी आँखकी रोशनीमें देखते हैं और उनके प्राणमें साँस लेते हैं। भगवान्‌ने कभी हमको अपनी गोदमें-से अलग नहीं किया। और हम उसकी याद भी नहीं करते हैं। वे देखते रहते हैं। हम कभी उनकी ओर देखते भी नहीं है कि हमको देखनेवाला भी कोई है।

जब भगवान्‌के रागका चिन्तन होता है—वे हमसे कितना प्रेम करते हैं, हमसे कैसे मिले हुए हैं, हम उनके अंश, वे अंशी। जब भगवान्‌के इस रागका चिन्तन होता है, तब हमारे मनमें अनुरागका उदय होता है। भक्ति अनुरागात्मिका वृत्तिका नाम होता है—यदि आप भगवान्‌के बच्चे न होते तो सूर्यकी रोशनीका बिल आता। वर्षाका जल गिरता है उसका बिल आता। म्युनिस्पैलिटी पानी और बिजलीका बिल भेजती है न! और

गीता-दर्शन - 9

आपके पास पंखेकी हवा आती है, उसका बिल आता है कि नहीं! आपके पास भगवान्‌का बिल नहीं आता। न हाउस-टैक्स देते हैं धरतीपर रहनेके लिए। भगवान्‌ने कभी धरतीपर रहनेका हाउस-टैक्स माँगा नहीं। क्योंकि हम उनके बेटे हैं। इतना राग भगवान्‌का हमारे साथ है—हवाका टैक्स नहीं, रोशनीका टैक्स नहीं, पानीका टैक्स नहीं, धरतीका टैक्स नहीं और हमको कभी चार फूल चढ़ाते हो—चार अक्षत चढ़ाते हो तो झट सवाल हो जाता है क्यों चढ़ावें?

यह जो कृतघ्नता है—अपने पिताके प्रति, अपनी माताके प्रति, अपने दाताके प्रति, अपने शरण्यके प्रति--यही दुःख देती है। अनुरागात्मिका होती है भक्ति और वह रहती है वृत्तिमें। वृत्तिके द्वारा भगवान् कैसे मालूम पड़ेंगे? कैसे दिखेंगे? वृत्तिसे तो भगवान् नहीं दिखने चाहिए। नहीं, अब इस संसारके विषयोंका राग ज्यों-ज्यों छूटता जाता है त्यों-त्यों हमारी वृत्ति चिन्मयी होती जाती है। और जहाँ केवल भगवद्राग ही भगवद्राग रह जाता है, वहाँ तो हमारी यह भक्ति चिद्रूपा हो जाती है। परमानन्दमयी हो जाती है। तब भगवान्‌में और हमारी वृत्तिमें कोई भेद नहीं रहता।

एवं विधा—भगवान् कैसे? कहा ऐसे। किसीने पूछा भगवान् कैसे? महात्माने कहा तुम जैसे! ऐसे ही है। इस शरीरमें जैसे हम हैं वैसे संसारमें भगवान् हैं और शरीर और संसारको एक बार मन-ही-मन बट्टे खातेमें डाल दो। हिसाबमें अन्तर हो तो क्या करते हैं? उचन्त खातेमें डाल देते हैं। परमात्माके अद्वितीय अनन्त स्वरूपमें देहका और प्रपञ्चका कोई गणित बैठता ही नहीं है, क्योंकि अद्वितीय बटे दो होता नहीं है। अद्वितीय, अद्वितीय दो होता नहीं है। तो जो अद्वितीय अधिष्ठान है, उसमें यह गड़बड़झाला आया कहाँसे? इसका तो हिसाब नहीं लगता है।

अच्छा थोड़ी देरके लिए इसको बट्टे खातेमें डाल दो। इसका हिसाब-किताब मत देखो। शरीर और प्रपंच जहाँ है वहाँ रहने दो। देखो शरीर और प्रपंचके बिना—इसका नाम वेदान्त है—यह हम लोगोंके मध्य बातचीतका वेदान्त है। हमको अधिष्ठान, अध्यस्त उपाधि और अवच्छेद, इन शब्दोंके प्रयोगकी जरूरत नहीं है। हम घरेलू भाषामें वेदान्तकी सब बात बोल सकते हैं।

देखो, वेदान्तमें एक अध्यास शब्द है। अध्यास कैसे होता है? रास्तेमें मोटरसे चलते हैं। दूरपर एक श्रीमतीजी गेरुए कपड़े पहनकर आ रही हैं। गेरुए कपड़े पहननेका आजकल शौक है। दूरसे मालूम पड़ा कि एक बहुत बड़े संन्यासी महात्मा गजगतिसे चले आ रहे हैं। यह हुआ कि महात्माजी आ रहे हैं। हाथ जोड़े! जब मोटर पास पहुँची तो वह तो श्रीमतीजी थीं। महिला थीं। श्रीमतीमें जो संन्यासीपनेका भ्रम हुआ, इसी भ्रमको अध्यास कहते हैं। संस्कृत भाषामें उसका नाम अध्यास होता है। 'अतस्मिंस्तद् बुद्धिः' जो चीज जैसी नहीं है उसको वैसा मान लेना।

एक मजहबी आदमीको मनुष्य मान लेना भ्रम ही है। वह तो मनुष्य नहीं है—टुकड़ा है। एक कणिका है। मनुष्य तो मनुष्य है। अनन्य भक्ति होती है, उसको भगवान् कैसे देखते हैं? एवं विधा विश्वके रूपमें भगवान् देखते हैं। नरक भी भगवान्‌के गुह्यदेशमें है, अधर्म भी भगवान्‌के पृष्ठ देशमें है। धर्म भी

भगवान्के वक्ष:स्थलपर है। समग्र विश्वसृष्टि जो है वह भगवान्के स्वरूपमें है। कहाँ राग? कहाँ द्वेष? यह तो मच्छरका काम है—बन्दरका काम है।

बन्दरका काम क्या है? एक राजाने बन्दर पाल रखा था। बड़ा प्रेम करता था उससे और बन्दरका भी राजापर बड़ा प्रेम था। जब राजा सो जाता तो बन्दर प्रेमके कारण बैठकर पहरा देता था कि हमारे मित्रपर कोई मक्खी न आवे, मच्छर न आवे। एक दिन राजा साहब सो रहे थे, उनकी नाकपर एक मक्खी आकर बैठ गयी। बन्दरने उसे उड़ा दिया, वह फिर उड़ानेपर फिर आकर बैठ गयी। झुँझलाकर बन्दरने उठाकर मच्छरको ऐसी तलवार मारी कि मच्छर तो उड़ गया और राजा साहबकी नाक कट गयी।

यह मजहबी लोग मक्खीसे बचाना चाहते हैं और ईश्वरको ही काट देते हैं। मेरे ईश्वर तुम्हारे नहीं, तुम्हारे ईश्वर मेरे नहीं। ईश्वरका बँटवारा करनेवाले ये मजहबी लोग ज्ञानका बँटवारा कर लेते हैं और इसका फल यह होता है कि उसका आनन्द भी चूर-चूर होकर तड़फड़ाता है। सिर अलग कटकर गिर गया। धड़ अलग कटकर गिर गया। देह कटकर गिर गयी। हमने बचपनमें सूअरको काटते देखा था। भैंसे काटते भी देखे थे। एक हाथ जोरसे मारते हैं। सूअरका सिर अलग छटपटा रहा है। धड़ अलग छटपटा रहा है। एसे ही मजहबी लोगोंने ईश्वरको टुकड़े-टुकड़े किया—ज्ञानको टुकड़े-टुकड़े किया। आनन्दको टुकड़े-टुकड़े किया—सत्ताको टुकड़े-टुकड़े कर दिया। मेरा-तेरा कर तोड़ दिया।

यह हुआ अच्छी भावनासे, पर उसका जो परिणाम निकला वह हमारे सामने है। शिया-सुन्नीका क्या एक आचार्य नहीं है? क्या ईसाइयोंके जो दो दल हैं उनके एक आचार्य नहीं हैं? क्या शैव और वैष्णव दोनोंका एक ही वेद नहीं है? भेद सब ऐसे ही है। हमारे सब वैदिक हैं। बौद्ध भी वैदिक हैं। जैन भी वैदिक, ईसाई मुसलमान भी वैदिक हैं। ईश्वरको मानते हैं, सदाचारको मानते हैं, जो सदाचार मात्रको मानता है, वह वैदिक हो गया जो। समाधि मात्रको मानता है वह वैदिक हो गया। जो वीतरागताको मानता है, वह वैदिक हो गया। जो अहिंसाको मानता है वह वैदिक हो गया।

जो नमस्कारको मानता है वह वैदिक हो गया। जो प्रार्थनाको मानता है वह वैदिक हो गया। लड़ाई काहेकी? झगड़ा काहेका? यह जो अनन्य भक्ति है उससे 'एवं वेद' अर्थात् उस स्वरूपमें भगवान् दिखाई पड़ते हैं। 'ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप'—जान लो, देख लो, घुस जाओ, एक हो जाओ—'ज्ञातुम्' माने जान लो, जानने योग्य है। 'द्रष्टुम्' माने देख लो—देखने योग्य है और 'तत्त्वेन प्रवेष्टुम्' प्रविष्ट हो जाओ—यह कैसे होता है? अनन्य भक्तिसे।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 10

(28-11-82)

वेदका, शास्त्रका, यह सनातन सिद्धान्त है कि परमात्माके अतिरिक्त और कुछ है नहीं। अर्थात् परमात्मा ही सब कुछ है। जब हम कहते हैं कि परमात्माके अतिरिक्त और कुछ नहीं है तो उसका अर्थ होता है कि रज्जु ही है, सर्प नहीं परन्तु यह सिद्धान्त है, महात्माओंका अनुभव।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ 7.19

बहुत जन्मोंके बाद ज्ञानवान् होता है और ज्ञानवान् होकर सब वासुदेव हैं, यह अनुभूति होती है। जब हम महात्माओंके उदात्त और उदार सिद्धान्तोंका वर्णन करने लगते हैं तो जिसकी दृष्टि महात्माओंके विस्तीर्ण अनुभवको नहीं ग्रहण करती है, उन लोगोंको थोड़ा अटपटा-सा लगता है।

सचमुच यह दृष्टि उत्तम कोटिकी है। सर्वोत्तम है निरुत्तर, निरतिशय; पर महात्माओंकी यह दृष्टि सबके हृदयमें आजाय, ऐसा सुगम भी नहीं है और इसके लिए जो प्रयास करेंगे कि सब लोग इसीका अनुभव करे, उनको भी कष्ट ही होगा। रह गयी सिद्धान्तकी बात तो इस सिद्धान्तका अनुभव करनेके लिए अनन्य भक्ति चाहिए। अनन्य भक्तिका अर्थ है ऐसी भक्ति जिसमें भगवान्के अतिरिक्त आपको जो दिखता है, उससे अपनी दृष्टि हटाते जाना। आपकी नजरमें क्या ईश्वर मालूम पड़ता है? जो आपको स्वयं आपकी दृष्टिमें ईश्वर मालूम पड़ता है? जो आपको स्वयं आपकी दृष्टिमें ईश्वर न मालूम पड़े, आप स्वयं सोचें कि वह ईश्वर नहीं है, यह तो चोर है, यह तो भूत-प्रेत है, यह तो जड़ है, यह तो कोई छोटा-मोटा देवता है, तो उसके साथ अपने हृदयको मत जोड़िये। जब आप अपना दिल कहीं चस्पा कर देंगे, जैसे कहीं दिलचस्पी कर लेंगे तो वह आपके दिलमें घर कर जायगा।

आपकी रुचि क्या है? सर्वात्माको, विश्वात्माको, परमेश्वरके रूपमें अनुभव करके सर्वथा राग-द्वेष विनिर्मुक्त, जीवन-मुक्त होनेकी है कि थोड़ा-थोड़ा राग-द्वेष रखकर अपनी रुचिके अनुसार बरतनेकी है, कि ईश्वरकी रुचिमें रुचि मिला देनेकी है? भक्ति चाहिए अनन्य और अनन्य भक्तिसे आप समझ सकेंगे कि यह सब परमेश्वर है। केवल समझ नहीं सकेंगे, देख भी सकेंगे। और केवल देख ही नहीं सकेंगे उससे एकमेक हो सकेंगे। उसमें प्रवेश कर सकेंगे।

आगे जो श्लोक है वह समापनका श्लोक है। कई लोग समाप्ति शब्द बोलनेमें हिचकिचाते हैं। इसकी समाप्ति नहीं होनी चाहिए तो सम्पन्न होना बोलते हैं। सम्पूर्ण होना बोलते हैं। पूर्णाहुति बोलते हैं। पर संस्कृत भाषामें समाप्ति शब्दका अर्थ बहुत सुन्दर है। आप्ति माने प्राप्ति। जैसे आप कोई व्यापार करते हैं तो उसमें जो प्रॉफिट होता है, वह प्राप्तिका प्रॉफिट है—लाभ; इसीके लिए संस्कृतमें प्राप्ति शब्द है। आप्ति माने प्राप्ति, आप्तिके मुँहपर 'प्र' लगा दिया तो प्राप्ति हो गयी। 'आप्त' धातु जो है वह प्राप्तिके अर्थमें है, लाभके

अर्थमें समाप्तिका अर्थ होता है 'सम्यक् प्राप्ति'। आपने अबतक जो कुछ किया जो कुछ सुना, जो कुछ समझा उससे जो वस्तु आपको फलके रूपमें भलीभाँति मिल गयी, उसका नाम है समाप्ति। समाप्ति शब्दसे डरनेका कोई कारण नहीं है।

भगवान् श्रीकृष्ण भी इस विश्वरूप योगका जो अध्याय है उसको समाप्त करते हैं। समाप्त करते हैं माने समग्र विश्वरूपाध्यायके श्रवणसे, पाठसे, जो 'प्राप्ति' हुई, जो फल मिला, मनुष्यके जीवनमें जो आना चाहिए उसका वर्णन करते हैं। चौवनवाँ श्लोक उपपादन है और पचपनवाँ श्लोक समाप्ति है। और यही बारहवें अध्यायका बीज है। यह ग्यारहवें अध्यायकी समाप्ति है और बारहवेंका अंकुर इसीमें-से निकलता है। इसमें जो अनन्य भक्ति कही गयी है, उस भक्तिसे सम्पन्न पुरुषकी पहचान बतायी गयी है, उसका जीवन बताया गया है, उसकी रहनी बतायी गयी है।

जिसने विश्वरूपका दर्शन कर लिया, जिसने विश्वरूपके रूपमें भगवान्‌को पहचान लिया, वह तो भक्ति किये बिना रह ही नहीं सकता है। भक्ति माने प्रीति-विशिष्ट सेवा। प्रेमसे सेवा करना। यह भक्तिका व्यावहारिक अर्थ है। यह प्रीति हमारे जीवनमें जपसे भी आ सकती है। तपसे भी आ सकती है। पूजासे भी आ सकती है, पाठसे भी आ सकती है, ध्यानसे भी आ सकती है—इस भक्तिके आनेके साधन बहुत हैं पर आनेके बाद जीवन कैसा होता है, यह मद्भक्त जो है वह इसमें प्रतिपाद्य है और उसके प्रतिपादक चार तत्व हैं।

मत्कर्मकृत् मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ 11.55

अर्जुन, मेरे पास कौन आता है? मुझसे कौन मिलता है? मुझे कौन जानता है? मुझे कौन अनुभव करता है? यह एक ही जो क्रियापद है 'माम् एति यः' इण् मतौ' संस्कृतमें जो धातु है, जिसका अर्थ आना-जाना दोनों हैं—'मामेति' में जो कर्म 'माम्' है, इसलिए आना-जाना हो गया। जानना और संसारसे मुक्त होना। चार अर्थ है—इण् गतौका; 'गमन-ज्ञान मोक्षेषु प्राप्तौ चापि गतिर्मता'। इण् धातुका अर्थ है—गति और गतिका अर्थ है—भगवान्‌के पास आना—'मामेति','माम् जानाति' 'प्रपञ्चात् मुच्यते', 'बन्धानान्मुच्यते','माम् प्राप्नोति'। जो मेरा भक्त होता है वह मेरे पास आजाता है। मुझे जान लेता है। संसारसे छूट जाता है। और मुझसे एक हो जाता है। भक्तके लिए ये चार बात कही गयीं।

भक्त होता कैसा है? संस्कृत भाषाका यह चमत्कार है—'मम भक्तः मद्भक्तः' जो मेरा भक्त है उसको मद्भक्त कहेंगे। पर यही शब्द यदि बहुब्रीहि समासमें प्रयुक्त हो तो उसका अर्थ हो जायेगा—'अहं भक्तो यस्य मद्भक्तः'—मैं जिसका भक्त हूँ, वह'। भगवान् कहते हैं मैं उस भक्तकी सेवा करता हूँ। मैं उस महात्माकी, उस मनुष्यकी सेवा करता हूँ। मद्भक्तका अर्थ यही नहीं होगा कि वह मेरा भक्त है—उसका अर्थ होगा—मैं उसका भक्त हूँ। दोनों ही अर्थ होंगे।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः। 7.17

ज्ञानीका प्यारा मैं हूँ और मेरा प्यारा ज्ञानी है। वह मेरे प्यारको देख-देखकर उल्लसित होता रहता है।

प्रेम होनेपर भी अगर मनमें यह हो कि इतना देंगे—इतना नहीं देंगे—आत्मदानमें सङ्कोच हो—प्रेम तो बहुत है पर देखो भाई, पाँच रुपयेसे ज्यादा नहीं देंगे। यह बहुत प्रेमका लक्षण नहीं है। जहाँ प्रेम हुआ वहाँ हृदय खिल गया, हृदय खुल गया। वहाँ मेरा, तेराका भेट मिट गया। उधरसे प्रीति आ रही है, इधरसे प्रीति जा रही है। प्रीतिमें दोनों लहरा रहे हैं। एक तरङ्ग उधरसे आयी—एक तरङ्ग इधरसे गयी—दोनों मिलकर एक हो गयीं—'उद्यन्ति—खेलन्ति—प्रविशन्ति। प्रेमकी लहर उठ रही है, आपसमें टकरा रही हैं—आपसमें खेल रही हैं और एक दूसरेसे मिल रही हैं।

जब महात्मा भगवान्‌के प्रेममें तन्मय हो जाता है, तल्लीन हो जाता है, तब भगवान् ही इष्ट नहीं रहते हैं—भक्त भी इष्ट हो जाता है। यह बात आपने गीतामें पढ़ी होगी—स्वयं श्रीकृष्णने कहा है—इष्टोऽसि मे दृढमिति (१८.६४)। अर्जुन, तुम मेरे इष्ट हो—इष्टका अर्थ है कि यदि अर्जुन होम करे तो 'श्रीकृष्णाय स्वाहा' करे। श्रीकृष्णाय इदम् न मम'—'यज्' धातुसे इष्ट शब्द बनता है और यदि श्रीकृष्णको होम करना हो तो बोले 'अर्जुनाय इदं न मम'—यह अर्जुनके लिए हैं मेरे लिए नहीं और अर्जुन कहे यह कृष्णके लिए है—मेरे लिए नहीं। इष्टोऽसि मे दृढमिति।

जो भगवान्‌का प्रेमसे भजन करते हैं—उनका भजन भगवान् करते हैं—यह भी गीतामें है। 'मद्भक्तः' के दोनों अर्थ होंगे—यह है कि अन्य भाषामें इसका अनुवाद किया जायेगा तो बेचारा अनुवाद क्या करेगा? उसको तो यही कहना पड़ेगा कि जो भगवान्‌का भक्त है, उसका नाम मद्भक्त। अब वह चाहे हिन्दीमें करे कि बंगलामें करे कि अंग्रेजीमें करे। उसको तो मेरा भक्त ही कहना पड़ेगा। यह तो संस्कृतकी प्रकृति है जो तत्पुरुष और बहुव्रीहि दोनों कर देती है।

मेरे भक्तका लक्षण क्या है? मैं कई बार बोलता हूँ तो आप शायद ऊब जाते हों, बोर हो जाते हों। यहाँ भक्तके चार लक्षण बताये हैं—आड़ा चन्दन कैसे होता है? खड़ा चन्दन नाककी नोकसे शुरू होता है और कोई ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचता है। इसीका नाम भक्ति है? कोई लाल कपड़ा पहनते हैं, कोई पीला पहनते हैं—इसीका नाम भक्ति है? कोई तुलसीकी माला पहनते हैं, कोई रुद्राक्षकी, कोई लाल चन्दनकी माला पहनते हैं, कोई स्फटिककी माला पहनते हैं। क्या इसीका नाम भक्ति है? यह भगवान्‌ने अपने भक्तकी चार पहचान दिखाई। दो हैं भीतरी जीवनमें और दो हैं व्यवहारमें—'मत्कर्मकृत्'=मदर्थं कर्म करोति इति मत्कर्मकृत्'। यह जो विश्वरूप परमात्मा हैं उनके लिए जो कर्म करता है। इस प्रसङ्गमें विश्वरूप ही परमात्मा है।

शंकराचार्यने परमेश्वरको विश्वरूप कहा है। पहला कदम यही है कि हम अपनेको देहमें-से निकालकर विश्वरूपमें अनुभव करें। दूसरा कदम यह है कि सूक्ष्म समष्टिके रूपमें अपनेको अनुभव करें। तीसरा कदम यह है कि कारणमें जो प्राज्ञ ईश्वर चैतन्य है, उसके रूपमें अनुभव करें। और चौथा कदम यह है कि तुरीय ब्रह्मके रूपमें अनुभव करें। भक्तिका पहला कदम यह है कि आप जो कर्म करते हैं वह किसके लिए? 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' (ऋग्वेद 10.121.1)। इसका अर्थ है—'एकस्मै देवाय हविषा-विधेम' एक हि देवताके लिए हम काम करते हैं। जैसे पुत्र अपनी माताके लिए। जैसे पत्नी अपने पतिके लिए। माताके

लिए कर्म करनेमें भी उसके दूसरे पुत्रोंका, उसके सम्बन्धियोंका ध्यान रखना पड़ता है। माँ की तो भक्ति करें और माँके भाईका तिरस्कार करें। वह नहीं बनता है। माँ की भक्ति करें और माँके दूसरे पुत्रोंका तिरस्कार कर दें। यह नहीं बनता है। पत्नी अपने पतिकी तो भक्ति करे लेकिन उसके भाइयोंका, उसके पिताका तिरस्कार करे—उसकी माताका तिरस्कार करे, यह पतिभक्ति नहीं होगी।

पतिकी सेवा माने पतिको सुख पहुँचाना, तो जो पतिके सगे सम्बन्धी हैं, जो मित्र हैं उनको भी सुख पहुँचानेमें पतिभक्ति होती है, भगवान्‌की भक्ति। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'—यहाँ एकका लोप हो गया है—इसको 'आदि वर्ण लोप' कहते हैं। 'ए' वर्णका यहाँ नाश हो गया है। नाश माने अदर्शन—बोलनेके लिए दिखता नहीं है।

आप जो काम करते हैं वह किसके लिए? दूसरेको हानि पहुँचानेके लिए करते हैं? निरर्थक करते हैं? अपने व्यक्तिगत लाभके लिए करते हैं—सीमित लाभके लिए करते हैं? भगवान्‌ने कहा 'मत्कर्मकृत्'। देखो भाई, तुम यदि भक्त होना चाहते हो तो सारे काम मेरे लिए करो। 'मदर्थं यत् कर्म तत् करोति'— 'करोति इति कृत्'। जो भी काम करो, यह देख लो—ऐसी गुरुपूजा मत करो—एक पाँव तुम्हारा, एक पाँव मेरा—तुम्हारेवाला पाँव मेरे पाँवपर चढ़ बैठा तो उसको डण्डा मारो। ऐसी गुरुभक्ति मत करो। दोनों पांव गुरुजीके हैं। ऐसी गुरुभक्ति करो—दोनों पाँव भगवान्‌के हैं, ऐसी भक्ति करो। कर्मका उद्देश्य माने संकल्प—अन्तःकरण-शुद्ध्यर्थम् भगवत्प्रसाद-सिद्ध्यर्थम्—हमारा हृदय शुद्ध हो, उसमें भगवान्‌की प्रसन्नता चमाचम चमकने लगे—भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए, उनके अनुभवके लिए कर्म करो, यह पहली बात है।

यह भक्तका पहला लक्षण है कि उसके कर्मकी दिशा कौन-सी है, वह किधर जा रहा है? दूसरी बात आयी कि 'मत्परमः'—अगर हम सब काम भगवान्‌के लिए करने लगेंगे तो खाना पीना कहाँसे मिलेगा? मकान कहाँसे मिलेगा? हमारी इज्जत कहाँसे बढ़ेगी? अगर हम सब काम तुम्हारे ही लिए करेंगे तो हमारा क्या होगा? हृदयमें शरीरसे जो काम हो रहा है, वह भगवान्‌के लिए और हृदयमें 'मत्परमः'। मेरा ही भरोसा हो 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' (9.22)—मेरी प्रतिज्ञाके अनुसार मेरे लिए जो काम करेगा वह तो मेरा हाथ है। वह तो भगवान्‌का हाथ हो गया। उसके योगक्षेमकी क्या बात रही? जब हृद् देशस्थ भगवान्‌के लिए वह कर्म कर रहा है—आप अपने हृदयमें रस-रक्त पहुँचानेके लिए भोजन कर रहे हैं—अपने हृदयको बलवान् बनानेके लिए कोई काम कर रहे हैं, तो आपके हाथको रस-रक्त मिलेगा या नहीं? सिरको रस-रक्त मिलेगा या नहीं? 'मत्परमः' का अर्थ है—विश्वास मुझपर रखें—महाविश्वास रखें, भगवान्‌पर—'अहमेव परमो यस्य स मत्परमः'। उसका परम तत्त्व मैं हूँ। यह दोनों हुई उसके जीवनकी बात—एक कर्मकी और एक महाविश्वासकी। यह भक्तका जीवन है।

दो बात और बताते हैं। देखो भाई, चाहे जिससे मिलो, चाहे जिससे जुलो। जिसके साथ हँसो-खेलो, घूम आओ बाजारमें—देख आओ दूकान—ले आओ सौदा, लेकिन कहीं दूकानदारके साथ ही चिपक मत जाना।

एक पत्नीने हमसे बताया कि मैं एक दुकानपर सौदा लेने जाती हूँ तो मेरे पतिदेव शंका करते हैं कि बार-बार उसी दूकान पर ही क्यों जाती हो? देखो कितनी मोटी बात है? जब हम भगवान्‌का काम करनेके लिए संसारमें प्रवेश करते हैं तो संसारमें कहीं किसीसे हमारी आसक्ति न हो जाय। संग न हो जाय—किसीके साथ चिपक जानेका नाम संग होता है। संस्कृत भाषामें साथ-साथ होनेका नाम संग नहीं है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ 2.62

कहीं किसी चीजमें चिपक जाते हैं। यही चीज तो हमारे साथ रहनी ही चाहिए। काममें चिपक जाते हैं। भोजनमें चिपक जाते हैं। कपड़ेमें चिपक जाते हैं। आदमीके साथ चिपक जाते हैं। पशु-पक्षीमें चिपक जाते हैं। देवतामें चिपक जाते हैं। दुआ-सलाम सबके साथ करो, व्यवहार सबके साथ करो। दुआ भी करो, सलाम भी करो, लेकिन कहीं आसक्ति मत करो। चिपको मत—चिपको तो एक भगवान्‌के साथ, जो अपना आत्मा है। यह भक्तिका तीसरा लक्षण हुआ।

न प्रपञ्चमें, न वस्तुमें, न क्रियामें, न भोगमें, न भावमें—

तात-मात गुरु सखा सब विधि हितु मेरो।
मोहिं तोहिं नाते अनेक मानिये जो भावे॥

जैसे भगवान् रखें वैसे ही रहनेको तैयार हैं। बेचें तो बिक जाऊँ—मारे तो मर जाऊँ—चाहे हरिण बनाकर प्यार करें, चाहे तोता बनाकर पढ़ावें—चाहे बगुला बनाकर बैठावें। जैसे नाच नचावें, नाचनेके लिए तैयार हैं।

चौथी बात बतायी—'निर्वैरः सर्वभूतेषु'। किसीके प्रति वैर न करो। 'बैर न कर काहू से न कोई'। किसीसे बैर मत करो। यह बैरकी आग जब हृदयमें जलती है। आप लोगोंको तो मालूम ही होगा—ये जो जलनेवाली लकड़ियाँ होती हैं—इनमें बेरकी लकड़ीकी आग सबसे तेज होती है। बदरीफलकी बड़ी तेज आग होती है। उसको जाड़ेके दिनोंमें भी तापना मुश्किल होता है। किसीके साथ बैर मत करो। बैराग्नि अपने हृदयको ही जला देती है। 'निर्वैरः सर्वभूतेषु' का अर्थ है अपने हृदयमें किसीके प्रति बैर न रहे।

जो मेरा भक्त है, उसकी भक्ति मैं स्वयं करता हूँ। मैं अपने भक्तके पीछे-पीछे चलता हूँ। क्योंकि उसके चरणोंकी धूलि मेरे ऊपर पड़ जाय तो मैं पवित्र हो जाऊँ। फिर वही बात कहनी पड़ेगी—ऐसा भगवान् किसी मजहबमें नहीं मिलेगा। नाम लेकर हम बोल दें। कौन-से मजहबमें ऐसा भगवान् है—महाराज, उनको पीछे-पीछे चलनेवाला क्या बनाओगे, जब शकल-सूरत ही नहीं है। सम्पूर्ण विश्वके स्वामी होकर भी अपने भक्तकी चरणरेणु लेनेके लिए भगवान् व्याकुल हैं।

किसीने पूछा—भगवन्, यह क्या करते हैं? तो भगवान्‌ने बताया भाई, हमारे अन्दर एक दोष है—क्या दोष है? मैं मायावी हूँ, कपटी हूँ। क्यों कपटी हो? एक भक्त तो अपना सर्वस्व अर्पण करके मेरा अनन्य भक्त होता है। परन्तु मैं अपना सर्वस्व अर्पण करके एक भक्तका अनन्य भक्त नहीं होता। सब भक्तोंसे यही कहता

गीता-दर्शन

(10)

गीता अध्याय -12

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला
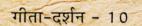
मंगलं मंगलम्

भगवान्‌की कृपासे गीता-दर्शनका यह दशम भाग आपके सम्मुख उपस्थित है। कर्मयोगी श्रीघनश्यामदासजी बिरलाकी प्रेरणासे परम प्रिय श्रीसरला एवं श्रीबसन्तकुमार बिरलाके आयोजनमें वर्षोंसे गीता-दर्शन आपके पास पहुँच रहा है। भगवान्‌की मंगलमयी भक्तिका बारहवें अध्यायमें पूर्ण निरूपण है, उसीका यह संकलन है। बिरला-परिवारपर भगवान्‌की ऐसी ही कृपा बनी रहे जिससे कि वह समग्र परिवार और इष्ट-मित्रों सहित इस मंगलमय कार्यमें प्रवृत्त रहें।

मंगलं मंगलम्!

गीता अध्याय -12

प्रवचन : 1

11-11-83

पहले श्रीगणेशका स्मरण करते हैं। गणेशका अर्थ यह है कि जो गण-गण-गण अलग हो जाते हैं, विषयोंके गण, इन्द्रियोंके गण मनोवृत्तियोंके गण टुकड़े-टुकड़े -जैसे सेना हो और उसका कोई नायक न हो, कोई स्वामी न हो, गणोंका संचालक न हो तो ये विघ्नरूप हो जाते हैं। जहाँ इनमें फूट पड़ी-जैसे कई संस्थाएँ बन रही हों या संस्थाओंके कई सदस्य हों, उनमें फूट पड़ जाय तो वे कोई काम नहीं कर सकतीं।

ऐसे ही जो हमारे भिन्न-भिन्न गण हैं-विनाथक, नायक-रहित हो जाते हैं। विघ्नदाताओंको ही संस्कृत भाषामें विनायक बोलते हैं। उन विनायकोंके जो स्वामी हैं-गणेश, वे हमारे विषयभोगको भी व्यवस्थित रखें, कर्मेंद्रियोंको भी व्यवस्थित रखें, ज्ञानेद्रियोंको भी व्यवस्थित रखें; मनोवृत्तियोंके जो गण हैं उनको भी व्यवस्थित रखें, और काम, क्रोध आदि जो विघ्न हैं, उन विघ्नोंका निवारण करें। इसलिए किसी भी कर्मके प्रारम्भमें गणेशका स्मरण किया जाता है। आपके कारखानोंमें भी यदि कई यूनियन हों तो उनके जो अध्यक्ष हों, उनको अपने हाथमें रखना चाहिए।

पहले गणेशको नमस्कार कर रहे हैं। फिर ज्ञानदाता सद्गुरुके लिए नमस्कार। फिर ये जो वाग् देवता हैं—सरस्वती माने वाणी—'अमुष्य वाणी रसनाग्रनर्तकी' श्री हर्षने कहा कि इनकी जीभपर सरस्वती नाचती है। हमारे भीतर जो छिपे हुए तत्त्व हैं उनको बाहर लाकर प्रकट करनेवाली वाग्देवता हैं। जो जीवनमें ज्ञानका संचय हुआ है, पाँच नदियोंने ले जाकर जो हृदयमें रसकी धारा संचित की है, उस रससार-संग्रहको, बाहर उँड़ेलती हैं-वाग्देवी, वे जिह्वापर आकर अपना काम करें। भागवतमें है-'सोऽलङ्कृषीष्ट भगवान् वचांसि मे'- भगवान् मेरी वाणीको अलंकृत करें।

भगवद्गीता-यह भगवती गीता है-यह भगवान्के द्वारा गीत है। भगवान्का संगीत है। आप इस बातकी कल्पना कीजिये कि रणभूमिमें, युद्धभूमिमें, अर्जुन यह भूल जाता है कि हम किसी पक्षसे युद्ध करने आये हैं, या हमारे पक्षी-प्रतिपक्षी अस्त्र-शस्त्रकी वर्षा करनके लिए उद्यत हैं, तैयार खड़े हैं, तत्पर हैं। अर्जुन प्रश्न करते हैं-

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ 12.1

यह प्रश्न कोई गंगाकिनारे या हिमालयमें या वृन्दावनमें या किसी एकान्तवासी महात्माके सामने जाकर करता तो उचित लगता। परन्तु देखो उस अर्जुनकी ओर जो उस युद्धभूमिमें रहकर, युद्धके लिए

उपस्थित होकर, युद्धकी परिस्थितिको बिलकुल आँखोंसे ओझल कर सकता है, उसका मन कितना वशमें है, उसकी बुद्धिमें जिज्ञासाकी शक्ति कितनी है, जैसा कि कहीं कोई युद्धकी चर्चा ही न हो, युद्धकी स्थिति ही न हो, बड़ी शान्ति, बड़ी एकाग्रता बड़ी सफलताके साथ प्रश्न कर रहा है!

असलमें परिस्थितिसे ऊपर उठे बिना परमार्थ विषयक जिज्ञासा या तत्सम्बन्धी समाधान हो नहीं सकता। अर्जुन परिस्थितियोंसे ऊपर उठकर यह प्रश्न कर रहा है। यदि हम परिस्थितियोंकी हवासे उड़ते जायेंगे-जो कि सायं दूसरी, प्रातः दूसरी-उन परिस्थितियोंके चक्रवातमें यदि हम फँस जायेंगे तो शाश्वतकी, सत्यकी, यथार्थकी जिज्ञासा जीवनमें नहीं आ सकेगी। अर्जुनका प्रश्न है-अर्जुन माने जो ज्ञानका अर्जन करे, पाणिनीय व्याकरणके अनुसार अर्जुन शब्दकी व्युत्पत्ति ऐसी ही है। परन्तु नैरुक्त व्युत्पत्ति यह है-'ऋजुत्वात् अर्जुनः' जो सरल हो। ऋजुसे अर्जुन बना-यह निरुक्त है और अर्जनसे अर्जुन बना यह पाणिनीय व्याकरणसे है। कितनी सरलता है प्रश्नमें-

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।

'एवम्' का अर्थ है- पूर्व अध्यायसे जैसा तुमने वर्णन किया। पूर्व अध्यायके अन्तमें भक्तको दो ओरसे घेर लिया गया है। 'मद्भक्तः' बीचमें और 'मत्कर्मकृन्मत्परमः' पहले है और 'संगवर्जितः' और 'निर्वैरः' बादमें है।

हम जो कर्म करते हैं उसका उद्देश्य क्या है? 'भगवत्प्रीत्यर्थं'-यह हुआ 'मत्कर्मकृत्'-हम भगवान्की प्रसन्नताके लिए कर्म कर रहे हैं। प्रीति माने तृप्ति, प्रसन्नता। आप जो काम करते हैं, उसका उद्देश्य क्या है? मेरे लिए काम करो। माने सर्वात्मा, सर्वान्तर्यामी, सर्वस्वरूप प्रभुके लिए काम करो। अपने व्यक्तिगत सुख-स्वार्थके लिए नहीं। भगवान्को ध्यानमें रखकर काम करो। 'मत्परमः' और भरोसा, आश्रय मेरा रखो। भगवान्के लिए काम और भगवान्का भरोसा, भगवान्का आश्रय-ये भक्तके दो पहिले लक्षण हैं। और दो दूसरे हैं-'संगवर्जितः' 'निर्वैरः'। किसीसे आसक्ति मत करो, किसीसे वैर मत करो। इन लक्षणोंसे युक्त भगवान्का भक्त है। उसके लिए भगवान्ने कहा कि ऐसा जो भक्त होता है, मुझे प्राप्त होता है। मुझे प्राप्त होता है माने जैसा मैं हूँ वैसा ही वह है। जैसे सबके हृदयमें रहकर सबको जीवन-दान करनेवाला सबको ज्ञान-दान देनेवाला, आनन्ददान करनेवाला, अन्तर्यामी जैसा मैं हूँ, वह मुझे प्राप्त हो जाता है, माने वह भी सबको जीवन देता है, सबको ज्ञान देता है, वह भी सबको आनन्द देता है। 'मामेति' मेरे पास पहुँच जाता है। मेरा अनुभव और उसका अनुभव एक हो जाता है।

इसका अर्थ है जैसे भगवान् अपनेको सर्वात्माके रूपमें अनुभव करते हैं वैसे वह भक्त भी अपनेको सर्वात्माके रूपमें अनुभव करने लगता है। 'एवं' अब उसके साथ बात जुड़ी 'सततयुक्ता ये भक्ताः त्वां उपसाते'। 'सतयुक्ता' का अर्थ ऐसा विलक्षण लगता है-सतत माने लगातार। जैसे कपड़ा बुनते हैं तो उसमें तानें-बानें होते हैं, उसीको संस्कृतमें 'तत' बोलते हैं। ढरकी-पर-ढरकी जो दोनों ओरसे आकर सूतोंको जोड़ती जाती है-लगातार, अगर एक बार भी चूक जाय तो कपड़ा ठीक नहीं बुनेगा। 'मया ततमिदम्'-'त्वया

ततमिदं'-'त्वया ततं विश्वमनन्तरूप:' 'मया ततमिदं सर्वम्' 'येन सर्वमिदं ततम्।' तत शब्दका प्रयोग गीतामें बहुत बार है। सतत शब्दका अर्थ है लगातार, कहीं चूक न हो-एक पर एक, एक पर एक। शान्त वृत्ति और उदित वृत्ति। जो शान्त वृत्ति थी वह भी भगवदाकार और जो उदित वृत्ति हुई, वह भी भगवदाकार। भगवान्से जुड़े रहें।

यहाँ एक प्रश्न है कि आदमी लगातार ईश्वरके साथ कैसे जुड़ा रहे? यदि यह मानेंगे कि स्मृति बनी रहे, तो ऐसा दुनियामें कोई प्राणी नहीं है, न है, न हुआ है-न होगा-जिसकी स्मृति लगातार बनी रहे। स्मृतिका विज्ञान ही यह है। प्रीति और स्मृतिमें अन्तर होता है। जैसे आप अपने पुत्रसे प्रेम करते हैं, उनकी प्रीतिमें तो कोई अन्तर नहीं है। पत्नी, पति, माता, पिता सबसे प्रेम करते हैं परन्तु किसीकी लगातार स्मृति तो नहीं रहती है। कोई कहे कि प्रेमका स्मृतिके साथ कोई अव्यभिचरित सम्बन्ध है कि जहाँ प्रेम वहाँ निरन्तर याद रहेगी, यह नियम नहीं बना सकते। स्मृति हो, चाहे विस्मृति-पुत्रसे जो प्रेम है उसमें बाधा नहीं पड़ती है। जब हम उसको भूले हुए रहते हैं, उस समय भी उसका प्रेम हृदयमें ज्यों-का-त्यों बना ही रहता है। भगवान्के प्रति प्रीतिकी ऐसी स्थापना होनी चाहिए। जब हम सो जाते हैं और विस्मृतिके अत्यन्त गर्भमें लीन हो जाते हैं, उस समय भी पुत्रके प्रेममें कोई बाधा पड़ती हो, ऐसा देखनेमें नहीं आता।

तो भगवान्के प्रति ऐसी अन्तरंग प्रीति हो, जो मुर्च्छामें भी बनी रहे, सुषुप्तिमें भी बनी रहे, मृत्युमें भी बनी रहे, प्रलयमें भी बनी रहे। वह प्रीति क्या हो, अपने आत्माके साथ एक हो जाय। प्रीतिके स्वरूपको समझना पड़ेगा। 'सतत-युक्ता ये भक्ताः'। भक्त शब्दके अर्थपर विचार करें। प्रीति केवल एकसे ही होना चाहिए। अभी ग्यारहवें अध्यायमें आपने विश्वरूपका दर्शन किया है। और बारहवें अध्यायके प्रारम्भमें निरन्तर जुड़े रहनेकी बात कही गयी है, निरन्तर-जुड़े रहना दो ही स्थितिमें हो सकता है-या तो सर्व-विषयके रूपमें विश्वरूप भगवान् अपने सामने हों-वृक्ष भी, लता भी, पशु भी, पक्षी भी, देवता, दानव, मानव, मुर्दा और जिन्दा-विश्वरूपमें हमने मुर्दे भी देखे हैं, जिन्दा भी देखे हैं। यदि सर्व विराट्का रूप है तो हम जो देखते हैं, जो सुनते हैं, जो छूते हैं, जो सूँघते हैं, जो चखते हैं- जहाँ चलते हैं, जहाँ करते हैं, उन सबोंसे कभी वियोग नहीं होगा, सतत युक्त रहेंगे।

एक पद्धति यह है कि सर्वरूपमें, विराट्रूपमें भगवान् हमारे सामने हैं और हम उसीमें देखते हैं, उसीमें चलते हैं। जो आँखोंसे देखते हैं वह भगवान्, जो कानसे सुनते हैं वह भगवान्। या तो सर्वमें विराट् बुद्धि, भगवद्-बुद्धि-सब भगवान्का स्वरूप है, ऐसा हो जाय और या तो आत्माके रूपमें जब परमात्माका बोध हो जाय तो आत्मासे वियोग तो कभी होगा ही नहीं। सततयुक्तके रूपमें या तो हमारी वृत्तियोंका आश्रय भगवान् हों तो वृत्ति सोयेगी भगवान्में, जागेगी भगवान्में, निरन्तर युक्त रहेगी भगवान्से। या तो हमारी वृत्तियोंके विषयके रूपमें भगवान् हों- सामने वही हों, उनके सिवाय और कोई न हो। अनेकों रूप धारण करके भगवान् ही हमारे सामने हैं। सतत युक्त रहेंगे। 'त्वां पर्युपासते'-'पर्युपासते' शब्दका अर्थ होता है 'परितः उपासते।' चारों ओर-जहाँ देखो वहाँ भगवान्। एक टीकाकारने इसका ऐसा अर्थ किया है। 'अप परिवर्जने'-यह पाणिनिका सूत्र

(१.४.८८) है। 'अप' और 'परि' ये तो उपसर्ग वर्जनके अर्थमें होते हैं। 'अन्यान् सर्वान् वर्जयित्वा इति परिवर्ज्य'। कोई दूसरा है यह चिन्तन छोड़कर भगवान्के पास, भगवान्में विराजमान हैं।

'त्वाम्'के अर्थपर विचार करें। 'त्वाम्'का अर्थ शंकराचार्यने किया 'विश्वरूपम्'। 'पर्युपासते'-जो विश्वरूपकी उपासना करते हैं। ये देखो श्याम, ये देखो श्याम, ये देखो श्याम। 'आत्मैवेदं सर्वम्'[1] 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'[2] 'स एवेदं सर्वम्, अहमेवेदं सर्वम्'[3] 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म'।[4] श्रीरामानुजाचार्यने 'त्वाम्'का अर्थ किया है अचिन्त्य-अनन्त-कल्याण-गुणगण-निलय। जिनमें सौशील्य, वात्सल्य, सौकुमार्य, सौख्य, सौरभ्य-परम कृपामयी जिनकी मूर्ति है, उन भगवान्की, नारायणकी उपासना करते हैं। 'तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन'। बल्लभ और चैतन्य सम्प्रदायके आचार्योंने 'त्वाम्' का अर्थ किया-यह जो आपका परमसुन्दर, नन्दनन्दन, मुरलीमनोहर सौम्यरूप है-उसकी जो उपासना करते हैं। एक विभाग यह हुआ सगुण साकारकी उपासनाका।

अब प्रश्न यह है कि कोई सगुण-साकारकी उपासना न करके अव्यक्त अक्षरकी उपासना करते हैं।'ये चाप्यक्षरम् अव्यक्तम्'-दूसरे लोग ऐसे हैं वे कहते हैं कि व्यक्तिके रूपमें भगवान्की उपासना करनेसे हृदयमें जो संकीर्णता है, उसका निवारण नहीं हो सकता। छोटा-सा भगवान्, छोटा-सा दिल, छोटे-से मन्दिरमें, छोटा बनकर उसकी उपासना कर रहे हैं। तो भगवान्की जो पूर्णता है उनके साथ सम्बन्ध नहीं जुड़ता है।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ 7.24

कोई-कोई ऐसे हैं बुद्धिमान्, जो अपनी परिच्छिन्नताको मिटाकर, अपनी सीमाको तोड़कर किसी प्रमाणसे जिसकी अभिव्यक्ति नहीं होती है, और जिसका कभी उदय-विलय नहीं होता है, जो अक्षर है 'न क्षरति' अथवा 'अश्नुते इति अक्षरम्' (महाभाष्यसे अक्षर शब्दकी व्युत्पत्ति है अश्नुते, व्याप्नोति) अनेक आकृतियोंमें एक है वह अक्षर है। जैसे लिपियाँ अनेक होनेपर भी अक्षर या वर्ण एक हैं। जो किसी भी इन्द्रियसे, करणसे, वृत्तिसे व्यक्त नहीं होता, व्यञ्जित नहीं होता, उसको अव्यक्त कहते हैं। उसकी उपासना करते हैं, कई बुद्धिमान् निर्गुणकी उपासना करते हैं। इस बातको मत भूलिये कि 'प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते'-शंख बज चुका है, शस्त्रोंकी वर्षा प्रारम्भ होनेवाली है और अर्जुनका प्रश्न यह है कि सगुणसाकारके उपासकोंमें और निर्गुण-निराकारके उपासकोंमें योगवित्तम कौन है? योग माने परमात्माकी प्राप्तिके लिए उपाय है, उसको योग कहते हैं। उसको जो जाने उसको योगविद् कहते हैं। और जो जाननेवालोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ हैं, उसको योगवित्तम कहते हैं। वित्-वित्तर-वित्तम्।

अब आप सोचिये कि कहीं लाखोंका सौदा करना हो और वहाँ आपको कोई बाबाजी मिल जाय और सौदेकी बात भूलकर आप उससे परमार्थकी चर्चा करने लगें। एक मित्र आजाय तो कहेंगे भाई-बाबाजी तो अपने घरका है, पूछ लेंगे। मन कहाँ-से-कहाँ चला जाता है। यह है अर्जुन-सचमुच गीताका अधिकारी। जो विपरीत-से-विपरीत परिस्थितिमें भी अपनी चित्तवृत्तिको यथास्थान लगाये हुए हैं। तृतीय अध्यायतक अर्जुनके

1) छान्दोग्य 7.25.20 2) वृहदारण्यक 5.3.1 3) छान्दोग्य 7.25.1 4) छान्दोग्य 3.14.1।

जो प्रश्न हैं वे तो युद्धकी कर्तव्यताके सम्बन्धमें हैं। चतुर्थ अध्यायमें श्रीकृष्णके गुरुत्वके सम्बन्धमें प्रश्न हैं। 'अपर भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः'। पाँचवे अध्यायके प्रारम्भसे लेकर जितने भी अर्जुनके जो प्रश्न हैं उसमें जैसे अर्जुनको युद्धकी कहीं स्मृति ही न हो। युद्धको भूल गया। हम लोगोंके सामने तो कोई चिड़िया बोल देती है तब उसीपर ध्यान चला जाता है। अर्जुनके सामने न हाथियोंकी चिग्घाड़का कोई असर है, न घोड़ोंकी हिनहिनाहटका! न शंखध्वनिका, न मारो-मारोकी ध्वनि हो रही है, उसका। भगवान्ने कहा-हाँ, यह है उत्तर देने योग्य।

श्रीभगवानुवाच-असलमें भगवान् परिस्थितियोंकी उपेक्षा करके, जो अन्तर्देशके निभृत प्रदेशमें भगवान्की ओर अपनी बुद्धिका मुँह करके और उनसे ज्ञान लेना चाहता है, उसको वही अन्तर्यामी बुद्धिमें आरूढ़ होकर, मनरूप अर्जुनको शिक्षा देते है। 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि' (कठोपनिषद् 1.3.3)। बुद्धि सारथि है। 'सारयति अस्मान्'। यहीं है भगवान् और यहीं है यह जीवन-रथ या शरीर-रथ और यहीं है अर्जुन! आपका मन ही अर्जुन है, आपकी बुद्धिमें ही भगवान् बैठे हैं पर आप अपने मनको ऐसा तो कर लीजिये कि यह जो विषयोंका और इन्द्रियोंका द्वन्द्व मच रहा है, इसमें वह अन्तर्यामीकी ओर-'धियो यो नः प्रचोदयात्'-हमारी बुद्धिका जो प्रेरक है उसकी ओर देखे तो सही। वह बोलेंगे-भगवान् बोलेंगे। यदि आप ऐसा नहीं कर सकेंगे तो भगवान् नहीं बोलेंगे, आपकी वासना बोलेगी। और यदि आप अपनेको अर्जुन बना सकेंगे तो आपकी वासना नहीं बोलेगी, भगवान् बोलेंगे।

भगवान्के वचनकी व्याख्या दैवी मीमांसामें जो अधिदैव मीमांसा है-अधिदैव मीमांसाका अर्थ यह होता है कि जैसे हम यज्ञशालामें वेदके मन्त्र पढ़ते हैं न! पहले मण्डप बनाते हैं, फिर चारों ओर पूजा करते हैं, फिर बीचमें देवताओंकी स्थापना कर लेते हैं। तो, उन-उन देवताओंके साथ हमारा सम्बन्ध जुड़ जाता है। जब हम मन्त्र पढ़ते हैं तो अधिदैवके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेवाला वेद-मन्त्र होता है-'इन्द्र प्रातर्हवामहे' (ऋग्वेद 1.16.3) 'गणानांत्वा गणपतिं हवामहे' (ऋग्वेद 2.23.1)-जैसे हमसे कोई दूर हो और हम बेतार-के-तारसे या रेडियोसे बात करते हों-तो, यह देवताओंसे बातचीत करनेकी भाषा है, यह अधिदैव मन्त्र है। गीता मुख्यतः अध्यात्म मन्त्र है। अध्यात्म मन्त्र माने भीतरवाले भगवान्से बातचीत।

अब ये भगवान्के वचन हैं, 'भगवान्' शब्द गीतामें संज्ञाके अर्थमें प्रयुक्त है। नाम है 'भगवान्'। वैसे वाल्मीकि रामायणमें, महाभारतमें वेदोंमें भी विशेषणके अर्थमें 'भगवान्' शब्दका प्रयोग होता है। जैसे हमलोग श्रीमान् बोलते है, वैसे 'भगवान् वसिष्ठः, भगवान् नारदः, भगवान् शुकः' ऐसे बोलते हैं।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ 12.2

अच्छा भाई! हम शास्त्रार्थकी बात छोड़ देते हैं।

मे मताः, मे मम मताः।

मतः माने अभिप्रेताः। देखो, मे-मैं अपना अभिप्राय सुनाता हूँ। यह बहुत बड़ी बात हो गयी। हमारे

पास कोई सलाह लेने आवे, तो हम पहले उसीका अभिप्राय जाननेका प्रयास करते हैं। इसका अभिप्राय क्या है, फिर उसके घरवालोंका अभिप्राय, उसके मित्रोंका अभिप्राय, उसके कर्मचारियोंका अभिप्राय जानकर तब अपनी सलाह देते हैं। और यदि बिना जाने सलाह देंगे, केवल अपनी-अपनी उगल देंगे तो वह सलाह बिलकुल गलत होगी। यह ऐसा ही है कि जैसे किसीको छींक आयी, उसने तुरन्त अपनी जानी हुई दवा बता दी कि यह दवा तुम खा लो, अच्छी हो जायेगी। उसको यह मालूम नहीं है कि यह हार्टकी खराबीसे छींक आ रही है कि डायाविटिजकी वजहसे आ रही है कि टी.वी. की वजहसे आरही है कि न्यूनोमियाकी वजहसे आ रही है उसने छींक सुनी और झट अपना अभिप्राय दे दिया। वह दवा बिल्कुल गलत हो जायेगी। एक आदमीको हार्टका रोग है-बड़ा डाक्टर उसकी चिकित्सा कर रहा था, दवा देते समय वह भूल गया कि यह हार्टका रोगी है। उसने दमासे जो खाँसी आती है, उसकी दवा दे दी। हार्टकी वजहसे खाँसी आती है वह अलग, दमाकी वजहसे खाँसी आती है वह अलग। अन्य किसी वजहसे खाँसी आती है, वह अलग। पूरी जानकारीके बिना दवा दे दी और उलटी पड़ गयी। मरते-मरते बचा। सलाह देनेमें भी ध्यान रखना चाहिए। रोगीके इतिहासकी, उसके विगतकी, उसके सब रोगोंके बारेमें जानकारी होनी चाहिए, तब सलाह देनी चाहिए।

भगवान्ने कहा हमको और कुछ जानकारीकी जरूरत नहीं है, लो मेरा अभिप्राय! वे तो सर्वज्ञ हैं। अर्जुन जब सोता था तो उसके रोम-रोमसे कृष्ण-कृष्णकी ध्वनि निकलती थी। हमने ऐसे महात्मा देखे हैं, जिनके अंग-अंगसे भगवन्नामकी ध्वनि निकलती है। उनके साँससे मन्त्रका उच्चारण होता है-ऐसा देखा है। गाढ सुषुप्तिमें मन्त्रका उच्चारण होता है। अर्जुनका रोम-रोम श्रीकृष्णमय है। श्रीकृष्णने कहा 'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।' जो लोग मुझमें मनको आविष्ट कर देते हैं-अद्भुत बात है-यहाँ 'मुझ'का अर्थ क्या है? शंकराचार्यकी भाषामें 'मुझ'का अर्थ है 'मयि विराजि'। जैसे तुम्हारा मन इस शरीरमें आविष्ट हो गया है इस प्रकार जिसने अपने मनको विराट् रूपमें आविष्ट कर दिया, वे मेरे सर्वोच्च भक्त हैं।

आप लोगोंने सुना होगा कि किसी-किसीको आवेश होता है-भूतका, प्रेतका-वही होकर बोलता है। वह सच है कि झूठ, यह हमारे अनुभवकी बात नहीं है। पर हमको कभी कामका, क्रोधका, लोभका जब आवेश होता है- हमारे अन्दर जब दयाका, स्नेहका, ममताका आवेश होता है, तो और सब कुछ भूल जाता है। यह आवेश है-मनका आवेश है। कहाँ है? भगवान्में। एक चतुर्भुज भगवान् हृदयकमलपर खड़े हैं। हृदयकमलमें-से मन निकला और भगवान्के चरणोंमें होकर उनके सारे शरीरमें आविष्ट हो गया। अब भगवान्का देखना तुम्हारा देखना, एक हो गया। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य चतुर्भजावच्छिन्न चैतन्यसे एक हो गया। भगवान्की आँखसे तुम देख रहे हो, भगवान्के हाथसे शंख, चक्र, गदा धारण करते हो, भगवान्की मुसकानमें तुम्हारी मुसकान मिल गयी है। अपनेको मत देखो, दुनियाको मत देखो-भगवान्की मुस्कान तुम्हारी मुसकान हो गयी है; उनका उदार हृदय तुम्हारा हृदय हो गया है; उनकी सुन्दरता तुम्हारी सुन्दरता हो गयी है।

मय्यावेश्य-कई-कई भक्तोंने 'मय्यावेश्य'का अर्थ किया है, मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारिणि,

श्यामसुन्दरे, नन्दनन्दने, मयि आवेश्य। मैं जो श्यामसुन्दर, मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण हूँ-उसमें, अपने मनको आविष्ट कर दो। श्रीमद्भागवतके अनुसार सात वर्षकी उम्रमें श्रीकृष्णने गोवर्धन उठाया था, यह स्पष्ट है। और ग्यारह वर्षकी उमर तक व्रजमें रहे हैं। उनकी सब लीलाओंमें काम, क्रोधकी कल्पना मत करो। वह तो ऐसी हो गयी जैसे हम छोटे बालकको सजा-सँवारकर कृष्ण बना देते हैं अथवा सखी गोपी बना देते हैं और वह निर्विकार रूपसे ही जो संवाद बोलते हैं, जो चेष्टा करते हैं, जो नाचते हैं। ग्यारह वर्षसे कम उम्रके बालककी चेष्टाका क्या अर्थ होता है? उसमें विकारकी कल्पना बिलकुल व्यर्थ है कि नहीं है! वहाँ नाचना, गाना ऐसा ही है जैसे हम अपने बालक-बालिकाओंको किसी उत्सवमें सजा देते हैं, उनको नचाते हैं, गवाते हैं। बड़ा आनन्द है!

अपने मनको पूरी-की-पूरी लीलामें ही आविष्ट कर दो। मयि नवनीतचौरे। 'मयि चीरापहारिणि।' 'मयि रासेश्वरे'। आवेश्य-अपने मनको मिला दो। तुम्हारा मन नाचे, तुम्हारा मन गावे और भगवान्में लगे रहो- 'नित्ययुक्ता उपासते' यह आनन्दोद्रेककी लीला है। आनन्दोल्लासकी लीला है। जब ज्ञान नाचने लगता है तब उसको भक्ति कहते हैं। थिरकते हुए ज्ञानका नाम, उल्लसित ज्ञानका नाम भक्ति है। जब रसकी फुहारें उठें, रसकी बूँदें बरसें, रसकी गंगा तरंगित हो, रसके समुद्रमें ज्वारमें आजाय तब उसको भक्ति कहते हैं। जुड़ गये। 'नित्ययुक्ता उपासते' भक्तिकी यही परिभाषा है, आनन्द-प्रधान वृत्ति। स्थिर आनन्दमें जो वृत्तियोंका नृत्य है, चापल्य है उसका नाम भक्ति है। भक्तिमें एक चीज जरूरी है-श्रद्धा-पराकाष्ठाकी श्रद्धा।

'ते मे युक्ततमा मताः।' बारहवें अध्यायका उपसंहार भी श्रद्धासे ही है। यह उपक्रम उपसंहारकी एकता है-तात्पर्य-निश्चयके लिए। भगवान्ने उपक्रम किया-'श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः' (12.2) और उपसंहार किया-

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ 12.20

हमारा प्यारा कौन है? जो पहले हमसे मिल ले और फिर हमसे प्रेम करे वह? नहीं। मिल ले और प्रेम करे-इसमें तो विशेषता ही क्या? विशेषता तो तब है जब मिले नहीं और प्रेम करे। ईश्वरसे मिलकर प्रेम नहीं किया जाता, ईश्वरसे बिना मिले प्रेम किया जाता है। उसी बिना मिले प्रेमका नाम श्रद्धा है। जो शास्त्रमें, श्रुतिमें, सद्गुरुने तात्पर्य बताया है, उसरपर सत्यबुद्धि, दृढ सत्यबुद्धि होना-इसका नाम श्रद्धा है। 'श्रदिति सत्यस्य नाम, तदस्यां धीयते इति श्रद्धा'-यह निरुक्त-व्याख्याकारका मत है। 'श्रदिति आस्तिकताया विधानम्'-यह मध्वाचार्य बोलते हैं। सत्को परोक्ष बनानेके लिए श्रत् कर दिया। रेफ जो उसमें मिलाया है, वह सत्को परोक्ष करनेके लिए। परोक्षमें श्रद्धा होती है। कोई हमको गोदमें उठा ले तो वह तो प्रत्यक्ष है। उसमें श्रद्धा क्या? जैसे कोई शिशुको अपने गोदमें रखकर उससे प्रेम करता है, वैसे बिना गोदमें लिये ही मुझसे कोई वैसे ही प्रेम कर रहा है, ऐसो श्रद्धा।

आप देखें-जो हमको साँस लेनेको हवा दे रहा है-वह हमारे सामने आकर बताता है, हम तुम्हें झल रहे

****

हैं? बिना हमको दिखाये ही जो रोशनी दे रहा है-बताता है कि मैं तुम्हारे घरमें दिया जलाता हूँ। बिना धूपबत्ती दिखाये ही जो तुम्हारी नासिकाको सुगन्ध देता है- अजी, सुगन्धको छोड़ो, वायुको छोड़ो, जिसने नाक दी है सुगन्ध ग्रहण करनेके लिए, जिह्वा दी है रस ग्रहण करनेके लिए, जिसने त्वचा दी है, स्पर्शका अनुभव करनेके लिए, जिसने नेत्र दिया है देखनेके लिए। सूर्य-चन्द्रमाकी रोशनी छोड़ो, जिसने ऐसी धौंकनी बना दी है भीतर कि वह बारम्बार पुरानी हवाको छोड़े और नयी हवा खींचती रहे। उस शिल्पीको, उस रचनाकारको देखो, देखो नहीं, उसपर श्रद्धा करो-'श्रद्धत्स्व सोम्य, श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मानं पश्येत्' श्रद्धाकी पूँजी लेकर अपने आपमें इस परमात्माको देखो। 'श्रद्धया सत्यमाप्यते।' श्रद्धयापरयोपेता:।' परयाका अर्थ है पराकाष्ठा-वही हमारे जीवनको भर रही है। प्राणान्त उपस्थित होनेपर भी, विकट-से-विकट परिस्थिति आनेपर भी, सब कुछ टूट जाय पर श्रद्धा न टूटे। 'श्रद्धाधनेन मुनिना' मधुसूदन सरस्वती कहते हैं-भाई हमारे पास और कोई धन नहीं है, एक ही धन है-श्रद्धा। मैं संन्यासी हूँ, मेरे पास और कोई सम्पदा नहीं हैं, केवल श्रद्धाकी सम्पदा है। श्रद्धाकी सम्पत्तिसे युक्त रहो।

'ते मे युक्ततमा मता:'। आप जानते हैं गीतामें 'युक्त' शब्दका भी प्रयोग है और 'युक्ततम' शब्दका भी प्रयोग है। स्थितप्रज्ञके लिए युक्त शब्दका प्रयोग है। आपके ध्यानमें होगा-'युक्त आसीत मत्पर:।' स्थितप्रज्ञको बताया कि वह युक्त है-बिखरा हुआ नहीं है, मिला हुआ है-जो बिखर गया वह टूट गया, फूट गया, अयुक्त है। हाथ युक्त है, पाँव युक्त है। सब युक्त, युक्त है, लेकिन भगवान्ने युक्तको वहीं तक नहीं छोड़ा-योगीको भी युक्त बताया।

यदा विनियतं चित्तं आत्मन्येवावतिष्ठते।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ 6.18

चित्त सुनिश्चित हो और इधर-उधर भाग-दौड़ न करे। भोगकी स्पृहा न हो। हमारे भोग बने रहें, वे आते हैं-जाते हैं, आते हैं-जाते हैं और असलमें नये-नये भोगमें ही आनन्द होता है। नये-नये देशमें जाओ, नया-नया स्थान देखो, नयी-नयी वस्तुओंका उपयोग करो। पर टूटे नहीं। 'निस्पृह: सर्वकामेभ्य:'। यह स्थान हमारा बना रहे। यह वस्तु बनी रहे, यह व्यक्ति बना रहे। जब अपना ही शरीर बना रहनेवाला नहीं है तो अन्य वस्तु कभी नहीं बनी रहेगी।

यदा निनियतं चित्तं आत्मन्येवावतिष्ठते।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।। 6.18

लो, युक्तका लक्षण और गहरा लो।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ 6.8

वहाँ तो मिट्टीका डला, पत्थर, सोना बराबर। तब आनन्द आवेगा? बोले 'ज्ञानविज्ञान-तृप्तात्मा'। हमारे जो विद्वान् थे, जिन्हें पहले हमने देखा था, काशीमें पञ्चाननजी बंगालके, लक्ष्मणशास्त्री द्राविड थे, चिन्नस्वामी,

****

****

नित्यानन्द पर्वतीय, वामाचरण भट्टाचार्य-सिला हुआ कपड़ा नहीं पहनते थे और यथा-तथा उनके जीवनका निर्वाह होता था। पर वे किसी राजा-रईसको अपनेसे ज्यादा सुखी नहीं मानते थे। हमने ऐसे महात्मा देखे हैं जिनके पास नाश्ता नहीं है-नाश्ता तो करते ही नहीं-भोजन भी नहीं है। आयेगा कि नहीं आयेगा, मालूम भी नहीं है। पर 'ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा'। उनको तृप्ति है-जैसे धनीको धनसे तृप्ति होती है-भोगीको भोगसे तृप्ति होती है। वैसी तृप्ति उनके हृदयमें अपने ज्ञान-विज्ञानसे ही बनी है। इसको 'युक्त' बोलते हैं। पराधीन होकर तृप्त होना-यह कोई तृप्तिकी पहचान थोड़े ही है।

ये तो सब महात्माओंकी बात हुई। अब जरा व्यवहारकी बात देखो-

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ 5.23

काम-क्रोधके जो वशमें नहीं होता है, जिसको काम नचाता नहीं, जिसको क्रोध जलाता नहीं, उसका नाम युक्त है। काम करते रहो, फँसो मत। यह तो है सब युक्त, लेकिन 'अतिशयेन युक्त: युक्ततर:;' अतिशयेन युक्ततर: युक्ततम:'। जो अतिशय युक्त है वह कौन है? 'ते मे युक्ततमा मता:'। वह युक्ततम है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। 6.47

अपनी अन्तरात्माको मेरे शरीरमें डाल दिया। चतुर्भुज हो गया भाई! वह तो मुरलीमनोहर हो गया। वह तो अन्तर्यामी नारायण हो गया। वह तो विराट् हो गया जिसने अपने मनको भगवान्में मिला दिया-'ते मे युक्ततमा मता:'। 'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते। श्रद्धया परयोपेता: ते मे युक्ततमा मता:।' भगवान् कहते हैं- इनसे बड़ा मुझसे कोई मिला हुआ दूसरा नहीं है-सबसे बड़े वही हैं। वही योगवित्तम है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

****

****

प्रवचन : 2

12-11-83

अर्जुनका प्रश्न यह था कि सगुण साकार विराट् रूपके जो उपासक हैं वे योगवित्तम हैं अथवा जो अक्षर अव्यक्तके उपासक हैं वे योगवित्तम हैं? योगवित्तम माने परमात्माकी प्राप्तिके उपायको जाननेवालोंमें सवश्रेष्ठ। योग माने उपाय और वित माने ज्ञान और तम माने श्रेष्ठतम। यदि सगुणकी उपासना न करके पहले निर्गुणकी ही उपासना की जाय तो वह बहुत कठिन पड़ती है। पहले सगुणकी उपासना हो जाय तो निर्गुण उपासना सुगम हो जाती है। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा-

भरि लोचन विलोकि अवधेसा।
तब सुनिहौं निर्गुण उपदेसा॥

निर्गुण और सगुणमें भेद क्या है? निर्गुण चुपचाप अचल बैठा रहता है, वह किसीको अपनी ओर खींचता नहीं है, जिसको सब कुछ छोड़कर उससे मिलना हो वह उससे जाकर मिले। और सगुण वह है जो अपने गुण प्रकट कर दे। फन्दा फेंककर, डोरा डालकर, हँसकर, गाकर, नाचकर, सम्बन्ध जोड़कर अपनी ओर खींच ले-इसको सगुण बोलते हैं। जो अपनी ओर भक्तोंको खींचता है। निर्गुण उपासक वे हैं जो नामरूप क्रियात्मक प्रपञ्चसे विरक्त होकर और उसकी जिज्ञासा, जानकारी प्राप्त करनेके लिए महात्माओंके पास जाते हैं। वेदका श्रवण करते हैं, मनन करते हैं, अपने आप आवरण-भंग करके, परदा फाड़कर परमात्मासे एक हो जाते हैं। सुगमताकी दृष्टिसे सगुणकी जो उपासना है वह श्रेष्ठ है।

यह कहो कि भगवान् दो हैं तो असलमें भगवान् दो तो हैं नहीं, ईश्वर तो एक ही होता है, इसलिए भगवान् श्रीकृष्णने यह कहा-अपने मनको मुझमें आविष्ट कर दो। जैसे क्रोध आनेपर तुम क्रोधमें आविष्ट हो जाते हो, काम आनेपर काममें आविष्ट हो जाते हो, जैसे लोभ आनेपर लोभमें आविष्ट हो जाते हो। इन दृष्टान्तोंको आप छोटी किस्मका न समझें।

कामिहि नारि-पियारि जिमि लोभिहिके जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहुँ मोहिं राम॥

आपने देखा होगा कि जब कोई भूत-प्रेतके आवेशमें आ जाता है, दिमाग उसका फिर जाता है तब वही हो जाता है। छोटी-मोटी बातोंमें अपने दिमागको आविष्ट न करके, मनको न लगाकर, परमात्मामें अपने मनको आविष्ट कर दो। 'नित्ययुक्ता' और 'सततयुक्ता' दो पद अर्जुनके प्रश्नमें हैं। उसमें 'सततयुक्ता' का अर्थ है लगातार लगे हुए। उसी तरह दूसरा है 'नित्ययुक्ता'। यह बात तभी सम्भव है जब हम यह देखें कि सब भगवान हैं।

सर्वं समाप्नोषि ततोसि सर्वः। 11.40

जब मौत भी भगवान्का रूप मालूम पड़े। आप लोग गीतामें पढ़ते हैं-

****

****

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।

मैं अमृत हूँ, मैं मृत्यु हूँ। मैं सत् हूँ, मैं असत् हूँ-स्थूल हूँ, सूक्ष्म हूँ, कार्य हूँ, कारण हूँ, अच्छा हूँ, बुरा हूँ। सब भगवान्के रूपमें दिखे तो आपका भगवान्से वियोग कभी नहीं होगा। जाग्रत् भी वही, स्वप्न भी वही, सुषुप्ति भी वही और दूसरी बात यह है कि वृत्तियोंके आश्रयके रूपमें जो सबका अधिष्ठान है, सबका प्रकाशक है- **धियो यो नः प्रचोदयात्।** वह परमात्मा निरन्तर हमारी वृत्तियोंके साथ जुड़ा रहता है। उसीकी सत्तासे वृत्तिमें सत्ता है-सत्ता माने होना। विद्यमानता-परमात्मा है। इसीलिए हमारी वृत्तियाँ हैं। परमात्मा ज्ञानस्वरूप है इसीलिए वे जानती हैं-और परमात्मा आनन्दस्वरूप है, इसीसे प्रेम होता है। या तो सच्चिदानन्दघन अद्वितीय, जो सर्वाधिष्ठान परमात्मा है, उसका बोध हो जाय, या तो सर्वरूप परमात्मा है, यह सर्वात्मभाव हो जाय।

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत। 15.19

अब निर्गुण उपासनाकी बात दो श्लोकोमें बोलते हैं-और तीसरेमें उसमें जो कठिनता है, उसका वर्णन करते हैं।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ 12.3-5

कुछ लोग ऐसे है जो अक्षर अव्यक्तकी उपासना करते हैं, उसका वर्णन करते हैं। संस्कृतकी रीति यह है कि उसमें गिन-गिनकर शब्दोंका प्रयोग होता है जितना प्रयोजन हो उतने ही शब्दोंका प्रयोग करना। वागाडम्बर, घटाटोप बाँधना, ढूँढने गये हाथी और मिला चूहा। खोदा पहाड़ निकली चुहिया। बड़ा भारी जो शब्दाडम्बर होता है उसमें बात थोड़ी-सी होती है, तत्त्वकी। कुछ शब्दालंकार, कुछ अर्थालंकार-कुछमें बात नहीं निकलती है। दर्शनशास्त्रमें तो इसके लिए कोई स्थान ही नहीं है कि हम निरर्थक शब्दोंमें प्रयोग करें।

पहले बात कही गयी 'अक्षरं'। अक्षर माने क्या है? गीतामें ही अक्षर शब्दका प्रयोग कई अर्थोंमें किया गया है। वेद अक्षरात्मक हैं। 'अ' से लेकर 'ह' और ळ मिलाकर पचास अक्षर होते हैं। सीधे गिनें तो पचास और उलटे गिनें तो पचास, इससे हो जाते हैं सौ और अ.क.च.ट.त.प.य.ये आठ वर्ग हैं। आठोंको मिलाकर पूरे एक सौ आठ हो जाते हैं। जो लोग ध्यान करते हैं, उनको यह मालूम है और ऐसे 'क' से लेकर 'व' तक और 'क' से लेकर 'र' तक और 'क' से लेकर 'ह' तक और 'क' से लेकर 'म' तक यदि गिनती गिनलें तो एक सौ आठ तक पूरी हो जाती है। एक होता है अक्षरात्मक वेद। वेदका सार है गायत्री-गायत्रीमें हैं चौबीस अक्षर और गायत्रीका सार है महावाक्य और महावाक्यका सार है ॐ। गीतामें 'ॐ इत्येकाक्षरं' ॐ को एकाक्षर ब्रह्म बताया है। यहाँ अक्षर शब्दका अर्थ क्या है? ये त्वक्षरम् अनिर्देश्यम्-

****

ॐ कारकी उपासना करते हैं। वेद पढ़ते हैं, गायत्रीका जप करते हैं। महावाक्यका चिन्तन करते हैं। ॐकारका जप करते हैं-इसका क्या अभिप्राय है?

गीतामें परमात्माके लिए भी अक्षर शब्दका प्रयोग आता है- 'तदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद् यतयो वीतरागाः'। वेदविद् लोग जिसको अक्षर कहते हैं और वीतराग महात्मा लोग जिसमें प्रवेश करते हैं। जीवके लिए और प्रकृतिके लिए भी अक्षर शब्दका प्रयोग गीतामें है।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते। 15.16
यस्मात् क्षरमतीतोऽहं अक्षरादपि चोत्तमः॥ 15.18

ये क्षर अष्टधा प्रकृति हैं और अक्षर जीवरूपा पराप्रकृति हैं। इसका कोई प्रकृति अर्थ करते हैं, कोई अक्षर ब्रह्म या जीव ऐसा करते हैं। परमात्माके लिए भी अक्षर शब्दका प्रयोग है। 'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः तमाहु परमां गतिम्'। यहाँ अक्षर शब्दका अर्थ परमात्मा है। यहाँ इसका अर्थ शब्द-राशि वेद है, गायत्री है, महावाक्य है, प्रणव है-क्या है? वैसे अक्षर शब्दकी सामान्यरूपसे दो व्युत्पत्ति मानते हैं-न क्षरति जिसका नाश न हो और अश्नुते-जो लिपियोंमें व्याप्त रहता है। सर्वत्र सब आकृतियोंमें व्याप्त रहता है। जैसे घड़ा, सकोरा, सबमें माटी है। जैसे बूँद, फेन, लहर सबमें पानी है। जैसे लपटोंमें आग है, जैसे झोकोंमें, साँसोंमें हवा है। इस प्रकार जो सबमें भरपूर रहता है, उसको अक्षर कहते हैं। अब इसको हम आगे बढ़ाते हैं।

आगे बढ़ाते हैं का अर्थ क्या है? इतना कहनेसे स्पष्टता नहीं आयी। पहले निर्देशका ही विवरण करते हैं। अनिर्देश्यं-संस्कृतिमें व्याख्याकी यह पद्धति है। इसको हेतु-हेतुमद्भाव बोलते हैं। एकके बाद दूसरे शब्दका प्रयोग क्यों किया गया? पहला कहनेमें कुछ कसर रह गयी। एक शब्द और कहकर उसका परिष्कार करते हैं।

अनिर्देश्यं-शब्द जितने भी होते हैं, निर्देश करते है। उसकी भी गिनती है, ऐसे नहीं कि चाहे जिस शब्दसे कैसे भी सूचित कर लें। शब्दके द्वारा जाति बताते हैं, अयं गौ-पुलिङ्गका प्रयोग किया। यह बैल है। अयं महिषः यह भैंस है। यह जाति हो गयी। यह मनुष्य है। शब्द एक तो जाति है, एक गुण बताता है। अयं शुक्लः अयं कृष्णः। यह गोरा है, यह काला है। एक क्रिया बताता है। अयं पाचकः, यह रसोई बताता है। अयं सारथिः, यह रथ हाँकता है। किसीका बोध जातिके भेदसे हो जाता है, किसीका गुणके भेदसे हो जाता है, किसीका क्रियाके भेदसे हो जाता है-किसीका बोध सम्बन्धसे होता है। ये अमुकके पुत्र हैं। ये अमुकके पिता हैं। ऐसें हम आपसमें परिचय देते हैं। ये अमुक मेमसाहबके हसबेण्ड हैं-यह सम्बन्धके द्वारा। विदेशमें स्त्रियोंसे परिचय पहले हो जाता है, पुरुषोंसे परिचय बादमें कराया जाता है। कहीं रूढ़िसे भी होता है। रूढ़िके भी कई भेद हैं। तो शब्द किस तरहसे अपना बोध कराता है, इसको एक गिनी हुई प्रक्रिया शास्त्रोंमें है।

शब्द किसी भी रूपमें परमात्माका बोध करानेमें समर्थ नहीं है। न परमात्मामें जाति है, न गुण है, न क्रिया है, न सम्बन्ध है, न रूढ़ि है। तो अनिर्देश्यंका अर्थ हुआ अक्षरात्मा। जो शब्दराशि है वह परमात्माको समझानेमें किसी प्रकारका निर्देश नहीं कर सकता। यह परमात्मा है, ऐसे नहीं बताया जा सकता। न चेष्टाके द्वारा

और न तो शब्दशक्तिके द्वारा परमात्माका बोध होता है। लोगोंके लिए थोड़ी मुश्किल बात पड़ेगी पर यह निर्गुणका प्रसंग है न!

ये त्वक्षरम् अनिर्देश्यं अव्यक्तं पर्युपासते।

अव्यक्त है परमात्मा। अव्यक्त शब्दका प्रयोग गीतामें प्रकृतिके लिए भी है, जीवके लिए भी है, ईश्वरके लिए भी है, तो उसको पहचानना ही पड़ेगा।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। 2.28
अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रवहन्त्यहरागमे॥ 8.18

यह अव्यक्त शब्द प्रकृतिके लिए है। दूसरे अध्यायमें 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते'- आत्माके लिए अव्यक्त शब्द है। और 'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः' यह परमात्माके लिए अव्यक्त शब्द है। अव्यक्त शब्दका अर्थ होता है, केवल शब्दसे ही नहीं-किसी भी प्रमाणसे जिसको जाहिर न किया जा सके, उसका नाम अव्यक्त होता है। 'न व्यज्यते केनापि प्रमाणेन अव्यक्तं'। प्रमाणके द्वारा परमात्मा प्रकट नहीं होता। प्रमाण दो तरहका होता है। एक चश्मदीद गवाही-आँखोंसे देखी हुई और एक दस्तावेज। ये जो पुस्तकें हैं वे दस्तावेजके समान हैं। और जो अनुभवी महात्मा लोग होते हैं, वे अनुभवकी बात बताते हैं।

कोई कहता पोथीकी लेखी।
मैं कहता आँखोंकी देखी।

तुम पोथीमें लिखी बात सुनाते हो। दो तरहसे परमात्माके बारेमें लोग बोलते हैं। लेकिन प्रत्यक्ष इन्द्रियोंका विषय तो परमात्मा है नहीं। कानसे थोड़े-से शब्द सुनते हैं। हमारे एक मशीन लगाते हैं और वह उसके बारेमें बोलते हैं-आप जितना भी सुन सकते हैं उससे तीन लाख गुना आवाज इसमें हो रही है। पर आपका कान सुन नहीं सकता। एक हद तक कान सुन सकता है। एक हद तक आँख देख सकती है। एक हद तक नाक सूँघ सकती है। एक हद तक त्वचा छू सकती है। एक हद तक जीभ स्वाद ले सकती है। जहाँ इन्द्रियोंकी गति नहीं है वहाँ प्रत्यक्ष नहीं होगा। जहाँ बुद्धिकी गति नहीं है वहाँ अनुमान नहीं होगा। जिसके समान दूसरा कोई है ही नहीं-वहाँ उपमान नहीं होगा।

अव्यक्त है वह परमात्मा। इसका अर्थ है कि सब प्रमाणोंको प्रमाणित करनेवाला जो भीतर अन्तर्यामी अपना आत्मा है जिससे आँख, आँख सिद्ध होती है, जिससे कान, कान सिद्ध होता है, जिसको मालूम पड़ता है कि यह कान है, शब्द ग्रहण करता है-यह आँख है, रूप देखती है। यह नाक है, गन्ध देती है। जो भीतर बैठकर सबका मजा लेता हुआ भी किसीके साथ बँधता नहीं है। आप भी अपने घरमें अपने व्यवहारमें सबसे मिलिये-जुलिये, लेकिन जैसे आत्मा आँखमें बँध नहीं जाता, नाकमें बँध नहीं जाता, वैसे सब प्यारे हैं। आत्माको नाक भी प्यारी है; सुगन्ध देती है। कान भी संगीत सुनाता है। कानमें बँधिये मत, आँखमें बँधिये मत, जीभमें बँधिये मत, त्वचामें बँधिये मत!

आप इस घरके मालिक है। अपने बेटेका पक्षपात करेंगे, भाईका पक्षपात करेंगे, पत्नीका पक्षपात

करेंगे, सब आपके हैं, परन्तु जब पक्षपात करेंगे तो फिर फूट हो जायेगी। जैसे आत्मा अपनी इन्द्रियोंमें-से किसी इन्द्रियका पक्षपात नहीं करता, निरन्तर उसके साथ नहीं रहता। असंगताका यही नमूना है। सबसे बड़ा उदाहरण इस शरीरमें रहकर आत्माकी जो समग्र इन्द्रियोंसे अनासक्ति है, यही ज्ञानका स्वरूप है। आपकी आँखोंने आजतक कितने रूप देखे हैं, कहीं फँसी रह गयी? निकलकर गयी कहीं आपके शरीरसे। देखती है सबको, रहती है अपनी जगह पर। कान किसी संकीर्तनके साथ गया? नाक किसी सुगन्धके साथ गयी? यह ज्ञान है। नाक एक ज्ञान है, त्वचा एक ज्ञान है, जीभ एक ज्ञान है, कान एक ज्ञान है। यह किसी भी अपने विषयके साथ कहीं जाता नहीं हैं। यह अपनी जगहपर महाराजाधिराजकी तरह बैठा हुआ सबको देखता है, सबको सुनता है, सबसे व्यवहार करता है। बल्कि यह सबको देखते हैं, इसको दूसरा कोई नहीं देखता है। आँखने आत्माको नहीं देखा। आत्मा आँखको देखता है। हमारी आँख अन्धी है, मन्दी है, आँख तेज है। इनके कान बड़े तेज है। सब मालूम पड़ता है पर कहीं आत्मा फँसा नहीं।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।

सबसे प्रेम हटाकर भगवान्से प्रेम जोड़ोगे तो सबसे प्रेम हो जायेगा। क्योंकि भगवान् सबमें है। जो भवगान्से प्रेम करता है वह सबसे प्रेम करता है। यह देखो श्याम, यह देखो श्याम। जो अपनी आत्माको जानता है वह सबकी आत्माको जानता है। 'पर्युपासते' माने परिवर्ज्यं उपासते। दूसरोंके प्रेममें न फँसकर परमात्माको प्रेम करता है, उसके पास बैठता है-

सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।

अच्छा भाई, भगवान्को चिट्ठी लिखें तो कहाँ लिखें? कहीं चिट्ठी लिखनेके जरूरत नहीं है, तार भेजनेकी भी जरूरत नहीं है। हिमालयमें जानेपर परमात्मा मिलेगा-ऐसा नहीं। अपने अन्त:कारणके निर्माणके लिए साधना होती है। बाहरकी प्रसिद्धि प्राप्तिके लिए साधना नहीं होती। परमात्मा कहाँ है? सब जगह है। 'सर्वत्र गच्छति-इति सर्वत्रगम्' है। यहाँ है? यहाँ भी है। वहाँ है? वहाँ भी है। यहाँ छोड़कर वहाँ क्यों जाते हो? जो अपने दिलमें ही दिलदार होकर बैठा है, उसके लिए दिलको हवाई जहाज बनाकर, उड़ाकर ले जानकी क्या जरूरत है? मौजसे भाई, यहीं देख लो!

अच्छा तो ध्यान करें, चिन्तन करें उसका, वह सब जगत् है। सब जगह है, बात निर्गुणकी है तो टेढ़ी तो जरा होती ही है। जिसका चिन्तन करना पड़ता है या जिसकी चिन्ता करनी पड़ती है, वह हमारे दिमागमें तनाव देता है। 'अचिन्त्यमचिन्त्यमानोऽपि चिन्तारूपं भजते'-जब अचिन्त्यका-जो चिन्तासे परे है-जो सारी चिन्तासे छुड़ानेवाला है, उसीको आपको चिन्ता हो रही है? जो अपना आपा है, उसको आप ढूँढ़ रहे हैं-जो यहीं है, उसके लिए वहाँ जा रहे हैं।

हमारा यार है हममें-हमनको इन्तजारी क्या?
कबिरा इश्कका नाता, दुईको दूर कर दिल से।
जो चलना राह नाजुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या?

कहाँ जाना है? किसको ढूँढना है? किसको पाना है? जो सब है, जो सब जगह है, जो सब समय है उसके लिए चिन्ता कैसी? चिन्ताको खोलकी तरह अलग रख दिया-जैसे रजाई, कम्बल उतारकर रख देते हैं-इस तरह चिन्ताका जो बोझ है, उसको उतार दो। इसका बोझ उतर जानेपर जो रहता है, वही तो परमात्मा है। 'अचिन्त्यम्'-वह चिन्ताका विषय नहीं है, वह चिन्ताका प्रकाशक है। वह चिन्तासे परे रहकर, अलग रहकर, आगे नहीं, चिन्ताके पीछे रहकर अर्थात् अपने आत्माके रूपमें रहकर चिन्ताको प्रकाशित करता है। चिन्तनीय नहीं है। संस्कृतमें जिसका तिरस्कार करना होता है-जिस बातकी उपेक्षा करनी होती है, उसके लिए बोलते हैं, चिन्त्य है यह तथ्य। यह चिन्तनीय है माने सरल नहीं है। जैसे हिन्दीमें बोलते हैं-शोचनीय है। रामायणमें शोचनीय कई बार है। संस्कृतमें चिन्त्य, चिन्तनीय है माने सरल नहीं है। जैसे हिन्दीमें बोलते हैं-शोचनीय है। रामायणमें शोचनीय कई बार है। संस्कृतमें चिन्त्य, चिन्तनीय बोलते हैं। ऐसा सोचनेसे वह सिद्ध तो नहीं हुआ, हम इसके लिए और सोचेंगे तब पता चलेगा। ऐसा नहीं है कि परमात्मा अब नहीं है, जब हम बहुत सोचेंगे तब मालूम पड़ेगा, सो नहीं-अचिन्त्यम्।

कूटस्थम्-वह सबका मूल पुरुष है। जैसे कोई परिवार है-उसका शाण्डिल्य गोत्र है तो कूटस्थ कौन हुआ? शाण्डिल्य ऋषि हुए और उनके पाँच बेटे हुए फिर पाँचोंके पाँच-पाँच हुए। लाखोंके रूपमें शाण्डिल्य गोत्र हो गया। शाण्डिल्य गोत्रका कूटस्थ पुरुष कौन है? स्वयं शाण्डिल्य। गर्ग गोत्रक मूल पुरुष कूटस्थ कौन है-गर्ग। इसी प्रकार आप अपने-अपने वंशमें जो पहले एक था और बादमें उसका विस्तार बढ़ गया, उसको कूटस्थ बोलते हैं। आप पता लगा लें आपका वंश कहाँसे चला है। प्रजापति ब्रह्मासे चला है कि विष्णु भगवान्से। अन्तर्यामी ईश्वरसे चला है या ब्रह्मका विवर्त है। कूटस्थ है वह।

कूटस्थ माने ऐसे होना है जैसे सोनार या लोहारके घरमें निहाय रखी है और कितने औजार और कितने जेवर उसपर गढ़े गये! वह ज्यों-का-त्यों है। कितनी बार सृष्टि बनी और बिगड़ी, परमात्मा कूटस्थ है। जैसे चित्रकूट है, त्रिकूट-कूट माने पहाड़का शिखर। वर्षा आती है, ठण्ड आती है-गरमी आती है-कभी सूखा पड़ता है और वह ज्यों-का-त्यों सिर उठाये खड़ा है। इसे कूटस्थ बोलते हैं। जो सब झूठोंमें एक सच होता है उसका नाम कूटस्थ है। कूट साक्षी बोलते हैं। कूट माने झूठ भी होता है। जो झूठी गवाही देता है उसको कूटसाक्षी बोलते हैं। जो बात वह कह रहा है वह झूठी है। पर गवाह तो सच है-उसका बोलना झूठा है। परमात्मा सच है-उसके ये जो नानारूप हैं-उसके बारेमें सोचनेका है। कूटस्थ तो है पर कहीं चलकर जाता हो, कभी बैकुण्ठमें रहता हो, कभी गोलोकमें, कभी कैलासमें, कभी साकेतमें, बोले-नहीं, 'अचलम्'। वह एक जगहसे दूसरी जगह नहीं जाता। वह वरदान देनेके लिए भी नहीं जाता। वह दुष्टोंको मारनेके लिए भी नहीं जाता।

जाके बल लवलेस ते जितेहु चराचर झारि।

वह रावणके भीतर भी रहता है और रामके भीतर भी रहता है। अचलं ध्रुवम्-उसकी सत्ता बिलकुल निश्चित है।

सिद्ध वस्तु है भगवान्। धर्म और उपासनाके द्वारा साध्य वस्तुकी प्राप्ति होती है। जो हम पाना चाहें

उसको धर्मके द्वारा बना सकते हैं। केवल स्वर्ग ही धर्मसे नहीं बनता। लोक भी धर्मसे बनता है। आप धर्मके बलसे सम्राट् हो सकते हैं। धर्मके बलसे स्वर्गके राजा हो सकते हैं। आप धर्मके बलसे विश्वामित्रके समान नवीन सृष्टिकी रचना कर सकते हैं। धर्ममें बल है आप इतने बलवान् हो जायेंगे कि सृष्टिमें उलट-पलट कर सकते हैं, धर्मके बलपर। उपासनाके बलपर आप ईश्वरकी मूर्ति बना सकते हैं। चाहे जैसी बना सकते हैं-काली बना लें, गोरी बना लें, नाटी-वामन बना लें, यह उपासनाका बल है। उपासनामें यह बल है कि वह ईश्वरको अपनी इच्छाके अनुसार बना सकता है। और धर्ममें वह बल है कि वह प्रकृतिमें परिवर्तन कर सकता है। योगमें वह बल है कि वह प्रकृतिमें परिवर्तन कर सकता है। योगमें वह बल है कि धर्मसे और उपासनासे बनायी हुई जितनी चीजें हैं, उनको छोड़कर योगदशामें, समाधिमें आप बैठ सकते हैं। उस समय न धर्मका फल, न उपासनाका फल, सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोध हो जाता है। आप द्रष्टा-साक्षीके रूपमें बैठे हुए हैं। ज्ञान तो प्रकृतिका निर्माण कर नहीं सकता, वह तो विज्ञान करता है। और न तो वह इष्टदेवके रूपका ही निर्माण कर सकता है। न निरोध ही कर सकता है। ज्ञान जो चीज जैसी है-ज्यों-की-त्यों उसको जाहिर कर देना, उसके ऊपरसे परदा हटा देना, अविद्यावरण भंग कर देना, यह ज्ञानका काम है। 'सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः'। भाई, गाँवके गाँवको कैद करना पड़ेगा।

मुश्किल बात है-'इन्द्रिय-ग्राममें', एक इन्द्रियको रोकनेसे काम नहीं चलेगा। ये जो इन्द्रियोंका गाँव है-इन्द्रियाँ कहाँ बसती हैं? शरीरमें। इसमें दोनों ओर कान हैं। सुनो दो, बोलो एक। ऐसा महात्मा लोग बोलते हैं। दोनों कानसे सुनो और एक जीभसे बोलो। यह नहीं कि दोसे सुना और चार बोल दिया। सुनना ज्यादा चाहिए, बोलना कम चाहिए। देखो भी ज्यादा, पर बोलो कम। दो-दो आँखें हैं। यह बात ध्यान देने लायक है। इस इन्द्रियग्रामको काबूमें करो। 'सन्नियम्य' माने काबूमें होना चाहिए आप स्थूल शरीरके ही मालिक नहीं हैं तो सूक्ष्म शरीरके मालिक कहाँसे होंगे?

नियन्त्रणकी युक्ति क्या है? 'सर्वत्र समबुद्धयः'। चाहे लाल दीखे, चाहे पीला, चाहे नीला, चाहे ऊँची, कठोर आवाज सुनायी पड़े चाहे मीठी। बैर करोगे तो कठोरसे करना पड़ेगा, परहेज और मीठी आवाजकी ओर होगा आकर्षण। अपनी तारीफ सुनेंगे, उसमें रस लेंगे तो बन्दर बन जायेंगे। तारीफ करनेवाले नचायेंगे। आलोचना करनेवालेकी बात ध्यानसे सुननी चाहिए कि शायद वह दोष हमारे अन्दर हो, हमको मालूम न हो। लेकिन तारीफ कहनेवालोंसे तो सावधान रहना ही चाहिए। हो सकता है, वह कोई अपना काम निकालनेके लिए तारीफ करते हों। नहीं तो अपने मनमें ही तारीफ रखें। बाहर सुनानेकी जरूरत क्या होती है? सावधान रहना चाहिए।

सर्वत्र समबुद्धयः-अब कोई गाली दे-दे तो डण्डा लेकर दौड़े उसके पीछे। कोई जरा मीठी बात कर गया तो मिठाई लेकर दौड़े कि आओ जरा नाश्ता कर लो। नाश्ता करानेमें और डण्डा लेकर दौड़नेमें तुम परमात्मामें बैठकर उसकी उपासना नहीं कर सकते। या तो डण्डा लेकर दौड़ो या मिठाई लेकर दौड़ो। तारीफ करनेवालेको मिठाई खिलाओगे और गाली देनेवालेको डण्डा मारोगे तो सारी जिन्दगी इसीमें बीत जायगी। इसलिए 'सर्वत्र समबुद्धयः 'का अर्थ है, चाहे कोई अपने किनारेका हो चाहे दूसरे किनारेका हो-कूल-अनुकूल,

प्रतिकूल। कूल माने किनारा। जो हमारे किनारेपर है उसको अनुकूल बोलते है, जो दूसरे किनारेपर है उसको प्रतिकूल बोलते हैं। समुद्रके इस पार, समुद्रके उस पार अनुकूल, प्रतिकूल हो गया न! नहीं बाबा, दोनों जगह धरती है, दोनों जगह आदमी हैं। पहाड़के इस पार, पहाड़के उस पार।

एक कल्पित लकीर खींच देते हैं। एक ही पहले लोगोंके घरमें भोजन करनेके लिए क्यारी बनती थी न! तो जिस धातुकी बनी क्यारी उसी धातुकी बनी मेड़। दोनोंको अलग-अलग कर दिया, तुम उसमें बैठकर खाओ, हम इसमें बैठकर खायें। ब्राह्मणोंके घरमें कोयलेसे लीकर खींच देते थे। रसोई बनती थी दूसरी लकीरके भीतर लकीरके भीतर बैठता-इससे छूआछूतका दोष नहीं लगेगा। यही अनुकूल-प्रतिकूल हो गया न! यह सब एक हैं-जो हिन्दुस्तानमें हैं वे भी, पाकिस्तानमें हैं वे भी। जो दाढ़ी रखता है वह भी, जो चोटी रखता है वह भी। जो सात दिनमें एक दिन प्रेयर करता है वह भी, जो दिन भरमें पाँच बार करता है वह भी, जो तीन बार करता है वह भी-सर्वत्र समबुद्धयः।

अपनी बुद्धिमें किसीको नीच-ऊँच मत करो। अपनी बुद्धिमें समता बनी रहनेका अर्थ है-लक्ष्मी बनी रहना-श्री बनी रहना-शान्ति बनी रहना। मा=श्रीः, मा=शोभा-माया सहित=समा। हमेशा आपके दिलकी शोभा, सुन्दरता बनी रहे। आप मुँह सुन्दर बनाते हैं, कपड़ा सुन्दर बनाते हैं-अपना दिल सुन्दर बनाईये न! दिलकी सुन्दरता क्या है- सम। संगीतकी सुन्दरता भी सम ही है। संगीतमें यदि सम न आवे तो संगीत असुन्दर। आपके दिलमें भी यदि सम नहीं रहेगा तो आपका दिल बिलकुल बेसुरा हो जायेगा। न कोई टेक है; न ध्रुव है। समके बिना आपका दिल बेसुरा है। अतः 'सर्वत्र समबुद्धयः' 'सर्वभूतहिते रताः'।

एक तो हुआ निरोध, निरोध माने योगियोंका निरोध नहीं-इन्द्रियाँ काबूमें हैं-आप देखिये, बोलिये, चलिये, खाइये-पीजिये लेकिन आपके काबूमें इन्द्रियाँ रहें, बेकाबू न हो जायें। जिस दिन आप यह कहते हैं कि इसके बिना मैं नहीं रह सकता-आप सोचो उसदिन आदमी रहेगा? यह खाये बिना नहीं रह सकता, यह भोगे बिना नहीं रह सकता, इससे मिले बिना नहीं रह सकता। आप क्या रह गये! जिसके बिना आप नहीं रह सकते वहीं आपका सर्वस्व हो गया न!

'संन्नियम्येन्द्रिग्रामं' का अर्थ यह है- कोई भी इन्द्रिय आपसे यह न कहे कि हम इसके बिना नहीं रह सकते या इसके बिना तुम नहीं रहे सकते। और 'सर्वत्र समबुद्धयः' अपने हृदयकी जो शोभा है, समता है, सौन्दर्य है-जो उसमें लक्ष्मीका निवास है, जो उसमें प्रमाका निवास है-उसको कहते हैं सम। हमारी बुद्धिमें शोभा बनी रहे। लक्ष्मी बनी रहे। यथार्थ ज्ञान बना रहे-ऐसी हो बुद्धि। तीसरी बात-'सर्वभूतहिते रताः।' आपमें रति हो, हम रतिको मना नहीं करते हैं। वह आनन्द आपमें बना रहे जो संसारी लोगोंका स्त्री, पुरुषके मिलनेपर होता है। इस बातसे डरो मत। जैसे-

यस्त्वातमरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
रतिः अस्य अस्ति इतिः रतः।

जिसके हृदयमें रति बनी रहती है, उनको बोलते हैं रत। आपकी रति कहाँ रहे? 'सर्वभूतहित निहिते

रता:।' सब प्राणियोंमें जो एक है, उसमें आपकी रति हो। हित माने निहित, डाला हुआ, जो सबमें रहता है- नहीं तो सम्पूर्ण प्राणियों का जो हित है, हित माने भलाई। जहाँ तक हो सके हम किसीको दुःख न पहुँचावें। तब निर्गुणकी उपासना बनेगी। निर्गुणकी उपासनों तीन बात। इन्द्रियोंको मारना नहीं, इन्द्रियोंको कैद करना नहीं, इन्द्रियोंको काबूमें रखना। विषमता बुद्धिमें नहीं आये। जानबूझकर किसीको हानि न पहुँचायें। सबका भला करें। यह है निर्गुणकी उपासना। 'सर्वभूतहिते रता:'। इससे होगा क्या? 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव'-जो ऐसा करते हैं, उन्हें मिलता मैं ही हूँ।

मामेवका अर्थ है-मैं ही मिलता हूँ। उनके माम्‌के रूपमें मैं हूँ सो मिलता हूँ- यह भी अर्थ हो सकता है। और माम् माने मैं, जो परमात्मा हूँ, ब्रह्म हूँ, सो मिल सकता हूँ। यह बात गीतामें देखनेमें आती है कि जो भक्ति करते हैं उनको ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। और जो निर्गुणकी उपासना करते हैं उन्हें भगवान्‌की प्राप्ति होती है। कहनेका मतलब यह है कि दोनों एक ही हैं। हम ऐसा विश्वास करते हैं कि आप सबलोग गीता पढ़ते होंगे! और न पढ़ते हों तो पढ़ना।

हमारे एक विद्वान् जर्मनी गये थे, वहाँ सुना कोई संस्कृतका विद्वान् है, उससे मिलनेके लिए गये। वह जब गीताकी बात करने लगा तो यहाँके न्यायाचार्य, व्याकरणाचार्यको, वेदाचार्यको-यहाँके पी-ए.डी.को, डी-लिट्‌को मालूम नहीं था कि गीतामें क्या है? उसने बताया कि हमने टीका-टिप्पणी सहित नब्बे बार गीता पढ़ी है, आपने गीता पढ़ी कि नहीं, तो वे बोले हमने तो नहीं पढ़ी। वे बोले अपने देशमें जाना तो गीता जरूर पढ़ना। महात्मा गाँधी कहते थे कि जब हमारे सामने कोई समस्या आती है, कोई उलझन आती है, तब मैं गीता खोलता हूँ और गीता माता मेरी समस्याका तत्काल समाधान कर देती हैं। बेटेके जीवनमें कोई उलझन हो तो माँको सहन कैसे होगा? गीता बोलती है-

मां च यो व्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

चौदहवें अध्यायका श्लोक है, जो अव्यभिचरित भक्तियोगसे मेरी सेवा करते हैं-श्रीकृष्णकी सगुणकी-'सगुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते'-वह गुणातीत हो जाते हैं और उन्हें ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है। भक्तिसे कौन मिलता है? ब्रह्म।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं अज्ञानं यदतोऽन्यथा।

भगवान्‌में जो भक्ति है उसका नाम ज्ञान है। यह श्लोक तेरहवें अध्यायका है। तेरहवें अध्यायमें हैं-

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।

मेरा भक्त जब इसको जान लेता है तो मेरा स्वरूप हो जाता है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

भक्तिके द्वारा मुझे पहचानता है और मुझे पहचानकर मुझसे एक हो जाता है। भक्तिका फल ज्ञान है, ज्ञानका फल भक्ति है। जो पहले ज्ञानमार्गसे चलते हैं, उनको कुछ अटपटा-सा लगता है।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ 12.5

कहते हैं, देखो परमात्माकी प्राप्ति तो एक सरीखी है, लेकिन जो देहमें बैठे हुए लोग हैं देहाभिमानी-जो इस देहको ही मैं मानकर बैठे हुए हैं, वे लोग जब बिना देहके परमात्माके बारेमें विचार करेंगे-तुम देहवाले हो, तुम्हारा ईश्वर भी देहवाला है- और यदि तुमने अन्नमय, प्राणमय, विज्ञानमय, मनोमय, आनन्दमय कोशका विवेक करके अपनेको साक्षी-द्रष्टाके रूपमें जान लिया है तो तुम अपनेको ब्रह्मरूपमें जान सकते हो। साकार जीवके लिए साकार भगवान् और निराकार आत्माके लिए निराकार ब्रह्म। तो हम तो रहें साकार और मिलना चाहें निराकारसे तो कैसी तो हुई, जैसे कोई दोनों हाथ फैलाकर आसमानको समेटना चाहे तो हाथ और हाथवाला तो हो गया साकार और आसमान है निराकार, उसको वह समेटना चाहता है तो अपनेको हाथवाला भी माने और उसमें आकाशको भी समेटना चाहे तो यह कितनी उल्टी बात हो जायेगी।

इसलिए अपनेको देह मानते हुए, निर्देह परमात्माको, अदेह परमात्माको कोई पाना चाहेगा तो-'क्लेशोधिकतरस्तेषां'- अधिकसे कुछ ज्यादा क्लेश होगा। उसको इससे बड़ा तो और कोई क्लेश ही नहीं होगा। नहीं, जो अधिकतम क्लेश है वह नहीं होगा। न अधिकतम क्लेश होगा और न अधिक होगा। अधिकसे कुछ ज्यादा तो होगा, लेकिन कोई अन्तिम सीमाका क्लेश नहीं होगा। क्योंकि उन्होंने व्यक्त होकर अव्यक्तोंसे आसक्ति की। जैसे आसमानमें चिड़िया उड़ती हैं और उसके पदचिह्नको कोई पकड़ना चाहे तो मुश्किल है। लेकिन यदि आकाश ही हो तो यह अव्यक्तकी गति है-वह देहाभिमानीके लिए बहुत कठिन है। तीन श्लोकोंमें अक्षर अव्यक्तका स्वरूप और उसकी उपासना, दोनों भगवान्‌ने बतायी और बताकर कहा कि देहाभिमानीके लिए वह कठिन है। अब सारा-का-सारा अध्याय जो है-'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता-उपासते' की व्याख्या है। माने सगुण-साकार भगवान्‌की भक्ति कैसे की जाती है-

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्॥

सगुणका उपासक अपनी दोनों बाँहोंमें मुझे भर लेता है और मैं उसको अपनी दोनों बाहोंमें भर लेता हूँ। और निर्गुणके उपासकको बाँह छोड़ देनी पड़ती है और मैं भी अपनी बाँहसे उसको पकड़ता नहीं। वह आवे मिल जावे। यह सगुण उपासनाका प्रसंग यहाँसे शुरू होता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 3

13-11-83

अक्षर अव्यक्तकी उपासना देहभिमानीके लिए अत्यन्त कठिन है। अब सबके लिए जो सुगम है उस साधनाका वर्णन करते हैं। हम लोगोंको तो यह भी कठिन भासती है। पर भगवान्ने अव्यक्त अक्षरको अलग करके तब इसका वर्णन किया है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।। 12.6-7
ये त्वक्षरम् अनिर्देश्यम् अव्यक्तम् पर्युपासते। 12.3

एक 'तु' तो वे थे। और अब ये दूसरे 'तु' प्रारम्भ हो रहे हैं। 'तु' और 'अपि' की भी एक कथा प्रसिद्ध है। मीमांसकोंमें प्रभाकर गुरु नामके बड़े विद्वान् हुए हैं। कुमारिलभट्ट और प्रभाकर ये दो मत ही मीमांसामें चलते हैं। वे जब अपने गुरुजीसे मीमांसाशास्त्र पढ़ रहे थे तो उसमें आया-'तत्र तु नोक्तम् अत्रापि नोक्तम्'। तो गुरुजी तो ग्रन्थ देखते ही रह गये और समझमें न आवे कि यह क्या है? पहले एकमें मिलाकर ही अक्षर लिखे जाते थे। तो गुरुजी बोलकर गये कि अच्छा अभी नहीं-कल पढ़ावेंगे। जब गुरुजी चले गये तब प्रभाकरजीने उनकी पुस्तकमें 'तत्र तुना उक्तम्' 'अत्र अपिना उक्तम्' वहाँ 'तु' शब्दसे जो बात कही गयी है वही यहाँ 'अपि' शब्दसे कही गयी है। अक्षर अलग-अलग कर दिये। जब गुरुजी आये। देखा-बोले किसने किया? यही प्रभाकरने। तो बोले भाई आजसे तू शिष्य नहीं रहा-गुरु हो गया।

प्रायः गुरु लोग ऐसे ही उदार होते थे। वासुदेव शास्त्रीने कोई गणित किया था-वे काशीमें ज्योतिषके बहुत बड़े विद्वान् थे। उनके नामपर अब उनकी शैलीके पञ्चांग निकलते हैं। उन्होंने गणित किया था तो अपने नीचेवाले अध्यापकको दिया कि तुम देख लो। अध्यापकने कहा-आप इतने बड़े पण्डित, विद्वान् हम क्या देखेंगे इसको? प्रशंसा करके देने लग गये। उस समय सुधाकरजी उनके यहाँ पढ़ते थे। छोटे पण्डित थे। उन्होंने कहा-गुरुजी जरा मैं देख लूँ! देख लिया तो उसमें वासुदेवजीकी 20-30 गलती गणितमें निकाल दी। सहायक पण्डित बोले-हम गुरुजीको कैसे बतावें? गुरुजीने कहा-लाओ-लाओ हमारे पास, देखें! देखा तो सब ठीक

थीं-जितनी गलती निकाली गयी थीं। उन्होंने लिखकर दिया कि सुधाकरकी बुद्धि बृहस्पतिके समान है। अपने शिष्यके प्रति इतना आदरका भाव। पहले गुरु लोग अपने बड़प्पनके अभिमानमें नहीं आते थे। ये 'तु' और 'अपि' पहले जो बात कही गयी है और उसके जो अधिकारी हैं-उनसे अलग ढंगके अधिकारी हैं इसलिए 'ये' के बाद 'तु' शब्दका प्रयोग किया गया।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।

अब सुगमता कहाँ है, उसको देखिये। यज्ञ, याग होता है तो उसमें विशेष प्रकारका कर्म होता है। उसको सब लोग नहीं कर सकते। वह अद्भुत है। ब्राह्मण-वृहस्पति सब कर सकता है, वाजपेय कर सकता है, परन्तु राजसूय-यज्ञ नहीं कर सकता। और क्षत्रिय राजसूय-यज्ञ कर सकता है परन्तु बृहस्पति-सव या वैश्यस्तोम नहीं कर सकता। वैश्य वैश्यस्तोम कर सकता है परन्तु राजसूय या वाजपेय नहीं कर सकता। धर्ममें अधिकारका भेद होता है। आजकलके लोगोंकी दृष्टिमें तो अधिकार माने कुर्सी हो गया है- 'कुरसिका-रसिक' हो गये हैं। और साधारण लोगोंके सामने अधिकार-भेदकी बात करें तो उनकी समझमें नहीं आता है।

अधिकारीमें चार बातें होनी चाहिए। जो काम हम बताते हैं, उसको वह करना चाहता हो, उसका फल चाहता हो। केवल चाहनेसे ही अधिकारी नहीं हो जाता। उसको करनेमें समर्थ हो। हम एक बड़ी फैक्टरी खोल रहे हैं, चाह तो है पर उसके करनेके लिए जो सामग्री चाहिए वह आपके पास नहीं है। तो अर्थ चाहिए, सामर्थ्य और उसके विषयमें पूरी जानकारी चाहिए, विद्वान् चाहिए और वह गैर-कानूनी न हो, अशुद्ध न हो। यदि मना किया हो कि दाहिनेसे मत जाओ तो आप दाहिनेको रास्ता खाली देखकर भी उधरसे मत जाइये। आप अपनी वासनाको, अपने मनोवेगको, अपने हाथमें रखकर काम कीजिये। जो अपने मनोवेगको हाथमें रखकर काम नहीं करता, जो मनमें आया सो ही करने लगता है, वह कभी ऐसा काम कर बैठता है जो उसके लिए अनर्थकारी हो जाता है।

संस्कृत साहित्यमें अधिकार-भेदका अर्थ यह होता है धर्ममें, यज्ञादिमें अधिकारका भेद है। अभी एक सेठने हमको कहा कि हम वैश्य-स्तोम करना चाहते हैं-जैसे पहले क्षत्रिय राजसूय-यज्ञ करते थे, ब्राह्मण वाजपेय करते थे- हम वैश्य-स्तोम करें। पण्डित इकट्ठे हुए, विचार हुआ कि ये कैसे करेंगे? बोले अग्निहोत्री होना चाहिए। पहलेसे अग्निहोत्र करते हों तो वैश्यस्तोम कर सकेंगे तो वे तो अग्निहोत्री नहीं है, अतः श्रौत-यज्ञ नहीं कर सकते। देवताओंसे बातचीत करनेके लिए अलग-अलग लाइन होती है। ये मन्त्र हैं, वे मृत्युलोकमें बैठकर देवताओंसे बात करनेके लिए हैं।

पहली बात यह है कि धर्मके समान भक्तिमें अधिकारीका भेद नहीं है। यह सबके लिए है। दूसरी बात यह है कि इसको चाण्डाल भी कर सकता है, ब्राह्मण भी कर सकता है, अन्त्यज, अग्रज दोनोंके लिए है और पापी, पुण्यात्मा दोनोंके लिए है। पापी भी भक्ति कर सकता है, उसके लिए वर्जित नहीं है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। 9.30

पशु-पक्षी भी भवागन्की भक्ति कर सकते हैं। गीध भी भगवान्की भक्ति करता है। रामभक्तोंमें

गीधकी प्रसिद्धि है। भक्तिमें एक सुगमता तो यह है कि हम करनेके लिए अधिकारी हैं कि नहीं यह बात छोड़ दो। दूसरी बात यह है कि क्या करना है? यह करोगे तो हवन करना पड़ेगा और संकल्प करना पड़ेगा। ब्राह्मण ब्राह्मणोचित, क्षत्रिय क्षत्रियोचित, वैश्य वैश्योचित कर्म करें। भक्तिमें कर्म-सम्बन्धी नियम नहीं है कि हम भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए कौन-सा काम करें। यह अद्‌भुत है झाड़ू लगानेसे भी भक्ति होती है। शबरी झाड़ू लगाकर भगवान्‌की सेवा करती है। रसोई पकाकर भी भगवान्‌की भक्ति होती है। भोग लगता है। संगीत सुनाकर भी भगवान्‌की भक्ति होती है। नाचकर भी भगवान्‌की भक्ति होती है, पूजा करके भी भगवान्‌की भक्ति होती है। रोकर भी भगवान्‌की भक्ति होती है, हँसकर भी भगवान्‌की भक्ति होती है। इसलिए 'ये तु सर्वाणि कर्माणि' इसपर ध्यान दो।

'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्। करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्।' सर्वाणि कर्माणि यत् करोषि'-भगवान्‌ने कहा-'यत् करोषि' (भाग 11.2.36)। 'यदश्नासि'-जो करते हो सो-जो खाते हो सो। पुराने संस्कारके लोगोंको तो पसन्द नहीं आवेगा, परन्तु पुराणोंमें ऐसी-ऐसी कथाएँ हैं, जो किरात थे, भील थे, कोल थे वे जो खाते थे, भगवान्‌को अर्पण करके खाते थे। ऐसे भक्त थे। हम उनकी कथा सुनावेंगे तो आपलोगोंको अच्छा नहीं लगेगा। जो खाते थे वही भगवान्‌के सामने रख दिया। प्रभु लो, भोजन करो। भगवान् तो सबके पेटमें बैठते हैं-

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ 15.14

खटमलका अन्न भी वही पचाते हैं, चूहेका अन्न भी वही पचाते हैं-चिड़िया, पशुका अन्न भी वही पचाते हैं क्योंकि वैश्वानरके रूपमें तो वही है। हमारी संस्कृतिकी, परम्पराकी बात दूसरी है, परन्तु 'सर्वाणि कर्माणि', 'यत्करोषि, यदश्नासि, यज्जुहोषि, ददासि यत्। यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरूष्व मदर्पणम्। (९.२७)-यह तो आपलोग पढ़ते हैं-अर्थ क्या बतावें। श्लोकका रूप ऐसे कर लीजिये 'यत्करोमि यदश्नामि, यज्जुहोमि ददामि यत्। यत् तपस्यामि भगवन् करोमि तत्तदर्पणम्'। 'सर्वाणि कर्माणि।' एक कुत्ता खानेवाला श्वपाक भगवान्‌के नामका उच्चारण करके, भक्ति करके सद्यः तत्काल यज्ञ किये बिना ही यज्ञका फल प्राप्त कर लेता है। तपस्या पूरी हो गयी। हवन पूरा हो गया। वेदका हवन पूरा हो गया सद्यः। ब्रह्मका अनुवचन हो गया। किनका? जो भक्तिके मार्गमें आगये। 'भक्तिः पुनाति मन्निष्ठाः श्वपाकानपि सम्भवात्।' जो प्रारब्धसे श्वपाक हुए हैं वे भी पवित्र हो जाते हैं। ये प्रारब्धहृत् भक्ति-प्रारब्धका नाश करनेवाली भक्ति-'मेटत कठिन कुअंक भालके' 'भाव्यो मेट सकै त्रिपुरारि।' क्या करेगा प्रारब्ध? जबतक राष्ट्रपति भवनमें राष्ट्रपतिके पास बैठे रहेंगे तबतक थानेदारको भी बाहर बैठकर इन्तजार करनी पड़ेगी। वहाँ जाकर गिरफ्तार नहीं कर सकता। बैठ जाओ भगवान्‌के पास-'ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः'। 'मयि संन्यस्य' का अर्थ है भगवान्‌के प्रति। 'संन्यास' का अर्थ सामने रख दिया।

कई लोग कहते हैं कि भाई भगवान्‌के प्रति जो हम समर्पण करेंगे, उसमें तो वृद्धि हो जायेगी। अतः

पुण्यका समर्पण करना चाहिये। पापका समर्पण तो भगवान्‌को नहीं करना चाहिए। भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिए कि हे प्रभो, हमारे पुण्यमें जो सुख होनेवाला है वह तो तुमको मिल जाय और हमारे पापका जो दुःख मिलनेवाला है वह हम भोगनेके लिए तैयार हैं। हमें दण्ड दो। जब भक्त इस प्रकार हाथ जोड़कर भगवान्‌के सामने बोलता है-तब भगवान् कहते हैं-भाई जिसकी आमदनी हमने ले ली, उसका कर्ज चुकाना भी हमारा कर्तव्य हो गया।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः। 18.66

पापसे छुड़ानेवाले तो भगवान् हैं। 'संन्यस्य' का अर्थ 'समर्प्य' नहीं-भगवान्‌के आगे रख दो। 'संन्यस्य' का अर्थ है 'सर्वाणि कर्माणि मयि भगवति-संन्यस्य=सम्यक् स्थापयित्वा' उनके सामने निवेदन कर दो- महाराज, देखो ये- ये हमारे पाप हैं और ये-ये हमारे पुण्य हैं। भगवान्‌से छिपाओ मत! उनके सामने रख दो। इतना तो विश्वास रखो कि बड़े सहृदय हैं, दयालु हैं, सौशील्य-वात्सल्य-जलद हैं-जब हम सच्चे हृदयसे दोनों चीज भगवान्‌के सामने संन्यस्त कर देते हैं, स्थापित कर देते हैं, रख देते हैं-निवेदित कर देते हैं तो उनके हाथसे दण्ड भी मिलेगा तो बहुत बढ़िया!

एक आदमी अभी वृदावनमें है। उसने एक दण्डी स्वामीका अपमान कर दिया था और रहता था बाबाकी सेवामें। उड़ियाबाबाने एक छड़ी पड़ी थी, उसे उठा लिया और दण्डी स्वामीको प्रसन्न करनेके लिए एक डण्डा उसको लगा दिया। वह तो नाचने लगा कि बाबाने जिन्दगीमें यह कृपा किसीपर भी नहीं की है। इस कृपाका अधिकारी तो मैं हूँ। रामसिंह उसका नाम है। भगवान्‌के सामने अपना गुण-दोष, पाप-पुण्य रख दो-निग्रह-अनुग्रह उनके ऊपर छोड़ दो। 'मयि संन्यस्य त्पाः'। भगवान्‌पर भरोसा करो, विश्वास करो। वे जो कुछ करते हैं, वही मंगलमय है। उनका प्यार भी वही, उनकी मार भी वही। जैसे भगवान् रखें वही ठीक। 'जाहि विधि राखे राम-ताहि विधि रहिये'। 'संन्सस्य मत्पराः'।

यह बात निश्चित है कि भगवान्‌से बड़ा और कोई नहीं है। 'अहमेव परो येषां ते मत्पराः'। जिसकी दृष्टिमें परम तत्त्व मैं ही हूँ, उसको बोलेंगे 'मत्परः'। भगवान्‌के विश्वासपर, भगवान्‌के बलपर, अपने बलपर नहीं। भगवान्‌के बलसे-'अपने करमसे जो उतरेंगे पार तो पै हम करतार, करतार तुम काहे के।' फिर तो मैं करतार हो गया-तुम करतार काहे के? ऐसे बोलते हैं। भगवान्‌पर जो विश्वास करते हैं-उनके अन्दर तो वह श्वास लेता है और छोड़ता है। उसका भी कर्तृत्व उसके अन्दर नहीं होता है। श्वासके कर्तृत्वसे भी मुक्त होते हैं कि मैं प्राणायाम कर लूँ तो साँस रुक जायेगी। पूरक हो जायगा, कुम्भक हो जायगा, रेचक हो जायगा-नहीं बाबा, साँस आवे चाहे जावे, उससे कोई मतलब नहीं, हम तो भगवान् भरोसे बैठ गये। 'मत्पराः'-

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते। 12.6

अन्य योग विवच्छेदके द्वारा। अनन्य योग दो तरहसे होता है एक दूसरेका योग छोड़ दिया तो अनन्य योग हो गया। अन्य योग कट जाना अनन्य योग है और एक अपने इष्टदेवके प्रति अनन्य होकर जुड़ जाना।

हमारे आचार्योंके मतमें बहुत विलक्षणता है। 'अनन्येनैव योगेन'। योग माने होता है-'उपाय'। उपाय

तो करते हैं, परन्तु हम उपाय करते हैं भगवान्‌से मिलनेका? नहीं, हमारे उपाय तो स्वयं भगवान् हैं। हमारा योग अनन्य है। अनन्य है माने इष्टदेवसे अलग नहीं है! इस बातपर ध्यान दें। बल्लभाचार्य भी ऐसे ही मानते हैं और श्रीरामानुज-सम्प्रदायमें भी यही मानते हैं। उपाय भी भगवान् और उपेय भी भगवान्।

साधक लोगोंको जरा अलग रख दो। हमको तो साधक-बाधकका ठीक-ठीक पता नहीं है। हाँ, इतनी बात तो आपको सुनाते हैं कि कुछ लोग भगवान्‌की करते हैं भक्ति और उनसे चाहते हैं दूसरी कोई चीज। जैसे स्वास्थ्य चाहते हैं, धन चाहते हैं, प्रतिष्ठा चाहते हैं, ऐश्वर्य चाहते हैं। भगवान्‌की भक्ति करते हैं और चाहते हैं भगवान्‌से वेतनके समान कोई दूसरी वस्तु। एक तो ये हैं। दूसरे वे हैं जो करते हैं दूसरे उपाय-जप करते हैं, व्रत करते हैं, तप करते हैं, साधन करते हैं। हमने साढ़े तीन करोड़ नामका उच्चारण किया-इसके बलपर हमको भगवान् मिलें। करते हैं साधन और उससे चाहते हैं भगवान्‌को। और पहले वे हैं जो भगवान्‌की पूजा करते हैं और चाहते हैं भगवान्‌से भगवान्‌के अतिरिक्त दूसरी चीज।

तीसरे ये होते हैं-जिनका वर्णन हमारे भक्तिके आचार्योंने किया है कि हम जिस चीजको चाहते हैं, वही हमारा उपाय भी है-साध्य और साधन दोनों एक है। हम ईश्वरको चाहते हैं और ईश्वरसे चाहते हैं। ईश्वर ही हमें अपने आपको मिला दे। हमारा उपाय है तो ईश्वर और उपेय है तो ईश्वर। साधन है तो ईश्वर, साध्य है तो ईश्वर। 'अनन्येनैव योगेन' का अर्थ हुआ हमारा योग अनन्य हो अर्थात् हमारे इष्टदेवसे अलग न हो। हे प्रभो, हमारे अन्दर तो शक्ति नहीं है, सामर्थ्य नहीं है कि तुम्हारी प्राप्तिके योग्य कोई साधन, कोई उपाय कर सकें। इसलिए तुम स्वयं हमारी ओरसे थोड़ी माला फेर दो। हमारी ओरसे एकाधदिन भूखे रह जाओ। हम जब युक्ति करके, उपाय करके किसीसे मिलते हैं, तो उसमें हृदय पूरा मिलता नहीं है, उपायपर विश्वास रह जाता है। विश्वास तो उपेयपर ही होना चाहिए। जिसको हम पाना चाहते हैं, वही आकर मिला दे।

एक सज्जन बादशाहसे मिलना चाहते थे। बीस कानून लग गये। पहलेसे अर्जी दो, चपरासीको खुश करो, दीवानकी इजाजत लो, बहुत कानून लग गये। एक दिन यमुना किनारे बैठके बजा रहे थे एकतारा। बेगम-बादशाहने सुना। वे चुपचाप चोर दरवाजेसे निकले और जाकर झोपड़ीमें चटाई पर बैठ गये। 'अनन्येनैव योगेन'। जो भगवान्‌की प्राप्तिके लिए उपाय कर रहा था-स्वयं बादशाह वहाँ आगये। जहाँ योग-और योगके द्वारा प्राप्तव्य-ये दोनों अलग-अलग नहीं होते हैं, वहाँ योग अनन्य हो जाता है-'अनन्येनैव योगेन मां धायन्त उपासते'। मेरे पास बैठे रहते हैं-पर कोई पास बैठे, उप-आसते='उपासना' माने पास बैठना। कोई पास तो बैठे; पर पास बैठकर याद करे किसी और की-ध्यान करे किसी और का। जैसे मन्दिरमें पुजारी बैठा हो और देख रहा हो वह यात्रियोंको- इन्तजार कर रहा हो कि वे राजा कब आते हैं, वे सेठ आते हैं। बैठा है भगवान्‌के पास और ध्यान कर रहा है सेठका!

भगवान् कहते हैं-बैठे भी मेरे पास और ध्यान भी मेरा करे। 'मां ध्यायन्त उपासते।' 'ध्यायन्तः' माने ध्यान करते हुए-ध्यै चिन्तायाम्-चिन्तन-परम्परा। जैसे लोभीको धनकी चिन्ता होती है, जैसे कामीको कामिनीकी चिन्ता होती है। ठीक इसी प्रकार ध्यान करके भगवान्‌के पास बैठा रहे। अब ये तो बैठ गये।

भगतजी भगवान्‌का चिन्तन करते हुए भगवान्‌के पास बैठ गये और अपने कर्मोंको भगवान्‌के सामने रख दिया। कर्म तो अच्छे बुरे सब भगवान्‌के सामने रख दिया और पूरा-पूरा भगवान्‌का विश्वास कर लिया और भगवान्‌का विश्वास करके उसका चिन्तन करते हुए बैठ गये। अब इनको मिलेगा क्या? स्वर्ग मिलेगा, वैकुण्ठ मिलेगा, मुक्ति मिलेगी, ज्ञान मिलेगा? बोले, इसकी हमको कोई परवाह नहीं है। हम तो अपना काम करते हैं। हमको कुछ मिलने, न मिलनेकी, जरूरत नहीं है।

हमने एक बार श्रीउड़िया बाबाजीसे पूछा-बाबा, निष्काम कर्म कैसे होता है? तो बोले, देखो एक गिलास पानी किसीको पिलाते हैं-जब नौकर पिलाता है तो वह वेतनकी आशा रखता है, या कुछ इनाम मिलेगा, इसकी आशा रखता है। हम किसीको पानी पिलावें और पानी पिलानेकी जो सुख है-पीनेवालेको पानी पीनेका जो सुख मिला है, उससे अधिक सुख जब पिलानेवाला लेता है, तब उसका निष्काम कर्म हो जाता है। वह पानी पीकर सुखी नहीं होता है वह पानी पिलाकर सुखी होता है। यही बात योगदर्शनमें ईश्वरप्रणिधानकी व्याख्या करते हुए विज्ञानभिक्षुने कही। उन्होंने कहा कि जीव उसको कहते हैं जो खाकर खुश होता है और ईश्वर उसको कहते हैं जो खिलाकर खुश होता है। भोजयिता है ईश्वर, भोक्ता है जीव। खिलाकर खुश, देकर खुश-ऐसा ईश्वर! रघुवंशकी टीकामें एक जगह मल्लिनाथने लिखा है कि जैसे शरद ऋतुमें बादल निर्मल हो जाते हैं, कैसे होते हैं? उनके पास जो पानी था उन्होंने बरस दिया। जब उन्होंने अपना पानी बरस दिया तब वे काले नहीं रहे, सफेद हो गये। निर्मल हो गये। इसी प्रकार जो मनुष्य खिलाकर खुश होता है वह ईश्वरके पास हो गया। क्योंकि ईश्वर भी खाकर खुश नहीं होता, खिलाकर खुश होता है। 'अनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति।' (ऋग्वेद 1.164.20) में आया-उपनिषद्‌का कहना है-

न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन। बृहदारण्यक. 3.8.8

ईश्वरको कोई खा नहीं सकता और ईश्वर खाता नहीं। एक खाकर खुश होता है और एक बिना खाये ही खुश रहता है। हमारे जीवनमें यदि यह आजाय तो अच्छा है। अच्छा, हमने जो किया था वह तो भगवान्‌के सामने रख दिया। विश्वास है भगवान्‌का और दूसरेके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। और हमारे उपाय हैं, साधन हैं तो भगवान् और उपेय हैं, प्राप्तव्य हैं तो भगवान्! और चिन्तन हो रहा है भगवान्‌का! बैठ गये भगवान्‌के पास। बोले अब उद्धार हो। उद्धार तो तब हो जब मृत्यु-संसार-सागर दीखता है- उसको तो दीख रहे हैं भगवान्! तो वह क्या चाहेगा कि भगवान्‌के दर्शनसे हमारा उद्धार हो जावे। भगवान्‌का दर्शन कोई छोटी चीज है और अब हमारा उद्धार हो जावेगा।

राधिकारमण प्रसाद सिंह-वे हमसे मिलते थे। उन्होंने बताया था कि हमारे पिताका रखा हुआ एक नौकर था, पंखा खींचा करता था। जब बिजली आगयी, वह भी वृद्ध हो गया था-मैंने कहा हम तुम्हें पेंशन देंगे। तुम अपने घर चले जाओ। बोला बाबू! देखो, हमारे सामने तुम पैदा हुए, मैंने अपनी गोदमें खिलाया और तुमको अपने हाथसे खिलाया। अब तुम बड़े हुए। पंखा खींचते-खींचते जिन्दगी बीत गयी। अब हम कहाँ जायँ? तुम्हारे सिवाय हमारा घर कहाँ है? हमको पेंशन नहीं चाहिए। हमको अपने घर जानेकी छुट्टी नहीं चाहिए।

****

हमारे तो तुम ही हो, तुमको छोड़कर हम कहाँ जायें? वह समझते थे कि इसको पेंशन देकर घर भेज देंगे तो यह खुश हो जायेगा।

भक्त अपना उद्धार नहीं चाहता कि हे भगवान्, हमारा उद्धार कर दो। अब भगवान्के मनमें फिकर हुई-

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। 12.7

बोले-आगये। एक वृद्ध सज्जन थे। उन्हें नदी पार करनी थी। नदीके किनारे जाकर खड़े हो गये। मल्लाहने देखा कि एक बुड्ढा आदमी-जिसको नावपर चढ़नेकी शक्ति नहीं है, नदी किनारे खड़ा नावका इन्तजार कर रहा है। मल्लाह अपनी नाव लेकर बीच नदीमें-से किनारे आगया। बोला, आजाओ। बुड्ढेने कहा हमारे हाथ पाँव नहीं उठते, हम यहीं खड़े हैं। मल्लाह स्वयं नावपरसे उतरकर नीचे आया और दोनों हाथसे उसे पकड़कर हृदयसे लगा लिया और उठाकर नावपर बिठा लिया। वृद्ध नावपर बैठ गये। वह नहीं आता तो उसके पाँवमें कीचड़ लगता, पानीमें चलना पड़ता, पाँव फिसल जाता, गिर पड़ता। मल्लाहने उठाकर नावमें बिठा लिया। नावपर बैठकर वृद्ध महाशय बोले, हम भी बैठे हैं तो पतवार पकड़ लें, इधरसे उधर घुमाते रहें-बोले डाँड़ ही दे दो-एक डाँड़ खेवेंगे। बोले, नहीं-नहीं डाँड़ खेना तुम्हारा काम नहीं है। तब हम क्या करें? अरे, तुम तो हमको देखो। तुम हमको प्रेमसे निहारो, हम डाँड़ भी चला लेंगे, पतवार भी खे लेंगे और पार भी कर देंगे।

'तेषामहं समुद्धर्ता।' मृत्युरूप संसार-सागरमें जो डूब रहा है, उसको आकर स्वयं भगवान्ने उठा लिया। उसको तो ध्यान ही नहीं है कि हम मृत्यु-संसारमें हैं। मृत्युका अर्थ है, जहाँ मरना पड़ता है और संसारका अर्थ है, जहाँ आना-जाना पड़ता है। संसरणं संसार: । जहाँ आदमी सरकता रहता है। कभी नरककी ओर सरक गया, कभी स्वर्गकी ओर सरक गया। कभी पीछेको सरक गया तो गिर गया और कभी आगेका सरक गया तो गिर गया। संसारमें स्थिरता नहीं है। जब तक स्थिर वस्तुको नहीं पकड़ोगे, तब तक स्थिर नहीं होओगे। संसारमें या तो पीछे फिसलोगे या तो आगे फिसलोगे। या तो दलदलमें गड़ोगे। भूतकी चिन्तामें लग जाना पीछे फिसलना है और भविष्यके लिए डरना, यह आगे फिसलना है और वर्तमान-मोहके गड्ढेमें, दलदलमें गड़ जाना यह तीनोंमें फँस जाना है।

अब निकालने वाला कौन है? संसारसे जो निकालता है उसको बोलते हैं 'समुद्धर्ता।' पहले तो समुद्धर्ता हरता है, जबरदस्ती हरण करता है। वह नहीं निकलना चाहते-ध्यान करके बैठे हैं-भगवान्के पास बैठे हैं। आकर हिला दिया-ओ उठो, भगतजी! बाबा, हम मजेमें बैठे हैं। हम उठेंगे नहीं। अच्छा, बहुत मजेमें बैठे हो तो हम तुम्हें उठाते हैं। यह हरता है। बोले केवल बैठे-बैठे हर ले सो नहीं। उद्धर्ता-ऊपर उठा लेता है, कन्धेपर ले लेता है। उद्धर्ता ही केवल नहीं, यह नहीं कि थोड़ी देरके लिये उद्धर्ता हो गया, उद्धार कर लिया और फिर छोड़ दिया-नहीं 'समुद्धर्ता' सम्यक् उद्धर्ता। जिसके बाद फिर कभी मौत न हो, ऐसा उद्धार; जिसके बाद कभी आवागमन न हो, संसरण न हो, आना-जाना पड़े; ऐसा उद्धार। ऐसा उद्धार कौन करता है? 'अहं

****

****

समुद्धर्ता।' छाती ठोंककर बोल दिया। अरे बाबा, तुम अपने उद्धारकी फिकर मत करो। हम तुम्हारे उद्धारकी फिक्र करते हैं।

सुदामाने भगवान्से कहा कि हमको कुछ नहीं चाहिए। अपने मनमें कहा- हम यदि कुछ चाहेंगे- तुमसे कुछ लेंगे तो तुम भूल जाओगे। अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत्-इति कारूणिको नूनं धनं मेऽभूरि नाददात् (भाग 10.81.20)। बड़े करुणाशील हैं भगवान्। इसको धन मिल जायगा तो हमको भूल जायगा। इसलिए भगवान्ने हमको धन नहीं दिया। सुदामामें ऋषित्व था। भगवान्ने कहा-तुमको नहीं चाहिए तो क्या! 'कुटुम्बपाल रघुराई'-तुम हमसे मिलनेके लिए आये। तुम्हारे कुटुम्बका पालन हमारे सिर आगया। तुमको नहीं चाहिए तो क्या हुआ? तुम्हारी पत्नीको चाहिए। जो तुम्हारे साथ जुड़ गया, उसका ख्याल भी तो हमको ही करना है न! 'मृत्यु संसारसागरात्'। सागरका अर्थ है-बहुत बड़ा समुद्र। परन्तु वह सगरसे सागर बना है इसका भी ध्यान रहना चाहिए न!

सगर वह राजा थे जिनके साथ गर्भसे ही गरल, विष जुड़ा हुआ था। वह तो और्व ऋषिकी कृपासे वह विष उनके ऊपर प्रभाव नहीं करता था और उनके पुत्र हुए उन्होंने सागर बनाया। जिसको जन्म-जन्मका जहर लगा हुआ है और इस जन्ममें भी जहर लगा हुआ है मौतसे घिरा हुआ है, स्वर्ग और नरकमें आनेजानेवाला है, पुण्यात्मा और पापी है और साथ ही इस जीवनमें भी विषैला है, वहाँसे भगवान् सम्यक् 'उत् धर्ता' हो जाते हैं, हरता हो जाते है। 'उद्धर्ता' शब्द दोनों तरहसे बनता है। धरता भी है, हरता भी है।

अच्छा महाराज; आप उद्धार करोगे। अहं भवामि। क्रियापदका प्रयोग तो बिलकुल वर्तमानमें किया, परन्तु फिर भी होऊँगा ऐसा है। बोलना चाहिए 'हूँ' -'अस्मि' बोलना चाहिए। 'भवामि' बोलते हैं। तेषामहं समुद्धर्ता। बोले-'न चिरात्'। देर नहीं लगेगी।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा। 9.31

भगवान्को कोई काम करना हो तो देर नहीं लगती।

भवामि न चिरात्।

वे सत्य-संकल्प हैं।

नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते। तैत्ति. आर. 3.12.7

भगवान् गाते हैं। भगवान्को सब आता है। गाना आता है, गवाना आता है। नाचना आता है, नचाना भी आता है। 'विधि हरि संभु नचावनिहारे।' 'नाच नटी इत सहित समाजा।' मायाको नचाते हैं। 'उमा दारू जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं।' नट मरकट इव सबहिं नचावत'। सबको कठपुतलीकी तरह नचाते हैं, बानरकी तरह नचाते हैं। सबको नचाते हैं। मायाको नचाते हैं, ब्रह्मा, विष्णु, महेशको भी नचाते हैं। और खुद भी नाचते हैं। 'नाचहिं' निज प्रतिबिम्ब निहारी। रूपराशि नृप अजिर बिहारी। स्वयं नाचना भी आता है। जब उनके मनमें कोई संकल्प आया-तो संकल्प और कृत्यमें अन्तर उसके पड़ता है, जो सत्यसंकल्प नहीं होता। इसीसे वेदोंमें ऐसा वर्णन आया है कि एक दिन भगवान्के मनमें काव्यका उदय हुआ।

****

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति। अथर्ववेद 10.8.32

यह भगवान्‌की कविता है। क्या? जो देख रहे हो। यह हरियाली, यह पक्षियोंकी चहक, यह पुष्पोंकी महक-यह सब भगवान्‌की कविता है। यह स्त्री, यह पुरुष, यह मोरका नृत्य, यह कोयलकी कुहक। कहाँसे आयी? भगवान् गुनगुना रहे हैं अपने मनमें कविता और वह कविता सिनेमाकी तरह बिना परदेके, क्योंकि चामका ढक्कन नहीं है भगवान्‌के मनमें। मनुष्यका अन्त:कारण है, उसपर चामका ढक्कन है, इसलिए जो मनमें आता है, जाहिर नहीं होता और भगवान्‌के ऊपर तो चामका ढक्कन है ही नहीं। जैसा मन हुआ वैसा ही दिखायी पड़ने लगता है। और एक बार जो बन गया सो बन गया। 'न ममार न जीर्यति।' यह जो भगवान्‌का काव्य है, वह न कभी मरता है और न बुड्ढा होता है। अमर है, अजर है भगवान्‌का यह काव्य। इनको गाना भी आता है, बजाना भी आता है, नाचना भी आता है, नचाना भी आता है।

अब यह हुआ कि यह सबके लिए ऐसा क्यों नहीं कर देते। जुएँका भी उद्धार कर दें। खटमलका भी उद्धार कर दें। पशु-पक्षीका भी उद्धार कर दें। उद्धार करना माने दु:खसे छुड़ा दें। अज्ञानसे छुड़ा दें। मृत्युसे छुड़ा दें। भटकनेसे छुड़ा दें। सबको क्यों नहीं छुड़ा देते? बोले-भाई, ऐसी बात तो ईश्वरके लिए व्यवस्था बिगाड़नेवाली हो जायेगी। वह अपने ही गाये हुएको, अपने ही बनाये हुएको, अपनी ही मर्यादाको तोड़े कैसे? वैषम्य हो जायेगा। किसीके प्रति पक्षपात हो जायेगा। किसीका उद्धार कर दिया और किसीका नहीं किया। बोले-नहीं भाई, मर्यादा है। जबतक लीला करते हैं, तबतक लीला करते है। जब केवल रहते हैं तो केवल रहते हैं।

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति। ब्रह्मसूत्र 2.1.34

व्यास भगवान् कहते हैं कि एक बार जो उनकी ओर आँख उठाकर देख लेता है, उससे उनकी आँख मिल जाती है। नजर-नजर एक हो गयी। एक बार जिसने अपना मन भगवान्‌की ओर कर दिया, उसका मन भगवान्‌के मनसे एक हो गया! 'मय्यावेशितचेतसाम्'। यही मर्यादा है कि भगवान्‌में अपने चेतस्‌को, अपने चित्तको, अपने ज्ञानको, अपने मनको आविष्ट कर देना है। भगवान्‌के मनसे मन मिला दिया। *'जो थारी राय सो म्हारी राय।'* तुम्हारी मर्जी ठीक है। जो करते हो सो ठीक है। अपनी कोई मर्जी रही नहीं। 'मय्यावेशितचेतसाम्'। यहाँ चेतस् शब्दका अर्थ है 'ज्ञान'।

हमारे एक महात्मा आज बोल रहे थे-भक्तिका जो दूसरा रूप है उसके साथ इसका सामञ्जस्य है? यह चेतस् शब्द जो है वह 'चिति संज्ञाने' धातुसे बनता है। संज्ञान माने-यह पशु है, यह मनुष्य है, यह आम है, यह जामुन है, यह जो एक-एक वस्तुका पृथक्-पृथक् ज्ञान होता है, उस ज्ञानका समूह जिसमें रहता है, वह 'अयं घट:, अयं पट:, अयं मठ:' उस ज्ञानराशिका नाम होता है चेतस्। यह दुनिया भगवान्‌को जैसी दीखती है वैसी ही देखने लग जाय।

एक बार हमारे एक पण्डित सुन्दरलालजी थे, उन्होंने हरिबाबाजीसे कहा कि तुम तो ऐसे सिर झुकाये बैठे रहते हो, किसीको ओर देखते नहीं हो। और ये तुम्हारे साथ रहनेवाले जो हैं, जो क्या-क्या करते हैं? उनको

रोकते क्यों नहीं? पुराने पण्डितजी थे। काशीनाथजीके शिष्य थे। अच्छे विद्वान् थे। बाबाको भी डाँट देते थे। हरिबाबाजीने कहा कि देखो पण्डितजी! सब तो उसीके सामने हो रहा है, जो उसको बुरा लगेगा, उसको रोक देगा। और जब उसको बुरा नहीं लग रहा है तो हम अपना दिल क्यों बुरा बनावें। भगवान्‌के मनमें अपना मन मिला दो। अपने चेतसको, संज्ञानको- जिसको वे मिट्टी कहते हैं वह मिट्टी, जिसको वे पानी कहते हैं वह पानी, जिसको हवा कहते हैं वह हवा। हमें अपनी ओरसे किसीका नाम बनानेकी क्या जरूरत है, किसीका रूप बनानेकी क्या जरूरत!

जैसा भगवान्‌को दीखता है यदि वैसा ही आपको नहीं दीखता तो आपका ज्ञान गलत है। भगवान्‌का ज्ञान सत्य है, भगवान्‌की दृष्टि सत्य है, वह स्वयं अपनी दृष्टिसे प्रपंचको जैसा देख रहे हैं, वही सत्य है। और उनकी दृष्टिसे अलग होकर, उनके ज्ञानसे अलग होकर जो हमारी दृष्टि बनी, जो हमारा ज्ञान बना, वह बिल्कुल गलत है। आप किसी बुजुर्गका नाम लेकर हमको दबाना मत कि अमुक बुजुर्ग ऐसे बोलते हैं-या तो भगवान्‌का ज्ञान सच्चा या तो आपका ज्ञान सच्चा। भगवान्‌के ज्ञानसे जब आपका ज्ञान मिलेगा तभी आपका ज्ञान सच्चा होगा और तब भगवान्‌को उद्धार करनेकी तकलीफ भी उठानी पड़ेगी।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

अपने चित्तको मुझमें आवेशित कर दो, आविष्ट कर दो और देखो फिर कहीं देर नहीं है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परा:।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ 12.6-7

ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:

●

प्रवचन : 4

14-11-83

धर्म, योग, ज्ञान इन तीनोंकी अपेक्षा भक्तिमें अपूर्वता क्या है-नवीनता क्या है? जो उन तीनोंमें न हो और भक्तिमें हो। वह यह है कि योगमें पहिले तो कर्ताका बल होता है, यम-नियम, आसन प्राणायाम, योगीको करना पड़ता है; समाधि लगानी पड़ती है। बादमें वह स्वयं ही अपनेको द्रष्टारूपमें अनुभव करता है। पहले अभ्यासके बलका प्रयोग है और बादमें सहज स्थिति है। धर्म करते समय भी कर्ताका बल है और उनका जो फल है स्वर्गादिरूप, उसको भी पकड़कर हीं रखना पड़ता है। सावधान रहना पड़ता है। नहीं तो स्वर्गसे ढकेल दिया जाता है। राजा ययातिकी महाभारतमें कथा है-बहुत पुण्य, दान, धर्म करके स्वर्गमें गये। इन्द्रके आधे सिंहासनपर उनको अधिकार प्राप्त हुआ। आधेपर इन्द्र बैठें और आधेपर ययाति। ययातिने पूछनेपर बताना शुरू कर दिया कि मैंने यह धर्म किया-इन्द्र पूछते गये, ययाति बताते गये, किस धर्मके बलपर स्वर्गमें आये हैं। अब वे अपने धर्मका जब वर्णन करने लगे तो धर्म क्षीण होता गया और अन्तमें इन्द्रने उनको सिंहासन परसे ढकेल दिया। नीचे मुँह करके गिरे। परन्तु धर्मात्मा थे इसलिए ऐसी जगहपर गिर रहे थे जहाँ महात्माओंका सत्संग हो रहा था।

महात्माओंने उनको अपने तपोबलसे ऊपर रोक दिया और पूछा। ययातिने बताया कि हम धर्मके बलपर स्वर्गमें गये थे। परन्तु वहाँ अपने धर्मका अपने मुँहसे वर्णन करनेके कारण, धर्म क्षीण हो गया और हमको गिर जाना पड़ा तो उन्होंने कहा-अब तुम आओ, सत्संग करो। ऐसी स्थिति-गति प्राप्त होगी जहाँसे गिरना नहीं पड़ता है। धर्म करनेके समय भी अपने बलका प्रयोग होता है और उसके फलकी रक्षा करनेके लिए भी अपने बलका प्रयोग होता है। और योगमें साधनके समय तो स्वयं अभ्यास करना पड़ता है। फलस्थिति जो है वह द्रष्टाके स्वरूपमें स्थिति, उसमें कोई प्रयास नहीं रहता है।

तत्त्वज्ञानमें साधन पहले करना पड़ता है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन ये अन्तरङ्ग साधन हैं। बहिरङ्ग साधन हैं शम, दम, उपरति, तितिक्षा, विवेक, वैराग्य, मुमुक्षा। पहले यह करना पड़ता है। आवरण-भंग जब हो जाता है उसके बाद वह समस्त गतियोंके लिए और स्थितियोंसे और समाधियोंसे मुक्त हो जाता है। वह चाहे विक्षेपमें रहे, समाधिमें रहे, जहाँ रहे, जैसे रहे सहज ही रहता है। धर्ममें साधन और फल दोनोंमें कर्ताका बल है और योगमें साधनकालमें कर्ताका बल है, बादमें सहज स्थिति है। ज्ञानमें कर्तत्व, भोक्तृत्वका सर्वथा उच्छेद हो जाता है क्योंकि ये भ्रान्तिमूलक हैं।

भक्तिमें क्या विशेषता रही-क्या अपूर्वता रही कि उसमें भगवान् ही बल हैं। उसमें अपना बल साधकके लिए न पहले होना चाहिए और न पीछे! भगवान्पर ही भक्तको निर्भर होना चाहिए। भगवान्का भरोसा ही उसकी साधना है।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।

किसी भक्तके सामने भगवान् प्रकट हुए। भक्तने पूछा प्रभो, अभी तो मैं आपका नाम ले लेता हूँ, पूजा भी कर लेता हूँ, ध्यान भी कर लेता हूँ। जब हमारा शरीर शिथिल हो जायगा, हाथ उठेगा नहीं- जीभ चलेगी नहीं- मन अपने वशमें रहेगा नहीं तब आपकी आराधना हम कैसे करेंगे? तो भगवान्ने कहा- मेरे प्यारे भक्त, जब तुम्हारे हाथ नहीं चलेंगे, जीभ नहीं चलेगी, तुम्हारा सामर्थ्य नहीं रहेगा तब मैं आकर तुम्हारे आसनपर बैठ जाऊँगा और तुम्हारी माला लेकर, तुम्हारी ओरसे अपना जप करने लगूँगा। तुम्हारी ओरसे अपनी पूजा भी कर लूँगा, तुम्हारी ओरसे ध्यान भी कर लूँगा। तुम्हारी साधनाकी पूर्णता या अपूर्णता, जो कुछ है वह सब मेरे हाथमें है, मेरे बलपर है। ज्ञानीको अपना बल होता है? भक्त को प्रभुका बल होता है 'तेषामहं समुद्धर्ता'का अर्थ हुआ कि भक्तको अपने उद्धारके लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

वह तो केवल प्रभुकी सेवा जानता है, प्रभुका चिन्तन जानता है। वह अपनेको प्रभुके सामने निवेदित कर देता है। अब उनकी जो मरजी हो सो करें। 'मम नाथ यदस्ति योऽस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव'। हे माधव, हे नाथ जो कुछ मेरा है और जो कुछ मैं हूँ वह सब तुम्हारा है। अबतक मैं जानता नहीं था। अब जान गया। मेरी बुद्धि सोयी हुई थी। जग गयी। फिर समर्पण करनेके लिए भी मेरे पास क्या है? मेरा क्या है, जो मैं तुम्हें समर्पित करूँ-'अथवा किं समर्पयामि ते'। मालिकका ही सेवक! गिलासमें पानी लेकर मालिकको समर्पित करते हैं। 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'। 'तेरी तुझे सौंपते क्या लगत है मोर!'

मैं क्या हूँ, मुझे मालूम नहीं है। चाहे जो कुछ भी मैं हूँ-पापी-पुण्यात्मा, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय-जो कुछ भी मैं हूँ और मेरे अन्दर चाहे गुण-दोष जो भी हों, मैं जैसा हूँ वैसा ही आपके चरणकमलोंमें समर्पित हूँ। समर्पणका बोध है कि मैं प्रभुका हूँ। यह बोध जो है, समर्पण-बोध, शरणागति-बोध, शरणागति-योग नहीं-शरणागति-बोध। भक्त तो समर्पित करके-निश्चित भगवान्के भरोसेपर बैठा हैं। अब भगवान्ने कहा-यह तो बैठा ही रह जायगा तो आओ, इसके साथ थोड़ी जबरदस्ती करें। तो हरता बनकर हरण करनेको आये। यह बात दुनियाके और किसी मजहबमें नहीं है। यह वैदिक धर्मकी विशेषता है। रुक्मिणीका हरण श्रीकृष्ण भगवान् करते हैं। जब रुक्मिणीने कह दिया-मैंने अपनी आत्माका समर्पण कर दिया, अब मेरा कुछ कर्तव्य नहीं है। तुम्हारा जो कर्तव्य है वह तुम करो, चाहे मत करो। मेरा कर्तव्य पूरा। श्रीकृष्णने हरण किया। यह हरता भगवान् हैं। फिर हरता भी कैसे? गोदमें उठाकर। जब रुक्मिणी श्रीकृष्णके सम्मुख आयी तो झट उन्होंने दोनों हाथसे पकड़कर गोदमें उठा लिया और रथपर बिठा लिया। हरण करके भाग चले। अब जिसकी मर्जी हो पीछा करो। ये तो हो गये हर्ता। फिर उद्धरता। 'उद्धर्ता' माने उठाकर हरण करनेवाले और उसके बाद 'समुद्धर्ता'।

रुक्मिणीके साथ तीन बार व्याह किया। एक तो प्रेम-विवाह हुआ; और जब हरण किया तो राक्षस विवाह हुआ और फिर द्वारिकामें लाकर विधिपूर्वक वैदिक रीतिसे विवाह सम्पन्न हुआ।

और करते हैं तो थोड़े दिनके लिए नहीं हमेशाके लिए। इसलिए केवल 'उद्धर्ता' नहीं हैं 'समुद्धर्ता'-हमेशाके लिए। और धर्ता हैं-जिसको स्वीकार करते हैं, उसका पालन-पोषण करते हैं-और उर्द्धगतिमें ले जाकर, अपने पास लाकर पालन-पोषण करते हैं-और हमेशाके लिए करते हैं। यह 'मृत्युसंसारसागरात्' जो है, यह ऐसे है जैसे पहले समुद्री जहाजोंको दस्यु लोग लूट लिया करते थे वैसे अपने भक्तोंको जानमें-अनजानमें भगवान् लूट भी लेते हैं। यह बात भागवतमें तो कई जगह आयी है। आप ध्यान देंगे तो मालूम पड़ेगा। जो अकिंचन हो जाता है, उसके ऊपर भगवान्‌की कृपा ही यह होती है कि यदि वह अर्थकी ओर झुके, कामकी ओर झुके, धर्मकी ओर झुके तो इसके आयासको निष्फल करके भी भक्तको अपनी गोदमें ले लेते हैं। यदि वह दूसरी जगह जाना चाहता है तब भी उसको जानेको रोक देते हैं और अपने पास खींच लेते हैं।

गीतापर टीका बहुत हैं। 100के लगभग टीकाएँ इस समय उपलब्ध हैं। देशमें भी हैं, विदेशमें भी हैं। और दुनिया भरमें बाइबिलके बाद अगर प्रकाशनका नम्बर किसी ग्रन्थका है तो गीताका ही है। मधुसूदन सरस्वतीकी गीतापर टीका है, उसमें उन्होंने इस प्रंसगपर कहा-जो भगवान्‌का कृपा-पात्र है उसको धर्मानुष्ठानके बिना, चित्तवृत्ति निरोधके बिना, बिना भ्रमके, बिना मननके, बिना निदिध्यासनके भगवान् अपनी कृपासे, अपनी करुणासे अपने सन्मुख आये हुए जीवका उद्धार कर देते हैं यद्यपि उनकी प्रकृति 'भवामि' की नहीं है, 'अस्मि' की है। माने सत्-रूप हैं। परन्तु वे सत्-स्वरूप होनेपर भी करुणाके वशमें होकर अपने भक्तके लिए 'समुद्धर्ता भवामि'। 'समुद्धर्ता अस्मि'-बैठे हुए नहीं है! बन जाते हैं-समुद्धर्ता। माने साम्राज्य-सिंहासनपर बैठा नहीं जाता। वे वहाँसे कूद पड़ते हैं। आपने गजेन्द्रके प्रसंगमें सुना ही होगा। बैकुण्ठसे भगवान् जब गजेन्द्रकी गो' सुनकर दौड़े-वह निःसाधन था-तो लक्ष्मीजी पूछती ही रह गयीं-कहाँ जा रहे हो? मुझे भी ले चलो!

खड़ाऊँ जो रखी वह टूट गयी क्योंकि उसपर जोरसे पाँव पड़ा और गरुड़जी जो सामने आये कि मेरे ऊपर चढ़कर चलिये जो उनको हाथसे झटक दिया। और 'गो' और 'विन्द' के उच्चारणमें तो सन्धि थी, बोलनेके पहले आकर गजेन्द्रके चरणोंमें लगे हुए ग्राहको भगवान्‌ने अपने दोनों हाथसे उठा लिया। अरे-भक्तके चरणोंमें लगा हुआ है-उठाया और बोले भक्तको पीछे मुक्त करेंगे, पहले भक्तके भक्तको मुक्त कर लें! उन्होंने ग्राहको गजेन्द्रका शत्रु नहीं समझा। भगवान्‌की दृष्टिमें कोई बुरा होता ही नहीं है। उन्होंने ग्राहको भी अपने भक्तका भक्त समझा और पहले ग्राहका उद्धार करके फिर गजेन्द्र उद्धार किया।

यह जो वैकुण्ठसे एक छलांगमें भक्तके पास पहुँच जानेकी प्रक्रिया है यह दुनियाके किसी धर्ममें, किसी मजहबमें, किसी आचार्यके द्वारा चलाये हुए सम्प्रदायमें यह बात नहीं हैं। यह करुणाके वरुणालय (वरुणालय माने समुद्र) भगवान्‌को जो कृपामयी वृत्ति है उसका विलास है। भगवान्‌का आदेश है।

देखो भाई सबका उद्धार कैसे करें? कुछ तो तुम्हारे अन्दर विशेषता होनी चाहिए। नहीं तो कीट-पतंगादि सबका ही उद्धार करें। फिर हमारी यह लोकलीला बन्द ही हो जायेगी। इसलिए कोई व्यवस्था करनी पड़ेगी कि किसका उद्धार करें और किसका न करें। वह व्यवस्था क्या है?

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ 12.8

'मयि एव मन आधत्स्व'। भगवान् और यह जीवात्मा दोनोंके बीचमें व्यवधान क्या है? अन्तर क्या है? वह ऐसी कौन-सी चीज है जो आत्मा और परमात्माके बीच आकर खड़ी हो जाती है और परमात्मासे एक नहीं रहने देती। परमात्मामें नहीं रहने देती. ऐसी कौन-सी वस्तु है? बोले ऐसी दो चीजें आकर जीवनमें अड़ गयीं हैं, जिनके कारण आत्मा अपनेको परमात्मासे अभिन्न अनुभव नहीं करता। वे दो चीजें क्या है? मन और बुद्धि। दो नाम लिये। क्योंकि दो काम ऐसे हैं-आप सोचकर देखो, आपका प्यार कहाँ जाता है? और आपके विचार कहाँ जाते है? हमारे वेदान्तियों में और भक्तोंमें कुछ ऐसी बात आकर अटक गयी है कि वेदान्ती भगवान्‌के वचनसे तो बहुत प्रेम करते हैं-भगवान्‌ने यह कहा, यह कहा, यह कहा-वह देखो भगवान् बोल रहे हैं- क्या बोल रहे हैं? भगवान्-'मत्स्थानि सर्वभूतानि'-'न च मत्स्थानि भूतानि' (9.4.5) क्या बढ़िया बोल रहे हैं। मुझमें सब है और मुझमें कुछ नहीं है अनिर्वचनीय प्रपञ्चका वर्णन कर रहे हैं। भगवान्‌की वाणी है। भगवान् कहते हैं-'अनादिमत्परम् ब्रह्म' (13.12)।

वेदान्ती लोग भगवान्‌की वाणीका आदर करते हैं। परन्तु भगवान्‌का जो मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारी, श्यामसुन्दर, गोपीजनबल्लभ, प्रेममय स्वरूप है उसमें उनका प्रेम नहीं होता। वे वचनसे प्रेम करते हैं। रूपसे प्रेम नहीं करते। धर्मात्मा लोग आज्ञाकारी तो होते हैं, आदेश मानते हैं परन्तु भगवान्‌के रूपमें प्रेम नहीं करते। ज्ञानी लोग भी वचनका अभिप्राय तो मानते हैं परन्तु वचनको नहीं मानते। उसके तो ज्ञान ही अपौरुषेय है। फिर वक्ताका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। योगी लोग तो रूपका भी, वचनका भी निरोध करते हैं, समाधि लगाते हैं। कोई वचनको मानते हैं, रूपको नहीं मानते। और भक्तोंमें क्या है? ये रूपसे तो बहुत प्रेम करते हैं। ये तो झट बोल देते हैं-जिन आँखिनमें यह रूप बस्यो, उन आँखिन ते अब देखियेका? जिन आँखोंमें यह रूप बसा है, उन आँखोंसे अब क्या देखें? *बाबरी वे अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छाँड़ि विलोकति गोरो।* जो साँवरेको छोड़कर गोरेको निहारती हैं वे आँखें जल जायँ। रूपके तो भक्त लोग इतने प्रेमी होते हैं!

पहले वृन्दावनसे एक पत्रिका प्रकाशित होती थी, उसमें भक्तिके विघ्न छपते थे। उसमें बहुत-सी बातें थीं जिसमें एक थी-तत्त्वरूपसे भगवान्‌का चिन्तन भक्तिमें बाधक है। उनको पृथिवी, जल, अग्निके समान तत्त्वरूपमें नहीं-मूर्तिमान् मनुष्यके रूपमें भगवान्‌का चिन्तन करना चाहिए। और प्रपञ्चके मिथ्यात्वका चिन्तन भी भक्तिमें बाधक है। यह वहाँकी पत्रिकामें चौथे पेजपर छपता रहा। भक्त लोग रूपके तो बड़े प्रेमी होते हैं, लेकिन भगवान् जिस तत्त्वका निरूपण करते हैं, उसपर ध्यान नहीं देते हैं। फल इसका क्या होता है-वे विचार करते हैं और वस्तुओंके बारेमें और प्रेम करते हैं भगवान्‌से। वे भगवान्‌की रूप-माधुरी निहारना तो चाहते हैं

परन्तु उनका मन यहाँ-वहाँ, यहाँ-वहाँ भटकता रहता है। वैसे प्रेममें मनका दूसरी ओर जाना ही अपराध हो सो बात नहीं है।

हमने एकबार श्री उड़ियाबाबाजी महाराजसे पूछा था कि क्या प्रेम दोसे भी हो सकता है? बोले क्यों नहीं हो सकता रे! महाराज दोसे प्रेम कैसे होगा? 'एक म्यानमें दो खड्ग देखी सुनी न कान'-बोले कि एक माता है, अपने पुत्रसे भी प्रेम करती है और अपने पतिसे भी प्रेम करती है और अपने भाईसे भी प्रेम करती है। यह कैसे होता है महाराज! तो बोले कि कोठरी अलग-अलग है। पुत्रके प्रेमकी कोठरी अलग है, पतिके प्रेमकी साथ जुड़ हुए जो भाव हैं-उस भावके अनुसार प्रेम होता है। यह कोई अपराध नहीं है कि एक स्त्री अपने पतिसे भी प्रेम करती है और अपने पुत्रसे भी प्रेम करती है, भाईसे भी प्रेम करती है, अपने शरीरसे भी प्रेम करती है। यह कोई प्रेमका विघ्न नहीं है। यह है कि मन कहीं जाता है, घूम-फिरकर आजाता है। अब यह श्रीकृष्ण जो हैं ये जिद्दी पक्के हैं। हमलोग वृजवासी श्रीकृष्णके बारे में कुछ भी बोल सकते हैं। हमको यह हक है।

हम पाठ करते हैं- 'चोरजारशिखामणि'-चोरोंके शिरोमणि हैं। अभी तो रुक्मिणीकी लूटकी बात बतायी थी। लुटेरे भी हैं। माखनचोर भी हैं, चित्तचोर भी हैं-चीरापहारी भी हैं। उनको कुछ बोलो-ग्वाले तो 'सारे' कहकर बोलते हैं। पर भगवान्‌को सब बढ़िया लगता है। भगवान्‌को कोई किसी नामसे पुकारे, उनके ज्ञानमें, उनकी दृष्टिमें, उनके स्वरूपमें तो सब वही है। यह भगवान्‌की नजर है कि भगवान्‌के सिवाय कोई दूसरी चीज नहीं है। 'मय्येव मन आधत्स्व'-यह जो अपना मन है उसको मुझमें ही आहित कर दो, आधान कर दो। जैसे बरतनमें कोई चीज रख देते हैं वैसे भगवान्‌रूप आधारमें, भगवान्‌रूप पात्रमें अपने मनके सारे प्रेमको उड़ेल दो, रख दो, स्थापित कर दो।

मनको मैंने बहुत ढूँढा-वर्षों तक कोशिश को कि मन हमको मिल जाय। कुछ काला मिले, एक छटाँकका मिले, चालीस सेरका मिले, पर मिला नहीं। यह एक अमूर्त पदार्थ है। असलमें सविषय चेतनको ही मन बोलते हैं। मन नामका कोई पृथक् तत्त्व नहीं है। मिलता कहाँ है? जब वह किसी विषयका चिन्तन करता है तो उस विषयका आकार धारण कर लेता है। विषयाकार हो जाता है। तन्मय हो जाता है।

यदि आपका मन स्त्रीका चिन्तन कर रहा है, तो मन स्त्रीके रूपमें मिलेगा और मन पुत्रका चिन्तन कर रहा है तो पुत्रके रूपमें मिलेगा। किसी आकारके साथ बिना तन्मय हुए मन मिलता नहीं है। मनको श्रीकृष्णके साथ तन्मय कर दो 'मय्येव मन आधत्स्व।' (12.8) जब देखो-देखो भगवान्। ये देखो श्याम! आपका मन ही श्याम होकर आपको दिखायी पड़ेगा। मनमें क्या रहे? मुदित और शान्त वृत्ति रहे। 'श्याम श्याम श्याम! नाहिंन रह्यो हिय मां ठौर, नन्दनन्दन अछत कैसे आनिये उर और। ऊधो मन न भये दस बीस! एक हुतो सो गयो श्याम संग, को आराधे ईस!'

मनको एक आकार दो। हमारा आकारसे मतलब चाहे शिव जैसा हो, चाहे विष्णु जैसा हो, चाहे राम जैसा हो, चाहे कृष्ण जैसा हो, चाहे देवी जैसा। मन को एक आकार दो और समग्र पूर्णताको उसमें आरोपित कर

दो। माने उसमें महत्त्वबुद्धि भी हो। महत्त्वबुद्धिपूर्वक अपने मनको जिस आकारसे मिला दोगे वही आकार तुम्हारा मन ग्रहण कर लेगा। रख दो अपने मनको। कहाँ? बोले मुझमें। मैंने पहले भी यह बात आपको सुनायी थी। मन दो ही अवस्थामें निरन्तर भगवान्‌में लग सकता है। या तो विराट् भगवान् हो-जो कुछ जीवन, मरण, जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति, शत्रु-मित्र है वह सब भगवान्‌के विराट्‌रूपमें ही है। सारे दृश्य भगवान्‌के रूपमें, सारे शब्द भगवान्‌के रूपमें तथा शब्द और दृश्य मिले हुए भगवान्‌के रूपमें एवं शब्द और दृश्य तथा इनका अभाव भी भगवान्‌के रूपमें जहाँ देखता हूँ वहाँ तू ही तू है।

ऐसे ही जिसमें मन फुरफुराता है, वह जो मनका आश्रय है- अधिष्ठान, उससे अभिन्न रूपमें मनको जान लें। 'मय्येव मन आधत्स्व'-बात तो जरा कठोर भी है, कठिन भी है। जब तक ईश्वरको दूसरा मानकर हम उसमें अपना मन लगावेंगे तब तक मन वहाँसे खिंचकर अपनेमें आवेगा। थोड़ा उससे प्रेम करेगा, थोड़ा अपनेसे प्रेम करेगा। थोड़ा उसके घरमें रहेगा, थोड़ा अपने घरमें रहेगा। निरन्तर नहीं लग सकता। या तो सर्व भगवान् हो या तो अपनी आत्मा भगवान् हो तो दूसरेके घरमें जाने-आनेकी तकलीफ मिट जाती है। जहाँ है वहीं भगवान्‌में हैं-तो 'मय्येव मन आधत्स्व' का यह अर्थ है। मुझे पहचानो-'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' (7.6) अथवा 'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय' (7.7)। मुझको पहचानो और मुझमें अपने मनको रख दो। अथवा मेरे विराट्‌रूपमें अपना मन रख दो।

अब रही बात बुद्धिकी। बुद्धिसे तो हम कितना विचार करते हैं। धन कैसे मिले-यह विचार है। इज्जत कैसे मिले-यह विचार है, कुर्सी कैसे मिले-यह विचार है, सुख कैसे मिले-यह विचार है, दुःख कैसे छूटे-यह विचार है। परमार्थ व काम-सम्बन्धी विचार बुद्धिमें आते ही रहते हैं। यह बुद्धिका विपरीत चार हो जाता है। 'विचार' माने 'विपरीत चार'। बुद्धि चलती है, पर कहाँ चलती है? ईश्वरको छोड़कर दूसरेकी ओर चलती है। यह विचार हो गया-नहीं; जब विशिष्ट चार हो तब विचार होता है। 'वि' माने विपरीत भी होता है, 'वि' माने विशिष्ट भी होता है।

विशिष्ट चार क्या होवे? कि वे नाचते-नाचते दूर न जाकर, नाचते-नाचते आकर गिरे ढुलककर पीत-पटपर, खुली रह जायँ ये आँखें मुकुटपर। आकर भगवान्‌की गोदमें गिर जाय। 'मयि बुद्धिं निवेशय'। बुद्धिको भटकानेसे, यहाँ-वहाँ भेजनेसे भगवान् नहीं मिलते हैं। भगवान् तो जहाँ बुद्धि उठती है, जहाँ बुद्धिका जन्म होता है-उसके पहलेसे ही भगवान् वहाँ बैठे रहते हैं। जब बुद्धिको जन्म हो जाता है तब भगवान् वहाँ बैठे रहते हैं। जब बुद्धिका जन्म हो जाता है तब भगवान् उसमें प्रवेश करते हैं। 'जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छान्दोग्य 6.3.2)। फिर बुद्धिमें अनेक नाम और अनेक रूपको अभिव्यक्त करते हैं। बुद्धिका जन्म नहीं हुआ था, तबसे भगवान् बैठे हुए हैं। बुद्धिका जन्म नहीं हुआ तभी उसका संचालन करने लगे, 'धियो यो नः प्रचोदयात्'। और जब बुद्धि अनेक नाम-रूप बनाने लगी, तो समस्त काम-रूपोंमें भी प्रवेश करके भगवान् ही उनको सत्ता देते हैं। आनन्द देते हैं। उनमें ज्ञान देते हैं।

अपनी बुद्धिको आप जड़ वस्तुके विवेचनमें, विचारमें न लगाकर, जो सबमें भगवान् विराजमान हैं-

उसपर लगायें। पहले कल्याणमें चित्र छपा करते थे-एक गाय बना दी-उसके भीतर कृष्ण, एक हाथी बना दिया उसके भीतर कृष्ण, एक स्त्री बनायी, उसके भीतर कृष्ण-एक आदमी बनाया- उसके भीतर श्रीकृष्णका चित्र बना दिया- 'मयि बुद्धिं निवेशय' बुद्धिको ऐसा बनाओ कि वह सबमें जो भगवान् भरे हैं उनमें जाकर मिल जाय, निविष्ट हो जाय, तन्मय हो जाय, अभिनिविष्ट हो जाय-माने उस रूपमें बुद्धि भगवान्‌को ही ग्रहण करे।

सम्पूर्ण विचारोंका पर्यवसान, परिसमाप्ति, आखिरी चीज सभीमें-भगवान् हैं। और आखिरी चीज ढूँढ़नेके लिए आप पश्चिमकी ओर जायँगे तो जहाँ सूर्यास्त होता है, उससे भी पश्चिम होगा, उससे भी पश्चिम होगा, कहीं पश्चिमका अन्त नहीं मिलेगा। बुद्धिका पर्यवसान पश्चिममें नहीं मिलेगा। जाकर बेहोश हो जायेगी और होशमें आयेगी तो लौट आयेगी। और सूर्योदयसे पूर्व अगर पूरब ढूँढ़ने जायँ तो कहीं पूर्व नहीं मिलेगा। फिर बुद्धि जगेगी, बेहोश होकर फिर जगेगी और लौटकर फिर अपने पास आजायेगी जहाँ बुद्धिका जन्म होता है, उस वस्तुमें, उस बुद्धिके प्रेरकमें जब परमात्माको देखेंगे।

पूर्वका प्रारम्भ आप है, पश्चिमका प्रारम्भ आप हैं, पश्चिमका अन्त, पूर्वका अन्त आप हैं। आपके हृदयमें बैठे हुए भगवान् हैं। किसी भी चीजको देखिये। एक सोनेका जेवर आया। क्या है भाई-गला दिया तो जेवरका रूप गया। आकार गया-द्रव हो गया। द्रवको चूर्ण बना दिया। बिखेर दिया, चूर्ण हो गया। द्रव सोनाका नहीं है, चूर्ण सोना नहीं है-सोना तो एक ऐसी तेजोमयी धातु है कि आप उसको नेत्रसे भी, अपने आपसे भी अलग नहीं देख पायेंगे। जो सद्धातु आत्माकी है, वही सद्धातु स्वर्णकी है। 'बुद्धिं निवेशय'का अर्थ है, भगवान्‌के बारेमें ऐसा विचार कीजिये कि भगवान्‌के सिवाय और कुछ न रहे।

भगवान्‌के बारेमें ऐसे-ऐसे संकल्प कीजिये कि भगवान्‌के सिवाय और कुछ न रहे। सारे संकल्प भगवान्‌के लिए उठें। पहलेसे संकल्प कर लें कि ये भगवान्‌के लिए हैं। कोई भी काम करें, किसी एक कामसे मतलब नहीं है। जो काम आप करते हैं वह करनेसे पहले आपके मनमें आये कि यह काम मैं भगवान्‌के लिए कर रहा हूँ। अच्छा काम करनेके पहले याद न आये पर करते समय याद आजाये तो भी चल सकता है। अच्छा करते समय भी याद न आये, पूरा होनेके बाद याद आजाय कि भगवान्‌के लिए हुआ तो बहुत बढ़िया। आप काम कोई भी करें, आपके सामने चीज कोई भी रहे, व्यक्ति कोई भी रहे, आपके सामने चीज कोई भी रहे, व्यक्ति कोई भी रहे, स्थान कोई रहे, समय कोई रहे, लेकिन आपकी नजर ऐसी पैनी, आपकी बुद्धि ऐसी तीक्ष्ण हो, ऐसी सूक्ष्म हो कि वह हर कहीं परमात्माको निकाल सके। परमात्माको ढूँढ़ ले कि यहाँ परमात्मा किस रूपमें है।

सन्त तुकाराम भूतमें भी परमात्माको देखते थे। 'भले बने हो लम्बकनाथ'। नामदेवने कुत्तेमें भगवान्‌को देख लिया। वह भी एक नजर थी। वह भी एक दृष्टि थी। भगवान् हमारे सामने मछली बनकर आये, पर पहचाना किसने? कछुवा बनकर आये, पर पहचाना किसने? सूअर बनकर आये पर पहचाना किसने? सिंह और घोड़ा बनकर आये पर पहचाना किसने? वामन बनकर आये, परशुराम बनकर आये। राम

बनकर आये। कृष्ण बनकर आये। ऐसे बनकर आये कि ईश्वर कोई न माने। यह भी एक ईश्वरके ईश्वरताकी पहचान है। ईश्वरमें एक गुण यह भी है कि ईश्वरका कोई दूसरा ईश्वर नहीं होता।

आप लोग विष्णु-सहस्त्रनाममें पढ़ते होंगे। भगवान्‌का एक नाम 'अनीश' है। 'नास्ति ईशो यस्य असौ अनीशः'। जिसका ईश्वर दूसरा कोई नहीं होता, उसका नाम है अनीश। अनीश्वरवादी बुद्ध बनकर आये। यह भगवत्ता ही है। इसीसे हमलोग बुद्धको ईश्वर मानते हैं। यह भी भगवान्‌का एक गुण है कि उनका कोई ईश्वर नहीं होता। कल्कि बनकर आये। अनेक-अनेक महात्माओंके रूपमें आये। पर हमारी नजर भगवान्‌को एकांगी रूपमें मानती है। सर्वतोमुखी दृष्टि नहीं है।

भगवान्‌ने कहा-बस दो बात कर लो-पाँच-सात बात करनेकी नहीं है। न धर्मके दस लक्षण धारण करनेकी जरूरत है-'दशकं धर्मलक्षणम्' (मनु ६.९२), न योगके आठ अंगके सेवनकी आवश्यकता है। बस दो बात ध्यानमें रखो। उसमें न आसन है, न प्राणायाम है। न उसमें यज्ञ है, न मन्दिर है। न उसमें तीर्थयात्रा है और न व्रत है। दो ही बात है। कितनी आसान-एक तो मन मेरे पास रख दो-जैसे कोई जेवर लॉकरमें रखकर बेफिकर हो आते हैं वैसे अपना मन भगवान्‌में रख दो-बेफिकर हो जाओ-अपनी बुद्धिको भगवान्‌की बुद्धिसे मिला दो। बिलकुल व्यावहारिक है। यह अव्यवहार्य नहीं है। यहाँ यों भी वाह वाह है, और त्यों भी वाह वाह है।

बुद्धि मिलाना क्या हुआ? एक दिन हमको कोई दुःखका अनुभव हो रहा था तो हमको गुरु-वाणी याद आगयी। 'उसते होई नहीं कछु बुरा और कहो किने कछु करा'। गुरु नानककी वाणी है। उसके हाथोंसे कुछ बुरा होता नहीं, दूसरा कोई करनेवाला है नहीं। उसीने किया है। जेबमें-से सौ रूपयेका नोट किसने निकाला? हमारी पत्नीने-अच्छा उसीने निकाला तब ठीक है, कोई हरज नहीं। बाबा हम लोगोंके साथ छेड़खानी करते थे। मान लो हम कभी ऐसी चद्दर ओढ़े हों जो कहींसे फटी हुई तो उसमें उँगली डालकर खींच देते थे और फाड़ देते थे। बाबाने फाड़ दिया। हँसी आगयी। अगर दूसरा कोई फाड़ता तो गुस्सा आता। बाबाने फाड़ दिया-ठीक है।

राधाजीको श्रीकृष्णका नाखून लग गया। अरे प्यारेका नाखून-उसने अगर यह किया है तो कुछ बुरा हो नहीं सकता और दूसरा कोई करनेवाला है नहीं। हमारा वह संकट तुरन्त सुख हो गया। अपनी बुद्धिको भगवान्‌की बुद्धिको भगवान्‌की बुद्धिके साथ मिला दी। वह अपनी बुद्धिसे जो कुछ कर रहे हैं-ठीक है। और अपने मनको उनके पास रखो। भगवान् हमारे मनको मछलीकी तरह पकाते हैं। बंगालमें तो लोग बहुत जानते हैं। एक बार उसको गरम तवेपर डालते हैं फिर मट्ठा छिड़ककर ठंडा करते हैं। फिर गरम करते है, फिर सेंकते हैं, फिर ठंडा करते हैं। भगवान् हमारे मनको मछलीकी तरह गरम-ठंडा रहते हैं। ठंडा करनेके समय खुश होनेकी जरूरत नहीं और गरम करनेके समय नाराज होनेकी जरूरत नहीं है। क्योंकि वे स्वादु बना रहे हैं। हमारे मनको मधुर बनानेके लिए स्वादु बनानेके लिए, हमारे मनमें सहिष्णुता लानेके लिए दुःख भेजते हैं-हमारे मनमें उल्लास लाने के लिए सुख भेजते हैं। हमारा मन सोवे नहीं, उल्लसित होवे इसके लिए सुख भेज देते हैं। हमारी

सहिष्णुता बनी रहे, इसके लिए दुःख भी भेज देते हैं। उनके मनसे अपना मन मिलाओ। उनकी बुद्धिसे अपनी बुद्धि मिलाओ।

इसके बाद क्या होगा? 'अत ऊर्ध्वम्'-इसके बाद क्या? 'मय्येव निवशिष्यसि'-यह नहीं कहते हैं कि घरमें रहोगे, मेरे लोकमें रहोगे। 'मयि एव निवशिष्यसि'-कभी कचौरी बनाकर तुमको खावेंगे, कभी स्नो-पावडर बनाकर अपने शरीरमें लगावेंगे। कभी अपने बालमें तेलकी तरह लगावेंगे। कभी मालपूवेकी तरह खा लेंगे। 'मयि इव निवशिष्यसि'-दूर नहीं-राज्यमें नहीं रखेंगे, प्रान्तमें नहीं रखेंगे, नगरमें नहीं रखेंगे, महलमें नहीं रखेंगे। मुझमें रखेंगे। तुम्हारा निवास कहाँ? 'मयि एव'- मुझमें मेरे सिवाय और किसीमें नहीं-आओ तो सही-मेरे मन-से-मन मिलाकर देख लो। जैसे राखो वैसे ही रहौं। हमारे महात्मा लोग बोलते हैं-'ज्यों ही ज्यों ही रखियत हौं त्यौं ही त्यौं रहियत हौं हे हरि! हरिदासका पद है। मन मिलाना क्या? हर काममें अपने प्यारेका हाथ-हर स्थितिमें प्यारेका दर्शन-उसके दर्शनमें उसके किये हुए काममें दुःखका स्थान कहाँ? जब मन, बुद्धि उसमें बस गयी-उसमें हम बस गये। 'निवसिष्यसि मय्येव'-पहले भी मुझमें ही निवास करते हो लेकिन ये मन-बुद्धि ले जाकर दूर फेंक देते हैं। तुम मन-बुद्धि मुझमें लाकर रख दो तो देखोगे कि तुम पहलेसे ही मुझमें निवास कर रहे हो। पर यह कब मालूम पड़ेगा? मनके आधानके पश्चात् और बुद्धिके निवेशनके पश्चात् यह अनुभव होगा कि तुम मुझमें निवास कर रहे हो।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 5

15-11-83

मन और बुद्धि भगवान्में स्थापित कर देनेके बाद जीव भगवान्में ही निवास करता है। अपना मन भगवान्में स्थापित हो गया आधान हो गया। जैसे घरमें, गाँवमें कोठिला बनाते हैं और उसमें चावल, गेहूँ या धान-धान ही धान भर देते हैं-उसका नाम हो जाता है 'आधान'। जैसे किसी पात्रको हीरेसे भरके रख लें तो पात्रमें हीरेका आधान हो गया। ऐसे ही अपने मनको भगवान्के अन्दर रखकर सुरक्षित कर दिया जाय जाय और अपनी बुद्धिको भगवान्में रखकर सुरक्षित कर दिया जाय तो यह हुआ आधान अथवा निवेशन। निवेशनका अर्थ प्रवेशण भी होता है और निवेशनको अर्थ सुला देना भी होता है। 'जैसे सोवत सुख तुलसी भरोसे एक रामके।' एक मात्र रामचन्द्रके भरोसे सो जाइये। निर्भरता चाहिए भगवान्के ऊपर। इसका जो फल बताया-'निवशिष्यसि मय्येव'-उसके बल पर हमको मनके आधान और बुद्धिके निवेशनकी बात सोचनी चाहिए।

संस्कृतमें एक रीति यह भी है कि 'फल-बल-कल्प्य' हो यह साधनका स्वरूप होता है, नतीजा क्या निकला? जैसा नतीजा निकलता है उसीके अनुरूप साधन होता है। 'नतीजा-परिणति।' अन्तमें क्या निकला? अन्तमें निकला भगवान्में ही निवास। मरणमें भगवान्में निवास हुआ कि जिन्दामें ही निवास हुआ? कहते हैं कि मन, बुद्धि भगवान्में गया और निवास भगवान्में हुआ। हमलोग जीवनकी चर्चा करते हैं। मरनके बादकी चर्चा तो मौलवी और पादरी और पुरोहितोंकी है। मरनेके बादका ठेका मजहबी आचार्योंका है। और फकीर जो है वे इसी जीवनमें जो परमानन्द है उसकी चर्चा करते हैं। महात्मा लोग इसी जीवनमें आपको सुखी बनाना चाहते हैं। इसी जीवनमें परमानन्द देना चाहते हैं।

अभी यहीं आप परमानन्दमें स्थित हो जायँ तो आगेकी तो कोई बात ही नहीं। इसीसे कभी-कभी महात्माओंके सिद्धान्तमें और मौलवियोंमें, पुरोहितोंमें, पादरियोंमें विरोध भी हो जाता है। वे बहुत विरोध करते हैं, सन्तोंका, फकीरोंका, अवधूतोंका। इसी समय आप परमात्मामें विराजमान हो जायँ। माने अपने जीवनकी अनन्तताका अनुभव करें। अपने ज्ञानकी अनन्तताका अनुभव करें। अपने आनन्दकी परिपूर्णताका अनुभव करें-इसी समय। यहाँ उधार सौदा नहीं है, बिलकुल नगद माल है। गीतामें अर्जुनने तो मरनेके बादकी फिक्र की है- 'नरकेऽनियतं वासो भवति' (१.४४) परन्तु श्रीकृष्णने मरनेके बादकी कहीं भी फिक्र नहीं की हैं। सारी गीता इसी जीवनके लिए है और आपको 'निवसिष्यसि मय्येव'- मुझ परमात्मामें स्थित होनेके लिए-निवास करनेके लिए है।

यदि फलके बलसे हम साधनके स्वरूप पर विचार करें तो ऐसे सोचना पड़ेगा कि हमारा मन जो संकल्प करता है वह कैसा है? आगे यह हो जाय, यह हो जाय,-यह मनोराज्य है। कहाँ जानेका संकल्प होता है? आप अपनी कल्पना शक्तिको देखिये-

सदा सदानन्दपदे निमग्नं मनोभावोऽपाकरोति।
गतागतायाः समपास्य सद्यः परापरातीतमुपैति तत्त्वम्॥

सदा सदानन्द पदमें मन डूबा रहे, फिर मन मन नहीं रहता, वह तो परमात्मासे एक हो जाता है। 'गतागताया: समपास्य सद्य:'। उसको स्वर्गमें, नरकमें, पुनर्जन्ममें जो जाने-आनेकी मेहनत है, श्रम है, परिश्रम है, वह सब तुरन्त छूट जाता है। पर और अपर दोनोंसे जो विलक्षण तत्त्व है वह यहीं मिल जाता है। यह बहुत ही प्रत्यक्ष मार्ग है। प्रत्यक्षको ही एकमात्र चार्वाक जैसे प्रमाण मानता है, मानस-प्रत्यक्षको भक्त लोग प्रमाण मानते हैं। साक्षी-प्रत्यक्षको योगी लोग प्रमाण मानते हैं; हमारे अनुमानकी कोई जरुरत ही नहीं है। यह होगा, यह होगा, यह होना-देखो भाई! इसी समय परमानन्द लहरा रहा है। फल-बल-कल्प्यके जो साधन हैं उसका स्वरूप यह होगा कि हमें भगवान्में ही सर्वदा निवास करना है, इसलिए हम अपने बड़े-बड़े मनोराज्यको छोड़कर तुरन्त संवित् साम्राज्यमें चैतन्य लोकमें प्रतिष्ठित हो जायँ। हमको जो चेतन-स्वरूप देख रहा है, जो अन्तर्यामी सबको प्रदर्शित कर रहा है।

एक रहस्यकी बात आपको सुनाते हैं-पुराने युगमें परमात्माके लिए आत्मा शब्दका ही प्रयोग होता था। वेदोंमें, ब्राह्मणोंमें, उपनिषदोंमें परमात्मा ढूँढ़ने पर कहीं-कहीं मिले तो मिले, परमात्माका ही नाम पहले आत्मा बोला जाता था। जैसे पहले घी को घी ही बोला जाता था फिर नकली घी चलने लगा तब असली घी, शुद्ध घी, उसका विशेषण लगाना पड़ा। आत्माके साथ परम शब्द तब जोड़ना पड़ा जब लोगोंने अपरको-माने देहको और प्राणको और मनको, बुद्धिको, अहंकारको आत्मा कहना शुरू किया-तब हमारे महात्माओंने आत्माके साथ एक परम शब्द जोड़कर परमात्मा बना दिया। परमात्मा आत्माका ही नाम है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तः (13.22)

ये तो सब कहे गये हैं-है कौन-'देहेस्मिन्पुरुषः परः'-इसी शरीरमें जो पुरुषका शुद्ध रूप है, उसीके ये नाम हैं। बात थोड़ी टेढ़ी होती जा रही है! इसको हम छोड़ देते हैं। क्योंकि आत्मा-परमात्माकी चर्चा करते हैं तब थोड़ी-सी असाधारण बात भी उसमें आनी आवश्यक हो जाती है। क्योंकि मैं पुराणके अश्रयसे यह कथा नहीं करता हूँ। मैं तो दर्शनके आश्रयसे कथा करता हूँ तो उसमें समझनेमें कभी-कभी कठिनता लोगोंको अनुभव होती है। आपका निवास भगवान्में हो इसके लिए आवश्यक है कि आप जहाँ बैठें, वह भगवान् हो, जो छूएँ वह भगवान् हो, जो देखें वह भगवान् हो, जो सुनें वह भगवान् हो, जो सूँघें वह भगवान् हो, जो चखें वह भगवान् हो, जो आपके दिलमें हो सो भगवान् हो, जो दिमागमें हो सो भगवान् हो।

अब शंकराचार्यकी बात आगयी। विराट्के रूपमें जब आप भगवान्का अनुभव करेंगे या विश्वके रूपें जैसा कि अर्जुनको, भगवान्ने अपने विश्वरूपका दर्शन कराया। यदि आप विश्वरूपसे भगवान् का अनुभव कर लें तो 'निवसिष्यसि मय्येव'-'एव' शब्द चरितार्थ हो जायेगा। जहाँ हम हैं, जैसे हम हैं, जो हम हैं, ऐसी कोई स्थिति नहीं है जो विश्वरूपमें न हो! उसमें क्रोधी भी हैं, उसमें लोभी भी हैं, उसमें कामी भी हैं, उसमें मरे हुए भी हैं, उसमें जिन्दा भी हैं, उसमें आगे मरनेवाले भी हैं, पैदा होनेवाले भी हैं, ऋषि-मुनि भी हैं। जब आप उस विश्वरूपके रूपमें भगवान्का अनुभव करेंगे तब आपकी सर्वदा स्थिति भगवान्में रहेगी। इसलिए यह भक्ति बोलती है!

वैसे तो गीतामें अर्जुनने 'तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन' (11.46) 'दृष्टवेदं मानुषं रूपम्' (11.51) ऐसे कहा है। परन्तु श्रीकृष्णने कहीं भी अपनेको चतुर्भुज या द्विभुज या वंशीधारी या चक्रधारी-ऐसे रूपका वर्णन सारी गीतामें कहीं नहीं किया है। अर्जुन तो करते हैं, पर अर्जुनकी दृष्टि और भगवान्की दृष्टिमें भेद न होता तो इतना उपदेश करनेकी जरुरत ही न पड़ती। वह तो अपनी आँख-से-आँख मिलानेके लिए श्रीकृष्णने इतना उपदेश किया। अरे भाई, मेरी नजरसे देख!

हम अपनी-अपनी आँख, नजर लेकर, महात्माओंके पास जाते हैं तो हम चाहते हैं कि ये हमसे नजर मिलावें। हम इनसे नजर न मिलावें। अपना मत उनसे मनवाना चाहते हैं। उनका मत माननेमें रुचि नहीं है। श्रीकृष्ण अर्जुनसे यही चाहते हैं कि मेरी गति-रति-मति और अर्जुनकी गति-रति-मति एक हो जाय। इसीका नाम 'शरणागति' भी होता है। 'मय्येव मन आधत्स्व'का अर्थ है-'अर्जुन, तुम स्वतन्त्र रूपसे जो कल्पनाएँ करते रहते हो वह मत करो। मेरे मनसे अपना मन मिला दो। अपने मनको जबतक तुम अपने पास रखोगे तबतक वह तुम्हें तुम्हारे अन्दर अपूर्णताका अनुभव करायेगा और दूसरी चीजोंको पानेके लिए व्याकुल कर देगा।'

स्त्री चाहती है कि मैं पुरुष नहीं हूँ मुझे पुरुष मिले और पुरुष चाहता है कि मैं स्त्री नहीं हूँ मुझे स्त्री मिले। सेठ लोग जब किसीको नंगा रहते देखते हैं तो उनकी श्रद्धा उमड़ पड़ती है-ओ हो! हम तो नंगा नहीं रह सकते और यह नंगा रह सकता है, बहुत बड़ा है। जिस गुणका अपनेमें अभाव होता है वह गुण जब दूसरेमें दिखायी पड़ता है, तब हम उसपर लट्टू हो जाते हैं। वह अपनेमें अभावका जो दर्शन है वह दूसरेमें महत्त्वकी स्थापना कर देता है। मनमें भगवान्को देखना, भगवान्को मनमें मिला देना, माने अपने अन्दर अभाव नामकी कोई चीज है ही नहीं-सारे वेदान्तका सार यह है कि अभावकी भी और अभाववाली वस्तुकी भी सत्ता नहीं होती है। न अभावकी, न अभावके प्रतियोगीकी सत्ता है; केवल परमात्मा ही परिपूर्ण है।

आप गीतामें पढ़ते हैं-'मय्येव मन आधत्स्व'। 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः। प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु'। (७.८) यदि आपको खूब पौरुष करनेवाला, प्रयत्न करनेवाला, कोई आदमी दिखायी पड़े तो आप उस आदमीको मत देखिये, उस आदमीके भीतर जो पौरुषके रूपमें भगवान् है, उसको देखिये। आप जलको देखिये तो उसमें स्वादके रूपमें भगवान् है उसको देखिये। 'पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च-तेजोऽस्मि विभावसौ' पृथिवीमें जो गन्ध है सो भगवान् है। सूर्य, अग्निमें जो तेज है वह भगवान् है। भगवान्को देखिये-'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी'-(9.18) उस भगवान्में मन लगाना है। कोई आदमी चल रहा है। गति किसकी है? भगवान्की। यदि भगवान् उसमें न होते तो स्पन्द कहाँसे होता? हिलना-डुलना कहाँसे होता? उसके भीतर जो एक अखण्ड चेतना सतत क्रियाशील है, उसीसे गति होती है।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ 9.18

गरमी पड़ रही है। कौन है? 'तपाम्यहमहं वर्षम्' वर्षा हो रही है- कौन है? वही तप रहा है-वही बरस रहा है। 'निगृह्णामि उत्-सृजामि च।' (9.19) मैं ही धरतीमें-से जल खींच लेता हूँ और मैं ही धरती पर

****

जल बरस देता हूँ। 'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन' (9.19)। वह भगवान् नहीं है जो मीठे-मीठे होते हैं, कड़वे नहीं होते हैं। मीठा भी भगवान्, कड़वा भी भगवान्। 'अमृतं चैव मृत्युश्य सदसच्चाहमर्जुन'। यही तो बात हुई कि श्रीकृष्णने देखा कि लोग चोरको बहुत घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। तो बोले, भाई! देखो, चोरको भी घृणाकी दृष्टिसे मत देखो। तुम अपना मन क्यों बिगाड़ते हो? मैं भी तो चोर हूँ। देखो, कोई छेड़छाड़ करता है तो उसे सिपाही पकड़े, सरकार सजा दे-उसकी शिकायत करे, करने दो-तुम देखो, छेड़छाड़ तो मैं भी करता हूँ, तो क्या तुम मुझसे भी घृणा करोगे? मुझे भी छोड़ दोगे?

बोले अरे-यह तो नचकैया है, नाचता रहता है। हे वेदान्तियों, हे दार्शनिकों-तुम नाचनेवालोंको अपनेसे छोटा समझते हो? देखो नाचता तो मैं भी हूँ। कहीं तुम्हारे हृदयमें ग्लानि न रहे, घृणा न रहे-'मय्येव मन आधत्स्व'। (12.8) 'पिताहमस्य जगतो माताधाता पितामहः'। (9.27) ये माँ हैं-माँ नहीं हैं-मैं हूँ। ये बाप नहीं है, मैं हूँ! ये तो धाय हैं-बोले, धाय नहीं हैं मैं हूँ, ये तो दादा-परदादा हैं? नहीं, दादा नहीं-मैं हूँ। देखो ऐसा भगवान् है 'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी'। रोगीके रूपमें भगवान् आते हैं। मेरी सेवा करके अपना जीवन सफल कर ले। नंगेके रूपमें भगवान् आते हैं। मुझे कपड़ा दे-दे भाई-तेरा कपड़ा सफल हो जायेगा। भूखेके रूपमें भगवान् आते हैं। मुझे अन्न दे-दे भाई-तेरे पास रोटी है-सफल हो जायेगी। ये सब नाटक उन्हींका है।

हमारी जो भगवद् दृष्टि है उसे पहचान लेंगे तो आपका हृदय सचमुच हृदय हो जायेगा। हृदय माने संस्कृतमें भगवान् होता है। 'हृदि अयते-हरति इति 'हृदयम्' संस्कारावासः'। जो सब जगहसे संस्कारको हरण करता है, उसका नाम है-हृदय। यह हमारे भिन्न-भिन्न संस्कारोंके बीचमें-ये भारतीय संस्कार हैं, ये अरबी, फारसी संस्कार हैं, ये यूरोपीय संस्कार हैं-संस्कार अलग-अलग हैं, पर उनमें चेतन बिलकुल एक है और वहीं भगवान् है। भगवान्में अपना मन लगाओ-देखो-बाबाजी लोगोंने स्त्रियोंकी निन्दा की तो भगवान् बोले-नहीं निन्दा मत करो! मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ। 'कुमार उत वा कुमारी' मैं लड़की हूँ, मैं लड़का हूँ। सर्वरूपमें वही प्रकट होता है।

त्वं स्त्री त्वं पुमानससि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः।।

श्वेताश्वतर उप. 4.3

बुड्ढेबाबा बनकर लठिया टेककर आप ही सड़कपर चल रहे हैं। मैं आपको पहचानता हूँ-कुमार आप, कुमारी आप, स्त्री आप, पुरुष आप, बुड्ढे आप, जवान आप। मैं आपको पहचानता हूँ-'अजायमानो बहुधा विजायते'। एक जवान हमारे सामने आरहा है। वेदोंमें क्या वर्णन है-

युवा सुवासा परिवीत आगात्। ऋ० 3.8.4

देखो, हमारे सामने यह जवान आरहा है। कितने बढ़िया इसके कपड़े हैं। 'परिवीतः' कैसा इसने अपनेको सुरक्षित कर रखा है। अरे भाई, यह तो जन्मसे ही श्रेष्ठ है। भगवदीय विशेषता लेकर यह प्रकट हुआ है। 'तं धीरा सः कवयः उन्नयन्ति'। ऋग्वेद 3.8.4) जो धीर हैं, जो कवि हैं, जो क्रान्तदर्शी हैं, अन्तर्दर्शी हैं, वे

****

****

पहचानते हैं-यह जवान, जवान नहीं, यह परमात्मा है। नहीं तो बुड्ढे लोग लम्बी दाढ़ी, सफेद दाढ़ी दिखाकर जवानोंको दबा देते हैं। तुम कलके छोकरे क्या जानो, मैं जानता हूँ। बोले-नहीं, जो धीर हैं, जो कवि हैं, जो क्रान्तदर्शी हैं, वे ही जानते हैं। नन्दबाबाने कहा-बुड्ढोंकी बात नहीं, बड़े भाईजी आपलोग चुप रहो संनन्द, महानन्द, उपनन्द आपलोग चुप रहो! क्या करें? यह हमारी जो नयी पीढ़ी बोलती है-(स्वर्गके देवताको छोड़ो) गोवर्धनकी पूजा करो, धरतीके भगवान्की पूजा करो। नहीं-नहीं, हमारी तो पीढ़ी-दर-पीढ़ीसे यही चला आरहा है। अच्छा भाई, पकड़े रहो! जवानोंकी बातपर भी ध्यान चाहिए। उसमें भी भगवान् है, तुम्हारे अन्तरात्माके रूपमें आया। तुम्हारे बापके युगमें, तुम्हारे बापके अन्तरात्माके रूपमें आया। अब बच्चेके युगमें बच्चेकी अन्तरात्माके रूपमें आते हैं। अपनेको सड़ाओ मत। 'मय्येव मन आधत्स्व'।

देखो, भगवान्-सर्वके रूपमें भगवान्। 'मयि बुद्धिं निवेशय' मेरी बुद्धिमें अपनी बुद्धि मिलाओ। देखो भगवान्की बुद्धि है पूर्ण। लेकिन अपनी पूर्ण बुद्धिको वे हर समय प्रकट नहीं करते हैं। जब जिस समय, जिस स्थानपर, जिस कामके लिए जैसी जितनी बुद्धिकी आवश्यकता होती है, उतनी बुद्धि प्रकट करते हैं। रास करनेके लिए मत्स्यावतार नहीं हुआ था। कपिलकी तरह ब्रह्मज्ञानका प्रचार करनेके लिए कच्छपावतार नहीं हुआ था। जहाँ जितनी शक्ति, जितनी बुद्धि प्रकट करना आवश्यक होता है, भगवान् वहाँ उतना ही प्रकट करते हैं। ब्रजमें हाथमें शंख, चक्र आया ही नहीं-क्या श्रीकृष्ण शंख, चक्र वृन्दावनमें धारण नहीं कर सकते थे? वहाँ जब पूतना आयी, शकटासुर आया और बकासुर आया, अघासुर आया, वत्सासुर आया-उनको मारनेके लिए भगवान् गदा-चक्र नहीं ले सकते थे? नहीं लिया। इतने मधुर स्थलमें, मधुर रसमयी भूमिमें, प्रेममयी भूमिमें गदा मारना, चक्र मारना-भगवान्को नहीं भाया। द्वारिकामें गये तो वहाँ चक्र ले लिया, गदा उठा ली।

वहाँ तो धनुष-वाण भी रखते थे। महाभारतमें स्पष्ट वर्णन है। शंख, चक्र, गदा, शार्ङ्ग, धनुः, शूल-सभी अस्त्र-शस्त्र रखते थे। जहाँ जितनी आवश्यकता होती है, वहाँ अपनी बुद्धि उतनी प्रकट करते हैं। यह कम बुद्धिवाला है-मत बोलो-यह ज्यादा बुद्धिवाला है मत बोलो। सबमें आवश्यकताके अनुसार उपयुक्त बुद्धि भगवान्ने प्रकट की है। उससे लाभ उठाओ। 'अयोग्यः पुरुषो नास्ति प्रयोक्ता तत्र दुर्लभः'। कोई अयोग्य नहीं है। उसका ठीक-ठीक उपयोग, ठीक-ठीक प्रयोग करनेकी जरूरत है।

'मयि बुद्धिं निवेशय' का अर्थ है, भगवान्ने अपनी जहाँ जितनी बुद्धि प्रकट की है, उसका ठीक-ठीक दर्शन करो। भगवान् अपने हितकी दृष्टि प्रकट करते हैं। एक दिन मैंने देखा-ज्वालामुखी जाते हैं तब चिंत्यपूर्णी एक स्थान है, वहाँ छप्परमें मैं चटाई पर लेटा हुआ था, देखा एक झेंगुर--जो बरसातमें आवाज करते हैं, मर गया था। चींटीयोंमें झगड़ा हुआ-नीचे वाली चींटी चाहती थीं कि हम नीचे ले जायँ और ऊपर वाली चाहती थीं कि हम ऊपर ले जायँ। दोनोंमें पार्टीबन्दी बड़ी जबरदस्त। राजनीतिक लोग क्या पार्टीबन्दी करेंगे? उनसे बहुत ज्यादा उनमें थी। कोई कुर्सीपर बैठे हुए थे, कोई कुर्सीसे उतरे हुए थे-ऐसे समझो। ऊपरवाले जबरदस्त निकले झेंगुरको खींचकर अपनी दिवाल तक ले गये। लेकिन वहाँ जानेपर एक समस्या खड़ी हो गयी। बिलका मुँह था छोटा और झेंगुर था मोटा। उसमें घुसे नहीं। घुसे नहीं तो नीचे वालोंने अपना आक्रमण

****

जारी रखा। उसमें-से काटकर निकालने लगे और ऊपर वालोंने भी अपनी दो पार्टी बना ली, एक तो उसे पकड़कर रखे हुए थे और दूसरे उसमें-से काटकर अपने बिलमें ले जा रहे थे। मैं कई घंटे तक-दोपहरीके सारे समय उनका तमाशा देखता रहा। कैसी बुद्धि उनको भगवान्‌ने दी है। जो भी बुद्धिमान् है; उनमें बुद्धिके रूपमें कौन है? भगवान!

तेजस्तेजस्विनामहम्। 10.36

तेजस्वीमें तेज हैं भगवान्-बुद्धिमान्‌में बुद्धि है भगवान्। अपना दिल क्यों बिगाड़ते हो? यदि आपने भगवान्‌के मनसे अपना मन मिला दिया, भगवान्‌की बुद्धिसे अपनी बुद्धि मिला दी-जहाँ जितना संकल्प दिया है वहाँ काम कर रहा है। जहाँ जितनी बुद्धि उन्होंने अपनी दी है, उन्हींकी है। खटमलको छूनेका प्रयास किया; भाग गया। उसको भागनेकी बुद्धि किसने दी? मच्छर पहले तो आकर कानमें गा रहा था। जो हमारा हाथ पकड़नेको गया, अपना संगीत छोड़कर भगा-उसको भागनेकी बुद्धि किसने दी? बुद्धि किसीकी नहीं है। एक पौधा निकल रहा था, उसके सामने पड़ गयी ईंट, तो वह झुक गया और झुककर ईंटके बाहर होकर और फिर ऊपरको बढ़ा। भला बताओ-यह उसमें बुद्धि है कि नहीं? सांख्यवाले तो प्रकृतिकी बुद्धि मानते हैं। प्रकृतिसे महत्तत्त्व होता है। वेदान्तमें महत् शब्दका अर्थ बुद्धि नहीं होता, परमात्मा होता है। वेदान्त सांख्यके सिद्धान्तको नहीं मानता कि यह महत्तत्त्व प्रकृतिका विकार है। वेदान्त कहता है-

महान्तं विभुम् आत्मानं मत्वा धीरो न शोचति। क० उप० 2:2.22

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्। श्वेताश्वतर 3.8

हम बुद्धिको प्रकृतिका पुरुषं कार्य नहीं मानते हैं। हमारे जीवनमें तो बुद्धिके रूपमें साक्षात् भगवान् ही प्रकट हुए हैं।

अब आप अपने संकल्पको पहचानो। आपका मन क्या कहता है? हम यहाँसे काशी चलें--संकल्प हुआ न! फिर मनने दुविधा पैदा की-चलें कि न चलें? बुद्धिने निश्चय किया-चलना चाहिए। दोनोंका संस्कार चित्तमें इकट्ठा हो गया। अब हम नहीं जायेंगे यह-अहं उदय हुआ, या हम जायेंगे यह अहं उदय हुआ। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये जो हमारे अन्तःकारणके चार भाग हैं, यहाँ दो नामसे कहा गया है, यह उपनिषदोंमें कहीं एक नाम हैं, कहीं दो नाम हैं, कहीं तीन नाम हैं, कहीं चार हैं और कही पाँच भी हैं। एक पैंगलोपनिषद् है-सिर्फ इसीमें अन्तःकरणके पाँच भेद बताये हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और अन्तःकरण। इसमें जो भी हलचल है, शक्ति है, स्पन्दन है और इसमें जो भी संकल्प, विकल्प निश्चय, अंहकृति अथवा संस्कार है वह सब भगवत्-सत्तासे ही अनुप्राणित है। हम अनुमानकी बात नहीं करते हैं। सांख्य लोग तो अनुमान करते हैं। हम साक्षात् अपरोक्ष प्रत्यक्षकी बात करते हैं। यह सब परमात्माका खेल है। इसमें आना-जाना भी खेल है। इसमें सुख-दुःख भी खेल है। सुखको सुख बतानेके लिए दुःखको दुःख बतानेके लिए सुख-दुःख है और दोनोंमें एक सरीखा परमात्मा है।

अब आप देखो-आप जहाँ रहते हैं, वह अमृत होगा या मृत्यु होगी? परमात्मा है, वहाँ सत् होगा, या असत् होगा, परमात्मा है!

सदसत् चाहमर्जुन सदसत् तत्परं यत्।

सत् भी वही-असत् भी वही और उनसे परे भी वही।

मृत्युः सर्वहरश्चाहम्। 10.34

एक साधु थे, उनके पास स्त्रियाँ घेर-घेरकर बैठी रहती थीं। साधुओंमें चर्चा चलती थी-ये कैसे साधु हैं; ये तो स्त्रियोंसे ही घिरे रहते हैं। किसीने जाकर हरि बाबाजीसे कहा-महाराज, इनको जब देखो स्त्रियाँ ही घेरे रहती हैं तो हँसे, बोले-अरे भाई इनके अन्दर श्रीकृष्णका अंश कुछ ज्यादा है। बोले-ये बाबाजी तो यज्ञशालामें ही बैठा रहता है-बोले, इनके अन्दर भगवान् रामका अंश कुछ ज्यादा है। यह साधु पानीमें ही डूबा रहता है। खपोलीके पास गगनगढ़वाले बाबाजी थे, वे पानीमें डूबे रहते थे। उनमें मछलीका अंश ज्यादा होगा। कभी बाहर कभी भीतर तो कछुवेका अंश ज्यादा होगा। एक बनारसके पास बाबाजी थे, जहाँ गन्दगी होती थी वहीं जाकर उनका आसन लगता था। उड़ियाबाबाजी महाराज गये-देखा गन्दगीमें बैठे हैं। उनका मन नहीं लगा-बोले भाई, इनमें वराह अवतारका अंश बहुत ज्यादा है-सूकर अवतार। बोले ये बाबाजी तो ऐसा नाराज होता है कि लगता है खा जायेगा-बोले नृसिंहका अंश है इसमें। अरे यह बाबाजी तो चन्दा करने आया है, माँगने आया है। बोले इसमें वामनांश ज्यादा है। अपना मन क्यों बिगाड़ना?

'निवसिष्यसि मय्येव'-जब तुम्हारे मनमें, तुम्हारी बुद्धिमें भगवान् ही भगवान् भर जावेंगे-तो जहाँ तुम रहोगे, जो देखोगे-हमने तुलसीकी पूजा की, हमने पीपलकी पूजा की, हमने बेलकी, बड़की पूजा की। ऐसा उदार सिद्धान्त-हमने मिट्टीसे पार्थिव लिंग बनाकर उसकी पूजा की, हमने नर्मदाके पत्थरकी पूजा की। गण्डकीके पत्थरकी पूजा की। 'निवसिष्यसि मय्येव' का क्या अर्थ है? आप इसी जीवनमें भगवान्‌में निवास कीजिये। ये देखो भगवान्, ये देखो भगवान्।

आपके लिए जो उद्वेगका कारण हो रहा है वह है आपके मनमें भगवान्‌का न होना-अनुभव न करना। भगवान् तो मनमें हैं ही, बुद्धिमें भगवान् हैं ही, पर उधर नजर नहीं जाती है, दृष्टि नहीं जाती है। बोले बाबाजी, तेरी बात तो बहुत अच्छी लगती है, पर मनमें जमती नहीं है। हमारे मित्र ऐसे ही बोलते हैं! बात सुननेमें मजा आता है पर दिलमें जमती नहीं है। भगवान्‌ने कहा-हाँ, यह बात तो हम मानते हैं कि जमती नहीं है।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥ 12.9-11

भगवान्‌के दरबारमें सबके लिए जगह है। एक सज्जनने एक महात्माके पास जाकर पूछा-महाराज, हमको झूठ बोलनेकी ऐसी आदत पड़ गयी है-जब देखो मैं गप्प हाँक देता हूँ-बोलने लगता हूँ तो ख्याल नहीं

रहता। असलमें जो लोग बहुत बोलते हैं, वे झूठ तो बोलते ही हैं। क्योंकि बोलनेकी सामग्री इतनी नहीं होती है, जितना हमलोग बोलते हैं। इसीसे जीवनमुक्तोंके लिए तो ऐसा कहा गया है कि जैसे गाय बछड़ेके लिए बोलती है या प्यास लगनेपर बोलती है, वैसे जब आवश्यक हो तब बोल लिया-जीवनमुक्तिके लक्षणोंमें है, अनावश्यक वाणीका अपव्यय नहीं करना चाहिए। उपनिषदोंमें भी है-

नानुध्यायेद् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्। बृहदारण्यक 4.4.21

अपनी वाणीकी शक्तिका अपव्यय है-अपनी शक्तिसे अधिक बोलना। उसने महात्मासे कहा-महाराज, हमको झूठ बोलनेकी ऐसी आदत पड़ी है-आदत क्या पड़ी, आदत हो गयी। जीवनमें गृहीत हो गयी। महात्मा बोले-अरे, यह तो बहुत बढ़िया आदत है। भगवान्ने कृपा करके तुमको दी। तुम ऐसा करो कि यह ख्याल करो कि हम रामजीके सामने बैठे हैं। उनका झूठमूठ ही दरबार लगा है-ये रामजी हैं, ये सीताजी ये लक्ष्मणजी है, ये हनुमान्जी हैं, उनको हँसानेका कार्यक्रम चल रहा है।

अब यह हुआ कि जो सबसे बड़ा झूठ बोलेगा उससे भगवान्को हँसी आयेगी। तो तुम रामजीके सामने झूठ बोलना शुरू करो। रामजीके सामने झूठ बोलोगे और यह भी देखो बीच-बीचमें कि वे मुस्करा रहे हैं, कभी ठठाकर हँस पड़ते हैं। झूठ बोल-बोलकर भगवान्को रिझाओ। कहा-भाई, दरबारमें भाँड़ लोग भी तो अपनी सेवा देते हैं न! दरबारमें वेश्याएँ भी अपनी सेवा देती हैं-भाँड़ शब्द संस्कृतमें भाण है सौसे अधिक भाण ग्रन्थ है। रामदरबारके बन गये भाँड़। झूठ बोल-बोलकर रिझा रहे हैं भगवान् को। हँस रहे हैं भगवान्। अब क्या होगा आप जानते हैं। बारम्बार भगवान्का ध्यान आनेसे, उनकी मुस्कान आनेसे, उनकी हँसी आनेसे, उनका रूप आनेसे, भगवानमें स्थिति हो जायेगी। अभ्यास होना चाहिए।

अर्जुन, तुम धन कमानेमें बड़े निपुण हो। हम आदर करते हैं। साधन तो केवल धनके साथ नहीं होता है वह तो अधनके साथ भी होता है-इसीलिए उसका यह नाम है। अधनके साथ साधन-'अधनेन सह वर्तते इति।' वह तो धनीमें भी होता है, गरीबमें भी होता है। सबके साथ होता है। अर्जुन क्या है? धनञ्जय है। धन शब्दका अर्थ है-दिग्विजय करके उसने राजसूय यज्ञके लिए बड़ा भारी धन एकत्र किया था, इसलिए उसका नाम धनञ्जय हुआ। और धनञ्जय एक प्राणका भी नाम है। शरीरमें दस जो प्राण है उनमें-से देह छूटनेपर भी जो देहको नहीं छोड़ता है, उस प्राणका नाम धनञ्जय है। प्राण भी धनञ्जय है। अग्नि भी धनञ्जय है। अग्निके समान जो तेजस्वी है, वह यह कहे कि हमसे यह नहीं होता, यह नहीं होता, यह नहीं होता, तो फिर वही नपुंसकताकी बात आगयी न!

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते। 2.3

अरे अर्जुन, तू अग्नि है। तेजस्वी भव! उठो अपने तेजको सम्हालो-'उत्तिष्ठत, जाग्रत'। वेदमें एक मन्त्र है, जिसका अर्थ है-अरे प्रतिभाशाली प्राणियों, प्रतिभाशाली मनुष्यों, ओ भारतवासियों, ओ प्रतिभाशालियों उठो! उठो जागो, अग्निका आवाहन करो। तुम्हारा जीवन तेजस्वी हो। अग्निके रूपमें परमात्मा तुम्हारे अन्दर निवास करे। जो तुमको दबाना चाहे वह जल जाय। तुमको अभिभूत करनेवाले शक्ति सृष्टिमें कौन है? तुम यह मत कहो कि

यह काम मैं नहीं कर सकता। तुम नहीं करोगे तो क्या पशु करेगा? और यह भी आग्रह नहीं रखना चाहिए कि यह काम हमारे जीवनमें ही समाप्त हो जाय। नहीं आयेगी गंगा अंशुमानसे तो क्या हुआ? उसका बेटा लायेगा। बेटेसे नहीं आयेगी तो क्या होगा? अन्तमें भगीरथ लायेगें। भगीरथ प्रयत्न करनेपर तो गंगाजी आयेंगी न!

धनञ्जयका अर्थ है-उत्साह और पौरुषका परित्याग मत करो। अरे धनञ्जय, झूठमूठका अग्नि बना है? झूठमूठका दिग्विजयी है? सचमुच दिग्विजयी बन! सचमुच आग बन जा और क्या नहीं हो सकता? मन नहीं लग सकता? बुद्धि नहीं लग सकती? अच्छा तो फिर अभ्यास करो। अभ्यास करो। अभ्यास माने थोड़ी-थोड़ी देरमें प्रयत्न, आपका आसन न जमता हो तो पहले आसन अधूरा ही करनेका अभ्यास कीजिये। पश्चिमोत्तान करना कठिन पड़ता है तो पाँव फैलाकर बैठ जाइये। फिर धीरे-धीरे लटकते चलिये, घुटना उठने न पावे, पाँव पकड़ लीजिये। एक मिनटके लिए हो जायेगा। दो-तीन महीनेमें मिनटके लिए हो जायेगा।

आपका ध्यान न लगता हो तो पहले पाँच मिनट ध्यान कीजिये। दूसरे महीने में दस मिनट कर दीजिये। तीसरे महीनेमें पन्द्रह मिनट कर दीजिये। चौथे महीनेमें बीस मिनट कर दीजिये। हर महीने बढ़ाते जाइये। देखिये आपका ध्यान घण्टों लग जायगा। यह कह देना कि यह काम हमसे नहीं हो सकता, यह अपने भीतर बैठे हुए अन्तर्यामीकी शक्तिका अपमान है। 'पौरुषं नृषु'। (7.8) मनुष्यके भीतर भगवान् पौरुषके रूपमें निवास करते हैं।

बोले-'अभ्यासयोगेन ततो'। यदि अपने चित्तको-चित्त माने मन और बुद्धि दोनोंको तुम समाहित करनेमें असमर्थ हो, वही आधान और निवेषण। जो पहले श्लोकमें दो बात कही गयी थी, उसके लिए इसमें एक शब्द है-'समाधातुम्' और उसमें मन और बुद्धि-दो चीज कही गयी थी, उसके लिए एक शब्द है-'चित्तम्'। मन बुद्धिको समेटकर श्रीकृष्णने 'चित्त' कर दिया और आधान और निवेषण दोनोंको समेटकर 'समाधान' कर दिया।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥

अभ्यास करो-आदत डालो, क्या नहीं कर सकते।

एक सज्जनने उड़िया बाबाजीसे कहा-महाराज हम पूड़ी नहीं खा सकते। बोले-आधी पूड़ी रोज खा। फिर एक पूड़ी खाना शुरू कर। फिर दो पूड़ी खा लेना। छः पूड़ी कभी मत खाना-ऐसे कहते, आधी पूड़ी खाओ-पच जायगी। अभ्यास हो जायेगा। हमको खीर देखकर कै आती थी। बचपनमें मन ऐसा बिगड़ गया था-खीर देखते ही वमन आजाये। बाबाको जब मालूम हुआ तो उन्होंने मखानेकी खीर बनवायी, उसको पिसवा लिया और धीरे-धीरे मैं खाने लगा। फिर चावलकी खीर मथवा लिया, वह खाने लगा। फिर खीर खाने लगा, हमारी ग्लानि मिट गयी। यह जो मैं कहता था कि मैं खीर नहीं खा सकता, यह हमारी अशक्तिको, असमर्थताको बाबाने महीने-दो-महीनेमें मिटा दिया। यह क्यों बोलते हो कि तुम यह नहीं कर सकते।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 6

16-11-83

चित्तको अपनेमें लेना चाहते हैं। उसके लिए 'बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव'। (१८.५७) बुद्धियोगका आश्रय लो और अपने चित्तको मेरा स्वरूप बना दो। वैसे तो लोग 'मयि चित्तं यस्य असौ मच्चित्तः' मुझमें जिसका चित्त है उसको 'मत् चित्तः' कहते हैं। संस्कृतके जो विशेष पण्डित हैं, वे 'अहमेव चित्तं यस्य'-- मैं ही जिसका चित्त हूँ माने ढूँढनेपर भी शरीरमें चित्त नहीं मिलता है, ढूँढो भगवान् मिलते हैं। माने चित्त भगवन्मय भगवदाकार, भगवत्-स्वरूप हो गया है। उसको कहेंगे 'मत् चित्तः'। अहमेव चित्तं असौ मत् चित्तः।

वृन्दावनमें एक महात्मा थे, भक्त कोकिल। उनकी जीवनी भी मैंने लिखी है। उनके मुखसे मैंने सुना था-

तेरी गलीमें आकर खोये गये हैं दोनों।
दिल तुझको ढूँढता है, मैं दिलको ढूँढता हूँ॥

दिल और मैं दोनों खो गये हैं। आजकल तो वह है जो हमारे मनको भगवान् बना दे। आत्माका भगवान् होना तो वेदान्त-सिद्ध है, श्रुति-सिद्ध है। वह तो यथास्थित है, उसको बनाना नहीं पड़ता। पर भक्तिका यह काम है कि मनको भगवान् बना दे। चित्तको भगवान् बना दे। भक्ति निर्मात्री है। भक्ति वह शक्ति है जो सच्चिदानन्दघन भगवान्को अपने हृदयमें अभिव्यक्ति देती है। दूसरी जगह भगवान् कहते हैं कि 'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि'। मच्चित हो जाओ तुम। कहीं-कहीं लोग 'मत्' शब्दका प्रयोग जब गलत करते हैं-जैसे मद्भागवत-तो हमने कई सेठोके मुँहसे सुना-उनको श्री बोलनेका अभ्यास नहीं-तो 'मद्भागवत' बोलते हैं। मद्भागवत शब्दका कोई अर्थ नहीं है। वहाँ तो श्रीमान्के लिए श्रीमद् है। श्रीमान् भागवत-कोई बोले मान भागवत-तो क्या अर्थ होगा उसका?

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारात् न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि॥ 18.58

देखो आश्वासन भी देते हैं और धमकाते भी हैं। यदि तुम अपना चित्त मुझमें लगा दोगे या तुम्हारा चित्त मेरा स्वरूप हो जावेगा तो जितनी कठिनाइयाँ तुम्हारे जीवनमें आती हैं, सबको पार कर जाओगे। कोई कठिनाई तुम्हें रोक नहीं सकेगी। 'अथचेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि'- अगर तुम मेरी बात अहंकारके वश होकर

नहीं सुनोगे तो नष्ट हो जाओगे-विनष्ट हो जाओगे। यह ग्वालोंकी भाषा है-बहुत घमण्ड है तुमको, मेरी बात नहीं सुनते हो? जाओ तुम्हारा सत्यानाश हो जाय। आगया होगा ग्वालापन-घमण्ड करते हो मेरे सामने? इसीसे जहाँ भक्तकी पहचान बतायी गयी वहाँ—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ 10.9-11

'आत्मभावस्थः'। उनके भाव में आकर मैं खड़ा हो जाता हूँ। और ऐसा मशाल, ज्ञानका दीपक दिखाता हूँ कि वह अज्ञानान्धकारसे पार हो जाय। मेरे पास पहुँच जाय। इसको भगवान्का बड़ा भारी सौशील्य बोलते हैं। जब कोई उनके पास पहुँचनेके लिए चलता है और रास्तेमें कहीं अन्धेरा होता है, तो बेचारा क्या करे? तो भगवान् मशालची बनकर आजाते हैं-भगतजी, इस रास्ते आओ। अब वे पहचानें कि न पहचानें-वह ले जाता है और देखता है वहाँ सिंहासनपर विराजमान-तो कहता है अरे यही तो हमको मशाल दिखा रहे थे। हमको रास्ता बताने वाले यही हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थम् अहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानादीपेन भास्वता॥ 10.11

बाहरके मशाल दिखा रहे हैं ये, सूर्य-चन्द्रमाके रूपमें दिखा रहे हैं ये, आँखोंके द्वारा भी दिखा रहे हैं वही और बुद्धिके द्वारा भी दिखाते हैं वही! यदि हम अपने चित्तको माने मन और बुद्धिको न लगा सकें तो अभ्यास-योग करना चाहिए। योग शब्दका जब प्रयोग होता है तब वह वस्तु भगवान्के लिए हो जाती है। ज्ञान तो सब विषयोंका होता है परन्तु जब भगवान्का ज्ञान होगा तब उसका नाम ज्ञानयोग। मातृ-भक्ति, पितृ-भक्ति, देश-भक्ति, स्वामी-भक्ति सब भक्ति होती है परन्तु जहाँ भक्तिके साथ योग लगा, वह भगवान्के साथ जुड़ गयी। भक्तियोग माने भगवान्के साथ विवाह। भगवान्के साथ प्रेम।

कर्म भी-जबतक कर्म है जबतक भगवान्के लिए नहीं होता, भगवान्से जुड़नेके बाद योग हो जाता है। भक्ति भी जबतक मातृ-भक्ति, पितृ-भक्ति है, जबतक माता-पितामें भगवान्का दर्शन नहीं होता, योग नहीं, भगवान्का दर्शन होनेपर मातृभक्ति, पितृभक्ति भी योग हो जाती है। देशभक्ति भी योग हो जाती है। अभ्यास-योग तो करना है पर जो कमर पतली करनेके लिए 'जोगा' किया जाता है-वह नहीं-वह दूसरा है। और भगवान्से मिलनेके लिए जो अभ्यास किया जाता है वह दूसरा है। बारम्बार-बारम्बार अभ्यास करो। पाँच सेकेण्डसे अभ्यास शुरू करो, एक मिनट तक बढ़ा लो। एक मिनट होनेमें बारह दिन लगेंगे। अब इसी तरह आप बढ़ाते जाइये। इसमें कठिनाई क्या है?

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न जग मख तप उपवासा॥
सहज सुभाउ न मन कुटिलाई। यथा लाभ संतोष सदाई॥

एक महीना छ: दिनमें तीन मिनट हो जायेगा। कहाँ-से-कहाँ पहुँच जायेंगे। मूल बात यह है कि हम चाहते ही नहीं है। इसलिए देखो-

अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय।

इच्छा शब्दका प्रयोग है। इच्छा करो-हमारी तलाश करो, हमको ढूँढो, हमें पानेकी इच्छा करो। जैसे प्यास लगनेपर पानी-पीना चाहते हैं, जैसे भूख लगनेपर भोजन करना चाहते हैं, जैसे अपने बच्चेसे मिलना चाहते हैं, जैसे अपने माँ-बापका पाँव छूना चाहते हैं, ऐसे एकबार-बाबा, पाँव मत छूओ-भगवान्से हाथ मिलाओ। एक सेकेण्डके लिए-पाँच सेकेण्डके लिए-भगवान्से हाथ मिलाओ।

हमारे उड़िया बाबाजी तो कहते थे-सबेरे उठकर भगवान्से एक बार हाथ मिलाओ-दोनों हाथसे दोनों हाथ पकड़कर जोरसे दबा देते हैं-'गृह्यतां पाणिना पाणि:' यह बाल्मीकि रामायण (किष्किन्धा 5.12)में सुग्रीव और रामचन्द्रजीके हाथ मिलानेकी बात है। रामचन्द्रने जरा जोरसे दबा दिया-कि सुग्रीवको पता चल जाय कि इनके हाथमें कुछ बल है-अगर परदेमें रहकर ही हाथ मिलाना चाहते हैं तो ऐसा ही सही! परदानशीनसे हाथ मिलाना तो और मजेदार होता है। नहीं दिखते हैं तो क्या? कभी मुस्कुरा देंगे तो दाँत चमक जायेंगे। कभी आँखमें-से रोशनी निकलकर तुम्हारे ऊपर पड़ जायेगी। नहीं तो कभी नाखून ही चमक जायेंगे जरा मिलाना शुरू तो करो।

अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय।

आदत डालो, अच्छी आदत डालो, भगवान्से हाथ मिलानेकी आदत डालो। थोड़ेसे रुपये मिल जायँ, आमदनी हो जाय, कोई अपना प्रिय व्यक्ति अतिथि हो जाय- प्रिय अतिथि हो तो कितना मजा आता है। अपने प्यारेसे हाथ मिलानेमें क्या लगता है? 'अभ्यासयोगेन' का अर्थ है-बारम्बार, रोज-रोज। रोज नहीं, हसेमें एकदिन सही! हमारे गाँवके पास एक बुद्धे सज्जन थे। वे जब दिल्ली दरबार हुआ था। यानी जब दिल्लीमें पञ्चम जॉर्ज आये थे-उन्हें बुलाया गया था-उनसे सम्राट्ने हाथ मिलाया। तो बुढ़ापेमें गुड़गुड़ा लेकर पलंगपर मसनदके सहारे लेटे रहते। बोलते-हमारे सामने लोग क्या हैं, जिसने सम्राट पञ्चम जॉर्जसे हाथ मिलाया है। उनको बुढ़ापेमें इस बातका बड़ा अभिमान था। भगवान्से हाथ मिलाओ। 'अभ्यासयोगेन ततो'-अभी मालूम नहीं पड़ता है तो झूठमूठका मिलाओ। झूठमूठका मिलानेमें भी आनन्द है!

एक कथा है-वृन्दावनमें भाद्रशुक्ल चतुर्थी जिसको हमारे गाँवमें 'ढेलहिया- चौथ' बोलते हैं। यदि उस दिन चन्द्रमाका दर्शन हो जाय तो कलंक लगता है। इसलिए किसीके घरपर ढेला फेंकते हैं। वह गाली दे दे तो कलंक उतर जाता है। गाँवमें यह रिवाज है। चन्द्रावली सखी जो है वह भाद्रपदशुक्ल चतुर्थीको चन्द्रमाके सामने खड़ी होकर अर्घ्य दे रही थी। इसी बीचमें नारदजी आ गये। बोले अरी बावरी क्या कर रही है? आज तो कोई चन्द्रमाको देखता नहीं। कलंक लग जाता है। बोली कि बाबा, यही तो मैं चाहती हूँ-आज अर्घ्य

इसीलिए दे रही हूँ। क्योंकि सब गोपियोंके बारेमें मशहूर है, प्रसिद्ध है कि श्रीकृष्ण उनके ऊपर कंकड़ फेंकते हैं, किसीका पीछा करते हैं-किसीका नाम लेकर बाँसुरीमें पुकारते हैं। वृन्दावनमें मैं ही एक ऐसी अभागिनी हूँ कि मेरा कोई नाम नहीं लेता।

अत: उस नौजवानके साथ अगर झूठा कलंक भी लग जाय तो मैं अपनेको गौरवान्वित अनुभव करूँगी। इसलिए मैं आज चन्द्रमाको अर्घ्य दे रही हूँ। ईश्वरके साथ झूठमूठ भी हाथ मिलाओ तो वह झूठमूठ भी सच्चा हो जायेगा। भगवान् झूठको सच बनानेमें बड़े निपुण हैं। और सचको भी झूठ बना देते हैं। उनका ऐसा सामर्थ्य है। बोले-भाई, हमसे अभ्यास भी नहीं बनता है-भगवान् जानते हैं। पहले उन्होंने कहा-मन-बुद्धि मुझमें रखो। एक नम्बरकी बात तो यह हुई। दो नम्बरकी बात यह हुई कि यदि तुम मन-बुद्धि मुझमें नहीं रख सकते तो अभ्यासयोगके द्वारा लगानेका प्रयास करो। बोले-हमसे तो अभ्यास भी नहीं होता है-कौन झगड़ा पाले! बोले अच्छा तुम अभ्यास भी नहीं कर सकते-देखो नरसे बात कर रहे हैं नारायण। मेरे प्यारे दोस्त, तुम अभ्यासमें भी असमर्थ हो-किसी कामको दुहरा भी नहीं सकते हो? नया-नया काम करना पड़े तो थोड़ी हिचक होती है और एक ही काम बार-बार दुहराना पड़े तो उसमें क्या हिचक है? एक बार सिखा दिया ऐसे कर लो और बारम्बार करने लगे। लेकिन अब तुम ऐसा मानते हो कि मुझसे अभ्यास भी नहीं बनेगा-'मत्कर्मपरमोभव'-मेरे लिए कर्मपरायण हो जाओ। ऐसे कर्म करो जो मेरे लिए होता है।

इसको सुनकर आप लोग घबड़ायें नहीं, डरें नहीं। आप क्या काम करते हैं? झाड़ू लगाते है? भला आप लोग झाड़ू लगायेंगे। यह तो बड़े-बड़े नेता लोग फोटो खिंचवानेके लिए झाड़ू लगाते हैं। यह तो बड़े नेताओंका काम है। वैसे कभी झाड़ू छूते नहीं हैं हाथेसे। पर फोटो खिंचवाना हो तो झट लगा लेते हैं। आप लोग झाड़ू नहीं लगाते हैं। रसोई पकाते हैं? झाड़ू भी लगावें तो मनमें याद आ जाय कि इस रास्तेसे शायद भगवान् आ जायें! उनको यह रास्ता साफ मिलेगा। पता नहीं कौन-कौन रूप धारण करके भगवान् आते है-मैं बड़े प्रेमसे झाड़ू लगाकर रास्ता साफ कर रहा हूँ। सम्भव है किसी-न- किसी रूपमें भगवान् इसी रास्तेसे आ जायँ!

इसमें आपको क्या लगा? रास्ता साफ हुआ और दिल भी साफ हुआ। रसोई पकाते हैं? भगवान्को भोग लगानेके लिए रसोई पकाते हैं। हम कहाँ ले जाकर भगवान्के सामने थाली रखेंगे? थाली मत रखो। तुलसी डाल दो। वह भी नहीं बनता। अच्छा आगमें थोड़ा-सा डाल दो। अग्निके रूपमें भगवान् हैं। वह भी भगवान् हैं। वह भी भगवान्का भोग है। किसलिए बनाते हैं? पंचमहायज्ञके लिए बनाते हैं। यह तो हमारी वैदिक परम्पराको बिलकुल लोग भूल गये। साफ-साफ बात कही हुई है-

केवलाघो भवति केवलादी। (ऋग्वेद 10.117.6)

जो सिर्फ अपने खानेके लिए पकाता है, वह केवल पाप खाता है। दूसरोंका भी उसमें हिस्सा होता है। आमका फल पेड़पर लगता है, चिड़िया खाती है। अन्न उगता है, उसको पशु खाते हैं, चिड़िया खाती है, चूहा खाता है। आपने समेटकर लाकर अपने घरमें रख लिया। उनका हिस्सा गया कि नहीं? चिड़ियाका हिस्सा चिड़ियाको दे दीजिये, गायका हिस्सा गायको दे दीजिये। उसमें दूसरेके भोजनका हिस्सा आ गया हो तो अपने

मनसे उसको भी निकाल दीजिये। पण्डित लोग पढ़ने-लिखनेमें अपना समय बिताते हैं, थोड़ा उन ब्राह्मणोंके लिए कर दीजिये। जो आप भोजन करते हैं, उसमें हिस्सा सबका होता है। यह नहीं कि आपका पैसा और आपने पका लिया तो वह पूरा-का-पूरा आपका हो गया। जिनका हिस्सा उसमें दबकर आया है, उसका भी तो ध्यान रखिये। कोई मुश्किल काम नहीं हैं।

आप कपड़ा बनाते हैं? हाँ, बनाते हैं। देखो, हमारे भगवान्के पास न कपड़ा था न उनको कपड़ा पहनना ही आता था। आप लोगोंने भागवतमें पढ़ा होगा। जब मथुरा शहरमें गये, तब उन्हें कपड़ेकी जरूरत मालूम पड़ी। और एक तमाचा मारकर धोबीके सब कपड़े छीन लिये। अब पहनना ही न आवे। दर्जीने आकर जिसके शरीरमें जैसा फिट बैठना चाहिए वैसा बैठाया। आपके तो कपड़े ट्रेन-के-ट्रेन लदकर, ट्रक-के-ट्रक लदकर, जहाज-के-जहाज लदकर जाते हैं-वह तो सब भगवान्के कामके हैं, भगवान्के पहननेके हैं। नानारूप धारण करके भगवान् ही उनको पहनते हैं। सर्वरूप भगवान्के लिए आप कपड़ा बना रहे है। आप उनके रहनेके लिए जो मन्दिर बनवाते हैं-सर्वरूपमें भगवान् ही तो निवास करते हैं। उनके लिए सिमेन्ट बना रहें हैं, उनके लिए पात्र बना रहे है। इन चीजोंको बनानेके लिए मशीन बना रहे हैं।

ये सब सर्वरूप जो भगवान् हैं, उनकी सेवाके लिए है। केवल भावकी जरूरत है। आपको इसमें एक पैसेका भी घाटा नहीं होगा। कपड़ा बाजार में बिकेगा। सिमेन्ट बाजारमें बिकेगा, मशीन बाजारमें बिकेगी। लेकिन कृपणता कहाँ है? कृपणता वस्तुकी नहीं है, कृपणता भावकी है। दिलमें आप ऐसे मक्खीचूस हो गये हैं-मैं अपना शब्द वापिस लेता हूँ। (आजकल तो संसदमें भी लोग कहकर शब्द वापिस ले लेते हैं) यह भावकी, मनकी भी कृपणता है। बच्चे खेल रहे थे। उन्होंने आपसमें कहा थोड़ी देर बैठकर मन-ही-मन सत्तू खायँ। तो एकने कहा 'बेवकूफों'-जब मन-ही-मन खाना है, तो सत्तू क्यों खाते हो? लड्डू क्यों नहीं खाते?' जब मन-ही-मन भगवान्को समर्पित करना है तो उसमें कृपणता किस बातकी? वे लक्ष्मीनारायण खड़े हैं। हर-हर गिन्नीयोंकी वर्षा हो रही है-हीरोंकी वर्षा हो रही है। फिर नोटोंकी वर्षा क्यों सोचते हो?

मत्कपरमो भव।

भगवान्की सेवाके लिए जो कर्म होते हैं वे आप कर्म कीजिये। और उसमें परायण हो जाइयेका अर्थ है-सब कर्म। सब कर्म कैसे होंगे? जैसे सबेरे क्यों उठते हो? भगवान्की सेवाके लिए। जाते हैं शौचालयमें क्यों? निश्चिन्त होकर भगवान्का भजन करेंगे न! पहले हल्के हो लें। स्नान किया-नींद, प्रमाद, आलस्य टूट जाय। जरा हरे-भरे होकर भगवान्का भजन करेंगे। बाल सँवारने लगे। स्नो-पावडर लगाने लगे। भगवान् देखेंगे तो उनको अच्छा लगेगा। बाल बिखरे हुए, गन्दे कपड़े पहने हुए, इधर-से-उधर घूम रहे हैं! भगवान्के सामने जाना है तो जरा ठीक-ठीक होकर जाना चाहिए।

वृन्दावनमें एक सम्प्रदाय ही ऐसा है। वे करते हैं भगवान्का भजन और तेल-फुलेल, रेशमी कपड़ेका ज्यादा ख्याल रखते हैं। काशीमें दामोदरलालजी गोस्वामी रहते थे, वे बहुत बड़े विद्वान् थे। काशीके विद्वानोंमें माने हुए विद्वान् थे। हमारे गुरुजीने कहा कि उनके दरवाजेपर कभी जाना मत। क्यों? क्योंकि वे तो इत्र लगाये

रहते हैं और बाल सँवारे रहते हैं। बढ़िया-बढ़िया कपड़े पहनते हैं। तुम्हारे मनमें कहीं वैसी ही वासना हुई तो पढ़ाई-लिखाई चौपट हो जायेगी। कभी मत जाना। मैं नहीं गया। वे ही जब आये तब मैंने उनको देखा। मैं उनके पास कभी नहीं गया।

बनारसमें एक सिद्ध थे। गोपीनाथ कविराज उनको बहुत मानते थे। उनके सामने शालिग्रामकी मूर्ति रखी जाय और वे कड़ी दृष्टिसे देखें-तो सुनते हैं कि फट जाती थी। इतना तेज था उनके नेत्रोंमें। झूठ कि सच, भगवान् जाने। गुलाबका पौधा दीख रहा है, उन्होंने नजर डाली और वह चम्पाका पौधा हो गया। बँगलामें एक पुस्तक है-'विशुद्धानन्द-प्रसंग'। उसमें गोपीनाथ कविराजने लिखा है। मेरे सामने वे थे। गुरुजीने कहा कभी उनके मठके भीतर आश्रमके भीतर पाँव मत रखना। क्यों? पढ़ना-लिखना चौपट हो जायेगा। और फिर जाकर आँख बन्द करके ध्यान लगाकर बैठ जाओगे। सिद्धियोंके चक्करमें कभी मत पड़ना। गुरुजीका नाम था पण्डित रामभवन उपाध्याय। आजकल जिसको सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय कहते हैं उसमें पढ़ाते थे। भाई देखो, चलो भगवान्के पास।

मत्कर्मपरमो भव।

भूलो मत! पहलेसे संकल्प कर लो कि यह हम भगवान्के लिए कर रहे हैं। करते समय याद करते जाओ। नहीं तो करनेके बाद ही समर्पित कर दो। एक हमारे जाने हुए वकील हैं, उन्होंने पहले तो यह नियम किया था कि 1500 रुपये महीनेसे अधिक फीस लेनेका काम ही नहीं करेंगे और यदि हमको मालूम पड़ेगा कि मुकदमा झूठा है तो बीचमें ही छोड़ देंगे। इसलिए कोई झूठा मुकदमा लेकर मेरे पास नहीं आवेगा। और वे जिस मुकदमेंमें अदालतमें जाकर खड़े हो जाते थे, उनके आते ही जज लोग उनके पक्षमें फैसला दे देते थे। अभी वे बम्बईमें हैं, वृन्दावनमें हमारे आश्रममें आकर महीनों तक रहते हैं। अपनेको भगवान्के सामने ऐसा प्रतिष्ठित बनाओ, तुम्हारा दिल इतना सुन्दर हो, इतना मधुर हो कि उसको देखनेकी लालच भगवान्की आँखोंमें आजाय। उसका स्वाद लेनेकी इच्छा भगवान्के मनमें आजाय। जब वे चोरी करके मक्खन खा सकते हैं तो तुम्हारे दिलकी जो मिठास है, उसका आस्वादन क्यों नहीं कर सकते?

एक बार एक सज्जन नन्दगाँव गये तो देखा-किवाड़ी तो खुली है और भीतर दूध, दही, मक्खन भी खुला पड़ा है। अरे भाई, दरवाजा बन्द क्यों नहीं करता है? कहीं लाला आ गया तो उसको किवाड़ी खोलनेकी तकलीफ करनी पड़ेगी। हम तो, उसको कोई तकलीफ न उठानी पड़े, इसीलिए खुला रखते हैं। आपके घरमें भगवान्के लिए क्या-क्या है, जरा सोचिये तो! अभी बात कर रहे थे, तुलसी खानेसे जुकाम नहीं होता है ऐसा कई लोग बताते हैं-तुलसीकी हवा लगनेसे भी जुकाम कम होता है। कई कहते हैं तुलसीका पत्ता खानेसे कैंसर नहीं होता है। कई कहते हैं तुलसीका पत्ता खानेसे मूत्रेन्द्रिय सम्बन्धी रोग नहीं होते।

शरीरका रोग तो सब मिटाना ही चाहते हैं-पर आप बेलपत्र शंकरजीपर चढ़ाकर खायें, तुलसी शालिग्रामपर चढ़ाकर खायें तो आपका मन प्रसन्न होगा, निर्मल होगा, श्रद्धा बढ़ेगी तथा तुलसी और बेलपत्र तो आपके पेटमें ही जायेगा न! और तो कहीं नहीं जायेगा? जायेगा तो जो उसमें गुण है वह मिलेगा ही। आप

उसको एकांगी क्यों बनाते हैं? केवल शरीरके लिए क्यों रखते है? अपने-हृदयके निर्माणके लिए भी कर दीजिये। क्या भगवान्‌को समर्पित करके तुलसी खानेसे या शंकरजीको समर्पित करके बेलपत्र खानसे आपका कोई घाटा हो जायेगा?

'मत्कर्म परमो भव' का अर्थ है-जो-जो हम करते हैं- 'करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्।' हमको याद है, बच्चे थे, जनेऊ वगैरह कुछ नहीं हुआ था। बाबाके साथ भोजन करने बैठते तो बिना सिला कपड़ा पहने, हाथ पाँव धोकर, चौकेमें बैठते। बाबा कहते हाथमें पानी लो और 'बोलो कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा'। जो-जो मैं करता हूँ, खाता हूँ, पीता हूँ, सब नारायणको अर्पित है। गीतामें आप पढ़ते हैं 'यज्जुहोसि यदश्नासि'- 'अश्नासि' का क्या अर्थ है? खाना ही न! मुँहमें ग्रास डाला और नन्हा-सा बालक आपके भीतर बैठा हुआ है, पर उसने आपके हाथसे छीन लिया और अपने मुँहमें ले लिया। वह आयेगा आपके पेटमें पर आपको उस नन्हें-से बालकको खिलानेका जो आनन्द आयेगा, वह जो भावनाका आनन्द होगा, वह कितना बड़ा होगा!

'मत्कर्मपरमो भव मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि'। रोगी बनकर भगवान् हमसे दवा लेनेको आये। टॉलस्टायकी एक कहानी पढ़ी थी। भगवान्‌ने किसीको स्वप्न दिया कि कल तुमसे मिलूँगा। वह रोगी बनकर बोले दवा दे दो। नंगे बनकर आये कि हमको कपड़ा दे दो। भूखे होकर आये कि हमको भोजन दे दो। उस सज्जनने कहा भाग, भाग। आज हमारे घरमें भगवान् आने-वाले हैं! चौबीस घण्टे बीत गये, भगवान् नहीं आये। भगवान्‌ने फिर सपनेमें डाँटा कि रोगी बनकर मैं आया था-नंगा बनकर मैं आया था, भूखा बनकर मैं आया था। तूने मुझे पहचाना ही नहीं 'मत्कर्मपरमो भव, मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि'।

यदि मन-बुद्धिको नहीं दे सकते हो और अभ्यास भी नहीं कर सकते हो, तो जो काम तुम कर रहे हो, उसको मेरे लिए करो। आपके लिए करेंगे तो सब आप छीन ले जायँगे। बोले, नहीं छीन नहीं ले जायेंगे। वह तो जैसे होता है, वैसे ही होगा। केवल उद्देश्य, केवल भावके परिवर्तनसे भक्ति हो जाती है।

अथैतदप्यशक्तोसि कर्तुंमद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥

बढ़िया बात बोले। अच्छा भाई, मन-बुद्धि तो हम नहीं लगा सकते, अभ्यास भी हम नहीं कर सकते और सब कर्म तुम्हारे लिए करें, ऐसा भी नहीं है, हमको तो अपने लिए भी करना पड़ता है। बहुत बढ़िया! अपने लिए भी करो भाई! अब यह कौन-सा नम्बर हुआ? तीन नम्बर। मन-बुद्धि अर्पण, मन बुद्धिके अर्पणका अभ्यास करना और भगवान्‌के लक्ष्यके उद्देश्यसे कर्म करना! अब चौथे नम्बरकी बात है-

सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।

काम करो लेकिन उसके फलका त्याग कर दो। आपके लिए यह मुश्किल है और भगवान् इसको आसान बता रहे हैं पर सबसे मुश्किल यही है। अपने मनको हमेशा प्रयत्नशील रखो, काबूमें रखो कि वह वर्तमान कर्मको छोड़कर उसके फलकी ओर दौड़ न जाये। हमारा मन वर्तमानमें तो रहना पसन्द करता नहीं।

हमको बचपनमें अभिमान था कि हमारे घरमें सबसे बढ़िया रसोई बनती है। लेकिन फिर भी चुपचाप पड़ोसीके घर चले जाते थे और खाकर आते थे। क्यों-कभी-कभी उनके घरकी रसोई खानेमें बहुत स्वादु लगती थी। अच्छी लगती थी। रोज खानेको मिले तो वैसी नहीं लगती।

आपको एक बात सुनाता हूँ-कर्मका एक तो होता है प्रयोजन और एक होता है फल। कोई भी काम करना हो तो वह निष्प्रयोजन नहीं होता है, सप्रयोजन होता है। यह काम कर रहे हैं तो इसका कुछ लक्ष्य है कि नहीं। लक्ष्य है-हम इतना उत्पादन करेंगे। पर उत्पादन करके सब-का-सब हम ही खा जायेगे? नहीं भाई, औरोंको भी खिलायेंगे। उसको हम बेचेंगे, उससे हम धनी होंगे, उससे हम सुखी होंगे। यह मत सोचिये!

यह सोचिये कि हमको यह कर्म करना चाहिए। हम आपको इसका नमूना सुनाते हैं-जैसे नमूनेके लिए श्राद्ध-अपने पिताके लिए माताके लिए, दादाके लिए, दादीके लिए, नानाके लिए, नानीके लिए, श्राद्ध किया जाता है। यह श्राद्ध क्या है? कर्म तो करें और उसका फल हमका मिले-यह न चाहें। इस कर्मका नमूना है ऐसा निष्काम कर्म, कि हम माता-पिता, दादा-दादी, नाना-नानीके प्रति श्रद्धा करके उनके लिए हम कुछ कर रहे हैं। श्राद्ध कर्म जो है यह निष्काम कर्मका नमूना है कि हम कर्तव्यपालन करते हैं।

कर्ममें चार प्रकारसे निष्कामता आती है। एक रीति तो यह है कि हमारा माता-पिताके प्रति या ईश्वरके प्रति यह कर्त्तव्य है कि हम यह काम करें। इससे क्या मिलेगा, इससे कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिए शास्त्रने संध्या-वन्दन कर्म हमारे जीवनमें स्थापित किया। यह मत सोचो कि संध्या-वन्दन करनेसे क्या मिलेगा? हमारे ऊपर कर्त्तव्यका कोई बोझ नहीं है। सारे काम लाभके लिए ही होते हैं? इससे कुछ मिले-इतनी गरीबी हमारे जीवनमें आ गयी! यह दरिद्रताकी पराकाष्ठा है। सुना है कि अहमदाबादमें किसीने पूछा कि यह कौन-सा स्टेशन है? तो प्लेटफार्मके आदमीने बताया कि चार आना लाओ तब बतायेंगे। अरे भाई! बस, हम समझ गये कि यह वह स्टेशन है, जहाँ लोग चवन्नी लिये बिना स्टेशनका नाम भी नहीं बताते। यह बहुत प्रसिद्ध है।

सन्ध्या-वन्दन क्यों करें? भला कोई बात हुई? यह हमारा धर्म है, हमारा कर्त्तव्य है-माता-पिताके प्रति श्राद्ध करना, हमारा कर्त्तव्य है। उनके जीवनमें उनकी सेवामें जो त्रुटि रह गयी है वह पीछे श्राद्ध करनेसे पूरी हो जायेगी। उनका कमाया हुआ जो धन है वह उनके नाम पर खर्च हो जावेगा। और हमारे हृदयमें श्रद्धाकी वृद्धि होगी। श्रद्धाको शास्त्रमें धन बोलते हैं। 'श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येव आत्मानं पश्येत्' (माध्य०शतथब्रा० 7.2.28) हमारे हृदयमें श्रद्धाका धन बढ़ता है।

एक बात यह है कि 'सर्वकर्मफलत्यागं'में हम कर्त्तव्यबुद्धिसे कर्म करें। दूसरी बात देखो-हमारा अन्तःकरण शुद्ध हो, इसके लिए कर्म करें। यह भी फलेच्छा नहीं है। हमारे अन्तःकरणमें जो मैल लगी है, उसको कोई हथौड़ासे, छेनीसे या बँसूलेसे तो साफ कर नहीं सकता। साबुन लगनेसे मनका मैल दूर नहीं होता। उसके लिए तो अन्तःकरण शुद्धिकी दृष्टिसे हमें कुछ पाना नहीं है, केवल सफाई करना है। हमारा दिल साफ हो, इसके लिए हम कर्म करते हैं। कई चीज ऐसी होती है कि जो रगड़नेसे ही साफ हो जाती है। कई चीज झटकनेसे ही साफ हो जाती है। किसीमें नींबू लगाना पड़ता है, किसीमें दही लगना पड़ता है।

****

आप तो यदि फल न चाह करके अपने कर्त्तव्य कर्मको करेंगे तो आपका अन्त:करण निष्काम हो जायेगा। निष्कामता अन्त:करणकी शुद्धि है। निष्कामता अन्त:करण-शुद्धिका साधन नहीं है, वह तो हल्की-फुल्की बात है। अन्त:करणका निष्काम होना ही अन्त:करणकी शुद्धि है। सेठजी जयदयादलजी गोयनकासे हम लोग भिड़ जाय: करते थे कि आप बताओ जब तक आत्मामें भोक्तापनका भाव रहेगा-तब तक कर्म निष्काम कैसे होगा? वह तो जब तत्त्वज्ञानसे भोक्तृत्वकी भ्रान्ति दूर होगी, कामना नहीं रहेगी तब अन्त:करण निष्काम होगा। सेठजी बोलते-हमारा अभिप्राय पूर्ण निष्कामतासे नहीं है। नि:स्वार्थ होकर कर्म करें-अभिप्राय इतना ही है।

पूर्ण निष्कामता तो बिना कर्त्तापन और भोक्तापन मिटे हो नहीं सकती। एक बात तो यह है कि कर्त्तव्य-पालनके लिए कर्म करें-फल न चाहें। दूसरे अन्त:करण-शुद्धिके लिए कर्म करें और कोई फल न चाहें और तीसरे भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए कर्म करें-भगवत्-प्रीत्यर्थ। जो कुछ मैं करता हूँ, जो मेरे द्वारा होता है, उससे सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न हों। बस यही कसौटी है। जाँच लो कि तुम जो कर रहे हो उसे तुम्हारे पिताजी देखते तो खुश होते कि नहीं? तुम्हारे गुरुजी को मालूम पड़ता तो वे खुश होते कि नहीं! दुनियाके मालिक जो भगवान् हैं, उनकी दृष्टि जब तुम्हारे कर्मपर पड़ेगी तो प्रसन्न होंगे कि नहीं?

भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए कर्म करो। काम करते समय यह भी देखलो, उनको कैसा लगेगा? इसका भी ध्यान रखना चाहिए। बस, इतना ही तो देखनेका है। यह तीसरे प्रकारका कर्मफल-त्याग है। अपने कर्त्तव्यकी पूर्तिके लिए; अन्त:करणकी शुद्धिके लिए; भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए। चौथे प्रकारका भी कर्म होता है। वह होता है-ज्ञानकी प्राप्तिके लिए। कर्मसे सीधे ज्ञान प्राप्त हो जाता है। कच्चे वेदान्ती-ज्यादा करके जो लोग पंचदशी भी पढ़ते हैं, विचार-सागर पढ़ते हैं और अपनेको वेदान्ती मान बैठते हैं। वे मानते हैं कि सत्कर्म करनेसे मनमें ब्रह्मको जाननेकी जिज्ञासा उत्पन्न होती है और विवरण-प्रस्थान मानता है कि नहीं, सत्कर्मके अनुष्ठानसे ज्ञान ही उत्पन्न हो जाता है। 'विविदिषा' उत्पन्न होती है कि 'वेदन' उत्पन्न हो जाता है यह दोनों प्रस्थानोंका मतभेद है। जान-बूझकर मैंने शास्त्रकी चर्चा कर दी। जो काम करने लगते हैं उनको उस विषयमें अनुभव होता है कि नहीं होता! अनुभव बढ़ता है, जितना-जितना आप काम करोगे, उतना ही उतना आपका अनुभव बढ़ेगा। आप कर्म क्यों करते हो? भाई, हमको कोई तनख्वाह नहीं लेनी है। फायदा नहीं उठाना है। अनुभव प्राप्त करनेके लिए काम कर रहा हूँ। भगवत्-सम्बन्धी अनुभव प्राप्तिके लिए जो कर्म किया जाता है, वह भी भगवान्‌के लिए कर्म है। जो भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए कर्म किया जाता है, वह भी भगवान्‌के लिए है। जो अन्त:करण-शुद्धिके लिए किया जाता है वह भी भगवान्‌के लिए है और जो अपने कर्तव्य-पालनकी दृष्टिसे होता है वह भी भगवान्‌के लिए है।

हमारे एक मित्र थे-अभी असहयोगके जमानेमें ही पागल हो गये। क्यों पागल हुए? घरके लोग, उनके इष्ट-मित्र घबड़ाये। मैंने उनसे धीरे-धीरे पूछा कि तुमको क्या तकतीफ है? उन्होंने कहा कि मैं तो झण्डा लेकर घूम रहा था-'झण्डा ऊँचा रहे हमारा।' राष्ट्रकी सेवा कर रहा था और उधर हमारी पत्नीको दवा नहीं मिली।

****

****

पानी पिलानेवाला कोई घरमें नहीं था। पथ्य नहीं मिला। वह मर गयी। मैं अपने कर्तव्यसे च्युत हो गया। ऐसा खटक गया था उनको कि उनका दिमाग ही ठीक न हो!

मैंने कहा भाई, तब नहीं किया तो अब कुछ करो-बोले-अब क्या हो सकता है? वह तो मर गयी। नहीं अब भी हो सकता है। क्या हो सकता है? रोज उसके नामसे संकल्प करके गीताका पाठ करो-रोज द्वादशाक्षर मन्त्रका जप किया करो थोड़ी देर, उसकी शान्तिके लिए। है कुछ घरमें? गरीबोंको उसके नामपर दो। कुछ है तुम्हारे पास? बोले-हाँ, है तो सही? जप कर सकते हो? हाँ। पाठ कर सकते हो? हाँ। उसके लिए आजसे ही करना शुरू करो। हमारे पास पाँच-छ: दिन रहो, शुरू करो। करना शुरू किया-थोड़े दिनोंमें ऐसा उनका मन ठीक हो गया, जैसे लगे कि हमने कुछ किया है।

उस कर्मका फल वे अपने नहीं चाहते थे। परन्तु उनके चित्तमें जो अशान्ति आयी थी वह दूर हो गयी। 'मत्प्रसादाद् अवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्'। (18.53) यदि आप कर्मफलका त्याग करके कर्मका अनुष्ठान करें-आप अच्छा काम कर रहे हैं यह देखिये। आप किसीको प्रणाम कर रहे हैं, वह आपकी ओर देखे या न देखे। अरे, मैंने तो इतना हाथ जोड़ा, नमस्कार किया पर आपने तो हमारी ओर देखा ही नहीं, हमें पहचाना ही नहीं। क्या जरूरत है? तुमने एक अच्छा काम किया, नमस्कार किया, हाथ जोड़ा, बढ़िया काम किया। उसमें कोई देखे और तुमको कोई धन्यवाद दे, आशीर्वाद दे, इसकी क्या जरूरत है? अच्छा काम स्वयंमें फलात्मक ही होता है। उसका फल आगे नहीं मिलता है।

जिस समय हम अच्छा काम करते हैं, उसी समय हमारे हृदयमें जो सन्तोष होता है, जो प्रसन्नता होती है, जो शान्ति होती है, वहाँ कर्म और कर्मका फल दो नहीं रहता। आप उसी कर्ममें तन्मय रहिये। फलको छोड़िये-आयेगा-आयेगा। नहीं आयेगा-नहीं आयेगा। उसकी ओर देखनेकी कोई जरूरत नहीं है। किसीने कहा-यह करनेसे क्या मिलेगा? राम-राम करनेसे क्या मिलेगा? सन्ध्या-वन्दन करनेसे क्या मिलेगा? अरे तुम एक अच्छा काम कर रहे हो, यह क्या तुम्हारे सन्तोषके लिए शान्तिके लिए पर्याप्त नहीं है!

ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:

●

****

प्रवचन : 7

17-11-83

अभ्यासेऽप्यसमर्थोसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ 12.10-12

एक प्रधान बात यह हुई कि मन और बुद्धि भगवान्में आहित करना, समाहित करना। दूसरी बात यह हुई कि यदि मन, बुद्धिको भगवान्में न लगा सकें-क्योंकि वह दो ही स्थितिमें पूर्णतः लग सकती है। या तो आश्रय अद्वितीय हो, ब्रह्म-अथवा भगवान् विषयरूपमें सर्व हों, विराट् हों। यदि सर्वरूपमें भगवान् होंगे तब मन-बुद्धिका समर्पण सार्वकालिक, सार्वदेशिक और यथार्थ परमार्थ हो जायेगा। जो देखते हैं, वही भगवान् है। जो सुनते हैं, वही भगवान् है, जो छूते हैं वही भगवान् है। शंकराचार्यने सारे अध्यायका अर्थ विश्वरूपकी उपासनामें लगाया है और यही उसका गूढ़ अभिप्राय है। और वृत्तिका जो आश्रय है वह वृत्तिके अभावका भी आश्रय है। इसलिए वृत्ति और वृत्तिका विषय-दोनों उसमें बाधित हैं, तो परमात्माके सिवाय और कोई है ही नहीं।

दूसरी बात यह कही कि यदि यह स्थिति न प्राप्त हो सके तो अभ्यासयोग करो। अभ्यासयोग माने भगवान्में अपने मन और बुद्धिको लगानेका अभ्यास। बारम्बार भगवान्में मन लगाया जाय। उनसे प्यार हो, उनका विचार हो। मन लगाना माने भगवान्से प्रेम और बुद्धि लगाना माने भगवान्का विचार। यह ठीक वैसे ही है जैसे जब सत्राजित्ने कहा कि श्रीकृष्ण, तुम स्यमंतक-मणि ले लो, मैं दहेजमें देता हूँ। तो श्रीकृष्णने कहा-तुम सूर्यके भक्त हो, उनकी दी हुई मणि तुम्हारे घरमें रहे। लेकिन उनसे जो आठ भार सोना रोज निकलता है वह हमको भेज दिया करो। मन तो अपने पास रखिये, लेकिन जो मनमें संकल्प उठें और बुद्धिमें विचार उठें वे भगवान्के पास भेज दिया कीजिये। क्योंकि मन और बुद्धि तो एक अमूर्त तत्त्व हैं-मन और बुद्धि आकृतिवाले तत्त्व नहीं हैं। जो आकृति मन और बुद्धिका विषय बनती है वही उनकी आकृति होती है। उनकी अपनी आकृति नहीं है।

जो वस्तु मनमें मालूम पड़ रही है वही मन है। जो बुद्धिमें मालूम पड़ रही है वही बुद्धि है और ऐसी-ऐसी हजारों वस्तुएँ मनमें आती हैं और बुद्धिमें आती हैं। इसलिए उनका आकार तो निश्चित होता नहीं। अतः जो

भी आकार आवे, उनमें जो भी संकल्प उठे, जो भी विचार उठे वह भगवान्का रूप हो, भगवान्को लेकर उठे-भगवान्के लिए एक मन्दिर बनावेंगे। यह संकल्प ही भगवद्-अर्थ हो गया। भगवान् साकार हैं, निराकार हैं, कि सगुण हैं, निर्गुण हैं, हृदयमें है, बाहर हैं-इस प्रकारका विचार भी बुद्धिको भगवान्में लगाना है। अब उसका अभ्यास करना माने उसको दोहराना।

अभ्यास शब्दका अर्थ संस्कृतमें दोहराना ही होता है। जैसे भू धातुकी जब अभ्यास संज्ञा होती है, तो 'भू भू बभूव' बन जाता है। अभ्यास माने बारम्बार पुकारना। किसी शब्दको बारम्बार दुहराना। जैसे सन्धिमें उदाहरण है-'कांस्कान्'-यह अभ्यास है किसको? रामको। रामको-तो इस अभ्यासका भगवान्के साथ योग हो जावे-माने हम बारम्बार भगवान्को ही दोहरावें। बोले भाई, यह भी बहुत कठिन। बोले अच्छा यह कठिन है तो तीसरी बात लो। 'मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि' मेरे लिए कर्म करो। जो काम करो, यह देख लो कि यह हम किसके लिए कर रहे हैं। विराट्की सेवाके लिए कर रहे हैं, अन्तःकरण शुद्धिके लिए कर रहें हैं, कर्त्तव्यपालनके लिए कर रहें हैं-ये तीन विभाग ब्रह्म-सिद्धिके टीकाकारोंने किये हैं।

कर्तव्यपालनके लिए कर्म, अन्तःकरण शुद्धिके लिए कर्म, भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म, और विविदिषा या वेदन-जिज्ञासा अथवा ज्ञानप्राप्तिके लिए कर्म। इसमें भामतीकार मानते हैं विविदिषाके लिए, जिज्ञासाके लिए कर्म और विवरणकार मानते हैं-ज्ञानके लिए कर्म। सेठ जयदयालजी विवरण पक्ष लेकर कर्मसे ज्ञान होता है, ऐसा बोलते थे। पर साधारण पञ्चदशी, विचारसागर पढ़नेवालोंको तो यह मत मालूम नहीं है। इसलिए वे लोग आपत्ति करते थे। भगवान्के लिए कर्म, अन्तःकरण-शुद्धिके लिए कर्म-

योगिनः कर्म कुर्वन्ति संग त्यक्त्वात्मशुद्धये। 5.11

लेकिन कई लोग होते है, उनको कैसे-कैसे की ऐसी आदत पड़ जाती है। किसीने महात्मासे पूछा-महाराज, भगवान्का ज्ञान कैसे हो? तो उन्होंने कहा-ध्यान करो। ध्यान कैसे करें? बोले भगवान्से प्रेम करो, ध्यान लगने लगेगा। जिससे प्रेम होता है, उसका ध्यान अपने आप लग जाता है। महाराज, भगवान्से प्रेम भी कैसे करें? किसी प्रेमीका सत्संग करो तो प्रेम हो जायेगा। प्रेमीका सत्संग कहाँ मिलेगा? भक्ति-प्रेमका स्वाध्याय करो। स्वाध्याय करनेके लिए तो समय नहीं मिलता है। अच्छा तो नाम जपो। बोले-भूल जाते हैं। नाम भी हर समय कहाँ लिया जाता है! हर समय नहीं लिया जाता है तो घण्टे, आध घण्टे, पाँच मिनट, दस मिनट बैठकर भगवान्का नाम लिया करो। बोले-महाराज, अगर रोज न हो सके तो कभी-कभी कर लिया करें? अच्छा भाई, रोज नहीं कर सकते हो तो कभी-कभी कर लिया करो। अच्छा महाराज, महीनेमें एक दिन? बोले, अच्छा वह भी ठीक है। बोले-महाराज, महीनेमें न हो तो छः महीनेमें? बोले-अच्छा, छः महीनेमें सही; बोले अच्छा वह भी भूल जाय, तो एक वर्षमें? बोले ठीक है-एक बरसमें, वह भी सही!

उसने कहा महाराज, न करें तो कैसा रहेगा? कैसे मानें करोगे-करना शुरू कर दो। एक मिनट करो, दो मिनट करो, पाँच मिनट करो। बाल जब कंघीसे सुधारते हैं, उसी समय पर कर लिया करो। जब स्नान करते

हैं, घण्टे भर साबुन लगाते हैं-उस समय करें! हम तो ऐसे लोगोंको जानते हैं, जो दो-दो घण्टे बाथरूममें रहते हैं। वहाँ भी भगवान्‌का नाम लें तो कोई हरज नहीं! पहले तो हमलोग बहुत विरोध करते थे। बचपनमें हँसी भी उड़ाते थे। पर गांधीजीके सम्बन्धमें यह बात अखबारोंमें छपती थी कि जब वे बाथरूममें जाकर बैठते हैं तो गीताका पाठ कर लेते हैं। हमलोग तो उस समय पण्डिताईके चक्करमें थे। हँसी उड़ाते थे। बाबा 'अकरणामन्द-करणं श्रेयः'। जो बिल्कुल नहीं कर सकते हैं उनका जैसे-तैसे करना भी अच्छा है! कर्म-लोप न हो। काल-लोप हो जाय तो हो जाय, देश-लोप हो जाय तो हो जाय, सामग्री-लोप हो जाय तो हो जाय, कर्म-लोप नहीं होना चाहिए। यह हमारे कर्म-काण्डका सिद्धान्त है।

सन्ध्या-वन्दनके लिए जल मिले तो अर्घ्य दो और न मिले तो मिट्टीसे अर्घ्य दे लो क्योंकि उसमें पानी रहता है। और यदि मिट्टी भी न मिले तो? बोले-मानसिक दे लो। पर कर्म-लोप नहीं होना चाहिए। जिस कर्मका नियम लो उसको पूरा करना चाहिए। बोले-भगवान्‌के लिए कर्म करना भी बड़ा मुश्किल है। अच्छा, यह भी आप नहीं कर सकते तो चौथी चीज लीजिये। दुकानदारके पास कोई जाता है तो कहता है, यह पसन्द नहीं तो यह लीजिये। यह पसन्द नहीं है तो यह लीजिये। छोड़नेका नाम तो वह लेता ही नहीं है। ये कृष्ण भगवान् जो हैं वे कहते हैं, हम ऐसे नहीं छोड़ेंगे। हमारे लिए काम नहीं करते हो न सही-

अथैतदप्यशक्तोसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥ 12.11

भगवान्‌के लिए कर्म करनेमें मद्‌योग, भगवान्‌का योग-यह आवश्यकता होती है और कर्मफल-त्यागमें मद्‌योगकी आवश्यकता नहीं होती। यह अद्भुत है। यह निरन्तर वाली जो बात है-सतत स्मरण, निरन्तर स्मरण-यह अखबारों में, किताबोंमें बहुत अच्छी लगती है। परन्तु जब जीवनमें देखने लगते हैं-तो देखो एक साथ दो स्मृति नहीं रह सकती। दो अँगुलियोंको भी हम एक साथ देख नहीं सकते हैं। मनकी पहचान ही यह है कि वह दो ज्ञान अपनेमें एक साथ नहीं रख सकता। शब्द सुनेगा तो शब्द सुनेगा। आँखसे देखेगा तो आँखसे देखेगा। वह एक साधारण करण है जो प्रत्येक इन्द्रियके साथ मिल-मिलकर उसके विषयको ग्रहण करता है। यह मन एक क्षणमें किसी एक विषयको ग्रहण करता है। दो अंगुली देखते हैं-अलग-अलग देखते हैं। एक अंगुली देखनेका समय दूसरा है। दूसरी अंगुली देखनेका समय दूसरा है। पर इतना सूक्ष्म है कि एक अंगुलीसे दूसरी पर जाती हुई मनोवृत्तिको हम पकड़ नहीं पाते हैं। दोनों अंगुलीका अभाव बीचमें है, वह भी ग्रहण होता है।

तब फिर-बोले अच्छा, भाई! स्मृतिकी बात अभी छोड़ देते है। सुषुप्तिमें स्मरण नहीं होगा। पुत्रके स्मरणमें भगवद्-स्मरण नहीं होगा। धनके स्मरणमें भगवद्-स्मरण नहीं होगा। अपनी विपत्ति-सम्पत्तिमें स्मरण नहीं होगा। इसीलिए उसके लिए एक समयकी जरूरत पड़ती है-अभ्यास बढ़ानेके लिए। वृन्दावनमें ऐसी रिवाज है कि माला तो खूँटापर टंगी रहती है और जब घरमें-से निकलना होता है तो कई लोग अपना मुँह धोकर चन्दन टीका लगाकर, माला हाथमें लटकाकर शहरमें निकलते है। तब अवश्य माला उनके हाथ में

होती है। घरमें तो वह खूँटीपर रहती है। स्मृति जो है 'मद्योगमाश्रितः,' 'एतद् मदर्थं कर्म'- यह जो मेरे लिए कर्म हैं इनमें मुझे तुम योग नहीं कर सकते तो-बोले काम सब करो परन्तु उसका फल भगवान् पर छोड़ दो। इसमें भी कुछ करना नहीं है क्योंकि सचमुच फल तो किसीके हाथमें होता ही नहीं हैं।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। 2.47

ये हमारे पूर्वमीमांसक तो ऐसा मानते हैं कि कर्म स्वयं अपना फल दे लेता है। जैन भी ऐसा ही मानते हैं कि कर्म अपना फल दे लेता है। बौद्ध लोग मानते हैं कि वासना फलको अपनी ओर खींचती है और चार्वाकका कहना है कि खाना-पीना, मौज करना यही उसका फल है-और कोई दूसरे जन्ममें उसका फल नहीं मिलना है। वेदान्तियों का इस सम्बन्धमें यह कहना हैकि कर्म जड़ है और वह जिस क्षणमें होता है,उसी क्षणमें नष्ट हो जाता है। आपने महिम्नस्तोत्रमें तो पढ़ा ही होगा 'क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते' (श्लोक २०) कर्म तो प्रध्वस्त है।

जिस क्षणमें होता है उसके बाद मिटता जाता है-मिटता जाता है। मीमांसक कहते हैं कि नहीं जबतक कर्तव्य है तब तक कर्ताके अन्तःकरणके कर्मसे अपूर्व उत्पन्न होता है। और वह रहता है- फलका समय आनेपर फल देता है। वेदान्तियोंका इस सम्बन्धमें यह कहना है कि कर्म तो जड़ है और क्षण-क्षणमें नष्ट होता है, इसलिए फल देनेका काम ईश्वरका है। वेदान्त-दर्शनमें सूत्र है 'फलमत उपपत्तेः'। (3.2.38) फल ईश्वरसे ही मिलता है। कर्ताके बलसे कर्मका फल नहीं मिलता। कर्ताके बलसे कर्म होता है, परन्तु कर्मका जब फल देनेवाला समय होता है तो ईश्वर ही उस कर्मका फल देता है।

इसलिए फल जब अपने हाथमें है ही नहीं, तो उसकी चिन्ता व्यर्थ है। अपनी ओरसे अपना जो काम है उसको करते जाना चाहिए और फलको छोड़ देना चाहिए। 'मीरा गिरिधर हाथ बिकानी-होनी हो सो होई रे'। अपना कर्तव्य पालन करते जाना चाहिए। यह अपना काम है। अपने कर्ममें यदि त्रुटि होगी तो आगे पश्चाताप भी हो सकता है, ग्लानि भी हो सकती है। अपने कर्तव्य कर्मके विधानका उल्लंघन होनेके कारण आगे प्रत्यवाय भी हो सकता है। अपना काम ठीक-ठीक करना यह मनुष्यका अवश्य कर्तव्य है।

अच्छा, अब फलकी बात करें। देखनेमें तो यह चौथे नम्बरकी बात है तो बहुत सरल होनी चाहिए। पर इसमें भी एक शर्त है उसपर ध्यान नहीं जाता है। लोग सुनते हैं-बस फलका त्याग कर दिया-सबसे सुगम, सबसे सरल यह बात है-महाराज, जिन लोगोंके अन्तःकरण दूषित होते हैं वे ऐसे सोचते हैं, कि हम बुरा काम करें या बुरा भोग भोगें तो उसका जो फल है उसका त्याग कर दें। अच्छे कर्मका फल तो हमको मिलेगा ही मिलेगा, लेकिन हम बुरे कर्मका फल छोड़ते हैं। हमने जो काम किया, हम फल उसका चाहते ही नहीं हैं। इसमें एक जो शर्त है, उसपर आप ध्यान दें।

सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।

यतात्मवान्‌को उड़ा मत दो। उसे अपने साथ रखो। भगवान् भोग लगानेसे ही नहीं खा लेते। आप लोगोंने पढ़ा है-

****

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

वहाँ तो 'प्रयतात्मनः', 'यो मां भक्त्या प्रयच्छति तदहं भक्त्युपहृतम्'- कहा गया है। भक्ति तो दो बार है। भक्तिसे भगवान्‌को देना है और भगवान् उसको भक्तिके उपहारके रूपमें स्वीकार करते हैं। सो भी 'प्रयतात्मनः'- जिसका शरीर, जिसकी इन्द्रिय, जिसका मन प्रयत है। 'प्रयत' है माने काबूमें है, नियन्त्रित है, नियमित है। प्रयत्नसे विमुख नहीं है, प्रयत्नशील है 'यती प्रयत्ने'।

कर्म-फलका त्याग तो करो, परन्तु यतात्मा होकर करो। 'सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्'। इन्द्रियाँ वशमें हों माने संयमी होना आवश्यक है। व्यभिचार करो और फलका त्याग करो-चोरी करो और फलका त्याग करो, मना किया हुआ काम, गैरकानूनी काम करो और फलका त्याग करो, यह तो ऐसे ही है जैसे पाँच हजार आपको पुरस्कार मिलता है-बड़ी कृपा है, लेनेको तैयार हैं। पाँच हजार आपको जुर्माना हुआ। बोले-मैं इस सजाका परित्याग करता हूँ। पुरस्कारका परित्याग करें-सरकारसे कहें वह भी अपमानसे अस्वीकार करनेपर काम नहीं चलेगा। कहेंगे, हाँ-हमने स्वीकार किया, फिर कहा यह किसी अच्छे काममें लगा दिया जाय-ऐसा चाहते हैं। ठीक है-अब! पुरस्कारको तो अस्वीकार कर सकते हैं, परन्तु आपको कोई जुर्माना हो और कहें कि हम उसको अस्वीकार कर रहे हैं तो आपको अस्वीकार करनेसे जुर्माना अस्वीकार नहीं होता।

'सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्'का अर्थ है-आपके शरीरसे कोई बुरा काम न हो। शरीर काबूमें रहे। और जुआ है, चोरी है, व्यभिचार है, हिंसा है, ये करनेमें इन्द्रियाँ अपने संयममें नहीं रहती हैं। वे तो उस समय व्याकुल हो जाती हैं ओर गलत रास्तेपर जाती हैं। इन्द्रियोंको काबूमें रखकर जो भी काम आप करते हैं, उसके फलका त्याग कर दीजिये। भगवान्‌की याद न आवे, कोई बात नहीं। परन्तु जब फलकी इच्छा होगी तब तो वह आपके साथ जुड़ेगा और उसको भोगनेके लिए आपको परवश होना पड़ेगा।

मनुष्य भोग भोगनेमें परवश है तो हम संसारी लोगोंकी रीति है कि भोगको भी कर्म बना देते हैं। भोग तो फल है, भोग ऐसा होना चाहिए कि फल-का-फल न हो। भोगका फल न हो, इस ढंगसे आप भोग करते हैं क्या? जब आप वासनासे भोग करते हैं, आसक्तिसे भोग करते हैं, कर्तापनसे भोग करते हैं, तो आपका भोग भी नया कर्म बन जाता है और वह आपको फँसानेवाला बन जाता है।

भोजन इस ढंगसे होना चाहिए कि वह आपके बन्धनका हेतु न बने। भोजन मिला है प्रारब्धसे। हमें थोड़ी देर पहले कोई सुना रहा था कि जो भी भोजन करता है, अपने प्रारब्धसे मिला हुआ भोजन करता है। वह हमारे घरमें भोजन करने आता है सो भोजन तो उसके प्रारब्धका होता है, उसका अपना होता है और हमारे घरमें आकर खाता है तो मैं उसका शुक्रगुजार हूँ। उसको धन्यवाद देता हूँ कि वह अपने घरका भोजन लाकर हमारे मेजपर बैठकर ख़ा रहा है। भोजन तो मिलता है प्रारब्धसे। सब अपना-अपना प्रारब्ध लेकर आते हैं, लेकिन हम जब उसमें कर्तापन लगा देते हैं, वासना जोड़ देते हैं-आज हम यह खायेंगे-अपनी कमायीका खायेंगे, हमारी

****

****

कितनी बुद्धिमानी है, तो वह बन्धनका हेतु बन जाता है। आप फलको जो कर्म बना देते हैं, इसको हम अपनी गँवारू भाषामें बोलें तो बेककूफी ही कहना पड़ेगा। भोगते हैं फल और उसको बना देते हैं नया कर्म।

ज्ञानी पुरुष जो हैं, वे करते है कर्म और कर्तापन न होनेसे उसको बना देते हैं फल। कर्म ऐसा हो जिसका फल न हो-फल ऐसा हो जिसका कर्म न हो। हमलोग तो फँसते जाते हैं। इन्द्रियोंका संयम चाहिए। 'यतात्मवान्' का अर्थ है, काबूसे बाहर न हो। जब हम खाने लगते हैं, तब जीभ काबूसे बाहर हो जाती है। पेटमें जितना बोझ सम्भालनेकी ताकत है, जीभ अपनी पसन्दकी वजहसे उसपर ज्यादा लाद देती है। पेटको गधा बनानेका पाप तो जीभको ही लगेगा। पसन्द है जीभकी और लाद रही है पेटको। जीभ काबूमें रहनी चाहिए। हाथसे काम करें तो यह नहीं कि करने चले तो करते ही जा रहे हैं-आप कभी चलते हैं तो बोल दिया बस बन्द-जैसे फौजी अनुशासनमें होता है, वैसा अनुशासन अपने जीवनमें आना चाहिए।

एक फौजी सज्जन थे, रिटायर होकर बनारसमें रह रहे थे तो विद्यालयके विद्यार्थी उनको पहचानते थे कि ये फौजी सज्जन हैं। एक दिन वे एक बड़ा-सा दहीका कुल्हड़ लेकर चले आ रहे थे। एक विद्यार्थीको मजाक सूझा-तो फौजमें बोलते हैं न! सीधे खड़े हो जाओ-एक विद्यार्थीने पीछेसे बोल दिया 'अटेन्शन'। अब वे सीधे खड़े हो गये। और जो दहीका कुल्हड़ था वह तो फेंक दिया, खड़े हो गये हाथ-पैर ठीक, सावधान-मुद्रामें।

'यतात्मवान्'-कान वशमें, आँख वशमें, त्वचा वशमें, जीभ वशमें, नाकवशमें-यतात्मवान् होकर सर्वकर्म-फल त्याग करो। बड़ी भारी बात है। एकने कहा कि दो-नम्बरका काम हमको पसन्द नहीं है। तीन-नम्बर और चार=नम्बरका तो पसन्द ही क्या होगा? यह तो बड़ी छोटी बात हो गयी। चार नम्बरका काम है, सर्वकर्म-फलत्याग। हम इतना छोटा काम नहीं करेंगे। हम तो बड़े-बड़े काम करते हैं। भगवान्‌ने कहा, हाँ-किसी-किसीके मनमें यह शंका हो सकती है। उसको मिटा देना चाहिए। कैसे मिटावेंगे? यह उपसंहार-श्लोक है।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ 12.12

भगवान्‌ने बताया कि किसी चीजको समझे बिना जो अभ्यास करते हैं-इससे अच्छा है उसको समझकर उसका अभ्यास करें। जैसे एक आदमी मोटर चलानेका अभ्यास करता है, लेकिन वह पुरजोंको समझता नहीं है। अभ्याससे देख-देख करके उसने सीख लिया कि कौन-सा बटन दबाते हैं तो मोटर चालू होती है-ऐसे यह घुमायी जाती है, यह सब सीख लिया। पर चलानेकी अपेक्षा, मोटरके बारेमें जितना ज्ञान है वह पहलेसे प्राप्त कर लेना चाहिए। चालू कैसे होती है? करन्ट कैसे दौड़ता है? पेट्रोल कहाँसे जाता है? यदि आप अपनी मशीनको समझकर उसको चलावें तो '**श्रेयो हि ज्ञानं अभ्यासात्**'। **ज्ञानरहित अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ** है।

'ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते'। अब यह तो दुनियाका ज्ञान आपको प्राप्त होता है, भिन्न-भिन्न विषयोंका।

****

ज्ञान तो प्राप्त कर लिया, लेकिन चिन्तन करके उसके रहस्यको नहीं समझा। पद्म पुराणमें एक अध्याय ही है जिसमें 'ज्ञान' और 'ध्यान' दोनोंका तुलनात्मक विवेचन है। ज्ञान और ध्यान-पद्मपुराणमें सोमशर्माकी कथा आती है। उसमें इसका विवेचन है। किसीका जानना, यह दूसरी बात है और उसके ध्यानमें तदाकार हो जाना, यह दूसरी बात है।

अब यहाँ ज्ञान शब्दका अर्थ ब्रह्मज्ञान नहीं है। समग्र अभ्यासके मूलमें जो ज्ञान होना चाहिए वह ज्ञान है। क्योंकि सब चीजका ज्ञान अपनी अलग-अलग विशेषता रखता है। रातको आपको घड़ी देखनी हो तो रोशनी चाहिए। परन्तु रोशनी देखनी हो तो रोशनी नहीं चाहिए। रोशनीको तो आँख ही देख लेगी। ज्ञानका रीति अलग हो गयी न! अब हमारी आँख है कि नहीं, इसको देखनेके लिए आँख नहीं चाहिए। इसको तो हमारी बुद्धि देख लेगी। बुद्धिको देखनेके लिए बुद्धि नहीं चाहिए, उसको तो साक्षी हो देख लेगा। यह नहीं कि सब चीजें एक ही तरहसे जानी जाती हैं। सब चीजोंके जाननेकी शैली अलग-अलग होती है। आँखसे रूप जाना जाता है शब्द नहीं, और कानसे शब्द जाना जाता है, रूप नहीं।

'स्वविषयशूराणि इन्द्रियाणि भवन्ति'। सारी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयमें पहलवान होती हैं। दूसरे इन्द्रियके विषयको वे नहीं जान सकतीं। एक ज्ञान होता है, जिसको जाननेके बाद कुछ करना पड़ता है और एक ज्ञान ऐसा होता है जिसको जाननेके बाद कुछ करना नहीं पड़ता। वह क्या है-आप दूसरेके बारेमें यदि जानेंगे कि वह कैसा है? यदि बुरा आदमी है तो उससे परहेज करेंगे और अच्छा आदमी है, तो उससे मिलेंगे-जुलेंगे। अच्छे आदमीका ज्ञान, बुरे आदमीका ज्ञान। वह आपकी क्रियामें फरक डालेगा, अन्तर डालेगा। एक ज्ञान यह हुआ। दूसरेको जानेंगे तो पकड़ें या छोड़ें, यह निश्चय करना पड़ेगा। अन्य सम्बन्धी जितना भी ज्ञान होता है, उसमें दो विशेषता होती है। एक तो उसको जानकर, उस ज्ञानको प्राप्तकर कुछ करना पड़ता है और दूसरे उस ज्ञानका संस्कार अपने हृदयमें जमा होता है और बादमें स्मृति होती है।

परन्तु अपना जो ज्ञान है वह न पकड़नेके लिए होता है, न छोड़नेके लिए। क्योंकि न तो अपनेको पकड़ जा सकता और न छोड़ा जा सकता। इसलिए जैसे घड़ेका ज्ञान होता है, कपड़ेका ज्ञान होता है, भले मानुषका, बुरे मानुषका ज्ञान होता है, वैसा अपना ज्ञान नहीं होता है। यहाँ अभ्यासका हेतु जो ज्ञान है, जिससे अभ्यास सुन्दर होता है और जिससे बढ़कर ध्यान है, वह अन्य वस्तुका ज्ञान है। अन्यके रूपमें परमात्माका ज्ञान है अथवा अन्यके रूपमें जगत्‌का ज्ञान है। ज्ञानरहित अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञानयुक्त अभ्यास श्रेष्ठ है। और 'ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते'। केवल दूसरी वस्तुको हम जान लें-हम यह जानते हैं, यह जानते हैं, इससे अच्छा है कि अभ्यास करके उसका ध्यान करे लें। ध्यानसे भी बड़ा क्या है? तो सीधी बात तो यही आती है कि 'ध्यानात् कर्मफलत्याग:'। ध्यानसे कर्मफलका त्याग। ध्यान तो करें लेकिन ध्यानरूप कर्मका फल छोड़ दें। अच्छा उस बातको यदि छोड़ दें-चौथे नम्बरका सर्वकर्मफल-त्याग दें-तो इसमें-से भी, फलत्याग करनेसे तत्काल वहाँ कर्म ही शान्तिरूप बन जायगा।

आप विक्षेपमें भी शान्त रहेंगे यदि आप अपने कर्मका कोई फल नहीं चाहते हैं। शान्ति अगर प्राप्त

करना है तो फलकी वासना छोड़ देना जरूरी है। अब इस विराट् भगवान्‌का जो ज्ञानी, विवेकी भक्त है-उसके विषयमें कुछ कहना है। विवेक माने पृथक्करण-'विचिर् पृथग्भावे, विवेचनं विवेक:'। विवेक माने, दो चीजें एकमें मिल गयी हों तो उनको अलग-अलग करके, विश्लेषण करके, प्रयोगशालामें जैसे देख लेते हैं, इसमें क्या-क्या चीज है, वैसे देख लेना। भक्त चार तहरके होते हैं-यह बात पहले बतायी है।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोर्जुन।
आर्तो जिज्ञासु अर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ 7.16

देखो, पापी लोगोंकी तो भगवान्‌में श्रद्धा ही नहीं होती है! किसने देखा है ईश्वरको?

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ 7.15

एक शास्त्रार्थ-महारथी थे दिल्लीमें-माधवाचार्य। जिनकी पुस्तक 'क्यों?' बहुत प्रसिद्ध हुई। बम्बई गये। उनका व्याख्यान नर-नारायणके मन्दिमें हुआ। तो उन्होंने गीतापर जो अनुसन्धान किया था, उसको प्रकट किया। अनुसन्धान तो उनके बहुत अच्छे-अच्छे थे पर उनमें एक अनुसन्धान यह भी था कि गीतामें श्रीकृष्णने 108 गाली दी है। बोले इतने भले मानुष होकर-धर्मराज युधिष्ठिर जिनका इतना आदर करते थे, बड़े-बड़े महापुरुष आकर जिनके चरणोंमें प्रणाम करते थे, उनको यह गाली देनेका अभ्यास कहाँसे आगया? 'नराधम' को गाली ही तो बोलते हैं।

गीताप्रेसमें एक सज्जन थे, वे अपनेको अधम बोला करते थे। उन्होंने अपना नाम अधम रखा था। यदि देवधरजी कभी अधमाधम बोल देते तो वे चिढ़ते थे। और स्वयं अपने आपको अधम लिखा करते थे। उनका उपनाम अधम था। भगवान् स्पष्ट रूपसे कहते हैं कि जो मेरा भजन नहीं करते हैं वे दुष्कृति हैं, पापी हैं, मूढ हैं और नराधम हैं। मायाने उनका ज्ञान हर लिया है और वे आसुर भावको प्राप्त हो गये हैं। इस गालीसे बचना चाहो तो भगवान्‌की भक्ति करो-उन्होंने 108 गाली ढूँढी थी। उनमें आप लोगोकी दिलचस्पी नहीं होगी, यह मैं जानता हूँ। एक सज्जनने कोई कोश लिखा था-एक महिलाने उसका अध्ययन किया। अध्ययन करके उनको लिखा-आपने अपने कोशमें 144 अश्लील शब्दोंका प्रयोग किया। उन्होंने लिखा-धन्यवाद, आपकी दिलचस्पी अश्लील शब्दोंके अनुसन्धानमें इतनी अच्छी है-आओ, गन्दगीकी बातें छोड़ दें। जो भगवान्‌की भक्तिसे विमुख हैं, उनकी भगवान् निन्दा करते हैं और जो भगवान्‌की भक्ति करते हैं उनको पुण्यात्मा बोलते हैं।

चतुर्विधा भजन्ते मां जना सुकृतिनोऽर्जुन।

वे सुकृति हैं जो मेरा भजन करते हैं। और वे भजन करनेवाले चार प्रकारके होते हैं। 'आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ'। एक तो आर्त होते हैं, जैसे गजेन्द्रको ग्राहने पकड़ लिया। जो अभिमानी होता है उसको दुराग्रह पकड़ता है। अभिमानी आदमी दुराग्रही हो जाता है-आप जानते हैं-ज्योतिषियोंके ग्रह तो आसमानमें रहते हैं। व्याकरणमें ज्योतिषियोंका एक नाम खसूचि है। खसूचि माने आसमानके चुगलखोर। वे

धरतीकी ओर नहीं देखते। सातवें आसमानकी ओर देखते हैं। और जो अभिमानी होता है वह अपने हृदयमें आकर ग्रहोंको बसा लेता है। तो विग्रह, संग्रह, परिग्रह, उपग्रह, आग्रह ये सब ग्रह-राहु, केतु, शनैश्चर सब अभिमानीके दिलमें ही अपना काम करते रहते हैं।

यह आग्रह हृदयका ग्रह है-दुराग्रह अन्त:करणका ग्रह है। आसमानका नहीं है-हृदयाकाशका ग्रह है। यह अभिमानी गजेन्द्र और उसका दुराग्रह रूप जो ग्रह है, उसने उसके पाँवको पकड़ लिया-मुक्त नहीं होने देता था तो भगवान्‌ने पहले उसके दुराग्रहको आकर छुड़ाया फिर गजेन्द्रके अभिमानको तोड़ा। वह दुराग्रहके फन्देमें फँसकर आर्त हो गया था। द्रौपदी, दु:शासनके चक्करमें पड़ गयी। दुर्योधनकी सभामें आर्त हो गयी। भगवान्‌ने उसकी आर्त प्रार्थना सुनकर उसको मुक्त किया। जिज्ञासु उद्धव, आदि हैं, अर्जुन जिज्ञासु है और नारद, सनकादि ज्ञानी हैं। इनमें दोनों तरहके होते हैं! दत्तात्रेय आदि भी ज्ञानी हैं और सनकादि भी ज्ञानी हैं-कोई ज्ञानी होनेपर भक्त होते हैं, कोई ज्ञानी होनेपर स्वतन्त्र रहते हैं।

सर्वथा वर्तमानोपि न स भूयोऽभिजायते। 13.23
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते। 6.31

ज्ञानी स्वत्रन्त्र है, उसकी रुचि हो तो भक्ति करे, न रुचि हो तो न करे। मधुसूदन सरस्वतीने 'च' शब्दका अर्थ-प्रेमीको भी ज्ञानीके अन्तर्गत मानना चाहिए ऐसा किया है। ये चार प्रकारके होते है। अब प्रश्न यह है कि बारहवें अध्यायमें जो 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्र: करुण एव च। निर्ममो निरहंकार: समदु:ख सुख: क्षमी'। (12.13) यह जो लक्षण बताया, यह आर्तभक्तका है कि जिज्ञासु भक्तका है कि अर्थार्थी भक्तका है? ध्रुव आदिको अर्थार्थी मानते हैं।

हमारे एक महात्मा कहते थे, कि जब श्रीकृष्ण विरह हुआ तब गोपियाँ आर्त हो गयीं। वह आर्त-भक्ति है और जब वे बन-बनमें घूम-घूमकर वृक्ष, लता आदिसे पूछने लगीं तब वह जिज्ञासु हो गयीं और जब गोपीगीतका उन्होंने गान किया तब अर्थार्थी हैं और जब भगवान् मिल गये तब वे ज्ञानी हो गयीं। गोपियोंमें ही चारों प्रकारकी भक्ति है। वे कहते थे, ऐसा अर्थ नहीं मानोगे तो आर्तके बाद अर्थार्थीका नम्बर आना चाहिए, जिज्ञासुका नहीं आना चाहिए। आर्तके बाद जिज्ञासु क्यों होना चाहिए? आर्तके बाद जिज्ञासु है, इसलिए गोपियोंके जीवनमें यह क्रम बैठ जाता है।

ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:

●

प्रवचन : 8

18-11-83

कल आपको सुना रहा था कि जो चार प्रकारके भक्त होते हैं, उनमें-से ये लक्षण केवल ज्ञानी-भक्तमें पूरी तरहसे रह सकते हैं। इसलिए यहाँ ज्ञानी-भक्तका लक्षण बताया गया है। दूसरे अध्यायमें कर्मकी प्रधानतासे स्थितप्रज्ञका लक्षण है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ 2.64

राग-द्वेषसे रहित होकर संसारका सब व्यवहार करते हुए, मनुष्यको शान्ति प्राप्त हो जाती है। बुद्धि स्थिर होनी चाहिए। निश्चयका पक्का होना चाहिए और काम करता हुआ होना चाहिए। तेरहवें अध्यायमें जिज्ञासुका लक्षण बताया है। 'अमानित्वम् अदम्भित्वम् अहिंसाक्षान्तिमार्जवम्।' चौदहवें अध्यायमें विवेककी प्रधानतासे, ज्ञानकी प्रधानतासे, 'नान्यं गुणेभ्य: कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति। गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।' कहा गया है। वहाँ ज्ञानकी प्रधानतासे ज्ञानी पुरुषका वर्णन है। रात आये, दिन आये, रोशनी आये, प्रवृत्ति आये, मोह आये, ज्ञानी पुरुष ज्यों-का-त्यों अपने स्वरूपमें मगन। अठारहवें अध्यायमें जो साधक है, उसकी प्रधानतासे-

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानस:॥ 18.51-52

ध्यानयोगीको कैसे रहना चाहिए यह बताया। बारहवें अध्यायमें भगवान् लक्षण तो ज्ञानीका ही बताते हैं परन्तु उसमें एक विशेषता जोड़ देते हैं।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थं अहं स च मम प्रिय:।
उदारा: सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थित: स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ 7.17-18

अत्यर्थ प्रिय:। 'अर्थम् अतिक्रान्त:' है। हमारे और हमारे भक्तके बीचमें कोई अर्थ नहीं है। बीचमें धन रख लिया, अब ग्राहक करता है दुकानदारसे प्रेम और दुकानदार करता है ग्राहकसे प्रेम। दोनोंके प्रेमके बीचमें अर्थ है। दुकानदार और ग्राहकका जो परस्पर प्रेम है वह बीचमें अर्थको रखकर है और भगवान् और ज्ञानीका जो प्रेम है वह अत्यर्थ है; अर्थका अतिक्रमण करके है। 'अहं स च मम प्रिय:।' मेरे और ज्ञानी भक्तके बीचमें कोई धनदौलतका, कुछ लेने-देनेका सवाल नहीं है। वैसे ही ज्ञानी-भक्तका यह लक्षण है। क्योंकि वहाँ ज्ञानी-भक्त प्रिय है-यह बात बतायी और ज्ञानीका प्रिय मैं हूँ यह बताया। वही यहाँ लक्षणोंमें है-'यो मद्भक्त: स मे प्रिय:।' जो मेरा भक्त है, वह मेरा प्रिय है। माने भगवान्‌ने अपनी प्रियताको विविक्त कर दिया। सबने प्रेम करते

****

हैं परन्तु सबसे साधारण प्रेम है और भक्तका जो प्रेम है वह विशेष प्रेम है। यह बात गीतामें जहाँ-जहाँ ऐसा प्रसंग आया है-बिलकुल स्पष्ट कही है।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ 9.29

मैं सबके प्रति सम हूँ। मैं किसीसे द्वेष भी नहीं करता और किसीके प्रति मेरी आसक्ति भी नहीं है। परन्तु जो भक्तिके साथ मेरा भजन करते हैं, '**मयि ते तेषु चाप्यहम्**'-मैं और वे एक हो जाते हैं। मुझमें वे, उनमें मैं। अब यहाँ '**यो मद्भक्तः स मे प्रियः**' यह इसका सम है। यह नहीं कहते हैं-सब मेरे प्यारे हैं। यह परस्पर प्रेम है। एकांगी प्रेम नहीं है। भगवान् भी प्रेम करते हैं। खास करके हमारे भगवान् अपने भक्तके लिए रोते भी हैं। ऐसा भागवतमें वर्णन है।

रुक्मिणीके लिए श्रीकृष्णको नींद नहीं आती है। सुदामाके गले लगने पर श्रीकृष्णकी आँखोंसे झर-झर आँसू गिरते हैं। और '*पानी परातको हाथ छुयो नहीं-नैननके जलसे पग धोये।*' देखो हम नाम लेकर बोलते हैं-ऐसे भगवान् आर्यसमाजीके पास नहीं हैं जो अपने भक्तके लिए रोवें और तारे गिनगिनकर रात काटें। ब्रह्मसमाजीके पास नहीं है, पारसीके पास नहीं है, यहूदीके पास नहीं है। ऐसे भगवान् जो अपने भक्तके लिए रोते हों हमारे वैदिक धर्मके सिवाय और किसी मजहबमें नहीं हैं। होंगे निराकार, होंगे निर्गुण, होंगे न्यायकारी, होंगे सबके प्रति समान। जब तक भगवान् अपने भक्तका पक्षपात नहीं करेंगे तब तक उनकी भक्ति कोई क्यों करेगा?

ज्ञानी भक्तकी अब पहचान बताते हैं।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकार समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ 12.13-14

ये दो श्लोक एकमें हैं। एकान्वयी हैं। संसारके किसी भी प्राणी या पदार्थसे भी जिसका द्वेष न हो वह अद्वेष्टा है। देखो द्वेष जिससे किया जाता है, उसकी कोई हानि हो कि न हो, सम्भव है हो जाय, सम्भव है न भी हो। सम्भव है द्वेषका विषय होकर वह वैराग्यवान् हो जाय। ऐसा भी सम्भव है कि संसारमें द्वेषका विषय होनेके बाद वह सोच ले कि संसारमें कोई प्रीति करनेवाला नहीं है। अब तो हम भगवान्से ही प्रीति करेंगे। वैराग्य भी हो सकता है, द्वेषका पात्र होनेपर, भगवान्से प्रेम भी हो सकता है, जिज्ञासाका भी उदय हो सकता है। जिससे द्वेष किया जाता है उसकी हानि नहीं होती। जो द्वेष करता है, उसकी हानि होती है।

ज्वलनात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषो द्वेषः।

द्वेष किसको कहते है? अपने हृदयमें जलन होती है। कोई-कोई चीज देखकर भी किसीको जलन होती है। आदमी देखकर होती है, पशु देखकर होती है, पक्षी देखकर होती है। पेड़-पौधा देखकर होती है।

****

****

किसी-किसीका स्वभाव ही जलनका होता है। पित्तकी अधिकतासे भी द्वेष होता है। भक्त वह है, जिसके दिलमें कभी, किसीके लिए आग नहीं जलती।

अब पहली बातके साथ इसका मिलान कर लो। आग जहाँ जलती है, पहले उसको जला देती है फिर दूसरेको जलाती है। यदि हमारे हृदयमें किसीके प्रति द्वेष होगा तो हमारा हृदय जलता रहेगा और इसमें एक मूर्खता, एक अन्धता यह आती है कि द्वेष होता है किसीसे और हम बरस पड़ते हैं किसीके ऊपर। कहते हैं-'ठोकर लगी पहाड़में फोड़ी घरकी सील।' पिटकर आते है कहींसे, गाली सुनकर आते हैं कहींसे, चिढ़कर आते हैं कहींसे और जहाँ सोचते हैं कि अब यह तो कुछ जवाब देनेवाला नहीं है, उसीके ऊपर बरस पड़ते हैं। ऑफिसमें पिटकर आवेंगे, पत्नीपर नाराज होंगे और पत्नी अगर तेज निकली तो बच्चेपर नाराज हो जावेंगे। इतना मूर्ख बनाती है द्वेषरूपी यह आग, दिलमें जलनेवाली आग।

'सर्वभूतानाम्' कहनेका अर्थ यह है-'भवन्ति इति भूतानि सर्वाणि च तानि भूतानि-सर्वभूतानि, तेषां सर्वभूतानाम्'-जो भी पैदा हुई चीज है वह भूत है। ज्ञानीजी महाराजको सावधान रहना चाहिए कि ये दृश्य कहकर, उत्पन्न कहकर, विनष्ट कहकर कहीं दुनियासे द्वेष न करने लगें। घृणा न हो किसीसे, ग्लानि न हो किसीके प्रति और जब मनमें द्वेष आ जाता है तो वह तो संस्कारके रूपमें रहता है, लेकिन जब वृत्तिमें आता है तब उसका नाम क्रोध हो गया और जब इन्द्रियोंमें उतर आया, क्रोधमें आकर बोलने लगे या मारने लगे तब मारनेवाले ऐसा करते हैं कि कभी अपना बाल नोचने लगते हैं। आपलोगोंने ऐसा क्रोध देखा है कि नहीं! हमने देखा है। अपना ही सिर पटक देते हैं पत्थरकी दीवार पर। क्रोध जब क्रियामें आता है तो उसका नाम हिंसा हो जाता है और वह जब सार्वजनिक रूप धारण करता है तब विद्रोह हो जाता है।

यह द्वेषका वंश है। द्वेषका बेटा क्रोध, क्रोधकी बेटी हिंसा-हिंसाका बेटा विद्रोह। यदि जीवनमें द्वेष आगया तो आदमी स्वयं जल जायगा। इसलिए जिस हृदयमें भगवान्को रहना है या देखना है, उसमें पहलेसे ही तकलीफ पाले रहते हैं! जब हम किसीसे द्वेष करते हैं, तब हमारे प्यारे भगवान्, हमारे प्रेमी भगवान् जो हमारे हृदयमें रहते हैं उनको हमारे द्वेषकी आँच लगती है। लेकिन फिर भी वे सहते रहते हैं, छोड़कर जाते नहीं हैं। चले थे भगवान्की सेवा करने और दुःख पहुँचाने लगे। सबसे पहली बात ध्यानमें रखनेकी है कि हमारे हृदयमें कोई ऐसी चीज न रहे कि हमारे हृदयमें विराजमान जो भगवान् हैं, वे उसे देखकर दुःखी हों। वह दुःखी हो जायँ ऐसी कोई चीज हमारे दिलमें नहीं रहनी चाहिए। हमारे घरमें अच्छा मेहमान आता है तो रास्तेकी भी सफाई कराते हैं। श्रीहरिबाबाजीका कहीं जाना होता था तो उस गाँवके लोग मीलों तक रास्ता साफ कर देते थे। बाँधकी, मकानकी मरम्मत हो जाती थीं। घरमें सफाई हो जाती थी और हमारे घरमें भगवान् रहें और हम अपने दिलको साफ न रखें-यह कितने दुःखकी बात है। रोज पढ़ते हैं-

ईश्वरःसर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। 18.61

ईश्वर रहता हृदयमें है। किसीके प्रति द्वेष न हो। यह बात तो दूसरे धर्मोंमें भी होती है। यह सर्वमान्य है। यह बात इन्होंने आगे बढ़ायी। केवल किसीको दुःख न पहुँचाकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए, अपने

****

हृदयमें मित्रताका भाव होना चाहिए। मित्र शब्दकी जो संस्कृतमें धातु है वह है 'मिदा स्नेहने' 'मेद्यति इति मित्रम्'। जो स्नेहसे तर कर दे। और उस मित्रका जो भाव है, उसको बोलते हैं 'मैत्री' और उस भावसे सम्पन्न व्यक्तिको बोलते हैं 'मैत्र'। सबके प्रति हमारे हृदय में स्नेह हो। पौधेको भी सूखने न दें। धरतीपर चलें तो स्नेहसे चलें। धमाधम-धमाधम धरतीको पीटते हुए नहीं चलना चाहिए। बोले तो इतनी सावधानीसे बोलना चाहिए कि किसीके कानमें उसकी चोट न लग जाय। क्योंकि जो हम शब्द बोलते हैं वह कानोंसे झिल्लीमें जाकर टकराता है। तो अधिक जोरसे न टकरावे।

बम्बईमें एक बाजार है वहाँ बहुत करके मारवाड़ी लोग ही होते हैं, इतना चिल्लाते हैं कि वहाँ खड़ा होना मुश्किल। लिया-लिया, दिया-दियाके शोरसे कान गूँजता रहता है। यह व्यापार तो इशारेसे करनेका है। लिया-दिया भी व्यापार इशारेसे होता है। दूसरेसे कानमें चोट नहीं पहुँचानी चाहिए। 'मैत्रः'-देखो स्नेहसे-बोलो स्नेहसे, चलो स्नेहसे। खाटपर बैठे और ऐसे धमसे बैठे कि टूट ही गयी। खास करके हमारे जैसा वजनदार हो तो बहुत ही डर है। बिस्तर लेकर झाड़ दिया। किसकी आँखमें उसकी धूल पड़ रही है, इसका कोई ध्यान नहीं है। पंखा करते हैं तो स्नेहसे-हमको कई लोग पंखा करते हैं-तो हमको लग रहा है-यह भी भूल जाते हैं और पासमें बैठे आदमीकी आँखमें लग रहा है यह भी भूल जाते हैं। 'मैत्र' का अर्थ है-हमारी चलन, हमारी बोलन, हमारी करनी, हमारी रहनी सब स्नेहसे तर हो।

'मैत्र' चुन-चुनकर स्नेह नहीं करता है, जो अपने सम्पर्कमें आवे उसको एक गिलास पानी पिलाकर भेजो, प्यारसे अपनेसे ऊपर बैठा लो, हाथ जोड़ लो। उसको घी मत खिलाओ, दूध मत पिलाओ पर अपना स्नेह तो दो। यह घी, दूध, दही, मक्खन, रबड़ी, मलाईसे बड़ी चीज है। यह सब बाहरकी चिकनाई हैं। अपने दिलका स्नेह दो जो तुम्हारे पास आवे। पहले सन्ध्यावन्दनके समय एक मन्त्र पढ़ते थे। अब तो सुनते हैं-सन्ध्यावन्दनकी पुस्तकमें-से लोगोंने इसको निकाल दिया।

'मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्तां-मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे-मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे' (यजुर्वेद 36.18)।

सन्ध्या-वन्दनका यह मन्त्र पढ़ते थे। आप सब लोग मित्रके नेत्रसे सबको देखिये। मैं मित्रके नेत्रसे देखता हूँ और हम सब लोग मित्रके नेत्रसे देखते हैं। आपका कोई दुश्मन नहीं है। 'अब हम कासों बैर करौं'। कोई आपको नुकसान पहुँचानेवाला नहीं है। आप जो नुकसानका ख्याल करते हैं वह आपका नुकसान नहीं है। उसमें आपका फायदा है। समयपर मालूम पड़ता है-अच्छा हुआ। कभी-कभी तो किसीका मरना भी, बादमें मालूम पड़ता हैं कि इसमें क्या लाभ था, इसमें क्या हित था। 'करुण एव च'। अब योग-दर्शनकी दृष्टिसे मिलावें-तो द्वेष तो किसीसे नहीं करना; लेकिन किसीको सुखी देखो तो ईर्ष्या हो जाती है, स्पर्धा हो जाती है, डाह हो जाता है।

बोले-नहीं, सुखीके साथ मित्रता करो। जो भी सुखी हो रहा है, वह तो हमारा मित्र है, उसके सुखमें हमारा सुख है। दुनियामें कोई भी सुखी है तो हमारा भाई सुखी है-हमारी बहन सुखी है-हमारा पिता सुखी है,

हमारा पुत्र सुखी है। दुनियामें कोई भी सुखी हो, उसके प्रति मित्रताका भाव करके उसके सुखको अपने अन्दर ले लेना। सुखीको देखकर स्वयं सुखी हो जाना और दुःखी मिले तो-'करुण एव च'। सामान्यके प्रति 'अद्वेष', सुखीके प्रति 'मित्रता' और दुःखीके प्रति 'करुणा'। योग दर्शनमें ऐसे है-मैत्री करुणा मुदितोपेक्षाणाम्' (1.33)। करुणा माने हृदय-इसमें जो कठोरता है-दुःखीको देखकर द्रवित हो जाय। हमारे योगियोंके योगसे यह बड़ा योग है। 'स योगी परमो मतः' गीतामें ही है-

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुनः।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ 6.32

परम योगी है। आँख बन्द करके जो समाधिमें बैठा है वह तो योगी है और जो दुःखीको देखकर उसके साथ एक हो गया और यथाशक्ति, यथाबुद्धि, उसके दुःखको दूर करनेका प्रयास करता है वह तो परम योगी है। योगी गुफामें बैठा हुआ नहीं है, आँख बन्द किये हुए नहीं है। सड़कपर चलता हुआ सर्वत्र-'आत्मौपम्येन सर्वत्र समम्'-रास्तेमें चलते हुए समान देखता है।

मैंने सुना है कोई अमेरिकाके प्रेसीडेण्ट थे। वह अपने स्वागतके लिए जा रहे थे। रास्तेमें देखा कि कोई आदमी कीचड़में फँस गया है। मोटर रोककर स्वयं उतर पड़े और जाकर उसको कीचड़से निकाला। उनके शरीरमें कीचड़ लग गया। जब स्वागत-सभामें जाने लगे, तो द्वारपालोंने रोक दिया। राष्ट्रपतिका स्वागत हो रहा है। आप इसमें कैसे जा सकते हैं? फिर वे लौटकर गये, कपड़े बदलकर आये और जब स्वागत होने लगा तो उन्होंने बताया कि आप लोग कपड़ोंका स्वागत कीजिये, मेरा स्वागत मत कीजिये। आप कपड़ोंके प्रेमी हैं, मनुष्यके प्रेमी नहीं हैं।

वाल्मीकिरामायणके पहले-दूसरे अध्यायमें अयोध्याकाण्डमें रामचन्द्रजीके गुणोंके एक सूची है। आप लोगोंको कभी मनुष्यके जीवनमें कितने गुण होने चाहिए, यह देखनेका यदि शौक हो, तो रामचन्द्र कैसे बोलते हैं, कैसे चलते हैं, कैसे मिलते हैं, बड़ोंसे कैसा व्यवहार करते हैं, मेरा ख्याल है 70-80 गुणोंकी एक साथ लिस्ट इस अध्यायमें बनी हुई है। दशरथजीने जब प्रस्ताव किया कि रामको युवराज बना दें, तो प्रजाने जयजयकार किया। सबने अपनी राय दे दी! अब दशरथजीने प्रश्न कर दिया कि तुम लोगोंने हमारी हाँ-में-हाँ मिलानेके लिए यह स्वीकृति दी है कि सचमुच राममें कोई ऐसी विशेषता है?

उस समय प्रजाने भी और दशरथने भी रामचन्द्रके गुणोंका वर्णन किया है। दुःखीको देखकर दुःखीसे भी ज्यादा दुःखी हो जाते हैं। कहते हैं-यह जो दुःखी है यह मेरी वजहसे दुःखी है। अगर मैं इसका ध्यान रखता तो यह दुःखी क्यों होता? दुःखी होनेमें दोष दुःखी होनेवालेका नहीं है, दुःखी होनेमें दोष मेरा है- ऐसा रामचन्द्र मानते थे। आओ-

निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।

मित्रता करो, करुणा भी करो लेकिन जिससे मित्रता करो, जिसपर करुणा करो, उसको भगवान्‌का ही समझो, अपना मत समझ बैठो। नहीं तो राजा भरतकी जैसी हरिणमें आसक्ति हो गयी थी, वैसे हो जायेगी।

‘निर्मम’-मम-मम-मम-मेरा-मेरा-मेरा-ऐसा ‘मेरा’ दिमागमें चढ़ा रहता है। अभी हम एक बालकका वर्णन करें जिसको हमने कहीं देखा था। कई लोगोंके मनमें अपने बालककी याद आजावेगी। और यदि उसे बोलनेका मौका होता है तो उसका वर्णन करना शुरू कर देता है। किसी लड़कीका वर्णन करें-झट वह अपनी लड़कीका वर्णन शुरू कर देता है। हमको तो चुप हो जाना पड़ता है। ममता-ममता-ममता--‘निर्मम’ तो गीतामें बहुत जगह है।

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥ 2.71

ममता सुखसे, शान्तिसे बैठने नहीं देती। ममता तू न गयी मेरे मनसे। ममता बहुत दुःख देती है। करुणा करो, मैत्री करो, स्नेह करो सबसे, मिलो-जुलो सबसे, लेकिन मेरा-मेरा मत करो। देखो, यह धरती है, जब हमलोग नहीं थे तब भी थी, और नहीं रहेंगे, तब भी रहेगी। हीरा है, मोती है, सोना है, चाँदी है, हमलोग नहीं थे तब भी थे और हमलोग नहीं रहेंगे तब भी रहेंगे। वे हमको मेरा कभी नहीं कहते हैं। हम ही उनको मेरा कहकर फँस जाते हैं।

यहाँ एक जयदयालजी कसेरा थे-उनके सम्बन्धी यहाँ बैठे हैं। तो कहते थे-पण्डितजी! (मैं उन दिनों संन्यासी नहीं था) हमको आधा ब्रह्मज्ञान हो गया है। कसेराजी, आधा ब्रह्मज्ञान कैसा होता है? आधा ऐसा होता है कि ज्ञानमें दो चीज होती है-सब चीजको अपनी समझना और अपनी चीजको सबकी समझना। तो मुझे आधा हो गया! सबकी चीजको अपनी समझता हूँ, यह तो आधा हो गया। पर अपनी चीजको सबकी नहीं समझता हूँ। यह आधा अभी बाकी है। जल्दी क्या है? इस जीवनमें नहीं, अगले जीवनमें सही! इसकी कोई जल्दी नहीं है। बहुत हँसाते थे।

एकबार हमलोग तीन महीने उनके साथ रहे। ट्रेनमें यात्रामें गये थे। एक ही डब्बेमें एक बर्थ हमारी थी एक उनकी। अपने सुना हो कि न सुना हो, यहीं सड़क पर उनके बेटेका एक्सीडेण्ट हो गया। पुलिसने जब उनको फोन किया तो उन्होंने पूछा—जिन्दा है कि मर गया? पुलिस बतानेमें घबड़ाती थी। तब बोले कि साफ-साफ बताओ—जिन्दा है तो अस्पताल चलनेकी सामग्री हम लेकर आवें और यदि मर गया तो हम लोगोंको कहकर उसको श्मशान लें चलनेकी तैयारी करें। साफ-साफ बताओ। और वे जब लार्ड साहबके पास भी गये तो ऐसे ही बोलने लग गये—‘जयराम हरे, सुखधाम हरे’। किसीने कहा—अरे यहाँ ऐसे बोलते हो! उन्होंने कहा—यह रामका दरबार है, रावणका दरबार थोड़े ही है। बड़े बेफिक्र थे—दुःखकी स्थितिमें भी मस्त रहते थे। आदमीको अपना मन ही तो बनाना है।

‘निर्ममो निरहंकारः।’ अहंकार-बाहरी चीजोंका अहंकार होता है वह तो झूठा है ही, विद्या है, बुद्धि है, जाति है, धन है—ऐश्वर्य माने हुकूमत है, झूठा अहंकार है सब-का-सब। अपनी विद्या भी समय पर साथ नहीं देती है। बुद्धि भी साथ नहीं देती है। धन भी साथ नहीं देता है। आप लोग बुरा मत मानना—हम ऐसे अरबपतिको जानते हैं, जब उनकी छातीमें दर्द हुआ तो न पत्नी थी, न भाई थे—नौकर भी नहीं था। उन्होंने

स्वयं फोन उठाकर कहा तो डॉक्टर आ गया पर कार्डियोग्राम भी नहीं हुआ। और शरीर पूरा हो गया। उनके पास बड़ा धन, बड़ी सम्पदा, बड़े सेवक, बड़ी प्रतिष्ठा, परन्तु जब छातीमें दर्द हुआ तो कोई काम नहीं आया। सावधान रहनेकी चीज है।

हम किस बातको लेकर अहंकार करते हैं। इसका जो सबसे सूक्ष्म रूप है वह यह है कि और सबमें अहंकार है और मैं निरहंकार हूँ। और तो सब अहंकारी हैं, अभिमानी हैं—मैं ही एक ऐसा हूँ जो निरभिमानी हूँ। यह अपने आपको जैसे हम अपनी आँखसे नहीं देख सकते, वैसे ही है। आपने अपनी आँखकी पुतली कभी देखी है? आपकी आँखकी पुतली सबको देखती है, पर आँखकी पुतली शीशेमें देख सकते हैं, पर ऐसे नहीं देख सकते। न आँखसे आँख दिखती है। अपनी दिखने वाली आँख ही अपनेको नहीं देख पाती। यह अभिमान जो है—यह सबको अभिमानी देख सकता है, लेकिन अपनेको अभिमानके रूपमें नहीं देख सकता। यह तो भगवान्की बड़ी कृपा हो तब ममता और अभिमान छूटता है।

एक बात आपको सुनाते हैं—अहंकार जो है यह एकदम पिशाच जैसा है। इस ठूँठमें रहता है। हमारी समझमें नहीं आता है, कैसा है? जो लोग सोचते हैं कि अहंकार छूट जायगा तब ममता छूटेगी, वह गलत समझते हैं—ममता अहंकारके अधीन रहती है। जब पहले ममता निवृत्त होती है तब ममतावाला अहंकार निवृत्त होता है। अहंकार निवृत्त होनेपर क्या होता है? ‘समदुःखसुखः’—यह सुख आकर अहंकारको फुलाता है—और दुःख आता है तो यह अहंकार सूख जाता है। जो सुख और दुःख दोनोंमें न फूले, न पटके—न सुखमें सूजन आवे—न दुःखमें सूखना आवे। दुःख और सुख गीताका खास शब्द है और सभी लक्षणोंमें आता है। चाहे भक्तका लक्षण हो, ज्ञानीका लक्षण हो, स्थितप्रज्ञका लक्षण हो!

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते। 2.15

सुख आया तो दिनकी तरह आया। दुःख आया—रातकी तरह आया। रात भी आती है हमें विश्राम देनेके लिए, सुख देनेके लिए। ये दोनों हमारे जीवनको गढ़ते हैं। जैसे गरमी और सरदी, रात और दिन हमारे जीवनके लिए दोनों आवश्यक हैं—इसी प्रकार जीवनमें सुख-दुःख दोनों भगवान्ने बनाया है।

यह तो जीवनका एक सहज रूप है कि इसमें कभी दुःख आवे कभी सुख आवे। इस सहज गतिको कोई रोक नहीं सकता है। इसलिए हमेशा इसके लिए तैयार रहना चाहिए। और ‘क्षमी’—आजकल तो हिन्दीमें एक सक्षम शब्द है। पता नहीं कहाँसे आया? संस्कृतमें भी सक्षम शब्द है पर वह क्षमावान्के लिए है। ‘क्षमया सहितः सक्षमः’। और ‘क्षम’ तो होता है समर्थ। यह इस काममें अक्षम है ऐसा बोलते हैं, उसका अर्थ होता है—असमर्थ। लेकिन ‘क्षम’ बोलना होता है तो उसके साथ ‘स’ जोड़ देते हैं। वह भाषाकी प्रकृतिसे मेल नहीं खाता। सशक्त बोल सकते हैं। अब देखो—‘क्षमी’का अर्थ है—यदि दूसरा कोई अपराध करे तो—बोले क्षमा कर देंगे। स्वयं अपराध करना नहीं—अपराध करना तो क्षमा माँग लेना, दण्ड भोग लेना, पश्चाताप कर लेना, प्रायश्चित कर लेना—स्वयं! लेकिन दूसरेसे कोई अपराध हो जाय तो ‘क्षमा शान्तिः’।

अपनेमें शान्तिका बड़ा रूप है। अपनेमें शान्ति, अपराधीके प्रति जो क्षमा है, वही वास्तवमें क्षमा है। जो उपकार करनेवालेके प्रति भले मानुष है; उसका भले मानुष होना कोई गुण नहीं है। जो अपकार करनेवालेके प्रति सज्जन है वही असलमें सज्जन है। 'क्षमी'—यह ज्ञानी भक्तका जीवन है।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।

हम उदाहरण देकर बहुत-सी बात बता दें, पर अभी सात श्लोक हैं। हमेशा सन्तुष्ट रहो, खुश रहो—अमुक चीज मिलेगी तब हमको सन्तोष होगा ऐसा नहीं—स्वभावसे ही सन्तुष्ट रहो। धन मिलनेपर सन्तोष हो, भोजन मिलनेपर सन्तोष हो, इज्जत मिलने पर सन्तोष हो। सन्तोषको पराधीन मत बनाओ—स्वाधीन रखो। हमारा सन्तोष हमारे दिलमें हमेशा बना रहे। सन्तोषसे सन्त होता है, सन्त हो जाओगे। 'सन्तोषवन्तः खलु भाग्यवन्तः'। जीवनमें सन्तोष है वही भाग्यवान् है। नहीं तो प्यासा है, भूखा है, कंगाल है, इधर-उधर भटक रहा है।

'सन्तुष्टः सततम्'। सतत माने लगातार—हमेशा सन्तोष ही सन्तोष रहे। ऐसा कैसे होगा? बोले—योगी, भगवान्के साथ जुड़े रहो। भगवान्के साथ रहोगे—इससे बड़ी चीज हमें क्या मिलेगी जिससे हम सन्तुष्ट होंगे। देखो, हम हैं—हमारी सत्ता सन्तोषका हेतु होनी चाहिए। हम जानते हैं—हमारा होश-हवाश सन्तोषका हेतु होना चाहिए। योगी यह भूल जाता है—यतात्मा होकर प्रयास करो। इसमें हेतु-हेतुमद्भाव है—व्याख्यानकी यह पद्धति है। एकको पूरा करनेके लिए दूसरी बात कही जाती है।

प्रयास करो। प्रयास नहीं होता—अरे भाई निश्चय करो। जरा पक्का निश्चय करो कि हम प्रयास करेंगे। प्रयास करोगे, तो योग होगा—योग माने प्राणायाम करना नहीं—भगवान्के साथ जुड़े रहना, मिले रहना—और भगवान् आपके घरमें हैं जब, तो इससे बढ़कर और कौन-सी चीज आवेगी जिससे आपको सन्तोष मिलेगा। इससे बड़ी चीज दुनियामें मिलेगी? आप अमर हैं, आप ज्ञानस्वरूप हैं, आप परमानन्दरूप हैं, पूरी ईश्वरता आपके हृदयमें निवास करती है। निश्चय करो। निश्चय पक्का कब होगा?

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।

अपने मन और बुद्धिको मुझमें अर्पित कर दो। अर्पित कर दो का अर्थ क्या है? जैसे एक सोनेका पत्र है। उसमें मूर्तियाँ उभार दीं। यह महल है, यह मन्दिर है, इसमें देवता है, यह है सोना, यह गाय है, यह कुत्ता घूम रहा है। तत्त्वदृष्टिसे सब सोना है और मूर्तियाँ उसमें अलग-अलग उभारी गयी हैं—ठप्पेसे उभारी गयी हैं या गलाकर उभारी गयी हैं या पीटकर उभारी गयी हैं—है सब सोना।

आपको जो मन है, आपकी जो बुद्धि है, आपका जो जीवन है, ये भगवान्रूप स्वर्णमें घटित है—अर्पित है—पहलेसे ही अर्पित है। अक्षत लेकर, कुश लेकर भगवान्को अर्पण नहीं किया जाता है। यह तो भगवान्का है। यह बोध है कि हमारा जीवन भगवान्के जीवनसे, उनके ज्ञानसे, उनके आनन्दसे, उनके ऐश्वर्यसे हमारा जीवन बिलकुल अलग नहीं है। 'मय्यार्पितमनोबुद्धिः'—ऐसा जो मेरा भक्त है—ज्ञानी है, भक्त है वह मेरा प्रिय है।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः। 7.17

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ 12.15

बड़ी मुश्किलकी बात है। और यही एक श्लोक ऐसा है जो ज्ञानी हुए बिना जीवनमें घटित नहीं हो सकता। यही श्लोक शंकराचार्य पकड़ते हैं—यह लक्षण अज्ञानीमें कैसे आ सकता है? यदि वह साक्षी नहीं है, यदि वह ब्रह्म नहीं है, यदि वह सर्वात्मा नहीं है तो यह लक्षण किसी व्यक्तिका लक्षण कैसे हो सकता है? 'यस्मान्नोद्विजते लोकः'—जिससे दुनियामें किसीको उद्वेग नहीं होता। 'लोकान्नोद्विजते च यः'—जो दुनियामें किसीसे उद्विग्न नहीं होता, जो किसीको भय, घबराहट, उद्वेग देता नहीं है, और जो किसीसे भय, उद्वेग, घबराहट लेता नहीं है।

एक टीकाकारने लौकिक उदाहरण दिया है। बड़ा भयंकर समुद्र है। उसमें उत्ताल तरंगें उठ रही हैं और उसमें बड़े-बड़े मीलों लम्बे मगर हैं। लेकिन मगरसे समुद्र नहीं डरता है कि हमको खा जायगा और समुदसे मगर नहीं डरता है कि मैं इसमें डूब जाऊँगा। यह तो भगवद्-रूप समुद्र है, इसमें जीव रहता है। न जीवको भगवान्से डर है, न भगवान्को जीवसे डर है। दोनों एक है—ऐसा उन्होंने लिखा है। इसमें मुश्किल क्या है? हम किसीसे उद्विग्न न हों, यह तो हम साधनाके द्वारा अभ्यासके द्वारा, भगवद्-भक्तिके द्वारा, अपने जीवनमें ला सकते हैं कि हमारे इस नन्हेंसे दिलमें—उद्वेग न आने पावे, उछाल न हो। यह तो हम कर सकते हैं। पर हमसे किसीको उद्वेग न हो यह कैसे हो सकता है? दूसरेको हम उद्विग्न होनेसे कैसे बचा सकते हैं?

कुछ टीकाकारोंने संस्कृत व्याकरण लगाया—'यस्मात् नोद्विजते लोको'—'यस्मात् हेतुभूतात् लोको न उद्विजते'। जो स्वयं जान-बूझकर लोगोंके उद्वेगका कारण नहीं बनता है, माने जान-बूझकर लोगोंको उद्विग्न नहीं करता है, ऐसा अर्थ है। और किसीसे उद्विग्न नहीं होता। किसीसे उद्विग्न न होना यह तो सरल है। पर हमसे किसीको उद्वेग न पहुँचे, इसका उपाय क्या है? तब शंकर बोलते हैं—भाई! जब अपनेको साक्षीरूपमें, ब्रह्मरूपमें सबके आत्माके रूपमें अनुभव करोगे तो साक्षीसे किसीको उद्वेग नहीं होगा, ब्रह्मसे किसीको उद्वेग नहीं होगा। इसलिए ज्ञानी भक्तोंमें ही यह लक्षण आ सकता है। अज्ञानी भक्तोंमें यह लक्षण नहीं आ सकता।

यस्मान्नोद्विजतेलोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ 12.15

भगवान् बोलते हैं—मैं किससे प्यार करता हूँ? भगवान्का प्यारा—मरनेके बाद! नहीं, जिन्दा ही! मरनेके बाद भगवान्का प्यारा होता है, उसकी चर्चा यहाँ नहीं है। यह तो जिन्दा रहते ही भगवान्का प्यारा बनता है। और भला कौन ऐसा होगा जो यह न चाहे कि भगवान् हमारे प्रेमी हो जायँ। भगवान् प्रेमी होते हैं, तो बड़े मजेदार प्रेमी होते हैं।

भगवान् कहते हैं कि मैं तो अपने भक्तके पीछे-पीछे चलता हूँ कि उसके पाँवकी धूल मेरे ऊपर पड़

जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ! अरे प्रभु, तुम्हारे अन्दर ऐसी क्या अपवित्रता आगयी कि पवित्र होनेके लिए भक्तोंके चरणोंकी धूल अपने लिए चाहते हो! क्या अपवित्रता है? बोले हैं भाई—हमारे अन्दर एक अपवित्रता है—वह क्या है? कोई भक्त मुझसे प्रेम करता है तो वह सिर्फ मुझसे ही प्रेम करता है। और मैं ऐसा बहुवल्लभ हूँ कि जो भक्त मेरे सामने आता है उससे मैं यही सहता हूँ, तुम मेरे प्यारे हो! हमारा भक्त तो सचमुच हमसे प्रेम करता है, लेकिन मैं किसी एक भक्तसे नहीं करता। भक्त तो अनन्य हो जाते हैं पर मैं अनन्य नहीं होता। मेरी गलती है भाई! मेरे प्रेममें थोड़ा कपट, थोड़ी माया मिली हुई रहती है, इसलिए मैं सोचता हूँ चुपकेसे इसकी चरणकी धूल ले-लें तो पवित्र हो जायँ।

भक्त कौन? 'स च मे प्रियः'। भगवान्‌का प्यारा कौन? बोले जो दुनियाकी चीजोंको पाकर हर्षसे फूल नहीं जाता। जब आदमीको दुनियाकी चीज मिलनेपर खुशी होती है तो उसको दर्प हो जाता है। और जब दर्प हो जाता है तब वह धर्मका उल्लंघन करने लगता है कि हमारा कोई क्या करेगा? कई लोग विदेशसे आते हैं तो बड़े गौरवके साथ वर्णन करते हैं—वहाँ हमने अपना रात्रि-जीवन ऐसा व्यतीत किया, यह खाया, यह पिया, यह किया। बड़े गौरवके साथ। वे सोचते हैं कि हम कहेंगे तो लोग जानकर भी हमारा क्या बिगाड़ेंगे? यह दर्प है। पाप भी किया, बुरा भी किया और उसका दर्प भी प्रकट करते हैं। ऐसे दर्पवान् लोग जो हैं वे धर्मका अतिक्रमण करते हैं। हर्ष-अमर्ष- किसीके साथ चिढ़ नहीं होनी चाहिए। कोई कैसा भी हो, अपने दिलमें चिढ़ क्यों रहे हो? 'अमर्ष' माने असहिष्णुता—मर्षणकी अयोग्यता। और भय, किससे डरें? बाबा, जिसका रक्षक कोई न हो डरा करे। 'मोरे सँया भये कोतवाल—अब डर काहेका?' हमारे स्वामी तो भगवान् हैं; अब हम डरें किससे? हर्ष-अमर्ष, भय और उद्वेग—इनसे जो मुक्त रहता है, भगवान् कहते हैं मैं उनसे प्रेम करता हूँ। नहीं तो मैं उसका प्रेमी बनकर उसके पीछे-पीछे घूमूँ और वह दुनियाकी चीजोंको ले-लेकर खुश होता रहे! मैं उससे प्रेम करूँ और वह किसीसे चिढ़ता रहे! मैं उससे प्रेम करूँ और वह किसीसे डरता रहे? मैं किसीसे प्रेम करूँ और वह उद्विग्न रहे?

बाबा, हाथ जोड़ा—ऐसे लोगोंसे हम प्रेम नहीं करते! वे तो अपने प्रेमीको दुःख पहुँचायेंगे, सतायेंगे। जो इनको छोड़ देता है वह मेरा प्रिय होता है, मैं उसका प्रेमी होता हूँ, उससे प्रेम करता हूँ।

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति

●

प्रवचन : 9

19-11-83

भक्तके हृदयमें कोई उद्वेग नहीं रहता है। उद्वेग, घबराहट—ऐसी हूल उठती है जैसे दिल कलेजेसे बाहर हो जाय। हूल उठती है—भीतरका एक वेग जैसे कलेजेमें-से निकलकर मुँहके रास्ते बाहर जाना चाहता है। हम तो जानते नहीं उस शब्दका अर्थ क्या होता है—आजकल लोग आकर कहते हैं कि उनको 'डिप्रेशन' हो गया है। हम तो 'डिप्रेशन' का मतलब नहीं जानते हैं। भक्त यदि संसारी कारणोंसे उद्विग्न होगा, तो भगवान्‌का विस्मरण तो हो ही जायगा—याद तो छूट ही जायगी, लेकिन हृदयमें बैठे हुए भगवान्‌की ओर पीठ भी हो जायेगी। भगवान्‌का अपमान भी हो जायगा।

इसलिए किसी भी कारणसे अपने हृदयमें उद्वेग नहीं आने देना चाहिए और न तो दूसरेको उद्विग्न करना चाहिए, क्योंकि फिर उसको भी भगवान् भूल जायेंगे, विमुख हो जायगा भगवान्‌से। उसके द्वारा भी भगवान्‌का एक प्रकारसे अपमान, तिरस्कार ही होगा।

जब अपने घरमें भगवान् बैठे हों तो दूसरे कारणसे हर्ष होना, उद्विग्न होना, डरना, चिढ़ना क्यों होगा? मालिकके सामने सावधान रहकर उसकी सेवा ही करनी चाहिए। यह बात मालूम होनी चाहिए कि हमारे हृदयमें वह बैठा हुआ है, तब भगवान् बहुत प्रेम करते हैं। देखो, दुनियामें यह आया, खुशीका काम आया और यह तो मुझको देख रहा है। उद्वेगका हेतु आया और यह तो मुझे देख रहा है। चिढ़नेका कारण उपस्थित हुआ, परन्तु यह तो मुझे देख रहा है। भयका कारण उपस्थित हुआ, परन्तु यह तो मुझे देख रहा है। हर्ष, अमर्ष, भय, उद्वेगसे मुक्त होकर जो भगवद्भावसे भावित रहता है, भगवान् उससे प्यार करते हैं। चाहते तो सभी हैं कि भगवान्‌का प्रेम हमें प्राप्त हो, परन्तु भगवान्‌से सेवा लेनेके लिए भगवान्‌का प्यार चाहते हैं। तुम हमसे प्रेम करो, यह भगवान्‌के साथ पहली शर्त है—हम करें कि न करें—और फिर तुम हमारी सेवा करो—जो हम कहें सो ही करो—जो हम चाहें सो ही करो।

हम ईश्वरके साथ एक बढ़िया नौकरका व्यवहार करना चाहते हैं। जैसे नौकरको देते हैं, लेते हैं, खुश रखते हैं, और चाहते हैं कि यह हमारे मनका काम करे। यह तो कोई भगवान्‌की इज्जत नहीं है, कोई सम्मान नहीं है। और भगवान् काम भी करते हैं तो वे हृदयकी अपेक्षासे ही करते हैं। जिसके हृदयमें भगवान् बैठे हैं, उस हृदयमें जो भगवान्‌की ज्योति जगमगा रही है, जो उनकी छवि छलक रही है, वह अपने हृदय-दर्पणमें प्रतिबिम्बित जो भगवान्‌की छवि है, वह हमारा काम करती है, स्वयं भगवान् काम नहीं करते हैं।

अब यह है कि कभी-कभी किसी भक्तको देखकर अपने आपको भगवान् भूल जायँ, उसके लिए द्रवित हो जायँ, 'जटायुकी धूरि जटानसे झारी'—तो वह बात दूसरी है। नहीं तो भगवान्‌का प्रतिबिम्ब ही हमारे हृदयमें रहकर हमारा सब काम बनाता रहता है। भगवान्‌को तो पता ही नहीं चलता। यदि भगवान्‌से काम लेना हो तो अपने हृदयका दर्पण स्वच्छ रखिये और उसमें भगवान्‌की छाया, प्रतिबिम्ब पड़ने दीजिये।

****

पहले एक 'छाया-पुरुष'की साधना होती थी। अब भी कोई करते होंगे। शीशेमें अपनी परिछाई पड़ती थी और उसको चेतन कर लेते थे और हुकुम देते थे कि तुम यह काम करो। ऐसी एक साधना हमारे बचपनमें प्रचलित थी। भगवान् भी अपनी परिछाई, प्रतिबिम्ब, छाया हमारे स्वच्छ हृदय-दर्पणमें डाल देते हैं और वह अपने भक्तका जो अभीष्ट है, लालसा है, (वह प्राइवेट भगवान् होता है—वह सार्वजनिक नहीं होता) उसको वह प्रतिबिम्ब ही पूरा करता है—

भक्तकी अब आगे पहचान बताते हैं—

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ 12.16-19

ये तो जैसे अपने घरकी कुञ्जी, ताली किसी दूसरेके हाथमें दे दी जाय, वैसे भगवान् अर्जुनको अपने प्यारकी कुञ्जी-चाबी दे रहे हैं कि यदि मेरा प्यार कोई पाना चाहे—मेरे हृदयको खोलकर, उसमें-से मेरे हृदयमें जो प्यार भरा हुआ है, उसको अपने घरमें लेना चाहे तो ले, उसके लिए हम एक रहस्य बताते हैं। चाबी कहाँ रहती है? भगवान्ने बताया कि हमारी चाबी तो तुम्हारे दिलमें रखी है। हम अपनी चाबी अपने पास नहीं रखते, तुम्हारे पास रखते हैं। तुम पहचानते नहीं हो। हमारा प्यार पानेकी चाबी क्या है? 'अनपेक्षः शुचिर्दक्षः'—अनपेक्ष हो जाओ। दो शब्द प्रायः एक साथ चलते हैं—अपेक्षा और उपेक्षा। जब हम दूसरेसे कुछ उम्मीद रखते हैं तो उसका नाम हो जाता है 'अपेक्षा'। और जब हम दूसरेसे कोई उम्मीद नहीं रखते हैं, तब उसका नाम हो जाता है 'उपेक्षा'। यहाँ अपेक्षा न होनेको अनपेक्ष कहा है।

हम किसीसे कुछ उम्मीद न रखें। हमारे हैं भगवान्—'मोर दास कहाइ नर आसा, करई तो कहहु कहा विश्वासा।' सेवा करो सेठकी—अपने मालिककी, और तेल-साबुन माँगनेको जाओ दूसरेके घर। इससे सेठकी बेइज्जती है कि नहीं? वह अपने नौकरको तेल, साबुन नहीं देता है। 'मोर दास कहाइ—नर आसा करई।' मेरा सेवक होकर किसी मनुष्यकी आशा करता है तो 'कहहु कहा विश्वासा।' बताओ मेरे ऊपर विश्वास कहाँ? किसीकी अपेक्षा नहीं है। वैसे संस्कृतमें अपेक्षा माने होता है अन्धापन। ईक्षा-ईक्षण, दर्शन और अप माने समझ लो अपगत। जब आपकी आँख ठीक-ठीक नहीं देख पाती है तब जैसे आप दूसरेका हाथ पकड़कर चलना चाहते हैं न! अपेक्षा हो गयी। आँख अन्धी है तो दूसरेका हाथ पकड़कर चलनेकी जरूरत हो गयी। हमारे पास गरीबी है तो धनीकी अपेक्षा हो गयी। मूर्खता है तो विद्वान्की अपेक्षा हो गयी। जब अपनी

****

****

नजर कमजोर होती है तब दूसरेकी आँखसे देखनेकी जरूरत पड़ती है। इसीको अपेक्षा कहते हैं। 'अपगतम् ईक्षणं अपेक्षा।'

यह अपेक्षा न हो—अर्थात् हमारी दृष्टि भरपूर हो। और दृष्टि भरपूर तब होती है जब भगवान्की रायसे अपनी राय मिलती जाती है। हमारा मतभेद, बहुतोंके साथ मतभेद है। ईश्वरके साथ मतभेद है। कई वर्ष पहले हमने देखा, किसी बड़े अफसरसे मतभेद हो गया तो उसने मतभेद रखनेवालेको बिलकुल पीस दिया,नष्ट कर दिया। अफसरोंकी यह स्थिति है। और हमारी यह हिम्मत,हमारी यह हिमाकत कि हम ईश्वरसे मतभेद रखते हैं? यह हो गयी अपेक्षा। उधरसे हो गये हम अन्धे और दुनियामें उम्मीद रखने लगे, आशा रखने लगे, परवाह रखने लगे। फिर बे-परवाह हो गये। एक साधुका नाम था बेख्वाहिश, बे-परवाह—किसीसे कुछ चाहना नहीं—किसीकी कोई परवाह नहीं।

मनमें है गन्दी आदत, गन्दा मन और बनने चले अनपेक्ष। भगवान्का प्यार नहीं मिलेगा। 'शुचिः'—अपनी ओरसे पवित्रता चाहिए। जैसे कपड़े धोते हैं। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने एक जगह लिखा है कि यदि कपड़ेको आगमें डाल दें तो जल जायगा। लेकिन उस आगकी गरमी जब पानीमें उतार लेते हैं और उसमें कपड़ा धोते हैं तो साफ हो जाता है। यह जो अद्वैत वेदान्तियोंका ज्ञान है, यह सीधे-सीधे आजाय तो जला देता है और यदि भक्ति रसमें सराबोर करके अपने हृदयमें बुलाते हैं तो वह अनन्त जीवनदान करता है। जिलानेवाला भी वही है, मारनेवाला भी वही है। ज्ञानाग्नि है, भस्म करनेवाली लेकिन वही जब भक्ति रसमें उतरकर आती है तो जीवनको रसमय बना देती है। पवित्रता चाहिए।

अब तीसरी बात बोलते हैं—यह भगवान्का प्यार पानेकी चाबी है। निकम्मा नहीं होना चाहिए और भगवान्की बदनामी नहीं करनी चाहिए। हमलोग भगवान्का भजन करते हैं—भाई हमें दाल पकाते समय ख्याल नहीं रहा कि कच्ची है कि, पक्की! नमक डाल दिया कि नहीं? बोले, अच्छा भगवान्का भजन करनेसे ऐसा हो जाता है, कि आपको कच्ची-पक्की दालका पता न चले,और नमक डाला कि नहीं डाला,इसका पता न चले! यह भगवान्की भक्ति बेशहूर बनानेवाली है? 'दक्षः'—हर काममें दक्ष होना चाहिए। यह भक्तकी पहचान है, यह लक्षण है।

नौकर कोई काम कर रहा हो, आप उसको कुछ मत बोलिये, उसका काम अपने हाथमें लें लीजिये और करके बताइये—देखो यह ऐसे किया जाता है। रसोइयेकी रोटी अगर गोल न बनती हो तो आप अपने हाथमें बेलन लेकर बेलकर बता दीजिये कि ऐसी गोल होती है। यदि वह सेंकते समय जल जाती हो या कच्ची रह जाती हो तो आप सेंककर बना दीजिये। झाड़ू अगर ठीक न लग रही हो, पोतना घरमें ठीक न लगा रहा हो तो आप हाथमें पोतना लेकर बता दीजिये। शरम आ जायगी उसको कि हमसे अच्छा काम तो हमारे मालिक जानते हैं। वह स्वयं बढ़िया करने लगेगा। हर काममें दक्ष रहना चाहिए।

हमने गीताप्रेममें एक बार जिल्दसाजीका काम देखा था—आजकल एक ऊँची गद्दी पर हैं—वे किया करते थे। गंगाबाबू जब देखते कि जिल्द ठीक नहीं बन रहा है तो जाकर अपने हाथमें ले लेते। पण्डितजी जिल्द

****

****

सर्वारम्भपरित्यागी।

एक लखनऊमें साधु थे। उन्होंने यज्ञ किया। बहुत ब्राह्मण बुला लिये और लाखों रुपयेका चन्दा इकट्ठा कर अपने पास रख लिया कि ब्राह्मणोंको दक्षिणा देंगे। अब जिस दिन दक्षिणा देनी थी, उनका रुपया ही कोई लेकर चला गया। टापते रह गये। हमको बहुत यज्ञोंका पता है। कहीं-कहीं तो चन्दा इकट्ठा करनेवाले ही लेकर चले गये। 'सर्वारम्भपरित्यागी' का अर्थ है—गणान्न, गणिकान्न, राजान्न—इनसे बचना चाहिए। ऐसे बड़े-बड़े काम नहीं करना चाहिए—कि जिनके लिए हम काम कर रहे हैं, उसीको भूल जायँ। ईश्वरके लिए कर रहे हैं, ईश्वरकी पूजाके लिए कर रहे हैं, इतना बड़ा काम शुरूकर दिया कि उसमें अपनी नसें तन गयीं, दिमाग खिंच गया, व्याकुल हो गये। महात्मा बुद्धने कहा—हाथ खींचो। हाथ वहीं तक डालो जहाँसे अपनेको निकाल सकते हो। गहराईमें वहीं तक उतरो जहाँसे फिर ऊपर चढ़ सको। गीताका तो कहना है—

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः। 18.48

जितना हम बड़ा-बड़ा काम शुरू करते हैं, उसमें कोई-न-कोई दोष जरूर होता है, जैसे आगमें धुँआ होता है। वैसे बहुत बड़े काममें किसी-न-किसीको कष्ट पहुँचनेकी सम्भावना बनी रहती है। इसीसे साधुके लिए भागवतमें तो कहा 'नारम्भानारभेत्क्वचित्'—कभी कोई बड़ा काम आरम्भ न करना चाहिए। जो ईश्वरके सहारे न चल सकता हो, जिसमें आदमीका सहारा लेना पड़े, धनका सहारा लेना पड़े, माँगना पड़े—ऐसा कोई काम साधुको नहीं करना चाहिए। 'सर्वारम्भ-परित्यागी' और दिलमें क्या रखे? 'भक्तिमान् यो मद्भक्तः स मे प्रियः।' तुम करो मेरी सेवा, मैं करूँ तुमसे प्यार। तुम करो मुझसे प्यार, मैं करूँ तुमसे प्यार। परस्पर—दो चकोर दोइ चंदा—तुम देखो मुझको, मैं देखूँ तुमको। फिर जो अनन्यभक्त होते हैं वे कह देते हैं—तुम हमें देखो न देखो—हम तुम्हें देखा करें। तुम उनके रहो, उन्हींके रहो। पर यह एक प्रोढोक्ति है।

प्रेम बढ़ता है प्रेमसे। प्रेमका उद्दीपन प्रेमसे होता है। हमारे नाट्यशास्त्रके जो आचार्य हैं भरतमुनि, उन्होंने कहा—आठ रस मुख्य हैं और नवाँ शान्त-रस गौण है। 'शान्तोऽपि नवमो रसः'। अभिवन गुप्तने कहा—नहीं शान्त-रस तो मुख्य है। किसी-किसीने एक वत्सल-रस भी बताया है। महाकवि कर्णपूरने अलंकार-कौस्तुभमें प्रेम-रसकी स्थापना की। मधुसूदन सरस्वतीने भक्तिरसायनमें यह स्थापना की कि भक्ति रस है। और उन्होंने तो बड़े-बड़े जो साहित्यके रीतिकार हैं, उनको भी फटकार दिया—ऐसे ही कहा—मूर्खों, तुमको बीभत्समें रसकी सारी सामग्री मालूम पड़ती है, रौद्रमें सारे रसकी सामग्री मालूम पड़ती है और भक्तिमें रसकी सारी सामग्री नहीं है? बीभत्समें आलम्बन है, उद्दीपन है. संचारी है, व्याभिचारी है, स्थायी है। और भक्तिमें ये सब नहीं? आँखें फूट गयी हैं तुम्हारी!

भक्ति रस है। अलंकार-कौस्तुभमें महाकवि कर्णपूरने प्रेमरसकी स्थापना की। तो किसीने पूछा—आलम्बन भाव तो तुम्हारे राधा-कृष्ण हैं, उद्दीपन क्या है? तो उन्होंने कहा उद्दीपन है परस्परका प्रेम। जब मालूम पड़ता है कि सामनेवाला हमको बहुत प्रेम करता है, तब हमारे हृदयमें भी प्रेमरसका उद्वेलन होने लगता है, प्रेम रस उद्दीप्त होने लगता है। प्रेम करनेवालेसे प्रेम होता है। भगवान्ने कहा देखो, भाई! चारों ओरसे आँख

****

****

फेरो, हमारे ऊपर ले आओ और तुम करो मुझसे प्रेम, मैं करूँ तुमसे प्रेम—'ज्ञानी-त्वात्मैव मे मतम्'। हमारे तुम्हारे बीचमें जब कोई दूसरी चीज नहीं होगी तो हम तुम एक हैं—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥ 12.17

देखो भाई! वह मेरा प्यारा है। कौन? जो मेरी भक्ति करता है। अच्छा महाराज, आपकी भक्ति करता है यह कैसे पता चलता है? भक्तिका पता दूसरेको चले, इसकी तो कोई जरूरत ही नहीं है। स्वसंवेद्य है अथवा भगवत्-संवेद्य है। और ज्ञान स्व-स्वरूप है। यह भक्ति और ज्ञानका विश्लेषण है। भक्ति हृदयमें वृत्तिके रूपमें रहती है, इसलिए साक्षी भक्तिको देखता है। अथवा अन्तर्यामी भगवान् भक्तिको देखते हैं और ज्ञान स्वस्वरूप है। इसलिए स्वसंवेद्य भी नहीं होता और परसंवेद्य भी नहीं होता। वह ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय इस त्रिपुटीसे रहित 'अवेद्यत्वे सति अपरोक्षत्वम्' है। अवेद्य रहकर अपरोक्ष होता है। बीच-बीच में वेदान्त थोड़ा-थोड़ा सुना देता हूँ।

बात यह है कि कोई पुस्तक छपती है, कहीं रेकार्ड होता है तो यह बतानेका भी मन होता है कि सुननेवाला यह न समझ जाय ये बाबाजी सिर्फ भावुक ही भावुक हैं। अतःआवश्यकता होने पर वेदान्त रीतिसे बिल्कुल कर्कश तर्क भी सामने उपस्थित करना पड़ता है। आओ देखो, भक्तका स्वरूप। ऐसे चुपचाप पढ़ जानेसे काम नहीं चलेगा। 'यो न हृष्यति, ने द्वेष्टि'-यह वर्तमान-दोषकी निवृत्ति है। 'न शोचति'-यह भूत-दोषकी निवृत्ति है, 'न कांक्षति'-यह भविष्यत्-दोषकी निवृत्ति है। ध्यानसे देखो तब मालूम पड़ेगा। इस समय हमको कोई चीज मिली और खुश हो गये, नाचने लगे। महाराज, पता ही नहीं लगा गुरुजी कहाँ बैठे है?

भागवतमें है-इन्द्रको मिल गया स्वर्गका राज्य और सब देवता उनके आस-पास खड़े होकर उनकी तारीफ करें-महाराज, आपसे बड़ा और कोई नहीं-ऐसा हर्षोन्माद हुआ-ऐसा खुशीका पागलपन इन्द्रको आया कि उनके गुरु वृहस्पति उनके सामने आये और उनकी ओर देखा ही नहीं! पागल हो गया-इतने लोगोंके सामने हम बैठे हैं सिंहासनपर। राजेन्द्रबाबूका स्वभाव था-राष्ट्रपति होनेपर भी यदि उनके सामने उनसे बड़ा आजाय सांष्टाग दण्डवत् करते थे; कोर्टमें भी लाल चन्दन लगाकर जाते थे। अनन्त शयनम् आयंगर जो लोक सभाके अध्यक्ष थे, उनको साष्टांग दण्डवत् करनेका अभ्यास था। 'हृष्यति'-ऊँचा ओहदा पाकर इतना हर्ष हुआ कि हमसे कोई बड़ा है, यह बात भूल गयी। तब उन्माद हो गया। 'हृष्टो दृप्यति'। दर्प हो गया और मर्यादाका अतिक्रमण हो गया।

अब भगवान् देख रहे हैं-बोले, बड़ा होनेके करण तुम्हारा विनय चला गया-बड़ा होनेसे तुम्हारी उदारता चली गयी? बड़ा होनेसे तुम्हारे शील-स्वभावमें फरक आ गया? तो आओ जरा उलटकर देखते हैं। 'मसकहि करहिं विरंचि प्रभु विधि मसक ते हीन।' रंकको राजा, राजाको बनाना, यह भगवान्का खेल है। यो न हृषति-वर्तमानमें अगर तुम्हें तुम्हारे मनकी कोई चीज मिल जाती है तो उस समय भी सावधान रहो,

****

****

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥

महा० स्वर्गारोहण-पर्व 5.62

(यह भारत सावित्री है। महाभारतमें चार श्लोक हैं-उनको गायत्री-रूप माना जाता है।) बोले भाई-दिनभरमें दस बार रोये, दस बार हँसे, दस बार डरे, दस बार डराया-यह कोई जीवन है? जीवनमें एकरसता लानेका प्रयास करना चाहिए। धूप हो तो, ठण्डा हो तो तो, गरमी हो तो-अच्छा आवे सामने तो, बुरा आवे सामने तो। पता लग जाता है महाराज-जब किसीके मनके विपरीत कोई काम होता है तो ऐसा चेहरा बिगडता है-चेहरेपर मुर्दनी छा जाती है और कोई मनका काम हो तो झट खिल जाते हैं। आदमीको इतना गम्भीर होना चाहिए कि सामनेवालेको पता ही न चले कि इनके मनमें दु:ख हुआ कि सुख हुआ। गहराई इतनी होनी चाहिए कि जिसकी थाह किसीको लग न सके। 'न शोचति'-वर्तमानमें राग-द्वेषके अधीन नहीं होता और भूतके बारेमें शोक नहीं करता और 'न काङ्क्षति'-भविष्यमें हमको यह मिले, यह मिले, यह मिले! आप लोगोंके कामकी बात नहीं है, यह मैं जानता हूँ।

एक सज्जन एक महात्मासे पूछ रहे थे कि महाराज, यह जीभ जो है बहुत चटोरी है, और कोई-न-कोई वासना इसमें आती ही रहती है। ये खायें, ये खायें! इसपर विजय कैसे प्राप्त करनी चाहिए? बोले कि ऑर्डर मत दिया करो। भोजनके समय जो तुम्हारे सामने आजाय, उसको आवश्यकताके अनुसार खा लो। पहलेसे मत कहो कि हम आज यह खायेंगे। मालूम ही न हो। थाली सामने आनेसे पहले मालूम ही न हो कि आज खानेको क्या मिलेगा? बस, अब अन्धकारमें कहीं वासना थोड़े ही होती है? रोशनीमें होती है। मालूम होता है यह खायेंगे, यह खायेंगे और किसी दिन तो सोचते हैं कि बहुत बढ़िया खायेंगे और खानेके समय अपने मनकी चीज ही नहीं मिलती। कई बार देखा है।

भविष्यके लिए आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। भूतके लिए शोक, और वर्तमानमें रोग-द्वेष नहीं करना चाहिए। वर्तमान, भूत, भविष्यसे तो छुट्टी मिल गयी। लेकिन लोक-परलोककी फिकर तो कुछ-न-कुछ होती ही है। वैसे मैं बोलनेमें कोशिश करता हूँ कि हम नरकके लिए आपको डरावें नहीं। नरकका डर न दिखावें। वह काम तो पुरोहितोंका है, मौलवियोंका है, पादरियोंका है और स्वर्गकी लालच भी आपको न दें। वर्तमान जीवनमें हमलोग एक साथ हैं, मजेसे यह जीवन बीत जाय। कभी लोक-परलोककी चर्चा भी करते हैं तो दिल बहलानेको ही करते हैं। मैंने सुना था-

ख़ूब मालूम है-जन्नतकी हकीकत।
लेकिन दिल बहलानेको गालिब यह खयाल अच्छा है।

परलोककी बात छोड़ो-सहज जीवन जिसका व्यतीत होता है, वह भगवान्का प्यार पाता है। पापासक्त हो गया तब भी उसको भगवान्के प्यारका अनुभव नहीं होगा और पुण्यासक्त हो गया, तब तो अपने बलका बोध होने लगेगा।

****

****

देनेवालेको मत भूलो। देनेवाला वही है। 'न द्वेष्टि'-तुम्हारे मनके विपरीत किसीने काम किया और आगबबूला हो गया। काम तो हुआ सो हुआ, तुम्हारा दिल जलने लगा। आग तो लगायी थी किसीने कपड़ेमें और जलने लगा कलेजा!

हमने एकबार गोरखपुरमें देख था। साधकोंको रहनेके लिए फूसकी कुटिया बनी हुई थी। 18के लगभग थी। उसमें दो-दो जने रहते होंगे। एक दिन रातमें आग लग गयी। उसमें सेठ लोग साधना कर रहे थे; उसमें 10 हजारका नोट भी था। ठाकुरजी भी थे। आग लगी। सब लोग घबड़ाये, व्याकुल हुए। मैं सेवाकुटियामें रहता था। देखनेको बाहर निकल आया। भाईजी हनुमानप्रसादजी आये। बोले-घी लाओ, शक्कर लाओ- बोले अग्निके रूपमें भगवान् आये हैं, उनका स्वागत करो, सत्कार करो। यह हमारे सामनेकी बाते हैं।

'न द्वेष्टि'- विपरीत परिस्थिति आनेपर भी जो उस कर्मका प्रेरक है, आदमीका प्रेरक है, जो परमेश्वर है, उसपर नजर चली जाय; अरे भगवान् कहते हैं यहाँ भी तुम हमको देख रहे हो? हाँ महाराज, मैं देख रहा हूँ, तुम हमारे बहुत प्यारे हो!

यो न हृष्यति, न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।

'शोचति'-एक सच्ची बात आपको सुना रहा हूँ। हमारे साथ एक पण्डितजी रहते थे। पण्डित सुन्दरलालजी उनका नाम था। पहले ज्वालापुर महाविद्यालयमें प्राध्यापक थे। बहुत अच्छे विद्वान् थे। काशीके जो मूर्धन्य वेदान्तके विद्वान् थे, उनसे उन्होंने शिक्षा ली थी। हमारे साथ कभी-कभी भोजन करने बैठते थे। जिस दिन बढ़िया भोजन सामने आ जाय, झर-झर आँसू गिरें-क्या बात है पण्डितजी? अपनी पत्नीका नाम लेते, उसकी याद आ गयी है? क्या बात है? 35 वर्ष पहले उसने हमको ऐसा भोजन कराया था। अब वैसा भोजन करानेवाला कौन है? मर गयी। पत्नीकी याद करके वे रोने लगे! अब हम गये-हमारा परोसा हुआ भोजन गया, वह दाल गयी, वह चावल गया-वह पी गया और उनको 35 वर्ष पहलेकी श्रीमतीजी याद आयीं। स्त्रियोंको तो खुश होना चाहिए कि ऐसे प्रेमी भी पति होते हैं!

एक पति-पत्नी आगरा ताजमहल देखने जा रहे थे। पत्नीने कहा कि देखो, एक वह पति था जिसने अपनी पत्नीकी यादगारमें ताजमहल बनाया। तुम मेरे लिए क्या करोगे? उन्होंने कहा-पहले मर जाओ; तब करेंगे। अभीसे क्या बतावें? 'शोचति' जो है उसपर कालिदासने तो कहा है कि यह मूर्खकी पहचान है।

'खादन्न गच्छामि हसन्न जल्पे गतं न शोचामि कृतं न मन्ये। द्वाभ्यां तृतीयो न भवामि राजन्...।' भोजने कालिदासको कहा-मूर्ख हो तुम! कालिदासने कहा कि मैं खाते हुए तो चलता नहीं-उठाओ खाओ पार्टीका तो मैं हूँ नहीं और 'हसन्न जल्पे'-हँसते हुए बात नहीं करता हूँ और गयी हुई बातोंके लिए शोक नहीं करता हूँ और जो काम करता हूँ उसका अभिमान नहीं करता हूँ और दो आदमी बात कर रहे हों तो मैं उनमें तीसरा नहीं बनता। फिर मैं मूर्ख कैसे? क्या कारण है कि मैं मूर्ख हूँ। मूर्ख कैसे होता है यह बताया है। मूर्ख माने जिसकी बुद्धि मूर्च्छित है। 'मूर्च्छति इति मूर्ख:'। उसकी बुद्धि बेहोश है। 'न शोचति'- जो बात बीत गयी वह बीत गयी उसके लिए शोक करनेका क्या कारण है?

****

बढ़ जायेगी। ऊष्मा नहीं देंगे तो शरीर ठण्डा हो जायेगा। हवा नहीं देंगे, चौबीस घण्टे कठोर प्राणायाम कर लिया-इक्कीस दिनकी समाधि लगायेंगे तो शरीरके प्राण सूख जायेंगे। बोलेंगे नहीं-जीभ बेकार हो जायेगी। अपने शरीरमें जो भूतग्राम हैं उनको कृश नहीं करना चाहिए। 'अचेतसः' भगवान्ने कहा जब तुम अपनेको तकलीफ देते हो तब तुम्हारे भीतर बैठा हुआ मैं भी तकलीफ देते हो तब तुम्हारे भीतर बैठा हुआ मैं भी तकलीफ पाता हूँ। शुभासक्ति भी दुःखदायी है और अशुभासक्ति भी दुःखदायी है। शुभ-अशुभकी ओर न देखकर भगवान्की ओर देखना चाहिए।

भक्तिमान्यः स मे प्रियः।

जो मेरी भक्ति करता है-मुझे मत भूलो। चींटी भूल जाय तो भूलने दो। पाँच रूपये भूलते हैं तो भूलने दो। कई लोग प्रशंसा कर-करके अपनी जीविका चलाते हैं और कई लोग अपनी तारीफ सुन-सुनकर अपनेको खुश रखते हैं। प्रशंसा करनेवाला तुमको गलत रास्तेपर ले जा सकता है।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि-तत् तत् प्राप्य शुभाशुभम्।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।

जो भक्तिवाला है-जिसके हृदयमें सोते समय भी भक्ति बनी रहती है। सपनेमें भी भक्ति है, जाग्रतमें भी भक्ति है-वहाँ व्यवहारमें भगवान्की सेवामें कहीं चूक नहीं होती है। भगवान् कहते हैं कि वह मेरा प्रियतम है-मैं उससे प्रेम करता हूँ। भगवान्ने अपने प्यारकी चाबी आपके दिलमें रख दी। आप यदि भगवान्का प्यार पाना चाहते हैं तो जरा अपने दिलकी ओर देखिये-वहाँ तो उन्होंने अपना सारा रहस्य ही आपके जीवनमें रख दिया।

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति

●

✻✻✻

प्रवचन : 10

20-11-83

यह प्रश्न यदि अपने जीवनमें उदय हो जाय, अपने हृदयमें आ जाय तो पता लगेगा कि हम कितने दुराग्रही है, कितने ढोंगी हैं और आखिरी बात कितने मूर्ख हैं। प्रश्न है कि सत्यको तो जानते नहीं और एक भेंड़के पीछे जैसे दूसरी भेंड़ चलती है अपनी बुद्धिका अभिमान, अपनी मान्यताकी जिद्-यही हमारे जीवनके प्रेरणा-स्रोत बन गये हैं। क्या शुभ है और क्या अशुभ-जो परमात्माके स्वरूपको, यथार्थको, सत्यको पहचानता है, उसीको यह विभाग करनेका अधिकार है, और उसको तो यह विभाग होता ही नहीं और इधर-उधर भटकनेवाले लोग, जैसे राजनीतिमें पार्टीबन्दी होती है, ऐसे अपनी-अपनी पार्टी बनाकर और आपसमें रोग-द्वेष करते हैं और अपने दिलको कलुषित करते हैं। भगवान्ने कहा-भाई देखो, तुम्हें अगर सत्यसे प्रेम है-यदि भगवान्से प्रेम करना है और भगवान्का प्रेम पाना है तो यह जो लौकिक शुभाशुभका विभाग है, इसको जहाँ-का-तहाँ छोड़ दो और अपनी प्रीति, अपनी रीति भगवान्के साथ जोड़ो।

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः।

जो व्यक्ति आपके सामने स्पष्ट रूपसे बोल रहा है-

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

वह यदि 'सर्वारम्भ परित्यागी' कहे, अथवा शुभाशुभपरित्यागी कहे, तो आश्चर्य क्या होना चाहिए?

तत् तत् प्राप्य शुभशुभम् नाभिनन्दति, न द्वेष्टि।

वह आपके शरीरका निर्माण नहीं कर रहा है, वह तो माँ-बाप करते हैं; आपके कर्मका निर्माण नहीं कर रहा है-वह आपका शिक्षक बताता है-कैसे करना, कैसे नहीं करना। वह तो आपके हृदयका निर्माण कर रहा है। और वह भी जहाँ वह रहता है उसी स्थानको स्वच्छ बना रहा है।

श्रीउड़िया बाबाजी महाराज कहते थे, भगवान् स्वामी नहीं है। भगवान् सेवक है। वह आपकी इतनी सेवा करता है कि यदि आप उसपर ध्यान दें तो आप अपनेको उसके सामने शून्य पावेंगे। भगवान्की सेवाके सामने-आप समुद्रके सामने, बिन्दु भी नहीं हैं। आपका अभिमान बिलकुल मिट जायेगा और तब भगवान्का जो अपने आपसे प्रेम है, वहीं प्रेम आपके साथ हो जायेगा। यदि आप अलग रहेंगे तो भगवान्को भी कुछ अपना-पराया लगेगा और जब आपका अभिमान बिलकुल मिट जायेगा तो भगवान्को भी अपना-पराया नहीं लगेगा।

आओ, भक्तकी पहचानपर थोड़ा ध्यान दो।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिः भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ 12.18-19

****

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ 12.20

'समः शत्रौ च मित्रे च'-एक शत्रु है और एक मित्र है। आप दोनोंके प्रति सम हैं-यह क्या है? सम ज्ञान है कि सम भावना है? कि सम वर्तन है। ज्ञान, भावना और वर्ताव इसके चक्करमें हम नहीं पड़ते हैं। देखो, एक आदमी आपको कभी ठण्डे जलसे स्नान कराता है, और एक आदमी गरम पानीसे स्नान कराकर मल-मलकर आपके शरीरकी मैल छुड़ाता है। आप ठण्डे पानीवालेको मित्र समझते हैं और गरम पानीवालेको शत्रु समझें तो यह कोई समझदारीकी बात नहीं है। मैं सांसदिक शब्दोंका प्रयोग कर रहा हूँ! असांसदिक शब्दोंका प्रयोग करें तो अच्छा नहीं लगेगा। जजके सामने कहना पड़ता है कि मैं समझा नहीं पाया यह नहीं कि आप समझे नहीं। यदि संसदमें बोल दिया जाय कि आप सत्य नहीं बोल रहे हैं तो ठीक है। पर यदि यह कह दिया जाय कि आप झूठ बोल रहे हैं तो असांसदिक हो जाता है। बोलनेमें भी थोड़ी सावधानी रखनी पड़ती है। शत्रु आपका उतना ही हित करता है, जितना हित मित्र करता है। असलमें अपने चित्तमें द्वेष रहनेके कारण हम शत्रुको देखकर जलने लगते हैं और मित्रको देखकर स्नेहिल हो जाते हैं। 'ञिमिदा स्नेहने'। मित्र शब्दका अर्थ है, जिसको देखकर हमारा हृदय तर हो जाय वह मित्र है और जिसको देखकर हमारा हृदय जलने लगे उसका नाम शत्रु है। 'शातनात् शत्रुः, मेदनात् मित्रम्।'

हमने पहले एक किताब पढ़ी थी 'मानो न मानो'-कई लोग ऐसे होते हैं कि उनको अनजानमें भी वह चीज छू जाय तो बेहोशी आ जाती है। उसमें कई उदाहरण देकर बताया था। तो हम अपने दिलको ऐसा बना लेते हैं-किसी वस्तुके प्रति द्वेष हो जाता है-यद्यपि उसी वस्तुसे दूसरे लोग बहुत प्रेम करते हैं।

किसी क्रियासे द्वेष हो जाता है, यद्यपि कई लोग वह क्रिया बड़े प्रेमसे करते हैं-किसी व्यक्तिसे द्वेष हो जाता है, यद्यपि उस व्यक्तिके बहुत-से प्रेमी होते हैं। वस्तुसे द्वेष, क्रियासे द्वेष, व्यक्तिसे द्वेष हो जाता है। एक हमारे मित्र बहुत पढ़े-लिखे थे, उनके सामने यदि हम मिथ्या शब्दका उच्चारण कर देते, तो वह चिढ़ जाते थे। उनको मिथ्या शब्दसे द्वेष हो गया था। यह अपने मनकी बनावट ऐसी है।

हमको श्री उड़ियाबाबाजी महाराजने यह बात समझायी थी। 'वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि'। भारविका वचन है। प्रेममें गुण दिखता है और द्वेषमें दोष दिखते हैं-किसी भी वस्तुमें सचमुच न गुण है, न दोष है-निर्गुण ब्रह्म है। गुण और दोष हमारी कल्पनासे पैदा होते हैं। द्वेषमूलक कल्पनामें दोष और रागमूलक कल्पनामें गुण दिखायी पड़ते हैं। इसलिए जो आपको सताता है-'शातनात् शत्रुः'-वह आपको सहिष्णु बनाता है और उसका सताना आगे आपके लिए हितकारी होगा। हमारे पास तो छोटे-छोटे लड़कियाँ-लड़के आकर कहते हैं-हमारे माँ-बाप हमको बहुत सताते हैं। हर बातमें टोकते रहते हैं-स्वामीजी हम करें क्या? उनको लगता है हमारे माँ-बाप हमको सता रहे हैं। लेकिन उनके भलेके लिए सता रहे हैं। यह बात उनके ध्यानमें नहीं रहती है। आगे उनका जीवन उत्तम बन जायेगा।

शत्रु भी आपको सताता है, आपके अन्दर जो छिपे हुए दोष हैं और अभी नहीं हैं, आगे आनेवाले हैं,

****

****

उनसे सावधान करता है और आपको सहिष्णुता सिखाता है। सहिष्णुताकी शिक्षा देता है, वह एक प्रकारका गुरु है। और मित्र सामने लल्लो-चप्पो करता है-मालूम पड़ता है इस समय बड़ा सुख दे रहा है लेकिन वह सुख नहीं दे रहा है, आपको फँसा रहा है। आप उसको छोड़ेंगे तब भी दुःखी होंगे और वह आपको छोड़ेगा तब भी दुःखी होंगे। मित्र आपको अब सुख दे रहा है-बादमें दुःख देगा और शत्रु आपको अब दुःख दे रहा है और बादमें सुख देगा। दोनोंमें एक प्रकारकी समता है समता ज्ञान है, समता भाव है, समता क्रिया है। अन्तमें दोनोंके जीवनका गणित करके आखिरी हल आप निकालेंगे तो बिलकुल एक ही निकलेगा। परिणाममें एक ही है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।

मान अपमानमें भी सम-मया सह=समः। मा=प्रमा। श्रीहर्षने एक ही श्लोकमें 'उमया' शब्दका प्रयोग किया है। खण्डन-खण्ड-खाद्यमें श्रीहर्षने दोनों अर्थमें इस शब्दका एक साथ प्रयोग किया है।

केवल उमाने ही शंकरको प्राप्त नहीं किया, मैंने अनुमानसे भी शंकरको सिद्ध किया और मा=प्रमाणके द्वारा, यथार्थ अनुभवसे भी सिद्ध किया और मैंने भी उसका अनुभव किया। शब्द तो एक ही है पर हर्षकी बोलनेकी शैली यह है। 'समः' माने मुँहकी शोभामें फर्क न पड़े। चाहे शत्रु सामने आवे, चाहे मित्र और चाहे मान हो, चाहे अपमान। मुख-प्रभामें अन्तर नहीं पड़ना चाहिए। यह पहली बात है। 'समः' मा=शोभा-लक्ष्मी-अपने भावमें भी अन्तर नहीं पड़ना चाहिए और दोनोंमें जो परमात्मा है, उसका ज्ञान भी रहना चाहिए।

'मानापमानयोः'-मनुजीने कहा कि जो बुद्धिमान् पुरुष हैं उसको सम्मानसे डरना चाहिए। 'सम्मानात् ब्राह्मणो नित्यम् उद्विजेत विषादिव'। जैसे कोई जहर पिलाने आया है। 'अमृतश्चैव कांक्षेत अवमानं द्विजोत्तमः।' और अपमान अमृत है। धर्मकी बात है। 'अवमानात् तपोवृद्धिः सम्मानात् तपसा क्षयः।' अपमान जहाँ मिलता है, वहाँ हमारा तप बढ़ता है और सम्मान जहाँ मिलता है वहाँ हमारे तपका क्षय होता है। पुण्यका फल मिल गया। पुण्य घट गया। मान और अपमान दोनोंमें सहिष्णुता चाहिए। सम्मानसे फूल नहीं जाना चाहिए और अपमानसे पटक नहीं जाना चाहिए। वह तो अपने स्वभावके अनुसार बर्त्ताव कर रहा है। दूसरेके स्वभावपर अपना कोई वश नहीं है। हम अपने स्वभावमें स्थिर रह सकते हैं। दूसरेको उसके स्वभावमें रहने देना चाहिए। वहाँसे विचलित करनेकी कोई जरूरत नहीं है। यह तो धर्मकी बात है। यह दूसरे धर्ममें नहीं है।

अभी थोड़े ही दिन पहले मैंने कुरानशरीफ पढ़ी है। हमारा तो धर्मशास्त्र ऐसे बोलता है। अच्छा भक्तिकी बात देखो—वृन्दावनी लोग तो बड़े प्रेमसे बोलते हैं—सम्मानं कलयाति घोरगरलं नीचापमानं सुधा श्रीराधामुरलीधरौ भज सखे वृन्दावन मा त्यज।' सम्मानको जहर समझो। अपमानको अमृत समझो और राधा-गोविन्दका भजन करो। वृन्दावन मत छोड़ो। यह भक्तलोग बोलते हैं। और ज्ञानियोंके लिए तो कहना ही क्या? यदि सब ब्रह्म है तो मानापमान नहीं है। आत्मा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है तो अपमान मान नहीं है। माया है तो भी मानापमान नहीं है। प्रकृति है तो भी मानापमान नहीं है। पञ्चभूत है तब भी मानापमान नहीं है और क्रिया, स्पन्दन—केवल हिलना-चलना है तो भी मानापमान नहीं है। सबमें भगवान्का हाथ है तब भी मानापमान नहीं है। सब प्रकृतिसे विवश हैं तब भी मानापमान नहीं है।

****

यह मत देखो कि सामनेवाला क्या कर रहा है। यह देखो कि हमारे भीतर क्या हो रहा है। सबके पास तो वही है न!

'तथा मानापमानयो:' मान जो करता है वह हमको एक मानमें बाँधता है, कैद करता है। ऐसे हैं, ऐसे हैं, ऐसे हैं—सीमा बनायी न! एक सज्जन हमारी बड़ी प्रशंसा करते थे—ये भागवतके बड़े पण्डित हैं। और लोग तो सुनकर बहुत खुश होते थे और हमको तो अपमान मालूम पड़ता था। मानो और शास्त्रोंके पण्डित नहीं है, केवल भागवतके पण्डित हैं। यह तो एक बोलनेकी, समझनेकी शैली होती है।

एक विद्वान् अनेक शास्त्रोंके आचार्य थे, हमको पढ़ानेके लिए आते थे। वृन्दावनमें संन्यासी होनेके बाद, वे निम्बार्क-सम्प्रदायके थे। एक दिन मैंने उनका परिचय दिया कि वे निम्बार्क-सम्प्रदायके बहुत बड़े विद्वान् हैं तो वे तो नाराज हो गये—बोले मैं केवल निम्बार्क-सम्प्रदायका विद्वान् हूँ? मैं निखिल वेदशास्त्र-पुराणका विद्वान् हूँ। यह प्रशंसा करनेवाले आपके किसी एक अंगकी प्रशंसा करते होंगे। उसमें आप लोगोंकी दिलचस्पी नहीं होगी। वह तो प्रशंसा क्या करते हैं आपको सीमित कर देते हैं। मानमें—माने सौ-पचास वर्षमें ऐसा कोई विद्वान् नहीं हुआ, इस देशमें। ऐसा कोई विद्वान् नहीं हुआ। बँध गये न! इस देशमें नहीं हुआ। विदेशमें तो हुआ न! सौ-पचास वर्षमें नहीं हुआ तो इसके पहले पीछे तो हुआ? सम्मान देनेवाले आपको सीमित करते हैं। और अपमान देनेवाले आपको मानसे बाहर उठाते हैं—अपगतमान कर देते हैं। आप अमान हैं।

शीतोष्णसुखदु:खेषु समः संगविवर्जितः।

जिस दिन भगवान् गरमी ज्यादा डालते हैं—तो हम कहते हैं—चलो मसूरी, चलो शिमला और जब ठण्ड ज्यादा पड़ने लगती है तो बोले, चलो बम्बई। यदि हम दोनों जगह रहके—राजस्थानमें रहके गरमी सह लें और मसूरीमें रहकर ठण्ड सह लें, तो हमारे शरीरमें ठण्ड और गरमी दोनों भगवान्की दी हुई लगेगी और हमारे शरीरको पक्का बना देगी। जो दोनोंमें रहता है। वह पक्का रहता है। देखो हमलोग केदारनाथ जाते हैं पिछले वर्ष हमें सरला, वसन्तकुमार ले गये थे—काकोजीकी प्रेरणा होगी! वहाँ ठण्ड लगती थी। हमसे ठण्ड सहन नहीं होती—वैसे 'नहीं-नहीं' करते भी सह लिया। लेकिन आपको कहना पड़ेगा न कि हमको गरम अच्छा लगता है, ठण्ड बुरी लगती है।

गंगोत्रीमें एक श्रीकृष्णाश्रम स्वामी थे। वे ठण्डमें वहीं रहते थे। करीब पचास वर्षसे वहीं रह रहे थे। उनको एक दिन यहाँ हम लोगोंकी धरतीपर लाना हुआ—मालवीयजी विश्वविद्यालयमें शंकरजीकी प्रतिष्ठा कराने लाये थे। तो माघ महीनेमें हरिद्वारमें उनको दो-तीन आदमी पंखा झलनेके लिए लगते थे। विकल हो जाते थे। उनसे गरमी सहन नहीं होती थी। हम लोग समझते हैं वे लोग बड़ी तपस्या करते हैं। हम भी यहाँ रहकर तपस्या करते हैं। वे वहाँ रहकर ठण्ड सहते हैं, हम यहाँ रहकर गरमी सहते हैं। न हम ठण्ड सह सकते, न वे गरमी सह सकते, बराबरी तो हुई न!

जीवनको ऐसा बनाना चाहिए—'शीतोष्णसुखदु:खेषु।' जब गरमी आवे तो गरमी सह लिया, सरदी

आयी तो सरदी सह लिया और दोनोंसे बचेंगे तो आपका शरीर दोनोंकी सहिष्णुतासे, तितिक्षासे वंचित हो जायगा और सुख और दु:ख ये तो दिन-रातकी तरह हैं। जीवनमें आते ही रहते हैं। जरा-सी बातमें हृदय निर्मल हो गया—'ख' माने शून्य—हृदयाकाश और 'सु' माने सुष्ठु। आज जैसे बाहरका आकाश निर्मल हो गया—चाँदनी छिटक गयी—मौसम बहुत अच्छा हो गया। ऐसे अपने हृदयका भी मौसम बदलता रहता है। कभी चाँदनी छिटकती है तो कभी बादल घिर आते हैं तो कभी गरमी पड़ती है। जैसे बाहरके मौसमको आप देखते हैं वैसे ही भीतरके मौसमको भी आप देखिये कि आज आपके हृदयमें तूफान आया है, कि बाढ़ आयी है, कि बड़ी गरमी पड़ रही है कि बड़ी ठण्ड पड़ रही है। बिलकुल बाहरका जैसा आकाश बनता-बिगड़ता है, और आकाशपर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। वैसे ही आपके हृदयाकाशमें कभी सुखकी चाँदनी छिटकती है, कभी लोभका बलगम बढ़ता है, कभी क्रोधकी गरमी आती है। डरना नहीं चाहिए। ये तो आने-जानेवाले हैं।

आगमापायिनोऽनित्याः तांस्तितिक्षस्व भारत। (2.14)

सुख आवे तो यह मत समझो कि यह रहेगा। जानेवाला है, मेहमान है। दु:ख आवे तो यह मत समझो कि यह रह जावेगा। यह तो गुण्डा है जायेगा ही जायगा। यह घरमें रहनेवाला नहीं है, रखनेका नहीं है। 'समः संगविवर्जितः'। शीतोष्णसुखदु:खेषु'—सम अर्थात् दोनोंकी प्रमा एक है। क्या एक है? कोई जाड़ेके दिनमें तपस्या करते हैं, ठण्डे पानीमें रहते हैं और गरमीके दिनोंमें धूपमें बैठकर पंचाग्नि तापते हैं। वर्षाके दिनोंमें खुले आसमानमें रहते हैं। उनकी तपस्या होती है। वह कहते हैं हमने बड़ा भारी तप किया और आपको घर बैठे तप करनेको मिलता है। आप किसीके साथ चिपकिये मत। 'समः संगविवर्जितः'। आसक्ति नहीं होनी चाहिए। आसक्ति तो सचमुच अपने आपसे ही होती है या अन्तर्यामी भगवान्से होती है। दूसरेके साथ जो आसक्ति होती है वह बिलकुल झूठी है। और टिकनेवाली नहीं है। हम सबको छोड़ सकते हैं।

स्वामी रामतीर्थने कई दृष्टान्त दिये हैं। ऑफिसमें पता चला, मकानमें बेटा गिर गया है। बाबूजी क्लर्क थे, दौड़े हुए आये—देखा आगसे दरवाजा घिर गया है—बोले हजार रुपया लो, हमारे बच्चेको कोई निकाल दो, दस हजार लो—अरे भाई, हम कर्ज लेकर लाख रुपया देंगे। हमारे बच्चेको इसमें-से निकालो। एकने कहा कि दूसरोंको तुम लाख रुपया देनेको तैयार हो। खुद घुसकर क्यों नहीं निकाल ले आते? बोले भाई, बच्चेकी अपेक्षा भी अपने शरीरसे आसक्ति—प्रीति ज्यादा है। धन छोड़ देते हैं, स्त्री छोड़ देते हैं, पति छोड़ देते हैं, पुत्र छोड़ देते हैं। आसक्ति तो असली जहाँ मैं है—वहाँ असली आसक्ति रहती है और तो सब झूठी है। जोशमें आकर दूसरेके लिए मर जायँ तो मर जायँ। होशहवाशमें लोग दूसरेके लिए मरनेको राजी नहीं होते।

समः संगविवर्जितः, तुल्यनिन्दा स्तुतिर्मौनी संतुष्टो येनकेनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।

जीवन्मुक्ति-विवेकमें एक प्रसंग आता है—बारहवीं-तेरहवीं शताब्दीका ग्रन्थ है—वे कहते हैं कि तुम्हारी निन्दा करनेवाला शरीरकी निन्दा करता है कि आत्माकी निन्दा करता है? यदि शरीरकी निन्दा करता है, तो शरीरकी निन्दा तो हम बहुत करते हैं। दुनियामें जितनी गन्दगी है वह शरीरमें-से ही निकलती है। आप यह

निश्चय कर लीजिये कि चाहे कीट-पतंगका शरीर हो, मधुमक्खीका शरीर हो, पशु-पक्षीका शरीर हो, मनुष्यका शरीर हो, प्राणीके शरीरमें-से निकली हुई चीजको ही गन्दा मानते हैं। पसीना हो तो, रोआँ हो तो, दाँत हो तो, थूँक हो तो, बलगम हो तो, कीचड़ हो तो—जो भी गन्दगी दुनियामें मल-मूत्र आदिके रूपमें निकलती है, जिसको हम गन्दा मानते हैं—वह सब-का-सब किसी-न-किसीके शरीरमें-से निकला हुआ होता है। मिट्टीमें, पानीमें कुछ गन्दगी नहीं है—आगमें नहीं है—हवामें नहीं है—आसमानमें नहीं है—प्रकृतिमें नहीं है, परमात्मामें नहीं है। गन्दगी तो मनुष्यके शरीरमें-से निकलती है। शरीरकी निन्दा कोई करता है तो यथार्थ करता है। हमारा, उसका शरीर एक सरीखा। और आत्माकी निन्दा करता है तो अपनी ही निन्दा करता है। आत्मा तो हमारा, उसका दो है ही नहीं।

एक मजेदार बात उन्होंने कही कि—देखो दूसरा आदमी हमसे खुश हो इसके लिए लोग बड़े कष्टसे पैदा किया हुआ धन भी खर्च करते हैं कि यह हमसे खुश हो जाय। और यदि कोई हमारा दोष देखकर खुश हो जाता है तो उसकी हमारे ऊपर कितनी कृपा है! कुछ न देना पड़ा, न लेना पड़ा, हर्र लगे न फिटकरी रंग चोखा आया। हमारा दोष देख-देखकर कोई खुश होनेवाला तो है। हमारी वजहसे किसीको खुशी तो होती है।

मन् निन्दया यदि जनः परितोषमेति नन्वप्रयत्नसुलभोऽयमनुग्रहो मे।

मैंने तो कुछ किया नहीं। और वह मेरे दोष देख-देखकर खुश हो रहा है। अब उसको खुश देखकर हमको भी खुश हो जाना चाहिए। 'तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी'। मौनी का अर्थ यह नहीं कि भगवान्‌की दी हुई जो जीभ है उसको काटकर फेंक दिया जाय या बाँध दिया जाय। यह मौनका अर्थ नहीं होता। मौनका अर्थ होता है कि आप अपने चिन्तनमें संलग्न रहिये। जितनी जरूरत हो, उतना ही बोलिये। सत्य बोलिये, हित बोलिये, मित बोलिये, आवश्यक बोलिये, अवसरोचित बोलिये और आनन्दप्रद बोलिये। ब्याहमें मौतकी, मौतमें ब्याहकी चर्चा मत कीजिये। 'बोलिये तो तब जब बोलिबेकी रीति जानौ।' पण्डितोंके बीचमें अपनी पण्डिताई जाहिर करने लगोगे तो? मूर्खता जाहिर हो जायेगी। 'विशेषतः सर्वविदां समाजे विभूषणं मौनमपण्डितानाम्।' वहाँ मौन रहना ही अपना भूषण है। और बोलनेका अवसर हो और न बोले, श्रीहर्षने कहा—

वाक्‌जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाद्‌भूते वस्तुनि मौनिता चेत्। नैषधीयचरित 8.32

अद्भुत गुणवाली वस्तुको देखकर भी यदि आप मौन रह जाते हैं, तो भगवान्‌का जीभ बनाना व्यर्थ हो गया और केवल एक असह्य शल्य आपके जीवनमें रह गया। मौनका अर्थ, निरर्थक नहीं बोलना, अनावश्यक नहीं बोलना। भगवान्‌का नाम ले रहे हैं, भगवान्‌का चिन्तन कर रहे हैं। चिन्तनमें—बहुत आवश्यक हो तभी बाधा डालनी चाहिए—

सन्तुष्टो येनकेनचित्।

पहले भी एक बार संतुष्ट आया है।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।

भक्तिकी पहचानमें संतुष्ट शब्दका दो बार प्रयोग हुआ। वह है 'आत्म-तुष्टि'—अपनेमें संतोष। और

यहाँ है 'येनकेनचित् संतुष्टः।' कोई भी मिले—अपना सन्तोष बना रहे। ओ हो, आओ आओ! भाईसे मिलो। आजकल आपकी पार्टीमें क्या हो रहा है? आपकी प्रवृत्ति क्या है? मुस्कराकर बात करनी चाहिए। जो मिल जाय—बजानेवाला मिल जाय उससे खुश, गानेवाला मिल जाय उससे खुश, राजनीतिक नेता मिल जाय उससे खुश, नाचनेवाला मिल जाय, उससे खुश, झाड़ू लगानेवाला मिल जाय, उससे खुश, जूता बनानेवाला मिल जाय उससे खुश। किसीके कारण भी अपनेमें असन्तोष नहीं आना चाहिए। स्वयंका सन्तोष पहला है और दूसरोंके साथ व्यवहार करते हुए भी सन्तुष्ट रहना यह दूसरा है।

अनिकेतः स्थिरमतिः।

यदि आप ब्राह्मण हैं तो एक जगह मत रहिये। 'स्वदेशे पूज्यते राजा'-राजाकी पूजा अपने देशमें होती है, 'विद्वान् सर्वत्र पूज्यते'। विद्वान्‌को घूमते रहना चाहिए। यदि आप सैनिक हैं तो यह आग्रह मत कीजिये—कि हमको इसी छावनीमें रखा जाय। घूमते रहना चाहिए। यदि आप वैश्य हैं तो हमारा व्यापार इतनेमें ही रहे—सन्तुष्ट मत हो जाइये। अपने व्यापारके लिए घूमते रहिये। यदि आप शूद्र हैं—अपने कर्मको सीमित मत कीजिये। 'अनिकेतः' घर बनाकर झण्डा मत फहराओ कि हम यहीं रहेंगे। अरे भाई, जहाँ अपना काम हो, जहाँ कर्तव्यपालन हो, वहाँ जाओ। सब जगह अपना घर है। जहाँ भगवान हैं वहीं अपना घर है। भक्तके लिए यही बात है, जहाँ भगवान् हैं वहीं घर है। 'मन्निकेतं तु निर्गुणम्।' और भगवान् कहाँ नहीं हैं? तो सब जगह अपना घर है। 'अनिकेतः'।

भागवतमें घर बनानेकी हँसी उड़ायी है। दो या तीन जगह है-बोले घर तो औरतोंके लिए बनाया जाता है। 'स्त्री-आश्रमः' 'अङ्गनाश्रम'। दोनों शब्दका प्रयोग है। मर्दके लिए मकानकी जरूरत नहीं है। स्त्रीके लिए मकानकी जरूरत है। अब आपलोग मकान बनायेंगे तो आपकी गिनती कहाँ हो जावेगी? मतलब यह है कि पुरुष तो वह है जो सब देशमें, सब कालमें, एकरस विचरण करता रहता है, कहीं डरनेकी कोई जरूरत नहीं है। भगवान् सब जगह हैं—भगवान्‌में भक्ति है। 'स्थिरमतिः' बुद्धि स्थिर होनी चाहिए। डाँवाडोल नहीं हो। 'गंगा गये गंगादास—जमुना गये जमुनादास।' यह कोई रहनी नहीं है। अपनी बुद्धि स्थिर होनी चाहिए।

एक बात है—यह बात सब लोग नहीं समझते हैं—जबतक स्थिर पदार्थको आपकी बुद्धि नहीं जानेगी तबतक वह स्थिर नहीं होगी। अचल पदार्थको जब आपकी बुद्धि जानेगी तब तो बुद्धि अचल हो जायेगी। और यदि चल पदार्थोंमें ही आपकी बुद्धि लगी रहेगी तो बुद्धि भी चल रहेगी। डाँवाडोल। दिल्लीमें अभी जब पार्टीयोंका चक्कर था तो शामको एक पार्टीमें हैं, सुबहको दूसरी पार्टीमें—'स्थिरमतिः'—कोई लक्ष्य नहीं है, कोई उद्देश्य नहीं है। न कोई साधन-निष्ठा है, न कोई साध्यनिष्ठा है।

एकने हमको बताया कि उसको अपने पक्षमें वोट लेना था—संसदमें तो वोट बहुत-से उसके पक्षमें थे। 17-20 वोटोंकी कमी थी। उनसे बात करने लगे कि हमारे पक्षमें तुम वोट दो तो किसीसे एक लाखमें बात तय की तो किसीसे दो लाखमें बात तय हुई। हमको उसीने बताया। और एक सज्जनसे जब उन्होंने वोट देनेकी बात की तो बोले कि मैं एक-दो लाख रूपयमें अपना ईमान नहीं बिगाड़ूँगा? तो उसने कहा कि एक-दो लाखमें

नहीं तो आप बता दीजिये कि कितने लाखमें आप अपना ईमान बिनाड़नेको तैयार हैं, उतना ही हम आपको दे देंगे। पर वोट हमारे पक्षमें दीजिये। अन्तमें यह तय हुआ कि वे उस दिन बीमार पड़ जायेंगे, वोट देने नहीं जायेंगे। पर ईमान तो बिक गया। जबतक स्थिर वस्तुमें आपकी वस्तु नहीं जायगी-चल वस्तुमें आपकी बुद्धि लगी रहेगी तबतक डाँवाडोल रहेगी।

भक्तिमान्यः स मे प्रियः।

जिसके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति है—तो भगवान् तो अचल हैं-डाँवाडोल नहीं हैं। भक्तोंके भगवान् कभी-कभी विचलित हो जाते हैं पर वेदान्तियोंके भगवान् तो कभी विचलित नहीं होते। पर भक्तोंके भगवान् भी अपने भक्तके प्रति जो करुणाका उद्रेक है, विवश हो जाते हैं, अपनी करुणासे-भगवान् भक्तका दुःख दूर करनेके लिए विचलित नहीं होते—वह भी अपना ही दुःख दूर करनेके लिए विचलित होते हैं। उनके हृदयमें जब किसीके प्रति दया होती है, करुणा होती है, तो ऐसी गड़ती है, उनके हृदयमें कि वह अपनी वेदना दूर करनेके लिए कूद पड़ते हैं। जो भक्तिमान् है वह भगवान्‌का प्यारा है।

भक्तिमान् यः स मे प्रियः।

अब भगवान्‌ने एक नयी बात कही जो अबतक नहीं कही थी।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ 12.20

'धर्मात् अनपगतं धर्म्यम्'। जो धर्मसे कभी अलग नहीं होता उसको धर्म्य बोलते हैं। यह भगवान्‌ने जो कहा ये अमृत है, परन्तु अमृत कभी-कभी धर्मसे चूक जाता है। अमृत रहता है स्वर्गमें, तो देवता लोग जब अमृत पीते हैं, तो कभी-कभी उनकी रूचि अधर्ममें हो जाती है। वह मादक है, जैसे शराब पीकर आदमी मतवाला हो जाता है-ऐसे जब अमृतका भी नशा छा जाता है तो आदमी नशेमें आजाता है। 'नशा' संस्कृतका शब्द है। माने='न शं यया'—जिससे शान्ति कभी नहीं मिल सकती, उसका नाम है नशा। जो नशा पीकर अपनेको शान्त रखना चाहता है, कभी सफल नहीं होगा।

यह गीता क्या है? अमृत है। परन्तु धर्मसे युक्त है। धर्मसे दूर कभी नहीं होती है। यह जो भक्तका लक्षण है। यह धर्मयुक्त अमृत है। यह भक्तका लक्षण वही अमृत है। स्वर्गके अमृतको तो जो लोग पीकर आये हैं, वे उसका वर्णन करेंगे—बखान करेंगे और जो नरककी आगमें झुलसकर आये हों वे नरकका वर्णन करेंगे। हम तो इसी जीवनकी बात करते हैं। भगवान्‌से प्रेम चरित्रको—सबको ऐसा धारण कर लें कि उस सबमें अमृत-ही-अमृत बरसने लगेगा। जैसे हमने धर्म्यामृतका वर्णन किया है—उसकी जो 'यथोक्तं पर्युपासते'—भली-भाँति उसकी उपासना करते हैं वे अमृतपान करते हैं।

अब है कि 'श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्ते अतीव मे प्रियाः'। अतीव शब्दका प्रयोग इसके पहले कभी नहीं किया गया। अतीव माने अत्यन्त। वह अत्यन्त प्यारे हैं। कौन? बोले, एक तो जिनमें वे लक्षण हैं, वे प्यारे हैं। और जो उन लक्षणों पर और मुझपर श्रद्धा करके और मेरी उपासना करते हैं—अभी वे लक्षण पूरे नहीं आये

हैं। भगवान् कहते हैं अधूरे लक्षणवालेको हम ज्यादा प्यार करते हैं। प्यारकी जरूरत तो उन्हींको है। जिनको भक्तिके पूरे लक्षण प्राप्त हो गये हैं, उनको प्यार करनेकी जरूरत क्या?

वे तो भगवान्‌के पास पहुँच गये। मिल गये। उनके साथ हँसते हैं, बोलते है; लेकिन अभी जो भक्तके लक्षणोंको अपने जीवनमें अपनानेकी कोशिश करते हैं, अभी पूरे भक्त नहीं हुए, पर ईमानदारीके साथ पूरा भक्त बनना चाहते हैं और भरोसा रखते हैं—भगवान्‌का, उनको मैं ज्यादा प्यार करता हूँ। देखो एक आदमी है, वह हमसे मिलता है, हमसे व्यवहार करता है, हमारी भलाईको पहचानता है—वह हमसे प्रेम करे तो विशेष बात नहीं है—हम माने आप सब लोग। लेकिन जिसने कभी हमको देखा नहीं है—हमसे मिला नहीं है, हमारे बारेमें केवल सुना है और सुनकर ही यदि उसका इतना प्रेम है तो वह मिलनेवालोंसे आगे बढ़ गया। सुन-सुनकर उसकी ऐसी श्रद्धा बनी, ऐसा विश्वास उसका हुआ कि वह आगे बढ़ गया। बोले—हे भाई, ये मिलकर भक्ति करनेवाले लोगोंसे, बिना मिले, बिना जाने, बिना पहचाने, सुन-सुनकर भक्ति करनेवाला अतीव प्रिय है—'यो मद्भक्तः स मे प्रियः,' भक्तिमान् यः स मे प्रियः। भक्तास्ते अतीव मे प्रियाः'। वे अत्यन्त प्यारे हैं जो उस अनमिले साजनसे, अनजाने रास्तेसे चलकर, मिलनेके लिए व्याकुल और उसको खुश करनेके लिए—उसे पसन्द आवे, इसलिए धर्म्यामृतका पान करते हैं, तो बहुत ही प्यारे हैं।

देखो भाई, दस दिन तो हो गया और बीस श्लोक हैं—हमने कभी महीने-दो महीने-चार महीनेमें भी इसकी व्याख्या की है, कभी दस दिनमें भी करते हैं। पहले भक्तियोग छपा हुआ है। वह तो महीनोंका व्याख्यान होगा, ऐसा मेरा ख्याल है। पर वह व्याख्यान दूसरा है, यह दूसरा है। दोनों एक नहीं है। यह नहीं कि वह पढ़ोगे तो यह उसमें आजायेगा या यह सुनोगगे तो वह उसमें आजायेगा। दोनों बिलकुल अलग-अलग है। आप लोग इतने प्रेमसे सुनते हैं। नीचे बैठते है—अपने घरकी सुख-शान्ति, आनन्द है, उसको छोड़कर आते हैं। एक बाई थी बम्बईमें—कृष्णराज ठाकरसीकी माँ मोतीबाई—उसने हमसे कहा—स्वामीजी हम कथा तो आपकी सुनना चाहते हैं पर लोगोंके बीचमें बैठकर नहीं। लोगोंकी साँस हमको लग जायेगी तो हमको तकलीफ हो जायेगी। जहाँ बहुत लोगोंकी साँस चलती हैं, वहाँ मैं नहीं बैठ सकती। हमको अकेलेमें कथा सुनाओ। बहुत भावुक थी—अच्छी थी, घरमें ठाकुरजीकी सेवा थी। पर आप लोग लोगोंकी साँसकी परवाह नहीं करते हैं। श्वास-सम्मेलनमें सम्मिलित हो जाते हैं।

यह आपका अनुग्रह है और आप लोगोंके चेहरेपर हँसी देखकर सिर हिलाते देखकर आपकी खुशी देखकर हमको खुशी होती है। ऐसा लगता है कि आपलोग अनुग्रह ही कर रहे हैं। आयोजन करनेवालोंका तो प्रेम है ही, नहीं तो क्यों करते? ये जो श्रोता हैं, सुननेवाले हैं वे सब भगवानके प्रेमी हैं, कृपालु हैं, अनुग्रह करते हैं। हम आप सब लोगोंके कृतज्ञ है, आभारी है। अब बिरला परिवारसे तो इतनी एकता-सी हो गयी है कि आभार प्रकट करनेका मन तो नहीं होता। लेकिन आप लोगोंकी इतनी प्रीति है यह देखकर खुशी होती है और आपका प्रेम हमेशा भगवान्‌में, भगवान्‌की कथामें, उनकी भक्तिमें बना रहे, यही मेरी इच्छा है।

●

गीता-दर्शन

(11)

गीता अध्याय - 13

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला

****

भूमिका

आपने द्वादश अध्यायका श्रवण किया। आप भक्त हो गये, भगवान्‌के अत्यन्त प्यारे हैं न! अच्छा तो अब भक्तको भगवत्-तत्त्वका विज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

मद्भक्त एतद् विज्ञाय

जिसकी सेवा करोगे उसके स्वरूपका अनुभव होगा ही। तदाकार वृत्ति होगी तो मैं, तू, यह, वहका भेद मिट ही जायेगा, क्योंकि अनुभविता और अनुभाव्यकी एकता हुए बिना सच्चा ज्ञान नहीं होता। अनुभव अर्थात् दृश्यका द्रष्टा! दृश्यके पीछे विद्यमान अधिष्ठान! अनु अर्थात् पीछे; भव अर्थात् है—होना। यह तो आश्चर्य है। इस देहमें ही परम पुरुष अर्थात् पुरुषके प्रत्यक् रूपको परमात्मा कहते हैं। 'परमात्मेति चाप्युक्तो'.....।

त्रयोदश अध्यायमें वर्णित-'परम ब्रह्म परमात्मा', यह नाम आपका ही है क्या? अवश्य! इसमें कोई संशय नहीं। आइये इसमें प्रवेश करें-

देह माने जो विविध प्रकारकी वस्तुओंकी राशि हो। समूहीकृत वस्तु अर्थात् अनेक वस्तुओंका मिला-जुला रूप, स्वयं उस वस्तुके लिए नहीं होता; किसी दूसरेके लिए होता है; उसका कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता कोई और ही होता है। साथ ही, वह होता है-शरीर। शरीर माने जीर्ण-शीर्ण होनेवाला क्षयिष्णु। परिवर्तनशील, अनित्य एवं विनश्वर होनेपर भी स्वभावत: इसका आदि-अन्त नहीं है। वह क्षेत्र है। क्षेत्रका अर्थ है, वह खेत जिसमें पाप-पुण्यके बीज बोये जाते हैं। वे अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होते हैं और अन्ततोगत्वा अपना बीज छोड़ जाते हैं। बीजसे वृक्ष, वृक्षसे बीज। यह अनादि परम्परा है। तत्त्वज्ञानकी तलवारसे इसका उच्छेद हो सकता है, स्वयं नहीं।

अच्छा तो देखिये, इसका विस्तार कितना है। महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त, बाप रे बाप! क्षेत्रके विस्तारका आकलन नहीं किया जा सकता है। देशके बाद देश, कालके बाद काल, वस्तुके बाद वस्तु; विविध करण, विविध कार्य। कारणके परिणममान रूपोंकी गणना सम्भव नहीं है। बड़े-बड़े दार्शनिक, वैज्ञानिक 'अज्ञेय' कहकर चुप हो गये। इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख आदि विकारोंकी संख्या उनकी ख्यातियाँ क्या बुद्धिमें समेटी जा सकती है? बुद्धि भी एक विकृति ही है। इनके अन्तका पार नहीं है। ये धूप-छाँवकी तरह चमकते रहते हैं। चाकचिक्य हैं, आभास हैं, मायाके चमत्कार हैं। इन्हें न शुद्ध अन्त:करण अपना विषय बना सकता, न अशुद्ध। ये जो कुछ हैं, क्षेत्रज्ञके स्वरूपको सूचित करनेवाले हैं। है इनका कोई ज्ञाता? हाँ, तो जिस ज्ञानसे क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ दोनों ही जगमग-जगमग, चम-चम, झिलमिल झलकते हैं, वह निर्विकार ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान हो सकता है।

उस वास्तविक अर्थात् सिद्ध ज्ञानको प्राप्त करनेके लिए अर्थात् अज्ञान और तज्जन्य भ्रान्ति, क्रान्ति, श्रान्ति, क्लान्तियोंके चक्रव्यूहसे मुक्त आत्माके रूपमें अनुभव करनेके लिए अर्थात् आवरणसे मुक्त करनेके लिए अन्त:करणकी शुद्धि अपेक्षित है। यदि यह शुद्धि न हो तो आप अन्त:करणके इन्द्रजालमें कहीं-न-कहीं

****

****

फँसेंगे, हँसेंगे, रोयेंगे। अज्ञान निवृत्तिके लिए बीस साधक और बीस बाधक गिन लीजिये-अमान, अदम्भ, अहिंसा आदि। ये ही अन्त:करणमें वह योग्यता लाते हैं जिससे हम दृश्य सम्बन्धके त्यागके योग्य बनते हैं। यही है ज्ञानका साधन।

ज्ञान और अमृतत्वमें 'व्याप्ति'; इसका अभिप्राय है अमृत हो जाना। 'अश्नुते' क्रियापदका अर्थ है अमृतसे तादात्म्य। अमृत माने ब्रह्म। वह कर्त्तव्य, उपासितव्य, ध्यातव्य एवं योक्तव्यसे विलक्षण है। वही ज्ञातव्य है। ज्ञान अमृत है, अज्ञान मृत्यु है। ज्ञान ही सुख है, अज्ञान ही दु:ख है। ज्ञान क्या? जो अनेकानेक ह्रास-विकास, उल्लास, प्रकाशके विविध रूपोंमें एक ही रहता है। एकता भी वह जिसको दोहरानेसे दो नहीं बनता। हाँ वह एकता, जिसमें आधा-चौथाई या किसी प्रकारके विभाग नहीं बनते। एक, किन्तु अद्वितीय एक। दूर भी वही निकट भी वही। चर भी वही अचर भी वही। जिसमें जड़-चेतनका विभाग नहीं। सुख-दु:खका विभाग नहीं हैं। जन्म-मरणका विभाग नहीं है। वह स्वयं ज्ञान है, ज्ञानसे उपलब्ध होता है। अवश्य, ज्ञातव्य भी वही है। वह कौन? उपलब्धि-मात्र जिसमें न ज्ञाता, न ज्ञेय, न अनुभविता, न अनुभाव्य-यही सत्य है, यही ज्ञान है, यही आनन्द है। यह उपलब्धिका विषय नहीं है, स्वयं उपलब्धि है, अपना स्वरूप है, आप ही हैं।

बारहवें अध्यायके भगवद्-भक्तके लिए यही भगवत्-तत्त्व विज्ञान प्राप्त करना होता है और वह स्वयं भगवत्-सत्तासे अपना अभेद अनुभव करता है। यही है तेरहवें अध्यायमें-मद्भावोपपत्ति।

पुरुष एवं प्रकृति दोनों ही अनादि हैं। अनादि शब्दको सुनते ही द्वैतवादी उछल पड़ते हैं। क्या आश्चर्य है! प्रकृति भी पुरुषके समान अनादि है? हाँ, है तो सही! ज्ञान पुरुष है, अज्ञान प्रकृति है। दोनोंके आरम्भका पता नहीं है। ज्ञान कबसे, अज्ञान कबसे? अज्ञानसे तो कबका पता नहीं चलेगा। ज्ञानसे भी उसके पहले, उसके पहले.....अर्थात् अज्ञानमें ही पर्यवसान होगा। परन्तु दोनोंमें अर्थात् ज्ञान-अज्ञानमें अद्भुत विलक्षणता है। अज्ञान मिट जाता है, ज्ञान नहीं मिटता। अर्थात् अज्ञान सान्त है, ज्ञान अनन्त है। कुछ लोगोंने विषयको ज्ञानमें आरोपित करके विषयकी उत्पत्ति-विनाशको ज्ञानका उत्पत्ति एवं विनाश मान लिया। अच्छा, छोड़ो उनकी बात! यह सार्वजनिक अनुभव है कि किसी भी वस्तुका अज्ञान अनादि होनेपर भी ज्ञानसे नष्ट हो जाता है। तेरहवें अध्यायका कहना है कि परमात्मा केवल अनादि ही नहीं, निर्गुण भी है-'अनादित्वात् निर्गुणत्वात्.....।' निर्गुणका अर्थ है निष्प्रकृति, कार्य-कारण भावसे विनिर्मुक्त। प्रकृतिके अत्यन्ताभावका प्रकाशक, अधिष्ठान, चेतन। प्रकृति, पुरुषके ज्ञानसे ही प्रकाशित होती है, पुरुषके अधीन है। प्रकृति या तो प्रथम कृति है या तो परमात्माके अधीनसत्ताक है अथवा परिणामी कारण है। प्रकृतिको बहुत-बहुत महत्त्व या आदर दिया जाय तो वह ब्रह्मका ही एक नाम है। एकके विज्ञानसे सर्वके विज्ञानकी प्रतिज्ञा अथवा लौह, मृत्तिका, स्वर्ण आदिके दृष्टान्तके अनुरोधसे उसकी पृथक सत्ता सिद्ध नहीं होती। अतएव पुरुष पूर्ण है, प्रकृति व्यवहार-दशामें कार्य-वर्गकी सिद्धिके लिए पुरुषमें कल्पित है। इसीसे तेरहवाँ अध्याय अन्ततोगत्वा पुरुषके ब्रह्मत्वका ही निरूपण करता है। एकमें ही स्थिति, एक-से ही विस्तारका अनुभव पुरुषकी ब्रह्म-संपत्ति है।

जहाँ सत्ता जड़ात्मक होती है, वहाँ परिणाम अथवा विकारकी सम्भावना होती है। वह दृश्य है, दृष्टिका

****

विस्तार है, दृष्टिका कम्पन है, दृष्टिसे पृथक नहीं है, दृष्टिमें ही स्थित है, एकस्थ है। वह एक कौन है? 'ईशावास्य'से मिलाइये। आत्मन्येवानुपश्यति..... ' फिर तो हुआ न वही! अपने अत्यन्ताभावके अधिकरणमें स्थित द्वैतका भ्रम मिट गया।

द्वैत होता नहीं है, द्वैत-सा होता है-'द्वैतमिव भवति' इसी 'इव'में समग्र व्यवहारका उपपादन है, एक दूसरेको विषय बनाना-विषय-विषयी भाव। अद्वैतमें विषय-विषयी भाव नहीं है। 'यत्र तु सर्वं आत्मैवाभूत्....।' कहाँ है व्यवहार? सम्पूर्ण वेद-शास्त्र-पुराण इसी 'द्वैतमिव'की व्याख्या करते हैं। 'नेति'के इति पदका व्याख्यान है सब। 'न' सबका निषेध करता है। रहा कौन? ज्ञान, आत्मा। 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।' कर्ता, करण, कर्मका निषेध है-'न करोति।' भोक्ता, भोग एवं भोग्यका निषेध है-'न लिप्यते।' अहं, इदं दोनों उड़ गये। रहा कौन? आप, केवल आप। दृष्टान्त है, आकाश। यह वायु आदिके कारण तथा आधारके रूपमें कल्पित है। आत्मानुभूतिकी दृष्टिसे यह चिदाकाशसे पृथक नहीं है। 'निर्विशेष' पदका अभिप्राय भी अशेष, विशेषके निषेधमें ही है, अवशेष रूपसे निर्विशेषत्वकी स्थापनामें नहीं है। इसका अभिप्राय है, ज्यों-का-त्यों। न परिवर्तन, न प्रवर्तन, न परिवर्द्धन, न प्रतिषेधन।

त्रयोदश अध्यायमें साधनका विचार भी विलक्षण है। केवल क्षेत्र ज्ञान नहीं, और केवल क्षेत्रज्ञ ज्ञान भी नहीं। क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ ज्ञानके विषय हैं, ज्ञान प्रकाशक है-'एतज्ज्ञानं मतं मम।' 'ज्ञात्वाऽमृतम् अश्नुते' इसमें ज्ञान-वृत्ति अबाधित नहीं है, उसका भी बाध होता है। अमृतत्वकी प्राप्ति भी नहीं है, व्याप्ति है, अर्थात् वृत्तिव्याप्ति तो है, फलव्याप्ति नहीं है। फिर साधन क्या है? ज्ञानोत्पत्तिके पूर्व ज्ञानकी प्राप्तिके लिए साधन हैं, अमानित्व...आदि। ठीक है, अब जिनके लिए अमानित्वादि साधन और वृत्तिव्याप्ति दोनों दु:साध्य हैं उनके लिए चार प्रकारके साधनोंका निरूपण है-

1. ध्यान-इससे अपने अन्त:करणमें ही एकाग्र एवं सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा अपने आत्माका ध्यान-अनुसन्धान होता है। यह दर्शन ध्यान-सम्पाद्य होनेके कारण किसी दूसरे मतवादियोंका है-'केचित्'। ध्यानमें पहले कल्पित ध्येयाकार वृत्ति होती है। उससे तादात्म्य परमार्थ नहीं हो सकता। परन्तु साधन है, क्योंकि स्वनिर्मित ध्येयका द्रष्टा ध्येयके बाधमें समर्थ हो जाता है।

2. सांख्ययोग-इसमें द्रष्टा-दृश्यका विवेक होता है। दृश्य एक कोटिमें आजाता है और द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। 'विवेकख्याति'का यह श्रेष्ठ उपाय है, परन्तु यह अद्वैत-बोध नहीं है-'अन्ये सांख्येन....'।

3. कर्मयोग-आलस्य, निद्रा, प्रमादका त्याग। तदनन्तर क्रमश: निषिद्ध एवं सकाम कर्मका परित्याग। फिर निष्काम कर्ममें कतृत्वका परित्याग। कर्तृत्वका त्याग होनेपर विक्षेप या समाधि दोनों स्थिति रह सकती हैं। भोग सम्बन्ध टूट जाता है। अकर्ता, अभोक्ता आत्माके ज्ञानमें स्पष्टता आजाती है परन्तु अद्वितीयताका बोध नहीं होता। यह साधन करनेवाले भी 'केचित्' एवं 'अन्ये'के समान 'अपरे' हैं।

4. अब है चतुर्थ, साधन। ठीक है, साधनोंका विवेक नहीं है, तब आत्मज्ञानका कोई उपाय नहीं है क्या?

है। वह है श्रद्धा। आत्मज्ञानियोंसे श्रवण करके निष्ठाके साथ उपासना करनी चाहिए। उन्हें भी 'अतिमृत्युमेति'के समान ही मृत्यु-संतरणका मार्ग मिल जायेगा; तर ही जायेंगे।

यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि वस्तुके निर्माणका विभाग है-कर्म। कर्मके द्वारा वस्तुका उत्पादन, प्राप्ति, संस्कार और परिवर्तन किया जाता है। विद्यमान वस्तुका यथार्थ बोध प्राप्त करनेमें कर्मका साक्षात् उपयोग नहीं होता है। विद्यमान पदार्थ यदि स्थूल है तो प्रत्यक्षके द्वारा, सूक्ष्म अथवा दूर है तो अनुमानके द्वारा, देखा हुआ नहीं है तो सादृशके द्वारा, नित्य-परोक्ष है तो शास्त्रके द्वारा ज्ञात होता है। स्वयं अपने आत्माको जो कि साक्षात् अपरोक्ष है, कर्मके द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता। आत्मानुभूति न कर्म-संस्कारसे उत्पन्न होती है और न तो किसी प्रकारका संस्कार बनाती है। आत्मा कभी परोक्ष न था, न है और न होगा। वह स्वयं है। इसलिए कर्म-परीक्षा तथा प्रमाण-परीक्षाके द्वारा उसका निर्माण या विषयोंके समान ज्ञान प्राप्त नहीं किया जाता। उसके लिए तो 'ये विदुर्यान्ति ते परम्।' 'पर' शब्दका अर्थ-देश, काल एवं वस्तुसे परे अन्यके रूपमें नहीं है। परत्व है आन्तरसे, आन्तरकी पराकाष्ठा अर्थात् स्वयं। इसीसे इसको 'अविज्ञेय', 'सूक्ष्मत्वाद् तदविज्ञेयं' कहा गया है। 'अविज्ञेय' होनेपर भी अवश्य ज्ञातव्य है, इसलिए 'ज्ञेय' है। ज्ञेयके साक्षात्कारका असाधारण करण ज्ञान ही है-'ज्ञानगम्यं'। इतना ही नहीं वह स्वयं ज्ञान अर्थात् ज्ञप्तिस्वरूप है, ज्ञाताज्ञेयकी कल्पनासे असंस्पृष्ट। तब साधनका अर्थ क्या है? अन्त:करणकी शुद्धि। वह पहले ही कर ली गयी।

अविज्ञेय एवं ज्ञेय दोनोंका एक साथ प्रयोग निश्चय ही ध्यान देने योग्य है। घट-पटादिके समान विज्ञेय न होनेपर भी, स्वयंप्रकाश, सर्वावभासकके रूपसे साक्षात् अपरोक्ष ही है। अवेद्य एवं अपरोक्ष, यह ही स्वयं-प्रकाशका लक्षण है। त्रयोदश अध्याय बारम्बार 'एकस्थमनुपश्यति', 'य: पश्यति स पश्यति' दुहराकर श्रुतियोंकी भाषामें ही बोलता है-'एकत्वमनुपश्यत:', 'आत्मन्येवानुपश्यति'। है न श्रुति-वचन! जहाँ सूर्यज्योति, चन्द्रज्योति अर्थात् दृष्टि एवं मन अपना कार्य करनेमें विफल हो जाते हैं-वहाँ वाग्ज्योति काम देती है। अज्ञानसे ही ज्ञान आवृत है-'अज्ञानेन आवृतं ज्ञानम्।' ज्ञानसे ही अज्ञानका नाश होता है-'ज्ञानेन तु तदज्ञानम्।'

'ज्ञान' व्यक्तिका अलंकार नहीं है। व्यक्ति ही ज्ञानकी एक चमक है-धूप-छाँव जैसी। व्यक्तिमें अनेकता, संस्कारोंकी अनेकतासे होती है। 'ज्ञान' व्यक्तिका व्यवस्थापक नहीं है, संस्कार ही उसका व्यवस्थापक है। यदि ऐसा न होता तो सब ज्ञानियोंका व्यक्तित्व एक-जैसा ही होता। सब समाधिस्थ होते अथवा सब विक्षिप्त होते। परन्तु 'ज्ञान' समाधि तथा विक्षेप दोनोंका प्रकाशक है। ऐसा हो अथवा वैसा हो। योगी तथा ज्ञानीके व्यक्तित्वकी विद्यमानतामें तो कोई सन्देह है ही नहीं। वह है-आत्मरूपसे हो, समाधिस्थ रूपसे हो, क्रियाशील रूपसे हो, है अवश्य। परन्तु उसकी वर्तमानतामें सन्देह है। विद्यमानता अस्तित्व है। वर्तमानता व्यवहार है। 'विद्' सत्ता है। 'वृत' वर्तन है। छठवें अध्यायका कहना है कि योगी कैसा भी बर्ताव करे मुझमें ही बर्तता है। त्रयोदश अध्यायका कहना है कि ज्ञानी चाहे कैसा भी बर्ताव करे उसका पुनर्जन्म नहीं होता। जन्म-मरणकी भ्रान्ति निवृत्त हो गयी, यह जन्म ही उसका नहीं तो उत्तर जन्मका क्या प्रसंग है!

रही बात वर्तमान व्यक्तित्वकी, सो ज्ञानके अनन्तर विविध प्रकारका देखा जाता है। शुकदेवकी समाधि,

वसिष्ठका पौरोहित्य, जनक-अश्वपतिका राज्य, रामका विवाह, अर्जुनका युद्ध, सनत्कुमारकी बालक्रीड़ा, ऋषभदेवकी अनवधानता, दत्तात्रेयकी स्वच्छन्दता शास्त्र-प्रसिद्ध है। 'सर्वथा वर्तमानोऽपि......' का अभिप्राय जाति, सम्प्रदाय, देश, काल आदिसे आबद्ध जीवन नहीं है। ज्ञानीके स्वातन्त्र्यमें कुछ भी बाधक नहीं है। वेद, शास्त्र, पुराण, आचार्य-परम्परा, संस्कार आदि आकाशकी नीलिमाके समान बाधित होकर प्रतीत हो रहे हैं। उपाधिके मिथ्यात्व-निश्चयके साथ ही आधि, व्याधि, समाधि सबका सत्त्व-महत्त्व समाप्त हो गया। लोक, परलोक, अलोक सबका वैराग्य-कालमें ही तृणीकार हो गया था, अब ब्रह्मीकार हो गया। ज्ञानीको स्वदृष्टिसे दूसरा कुछ है नहीं या भासता है, तो सब आत्मा ही है। अतएव आप चौदहवें अध्यायमें देखेंगे कि सत्त्वात्मक प्रकाश, रजोगुणात्मक प्रवृत्ति एवं तमोगुणात्मक मोहकी सम्प्रवृत्ति एवं निवृत्तिमें ज्ञानी पुरुषको किञ्चित् भी राग-द्वेष नहीं है। 'न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति।' भक्त तथा गुणातीत, 'सर्वारम्भ परित्यागी'के साथ-साथ शुभाशुभ-परित्यागी भी होते हैं।

बारहवें अध्यायकी भक्ति दोष-निवारक जैसे 'अद्वेष्टा' आदि एवं भगवत् -प्रीतिजनक है। तेरहवें अध्यायकी भक्ति ज्ञानके लिए अधिकार-सम्पत्ति प्राप्त करती है। चौदहवें अध्यायकी भक्ति गुणातीत करती है। पन्द्रहवें अध्यायकी भक्ति सर्वभावको भजन बना देती है।

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत।

आप विचार करके देखेंगे तो भक्तिके यह सब रूप आत्मानुभूतिके क्रमिक साधन अथवा क्रमिक विकास है। 'ज्ञान'से ही भूत 'प्रकृति-मोक्ष' एवं परतत्त्वका-साक्षात्कार होता है।

गीता अध्याय -13

प्रश्न-उत्तर

प्रथम दिवस

(28-10-84)

श्रीमती सरला बसन्त कुमार बिरला द्वारा पूज्य स्वामीजीका स्वागत

पूज्य स्वामीजी महाराज को श्रद्धासहित हमारा प्रणाम। आप प्रतिवर्ष यहाँ पधारकर हमपर अत्यन्त अनुग्रह करते हैं। गतवर्ष गीताके बारहवें अध्यायका सुन्दर निरूपण हुआ था। इस वर्ष इस शृङ्खलामें नयी कड़ी जुड़ेगी। गीताके चौथे अध्यायमें भगवान्‌ने कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

हमलोग अपनी जिज्ञासाएँ पूज्य महाराजश्रीके समक्ष प्रस्तुत करेंगे तथा वे अपनी अमृतवाणी और उत्तम विचारोंसे उनका समाधान करेंगे। हम प्रश्न करनेवालोंका स्तर तो पहली कक्षाका है तथा पूज्य स्वामीजी हमारे देशके सबसे उच्च कोटिके विद्वान् हैं। इस अन्तरको पूज्य स्वामीजी अपने उदात्त भावसे ठीक करेंगे, यही में आशा करती हूँ। आप सब महानुभावोंका अपनी तरफसे स्वागत करती हूँ। स्वामी प्रबुद्धानन्दजीके सहयोगसे यह यज्ञ निर्विघ्न समाप्त होगा। जिज्ञासाओंको एकत्रित करनेमें पं० विष्णुकान्तजी शास्त्री एवं श्री बिन्नाणीजीने सहयोग दिया है; इसके लिए मैं उन्हें धन्यवाद देती हूँ। ईश्वर पूज्य स्वामीजी महाराजको उत्तम स्वास्थ्य एवं दीर्घायु प्रदान करें। आप सबका जीवन मङ्गलमय रहे तथा हमें इस प्रकारके सत्संगका सुअवसर हमेशा प्राप्त होता रहे। अब मैं शास्त्रीजीसे अनुरोध करूँगी कि वे अपना कार्य आरम्भ करें।

श्रीविष्णुकान्त शास्त्रीजी द्वारा प्रश्न-प्रस्तुति

यह हमलोगोंका सौभाग्य है कि हम पूजनीय गुरुजीके समक्ष अपनी जिज्ञासाएँ रख पा रहे हैं। सच बात यह है कि देशमें प्रश्नोंकी भरमार हो गयी है और लगता यह है कि उत्तर किसीके पास नहीं है। प्रश्न ज्यों-ज्यों बढ़ रहे हैं, घट रहे हैं त्यों-त्यों जवाब। होशमें भी एक पूरा देश बेहोश हैं। हमारा पूरा देश तथा कथित होशमें बेहोश जैसा व्यवहार कर रहा है। जिसे देखिये वे प्रश्न पूछते चले जा रहे हैं और जवाब देनेवाले नहीं मिलते। प्रश्न दो मुद्राओंमें पूछे जाते हैं। एक मुद्रा जाननेकी होती है, विनम्रताकी होती है, जैसा कि गीतामें बताया गया कि प्रणिपात और सेवासे सम्पुटितकर परिप्रश्न करनेका अधिकार है। विनम्रतासे गुरुके पास जाकर सेवा करनेके बाद विषयको समझनेका अधिकार प्राप्त होता है। उसका अभाव है। अहङ्कारसे, दर्पसे, सामनेवालेको नीचा दिखानेकी नीयतसे जो सवाल उछाले जाते हैं; वे अनुचित सवाल होते हैं। दूषित होते हैं। दृष्टि यदि दूषित है तो इसका निष्कर्ष भी उत्तम नहीं होगा। लगता यह है कि हम सब जैसे खूँटियोंमें टँग गये हैं। काम, क्रोध,

लोभ, मोह, शोषण, स्वार्थ, दृष्टिहीनताकी खूँटियोंमें हैं। उन खूँटियोंपर टँगे-टँगे हम यह सोच रहे हैं कि हमारा नहीं, खूँटियोंका अपराध है। क्या हम चल नहीं पा रहे हैं, हम टँगे हैं। अपराध हमारा ही है। हम स्वयं अपनेको मुक्त नहीं करना चाहते। हम सवाल उछालते हैं, जाननेके लिए नहीं, अपने पाण्डित्यके प्रदर्शनके लिए, सामनेवालेको निरुत्तर करनेकी इच्छासे, इसलिए उत्तर नहीं मिलता। हमसब श्रद्धासे, विनम्रतासे, पूजनीय गुरुजीके समक्ष अपनी जिज्ञासाएँ रखेंगे। सीमा यह है कि जिज्ञासा भी वही कर सकता है जो विषयको जानता हो, जबतक विषय हृदयंगम नहीं होता तबतक उसमें पूछने लायक क्या है, यह समझमें नहीं आता और जैसा कि माननीया सरलाजीने बताया कि पूछनेकी हमारी पात्रता प्रथम श्रेणीकी है, पहले दर्जेकी है; विषय इतना कम हम जानते हैं कि उसके सम्बन्धमें सार्थक प्रश्नोंकी तलाश हमारे लिए कठिन है। फिर भी चेष्टा की गयी है। जो कुछ हमारी कमी है, गुरुजी उसे अपनी तरफसे सुधार लेंगे।

प्रश्न : यह है कि भक्तियोगके निरूपणके अनन्तर क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग योगके कथनकी संगति क्या है?

उत्तर : बारहवें अध्यायके पश्चात् तेरहवाँ अध्याय क्यों प्रकट हुआ क्योंकि—'या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनि:सृता' भगवान्के हृदयमें गीता पहलेसे भरी थी और वह प्रकट हो गयी। एक बारकी बात है जब पढ़ते समय काशीमें छुट्टियाँ होती तो हम कहीं ऐसे ही घूम आते। एक बार चुनार चले गये। चुनारमें एक दुर्गाखोह नामकी जगह है, उसमें दो-चार महात्मा उन दिनों रहते थे। एक महात्मा थे, उनका नाम था एकलिंगस्वामी। मद्रासी थे। गीताकी चर्चा चली तो उन्होंने बताया कि गीताकी एक 'स्वयंविमर्श' टीका है—माने गीताके सम्बन्धमें जो भी प्रश्न हो गीता मातासे ही उसका उत्तर माँगो तो वह स्वयं दे देती है। अब हम गीता मातासे ही पूछते हैं कि भक्ति और भक्तका वर्णन करनेके प्रश्चात् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विवेककी क्या आवश्यकता पड़ी? गीता माता तेरहवें अध्यायमें ही कहती हैं—'मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते'—मेरा भक्त यह विज्ञान प्राप्त करके कि क्षेत्र क्या है, क्षेत्रज्ञ क्या है और दोनों परमात्माके स्वरूपमें अन्तर क्या है और दोनोंकी प्राप्तिका साधन, ब्रह्मके साक्षात्कारका साधन क्या है, यह बतलाकर बोलती हैं—क्षेत्रका लक्षण, क्षेत्रज्ञका लक्षण, साधन और तत्त्वज्ञान। इनका उपदेश करके गीता माता फिर बोलती हैं 'मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते'। मेरा भक्त जब यह विज्ञान प्राप्त कर लेता है तो मेरा 'स्वरूप' हो जाता है। मैं समझता हूँ कि प्रयोजन बतानेके लिए इससे बढ़िया और कोई उत्तर नहीं है। और ज्ञानके साधनोंमें 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'—अनन्य योगसे भगवान्में अव्यभिचारिणी भक्ति—जैसे एक सती, पतिव्रता स्त्री देखती है कि मेरे पतिके सिवाय और कोई पुरुष है ही नहीं—जब ऐसी भक्ति भक्तके हृदयमें प्रकट होती है तब उसको परमात्माकी एकताका, अद्वितीयताका बोध होता है। भक्ति पतिव्रता तब होती है जब उसकी दृष्टिमें परमात्माके सिवाय दूसरा कुछ नहीं रहता। यह तो हमारे बचपनकी बात है। गीता स्वयं-प्रकाश है और गीता स्वयं विमर्श करने पर अपने सम्बन्धके सारे प्रश्नोंका उत्तर दे देती है।

अब थोड़ी-सी बात पुराने आचार्योंकी भी करते हैं। गीतापर इस समय जितनी भी टीकाएँ उपलब्ध हैं उनमें यदि हनूमत्-कृत पैशाच भाष्यको पीछेकी न मानें तो वह सबसे पुरानी माननी पड़ेगी। परन्तु उसको

पुरानी माननेमें कई शंकाएँ है; क्योंकि शंकराचार्यके भाष्यका ही संक्षेप उसमें मिलता है। वे ही पंक्तियाँ हैं, वे ही वाक्य हैं। शङ्कराचार्य भगवान्ने ऐसे निरूपण किया कि सातवें अध्यायमें परा प्रकृति और अपरा प्रकृतिका वर्णन आया; अपरा प्रकृति जड़, प्रपंचरूपा है, 'भूमिरापोऽनलो वायु: खं मनो बुद्धिरेव च'। वह क्षेत्र है और 'इतस्तु अन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो'—यह परा प्रकृति है, जीव क्षेत्रज्ञ है और 'अहं कृत्स्नस्य जगत: प्रभव: प्रलयस्तथा'। परमात्मामें क्षेत्र बाध सामानाधिकरण्यसे और क्षेत्रज्ञ मुख्यसामानानिधकरण्यसे एक होता है। तो वही परा प्रकृतिका और अपरा प्रकृतिका सातवें अध्यायमें जो संक्षेपसे वर्णन था, उसको तेरहवें अध्यायमें स्पष्टताके साथ निरूपण कर रहे हैं। दूसरा, सातवें अध्यायमें ही यह उठाया कि हमारी भक्ति करनेवाले चार प्रकारके लोग हैं। 'आर्तो जिज्ञासु: अर्थार्थी ज्ञानी च'। तो ज्ञानी भक्त कैसा होता है, इसका निरूपण बारहवें अध्यायमें किया गया है। 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' आदि श्लोकोंमें जो भक्तके लक्षण हैं—किसीसे द्वेष न करना, सबसे मित्रता रखना, दु:खीपर करुणा करना, संसारमें कहीं ममता नहीं जोड़ना, किसी बातका अहङ्कार नहीं करना, इन लक्षणोंके प्रसङ्गमें, कुछ ऐसे लक्षण भी बताये गये हैं जो सिवाय ज्ञानीके दूसरे किसीके जीवनमें होने कठिन हैं।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च य:।

जिससे किसीको उद्वेग न हो और जो किसीसे उद्विग्न न हो। इतना विलक्षण और विचक्षण लक्षण है कि जिससे किसीको उद्वेग न हो और जो किसीसे उद्विग्न न हो। यह बात तभी हो सकती है जब एकताका अनुभव हो। यदि सम्प्रदायमें आग्रह होगा, तो दलबन्दीमें आग्रह होगा, क्षेत्रबन्दीमें आग्रह होगा तो वह मनुष्य किसी-न-किसीको एक सम्प्रदायवाला दूसरे सम्प्रदायवालेको, एक जातिवाला दूसरी जातिवालेको और एक पार्टीवाला दूसरी पार्टीवालेको उद्विग्न करेगा ही करेगा। जो दलबन्दीसे, सम्प्रदायसे, जातिवादसे, क्षेत्रवादसे सर्वथा निर्मुक्त है वह अद्वितीय, परब्रह्म, परमात्माका अनुभव करनेवाला तत्त्वज्ञ ही ऐसा हो सकता है जो किसीको उद्विग्न न करे और किसीसे उद्विग्न न हो। वह तो समुद्र अपने अन्दर रहनेवाले मगरमच्छोंसे उद्विग्न नहीं होता और मगरमच्छ समुद्रकी गहराईसे उद्विग्न नहीं होते। न समुद्र मगरमच्छोंसे डरता है न तो मगरमच्छ समुद्रसे। यह ज्ञानी ब्रह्म-समुद्रमें विचरण करनेवाला एक मगरमच्छ है, न इसको उद्वेग है, न समुद्रको उद्वेग है। यह लक्षण ज्ञानीके सिवाय और किसीके जीवनमें होना कठिन है। इसलिए तेरहवें अध्यायमें उत्तम ज्ञानका निरूपण हुआ—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यतज्ज्ञानं मतं मम:।

जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंको प्रकाशित करनेवाला ज्ञान है, जिससे क्षेत्र मालूम पड़ता है कि क्षेत्र है और क्षेत्रज्ञ मालूम पड़ता है कि क्षेत्रज्ञ है—इन दोनोंका प्रकाश जिस ज्ञानसे होता है, वह परमात्माका शुद्ध ज्ञान है। एक तीसरी प्रक्रिया है, जो पूरे महाभारतके व्याख्याता श्रीनीलकण्ठाचार्यने की है। भारत-भावदीप उनकी पूरे महाभारतपर टीका है। और महाभारत जैसा तो दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं है। और सब तो प्रकरण-ग्रन्थ हैं—कोई भक्तिके प्रतिपादक, कोई योगके प्रतिपादक, कोई सामाजिक व्यवहारके प्रतिपादक, कोई राजनीतिके

प्रतिपादक पर महाभारत ऐसा है कि विश्वसृष्टिमें जितने प्रकारके मनुष्य हो सकते हैं, जितनी प्रकारकी चित्तवृत्तियाँ हो सकती हैं, उन वृत्तियाँको पात्रका रूप देकर महाभारतमें चित्रण किया गया है। उसी महाभारतका एक अङ्ग गीता भी है और पूरे महाभारतपर टीका लिखते समय उन्होंने गीतापर भी टीका लिखी है। उनका कहना है कि दूसरे अध्यायमें आत्माका लक्षण बताया गया—

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥

आत्माका स्वरूप है अव्यक्त अविकार्य। और बारहवें अध्यायमें यह बात कही गयी कि यह परमात्माका लक्षण है—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

द्वितीय अध्यायमें जो आत्माका लक्षण बताया गया और वहाँ उसको सर्वगत कहा गया—'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अचलोऽयं सनातनः' और यहाँ 'ये त्वक्षरम् अनिर्देश्यं' में परमात्माका, ब्रह्मका, लक्षण बताया गया और उसको भी 'सर्वत्रगम्' कहा गया कि वह सर्वत्र परिपूर्ण है। सर्व देशमें, सर्वकालमें, सर्व वस्तुमें। जब लक्षण एक है तो आत्मा एक हो और परमात्मा अलग हो, यह नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही लक्षणकी दो वस्तु नहीं हो सकतीं। वह लक्षण ही नहीं होता जो दो पदार्थोंमें घटित हो जाय। तो इसका अर्थ यह हुआ कि द्वितीय अध्यायका आत्मा और बारहवें अध्यायका परमात्मा दोनों एक हैं। यह दोनों एक हैं, इसका बोध कैसे हो—इसके लिए तेरहवाँ अध्याय प्रारम्भ किया जाता है और इसमें एकताका ऐसा वर्णन है कि इसमें तो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों ही परमात्मा हैं, इसका वर्णन आता है। 'अनादिमत्परम् ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते। सर्वतः पाणिपादं तत्'—फिर 'सर्वस्य हृदि विष्ठितम्' 'सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयम्' 'अचरं चरमेव च'। अचर भी वही है और क्षेत्रज्ञ भी वही है—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।

इसलिए सम्पूर्ण जगत् भी परमात्मासे अभिन्न है। जीवात्मा भी परमात्मासे अभिन्न है। इसलिए परमात्मासे भिन्न कोई भी वस्तु नहीं है। इसका विवेक करनेके लिए तेरहवाँ अध्याय प्रारम्भ हुआ है—नीलकण्ठके भारत-भावदीपमें ऐसी अवतरणिका दी हुई है। कहनेका अभिप्राय यह है कि जीवन हमारा विवेकसे पूर्ण होना चाहिए। यह शरीर क्षेत्र है। क्षेत्र माने? जैसे कहते हैं यह पुण्य-क्षेत्र है। यह नैमिषारण्य-क्षेत्र है। यह दण्डकारण्यक्षेत्र है—यह वाराणसी-क्षेत्र है। जहाँ पवित्रात्मा लोग निवास करें उसका नाम हो जाता है क्षेत्र। और जो अन्तमें क्षीण हो जाय उसको भी क्षेत्र कहते हैं और जिसमें बोये हुए पाप-पुण्य अङ्कुरित होते हैं और अपना फल देते हैं उसको भी क्षेत्र कहते हैं। इस क्षेत्रमें खेती करनेवाला क्षेत्री है तथा जो खेती न करे

लेकिन क्षेत्र-क्षेत्री दोनोंको जाने वह क्षेत्रज्ञ है। वह क्षेत्रज्ञ अद्वितीय परमात्मासे सर्वथा पृथक् नहीं है यह बतानेके लिए तेरहवें अध्यायका आरम्भ होता है।

प्रश्न : शाङ्कर भाष्यमें इसका नाम है 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ योग' तथा रामानुज भाष्यमें इसे 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग' कहा गया है। क्या इन नामोंमें अन्तरका कोई विशेष कारण है? डॉ० राधाकृष्णन्ने अपने गीता-संस्करणमें इसके आरम्भमें एक श्लोक स्वीकृत किया है जो शङ्कर और रामानुज दोनों आचार्योंके भाष्योंमें नहीं मिलता। वह श्लोक है—

अर्जुन उवाच—

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव॥

आप इस श्लोकको मूल मानते हैं या क्षेपक? इसे मूलके अन्तर्गत स्वीकार करनेपर गीताकी श्लोक संख्या 701 हो जायगी—जब कि सामान्यतः इसके 700 श्लोक माने जाते हैं।

उत्तर : ऐसा है कि श्रीरामानुजाचार्यके मतमें तो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका ज्ञान होनेपर भी वे अलग ही अलग रहते हैं। क्षेत्र-विभाग अलग रहता है। 'महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च' और 'एतद् यो वेत्ति' क्षेत्र-विभाग अलग रहता है और ये दोनों चिद्-अचिद् (चिद् जीव और अचिद् जगत्) अयुतसिद्ध विशेषणके रूपमें परमात्मामें लगे रहते हैं। माने चिद्-अचिद् विशिष्ट है परमात्मा; इसलिए दोनोंका विभाग समझना उनके लिए है कि 'क्षेत्र' यह है, 'क्षेत्रज्ञ' यह है और यह दोनों परमात्माके विशेषणके रूपमें लगे रहते हैं। जैसे 'नीलम् कमलम्' जब बोलते हैं (कमल नील होता है) तो नील रंग जो है वह कमलका विशेषण है और वह कमलसे जुड़ा हुआ है। इसीसे कमलको अद्वितीय भी कहेंगे और कमलका नीलकमल, पीला कमल, सफेद कमल ऐसा कमलमें भेद भी होगा। श्रीरामानुजाचार्यकी दृष्टिसे भेद है और वह भेद परमात्माके साथ हमेशा जुड़ा हुआ है और जुड़ा रहेगा। इसलिए केवल विभाग ही बताना उनको अभीष्ट है। परन्तु शङ्कराचार्यके मतमें यह तो विशेषण और विशेष्य विशेषण-विशेष्य नहीं है बल्कि परमात्माके लक्षण हैं। जब हम अद्वैत तत्त्वका वर्णन—'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते'—सुनते हैं तब मालूम पड़ता है कि 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' और 'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम्'—परमात्मा ही व्यक्तिस्वरूप है, परमात्मा ही ज्ञेय है और परमात्मा ही ज्ञानगम्य है। माने परमात्माके सिवाय दूसरा कोई नहीं है। तो वहाँ विभाग बतानेकी जरूरत नहीं है क्योंकि अन्ततोगत्वा दोनों परमात्मासे एक हो जायँगे। जब यह निश्चित कर लेते हैं कि इस सिद्धान्तका हमको प्रतिपादन करना है तो उस सिद्धान्तकी सिद्धिके लिए जिस शास्त्रकी व्याख्या करते हैं उस शास्त्रकी भी वैसे ही पद्धति और वैसी ही प्रक्रिया निश्चित कर लेते हैं। हमें शंकर और रामानुज दोनों इस दृष्टिसे अच्छे लगते हैं कि दोनों ही परमेश्वरको मानते हैं। दोनों ही वेदको मानते हैं। दोनों ही भक्तिको मानते हैं, दोनों ही सदाचारको मानते हैं और दोनोंका दृष्टिकोण मानवताके पक्षमें है। न उनका पक्ष किसी प्रान्त, राष्ट्र, जाति, वर्ण पर है और न किसी खास परम्पराके प्रति उनका आग्रह है। वे चाहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य अपने जीवनमें सत्यका साक्षात्कार करे और वह देखे कि

यह जो विश्व-सृष्टि दिख रही है, यह सब परमात्मासे अभिन्न है। तो जो दुनियादारीमें हमारी फँसी हुई दृष्टि है उसको ऊपर उठाकर भगवान्में लगानेका प्रयास दोनों ही करते हैं। इसलिए विशिष्टाद्वैतकी दृष्टिसे यह विभागका वर्णन है—'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग' और शंकराचार्यकी दृष्टिसे यह विभाग नहीं है; यह तो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका परमात्माके साथ सीधा-सीधा योग है। इसलिए दोनोंके नाममें अन्तर होने पर भी नामके भेदसे वस्तुमें कोई भेद नहीं होता है।

श्लोकके सम्बन्धमें ऐसा है कि शङ्कर, रामानुज, मध्वाचार्य और निम्बार्काचार्यके व्याख्याता हैं केशव कश्मीरी—ये लोग इस श्लोकको नहीं मानते हैं। बल्लभ सम्प्रदायके जो व्याख्याता हैं—बल्लभ दीक्षित और पुरुषोत्तमजी गोस्वामी—वे भी नहीं मानते हैं—इस श्लोकको और चैतन्य महाप्रभुके सम्प्रदाय के जो व्याख्याता हैं—बलदेव विद्याभूषण और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती—वे दोनों भी नहीं मानते हैं। ये जो कश्मीरी शैव हैं उनके पाठमें यह श्लोक आता है और बल्लभ सम्प्रदायवालोंने तो स्पष्ट रूपसे लिख दिया है कि कई लोग यह श्लोक तेरहवें अध्यायमें मानते हैं, परन्तु वह वस्तुतः है नहीं। अब हम लोगोंकी बात है कि सम्प्रदाय-परम्परासे जो प्राप्त है, उसीमें विशेष आदर रखते हैं और कभी-कभी तो ऐसा भी हमको लग सकता है कि जो लोग सीधी संगति बारहवें अध्यायके साथ तेरहवेंकी नहीं लगा पाते हैं वे एक प्रश्न बीचमें रख देते हैं। तो इसको प्रक्षिप्त माननेमें हमको तो कोई आपत्ति नहीं है।

प्रश्न : शरीरको क्षेत्र कहनेकी आवश्यकता क्यों पड़ी? क्षेत्र यदि शरीर है तो क्षेत्रज्ञ क्या जीवात्मा है? फिर प्रभु कहते हैं—'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'—तो क्या प्रभु ही क्षेत्रज्ञ हैं? यदि ऐसा ही है तो अर्जुन अलग रहते हुए सभी क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञके रूपमें प्रभुको कैसे जान सकता है?

उत्तर : हमारे एक शङ्करानन्द नामके गीताके टीकाकार हुए हैं। बड़ी अद्भुत टीका है उनकी। वे तो कहते हैं कि 'क्षेत्रज्ञं चापि' जो है, उसमें 'चापि' का अर्थ यह है कि 'क्षेत्रमपि क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' में ही क्षेत्र हूँ और मैं ही क्षेत्रज्ञ हूँ। ये शङ्करानन्द स्वामी विद्याचरण्य स्वामीके गुरु थे और बारहवीं शताब्दीमें इनकी उपस्थिति मानी जाती है। इन्होंने श्रीमद्भागवतके भी बहुत-से उद्धरण लिये हैं। पहले इस शरीरमें जो जड़ता है उससे अपनेको अलग करना आवश्यक है। हमारा जो अविवेक है, इसने हमको हड्डी, मांस, चाम, मल, मूत्रसे एक करके रख दिया है। यह हमको पता ही नहीं कि इतनी गन्दी चीज हम अपनेको मानकर कैसे जी रहे हैं। इस गन्दे गड्ढेमें-से निकालनेके लिए विवेककी आवश्यकता होती है।

विवेक कैसे करना होता है? जैसे एक तो हड्डी-मांसका बना हुआ शरीर है और इसमें क्रिया होती है। एक तो हुआ शरीररूप द्रव्य और उसमें जो क्रिया होती है, वह प्राणका काम हुआ। इसमें एक ज्ञान है। पहले विवेक यह करना पड़ता है कि एक द्रव्य है, क्रिया इसमें होती है और ज्ञान भी होता है। ज्ञान इस शरीरके साथ इतना मिल गया कि इसके द्वारा जितनी क्रिया होती है, उसको वह अपनी समझता है। ज्ञान अपनेको ज्ञान नहीं समझ पाता। अपनेको वस्तु और क्रियाओंका-कर्मोंका कर्ता मान बैठा है। ऐसी स्थितिमें वह कभी मुक्त नहीं हो सकता। इस परम्परासे—ज्ञानके अनुसार शरीरकी प्राप्ति हो और शरीरके अनुसार क्रिया हो। क्रियाके अनुसार

शरीरकी प्राप्ति हो। यह जो अनादिकालसे अबतक प्रपञ्च चल रहा है, इससे कभी उसको छुट्टी नहीं मिल सकती। तो ऐसी अवस्थामें यदि किसीको ऐसे बन्धनसे मुक्त होना हो तो विवेककी आवश्यकता पड़ती है। विवेक माने संस्कृतमें होता है पृथक्करण—दो चीजें जब एकमें मिल गयी हों तो उनको अलग-अलग करनेका नाम विवेक होता है। 'विचिर पृथक् भावे' एक धातु है और उससे 'विवेचनं विवेक'—दाल, चावल एकमें मिल गये हों तो उनको अलग करना। एक बहुत साधारण-सी बात है—आप ध्यान दें तो पता लगे!

एक मनुष्य हमारे सामने बैठा है। उसको अपने मनुष्य होनेका भान कितनी देर होता है? आप देखें—मनुष्यने विभिन्न सम्बन्धोंमें अपनेको इतना फँसा दिया है कि या तो वह अपनेको किसीका पुत्र समझता है या तो किसीका पिता समझता है—किसीका नाना, किसीका भाई, किसीका बहनोई, किसीका फूफा, किसीका साला, किसीका साढ़ू और कोई अपनेको ब्राह्मण समझता है, कोई क्षत्रिय समझता है। कोई संन्यासी समझता है, कोई गृहस्थ समझता है। लेकिन जिस मानवमें ये सारे आरोप किये गये हैं—वे सारे सम्बन्ध जोड़े गये हैं। मानवता कहाँ चली गयी? कुछ ब्राह्मणने हर ली, कुछ संन्यासीने, कुछ गृहस्थने, कुछ नानाने, कुछ नानीने, कुछ बेटाने, कुछ बेटीने-कुछ बहनने, कुछ बूवाने-यह अपने आपको इतना भूल गया कि सिवाय सम्बन्धके अपने स्वरूपके सम्बन्धमें जानता ही नहीं कि मैं—ये सब पीछेसे आरोपित, सम्बन्धोंसे पहले, सबसे पहले—मैं मनुष्य हूँ, उसके बाद और कुछ हूँ। यह अपने स्वरूपका ज्ञान न होनेसे जीवनमें कितनी संकीर्णता आ गयी कि हम दूसरेको अपनेसे नीच समझने लगे, पराया समझने लगे, शत्रु, मित्र समझने लगे!

हम अपनेको भी शत्रु, मित्र समझते हैं। परन्तु जिस मानवताके आधार पर यह सारी दुनिया टिकी हुई है वह मानवता हमसे अलग हो गयी। इसीप्रकार जिस ज्ञानके आधारपर ये सारे व्यवहार टिके हुए हैं—जिस ज्ञानसे ईश्वर-ईश्वर, जीव जीवन और जगत् जगत् मालूम पड़ता है, वह मानवताके समान हमारा जो मूलभूत ज्ञान है वह कहाँ खो गया है? उसको ढूँढ़ निकालनेके लिए क्षेत्रसे क्षेत्रज्ञको अलग समझनेकी आवश्यकता पड़ती है। यदि हम उसको अलग नहीं समझेंगे तो किसी-न-किसी बन्धनमें इतने उलझ जायँगे, पत्नी रह जायँगे, पुत्र नहीं रहेंगे। और पुत्र रह जायेंगे—पत्नी नहीं रहेंगे। पत्नी-पुत्र रह जायँगे, पिता नहीं रहेंगे। सम्पूर्ण सम्बन्धोंके साथ हमारी कड़ी जोड़ने वाली जो मानवता है, वह यदि टूट गयी तो कोई सम्बन्ध हमारा पक्का नहीं हो सकता। इसी प्रकार क्षेत्रज्ञ जो क्षेत्रको जाननेवाला ज्ञानस्वरूप है, यदि वहाँसे हमारी कड़ी टूट जायेगी तो हम केवल जड़ ही जड़ रह जायँगे और जड़के साथ ही चिपकेंगे भी—तब हमारे लिए हीरा, मोती, मकान ये ही सर्वस्व रह जायेंगे। ये सबके हृदयमें जो जीव हैं—उनके प्रति मैत्रीका भाव नहीं रहेगा, करुणाका भाव नहीं रहेगा। जब हम स्वयं जड़ हो गये तो जड़के साथ मिलेंगे—चेतन तो हमसे छूट ही जायगा। इसलिए मनुष्यके जीवनमें यह बहुत आवश्यक है कि क्षेत्रसे अलग करके अपनेको क्षेत्रज्ञ जाने।

यहाँ तक जो विवेक है वह बिना किसी साधनके हो सकता है। इसको लेबोरेटरीमें भी यदि जानना चाहें तो क्षेत्रको जान सकते हैं, और जाननेवालेका नाम क्षेत्रज्ञ हो सकता है। परन्तु इसके आगे जो क्षेत्रज्ञकी पूर्णता है जिसको भगवान् कहते हैं 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि,' वह जो क्षेत्रज्ञकी भगवद्रूपता है, उसको बिना साधनके नहीं

जान सकते। इसलिए क्षेत्रज्ञके निरूपण और परमात्माके स्वरूपके निरूपणके बीचमें साधनोंका वर्णन आता है— 'अमानित्वमदम्भित्वम्' आदि। और यह विवेक इतना महत्त्वपूर्ण है कि 'ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्। ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः'। इसके लिए ऋषियोंका नाम लेते हैं भगवान् अनेक प्रकारसे ऋषियोंने वर्णन किया, वेदके मन्त्रोंने वर्णन किया है—पृथक्-पृथक्, अलग-अलग और ब्रह्मसूत्रोंमें भी इसका निरूपण किया हुआ है विनिश्चित युक्तियोंके द्वारा। इसलिए विषय महत्त्वपूर्ण है और यदि हम अपनेको एक सीमामें बाँध देंगे तो दूसरी सीमामें रहनेवालोंके प्रति हमारे मनमें द्वेष हो जायेगा। इसलिए राग, द्वेषसे विनिर्मुक्त करनेके लिए अपनी चिद्रूपतां और उनकी भगवान्से एकता करनी है। भगवान् कहीं सातवें आसमानमें छिपा हुआ नहीं है। वह कहीं बैकुण्ठमें नहीं रहता है। वह हमारे इसी शरीरमें, हमारे इन्हीं प्राणोंमें, हमारी इन्हीं चित्तवृत्तियोंमें, हमारी इन्हीं स्थितियोंमें, अवस्थाओंमें परमात्मा भरपूर है और ऐसा भरपूर है कि कहीं भी राग, द्वेष करनेकी गुंजाइश नहीं है। अब रही बात यह कि हम भविष्यको बहुत सोचकर निराश भी हो जाते हैं। भूतकी याद करके तड़फने लगते हैं। आप वर्तमानको आनन्दसे भर दो। इसमें पहलेकी पवित्रता और आगेके प्रति आशा इससे भरपूर करके अपने चित्तको ले चलो—आगे परमात्मा है। नैराश्य नहीं है—आगे परमात्मा है।

प्रश्न : महाभारतमें 'आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः प्रयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः' कहा गया है—तो क्या गीता और महाभारतमें क्षेत्रज्ञ शब्दका प्रयोग अलग-अलग अर्थमें किया गया है। और एक सवाल गुरुजीकी बातपर उठा है। गुरुजीने इसके पहले कहा कि यह शरीर क्षेत्र है और जो यह शरीरवाला है इसको क्षेत्री कहते हैं—और जो इस क्षेत्र और क्षेत्री दोनोंको जानता है वह क्षेत्रज्ञ है। क्षेत्री शब्दका प्रयोग गीतामें हुआ ही नहीं—गुरुजीने भी क्षेत्री शब्दका प्रयोग चलते हुए कर दिया तो उस क्षेत्रीका भी विश्लेषण और व्याख्या करें और महाभारत और गीतामें जो क्षेत्रज्ञ शब्द आये हैं उनकी संगति बतावें?

उत्तर : गीतामें क्षेत्री शब्दका प्रयोग है 'क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत'। अब यह है कि जो क्षेत्रको मेरा मानता है वह तो है क्षेत्री—जैसे किसान किसी एक खेतको अपना खेत मानता है तो वह खेतका मालिक क्षेत्री हो गया और एक वह होता है जो गाँव भरके खेतोंको पहचानता है। हम अपने गाँवमें जब रहते थे और कभी कानूनगो जाँच पड़ताल करनेके लिए आते थे—तहसीलदार आते थे तो तहसीलदार जाँच करने लगते थे। किसी भी खेतके बारेमें पूछें, हम बता सकते थे कि यह किसका है और उसको कैसे प्राप्त हुआ है तो बड़ा आश्चर्य करता था। मेरी उम्र 18-19 वर्षकी होगी। फिर जब सरपञ्चका चुनाव हुआ तो उसने अपनी ओरसे मेरा नाम रख दिया। एक खेतको अपना—मैं मानकर—जो बैठा हुआ है वह 'क्षेत्री' है। उस 'क्षेत्री' को सूर्यके समान बताकर समग्र क्षेत्रोंका प्रकाशक बताया गया है।

> यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
> क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥

अब यह बात जाननी है कि महाभारतके क्षेत्रज्ञमें और गीताके क्षेत्रज्ञमें कोई अन्तर नहीं है। केवल नामका ही अन्तर है, क्षेत्रके साथ जुड़ा हुआ है, क्षेत्रसे संयुक्त है—यह बात वहाँ कही गयी है। और यहाँ क्षेत्रको

जानता है। तो ज्ञाता, ज्ञेयका सम्बन्ध यहाँ भी है। जब यह सम्बन्धसे विनिर्मुक्त हो जायगा तथा वही 'अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते'। यह इसका स्वरूप हो जायेगा। एक दृष्टान्त ऐसा देते हैं जो सामान्य लोगोंको शायद स्वीकार्य नहीं होगा कि हमारे वेदान्तके अनुसार तेजसे जलकी उत्पत्ति होती है—भाप बनती है, पानी बनता है गरमीसे, और जलसे माटी बनती है पृथिवी। तो यह जो तेजस तत्त्व है वही जल भी है, वही घड़ा भी है। घड़ा किससे बना? मिट्टीसे। मिट्टी किससे बनी? जलसे। जल किससे बना? तेजसे। अब घड़ेमें रखा हुआ है जल। दोनों तेजके बने हुए हैं—और उस घड़ेमें जो पानी है उसमें एक प्रतिबिम्ब पड़ता है सूर्यका, चन्द्रमाका-तेजस् तत्त्वका ही प्रतिबिम्ब। प्रतिबिम्ब भी तेज है और कार्य-कारण परम्परासे जल भी तेज है। और मृत्तिका भी, मिट्टी भी तेज है।

जो क्षेत्रज्ञ है, उसकी परमात्मासे एकता तो बहुत स्पष्ट हो जाती है परन्तु क्षेत्रके साथ जो परमात्माकी एकता है वह तुरन्त स्पष्ट नहीं होती है। इसलिए जहाँ परमात्माका वर्णन है वहाँ 'अचरं चरमेवच' कहकर अथवा 'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः, न च मत्स्थानि भूतानि' कहकर चराचर सृष्टिका निषेध कर दिया। एक परमात्मा रह गया। पहले क्षेत्रसे क्षेत्रीको अलग करो और क्षेत्रीसे क्षेत्रज्ञको। वह ज्ञाता हो गया और क्षेत्रज्ञमें भी क्षेत्रकी उपाधिको छोड़ दो तो ज्ञप्तिमात्र जो है वह परमात्मा है। इसलिए महाभारतके क्षेत्रज्ञमें और गीताके क्षेत्रज्ञमें कोई भेद नहीं है। दोनों एक ही हैं।

प्रश्न : क्षेत्र, क्षेत्रज्ञका ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है, इस कथनका तात्पर्य क्या है? अन्य ज्ञानोंसे इसकी विशेषता क्या? यह क्षेत्र जो 'यत्' है, 'यादृक् जैसा है—'यद्विकारी',जिन विकारोंवाला है, और 'यतः' जिस कारणसे हुआ है उसकी संक्षिप्त व्याख्या करनेके लिए भगवान् प्रवृत्त होते हैं। कृपया यत् यादृक् आदिको स्पष्ट करते हुए बताइये कि उनका उत्तर आगेके किन श्लोकोंमें, किस प्रकार है?

उत्तर : क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ तो दो हैं और दोनोंका ज्ञान एक है। तो भगवान् ज्ञान किसको कहते हैं? जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञको विषय करनेवाला, उन दोनोंसे पृथक्, ऐसा प्रकाश जिसमें झिलमिल-झिलमिल चन्द्रमा भी दिख रहे हों और यह दुनिया भी दिख रही हो और सूर्य भी उदित हो। एक ऐसा ज्ञान है जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंको प्रकाशित करता है, माने जिससे दोनों जाने जाते हैं; और वह ज्ञान कौन है? वह ज्ञान अपना आत्मा है—'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'। भगवान्ने अपने मतके अनुसार ज्ञानका स्वरूप यह बताया कि जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंसे विलक्षण और दोनोंको प्रकाशित करनेवाला और दोनोंको अपने पेटमें रखनेवाला ज्ञान है, उसीको मैं ज्ञान कहता हूँ। 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः,प्रकाशकं यद् ज्ञानम् तदेव ज्ञानं इति मम मतम्'। अपना उन्होंने एक विलक्षण मत अभिव्यक्त किया कि जो क्षेत्रज्ञका ज्ञान है, विषयोंको जानना, 'ज्ञातृत्व'-वह असली ज्ञान नहीं है और जो ज्ञानका विषय है 'ज्ञें'-जो ज्ञानके द्वारा जाना जाता है वह भी ज्ञानका असली स्वरूप नहीं है। ज्ञानका असली स्वरूप तो वह है जो अपने पीछेवालेको कहे कि ज्ञान हमारी मुट्ठीमें—उसको तो ज्ञाता बनाकर चूरकर देता है, अहं बना देता है और जो कहे कि यह ज्ञेय—उसको सर्वथा जड़कर देता है। जो ज्ञानसे अलग ज्ञेय होगा वह जड़ होगा और जो ज्ञानसे अलग ज्ञाता होगा वह अहंकार होगा। इसलिए वह ज्ञान है, जिसमें 'अहं' और 'इदं' दोनों पैदा

होते हैं, दोनों रहते हैं, दोनों मिट जाते हैं, लेकिन ज्ञानस्वरूप जो है, वह अखण्ड ही रहता है। वह भगवान्‌के मतमें ज्ञान है, और 'तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च' इसका उत्तर तो अनुपद ही दिया हुआ है।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ (13.5-6)

इन दोनों श्लोकोंमें 'तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च' इसका उत्तर पूरी तरहसे आजाता है। एक अद्‌भुत बात यहाँ यह है कि आपका शरीर है। इसमें जितनी माटी है उसको तो आप अपना शरीर मानते हैं लेकिन यदि शरीरमें रहनेवाले मिट्टी आपकी है तो यह सारी बाहर रहनेवाली मिट्‌टी किसकी है? जिसको हम अपना शरीर 'मैं' मानते हैं—असलमें इतना ही शरीर मेरा नहीं है। यह सम्पूर्ण धरती, सम्पूर्ण जल, सम्पूर्ण तेज, सम्पूर्ण वायु, सम्पूर्ण आकाश 'महाभूतानि' शरीर है। जब कोई साधक यह विचार करने लगता है—चिन्तन करने लगता है तो सारी मिट्टी मिट्‌टी एक है। अपनी शरीरकी मिट्टी भी मिट्टी ही है। पानी भी पानी ही है, तेज भी तेज ही है। यह साँस जो बाहर है—बाहर हवा चल रही है, वह दूसरी है और जो भीतर जाती आती है वह दूसरी है, ऐसा नहीं है। एक ही प्राण है—और आकाश, हमारे नाकमें जो पोल है, कानमें है, मुँहमें है, पेटमें है, जिसमें हमारा हाथ हिलता-डुलता है उस आकाशमें और शरीरके भीतर मालूम पड़नेवाले आकाशमें वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। इसलिए भगवान् कहते हैं—भाई अपनेको तुम एक शरीरका शरीरी मत समझो, यह सम्पूर्ण विश्व ही तुम्हारा शरीर है।

श्रीमद्‌भागवतमें इसका ऐसा खुलासा वर्णन है। एक व्यक्ति अपनी योगसाधनाके प्रभावसे ब्रह्मलोकमें गये। यह बात दूसरे स्कंधमें है। पर जो लोग भागवत बाँच जाते हैं उनको नहीं मिलेगा जो गम्भीरतासे पढ़ेंगे, उनको मिलेगा। जब वे ब्रह्मलोकमें पहुँच गये तब उनकी इच्छा हुई कि हम देखें कि धरती कहाँ है? अब महाराज सूर्य ही इतना बड़ा है—धरतीसे लाखों गुना बड़ा कि सूर्यसे तो धरती एक बिन्दुके रूपमें दिखायी पड़े। और ब्रह्मलोकसे तो कितनी छोटी होगी यह आप समझ लें। तो उन्हें यह शक्ति दी गयी कि वहाँसे वे धरतीको देख सकें। उन्होंने धरतीकी ओर देखा; ब्रह्मलोकमें कोई खिड़की होगी—ब्रह्मलोक एक विमानकी तरह है। ब्रह्माका एक विमान ही है जिसको हम लोग लोक बोलते हैं। उसमें बुढ़ापा नहीं है—उसमें मृत्यु नहीं है, शोक नहीं है, कोई दोष नहीं है। बड़े सुखी थे वे, किन्तु इन्होंने जब धरतीकी ओर देखा तो यह देखा कि यहाँके लोग छोटी-छोटी चीजोंमें फँसकर बहुत दुःखी हो रहे हैं और जो लोग असलियतको, सच्चाईको, परमार्थको नहीं समझते हैं, केवल अपने अज्ञानसे कितने दुःखी हैं और दुःखके मारे मर रहे हैं। असलमें हमलोग संसारमें जो दुःखी होते हैं, उसमें दुःखके साथ थोड़ी बेवकूफी रहती है। और बेवकूफीके साथ मौतका भय रहता है। ये तीनों दुनियामें कभी अलग-अलग नहीं होते हैं।

जब हम दुःखी होते हैं तो अज्ञानसे और अज्ञान होता है तो उसमें अपनी मृत्युका भय रहता है। इसलिए असत्, तमस् और मृत्यु ये तीनों एक हैं; और सत्, ज्योति और अमृत ये तीनों एक हैं। अब जब उसे

ब्रह्मलोकमें दुःख हुआ तो उसने कहा मैं अकेले ब्रह्मलोकका सुख भोगूं और संसारके लोग इतने दुःखी रहें तो ब्रह्मलोकको छोड़कर वह कूद पड़ा—'**ततो विशेषं प्रतिपद्य निर्भयः......**(2.2.28)

और धरतीपर आ गया। धरतीपर आकर उसने यह नहीं समझा कि मैं हिन्दुस्तानी हूँ कि पाकिस्तानी। उसने यह समझा कि मैं समग्र पृथिवीपर हूँ और पृथिवीपर रहनेवाले सब प्राणी मैं ही हूँ। उसके बाद उसने अपनेको जलरूपमें अनुभव किया। जलकी एक-एक बूँद और जलका एक-एक प्राणी स्वयं मैं हूँ। इसके बाद उसने समग्र तेजके रूपमें अपनेको अनुभव किया और उसके बाद समग्र वायुके रूपमें और उसके बाद समग्र आकाशके रूपमें और इस तरह उसकी तत्त्वनिष्ठा हो गयी। आकारनिष्ठा, विकारनिष्ठा— हम तो शकल-सूरतमें फँस गये और इसमें जो विकार है उनमें फँस गये और संस्कार करके उनको धोनेके लिए चले तो साबुन ही लगा रह गया। उसको छुड़ाया ही नहीं। संस्कारोंमें ही फँस गये। अब उसने देखा कि संसारमें तो लोग अपने शकल-सूरतमें अपने व्यक्तित्वमें, उसके विकारोंमें, उसके निर्माणमें, उसके संस्कारोंमें फँसे हुए हैं, और सोचते नहीं हैं कि तत्त्व क्या है? तत्त्व तो एक है। अद्वितीय है। जब उसको तत्त्वका अनुभव हुआ तब उसने देखा कि हम जो लोगोंके दुःख-सुखकी कल्पना करते थे, वह तो हमारा ही मनोविकार था। ब्रह्मलोकमें जानेपर भी दुःखकी निवृत्ति नहीं हुई। जबतक अपनेमें पूर्णताका अनुभव नहीं होगा, तो न तो ब्रह्मलोक, न कैलास और न बैकुण्ठ, न गोलोक, न साकेत—इस दुःखको दूर कर सकते हैं। दुःख तब दूर होगा, जब हमारे जीवनमें पूर्णता आयेगी और जितनी-जितनी पूर्णता आती जायगी, उतना ही उतना दुःख दूर होता जायगा। पूर्णता ही दुःखको दूर करती है।

कभी हम पिछली बातको इतनी पकड़ लेते हैं कि उसके बिना दुःख होने लगता है; कभी हम वर्तमानकी बातोंको इतना पकड़ लेते हैं कि आह! ये छूट जायँगे तो हम कैसे रहेंगे? कभी भविष्यकी कल्पना कर-कर दुःखी होने लगते हैं कि हाय-हाय! भविष्यमें क्या होगा? और जब हम पूर्णतामें देखते हैं—भूत, वर्तमान, भविष्य, दूर-निकट, अपना-पराया, सबमें जो परिपूर्ण है उसको देखते हैं तो हमारे लिए दुःख नहीं होता है। दुःखसे छूटनेके लिए अपने क्षेत्रका जो निश्चय है, वह बहुत बड़ा होना चाहिए—'महाभूतानि-अहंकारो, बुद्धिः अव्यक्तम्' ये पूर्णताकी ओर चले गये।

पंचमहाभूत है—फिर इनका मूल कारण अहंकार है। जब दुनिया दिखती है तो पहले 'मैं' जाग लेता है। 'मैं' कहाँसे जागता है? ज्ञानमें-से और बुद्धि कहाँसे जागती है? अव्यक्तमें-से। यह एक क्रम हो गया। फिर 'महाभूतान्यहंकारो बुद्धिमव्यक्तमेव च'। फिर इन्द्रियाणि दश एकं च। यह क्षेत्र है। 'तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्क यद्विकारि'—विकारका वर्णन है ही 'इच्छा द्वेषः सुखं दुखं संघातश्चेतना धृतिः' ये विकार हैं उसके। लेकिन क्षेत्रका स्वभाव विकारी है इसलिए चाहे इनको मानो स्वभाव और चाहे विकार, क्षेत्र विकारी तो है ही। अपने निर्विकार स्वरूपका अनुभव करनेके लिए क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विवेकसे जो तत्त्वज्ञान होता है, वह ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है।

●

****

द्वितीय दिवस

(29-10-84)

प्रश्न : यह क्षेत्र जो 'यत्' है 'यादृक्' जैसा है, 'यद् विकारि'—जिन विकारोंवाला है और 'यतः' जिस कारणसे हुआ है उसकी संक्षिप्त व्याख्या करनेके लिए भगवान् प्रवृत्त होते हैं। कृपया 'यत्' 'यादृक् आदिको स्पष्ट करते हुए बताइये कि इनका उत्तर आगेके किन-किन श्लोकोंमें किस प्रकार किया गया है?

उत्तर : क्षेत्रका स्वरूप बताया पहले—

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ (13.5-6)

परमात्माके सिवाय और जो कुछ है, वह सब विकारी होता है। मनका विकारी होना माने बदलना। एक परमात्मा ही ऐसी वस्तु है जो कभी बदलता नहीं है। पहले अव्यक्त है। अव्यक्त माने जो प्रमाणके द्वारा व्यञ्जित न हो, जिसको जाहिर करनेमें आँख, कान, नाक, ये सब समर्थ न हों। जैसे घनी, गाढ़ सुषुप्तिमें। एक क्षेत्र वह है। अब उसके बाद—गाढ़ सुषुप्तिके बाद जैसे बुद्धि जगती है—होश आता है—वह द्वितीय क्षेत्र है। और फिर मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ, यह मालूम पड़ता है। आप रोज इसका अनुभव करते हैं। गाढ़ सुषुप्ति अव्यक्त है, होश आ जाना माने नींद टूटना और यह होश आना बुद्धि है; इसको महतत्त्व बोलते हैं। और फिर मैं कौन हूँ, यह अहंकार है और उसके बाद दुनिया दिखती है। महाभूत आकर सामने खड़े हो जाते हैं। उनमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये होते हैं और उसके बाद अपनी इन्द्रियाँ मालूम पड़ती हैं। पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय और इसके बाद मन—फिर यह होता है कि हमको क्या चाहिए, क्या नहीं चाहिए। विषयोंका ज्ञान होता है। अब इसके लिए बताया कि हमारे जीवनमें जो विकार आते हैं वे सब इसी क्षेत्रके हैं, तो क्षेत्रोंकी गिनती कर दी। कितने क्षेत्र हैं और उनका स्वभाव है, अव्यक्तसे बुद्धि, बुद्धिसे अहंकार, अहंकारसे पंचतन्मात्र, इनकी उत्पत्तिका क्रम जो बन गया। और उसमें विकार बताया इच्छा द्वेष; सुखं दुःखम्। मनमें राग होता है कि यह चीज हमको मिलनी चाहिए—इससे बहुत सुख मिलता है। पहले-पहले दिनकी याद होती है, इससे हमको बहुत सुख मिलता है तो और चाहिए और इससे दुःख मिलता है तो उससे द्वेष होता है। सुखानुशयी रागः, दुःखानुशयी द्वेषः (योगसूत्र 2.7-8) फिर वर्तमानमें सुख-दुःख होते हैं।

सुख जो है वह जिसको जैसा अभ्यास हो गया है, उसीके अनुसार होता है। जैसे दक्षिण भारतका हो तो उसको इडली-दोशामें ही सुख मिलेगा। हम लोगोंकी रोटी-दाल उसको अच्छी नहीं लगेगी। एक-दो दिन खायेगा, फिर उसको इडली-दोशा खानेकी इच्छा होगी। और हम लोग जब दक्षिण भारतमें जाते हैं, 2-4 दिन इडली-दोशा मिल जाये तो रोटी-दाल खानेकी इच्छा हो जाती है। यह सारा-का-सारा अभ्याससे ही आता है।

****

****

हमारी जो इच्छाएँ बनती हैं और द्वेष बनते हैं, ये कृतक माने कृत्रिम होते हैं। ये बनाते, बनाते, बन जाते हैं। और उसीसे सुख मिलता है। सुख माने जो किसी और वस्तुकी प्राप्तिके लिए नहीं होता। आप ध्यान देंगे तब इस बातका रहस्य मालूम पड़ेगा। आपको रुपया चाहिए; क्यों? उससे कोई मकान बनाना है, फैक्टरी बनाना है। कपड़ा लेना है, भोजन करना है। आपको पैसा पैसेके लिए नहीं चाहिए। किसी दूसरे कामके लिए चाहिए। ब्याह भी करते हैं तो सुखके लिए करते हैं। परन्तु सुख किसलिए? असलमें सुख वही होता है जो किसी दूसरेके लिए नहीं होता है। सुख अन्तिम अवस्था है और वह अपना आत्मा है। ये जो विकारी सुख होते हैं ये तो अदलते-बदलते हैं। जब आप स्त्रीमें, पुरुषमें सुख मानेंगे, धन-दौलतमें सुख मानेंगे, तारीफ सुननेमें सुख मानेंगे तो वे विकारी हैं, बदलते हुए होंगे और जो सच्चा सुख है वह तो आपके हृदयकी वह स्वच्छता है, जिनमें आप अपनेको देख सकते हैं। 'सु' माने सुष्ठु और 'ख' माने हृदयाकाश। वह हृदयका निर्मल दर्पण जिसमें आप अपनेको ठीक-ठीक देख सकें। तो अपनेको ही आप सुख-रूपमें हृदयमें देखते हैं। और दुःख वह होता है। जो किसीकी इच्छाका विषय नहीं होता। कोई उसे नहीं चाहता है। हृदय जिससे दुष्ट, दूषित हो जाता है, उसके प्रति द्वेष ही होता है कि यह हमको कभी न हो। और यह संघात बना है शरीर और इसमें चेतना एक नयी बन जाती है। एक चेतन तो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है जो परमात्म-स्वरूप है। जिसके सिवाय और कुछ नहीं और उसका प्रतिबिम्ब पड़ता है मायामें और एक चेतन ऐसा है जो अविद्यासे लथपथ बन गया है। और एक चेतना ऐसी होती है जो यह शरीर बननेके साथ बनती है और शरीर बिगड़नेके साथ बिगड़ जाती है।

आजकल लोग चेतनाके सम्बन्धमें इतना विवेक नहीं करते हैं यही होश आता और जाता है। मैंने तो एकको मरते समय देखा—पाँवसे लेकर कमरतक काला पड़ गया पहले। उसके बाद छातीतक काला पड़ गया, पर मुँहपर ज्योति थी। उसके बाद एक बार सिर हिला, मुँह खुला और जो मुँहपर ज्योति थी वह गायब हो गयी। शरीरके साथ भी एक चेतना होती है, उसे 'संघातजन्य चेतना' बोलते हैं। वह कई चीजोंके मिलनेसे पैदा होती है। यह सब-के-सब क्षेत्र हैं, क्षेत्रज्ञ नहीं है। उनमें एक धृति है। बुद्धिपूर्वक हम अपने जीवनमें जो धारणा करते हैं, उसका नाम धृति है। यह सब-के-सब क्षेत्र हैं। संक्षेपमें यहां बताये गये हैं। क्षेत्रका लक्षण है, विकारी होना और क्षेत्रज्ञका लक्षण है, अनेकतामें एक होना—जड़में चेतन होना और प्रिय-अप्रिय के द्वन्दोंमें सर्वथा निस्पृह होना। यह आत्माका लक्षण होता है। यहाँ क्षेत्रका लक्षण करके भगवान्ने क्षेत्रज्ञको बताया कि इनको जो जानता है, उसका नाम क्षेत्रज्ञ है।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।

जो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ दोनोंके स्वरूपको समझते हैं वे 'तद्विद्' हैं और वे इनको—'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको'—जाननेवाले हैं। वे किसका नाम क्षेत्र रखते हैं—किसका क्षेत्रज्ञ? इसके विवेकसे यह होता है कि आदमी जो फँस गया है—शरीरके सम्बन्धमें और जो आत्मजीवन है, चैतन्य जीवन है, इसको भूल गया है। जब विवेक करते हैं कि इसमें कितना जड़ है और कितना चेतन है तो जड़के साथ जो ममता, मोह है, वह कम होता है। और उसीके कारण तो पक्षपात होता है दुनियामें और दुश्मनी भी होती है, वैमनस्य भी होता है। शरीर और

****

****

शरीरके सम्बन्धमें ज्यादा जकड़ जानेके कारण यह विवेक होनेसे मनुष्यका मोह कुछ कम होता है, राग, द्वेष कम होता है और वह अपनेको पहचानता है। विवेकके बिना तो मनुष्य अपने आपको भूल ही जाता है। उससे पूछो तुम कौन हो तो कह देगा— हम ब्राह्मण हैं, संन्यासी हैं। हम बेटेके बाप हैं। हम नानाके दौहित्र हैं। यह सब तो आप बता देंगे। लेकिन मैं मनुष्य हूँ, इस बात पर ध्यान नहीं जायेगा। तो जैसे व्यवहारमें ऐसा होता है वैसे ही जब हम अपने स्वरूपका विवेक करते हैं तो इस बात पर ध्यान नहीं जाता कि असलमें हम हिन्दू, मुसलमान नहीं है और हम संन्यासी, गृहस्थ नहीं है, हम एक मानव हैं, मनुष्य हैं। इसी प्रकार आत्माका विवेक होने पर, मैं हड्डी, मांस, चाम, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, अन्तःकरण नहीं हूँ, नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा हूँ। ऐसा निश्चय हो जानेपर कोई सुख-दुःख हमारे पास नहीं फटकता है। यह जो जीवका शुद्ध रूप है वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विवेकसे प्राप्त होता है। यहाँतक तो है क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विवेक और यह शास्त्रोंके द्वारा प्रमाणित है। परन्तु क्षेत्रज्ञ भी परमात्माका स्वरूप ही है यह बात जाननेके लिए गीतामें फिर आगेका प्रसंग है कि बिना साधनके कोई आत्माको परमात्मरूप नहीं समझ सकता। आप क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका भले ही विवेक कर लें कि यह जड़ है और मैं चेतन हूँ। लेकिन यदि इसके असली स्वरूपको जानना होगा तो जीवनमें साधनकी आवश्यकता होगी।

प्रश्न : विकारोंके सहित क्षेत्रका जो वर्णन पाँचवें, छठें श्लोंकमें आया है वह वर्णन कहीं-कहीं सांख्य-दर्शनसे मिलता है और कहीं-कहीं अलग भी। क्या यहाँ क्षेत्र और प्रकृति दोनों पर्यायवाची हैं? सांख्य और गीताके चिन्तनमें साम्य कहाँ है? और वैशिष्ट्य कहाँ है?

उत्तर : सांख्य दर्शनमें जो प्रकृति है वह स्वतन्त्र मानी गयी है। और गीतामें जो प्रकृति है वह परमात्माके पराधीन मानी गयी है।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

सांख्य-दर्शनमें पुरुष साक्षी है, द्रष्टा है; वह न कुछ करता है, न कराता है और उसके भोगके लिए प्रकृति स्वतन्त्रतासे काम करती रहती है। परन्तु गीतामें जो प्रकृति है वह स्वतन्त्र नहीं है; वह परमेश्वरके अधीन है। इसलिए सांख्य-दर्शनके साथ गीताकी तीन बात नहीं मिलती है। प्रकृतिकी स्वतन्त्रता और उसके कार्य जो हैं स्वतन्त्र—यह गीताको मान्य नहीं है, वह परमात्माके पराधीन है। और दूसरी बात यह है कि प्रकृति और प्राकृतकी अनेकताका वर्णन करके भी जीवकी अनेकताका वर्णन गीतामें नहीं है। क्योंकि अपरा प्रकृति तो है क्षेत्र और परा प्रकृति है क्षेत्रज्ञ।

भूमिरापोऽनलोवायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। 7.4

अपरेयम् यह अपरा प्रकृति है।

अपरेयं इतस्त्वन्याम् प्रकृतिं विद्धि में पराम्।

और परा प्रकृति क्या है?

****

****

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।

यह परा प्रकृति क्षेत्रज्ञ है और,

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।

यह परमात्माके रूप है जिसमें परमात्माके सिवाय, दूसरी और कोई वस्तु नहीं होती। सांख्य यदि प्रकृतिकी स्वतन्त्रता छोड़ दे और जीवकी अनेकता छोड़ दे और योग-दर्शन ईश्वरकी पृथक्ता, अन्यता छोड़ दे तो गीताके साथ इन सब लोगोंका एकदम मेल, समन्वय बैठ जाता है। सांख्य और योग-दर्शनमें जो जगत्की सत्यता, जीवकी अनेकता और परमात्माका अलगाव माना हुआ है—ये तीनों बातें गीताको मान्य नहीं है। इसलिए सांख्य-दर्शनकी अपेक्षा गीतामें विशेषता है। एक बात और है, प्रकृति अनुमानसे सिद्ध होती है और आत्माकी ब्रह्मता वेदसे सिद्ध होती है। इसलिए वैदिक प्रमाणके आधारपर आत्मा और ब्रह्मकी एकता सिद्ध होती है। किसी योगाभ्याससे अथवा किसी युक्तिसे, अनुमानसे यह बात सिद्ध नहीं होती है।

प्रश्न : इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, चेतना और धृति यदि क्षेत्रके विकार हैं तो अनुभव जड़ शरीर करता है कि चेतन क्षेत्रज्ञ? गीताको जड़-चेतनकी कौनसी परिभाषा स्वीकृत है? यदि क्षेत्रज्ञ इन सब विकारोंको अनुभव करता है तो क्या वह सुखी-दुःखी भी होता है?

उत्तर : क्षेत्रज्ञका जो असली स्वरूप है वह 'अनुभव' है। अनुभव करता नहीं है, बल्कि स्वयंमें अनुभव है। इसलिए जिसको शुद्ध स्वरूपका बोध हो जाता है, वह इन विकारोंसे अलिप्त रहता है और जिसको अपने शुद्ध स्वरूप ज्ञान नहीं है, वह दुःखका अनुभव करता है, इच्छा, द्वेषका अनुभव करता है। इसका मतलब यह है कि ज्ञान होना बहुत जरूरी है और ज्ञान होने पर इन विकारोंको अपनेमें अनुभव नहीं कर सकता। क्षेत्रज्ञ—जबतक ज्ञान नहीं है तब तक इनको अपनेमें अनुभव करता है। इसका मतलब यह हुआ कि दुनियामें हम जो दुःखी हैं, विकारी हैं वह केवल नासमझीके कारण हैं, अज्ञानके कारण हैं। यदि हम सच्चा ज्ञान प्राप्त कर लें—गीतासे ज्ञान सीख लें तो हमारे जीवनमें जो रोज सत्रह बार दुःख आता है और सत्रह बार सुख आता है, वैसा नहीं होगा। बताते हैं कि जो मूढ पुरुष है वही—

शोकस्थान सहस्त्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढ़माविशन्ति न पण्डितम्।

ये जो सैकड़ों बार जीवनमें शोक आता है और सैकड़ों बार भय आता, ये समझदारके जीवनमें नहीं आता। यह नासमझीका लक्षण है। इसलिए यदि गीताके द्वारा हम सच्ची समझ प्राप्त कर लें तो चाहे दिन-रात कर्म करें और चाहे उपासना करें, चाहे योग करें, चाहे मस्त रहें बार-बार जो दुःख और भय हमारे जीवनमें आ जाते हैं, इनकी निवृत्ति हो जाये। इसलिए क्षेत्रज्ञ-स्वरूप तो निर्विकार है, लेकिन अज्ञानके कारण वह अपनेको विकारी अनुभव करता है और इस अज्ञानके कारण ही इस जीवनमें और संसारमें ये सारे-के-सारे दुःख मालूम

****

पड़ते हैं। दुःख दूर करनेका एक ही उपाय है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके स्वरूपको ठीक-ठीक जान लिया जाय। भगवान् स्वयं कह रहे हैं कि क्षेत्रज्ञ तो मैं ही हूँ। भगवान् क्या दुःखी होते हैं?

जहाँतक भगवद् अंशका सम्बन्ध है वहाँ तक क्षेत्रज्ञमें ये संसारी मनोभाव नहीं है। जब वह अपनेको जड़ताके साथ जोड़ लेता है; तब वह दुःखी-सुखी होता है। अपनेको विकारी मान बैठता है, विकारी होता नहीं है। इसलिए विचारकी दृष्टिसे क्षेत्रज्ञ निर्विकार है और अविचारकी दृष्टिसे जो भेड़ियाधसान—एकके पीछे दूसरे भागते हैं—उन्हींकी दृष्टिसे आत्मा दुःखी होता है। नहीं तो जो छूट रहा है, उसको छूट जाने दो, जो आ रहा है उसको आने दो, जो रह रहा है उसको रहने दो। बीते हुएको फिरसे बुलानेकी कोशिश मत करो। कोई भी क्षण, जो चला जाता है वह लौटकर नहीं आ सकता और जैसे क्षण नहीं आता है वैसे ही कण भी नहीं आता। क्षण और कण दोनों साथ-साथ बदलते रहते हैं। इसीका नाम विकार है। आप विकारको—बदलनेवालेको पहचानिये। आपने जीवनमें हजारों लोग देखे हैं। हजारों चीजें देखी हैं—उनको पसन्द किया है, नापसन्द किया है। अब उनकी यादभर आती है। वह तो कुछ अपने साथ चलनेवाली नहीं है, इसलिए निर्विकार आत्माको, आँख कुछ बताती है, कान कुछ बताता है। अलग-अलग चीजें बताती हैं और कोई भी पूरी-पूरी नहीं बताती। न तो आँख पूरा रूप बताती है, न कान पूरा शब्द बताता है। न नाक पूरा गंध बताती है। ये सब अधूरा ज्ञान देनेवाली इन्द्रियाँ हैं जिनपर आप भरोसा करके समझते हैं कि हम सत्यको जानते हैं। बुद्धि भी अधूरा ज्ञान देनेवाली है। इनके भरोसेपर अपनेको मत छोड़िये। स्वयं जो अपना ज्ञान-स्वरूप है—स्वयं देखिये—गुप्तचरके पीछे भी गुप्तचर लगाइये। और जो पीछे लगा हुआ गुप्तचर है उसपर भी नजर रखिये कि वह ठीक काम करता है कि नहीं। आप अपने काममें बहुत सफलता प्राप्त करेंगे और कभी धोखा नहीं खायेंगे। धोखा खाना दुःख है। धोखामें अज्ञान है। उससे दुःख होता है। और धोखेमें मृत्यु भी है क्योंकि आपके जीवनकी शैली ही बदल जायेगी। इसलिए क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विचार अपने जीवनमें बहुत उपयोगी और आवश्यक है।

प्रश्न : जन्म, जरा, आदिमें 'दोषानुदर्शनम्' कहनेसे क्या हमारी आनन्दवादी उपनिषद्-धाराका विरोध नहीं होता? क्या यह बौद्ध दर्शनका प्रारम्भक स्वर नहीं है? जीवनको उल्लाससे वंचित करनेवाला क्या यह नकारात्मक पहलू नहीं है?

उत्तर : 'दुःखदोषानुदर्शनम्' में पहुँचनेके पहले और बहुत सारी बातें कही हुई हैं। उनपर भी थोड़ा ध्यान देनेकी जरूरत है। मनुष्य जीवनमें दुःखी क्यों है? पहली बात यह है कि जब उसके अभिमानपर चोट लगती है तब वह दुःखी होता है। अभिमानके बारेमें सावधान रहना चाहिए। यह बाहरसे भी आता है और भीतरसे भी आता है। किसी संसारकी सम्पदा बढ़नेसे अभिमान आता है। वह न आने पाये। किसीको विद्यासे आता है। किसीको अपने वंशसे आता है। किसीको अपनी हुकूमतसे, ऐश्वर्यसे आता है। पहली बात यह है कि दुःखसे बचना है तो अभिमानसे बचो। दूसरी बात यह है कि हम कभी-कभी बनावटसे चक्करमें पड़ जाते हैं। दम्भ अर्थात् जो शान हमको नहीं है, उसको जानकार लोगोंके बीचमें दिखाते हैं। जहाँ वेदका पण्डित होगा, वहाँ वैय्याकरण बन जायेंगे? जहाँ व्याकरणका पण्डित होगा, वहाँ वैदिक बन जायेंगे? जहाँ दोनों नहीं होंगे वहाँ दोनों

बन जायेंगे। और जहाँ दोनों होंगे वहाँ बिलकुल बेवकूफ हो जायेंगे। यह जो अपने अन्दर नहीं है, वह जब हमलोगोंको दिखाने लगते हैं तब एक ऐसे फन्देमें जाते हैं कि उससे निकलना मुश्किल हो जाता है।

दुःख क्या हुआ? अभिमान एक दुःख हुआ। और बनावट एक दुःख और फिर दूसरेको जो सताना चाहते हैं या पीछे हटाना चाहते हैं या गिराना चाहते हैं, उसमें भी हमको बहुत दुःखी होना पड़ता है। क्योंकि आप स्वयं चाहें कि हम दूसरेको गिरा देंगे और हमको कोई न गिरावे ऐसा कभी हो नहीं सकता। जो दूसरेको कर्मसे, मनसे, वचनसे, दुःख पहुँचाना चाहेगा उसको दुःख जरूर मिलेगा। सावधान रहना चाहिए। ज्ञान यह है कि जीवनमें किसी भी प्रकारका दूसरेको नीचा दिखानेवाला अभिमान न हो। और झूठी शान दिखा करके जो चीज अपने पास नहीं है, उसका दम्भ करके हम अपनेको बड़ा न माने और दूसरेके दुःख न पहुँचायें, और कोई अपराध भी करता हो तो क्षमा करें। यह क्षमा ऐसी चीज है जो आपको बहुत आगे बढ़ायेगी। यदि आप हर अपराधीको दण्ड देने चलेंगे तो सबसे अधिक दण्डनीय आप ही मिलेंगे। होना तो यह चाहिए कि दूसरेसे कोई गलती हो जाये तो आप उसको क्षमा कर दें। भूल जायँ। और अपनेसे कोई गलती हो जाय तो उसको याद रखें अपनेको क्षमा न करें। अपनी गलतीको दूर करें, क्षमा न करें। परन्तु यह सब बातें कैसे होंगी?

जब आप आचार्यकी उपासना करेंगे। श्रीज्ञानेश्वरीमें ज्ञानदेवजी महाराजने २० पृष्ठके लगभग आचार्योपासनाकी व्याख्या की है। इसका अर्थ यह है कि यदि आप अपने आचार्यके पास रहेंगे, गुरुके सान्निध्यमें रहेंगे तो अभिमान तो उसके सामने कैसे करेंगे? अभिमान छूट जायगा। गुरुसे कपट, दम्भ नहीं करेंगे। गुरुके प्रति मनमें हिंसा भी नहीं आयेगी। और यह देखेंगे कि गुरुजी कैसे निर्मान हैं, कैसे निर्दम्भ हैं—कैसे अहिंसक हैं, तो आपके अन्दर भी वह सद्गुण आयेगा। और वे किसी अपराधीके प्रति कैसे क्षमा करते हैं—क्षमा बड़नको चाहिये—बड़प्पनका अर्थ ही यह है कि जो लोग अपराधी हैं उनको हम अपने दिलमें न बसायें। श्रीकुमारिल भट्टजीने कहा कि जिसको हम गाँवमें नहीं रहने देना चाहते हैं उसकी याद कर-करके उसको हम अपने दिलमें बसा लेते हैं। यह कितनी मूर्खताकी बात है। जब देखेंगे कि हमारे आचार्य अपराधियोंको कैसे क्षमा करते हैं और अपराधकी दशामें भी कैसे सम रहते हैं तो उनके पास रहनेसे अपने जीवनका निर्माण हो स्थिरता रहे। यह नहीं कि आज ये, कल ये, परसों ये। इस प्रकार अब आप गुण-दोषका विवेक कर लीजिये। 'दुःखदोषानुदर्शनम्' का अर्थ किसी भी प्रकार निराशाका जीवन जीवन नहीं है और दुःखवादी जीवन नहीं है। हमको यह सुनकर कभी-कभी आश्चर्य होता है कि ये बौद्धोंका प्रभाव है, और यह जैनोंका प्रभाव है। अरे भाई, सबसे पहले तो उपनिषद्का प्रभाव होना चाहिए न! बौद्धोंसे भी पहले उपनिषद् है, जैनोंसे भी पहले उपनिषद् है। यह जो अपौरूषेय ज्ञान है, यह तो सबसे पुराना है। यह किसीसे प्रभावित होकर नहीं आया है। बल्कि इसीका प्रभाव दूसरोंपर पड़ा हुआ है।

'जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोषानुदर्शनम्'

क्या उपनिषदोंमें जन्म-मृत्युके दुःखका वर्णन नहीं है? 'जायस्व, म्रियस्व'-बस, तुम्हारा काम क्या है? पैदा होओ और मरो? अपने स्वरूपको बिलकुल न जानना, हम कौन है—यह न जानना और पैदा होते

रहना और मरते रहना और खाना, पाखाना। क्या यही जीवनका एक स्वरूप है? यथार्थका ज्ञान भी जीवनमें आवश्यक है। यदि जीवनमें दुःखका पता चल जायेगा तो उसको दूर करेंगे। बुढ़ापा आनेवाला है, इसका पता चल जायेगा तो हमारा नित्य यौवन कैसे रहे, इसका उपाय भी कर सकते हैं। और मृत्यु जब सिरपर खड़ी है तो कहीं फँसना नहीं चाहिए।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम् अनहङ्कारएव च।
जन्म - मृत्यु - जरा - व्याधि - दुःखदोषानुदर्शनम्॥

और फिर एक बात और है। हमको अपने बचपनकी याद है। एक महात्मासे मैं तर्क-वितर्क कर रहा था तो उन्होंने मुझसे कहा कि तुम ऐसा तर्क-वितर्क करोगे तो बौद्ध-मतकी प्राप्ति हो जायेगी। तो मैंने कहा—हमको बौद्धसे कोई परहेज नहीं है। हमको तो सत्यका साक्षात्कार चाहिए। न हमको बौद्धसे परहेज है, न जैनसे परहेज है—न ईसाईसे, न मुसलमानसे। हम सत्यका साक्षात्कार करनेके लिए सबकुछ छोड़-छाड़कर निकले हैं, अब आप हमको बौद्ध होनेका डर दिखाकर अगर सत्यसे वंचित रखेंगे तो कैसे बनेगा? यदि चार आर्य-सत्य—जिसका साक्षात्कार बुद्धने किया—'दुःखं दुःखं, क्षणिकं-क्षणिकं, स्वलक्षणं स्वलक्षणं, शून्यं शून्यम्'—तो यदि वे सच्चे हैं तो उनसे परहेज क्यों करते हैं? हम तो सत्यका आदर करते हैं। एक सज्जन थे उनसे मैंने कहा कि हमारे धर्मका जो पालन करते हैं उसको तो स्वर्ग मिलता है। अब मुसलमान यदि अपने धर्मका पालन करेगा तो क्या होगा? वे बड़े कट्टर थे, बोले—वह नरकमें जायगा। यह तो वैसे ही हुआ कि जो इस्लामको न माने सो काफिर और जो हमारे सम्प्रदायको न माने वह म्लेच्छ। इस प्रकारका भेद-भाव अपने मनमें नहीं रखना चाहिए। हर जगह सत्यका आदर चाहिए। यदि जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, दुःख, दोष—यदि सच्चे हैं और इनका अनुदर्शन होता है—और दिखायी पड़ते हैं तो यह हमारे जीवनके अनेक दुःखोंसे, फँसावटोंसे, बचानेके लिए है। संसारमें सौ-सौ धक्के खायँ तमाशा घुसकर देखें—यहाँ भी धक्का लगा, वहाँ भी धक्का लगा और इसी तमाशेमें फँसे हुए हैं। अब किसी किसीकी प्रकृति ऐसी होती है।

सन् 28में हमको लोग द्वारिकाजी ले गये। द्वारकाजीमें मालूम हुआ कि एक रुपया चार आना तो स्नान करनेका लगता है और आठ आना धर्म-दर्शनका लगता है और डढ़े रुपये चरण छूनेका लगता है। हमारे पास तो एक पैसा भी नहीं था। हम तो एक तरफ बैठ गये कि ऐसे भगवान्का हम दर्शन ही नहीं करेंगे जिनके दर्शनके लिए पैसेकी जरूरत पड़ती है। हमको पैसेवाले भगवान् नहीं चाहिए। जब मैं एक तरफ जाकर बैठ गया तब मन्दिरमें-से एक सज्जन आये हमारा हाथ पकड़कर ले गये। भगवान्का दर्शन करा दिया। वैसे हम गिड़गिड़ाते तब भी नहीं होता। तिरुपति बालाजीमें गये—लोगोंने कहा—चार घण्टेकी क्यू लगेगी। हम तो एक तरफ बैठ गये। कोई ले गया दर्शन करा दिया। यह बात है कि अपनी-अपनी रुचि, प्रवृत्ति अलग-अलग होती है। कहीं किसीको सुख मालूम पड़ता है तो वहीं किसीको दुःख मालूम पड़ता है। यदि आपके जीवनमें दुःख है और आप उसका दर्शन करते हैं तो यह बौद्ध और जैनका प्रभाव नहीं है। यह एक सत्यका दर्शन है। यदि आपके जीवनमें मृत्यु है और उसपर दृष्टि जाती है तो आप उससे अपनेको अलग करनेका जो ज्ञान है वह प्राप्त कीजिये। आप ऐसा

क्यों कहते है कि यह तो बौद्धोंने दिया, कि जैनोंने दिया, कि वेदोंने दिया, कि मुसलमानोंने दिया, कि इसाइयोंने दिया। यदि आपके जीवनमें दुःख है तो वह किसीका दिया हुआ नहीं है। वह आपका अनुभव है।

यदि आपके जीवनमें मृत्यु है तो वह किसीका दिया हुआ नहीं है। वह तो आपने अपनेको देह मानकर, आपने अपने साथ जोड़ लिया है। जन्म है, मृत्यु है, जरा है, व्याधि है, दुःख है—ये किसीके प्रभावसे कहीं नहीं आये हैं। ये हमारे जीवनके अनुभव है, उससे आये हैं। इसलिए यदि आप इसमें फँसे रहेंगे तो 'अज्ञानं यदतोऽन्यथा'—यदि इनका अनुदर्शन नहीं करेंगे तो आप अज्ञानमें फँसे रहेंगे। और यदि आप इनका ज्ञान प्राप्त करेंगे तो 'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते' इनका ज्ञान प्राप्त करके आप अमृतत्व प्राप्त कर लेंगे। गीता आपको मृत्युसे अमृतमें ले जानेवाली है। गीता आपको दुःखसे बचाकर सच्चा सुख देनेवाली है। गीता आपके बुढ़ापेको दूर निकालकर फेंक देगी। आप ज्योतिर्मय, नित्य-यौवन—चिर-यौवन प्राप्त करेंगे—यदि गीताका अनुसन्धान करेंगे। इसको दुःखवादी क्यों कहते हैं? इसको नैराश्यवादी क्यों कहते हैं? यह तो इतना बड़ा उत्साह देनेवाला ग्रंथ है—सारा-का-सारा ग्रन्थ एक रोते हुएको हँसानेवाला है। एक धनुष-बाण फेंकनेवालेको युद्धमें प्रवृत्त करने-वाला है। एक दुःखीको सुखी बनानेवाला है। इसपर कोई नैराश्यकी छाया छायी हुई है, ऐसा कहना तो जँचता नहीं है।

प्रश्न : अमानित्व, अदंभित्व जैसे ज्ञानके सूचक गुणों, भक्ति, अध्यात्म, ज्ञान और तत्त्वज्ञानार्थ दर्शन, इन सबको ज्ञान किस दृष्टि और किस उद्देश्यसे कहा गया है?

उत्तर : सबको ज्ञान इसलिए कहा गया है कि संस्कृतमें ज्ञान शब्दकी व्युत्पत्ति (ज्ञान शब्द कैसे बना) दो तरहकी मानी जाती है। एक तो 'ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्'। जिसके द्वारा जाना जाय उस ज्ञानके साधनको ज्ञान कहते हैं। हमको बचपनकी याद आती है। कोई छिपा हुआ कागज, लिखा हुआ कागज धरतीपर गिरा हुआ होता और हमारा पाँव उसपर पड़ जाता तो हमारे पितामह कहते कि इसको प्रणाम करो। यह तो ज्ञान है, यह तो विद्या है। इसके ऊपर पाँव नहीं पड़ना चाहिए। वह कागज, जो प्रेसमें छापा हुआ कागज है, उसका नाम क्या ज्ञान है? नहीं, जो ज्ञानके साधनका आदर करेगा, पुस्तकको आदरणीय समझेगा, जो अक्षरको-क-ख-गको आदरणीय समझेगा।-वह ज्ञानका आदर करेगा।

आपको जानना चाहिए कि एक-एक अक्षरकी पूजा होती है। अ कैसे लिखना चाहिए इसका संस्कृत भाषामें नियम है। उसमें पाँच कोण होने चाहिए। 1 ऊपर 1 नीचे और तीन आगेकी ओर। तब यह पंचकोण 'अ'कार बनता है और उसमें परमात्माकी, वासुदेवकी पूजा होती है। ऐसे सभी अक्षरोंके बारेमें है। तो जिससे ज्ञान हो उसका नाम ज्ञान है। ज्ञानके साधनको ज्ञान कहते हैं। एक दिन एक स्वामीजी मेरे पास आये। आकर नीचे बैठ गये। मैं तख्ते पर था, वे नीचे बैठ गये। उन्होंने मुझसे कहा कि मैं आपसे श्रीमद्भागवत पढ़ना चाहता हूँ और इसीलिए आया हूँ। मैं उनको पहचान गया। वे समझते थे कि ये नहीं पहचानते हैं। मैंने उनसे कहा कि आप तो इतने बड़े विद्वान् हैं, कि आप मुझे वर्षों तक पढ़ा सकते हैं। आप मुझसे क्या पढ़ेंगे? तो बोले हाँ ऐसा भी है, मैं वर्षों तक पढ़ा भी सकता हूँ। तो मैंने कहा आप अब नीचे मत बैठिये। हमारे तख्ते पर बैठ जाइये।

✻✻

देखो भाई! जिसको सीखना होता है, ज्ञान प्राप्त करना होता है, उसको अभिमान छोड़कर करना पड़ता है। यदि वह अपना मान रखेगा तो न तो उसको प्रेम मिलेगा और न तो सच्चे जीवनका आनन्द मिलेगा।

संभवत: कल्याण—गीता प्रेसकी ही बात है। एक सेठ भाईजीके पास आते थे। वे मुँह फुलाकर चुपचाप बैठे रहते थे। एक दिन बातचीतमें मैंने कहा कि आप इतने गम्भीर क्यों रहते हैं? जरा हँसिये, बोलिये—तो बोले कि क्या बतावें पण्डितजी, हमारे पास ज्यादातर माँगनेवाले लोग आते हैं। पहले तो हँसकर मेल-मिलाप कर लेते हैं, बादमें कुछ-न-कुछ माँगना शुरू कर देते हैं। तो सब लोगोंसे हँसना, बोलना नहीं बनता है। बिचारे चुपचाप—कोई माँग न ले, इस डरसे बैठे रहते थे।

यह मान है—ज्ञानमें तो मान यह है कि आप अपनेको साढ़े तीन हाथका शरीर समझते हैं और आप मिनिट-मिनिट जोड़कर जो घंटे, दिन बनाते हैं, उससे जो उम्र जोड़ते हैं, वह काल-मान है। और गज जो है, फुट जो है, वह देशमान है। और आपका जो वजन है, 100-150 पौण्ड यह आपका द्रव्यमान है। इसीको जो अपना 'मैं' समझता है वह हो गया मानी और उस मानीके भावको लेकर जो रहता है, उसका नाम मानित्व होता है। पहले मानित्व छोड़ो और आओ ज्ञान प्राप्त करो। संस्कृत भाषामें दूसरा ज्ञानका अर्थ होता है—'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्।' जिसमें न कोई जाननेवाला अहंकार और न कोई जाननेवाला विषय है। उसको कहते हैं शुद्ध ज्ञान। उसका नाम है 'आत्मा', उसका नाम है ब्रह्म। भाव प्रत्ययसे ज्ञान शब्द बनता है और करण प्रत्ययसे भी ज्ञान शब्द बनता है। इसलिए संस्कृत भाषामें ज्ञानका दो अर्थ होता है। इसको आप इसी प्रसंगमें तेरहवें अध्यायमें ही देख लें। 'ज्ञानं, ज्ञेयं, ज्ञानगम्यम्' 'ज्ञान' तो है शुद्ध ज्ञान जिसमें अहं और इदं नहीं है मैं यह नहीं है। और 'ज्ञानगम्यं' का अर्थ है, जो ज्ञानसे जाना जाता है मानो जिससे माना जाता है वह ज्ञान यह ज्ञान है--माने ज्ञानकी प्राप्तिके साधन हैं।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।

इनका नाम है ज्ञान और इससे जो विपरीत है, अमानित्व आदि जाननेका साधन है, अभिमान छोड़कर जानो। पाँव छूना सीखो, नीचे बैठना सीखो, हाथ जोड़ना सीखो। अपने जीवनमें विनय आजावे। मैं जब दण्डी स्वामी हुआ तो हमको बताया गया कि जिनके पास दण्ड न हो, और दण्ड हो तब भी अपनेसे पुराने न हों और पुराने हों तब भी अपनेसे ज्यादा विद्वान् या त्यागी न हों, उनको प्रणाम नहीं करना चाहिए। अब मैं श्रीउड़िया बाबाजी महाराजके पास गया। प्रश्न था कि श्रीहरि बाबाजी वहाँ रहते हैं। हम हरि बाबाजीको हमेशा बाल्यावस्थासे प्रणाम करते थे। न तो वो दण्डी और न तो ब्राह्मण। हम अब क्या करें? बाबासे पूछा। बाबा बोले कि प्रणाम करना तो मनुष्यका एक सद्गुण है, सद्भाव है, कि वह किसीको देखकर सिर झुका दे या हाथ जोड़ दें। भागवतमें तो ऐसा वर्णन है कि सभीको प्रणाम करना चाहिए—मन ही मन—कि सबमें भगवान्का निवास है। जो मान लेकर रहेगा उसको ज्ञान नहीं मिलेगा। क्यों नहीं मिलेगा? ज्ञान एक गंगाकी धारा है। वह हिमालयके शिखरसे उतरती है और नीचेकी ओर आती है—'ज्ञान-गंगा।' यदि ऊँचा शिखर होगा तो उसपर ज्ञान-गंगा कैसे चढेंगी? जो लोग सिर उठाकर अभिमानमें मगन रहते हैं, उनको ज्ञान-प्राप्ति नहीं होती।

✻✻

✻✻

प्रत्येक ज्ञान चाहनेवालेको मान छोड़ करके तब रहना चाहिए। और यदि छाती ठोंक देंगे कि हम तो पहलेसे ही जानते हैं तो बतानेवाला तुम्हें बतायेगा ही नहीं। दूसरी बात यह है कि ज्ञानमें दम्भ नहीं होना चाहिए। मनुष्यके मनमें दम्भ बहुत होता है। हम यह नहीं खाते हैं, हम यह नहीं पीते हैं, हम यह नहीं छूते हैं—हम ऐसे नहीं रहते हैं। भले ही आदत पड़ गयी हो। पर आदत डालनेसे ही पड़ती है और छोड़नेसे छूट भी जाती है। कोई आदत आदमी माँके पेटसे लेकर नहीं आता, न तो गेहूँके दानेमें-से। अब कहो कि हम पहले गेहूँ या चनेके दानेमें थे तो आदत हमको पड़ी हुई है। वैसे ही रहेंगे। बापके पेटमें एक बूँदके रूपमें थे, वैसे ही रहेंगे। माँके पेटमें एक मांसके लौंदेके रूपमें थे, हम वैसे ही रहेंगे। नहीं भाई, जब बाहर निकलते हैं तब सब आदतें सीख-सीखकर अपने अन्दर डाली जाती है, आती हैं। यदि विचारसे कोई विरुद्ध हो तो उसको छोड़ देना चाहिए। और दम्भ नहीं करना चाहिए।

दम्भ माने बनावट। मैंने शायद यहाँ कभी सुनाया होगा। यह कथा 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नामक एक नाटकमें है। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दीका लिखा हुआ ग्रंथ है। उससे भी पुराना हो सकता है, उसमें यह कथा आयी है। ब्रह्माजीकी सभामें एक सज्जन आये तो उनके हाथमें एक कमण्डलु था और कुशासे जल छिड़क-छिड़क करके तब पाँव रखते थे। आये, खड़े हो गये। लोगोंने सोचा कहीं आस-पास बैठ जायेंगे पर नहीं बैठे। लोग उठकर खड़े हो गये। महाराज, आप बैठिये! नहीं बैठे। सब जूठे आसन हैं। सब पर लोग बैठ चुके हैं। ब्रह्माजीने बुलाया, आओ हमारी गोदमें बैठ जाओ। वहाँ भी उन्होंने कुशसे जल छिड़ककर 'अपवित्रः पवित्रो वा'—उच्चारण किया और ब्रह्माजीकी गोदमें बैठ गये। बैठ गये तो ब्रह्माजीकी साँस निकले नाकमें-से, तो बोले—अरे यह तो गन्दी है, नाकमें-से, गलेमें-से, निकलकर आती है। यह साँस हमको नहीं लगनी चाहिए। ब्रह्माजीने कहा कि कौन दमघोटू आगया। हम तो घुट जायेंगे। तो उन्होंने जरा लटककर सामनेकी ओर देखा। कौन है भाई—अरे बेटा दम्भ, तू बहुत दिनके बाद आया है। उसमें एक व्यंग भी है। पूछा—कहाँ रहा इतने दिन? बोला मद्रास चला गया था पिताजी। वहाँसे यह सीखकर आया हूँ। बहुत बढ़िया!

जहाँ जैसा देश हो, जैसा काल है, जैसी वस्तुकी उपलब्धि हो, जैसे लोग हैं, उनमें, उनकी हीनताका भान न करा करके, इस ढंगसे व्यवहार करना चाहिए कि किसीको अपने नीच होनेका पता न चले। यह जो दम्भ है, इसको वेदान्ती लोग तो और ज्यादा सूक्ष्म करके निरूपण करते हैं। उनका कहना है कि जैसे नहीं हैं, वैसा अपनेको जाहिर करना यह तो स्थूल दम्भ है, मोटा-मोटी दम्भ है। सूक्ष्म दम्भ तो यह है कि जैसे अपने हैं वैसे भी दूसरेको बता देना, दिखा देना कि मैं ऐसा-ऐसा हूँ—'ख्यातिर्दम्भः'। अपनेको जाहिर करना ही दम्भ है। जैसे हो ऐसे रहो। जिसके मनमें जैसा हो वैसा तुम्हारे प्रति भाव करे। दूसरेके भावका ख्याल मत करो। कोई नाना समझे कि नानी। कोई दादा समझे कि दादी। तुम्हारी जो मानवता है उसका लोप नहीं होना चाहिए। यह सबसे बड़ी चीज है। बिना मानवके न ब्राह्मण होगा, न संन्यासी होगा, न दादा होगा, न दादी होगी। अपनी मानवता किसी भी रूपमें न छूटनी चाहिए। अपना जो शुद्ध स्वरूप है उसमें स्थिर रहनेका प्रयास—यह ज्ञानका साधन है। और बनावट, दम्भ है, यह अज्ञानका साधन है।

✻✻

एक दिन महर्षि महेशजीका कोई साधक आया था। हमारी एक परिचित संसद-सदस्या हैं, उनको महर्षिजीके पास ले गया। पहलेसे परिचय था। उन्होंने बताया कि उत्थान कैसे होता है। आदमी धरती परसे आसमानमें कैसे उठता है। तो रतनकुमारजी मालपाणीने कहाकि महर्षिजी उठनेके बाद फिर क्या होगा? जो उठेगा वह फिर धरतीपर आयेगा कि नहीं? तो फिरसे धरतीपर ही आना है तो उठकर क्या करेंगे? चिड़िया तो बहुत उड़ती है। कहनेका अभिप्राय यह है कि आप जहाँ हैं वहाँ स्थिर रहिये और दूसरेको किसी प्रकारका कष्ट न पहुँचे, इसका ध्यान रखिये। अपनी सुख-सुविधाका तो बहुत ध्यान रखें और दूसरेके कष्टका ध्यान न करें, यह ज्ञान प्राप्तिका साधन नहीं है। सावधान रहिये।

बुद्धचर्या एक ग्रंथ है। उसमें बताया कि आदमी जब अपना बिस्तर पलंगपर डालता है तो कभी-कभी इतने जोरसे डाल देता है कि या तो बिस्तरको या पलंगको चोट लग जाती है और जब उसको झाड़ता है तब किसकी आँखपर इसकी धूल पड़ेगी इसका ध्यान नहीं रखता। और जब चलता है तो ऐसा धम-धम चलता है कि जैसे कहींसे पिटकर आया हो और गुस्सेमें पाँव रख रहा हो। और तृष्णा ऐसी होती है या मनमें चिढ़न है, कुढ़न है वह, वह ऐसी होती है कि मनुष्यकी प्रवृत्तिको बदल देती है। यह ध्यान रखना कि हम 'हूँ' करके किसीको न बोलें। रातमें एकबार प्रबुद्धानन्दजीको बुलाया, इतने प्रेमसे बोले, इतनी मीठी आवाज थी उस समय कि मेरे मनमें यह नहीं आया कि कितनी मीठी आवाजमें बोल रहे हैं, मैंने तो यह सोचा कि हर समय ऐसी मीठी आवाजमें क्यों नहीं बोलते हैं? जब आप अपने किसी प्रिय व्यक्तिसे बात करते हैं तब आपकी आवाज कितनी मीठी होती है! आपका चेहरा कितना सौम्य होता है, कितना प्रेम देते हैं। और वही जब किसी दूसरेसे, जिससे आप प्रसन्न नहीं है, बोलते हैं तो आपके वचनमें, आपकी चेष्टामें, आपके भावमें दु:ख पहुँचानेवाली बातें आ जाती हैं। जो अपनी दु:ख देनेवाली प्रकृतिको छोड़नेमें समर्थ नहीं है, वह असलियत, सत्य है, असल है, उसका ज्ञान कैसे प्राप्त करेगा? इसलिए अपनेको बहुत सम्हालके रखना है। हमारे साधु जब भोजन करते हैं तब बोला जाता है—साधु सावधान—अवधानसे रहिये। अपने मनको बहुत फैलने मत दीजिये। वर्तमानको साथ लेकरके चलिये। हिंसा नहीं होगी। नहीं तो आपकी बोलीकी भी किसीके दिलपर चोट लग जाती है। आपकी आँखकी चोट लगती है। आपकी बातकी चोट लगती है। सावधान होकर जब आप रहेंगे तब अपने बारेमें आप जान सकेंगे। और यदि दूसरों-दूसरोंको देखेंगे और अपना कोई ख्याल नहीं करेंगे तो आपका जीवन ज्ञानके अनुकूल नहीं होगा। इसलिए—

एतद्ज्ञानमितिप्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।

ये 20 के करीब हैं। अमानित्व, अदंभित्व, अहिंसा, क्षाति, आर्जव, आचार्योपासन—इन सबकी बड़ी सुन्दर व्याख्या ज्ञानेश्वरीमें मिलती है। आप ज्ञानेश्वरीमें पढ़े तो बड़ी कामकी चीज है और यह हमारे जीवनका निर्माण करनेवाली वस्तु है।

●

तृतीय दिवस

(30-10-84)

प्रश्न : 'अनन्ययोगेन' और 'अव्यभिचारिणी' कहकर भक्तिकी किन विशेषताओंपर बल दिया गया है? क्या केवल भक्ति कहना पर्याप्त न होता? ऐसे कुछ भक्तोंके उदाहरण देकर भक्तिके इस विशिष्ट रूपको स्पष्ट करें।

उत्तर : सत्यका साक्षात्कार करनेके लिए पहले तो अभिमानका परित्याग होना चाहिए। 'तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया।' परसों सरलाजीने ध्यान दिलाया था। प्रणिपातका अर्थ होता है, अभिमान-त्याग। सेवाका अर्थ होता है भक्ति। और परिप्रश्नका अर्थ है जिज्ञासा-जाननेकी इच्छा होना। जिज्ञासा-बिना यदि दूसरेसे कुछ सुने भी तो उसको ठीक-ठीक नहीं ग्रहण कर पाता है या सुनी हुई अद्भुत-से-अद्भुत, नवीन-से-नवीन बातको भी अपनी जानकारीके अन्दर ले आता है इसलिए उसको अज्ञानका ज्ञान नहीं होता। अज्ञानके ज्ञानमें निरभिमानता सहायक है। और जबतक वस्तुका यथार्थ अनुभव न हो जाय तबतक दम्भ करना कि मैं जान गया, अनुभव हो गया, ईश्वर मिल गया, ऐसा दम्भ नहीं आना चाहिए। अधूरेपनमें ही पूरेपनका प्रदर्शन नहीं आना चाहिए। और मन, वचन, कर्मसे किसीको दु:ख नहीं पहुँचाना चाहिए। क्योंकि जब दूसरेको दु:ख पहुँचता है तो उसके मनमें जो हायकी वृत्ति उठती है वह दूसरेके ज्ञानपर भी परदा डाल देती है और दूसरेसे कोई अपराध हो जाय तो उसको क्षमा करना चाहिए।

क्षान्ति—यदि एकने अपराध किया और दूसरने उसे दण्ड दिया तो तीसरा उसको भी दण्ड देगा और चौथा तीसरेको दण्ड देगा, पाँचवा चौथेको दण्ड देगा। अपराधकी परम्परा बढ़ती चली जायगी और यदि एकने अपराध किया और दूसरेने क्षमा की तो अपराधकी परम्परा वहीं समाप्त हो जायगी। जीवनमें सरलता चाहिए। जिज्ञासु, शिष्यको टेढ़ा नहीं होना चाहिए। मनमें कुछ है, कर्ममें कुछ है, वचनमें कुछ है। 'मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम्।' यह दुरात्माकी पहचान है। 'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।' जो मनमें, वही कर्ममें, वही वचनमें—यह महात्माकी पहचान है।

अर्जुन जो गीताके श्रवणके मुख्य अधिकारी हैं, वे 'अर्जुन' इसलिए कहे जाते हैं कि एक तो वे ज्ञानार्जनके लिए तत्पर हैं, दूसरे सरल चित्त हैं—'ऋजुत्वात् अर्जुन:'। ये सद्गुण अपने जीवनमें कैसे आवें—उसके लिए आचार्यकी उपासना चाहिए। 'आचार्योपासनम्।' आपको यह बात मालूम ही है कि जो वस्तु इन्द्रियोंसे दिखायी नहीं पड़ती है, अनुभवमें नहीं आती है, उसका अनुमान भी नहीं हो सकता। जब पहले आग और धुँआ दोनोंको एक जगह आँखसे देख लेंगे तब कहीं भी धूँआ देखकर आगका अनुमान कर सकते हैं। परन्तु जबतक धूँएँ और अग्निके सम्बन्धका ज्ञान नहीं है तबतक अनुमान नहीं हो सकता। परमेश्वर किसी भी इन्द्रियके द्वारा देखा नहीं जा सकता, क्योंकि कोई इन्द्रिय, किसी भी वस्तुको पूरी तरहसे नहीं दिखा सकती। न आँख रूपको, न कान शब्दको। थोड़ा-थोड़ा दिखाते हैं। न जीभ स्वादको। तो एक

अज्ञात जो परमात्माका स्वरूप है, उसका ज्ञान केवल उपदेशसे ही हो सकता है। वाक्यसे ही उसका ज्ञान हो सकता है। जब कोई अनुभवी पुरुष वेद-शास्त्रके वचनसे या अनुभवके वचनसे उसको समझावेगा, तभी हम उसको जान सकते हैं।

आँखसे शालिग्रामको देखेंगे, तो कोई बतावेगा कि भावना करो कि ये भगवान् हैं। शिवलिङ्ग देखेंगे तो कोई बतावेगा कि भावना करो कि ये भगवान् हैं। जबतक भावना करनी पड़ती है, तबतक भगवान्का दर्शन नहीं हुआ। इसलिए 'आचार्यवान् पुरुषो वेद।' उपनिषद्का कहना है कि जिसके गुरु हैं, जिसके आचार्य हैं, वही इस परमेश्वरको जान सकता है। नहीं तो आँखसे दूरबीन, खुर्दबीन लगाके देखो या कानमें लाख गुना सुननेकी मशीन लगाकर सुनो और वाणीसे कुछ भी बोले, उससे परमात्माकी पहचान नहीं होगी; क्योंकि पहचानमें परमात्मा नहीं है। जिसने परमात्माको पहचाना है उस पुरुषकी वाणी, उसका उपदेश ही आपको परमात्माका ज्ञान करा सकता है। इसलिए 'आचार्यद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति' (छान्दोग्य उप0 4.9.3) आचार्यसे जानी हुई जो विद्या है, वही परमात्माका साक्षात्कार करा सकती है। कोई छोटा-मोटा आदमी यदि इसका उपदेश करे तो तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि यह बड़ा सूक्ष्म है। इसलिए आचार्यकी उपासना इसमें आवश्यक है।

आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यं आत्मविनिग्रहः ॥ (13.7)

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम् ॥ 8 ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समाचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ 9 ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ 10 ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोन्यथा ॥ 11 ॥

जब आचार्यकी उपासनाका अर्थ यह होता है कि परमात्मा ज्ञानस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है, सत्स्वरूप है—अद्वितीय है, इसको जो स्वयं अनुभव करे और दूसरेको अनुभव करा दे, उसका नाम होता है आचार्य। और उपासनाका अर्थ होता है, उसमें इष्ट बुद्धि, आदरणीय बुद्धि, उपास्य बुद्धि—अपने सद्गुरुमें जो श्रद्धापूर्वक प्रीतिपूर्ण सेवा है उसको आचार्योपासना कहते हैं और सीधा-सीधा उसका अर्थ है आचार्यके पास बैठना। देखो, महात्मा वह नहीं होता जिसको आप देखते हैं। आप तो हड्डी-मांस-चामकी शरीर देखते हैं। महात्मा वह होता है जो वह अपना स्वरूप बताता है। उसके पास बैठना माने उसकी अनुभूतिके पास बैठना।

आचार्य अनुभव कर रहा है कि मैं भगवान्के पास बैठा हूँ। ऐसे श्रीरामानुज सम्प्रदायमें सोचते हैं।

शेष-शय्या है, उसपर नारायण लेटे हुए हैं। लक्ष्मी उनके चरणोंकी सेवा कर रही हैं। श्रीरामानुजाचार्य स्तोत्रका पाठ कर रहे हैं। तो अब भक्त भी वहाँ गया। श्रीनारायणने अधखुली आँखसे देखा, लक्ष्मीजीने पूरी आँखसे देखा, आचार्यको इशारा किया और उसने कहा, लग जाओ भगवान्की सेवामें, और लग गया। जो गुरुका अनुभव है वहीं अपना आसन लगे। तुम जहाँ हो वहाँसे मन-ही-मन उठ जाओ और जहाँ तुम्हारे आचार्य बैठे हैं वहाँ मनसे बैठ जाओ। इसको कहेंगे—'आचार्योपासन' यह रास्ता ऐसा है कि बड़े-बड़े महात्मा लोग जिस मार्गसे गये हैं उसी मार्गसे इसपर चलना चाहिए। ईश्वरके बारेमें आप अपने मनसे कल्पना उठाओगे, फिर दूसरी आवेगी, तीसरी आवेगी। एक मिलेगा, दूसरा मिलेगा, कहीं भी स्थिरता नहीं आ सकेगी। इसलिए, अपने मनको स्थिर करनेके लिए किसी अनुभवीका अनुभव चाहिए।

अब पवित्रता जीवनमें आवश्यक है। पवित्रता क्या है? साबुन, तेल लगानेका नाम पवित्रता नहीं है। स्वच्छता एक दूसरी वस्तु होती है। आप साबुनसे, पानीसे और तरह-तरहके रसायनसे अपने शरीरको, वस्त्रको स्वच्छ कर सकते हैं। परन्तु पवित्रता तो वहाँ आती है जहाँ पवित्रताकी भावना होती है। 'आचार्योपासनम्'। जब गुरुके पास रहेंगे तो कम-से-कम गन्दे हाथसे उसका काम नहीं करेंगे। गन्दी बात गुरुके सामने नहीं बोलेंगे। गन्दे ढङ्गसे नहीं बैठेंगे। जीवनमें एक प्रकारकी पवित्रता आयेगी। साबुनके जलसे, रसायनसे शरीर स्वच्छ होता है। पर गंगाजलसे शरीर पवित्र होता है क्योंकि यह भगवान्के चरणोंका जल है और यह भाव है कि इसमें भगवान्की पवित्रता भरी हुई है। तो जब उस पवित्र वस्तुका ध्यान करेंगे तो हमारा हृदय भी पवित्र हो जायगा। इसके लिए पवित्र चिन्तनकी आवश्यकता होती है।

कई लोग मानते हैं कि हमारा भोजन पवित्र होना चाहिए। आजके युगमें तो इसकी चर्चा भी झूठी हो गयी है। भोजनका बड़ा प्रभाव पड़ता है मनुष्यके मनपर। भोजनमें हम क्या वस्तु खा रहे हैं उसका असर भी मनपर पड़ता है। एक दिन एक सत्पुरुषके मनमें चोरी करनेकी इच्छा आने लगी। जाकर उन्होंने अपने गुरुसे पूछा—महाराज, मेरे मनमें आज चोरी करनेकी इच्छा आयी। कितनी गन्दी बात है। गुरुजीने पूछा—आज तुमने भोजन कहाँ किया था? तो शिष्यजीने बताया कि आज मैंने एक स्वर्णकारके घरमें भोजन किया था। तो स्वर्णकारके घरमें भोजन किया तो जो स्वर्णकारके मनमें है, उसका प्रभाव उसके भोजनमें है। और चोरीकी बात मनमें आ गयी। भोजनका बड़ा प्रभाव पड़ता है। भोजन पवित्र है कि अपवित्र; अपनी कमाईका है कि नहीं; जिसने पकाया है, उसने शुद्ध भावसे पकाया है कि नहीं; पकानेवालेके मनमें तो शोक भरा है, आँसू टपाटप गिर रहे हैं और भोजन पका रहा है, तो खानेवाला कैसे अपने मनको पवित्र रख सकेगा। यह कह देना कि इसका क्या असर पड़ता है, कुछ नहीं—ऐसे काम नहीं चलता है। गाय भूखी है, उसकी आँखोंसे आँसू गिर रहे हैं—उसका दूध निकालकर पीया तो उसके दुःखका असर पीनेवाले पर भी पड़ेगा। भोजनमें भोजनकी वस्तु शुद्ध हो और जो पकावे वह भी शुद्ध हो, तथा जिन पात्रोंका उपयोग किया जाय वे भी शुद्ध हों और उनमें जो चीजें डाली जायँ—मसालेके रूपमें—वे भी शुद्ध हों।

हमारे एक व्रजके सज्जन 2-4 वर्ष पहले उनकी मृत्यु हुई। कराँची गये थे। सिन्धी लोग ले गये थे। वे

अपने हाथसे कुएँसे पानी खींचकर बरतन माँजकर रसोई बनाते थे। भगवान्‌को भोग लगाते। सिन्धियोंने उनको चावल, दाल, आटा दिया, सब्जी दी, मसाले दिये। मसाला डालनेपर उनको भोजन बड़ा स्वादु लगा। और मँगाया। चार महीने वहाँ रहे, खाते रहे। जब चलने लगे तो बोले कि उस मसालेमें क्या-क्या पड़ता है, हमको बता दो तो हम घरमें जाकर बनायेंगे। मसालेमें तो मछलीका चूरा पड़ता था। भोजनमें हम क्या डाल रहे हैं? जो विदा ही पदार्थ है—अत्यन्त नमक और अत्यन्त उष्ण, गरम, अत्यन्त रुक्ष विदाही—जलन पैदा करनेवाले जो पदार्थ हैं, उनके भोजनसे मनमें पवित्रता नहीं आती; वे उत्तेजक होते हैं।

यदि सत्यके, परमार्थके, भगवान्‌की प्राप्तिके मार्गमें चलना है तो आहार-शुद्धि होना आवश्यक है। 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' (छान्दोग्य 7.26.2)। इसको शौच कहते हैं। शौच माने पवित्रता, शुचिता। काम भी जो हम करते हैं, उसमें यदि ऐसा काम करेंगे, जिनसे मनमें भय पैदा हो, डरानेवाला काम करें—कहीं पुलिस पकड़ न ले। कहीं कोई देख न ले! अगर ऐसा काम करेंगे तो भले ही काममें आपको सफलता मिल जाये लेकिन आपके मनमें जो उससे कँप-कँपी होगी वह आपके शरीरको रोग उत्पत्तिके योग्य बना देगी। ऐसे ही आप जब सोचते हैं—कल्पवृक्षके नीचे; हृदयमें अन्तर्यामी भगवान् बैठा है वे उसीके नीचे बैठकर सब कुछ विचार करते हैं। जब गन्दे विचार करेंगे तो वह आपके जीवनके साथ जुटेंगे और कहीं-न-कहीं वे आपको गन्दी जगहपर पहुँचा देंगे।

गुरुके पास रहनेसे, आचार्योपासनसे इन सबसे बचनेका अवसर मिलता है। और अब उसके सामने कोई शोक आता है, दुःख आता है, गुरुजीके सामने दुःखका निमित्त आया, उनका कोई प्रिय नहीं रहा, सम्बन्धी नहीं रहा तो वे उस समय कैसे रहते हैं! जिस दिन उनको भोजन अनुकूल नहीं मिलता, उस दिन कैसे रहते हैं। अप्रिय घटना घटनेपर, अप्रिय व्यक्तिके आनेपर गुरुजी कैसे शान्तिके साथ उससे मिलते हैं। वे बुरा करनेवालोंका भी कैसे भला चाहते हैं। ये जब हम आचार्यके पास रहेंगे तो यह शुचिता, यह पवित्रता-तनकी पवित्रता, मनकी पवित्रता, भोजनकी पवित्रता आयेगी और जो उद्धत वस्त्र आभूषण हैं, उनसे बचनेकी इच्छा होगी। ये जो वासनाको भड़कानेवाली चीजें हैं—जिनसे वासना भभकती है, उनसे बचनेकी विद्या, अपनेसे बड़ेके पास रहनेसे आती है। सीखनेको मिलेगा तो अपनेसे बड़ेसे ही मिलेगा, छोटेसे तो मिलेगा नहीं और इसके साथ जीवनमें स्थिरता आनी चाहिए। माने यह नहीं कि क्षणमें यह और क्षणमें वह। निर्णयकी शक्ति और उसमें निष्ठावान् होना स्थिर हो जाना—यह मनुष्यके जीवनकी एक विशेषता है और वह अपने जीवनमें रहनी चाहिए। जहाँ हम निर्णयमें विलम्ब कर देते हैं वहाँ चीज वासी पड़ जाती है, पुरानी पड़ जाती है।

एकबार हमलोग गंगाके किनारे-किनारे चल रहे थे तो पश्चिमवाहिनी गंगाके तटपर एक सराय गाँव है। वहाँ जगराम सिंह थे। वे वहाँके जमींदर थे। वे भी हमारे साथ चल रहे थे। मल्लाहोंने एक बहुत बड़ी-सी मछली पकड़ी, उसको एक आदमी नहीं उठा सकता था। चार आदमी मिलकर उठाते थे। चलते-चलते उन्होंने कहा कि मछली छुड़वा दें। ये मार डालेंगे। फिर बोले कि ये तो इनकी जीविका है। हम क्यों दखल दें। चलते रहे। फिर बोले जीविका है तो क्या? हम तो यहाँके जमींदार हैं—रोक सकते हैं। हमको अधिकार है। फिर थोड़ी दूर

चलते रहे। मनमें आया कि मेरे सामनेकी बात है तो छुड़वा देना चाहिए। इतनेमें तो उन मछुओंने उस मछलीपर ऐसा कुल्हाड़ा मारा कि उसके दो टुकड़े हो गये। निर्णय जितना शीघ्र होता है, और उसमें निष्ठा स्थिर होनेकी जितनी शक्ति होती है, उतना ही अच्छा होता है। सबेरे कुछ, दोपहर कुछ, रात कुछ-आज मनमें आया, यह करेंगे। थोड़ी देर बाद मनमें आया, यह नहीं यह करेंगे—यह मनोवृत्ति उचित नहीं है। सर्वथा जीवनमें स्थिरता होनी चाहिए। हमारे उड़िया बाबाजी कहते थे कि जो लोग बैठकर झूमते रहते हैं, दाहिने-बायें हिलते हैं—उनके जीवनमें आलस्य बहुत है। उसकी प्रतिक्रियाके रूपमें वे हिलते रहते हैं। आलसी माने नीरस जीवन। अ-लस, अ-रस जिसके जीवनमें रस नहीं है उसको अरस बोलते हैं। रस नहीं है स्वाद नहीं है। फिर वह अलस हो गया। अलस हो गया माने उसके जीवनमें कोई शोभा, कोई सौन्दर्य नहीं रहा। निकम्मा हो गया। और उसके मनके भावका नाम आलस्य—

अलसस्य भावः आलस्यम्।

मनुष्य यदि आलसी हो गया तो उसके जीवनमें कोई भी सफलता नहीं मिलेगी। हमेशा आशा और उत्साहसे भरपूर जीवन होना चाहिए। अब यह लिया अब यह लिया, और संकट भी आ जाय, कष्ट भी आ जाय तो उसको सहकर अपने साधनमें, निष्ठामें दृढ़ रहना चाहिए। यह बात आचार्यसे सीखनेको मिलती है। कब बोलना, कब नहीं बोलना। 'मौनम्।' बोलनेमें भी पाँच बातका ध्यान रखना चाहिए। यह नहीं कि चाहे जो गप्प हाँक दिया। एक तो जो हम बोलें, उसमें झूठ न हो। सच बोलें यह नियम नहीं है। सच तो बहुत-से ऐसे होते हैं जो कहे नहीं जा सकते। अपने बीजककी जानकारी देना व्यापारीके लिए ठीक नहीं है। ठीक है वह दिखावे क्यों? परन्तु झूठ-झूठ गढ़के न बतावें—उसको मौनसे निभा लें। या दूसरे लोग जैसा सोचें वैसा सोचने दें। बोलनेकी आवश्यकता हो, तो जहाँ तक संभव हो सके—झूठसे बचें। और जो किसीके लिए हितकारी हो वह बोलें और बोलें तो बहुत मीठा बोलें, मधुर बोलें। आवश्यक हो तो बोलें। और अवसरके अनुकूल हो तो बोलें। और अपने ज्ञानका बोलनेमें अपमान न करें।

जब कोई बोलनेमें बैठकर पाँव हिलाता रहता है, तब वहाँ शक्तिका अपक्षय होता है। बैठकर हाथ हिला रहे हैं। बिना प्रयोजनके कोई काम कर रहे हैं। पानी पीट रहे हैं। अपने आपको रोकनेका सामर्थ्य होना चाहिए। यह नहीं कि जो चीज देखी उसको खाने लग गये, चीज मिली उसको भोगने लग गये। जो चीज मिली उसको इकट्ठा कर-करके रख लिया। इससे तो जीवनमें एक प्रकारका पागलपन ही आता है। पागलोंको हम देखते हैं, सड़क पर कागज मिले चाहे रस्सी वे अपने हाथको रोक नहीं सकते, उठाके अपनी झोलीमें या कंधे पर रख लेते हैं। कहीं हम अपने जीवनमें, ऐसा तो नहीं करते कि निष्प्रयोजन, निकम्मी वस्तुओंको इकट्ठे कर-करके अपने सिरपर बोझ बढ़ा रहे हों। अपनेको रोकनेका सामर्थ्य ही धर्म है। जो नहीं देखना चाहिए उसको आँखसे न देखें। जो नहीं करना चाहिए उसको हाथसे न करें। जहाँ नहीं जाना चाहिए वहाँ पाँवसे न जायँ। जो नहीं बोलना चाहिए वह न बोलें। अपने ऊपर नियंत्रण होना चाहिए। कुछ नष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं, कुछ मारनेकी आवश्यकता नहीं। केवल अपना नियन्त्रण, नियमन उस पर रहना चाहिए। हम जो उचित समझते हैं

✻✻

सो कर सकें और जो अनुचित समझते हैं, उसको छोड़ सकें। इसीको संस्कृत भाषामें 'धृति' अथवा 'धर्म' बोलते हैं। और राग-द्वेषसे बचें।

किसीसे दुश्मनी कर लेंगे तो अपना ही दिल जलेगा। द्वेष जो है, वह आग है। जिसके हृदयमें आग जलती है—पहले उसी हृदयको जलती है और बादमें दूसरेका स्पर्श करती है। यह राग जो है, ऐसा रंग है कि अपने दिलमें किसीका रंग चढ़ जाय तो उसकी गलती मालूम नहीं पड़ेगी। हमारे रागके भीतर छिप जायेगी। वह जो गलत काम कर रहा है उसको हम पकड़ नहीं पायेंगे। कहेंगे—भाई, ऐसा तो सब लोग करते हैं, यह करता है तो करने दो। स्नेह होना चाहिए परन्तु वह पोषक स्नेह होना चाहिए, जिससे हम दूसरेको परिपुष्ट कर सकें। जिससे हम दूसरेको रस दे सकें, तृप्ति दे सकें ऐसा प्रेम होना चाहिए। श्रद्धा होनी चाहिए। परन्तु ऐसी होनी चाहिए जिससे हम दूसरेको आदर दे सकें। श्रद्धा आदर देती है, प्रेम रस देता है। स्नेह पुष्टि देता है।

अपनी वृत्तियोंके सम्बन्धमें जो ध्यान है, आप वस्तुको पहचानते हैं वह दूसरी चीज है। रुई साफ करते हैं, ठीक है। मिट्टी साफ करते हैं, ठीक है। कपड़े साफ करते हैं, ठीक है। अन्न साफ करते हैं, वह भी ठीक है। परन्तु वह श्रम है। जब आप अपने दिलको साफ करने लगते हैं तब उसका नाम 'धर्म' होता है। राग-द्वेषसे बचें। किसीके प्रति इतना पक्षपात न हो जाय, उसकी बुराईमें भी शामिल हो जायँ और किसीसे इतनी दुश्मनी न हो जाय कि हम उसकी अच्छाईका भी अपमान कर दें। इस तरहसे अपने जीवनको यों चलाना कि किसी बातका अहंकार न हो। अहंकार होता है कि हमारे पास ये-ये चीजें हैं। एक बालकको मैंने बम्बईमें देखा। अब वह विदेशमें रहता है। उसके घरके लोगोंने उससे छिपाकर रखा था कि उसके पास कितनी सम्पदा है। अरबोंकी सम्पदा थी। पर लड़केको बताया नही गया था। उसकी उम्र 18-19 वर्षकी हो गयी। एक बार जब वह विदेश गया और उसने अपने ऑफिसमें देखा कि हमारी कितनी ब्राञ्च हैं तो उससे सहन नहीं हुआ, उसका दिमाग काबूसे बाहर हो गया। इस बातको पन्द्रह वर्ष हो गया। अभी उसके दिमागका सन्तुलन ठीक नहीं है।

रागमें, द्वेषमें, मोहमें अपने संग्रह-परिग्रहको देखकर एक प्रकारका अहंकार आता है और वह शरीरसे सहन नहीं होता। भोगकी अधिकतासे, संग्रहकी अधिकतासे और मनोराज्य-इतना बड़ा मनमें राज्य बना लिया कि वहाँतक पहुँचाना कठिन है। हाथ वहीं तक उठाना चाहिए जहाँतक शरीरमें शक्ति हो। मोटर बहुत तेज चलावेंगे तो रोक नहीं सकेंगे। अभी हालमें ही हम किसी मोटरसे चल रहे थे। इतने वेगसे वह चल रही थी कि ड्राइवर सम्हाल नहीं सका। हालमें ही एक दुर्घटना हुई। कोई एक सेठका लड़का मोटर चला रहा था। मोटर बिलकुल उलटी ही हो गयी। ऊपरका हिस्सा नीचे, नीचेका ऊपर—उलट गयी। अपने शरीरकी जो मोटर है, इसको चलानेमें भी नियंत्रण चाहिए। अहंकेकार पर बैठ करके इसको नियंत्रणसे बाहर नहीं होना चाहिए और केवल अच्छाईका पक्ष ही नहीं देखना चाहिए कि हम जवान हैं। बुढ़ापेको भी देखना चाहिए कि जीवनमें आनेवाला है।

आज स्वस्थ हैं पर यदि स्वस्थ्यताकी रक्षा नहीं करेंगे तो रोग भी आनेकी सम्भावना रहती है। हमेशा सावधान रहकर आचरण करना चाहिए और जैसा कि हमारे बिन्नाणीजीने प्रश्न किया—भगवान्‌की भक्ति होनी

✻✻

✻✻

चाहिए। भक्तिके दो पहलू होते हैं। एक तो जो बुरा है उसको छोड़ना—जो हमारा इष्ट नहीं है, उसको छोड़ देना। और जो हमारा इष्ट है, उसको पकड़ना। संस्कृत भाषामें 'भजनसे' भक्ति बनती है और 'भंजन'से भी भक्ति बनती है।

हरिसों जोरि, सबन सों तोरयो।

अपने इष्टदेवके साथ अपने मनको जोड़ दिया। बड़े लाभकी बात है यह। व्यवहारमें भक्ति बड़े लाभकी वस्तु है। मातृ-भक्ति भक्ति है। पितृ-भक्ति भक्ति है। देश-भक्ति भक्ति है। देश-भक्ति भी भक्ति है। लोक-भक्ति भी भक्ति है। देवता-भक्ति भी भक्ति है। परन्तु भगवान्‌की भक्ति जो है वह पूर्ण जीवन, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्दके साथ अपने भावको जोड़ना है। माने हम कोई काम करें तो अधूरा रहकर काम न करें। पूरा रहकर काम करें। भक्ति माने सर्वरूप जो भगवान् हैं-विराट्-उनकी सेवा, हम जो काम करें वह किसी देशके लिए हानिकारक न हो। वह किसी जातिके लिए हानिकारक न हो। वह किसी सम्प्रदायके लिए हानिकारक न हो। भक्ति माने प्रीतिपूर्वक सबकी सेवाकी भावना। हमारा काम एकदेशी न हो जाय। दूसरे गाँवमें आग लगाकर, अपने गाँवको खाद देना ऐसा न हो जाय। सबकी भलाई रखकर जो काम किया जाता है वह भक्ति है। भगवान् भी पूर्ण हैं और भक्ति भी पूर्ण है। उसमें एक पशुको भी हानि न पहुँचे—जान-बूझकर हम एक कणको भो हानि न पहुँचावें।

एक सज्जन किसी महात्माका दर्शन करने गये। जूते बाहर उतारे। इतने जल्दीमें उतारा कि जूते पर जूता चढ़ गया। दरवाजेके भीतर घुसे तो ऐसी खट्टसे किवाड़ी लगी—धक्का लगा कि उनको भी चोट लगी और किवाड़ी बोल गयी। हड़बड़ाकर पहुँचे। महात्माजीने पूछा—'कैसे आये'? बोले, आपका दर्शन करनेके लिए। जूते पर जूता चढ़ाकर आये हो, पहले उसको ठीक करो। यदि जूता निकालनेमें तुम सावधान नहीं हो, तो जो बात मैं तुम्हें बताऊँगा, उसको तुम कैसे सावधानीसे ग्रहण करोगे? किवाड़ीको चोट लगी है, उससे माफी माँगी। जब किवाड़ीको भी चोट न लगे, हम यह ध्यान रखेंगे और जूता जूते पर न चढ़े—यह ध्यान भी रखना है।

सावधानी अपने जीवनमें ऐसी ही चाहिए। कपड़ेको झाड़ रहे हैं और दूसरेकी आँखमें गंदगी पड़ रही है। भक्ति जो है वह सबकी आँखका ख्याल रखती है, सबके दिलका ख्याल रखती है सबके दिमागका ख्याल रखती है। किसीकी मान्यताको गलत बतानेका कोई कारण नहीं है। जहाँ उसका भाव है, श्रद्धा है, वह सफलता प्राप्त करेगा। भक्ति कैसी? भक्तिमें एक तो बताया कि 'अव्यभिचारिणी' होनी चाहिए। भक्तियोग होना चाहिए,'अनन्ययोगेन', साथ ही 'अव्यभिचारिणी' होनी चाहिए। चार दिन इनकी भक्तिकी, चार दिन उनकी भक्ति की।

हमारे आश्रममें एक सज्जन रहते थे, उनका नाम था आनन्द ब्रह्मचारी। मैं एक दिन उनकी कुटियामें चला गया। बाईस चित्र देवताओंके लगाये हुए थे। ब्रह्मचारीसे मैंने पूछा कि ब्रह्मचारीजी, इतने चित्र क्यों लगा रखे हैं? क्या आपके शिष्योंने अपने-अपने चित्र लाकर आपके ठाकुरजीके साथ रख दिया है? बोले ना

✻✻

स्वामीजी, मैं सोचता हूँ कोई देवता नाराज न हो जाय। इसके लिए दो-दो माला सबकी फेरता हूँ और सबको प्रणाम करता हूँ। तो देखो भाई—यह भक्ति तो हमारे पातिव्रत धर्मके जैसी शिक्षा है। एक पत्नी एक पुरुषके साथ सम्बन्ध रखे और एक पुरुष एक पत्नीके साथ सम्बन्ध रखे। तो क्या होगा? हजारों स्त्री-पुरुष भ्रष्ट होनेसे बच जावेंगे। और हमको एक रास्तेकी प्राप्ति होगी। हमारे जीवनमें वासनाके विरोधका एक अवसर आवेगा। नहीं तो हम वासनाके गुलाम हो जावेंगे। वासनाकी गुलामीसे बचनेके लिए हमें एकनिष्ठाकी आवश्यकता होती है। और यह आरम्भमें ही पतिव्रता धर्मका जो उपदेश किया जाता है, वहाँसे इसका प्रारम्भ होता है। एक पुरुषके प्रति अपनी निष्ठा। श्रीरामचन्द्रजी महाराजकी भागवतमें यही प्रशंसा मिलती है—'एकपत्नीव्रतधरः'। श्रीरामचन्द्रके जीवनमें यह व्रत था कि हमारी पत्नी तो एक सीता है। यज्ञके समय ऋषियोंके कहनेपर भी उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया। स्वर्णकी सीता बना करके यज्ञ किया।

कुंदमाला नामक एक नाटक है। अबसे दो हजार वर्ष पहलेका नाटक है। उनका कहना है कि यज्ञके समय वाल्मीकि आश्रमसे जब श्रीसीताजी लव-कुशके साथ आयीं तो वहाँ ऐसा अद्भुत चमत्कार हुआ कि फिरसे प्रजाके बीचमें सीताजीको ग्रहण कर लिया रामचन्द्रने—और वे यज्ञमें उनके साथ बैठीं। ऐसा हमारे कुन्दमालाके नाटककारने लिखा है। भक्ति कैसी? जैसे एक सती एक पतिव्रता, पत्नी अपने पतिके प्रति अपने जीवनकी निष्ठा रखती है और अन्य योगका व्यवच्छेद जहाँ है, अनन्य योग है। अपने पतिके सिवाय दूसरे किसीके साथ उसका सम्बन्ध नहीं है। और जो सम्बन्ध है—ये हमारे पतिके पिता हैं, ये हमारे पतिकी माता हैं, ये हमारे पतिके मित्र हैं। यह हमारे पतिका भाई है। पतिके सम्बन्धसे ही उसके सारे सम्बन्ध हैं। यहाँ तककी ससुरालके सम्बन्ध हैं यानि पत्नीके जो मायकेके सम्बन्ध हैं, वे भी पतिके सम्बन्धसे ही हैं।

एक पत्नीने अपने पतिसे कहा कि अपने रिश्तेदारोंसे तो बहुत प्रेम करते हो, मेरे रिश्तेदारोंसे प्रेम नहीं करते हो। बोले, क्यों नहीं, मैं तुम्हारे रिश्तेदारोंसे भी प्रेम करता हूँ। किससे करते हो? तुम्हारी साससे प्रेम करता हूँ, तुम्हारे ससुरसे प्रेम करता हूँ, तुम्हारे देवरसे प्रेम करता हूँ। संसारमें जितने भी सम्बन्ध जैसे पतिव्रताके होते हैं और अपने पतिके सम्बन्धसे होते हैं—वैसे हमारा संसारका जो व्यवहार है,वह ईश्वरके सम्बन्धसे, भगवान्के सम्बन्धसे होवे। जिससे हम मिलते हैं वह भी भगवान्की संतान हैं। जिससे हम मिलते हैं वह भी भगवान्का सेवक है। वह भी भगवान्के द्वारा संचालित है। यह सब पशुके रूपमें, पक्षीके रूपमें, पेड़-पौधेके रूपमें, ये सब भगवान्के ही प्रसाद हैं। उन्हींकी प्रसन्नताके लिए हैं। उन्हींके बनाये हुए हैं। 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी' का अर्थ यह होता है कि दूसरेके साथ हमारी आसक्ति न हो अनन्ययोग न हो—परमात्माके साथ अनन्ययोग हो और उसमें जैसे एक सती पतिव्रताके मनमें व्यभिचार नहीं होता है वैसे क्षणमें यह, और क्षणमें वह, ऐसा नहीं होता।

श्रीरूप गोस्वामीजी महाराजने तो यहाँतक इसको पहुँचा दिया है कि जब मथुराकी सड़कपर श्रीकृष्ण और बलराम दोनों ग्वालबालोंके साथ चल रहे थे, तो मण्डलाकार नृत्य करते चल रहे थे और ग्वालबाल उनके साथ। एक ओर बलराम और एक ओर कृष्ण, दोनोंके बीचमें ग्वालबाल! रास-नृत्य-गरबा करते हुए

चल रहे थे। जो छज्जेपर स्त्रियाँ खड़ी थीं वे जब बलराम गौरवर्णको देखें तो मुग्ध हो जाँय—यह बड़ा सुन्दर है, प्रिय है और जब मण्डल घूमे और सामने साँवरे कृष्ण आजायँ तो उनको देखकर मुग्ध हो जायँ। उन्होंने इसको रसाभासके रूपमें उद्धृत किया है कि यहाँ जो मथुराकी स्त्रियाँ हैं उनके हृदयमें सच्चा रस नहीं! नहीं तो एक बार जब साँवरेका रस आजाता तो गोरेमें रस लेनेकी कोई जरूरत नहीं होती। एक बार गोरेमें आजाता तो साँवरेमें रस लेनेकी आवश्यकता नहीं होती। उनके मनमें रस जो बदलता जा रहा है, इसका अर्थ है कि सम्पूर्ण रस नहीं है। भगवान्की भक्तिमें भी ऐसी भक्ति होनी चाहिए जो अनन्य हो और अव्यभिचारिणी हो। यह अनन्य और अव्यभिचारिणी भक्ति किससे हो सकती है? जब हम इसपर विचार करें तो वह यदि हमसे दूर होगा, उसके मिलनेमें देर होगी, वह दूसरा होगा तो हम निरन्तर उसकी भक्ति कैसे कर सकेंगे? इसलिए परमात्मा दूर नहीं है।

'हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'

हमारे हृदयमें ही भगवान् रहता है। हृदयमें भगवान्के सिवाय और कोई नहीं है। भगवान्ने हमारे हृदयके सिवाय अपना दूसरा कोई मन्दिर, कोई लोक नहीं बनाया है। परमात्माका लोक यही है। कौन-सा? हमारे हृदयमें। इसी देशमें रहता है और हमेशा रहता है। कहीं जाता नहीं है। इन्तजार नहीं करना पड़ता है और हम जो भी देखते हैं, उसीकी रोशनीमें देखते हैं। जबतक आत्मा और परमात्माकी एकता नहीं हो जायेगी, तबतक अनन्ययोग और अव्यभिचारिणी भक्ति नहीं हो सकती। जब हम भक्तिको पूर्ण करना चाहेंगे—यह ज्ञानका साधन है तो उसका ज्ञान होकर ही रहेगा क्योंकि हम उसकी भक्ति करना चाहते हैं जो गाढ़ सुषुप्तिमें भी, मूर्च्छामें भी, समाधिमें भी और महाप्रलयमें भी हमको नहीं छोड़ता है। ऐसा कौन है? वह हमारा अपना आपा है। तो निश्चय ही यह ज्ञानका साधन हो जायेगा।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
मां च यो व्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

× × ×

सगुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते।

यह बात चौदहवें अध्यायमें कही गयी। और तेरहवें अध्यायमें **'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'** कहा गया। जो सचमुचमें परमात्माके साथ सच्ची भक्ति करेगा उसको परमात्मा अपने हृदयमें ही, अपने आपमें ही दिखेंगे और अपना आप तो कभी दूर जाता नहीं और अपना आप कभी देरसे आता नहीं। अपना आप कभी दूसरा होता नहीं। इसलिए जब हम भगवान्की सच्ची भक्ति करना चाहेंगे कि वे हमेशा हमारे साथ रहें, हर जगह हमारे साथ रहें, हर रूपमें हमारे साथ रहें तो अपने आप ही मनुष्यको विवश होकर अपने आत्माके ज्ञानकी ओर आना पड़ेगा।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।

इसीसे अठारहवें अध्यायमें यह बात कही गयी कि—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।

भक्तिसे भगवान्‌का 'अभिज्ञान' संस्कृतका जो शब्द है, वह पहचान है। पहलेसे जाना हुआ तो है, देखा हुआ तो है। परन्तु भूल गया या याद नहीं आ रहा है, हाँ; पहचान लिया। वही हो न तुम? 'भक्त्या मामभिजानाति'। जिसके हृदयमें भक्ति रहती है, वह भगवान्‌को पहचान लेता है। जिससे आपका प्रेम होगा, वह कैसे सोता है, कैसे जागता है, कैसे उठता, बैठता है? क्या खाता-पिता है, यह आपको मालूम पड़ जायेगा। जिससे आपको प्रेम होगा उसके बारेमें आपको जानकारी मिल जायेगी। और जिसकी आपको सच्ची-सच्ची जानकारी मिल जायेगी—अगर वह बुरा है तो आप उसको छोड़ेंगे, सावधान रहेंगे और यदि वह अच्छा है तो उसके साथ प्रेम करेंगे, उसके साथ जुड़ेंगे। इसलिए भक्तिसे ज्ञान होता है और ज्ञानसे भक्ति होती है और यदि प्रेमसे कुछ पाना चाहते हैं तो उसके बारेमें आपको पूरी जानकारी चाहिए और बिना प्रेमसे पूरी जानकारी मिल भी नहीं सकती। इसलिए प्रेम और भक्ति दोनों सत्यके ज्ञानमें पूरी तरहसे सहायक होते हैं।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ 18.55

'यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः'—

भगवान्‌को शकल-सूरतसे जानना जानना नहीं होता, मानना होता है। क्योंकि जब हम एक साढ़े तीन हाथका कोई व्यक्ति देखते हैं, तो इसीने यह सृष्टि बनायी है यह तो मानना पड़ेगा—यही सर्वज्ञ है, यह भी मानना पड़ेगा। ये सर्वशक्तिमान् हैं, यह भी मानना पड़ेगा। जब हम एक छोटी-सी चीजमें,छोटे-से आकारमें, भगवान्‌का भाव करेंगे तो वहाँ मानना पड़ेगा। लेकिन जब उससे पूरी भक्ति हो जायेगी तब हम जान जायेंगे कि यह कितना बड़ा है। वह कितना बड़ा है—देशकी कल्पना, कालकी कल्पना, द्रव्यकी कल्पना, उसके अन्दर, उसके एक कणमें होती रहती है और मिटती रहती है। वह है क्या? उसका तत्त्व क्या है? जैसे आभूषण हम बहुत देखते हैं—छोटा बच्चा चमकता हुआ आभूषण देखता है, पहनता भी है, लेकिन वह सोनेको नहीं पहचानता है। उसी प्रकार भगवान्‌को जो लोग बहुत छोटे रूपमें देखते हैं, वे आभूषण तो पहनते हैं, परन्तु आभूषण स्वर्ण है यह ज्ञान उनको नहीं होता। जब सोनेसे प्रेम होगा तब पता लगावेंगे कि यह क्या है? आभूषणका नाम सोना है? नहीं। सिल्लीका नाम सोना है? नहीं। कणका, चूरेका नाम सोना है? नहीं। द्रव्यका नाम सोना है? नहीं—सोना तो एक ऐसी वस्तु है कि जब उसके स्वरूपका पता लगेगा कि क्या है तो देखोगे कि सबसे बड़ा स्वर्ण तुम हो। जिसने स्वर्णको स्वर्ण बना रखा है। यदि तुम न होते तो सोनेको सोना बनाता कौन?

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।

जब तत्त्वतः परमात्माका ज्ञान होता है—आकारसे नहीं—क्रियासे नहीं, लीलासे नहीं. भावसे नहीं, विचारसे नहीं—जो सचमुच भगवत्-तत्त्व है, उसका ज्ञान कब होता है, जब हमारे जीवनमें सच्ची भक्ति आती

है। 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा'—और जब परमात्माका ज्ञान होता है तो जैसे घड़े और मिट्टीमें फर्क नहीं है, जैसे आभूषण और स्वर्णमें फर्क नहीं है, जैसे औजार और लोहामें फर्क नहीं है—जैसे कार्य और कारणमें फर्क नहीं है, जैसे स्वप्न और स्वप्नद्रष्टामें कोई फर्क नहीं है, इसी प्रकार आत्मा और परमात्मामें कोई फर्क नहीं रह जाता। इसका अर्थ बहुत विलक्षण है और व्यावहारिक है। जबतक आप अपने अन्दर पूर्ण शक्ति और पूर्ण ज्ञानका अनुभव नहीं करेंगे, तबतक आपके काम भी अधूरे रहेंगे, संकल्प भी अधूरे रहेंगे, सफलता भी अधूरी रहेगी। लेकिन यदि आप अपनेमें, पूर्णताका अनुभव कर लें तो आप जो-जो करेंगे, वही पूर्ण होगा। आपके जीवनमें उत्साह बना रहेगा, कभी टूटेगा नहीं। आपको हमेशा सफलता मिलेगी। कहीं विफलता है ही नहीं। कभी आप दुःखी नहीं होंगे। हमेशा सुखी रहेंगे। कभी आप अपनेको दीन-हीन महसूस नहीं करेंगे। व्यावहारिक जीवनको पूर्ण बनानेके लिए अपनी पूर्णताका बोध बहुत उपयोगी और आवश्यक होता है।

श्रीरामचन्द्र भगवान्‌ने पहले अपनी पूर्णताका ज्ञान प्राप्त कर लिया। मेरा जीवन क्या है? अनन्त मेरा ज्ञान क्या है? अनन्त। मेरा आनन्द क्या है—अनन्त। मेरी शक्ति कितनी है? अनन्त। जब श्रीरामचन्द्र भगवान्‌को अपनी पूर्णताका बोध हो गया, उसके बाद वे जीवन्मुक्त पुरुषके समान, अपनी भगवत्ताके साथ सारे कर्म करते थे और कहीं उदासी, नैराश्य उनके जीवनमें नहीं था। सम्पूर्ण समग्रताके साथ भगवान्‌के रूपमें उन्होंने सम्पूर्ण विश्वका हित किया, कल्याण किया। इसलिए यह जो ज्ञान है यह केवल समाधि लगानेके लिए नहीं है, हिमालयमें जानेके लिए नहीं है या केवल मन्दिरमें बैठनेके लिए नहीं है। यह केवल यज्ञशालामें रहनेके लिए नहीं है या केवल मन्दिरमें बैठनेके लिए नहीं है। यह केवल यज्ञशालामें रहनेके लिए नहीं है। आप जहाँ रहें—रणमें, वनमें, आप पहाड़पर रहें, एकाकी रहें, भीड़में भले लोगोंमें रहें, बुरे लोगोंमें रहें, आप सबको आनन्द बाँटते रहेंगे, सबको ज्ञान बाँटते रहेंगे, सबको जीवन-दान करते रहेंगे। यह तत्त्वज्ञान है, यह भक्तिके द्वारा प्राप्त होता है।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।

भक्तिमें विशेषता क्या है? एक तो दलीय भक्ति होती है। दलीय भक्ति माने आज चरणसिंहजीके भक्त हैं तो कल अटलजीके भक्त हो गये। परसों इन्दिराजीके भक्त हो गये। यह भक्ति बदलती रहती है और अनन्य भक्तिका अर्थ होता है, ईश्वरके साथ भक्तिका सम्बन्ध रखें जो कभी बदलेगी नहीं। फिर आप परिवारमें रहिये, ईश्वरकी भक्ति बनी है, समाजमें जाइये, ईश्वरकी भक्ति बनी है। व्यापारमें जाइये, राजनीतिमें जाइये-फँसिये कहीं नहीं। दुनियाके सारे फँसावोंको, पक्षपातोंको, क्रूरताओंको मिटानेके लिए, हमारे हृदयमें जब ईश्वरकी भक्ति आती है तो वह ऐसा चमत्कार दिखाती है कि मनुष्यके जीवनमें कोई दुःख, कोई दीनता, कोई हीनता रहती ही नहीं है।

●

चतुर्थ दिवस

(31-10-84)

प्रश्न : ऐसे कुछ भक्तोंके उदाहरण देकर भक्तिके इस विशिष्ट रूपको स्पष्ट करें।

उत्तर : हमलोग परीक्षा देनेके लिए बैठते थे तो ऐसे ही प्रश्नपत्र आया करते थे। यहाँ ज्ञान प्राप्त करना है। ज्ञान प्राप्त करनेके लिए हमारे अन्दर क्या-क्या योग्यता होनी चाहिए, यह बात इस प्रसङ्गमें कही जा रही है। ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञानकी तो बात छोड़ दें, केवल रासायनिक ज्ञान भी प्राप्त करना हो—माने विज्ञानकी रीतिसे किसी वस्तुका विश्लेषण करना हो तो उसके लिए भी शान्ति चाहिए, उसके लिए भी इन्द्रियोंकी चञ्चलता छोड़कर उसको समझना चाहिए, नहीं तो समझमें आयेगा नहीं। थोड़ी देरके लिए दूसरे कामसे मन हटाकर उसमें लगाना चाहिए। उसको समझते, सीखते समय कोई तकलीफ आजाय तो उसको सह लेना चाहिए। विश्वास श्रद्धा रखना चाहिए कि इस काममें हमको सफलता मिलेगी। आज नहीं समझमें आता है तो कल आ जायेगा और अपने चित्तमें जितने भी संशय हों उनको मिटाते जाना चाहिए। सबसे बड़ी बात है कि यदि आप कोई भी ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो उसमें रुचि होनी चाहिए, प्रीति होनी चाहिए। साधुओंने हम लोगोंको बताया था कि किसी गाँवमें भिक्षा लेनेके लिए जायें तो कई घर ऐसे मिलेंगे जहाँ भिक्षा नहीं मिलेगी, कई घर ऐसे होंगे जहाँ मिलेगी। कहीं डाँट-फटकार मिलेगी। कहीं कुत्ते दौड़ेंगे। कहीं माई गाली देने लगेगी। तो इसकी परवाह नहीं करना। गाँवमें भिक्षाके लिए जाते रहना। जो पहले दिन नहीं देंगे, वे दूसरे दिन देंगे। हप्तेभर बाद देंगे। देंगे जरूर। किसी भी वस्तुका यदि हम ज्ञान प्राप्त करना चाहें—और एक दिनमें समझमें न आवे तो दूसरे दिन, तीसरे दिन, चौथे दिनमें समझमें आयेगा। *'हरिसे लागा रहु रे भाई—तेरी बनत-बनत बन जाई।'* ऐसा कौन-सा ज्ञान है जो किसीको प्राप्त हो जाय और हम उसको प्राप्त न कर सकें। ईश्वरकी शक्ति तुम्हारे अन्दर है।

आप देखो—मोटर चलाते हैं, जिनको मशीनरीका ज्ञान होता है कि स्टार्ट करनेसे कहाँ-कहाँ होकर बिजली घूमती है, कैसे मशीनोंको चलाती है, रास्तेमें कहीं बिगड़ जाय तो ठीक कर लेते हैं और जिनको मशीनका ज्ञान नहीं है, उनको यदि पेट्रोल कहीं अटक जाय तो खड़ा होकर किसी जानकारकी इन्तजार करनी पड़ती है। किसी भी वस्तुका समग्र ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, ऐसा भगवान्का कहना है।

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।

अपने ज्ञानमें संशय नहीं होना चाहिए और दूसरे उस विषयका पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए—अधूरा नहीं। जब परमात्माका ज्ञान प्राप्त करना है तो उस ज्ञानमें—परमात्मामें रुचि होनी चाहिए। भक्तिमें वह चीज है। एक तो है प्रीति और एक है सेवा। भज धातु सेवाके अर्थमें है—'भज सेवायाम्'। प्रीतिविशिष्ट भजन=सेवन, माने किसी चीजको प्रेमसे बार-बार, बार-बार दुहराओ।

हम अपने बचपनकी एक बात सुनाते हैं। आठ नौ वर्षकी उम्रमें हम संस्कृत पढ़ते थे तो हमारे

पितामहने बताया कि जो श्लोक तुम्हें हृदयंमग करना हो उसको माला लेकर 108 बार जप लो। और दूसरे दिन पाठ करो तो केवल एक बार। एक दिन 108 बार कर लो और दूसरे दिन एक बार। हमारी उम्र तो छोटी थी। हमारे यहाँ विद्यार्थी लोग पढ़ते थे, हमलोग होड़ लगाते—देखो, आज सबसे अधिक श्लोक कौन याद करता है। मैं एक दिनमें बड़े-बड़े श्लोक कण्ठस्थ कर लिया करता था। युक्ति यही थी कि एक श्लोकको बार-बार दुहराया। एक दिनमें वह याद हो गया। पहले पुस्तक देखकर याद किया। फिर आँख बन्द करके याद किया, फिर लोगोंमें बोलने लग गये। किसी भी वस्तुका ठीक-ठीक स्मरण रहे, ज्ञान प्राप्त हो, इसके लिए प्रेमकी भी आवश्यकता होती है और पुन:-पुन: सेवनकी भी। यह है भक्ति जो हमें ज्ञान देती है। जिस वस्तुमें हम प्रेमसे लग जायेंगे और उसको दुहरायेंगे तो आज नहीं कल उसका ज्ञान अवश्य प्राप्त हो जायेगा। भगवान्की भक्ति, प्रेमसे भक्ति उसमें रस आना चाहिए। स्वाद आना चाहिए। उसकी प्यास बढ़ती जानी चाहिए। अब यदि वस्तु बहुत सूक्ष्म है तो एकबार मनको चारों ओरसे खींचकर उसमें लगाना चाहिए। यह नहीं कि मन कभी यहाँ गया, कभी वहाँ गया।

बहुत वर्षकी बात है, शायद 25-30 वर्षकी बात होगी, मैं वृन्दावनमें था, पिलानीके कुछ शिक्षा-शास्त्री लोग आये थे, विद्या बिहार के और उनका प्रश्न था वेदान्त-विद्याके सम्बन्धमें और उनका कहना था कि जब ज्ञान ही प्राप्त करना है तो उसमें साधनचतुष्टयकी क्या जरूरत है? मैंने उनको बताया कि तुम्हें साइंसके अनुसार भी किसी चीजका ज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा तो उसमें साधन-चतुष्टयकी आवश्यकता तो होगी ही। तुम्हें जो आविष्कार करना है—नया विज्ञान प्राप्त करना है, उसमें विवेक चाहिए, दूसरी ओरसे मन हटाना चाहिए। अपने मनमें इधर-उधर जाने-आनेका संकल्प छोड़ना चाहिए। कुछ त्याग-वैराग्य चाहिए। आपने सुना होगा पोटेशियम परमेंगनेटमें स्वाद कैसा होता है, यह एक सज्जनको पता लगाना था। तब तक इसका आविष्कार नहीं हुआ होगा। उसने कलम कागज लेकर अपने जीभपर पोटेशियम डालकर लिखना चाहता था कि इसमें क्या स्वाद है। पर जीभपर डालनेपर तो मृत्युकी ही सम्भावना थी। परन्तु उसके मनमें ऐसी जिज्ञासा थी कि हम मर जायेंगे तो मर जायेंगे लेकिन इस रहस्यका उद्घाटन करेंगे। सत्यका ज्ञान प्राप्त करने के लिए ऐसा अव्यभिचरित—माने कभी इधर गयी, कभी उधर गयी, ऐसी भक्ति नहीं-भक्ति चाहिए। मनको ऐसी लगन चाहिए कि हम तो इसका पता लगाकर ही छोड़ेंगे। बीचमें भटकेंगे नहीं। महात्मा बुद्ध जब समाधि लगानेको बैठे तो बोले—

इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु।
अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां। (बुद्धचरित)

इस आँगनपर बैठे-बैठे हमारा शरीर सूख जाये। और चाम, हड्डी, मांस खाकमें मिल जाय। लेकिन हम तो सत्यका पता लगाकर ही उठेंगे। दूसरेके साथ जुड़ें नहीं, भक्ति इधर-से-उधर भटके नहीं—परमात्माका बारम्बार चिन्तन करें तो परमात्माका जो सत्य ज्ञान है वह प्राप्त हो जाता है। असलमें परमात्मा माने क्या होता है? जैसे हम कहें परम मधुर—तो मधुरताकी पराकाष्ठा—इसी प्रकार हमारा जो यह आत्मा है, इसका जो परम-

चरम-अन्तिम-जो सत्यरूप है, जिसके पीछे और कुछ नहीं है, उस वस्तुको जाननेकी रीति क्या है? यह भगवान्‌की भक्ति है। जब लोग प्रेमसे भक्ति करते हैं, उदाहरण पूछते हैं। उदाहरण तो आप लोगोंको बहुत मालूम होगा। हमसे ज्यादा। क्योंकि आप लोग कथा-कहानी बहुत पढ़ते हैं। भक्तोंके चरित्र बहुत पढ़ते हैं। हम तो आप लोगोंके बीचमें आकर कथाकार बन जाते हैं। नहीं तो हमारा मुख्य विषय तो दर्शनशास्त्र है। उसमें ज्यादा कथा-कहानी नहीं चलती है। अब रही बात कि आपने सुना होगा, श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं कि हमारे जीवनमें वह दिन कब आयेगा—यह सोचकर उनका शरीर रोमाञ्चित हो गया।

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्‌गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥ (शिक्षाष्टक.....)

हे प्रभो; वह समय मेरे जीवनमें कब आयेगा कि आपके नामका उच्चारण करते ही हमारी आँखोंसे झर-झर, झर-झर आँसू गिरने लगें और वाणी गद्‌गद हो जायेगी। बोला नहीं जायेगा और शरीरमें रोमाञ्च हो जायेगा। जो रससे, प्रेमसे, रोमाञ्च होता है, आँसू गिरते हैं उससे शरीरमें जो छिपी हुई शक्तियाँ है वे प्रकट हो जाती है। मनकी जो छिपी हुई तहें हैं वे सब-की-सब खुल जाती हैं। और शोकसे, दुःखसे जब रोते हैं, तो उनके द्वार बन्द हो जाते हैं। शक्तियाँ रोनेमें अपना सहयोग नहीं देना चाहतीं। जो चित्तके भीतर ज्ञान है, प्रेम है, वे दुःख-शोकमें सहयोग देना नहीं चाहते। परन्तु यदि कोई प्रेमसे रोये तो सब-की-सब शरीरकी शक्तियाँ खिल जाती हैं वह दिन हमारे जीवनमें कब आयेगा?

एक भक्त बोलते हैं—मेरे ये दिन बहुत बुरे बीत रहे हैं। तुम्हारा नाम मुखसे नहीं निकलता। तुम्हारी याद नहीं आती। तुम्हारे दर्शन नहीं होते। हमारे अन्दर साधन नहीं है, यह तो ठीक है। परन्तु जिसके पास कोई साधन नहीं है उसके हितैषी, हितकारी तो आप ही हैं। जिसके पास बहुत साधन हैं, बहुत बुद्धि है, बहुत योग्यता है, उसके विषयमें भगवान् सोचते हैं कि यह तो अपनी योग्यता से ही काम कर लेगा। परन्तु जो अपनी अयोग्यताका अनुभव करता है, उसके अन्दर भगवान् योग्यता अपनी ओरसे देते जाते हैं। आप दीन-हीनके बन्धु हैं।

बन्धुका अर्थ है—उसको दोनों हाथसे पकड़कर उठा लेते हैं, अपने गलेसे लगाते हैं। जो दीन-हीनको उठाता नहीं है, उसकी शक्ति किस कामकी? जो अज्ञानीको ज्ञान नहीं देता, उसका ज्ञान किस कामका? जो पिछड़े हुएको आगे नहीं बढ़ाता है, उसका विवेक, उसकी बुद्धि किस काम की? अभावग्रस्त में जो अभाव है, उसको परिपूर्ण करते चलो। और यही भगवान्‌की विशेषता है कि जो खाली है, उसको वह भर देता है। हमारा यह समय कैसे बीते? प्रार्थना करो। भक्तिमें प्रार्थना है। एक प्रार्थना के बलपर सारा ईसाई धर्म चलता है। प्रार्थना और सेवा दो ही उसकी विशेषता है।

इस्लाम धर्ममें क्या है? नियम है और उपासना है। नमांसि-नमाज और नियम-निष्ठा। इसीसे उस धर्मकी कितनी वृद्धि हुई। हमारे जीवनमें प्रार्थना भी आवे, सेवा भी है—नियम निष्ठा-भी आवे और भगवान्‌की शक्ति जो सबसे अधिक शक्तिवाला है—ज्ञान-सम्पन्न—वह हमारे जीवनमें आवे। यह भक्ति, मरनेके लिए नहीं

होती। भक्ति नया जीवन प्राप्त करनेके लिए होती है। जिस कुएँमें-से पानी बाहर नहीं आता है—उसको निकालो; निकालो तो भीतर से बाहर आना शुरू हो जावेगा। तो अपने हृदय में जो परमात्माका ज्ञान छिपा हुआ है उसको प्रकट करनेके लिए भगवान्‌की भक्तिकी आवश्यकता होती है। यह जो अव्यभिचारिणी भक्ति है माने सती, पतिव्रताके समान जो भगवान्‌के प्रति भक्ति है और जिसका मुँह हमेशा भगवान्‌की ओर रहता है वह भक्ति हमें झूठमें नहीं रखती है। वह सत्यके साथ रहती है—

'अनृतात् ऋतं प्रपद्ये'।

हम झूठी दुनियासे छूटकर, एक सच्ची दुनियामें पहुँच जाते हैं। अपने हृदयमें जो योग्यताएँ हैं उनका काममें लेना चाहिए तो वे बढ़ती हैं। इसके बाद बताया कि तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके लिए सबसे बड़ी बात यह है कि—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वं अरतिर्जनसंसदि॥ 10॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ 11॥

इसके लिए हर समय हँसी-खेलमें नहीं रहना चाहिए। मनोरंजन ही जीवनका रहस्य नहीं है। पवित्र और एकान्त देशमें बैठ करके विचार करें तो मनमें पवित्राताका भाव आयेगा और कोई भी तत्त्वज्ञान-भीड़-भाड़में, मनोरंजनमें, नृत्य-गानमें नहीं आता। उसके लिए थोड़ी देर तक हम एकान्त, एकाग्र चित्तसे—एकान्तमें पवित्रताके साथ बैठें। पवित्रका चिन्तन ही पवित्रता है। आप विचार करो कि आपके मनमें क्या-क्या आता है। जितनी पवित्र वस्तुएँ आपके मनमें आयेंगी उतनी ही आपके मनकी पवित्रता बढ़ेगी। उस स्थानमें, उस देशमें आकर बैठिये—जहाँसे ज्ञानकी धाराएँ निकलती हैं।

यह हमारे आँख, नाक, त्वचा, कान बाहरसे ज्ञान लेकर भीतर पहुँचाते हैं और भीतरसे ज्ञान लेकर बाहर पहुँचाते हैं। ये अपने जीवनमें नदी हैं जो कभी बाहरसे भीतर जाती है और कभी भीतरसे बाहर आती है। इनके सम्बन्धमें हमारी जानकारी ऐसी होनी चाहिए कि जब हम चाहें तभी हमारे जीवनमें पवित्रताकी और आनन्दकी धारा बहने लगे। जीवनमें आनन्दकी धारा बहानेके लिए प्रकट करनेके लिए और पवित्रताकी धारा जीवनमें प्रकट करनेके लिए भक्तिकी आवश्यकता होती है। भक्ति माने रसकी पवित्र धारा। आनन्दकी पवित्र धारा—भक्ति माने थिरकता हुआ ज्ञान—ऐसा ज्ञान जो अपने नृत्यके द्वारा, अपने संगीतके द्वारा, अपनी वंशी ध्वनिके द्वारा सबके मनको मुग्ध कर ले। कृष्ण ज्ञान है—उसकी सुन्दरता, उसकी मधुरता, उसकी वंशी-ध्वनि, उसका संगीत इस सम्पूर्ण विश्वपर छा जानेवाला, एक सुधा-समुद्र है, आनन्द-समुद्र हैं। भक्ति इसीको प्रकट करती है। एकान्तमें होनेसे यह प्रकट होती है। थोड़ी देर एकान्तका सेवन करके अपने चिन्तनकी शक्तिको जागृत करना चाहिए।

विविक्तदेशसेवित्वम् अरतिर्जनसंसदि।

****

और ज्ञान प्राप्त करना हो तो क्या करना चाहिए? भगवान्‌ने बताया कि ज्ञान प्राप्त करनेके लिए—

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ 12॥

आप अभिमान मत कीजिये, निर्मान रहिये। बनावट मत कीजिए। यथार्थ सरल जीवनमें स्थित रहिये। किसीको दुःख मत पहुँचाइये। किसीसे अपराध हो जावे तो क्षमा कीजिये। सरल जीवन बिताइये। ये सब तो साधन हैं ही हैं। जरा अपने भीतर भी झाँकना चाहिए।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
आत्मनि इति अध्यात्मम्॥''

आपके भीतर ही जो कुछ है—शरीरके भीतर-उसीको अध्यात्म कहते हैं। मनुजीका तो ऐसा कहना है—

न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित क्रियाफलमुपाश्नुते। (6.82)

यदि आप अपने शरीरमें जो क्रियाएँ हो रही हैं, उनको ठीक-ठीक नहीं समझेंगे तो बाहरकी क्रियाको ठीक नहीं समझ पायेंगे।

हम छूते हैं अपने पाँवका अंगूठा और दिमागमें उसका अनुभव होता है। तो वह कौन-सी रस्सी है, कौन-सा तन्तु है जो पाँवको छूते हैं और उसका बोध सिरको करा देता है। खाते हैं मुँहके द्वारा, जाता है पेटमें, वे कौन-सी नाड़ियाँ हैं जो उसका रस बनाकर सारे शरीरको पोषण देती हैं। इसका नाम अध्यात्म है। माने यह नहीं समझना कि उसमें 'सत्यं ज्ञानमनन्तं'का विचार है; कि उसमें सातवें आसमानमें रहनेवालेका विचार है। उसका नाम अध्यात्म नहीं है। अपने शरीरमें कैसे क्रिया हो रही है, कैसे वायु घूम रही है, कैसे पाचन हो रहा है—ऐसी बढ़िया फैक्ट्री है यह जानना अध्यात्मज्ञान है।

हमको तो एकबार नक्शा बनाकर दिखाया था कि ठीक भीतरके नक्शेके अनुसार ही बाहरकी फैक्ट्री बनायी जाती है। यदि भीतरके नक्शेको ठीक-ठीक समझ लें तो बाहर हम अनेक नवीन निर्माण कर सकते हैं। भीतरकी वस्तुओंका जानना जैसे—कचरा कहाँसे—निकलता है?—मशीनें-शरीरके सब यन्त्र कैसे चालित होते हैं?—कहाँसे उनमें क्रिया आती है? कहाँसे वायुका सञ्चार होता है? कहाँ रक्त बनता है? कैसे चलता है? आँखमें देखनेकी शक्ति कहाँसे आती है?—यह अध्यात्मज्ञान है। यह ठीक है—किताबोंमें लिखा होगा। परन्तु किताबोंमें लिखा अपने काम नहीं आयेगा। जब आप अपने शरीरके इन यन्त्रोंको ठीक-ठीक समझ जायेंगे—ज्ञानकी धारा, क्रियाकी धारा, वायुकी धारा, रक्तकी धारा, संवदेनकी धारा-शरीरमें कैसे बहती है?—आप इस मशीनको चलाते रहिये। कभी थकेगी नहीं। यह जो थकान है, इसमें भी यन्त्रका जो ठीक-ठीक विज्ञान है, वह न होना है। महात्मा लोग भगवान्‌का निरन्तर स्मरण रख लेते हैं। जो सिद्धयोगी होता है वह व्यवहारमें भी अपनी समाधिको कायम रखता है—यह आपने सुना होगा। तत्त्वज्ञानीकी समाधि अखण्ड-जीवनपर्यन्त होती है। आप यदि दर्शनशास्त्र पढ़ते हों और थकान मालूम पड़े तो आप तुरन्त पुराण पढ़िये, तो थकान मिट जायगी। पुराण

****

****

पढ़ते-पढ़ते यदि थकान मालूम पड़े तो काव्यका ग्रन्थ पढ़ें—मजा आ जायगा। लोगोंके बीचमें बैठे-बैठे ऊब गये हों तो अपने घरमें बच्चोंसे बात कीजिये। बच्चोंसे बात करनेमें मन न लगता हो तो पत्नीके पास बैठकर बात कीजिये। जिससे आपका प्रेम है, उससे आप बात करेंगे तो रात-रात भर बात करते रहेंगे—कभी थकान नहीं होगी। यह थकान भी यन्त्रको ठीक-ठीक न चलानेके कारण होती है यह अद्‌भुत बात है।

'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्'।

आपके शरीरके भीतर कैसे क्रिया होती है, इसको हमेशा समझते रहनेकी कोशिश कीजिये। कहीं दिमागमें बोझ हो तो बाहरका प्यार लीजिये और बाहरका प्यार ऊबता हो तो भीतरका आनन्द लीजिये। आपके घरमें भी आनन्द हो और बाहर भी आनन्द हो तो सबसे उत्तम है।

केवल बाहर-ही-बाहर होगा तो भीतर आप रूखे-सूखे हो जायँगे। और केवल भीतर ही होगा तो बाहरका आपका व्यवहार नीरस हो जायेगा। इसलिये 'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्'।

अब एक प्रश्न फिर यहाँ उठाया कि फिर हमें आखिर तत्त्वज्ञान क्यों चाहिए? मशीन—मशीनको समझें, किस मैटरसे यह मशीन बनती है? उसकी जो मृ[illegible]ा है, जो उसका उपादान माने मूल मसाला है जिस मसालेसे वह यन्त्र बनता है उसको हम न समझें, घड़ेको तो समझें कि पानी भरने के काम आयेगा लेकिन यह कैसी माटीसे बना है या पीतलका है या चाँदीका है या सोनेका है—उसकी मूल धातुको न समझें, तो पानी पीनेका काम तो आपका माटीके घड़ेसे चल जायगा लेकिन यदि आप उसकी धातुको ठीक-ठीक नहीं समझें तो उसका मूल्यांकन आप ठीक नहीं कर सकेंगे और इतनी कीमती चीजको आप कहीं कौड़ीके दाम बेंच देंगे। असलियत जो है—तत्त्व जिसमें आकार बना है, जिसमें शकल-सूरत गढ़ी गयी है, उसको तत्त्व कहते हैं।

'अनारोपिताकारं तत्त्वम्'।

जिसमें अभी कोई आकार नहीं बनाया गया, शकल-सूरत नहीं बनायी गयी-जिसमें कोई संस्कार, रंग-रोगन नहीं दिया गया, ज्यों-की-ज्यों जो मूल वस्तु है उसको कहते हैं तत्त्व। उसके पानेका, उसको जाननेका अभिप्राय क्या है? यदि आपको मालूम हो कि आभूषण सोनेका बना है तो आभूषण भले टूट जाय या पहनने योग्य न रहे, फिर भी क्योंकि वह सोना है आप आभूषणकी कीमतको समझ सकेंगे और आपके अन्दर दीनता, हीनता, कंगाली नहीं आयेगी। वह सोना आपको धनी बनाये रखेगा, भले ही आप उसको पहन न सकते हों। इसी प्रकार जो तत्त्वका, सत्यका ज्ञान है, जो परमात्मा का साक्षात्कार है, आप जिससे प्रेम करते हैं, जिससे आपका राग है, वह आभूषण है। वह रहे कि न रहे, काम दे कि न दे। लेकिन उसमें जो असली मूल्य है, तत्त्व है जो आकार, विकार, प्रकार, संस्कारके टूट जानेपर भी रहता है, यदि आप उसको जानेंगे। एक तो हम जगह-जगह द्वेष कर बैठते हैं-वह नहीं होगा। आपको हर चीजमें वही दिखेगा जो सबमें है-परमात्मा। आप मुक्त रहेंगे। मुक्त रहनेका क्या अर्थ है कि आपके घरमें सोना कंगनके रूपमें ही रहे—कि हारके रूपमें ही रहे कि कुण्डलके रूपमें ही रहे—कि सिल्लीके ही रूपमें रहे यह आग्रह नहीं रहेगा। वह किसी भी रूपमें आपके घरमें रहे आपका है न! तो यह तत्त्व जो है वह आपका है। आपका अपना आत्मा है। कोई भी चीज छूट जानेसे वह नहीं छूटता है।

****

कोई भी चीज बदल जानेसे यह नहीं बदलता है। कभी जगह बदलनी पड़ती है, कभी समय बदलना पड़ता है। जीवनमें जड़ता नहीं आनी चाहिए। यदि सत्य आपके साथ है तो आप अपने जीवनको जड़ नहीं होने देंगे और जीवनमें जड़ हो जाना या कहीं जकड़ जाना या किसी बन्धनमें पड़ जाना कि उससे छूट न सकें। इन सब फँसावोंसे मुक्त करनेवाला, इन सब बन्धनोंसे, इन सब जड़ताओंसे छुड़ानेवाला है असलमें तत्त्वका ज्ञान। तो उसका प्रयोजन क्या है? हमारी स्वतन्त्रता। मुक्ति कहो, मोक्ष कहो। पूर्ण स्वतन्त्रता जो अपनी है—पराधीनतासे मुक्ति। तत्त्वज्ञानका प्रयोजन क्या है? यह आपके ध्यानमें रहना चाहिए, आपकी जानकारीमें रहना चाहिए कि यदि आप अपने आत्माके स्वरूपका जान लेंगे तो मरनेका डर छूट जायगा। वियोगकी जो भीति है वह छूट जायगी। यह मिलनेपर हम सुखी होंगे—यह जो लालच है, यह भी छूट जायगा। और इसके छूट जानेपर हम सुखी होंगे—हम उस वस्तुके कारण दुखी हो रहे हैं, वह दु:ख भी छूट जायगा।

सचाई का यदि ज्ञान रहे कि यह भूत है कि नहीं है तो डर नहीं रहेगा। तुकारामके सामने भूत आया। तुकारामने कहा यह भूत नहीं है। यह तो भगवान् हैं। पहचान गये। काम बन गया। हम हर जगह भावनाओंमें अपनी कल्पनाओंमें, अपनी वासनाओंमें फँस न जायें इस बातके लिए जो सत्य है उसका ज्ञान होना जरूरी है। एक बहुत मोटा दृष्टान्त आपको देते हैं—

एक सज्जन यह कहते थे कि हम जितने कहो उतने नोट निकालकर बरसा देते हैं। आजकल भी कई लोग हैं जो बरसाते हैं। उनसे पूछा गया कि बाबू ये जो नोट आप बरसाते हैं, इनके नम्बर सच्चे हैं कि झूठे? अगर नम्बर सच्चे हैं तो कहीं हिसाब-किताबमें-से निकलकर आये होंगे। और झूठे हैं तो नकली हैं और यह बड़ा भारी अपराध है। सचाई जो है उसको कभी छोड़ना नहीं चाहिए। सत्य ही आपकी रक्षा करेगा। मिथ्या यदि थोड़ी देरके लिए रक्षा करता हुआ दिखेगा तो वह हमेशा रक्षा नहीं कर सकता। तत्त्व माने सत्य, यथार्थ। जो चीज जैसी है वैसी। उसको जाननेसे हमारे जीवनमें कितनी सहजता आजायेगी। कितना सरल जीवन हो जायेगा। हम पहचानते हैं कि यह रंग ऊपरसे इसपर डाला हुआ है—रंग देखकर लुभायेंगे नहीं। हम जानेंगे कि इसमें जो बुराई है वह ऊपरसे डाली हुई तो द्वेष करके जलेंगे नहीं। इसलिए सचाईके ज्ञानका यह फल है कि हम सर्वदा स्वतन्त्र, स्वच्छन्द जीवन व्यतीत कर सकते हैं। यदि हम सच्चा ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो—

तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम् अज्ञानं यदतोऽन्यथा।

करना होगा।

यदि आप अपने भीतरकी सच्चाइयोंको समझेंगे नहीं-एकान्तमें बैठकर चिन्तन करेंगे नहीं—हमेशा भीड़-भाड़में ही लगे रहेंगे तो तत्त्वज्ञानको प्राप्तकर सकेंगे?

हमारा एक बालक आंध्रामें है। उसने कहा कि हम तो ईश्वर नहीं मानते है। ईश्वर मानना कोई मामूली बात नहीं है। जिसने पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे, भीतर, बाहर सब ढूँढ़कर देख लिया तो वह कह

सकता है कि हमने ढूँढ़कर देख लिया। ईश्वर नहीं मिला। फिर भी नहीं कह सकता क्योंकि अभी उसने अपनेको नहीं देखा है कि यह ढूँढ़नेवाला मैं कौन हूँ। यह तो झूठे ही कहीं सुनकर आते हैं, कहीं पढ़कर आते हैं। उनका वेदपर विश्वास नहीं होगा। शङ्कराचार्यपर विश्वास नहीं होगा। कहेगा हम बड़े-बड़े विद्वानोंसे सुनकर आये हैं—ईश्वर नहीं है। यह सुनी-सुनायी बातसे काम तो नहीं चलता है।

उस बालकने कहा—स्वामीजी मैं तो ईश्वर नहीं मानता। अच्छा भाई, तुम बड़े बुद्धिमान् हो। तुमने ढूँढ़कर सब देख लिया—बहुत बढ़िया। लेकिन तुम्हारे ऊपर मेरा विश्वास है कि तुम मुझको मानते हो। उसने कहा—हाँ, स्वामीजी आपको हम मानते हैं। अच्छा तुम मुझे मानते हो? हाँ मानते हैं—मैंने कहा—तुम्हारे पास कितना समय है? उसने कहा-1440 मिनिट रोजके हमारे पास होते हैं—मैंने कहा अच्छा तुम सौ मिनिट में-से एक मिनिट हमको दे दो रोजका। माने 14 मिनिटसे कुछ थोड़ा ज्यादा दे सकते हो तुम हमको? बोले हाँ स्वामीजी, क्यों नहीं दे सकते? हम 14 मिनिट आपके नामपर रोज बितायेंगे। जो आप कहोगे सो ही करेंगे। मैंने कहा ले भाई तू रोज 14 मिनिट तक भगवान्का स्मरण और उनके नामका जप किया कर और उनके बारेमें सोचा कर—ईश्वर कैसा होता है? अभी वह लड़का है। बड़ा पराक्रमी—दिन-रात काम करनेवाला है। उसकी लगनकी सब लोग तारीफ करते हैं और अब तो वह ईश्वरको मानने लगा है।

यह जो हम—इसका प्रयोजन नहीं समझते हैं कि हमें किसी भी वस्तुका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए—केवल आँखसे देख लेना काफी नहीं है। केवल किताबमें पढ़ लेना काफी नहीं है—उसको अपने हृदयके ज्ञानसे, अपने हृदयके यन्त्रसे उस ज्ञानको एक होना चाहिए। ज्ञान प्राप्त करनेका उपाय यह है। और यदि इनके विपरीत काम करोगे तो अज्ञान बढ़ेगा। पहले यह समझ लेना चाहिए कि हमारे जीवनमें ज्ञान बढ़नेका तरीका क्या है? पढ़ो, पर पढ़ना न आये, सुनो, पर समझमें न आये! गणितकी रीतिसे कोई हलको याद कर लें—इसका हल यह है! परन्तु गणित करनेकी प्रक्रिया न आये तो वह ज्ञान व्यर्थ हो जायेगा। इसलिए पहले ज्ञान पानेकी रीति समझनी चाहिए और उसमें यहाँ बीसके लगभग गुण बताये गये हैं।

किसी भी वस्तुकी सचाई चाहे भौतिक हो, चाहे दैनिक हो, चाहे आध्यात्मिक हो, और चाहे सत्य हो—ये तीनों सत्य नहीं होते हैं। आध्यात्मिक भी बदलते हैं—आधिभौतिक भी बदलते हैं और अधिदैविक भी बदलते हैं। परन्तु सत्य वह है जो कभी बदलता नहीं है। उसको पहचान लोगे तो दुनियामें ऐसी कोई चीज रहेगी ही नहीं जिसको तुम न पहचानो—

आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते, मते, विज्ञात इदं सर्वं विदितम्। (बृहदा० 4.5.6)

यदि आप उसको सुन लो, चिन्तन कर लो, अनुभव कर लो कि दुनियामें ऐसी कोई चीज ही नहीं है जिसमें तुम्हें सत्यका दर्शन न हो, जिसके अन्दर छिपे हुए सत्यको पहचान लो। उसके लिए हिन्दुस्तान, पाकिस्तान अलग-अलग नहीं होगा। उसके लिए पुरानी पीढ़ी और नयी पीढ़ी अलग-अलग नहीं होगी। उसके लिए पुराना सोना और नया सोना अलग-अलग नहीं होगा। वह शुद्ध वस्तुको पहचानेगा और सबमें देखेगा। जब ज्ञान प्राप्तिकी योग्यता आ जाती है, तब हम ज्ञेयको ठीक-ठीक पहचानते हैं। हमारा ज्ञान किसी चीजको उत्पन्न

नहीं करता है, जो उसकी सच्ची स्थिति है उसको जाहिर कर देता है। उसमें क्या-क्या छिपा है? उससे क्या-क्या बनता है? और सब कुछ बननेपर भी वह कैसे ज्यों-का-त्यों रहता है।

यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते। ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि।

पहले ज्ञानकी योग्यता जब आयेगी तब सूक्ष्म वस्तुका ज्ञान होगा। और योग्यता सम्पादन नहीं करेंगे तो सूक्ष्म वस्तुका ज्ञान नहीं होगा। वह अमृत जो स्वर्गमें नहीं होता वह अमृत आपको सब जगह भरपूर मिलेगा—छल-छल-छलकता हुआ—झिलमिल करता हुआ। जगमग जगमगाता हुआ—वह अमृत आपको आपके जीवनकी प्रत्येक स्थितिमें मिलता रहेगा—यदि उसको एकबार पहचान लें। उस अमृतका वर्णन आगे प्रारम्भ होता है। उसके सम्बन्धमें कोई प्रश्न हो तो सुना देंगे।

प्रश्न : एकान्त स्थानका सेवन तथा जनसमाजमें अप्रीति—ये दोनों गुण तो केवल संन्यासमें संभव है। फिर लोक-संग्रह और कर्मयोग कैसे सम्भव होगा?

उत्तर : हमको तो ऐसा लगता है कि जब पति-पत्नी मिलते हैं तो उनको एकान्त मिल जाता है कि नहीं? माँ-बेटे मिलते हैं तो एकान्त मिल जाता है कि नहीं? और परमात्माकी प्राप्तिके लिए एकान्त—माने जंगल नहीं है। एकान्त माने गुफा नहीं है। परमात्माकी प्राप्तिके लिए अपना जो निर्मल हृदय है, वही सबसे बड़ा एकान्त है। जैसे आप माँ-बापसे मिलते-जुलते हैं-दूसरेकी ओर नहीं देखते हैं। पत्नी-पति मिलते हैं। गुरु-शिष्य मिलते हैं—तो जीवनमें एकान्त तो हो ही जाता है। एकान्त माने एकमें तात्पर्य जैसे वेदान्त है और लौकिक रूपसे भी यदि आप भीड़-भाड़में ही रहते हैं तो आप अपने व्यापारके बारेमें भी कैसे सोचेंगे? अपने परिवारके बारेमें कैसे सोंचेगे? हमारे मनुजीने कहा है—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कामक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च॥ (4.92)

सोचना चाहिए कि आज हम क्या-क्या धर्म करेंगे? लोगोंकी भलाईके लिए कौन-कौन-सा काम करेंगे? संध्यावन्दनका समय कौन होगा? दानका समय कौन-सा होगा? इसका चिन्तन करें। सबेरे सोच लेना चाहिए। कम-से-कम एक दिनकी योजना तो बना ही लेनी चाहिए कि आज हमको यह करना है। दूसरी बात **'धर्मार्थावनुचिन्तयेत्'।**

अर्थका भी चिन्तन करे कि आज हमको कमाईके लिए, अपने व्यापारके लिए कौन-कौन-सी बात देखना जरूरी है। कहाँ हानि हो रही है? कहाँ लाभ हो रहा है? हानिको कैसे पूरा करें? लाभको कैसे बढ़ावेंगे? क्या-क्या नयी योजना करेंगे? यह सारे संकल्प एकान्तमें ही किये जाते हैं। भीड़-भाड़में योजना नहीं बनती है। योजना तो बिलकुल एकान्त स्थलमें एकाग्रचित्तमें बनती है। तीसरी बात मनुजीने यह कही कि हमारे शरीरमें कष्ट क्या है? हमारे शरीरमें क्लेश क्या है? वह क्लेश कब बढ़ता है और कब घटता है? इसका एकान्तमें ही चिन्तन करना चाहिए। कि क्या खानेसे हमारे शरीरका रोग बढ़ता है और क्या खानेसे घटता है? अपने आप एकान्तमें इसका चिन्तन कर लेना चाहिए। और अपने आपको जितना मालूम पड़ता है उतना दूसरेको नहीं

मालूम पड़ता है। पहले हमारे वैद्योंकी रीति थी कि एक, दो, चार रोगियोंको लिया और वे प्रात:काल बैठकर उनके बारेमें सोचते थे। इसके रोगका कारण क्या है? इसका निवारण क्या है? इसके लिए औषध क्या ठीक रहेगी? और उनकी औषध, उनके सङ्कल्पसे शक्तिशाली हो जाती थी।

आज डॉक्टर दिन भर में 100-200 मरीजोंको देखता है। किसीके बारेमें कुछ नहीं सोचता है। उसका जो किताबी ज्ञान है—देखा और झट निश्चय किया और दवा बता दी। अभी हमारे नाकमें बलगम रुक गया था तो डॉक्टरने फट आधी गोली खिला दी तो बलगम तो निकल गया होगा—हमको याद नहीं है लेकिन हमारी दोनों आँख ऐसी सूज गयी जैसी जीवनमें कभी नहीं सूजी। अब उसने यह नहीं चिन्तन किया कि यह दवा देनेपर इनकी आँख सूजेगी। यह साइड इफेक्ट हर कामका पहले एकान्तमें बैठकर सोच लेना चाहिए। और उसके समझनेकी रीति, नीति युक्ति अपनेको आनी चाहिए। यह बात बिना एकान्त-चिन्तनके तो नहीं हो सकती।

अब हमारे मनमें किसके लिए राग है। कहाँ फँस रहे हैं? फँसते जा रहे है। देखनेमें क्या हानि है, देख लेंगे। बात करनेमें क्या हानि है? कर लेंगे। छूनेमें क्या हानि है? छू लेंगे। भोगनेमें क्या हानि है? बस बात कट गयी। इसी प्रकार हमारे हृदयमें किसीसे दुश्मनी तो नहीं बढ़ रही है? यह अपने मनकी स्थितिको एकान्तमें बैठकर चिन्तन करना चाहिए। इसके लिए संन्यासी होनेकी कोई जरूरत नहीं है। इसको आप घर-गृहस्थीमें रहकर खूब मजेसे सोचिये। आप अपने धर्मको घरमें ले आइये। परिवारमें, बाजारमें, दुकानमें, ऑफिसमें। अपने धर्मको अपनी आँखोंसे देखते रहिये। आप अपने ईश्वरको जन-जनमें ले आइये। सब जगह देखिये। आप अपने ज्ञानको निरन्तर साथ रखिये। ज्ञानको आलेमें मत रखिये। इसके लिए संन्यासी होनेकी कोई जरूरत नहीं है। यह तो हम लोग एक सुविधाके लिए संन्यासी बनते हैं। और वह संन्यासी कपड़ा पहननेसे लोग समझते हैं कि इसका भरण-पोषण करनेकी जिम्मेदारी हम लोगोंकी है, इनकी नहीं है। तो लोग रोटी लाकर दे देते हैं। लेकिन यह साधु बीचमें खड़ा है। यह धनीसे कहता है देखे—हम बिना धनके सुखी है। क्यों लालच बढ़ाता है? क्यों धनके लिए दूसरोंको सताता है। यह गरीबसे कहता है—देख मैं तुझसे भी ज्यादा गरीब हूँ और मैं सुखी हूँ। एक गरीब भी सुखी रह सकता है। और धनी जो समझता है कि हम केवल धनसे ही सुखी हैं, उसकी वह गलत मान्यता भी मिट सकती है। सुख जीवनकी एक अमूल्य सम्पत्ति है। अपना जीवन है। इसको जाहिर करनेके लिए साधु गरीब और अमीर दोनोंके बीचमें खड़ा होकर एक समन्वय स्थापित कर रहा है। और जिस दिन वह नहीं रहेगा, उस दिन दोनों आपसमें लड़ मरेंगे।

•

पंचम-दिवस

(1-11-84)

(31 अक्टूबरको प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधीके दिवंगत होनेके पश्चात् सत्संग-सत्रमें श्रद्धांजलि)

सरला विरला द्वारा श्रद्धांजलि—आज हमारा हृदय दुःखी है, मस्तिष्क बोझिल है, व्यक्त करना मुश्किल है, एकबार तो अन्धकार ही अन्धकार दीख रहा है। इन बचे हुए दिनोंके संत्सगका पुण्य-फल हम अपनी प्रिय एवं सम्माननीय दिवंगत प्रधानमन्त्रीकी सद्गतिके लिए समर्पित करते हैं। तथा ईश्वरसे प्रार्थना करते हैं कि वह देशवासियोंको सम्मति प्रदान करें तथा हमारे नये प्रधानमन्त्रीजी राजीव गाँधीको सर्वथा सफलता दे—हमें विश्वास है कि श्रद्धेय श्री स्वामीजी महाराजकी प्रेरक वाणीसे हमें यथेष्ट सम्बल एवं प्रकाश मिलेगा।

पूज्य स्वामीजीने कहा—भगवान्‌की लीला ही ऐसी है कि वह कब, कहाँ और कैसे, किस दिशामें मोड़ लेगी इसका जीवोंको पता नहीं चलता। एक भौंरा कमलके प्रेमसे रातमें बैठा रह गया, कमल बन्द हो गया। वह सोचता था कि रात बीतेगी। सुप्रभात होगा। सूर्योदय होगा। कमल फिर खिलेगा, हँसेगा, ऐसा सोच ही रहा था, इतनेमें एक हाथी आया और उसने कमलको उखाड़कर अपने मुँहमें डाल दिया। सब उसका मनोराज्य, मनोरथ वहीं-का-वहीं रह गया। मनुष्य सोचता है कुछ और, हो जाता है कुछ। किसीके मनमें यह कल्पना नहीं थी कि देशके लिए ऐसा महाहानिकारक और विश्व-मानवताके लिए भी इतना ही हानिकारक यह दुर्घटना, यह हत्याकाण्ड, बर्बर नृशंस हत्याकाण्ड हम लोगोंके सामने आयेगा, कानसे सुनेंगे, देखेंगे। व्यक्ति तो न जाने कितने आते-जाते हैं, जीवन-मरण सबके साथ लगा है परन्तु जिससे राष्ट्रका, विश्वका, मानवका हित होता हो, उसके न रहने पर एक बहुत बड़ा धक्का लगता है।

हमारी प्रियदर्शिनी इन्दिरा गाँधी—गाँधी तो बादमें हुईं—इनके पूर्ववर्ती लोगोंसे हमारा बहुत प्रेम-श्रद्धाका सम्बन्ध था। जब हम गंगा-स्नान करने जाते थे वहाँ स्वरूपरानी रोज स्नान करने जाती थीं। स्वरूपरानी नेहरू छोटी-सी नाँवपर देवताकी तरह चुपचाप भजन करती हुई जाती थीं। पंडित मोतीलाल नेहरूकी क्या प्रतिष्ठा थी! पंडित जवाहरलाल नेहरूने देशके लिए क्या-क्या काम किया! एक वंश-परम्परा अनोखी थी और देशके लिए गौरवकी वस्तु थी। इसमें आयीं इन्दिरा गांधी। बाल्यावस्थासे ही बहुत होनहार। मैंने तो पढ़ा है और माँ आनन्दमयी बताया करती थीं कि जब कमला नेहरू उनके पास आतीं तो वहाँ माँ की गोदमें कभी सो जातीं, कभी खेलती रहती, कभी दर्शन करती। बाल्यावस्थासे ही इनका ईश्वरमें विश्वास था। हमको जो बात पसन्द थी—वह यह कि वे अपने देशको विश्वकी आँखोंके सामने ऊँचा करना चाहती थीं कि लोग देखें कि भारतकी कैसी उन्नति हो रही है। उन्होंने इसके लिए संविधानके आश्रयसे, गाँधीजीके सम्पर्कसे, नेहरूजीकी शिक्षासे, जिस नीतिपर चलना प्रारम्भ किया था—उसमें सारे देशकी एकता मुख्य थी। उनके मनमें कोई जातीयता नहीं थी, वर्णभेद नहीं था, सम्प्रदायभेद नहीं था, प्रान्तभेद नहीं था। सम्पूर्ण देशवासियोंका कल्याण हो, उन्नति हो—

यही उनके सङ्कल्पमें था और वे उसके अनुसार कष्ट सहकर भी, अपनेको भयङ्कर वातावरणमें डालकर भी सबका हित करना चाहती थीं।

जिन दिनोंमें प्रधानमन्त्री पदसे उतर गयी थीं, उन दिनों अकेले ही झोला लेकर कहीं देशमें गरीबोंमें चली जाया करती थी। विपत्तिका समय आनेपर भी अडिग रहती थीं। अपनी रक्षाकी परवाह नहीं करती थीं। जैसे देशवासियोंका कल्याण हो, वैसा काम करती रहीं। और अन्तमें बहादुरीके साथ—यह नहीं कि कोई उनको पदसे च्युत कर दे या निश्चयसे च्युत कर दे—वे अपने मार्गसे कभी च्युत नहीं हुईं। यह दृढ़ता मनुष्यके जीवनके लिए बहुत आवश्यक सद्गुण है। उनका ईश्वर-विश्वास उनकी अपने निश्चयकी दृढ़ता, उनकी जातीयता, साम्प्रदायिकतासे ऊपर होनेका भाव, देशका हित, ये सब ऐसे सद्गुण थे जो प्रत्येक देशवासीके लिए आदर्श, अनुकरणीय होते हैं—हम बड़े आदरके साथ उनका स्मरण करते हैं, यद्यपि आमने-सामने हमलोगों का कभी मिलना नहीं हुआ था। कभी बातचीत नहीं हुई थी। वहाँके लोग आकर कहते थे कि आप चलिये। कभी-कभी तो तिथि भी निश्चित कर देते थे। परन्तु मेरी रुचि जानेकी नहीं होती थी। अब उनका भौतिक शरीर नहीं है परन्तु उनके आदर्श हैं, उनके विचार हैं, उनकी वीरता है और उनके सङ्कल्प हैं। वे सब लोगोंके हृदयमें उतरें, आवें और हमलोग भी देशके कल्याणमें और विश्व-मानवताके कल्याणमें केवल किसी जिला, प्रान्त, राष्ट्र, जाति मजहबके बन्धनोंसे मुक्त होकरके भवगद्रूप जो यह विश्व है, उसकी सेवामें लगें। इस प्रसंगसे हमको इनकी प्रेरणा लेनी चाहिए। और भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिए कि दिवंगत आत्माको शान्ति मिले और उसके भाव और उद्देश्य और साधनोंकी रक्षा करके हम देश को और भी उत्तम बनायें और विश्वमें इस देशका सिर ऊँचा हो, गौरवान्वित हो, इसके लिये प्रयास करें।

ॐ शान्तिः शन्तिः शान्तिः

प्रश्न : जिन गुणोंका उल्लेख ज्ञानके अन्तर्गत किया गया है यदि वे अर्जित कर लिये जायँ और क्षेत्रज्ञको न जाना जाये तो क्या हानि हो सकती है?

उत्तर : इन गुणोंको कोई अपने जीवनमें ग्रहण कर ले—धारण कर ले तो वह एक उन्नत मानव हो गया, इसमें तो कोई शंका नहीं है और यह भी एक बहुत बड़ी बात है, कोई छोटी बात नहीं है। परन्तु बहुत गुण जब अपने जीवनमें आ जाते हैं तो उसका एक अभिमान हो जाता है। और उसमें यह डर रहता है कि हम अपनेको तो बहुत गुणी, गुणयुक्त समझने लगें और जिनमें ये गुण नहीं है, उनको हीन समझें, उनसे घृणा करने लगें, उनको नफरतकी निगाहसे देखें। इन गुणोंसे भी परे एक सत्य है, एक परमात्मा है, आत्मा है, ब्रह्म है। केवल गुणोंको देख न सके, पहचान-पहचानके हम दूसरोंका आदर करें और जिनमें गुण नहीं दिखते हैं, उनकी उपेक्षा करें, द्वेष करें, घृणा करें। तो हमारे अन्दर ये गुण भी नहीं टिक सकते हैं। इसलिए हमारे जीवनमें ये गुण रहें और दूसरोंके जीवनमें न हों तो उनमें भी कोई ऐसी वस्तु दीखनी चाहिए जो स्थिर रूपसे, अचल रूपसे उनके भीतर रहती है। साथ ही अपने भी वे गुण हैं, वे हमेशा जीवनमें बने ही रहें—उनमें चढ़ाव-उतार न आये ऐसा नहीं हो सकता।

गुण कभी बढ़ जाते हैं तो कभी घट भी जाते हैं। कभी एक गुणकी वृद्धि होती है तो दूसरे गुणका ह्रास हो जाता है। कभी दूसरे गुणकी वृद्धि होती है तो पहले गुणका ह्रास हो जाता है। अपने जीवनमें भी गुणोंका ह्रास-विकास होता रहता है और दूसरोंके जीवनमें भी इन गुणोंकी कहीं न्यूनता दिखेगी और कहीं अधिकता। जहाँ न्यूनता दिखेगी वहाँ घृणा हो सकती है, उपेक्षा हो सकती है, द्वेष भी हो सकता है, और जहाँ अपनेसे अधिक ये गुण दिखेंगे वहाँ ईर्ष्या हो सकती है, वहाँ स्पर्धा हो सकती है, द्वेष भी हो सकता है। इसलिए केवल गुण ही गुण जीवन नहीं होते हैं, इन सम्पूर्ण गुणोंका जो आधार है, अधिष्ठान है, जिसमें ये गुण रहते हैं और घटते-बढ़ते रहते हैं, आते-जाते रहते हैं, पैदा होते, मिटते रहते हैं—वह जो वस्तु है परमात्मा—वह सबके जीवनमें बिलकुल एक है। इसलिए '**निर्गुणं गुणभोक्तृ च**'—जिसका आगे वर्णन आता है। उस निर्गुणका ज्ञान लेना भी आवश्यक है। निर्गुणका जब ज्ञान होता है तब गुणोंके कारण होनेवाला जो अपने जीवनमें राग-द्वेष है वह अपना पाँव नहीं जमाता है और अपना अभिमान भी नहीं बढ़ता है। अपनेमें हीनताका भाव भी नहीं आता है। इसलिए दृष्टि वहाँ तक पहुँचनी चाहिए जो इन गुणोंसे परे है, पार है। और वह यदि हमसे दूर होगा तो केवल कल्पनाका ही विषय होगा, कि एक निर्गुण-निराकार परमात्मा है, वह कहीं छिपा हुआ है, हमसे बहुत दूर है। बहुत साधना करनेपर उसका साक्षात्कार होता है? नहीं, वह जो परम सत्य परमात्मा है वह इसी क्षेत्रज्ञके रूपमें ही है।

'क्षेत्रज्ञं मां विजानीयात्'।

इस क्षेत्रज्ञके रूपमें ही उस गुणातीत, उस निर्गुणका साक्षात्कार होना चाहिए। उसके बिना ये सब गुण सोते समय लुप्त हो जाते हैं। समाधिमें लुप्त हो जाते हैं। मूर्च्छामें लुप्त हो जाते हैं। किसी एक गुणमें आवेश हो जानेपर दूसरे गुण जो हैं कभी गौण हो जाते हैं, ऐसी स्थितिमें एक ऐसी सम सत्ताका, एक ऐसी प्रकाश सत्ताका, एक ऐसी आनन्द सत्ताका, जो अद्वितीय रूपसे गुणोंमें, दोषोंमें, जाग्रतमें, स्वप्नमें, सुषुप्तिमें, दूर देशमें, निकट देशमें, देरसे, सबेरसे और दूसरेमें, अपने-में-सबमें, एक जो अखण्ड सत्ता है, उसका यदि बोध हो जाय तो न गुणाका अभिमान होगा और न तो दूसरेके गुणावगुणपर दृष्टि जाकर राग-द्वेष होंगे। इसलिए राग-द्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्तिके लिए क्षेत्रज्ञ जो कि निर्गुण, अद्वितीय, परब्रह्म परमात्मा ही है—उसका ज्ञान होना आवश्यक है।

प्रश्न : ज्ञानके अन्तर्गत वर्णित गुणोंकी व्याख्या करते हुए यह बतायें कि उनको जीवनमें उतारनेकी साधना प्रणाली क्या हो?

उत्तर : श्रीमद्भावगतमें इनकी व्याख्या ऐसी आयी है कि वैसे तो एक दोष मिटानेके लिए एक प्रकारकी साधना होती है। जैसे अपने मनमें कामनाएँ बहुत उठती हैं—उनके लिये जो सङ्कल्प है कि यह मुझे मिले, यह मुझे मिले—

उनका '**असंकल्पात् जयेत् कामं, क्रोधं कामविवर्जनात्**'

सङ्कल्प न करनेसे कामकी निवृत्ति होती है और कामकी निवृत्ति होनेसे क्रोधकी निवृत्ति होती है। क्या

हमारे जीवनका यही अर्थ है? इतना ही प्रयोजन है? इस बातपर विचार करेंगे तो लोभपर विजयकी प्राप्ति होती है। परन्तु इनके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतका कहना है कि यदि आप किसी बड़ेके पास रहें और उसका साथ करें तो बड़ी सुगमतासे इन दोषोंपर विजय प्राप्त किया जा सकता है। जो सत्पुरुषका संग है, अपनेसे बड़ेका संग है, बड़ोंके सामने मनुष्य अपनेको बहुत संयममें रख सकता है। अपने शिष्टाचारमें तो ऐसा मानते हैं—कि बड़ोंके सामने बैठें तो पाँवपर पाँव रखकर भी न बैठें। यदि अपनेसे बड़ा सामने कोई बैठा हो तो वहाँसे उठकर बाहर जाकर बात करनी चाहिए। इधर-उधर देखना भी नहीं चाहिए। किसीके ऊपर क्रोध भी नहीं करना चाहिए। दण्ड भी नहीं देना चाहिए। दण्ड देना हो तो अलग जाकर दण्ड देना चाहिए। कोई खाने-पीनेकी चीज हो, लेनेकी चीज हो तो उसको अलग जाकर ही करना चाहिए। जो हम बड़ोंके साथ रहते हैं और उनके प्रति आदरका भाव रखते हैं, प्रीति रखते हैं।

वह हमारे जीवनमें काम, क्रोध जन्म आदि जितने दोष हैं, उनके निवारणकी शक्ति देती है और वैसी परिस्थिति आनेपर हमको कैसे क्षमा करना चाहिए और कैसे उस दोषसे बचा लेना चाहिए, यह सीखनेको मिलता है। आपने सुना होगा कि बड़े लोग कैसी दृष्टि रखते हैं। विश्वामित्र और वसिष्ठका बड़ा भारी झगड़ा बरसों तक चलता रहा कि विश्वामित्र इतने बड़े तपस्वी हैं तो उनको वसिष्ठ ब्रह्मर्षि मान लें। पर वसिष्ठजी उनको ब्रह्मर्षि माननेको तैयार नहीं। यह बात को लेकर बड़े-बड़े युद्ध भी हो गये। कभी-कभी तो विश्वामित्र बात को लेकर बड़े-बड़े युद्ध भी हो गये। कभी-कभी तो विश्वामित्र जब हार जाते थे तो अपनेको धिक्कारते भी थे—

धिग् बलं-क्षत्रियबलम्

ब्रह्म बल जो है, प्रज्ञाका जो बल है वह सबसे बड़ा बल है, प्राणका बल सबसे बड़ा बल नहीं है। एक दिन विश्वामित्रके मनमें आया कि ये वसिष्ठ ही हमको ब्रह्मर्षि नहीं मानते है और बाकी सब तो मानते हैं। ये यदि मर जायँगे तो सबलोग हमको ब्रह्मर्षि मान लेंगे। रातके समय तलवार लेकर वसिष्ठजीकी कुटियाके पीछे खड़े हो गये। अब रातके समय वसिष्ठ और अरुन्धती दोनों जग रहे थे। और अरुन्धतीजीने पूछ लिया कि जब सारे ऋषि, महर्षि विश्वामित्रजीको ब्रह्मार्षि माननेको तैयार हैं तो आप क्यों नहीं मान लेते हैं। तब वसिष्ठजीने कहा कि विश्वामित्र जैसा तपस्वी तो आज सृष्टिमें दूसरा कोई है ही नहीं। वे तो नयी सृष्टि बनानेकी योग्यता रखते हैं, क्षमता रखते हैं। अरुन्धतीने पूछा—फिर आप क्यों नहीं मानते? कहा हम इसलिए नहीं मानते कि अभी चित्तमें क्रोध और क्रोधका मूल द्वेष विद्यमान है। जबतक उनके अन्त:करण में इतना द्वेष मौजूद है तबतक मैं उन्हें ब्रह्मर्षि कैसे मानूँ? ये बातें पीछे सुनायी पड़ रही थी। विश्वामित्रने सुना। उसी समय आकर उन्होंने द्वारा खटखटाया और तलवार वसिष्ठके चरणोंमें रखकर प्रणाम किया। तो वसिष्ठ बोले—'**ब्रह्मर्षि, उठो।**' तुरन्त विश्वामित्रजी उठे और उनको गलेसे लगा लिया।

हम लोगोंके चित्तमें जो सूक्ष्म दोष होते हैं—उनको हम पहचान नहीं पाते हैं। इसलिए दोषोंके निवारणके लिए निर्दोष व्यक्तियोंका संग अवश्य होना चाहिए। यदि हम ऐसा मानते हैं कि दुनियामें निर्दोष

कोई हो ही नहीं सकता तो यह मान्यता भी गलत है क्योंकि परमात्मा ही निर्विकार है, परमात्मा ही निर्दोष है। जो महात्मा अपनेको परमात्माके साथ एक अनुभव कर लेते हैं वे निर्विकारसे मिलकर निर्विकार, निर्दोष हो जाते हैं। और यदि आप ऐसा मानते हैं कि दुनियामें कोई निर्विकार है ही नहीं तो आप भी निर्विकार नही हो सकते। इसलिए महात्माओंके संगमें रहकर दोषोंके निवारणकी और गुणोंके ग्रहणकी प्रक्रिया सीखनी पड़ती है।

तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः। (भाग० 11.3.22)

गुरुको ही अपना परम प्रेमास्पद आत्मा और परमाराध्य परमेश्वरके रूपमें मानकर वहाँ शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि हम दूसरोंकी निन्दासे कैसे बचें? और अपने धर्ममें कैसे निष्ठावान् रहें और क्रोधका अवसर होनेपर भी क्रोध न करें, कामका वातावरण होनेपर भी कामसे बचें। लोभका वातावरण होनेपर भी दूसरोंकी हानि करनेसे, बेईमानीसे बचें—इसके सिवाय भिन्न-भिन्न दोषोंके लिए भिन्न-भिन्न प्रक्रिया आती है।

एक हमारे मित्र हैं—वे व्यापार करते हैं—कभी कभी बाज़ारमें लोग यह निश्चय कर देते हैं कि इस वस्तुको इसी भावमें बेचा जाय उनको लगता है कि यह तो बड़ी बेईमानी है किन्तु बाजारके साथ उन्हें भी काम करना पड़ता है। तो जो रुपया उनकी दृष्टिसे ईमानदारीसे अधिक उनके घरमें आजाता है, उसको वे गरीबोंको दान कर देते हैं। माने वे कहते हैं कि यदि हम रखेंगे ही नहीं—बेईमानीका आया हुआ पैसा तो हम लोभसे तो कम-से-कम बचते ही रहेंगे। भले ही लोगोंके दबावमें आकर वैसा काम करना पड़े।

एक सज्जन हैं—वे कहते हैं—पहले तो हम अपनी इच्छा चलाते नहीं—यदि फिर भी क्रोध आ जाता है तो चुप हो जाते हैं। वहाँसे हट जाते हैं—अपने ऊपर जुर्माना कर रखा है कि एक बार क्रोधमें कुछ बोलेंगे तो इतना दान करेंगे—इतना पैदल चलेंगे। ऐसा व्रत करेंगे। ऐसी प्रिय वस्तुको थोड़े दिनोंके लिए छोड़ देंगे। इसी प्रकार कामके सम्बन्धमें है। विरक्त लोग तो अपने लिए दूसरा ही ढंग अपनाते हैं। स्त्री-पुरुषका काम हो तो वे बिना चामका शरीर देखनेका अभ्यास करते हैं। बिना चामका शरीर देखनेपर उसमें कामना नहीं रहती है। वे भगवान् शङ्करका ध्यान करते हैं जिन्होंने कामको भस्म कर दिया था। वे भगवान्की सुन्दरताका चिन्तन करते हैं जिसके सामने सृष्टिमें और कोई सुन्दर नहीं है। वे उपनिषदोंका पाठ करते हैं, जिसमें कामनाके सम्बन्धमें बड़ी अद्भुत-अद्भुत बातें मिलती हैं।

यह तो कङ्गालका काम है कि हमको यह मिले, यह मिले। अपनी कङ्गालीका प्रदर्शन है कि हमारे हृदयमें सुख नहीं है, शान्ति नहीं है, सन्तोष नहीं है। तो यदि कामना करेगा, किसीके मनमें मांस खानेकी इच्छा आये, कामना आये तो उस कामनाके वश होकर उसको गीध होना पड़ेगा, व्याघ्र होना पड़ेगा। उस कामनाकी पूर्तिके लिए उसको बड़े कष्टका अनुभव करना पड़ेगा। और जो अपने हृदयमें परमात्मा जैसी अनन्त सम्पत्तिको देखता है, अनुभव करता है, उसका मन तो उसके वशमें है। वह निष्काम, सबसे बड़ा धनी-दुनियामें सबसे बड़ा सम्पन्न वही है, जिसको कुछ नहीं चाहिए।

स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला,
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः।

जिसके मनमें जितनी अधिक तृष्णा है वह उतना बड़ा दरिद्र है। और जब मनमें सन्तोष है तो धनी-गरीबका अपने मनमें कोई भेद नहीं है।

हमने पहले टॉलस्टॉयकी एक कहानी पढ़ी थी—एक गरीबको दो पैसे मिले और वह उस दिन खर्च नहीं हुए। वह सोचने लगा क्या करें! कोई गरीब दो पैसेके लिए अपनेको गरीब नहीं मानता था। वह दे किसको? अन्ततोगत्वा उसने सुना कि एक राजा दूसरे राज्यपर चढ़ाई कर रहा है। क्यों? धनके लिए। कहा वही गरीब है। और जाकर दो पैसे उसकी गोदमें रख दिया। उन्होंने कहा यह क्या है? तो भिखारी बोला, महाराज सुना है आप बहुत गरीब हो गये हैं तो मैं अपनी सारी सम्पत्ति आपको दे रहा हूँ। उसने कहा—मैं गरीब? तो बोले, गरीब न होते तो दूसरे राज्यपर क्यों चढ़ाई करते? इतने लोगोंकी हिंसा होगी। स्त्रियाँ विधवा होंगी। बच्चे अनाथ होंगे। यदि आप गरीब न होते तो ऐसा कुकर्म क्यों करते? अब तो राजाको सूझ गया और उसने अपनी युद्धकी घोषणा वापिस ले ली।

यह सब जो चित्तमें विचार है—अच्छे विचार आयें और अपने दोषोंके निवारणकी सच्ची इच्छा हो—आप कीजिये सब कुछ, बड़े-से-बड़ा व्यापार कीजिये। परन्तु उससे लोगोंका हित हो। उनको अन्न मिले, वस्त्र मिले, औषधि मिले। उनको मकान मिले, विद्या मिले, उनकी प्रतिष्ठा बढ़े लोगोंकी उन्नतिके लिए, देशकी उन्नतिके लिए आप काम कीजिये! और व्यक्तिगत तो आपके काममें उतना ही आता है—साढ़े तीन हाथमें सोते हैं। दो पाँव धरतीपर रखकर ही चलते हैं। और पेट भरके ही खाते हैं। इससे अधिक तो व्यक्तिगत स्वार्थके काममें कोई चीज आती ही नहीं है। केवल अभिमान ही होता है कि हमारे पास यह है, वह है। चाहे आपके पास सैकड़ों मोटर हों, पर सबपर एक साथ थोड़े ही चढ़ते हैं। एक मोटरपर ही तो चढ़कर चलते हैं। इन सब बातोंके द्वारा अपने मनको अभिमानयुक्त न बना करके, अपना निर्वाह जितनेसे हो जाय, उतना शुद्ध सात्त्विक वृत्तिसे करते जाना। और बाकी जितनी भी वस्तुएँ हैं उसको लोगोंके हितमें लोगोंके कल्याणमें लगाना। इस प्रकार अपने जीवनमें जो दोष हैं वे निवृत्त हो जाते हैं।

बच्चेसे मोह है—इसीसे पहले अपनेसे दूर ऋषिकुलमें, गुरुकुलमें रखते थे कि उनको स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करनेका अभ्यास हो जाय और हम भी उनसे अलग रहनेके अभ्यासी हो जायँ। उनको योग्य बनाना चाहिए। उनके प्रति इतना मोह नहीं रखना चाहिए कि उनकी योग्यतामें भी बाधा पड़े और अपनी उन्नतिमें भी बाधा पड़े। इस ढंगसे सभी दोषोंकी निवृत्तिके उपाय शास्त्रोंमें बताये हुए हैं और एक तो आयुर्वेदके ग्रन्थ चरकसंहितामें वृत्ताध्याय है कि मनुष्य किस प्रकारसे अपना सद्गुण-सम्पन्न जीवन व्यतीत करे तो रोग नहीं आयेंगे, उसके शरीरमें। आयुर्वेदमें भी है और चाणक्यके अर्थशास्त्रमें भी एक नीतिका अध्याय है कि मनुष्यको किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए। दोषोंको दूर करनेके लिए जो विद्या है उसको

सत्पुरुषके साथ रहकर विचार करके, सद्ग्रन्थोंसे जानकर और इतिहासमें हमारे महापुरुषोंने जैसे-जैसे आचरण किये हैं, उनसे भी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

एक प्रसङ्ग आता है—काशीराज अयोध्याकी ओर जा रहे थे और अयोध्याके राजा आ रहे थे काशीकी ओर। दोनोंका रथ आमने-सामने आ गया। दोनोंके साथ जो सेवक थे वे एक दूसरेके पास गये कि आप अपना रथ सड़कसे अलग कर दीजिये, हमारे महाराजका रथ निकल जाय। आपसमें दोनों ओरके लोग अड़ गये कि हमारे महाराजका रथ नहीं हटेगा। तुम्हारे महाराजाका रथ हटेगा। सो काशी-नरेशके लोगोंने आकर अयोध्या-नरेशसे कहा—हमारे महाराज किसीके लिए रास्ता नहीं छोड़ते हैं, ऐसी उनकी परम्परा है। तो अयोध्या-नरेश रथपरसे उतर गये और आकर बोले कि महाराज, आप अपना रथ ले जाइये। हमारी परम्परा यही है कि कोई सामनेसे आ रहा हो तो उसके लिए रास्ता छोड़ दें—रास्ता दे दें। और नमस्कार करके वे आगे बढ़ गये और उनका रथ भी रास्ता छोड़कर आगे बढ़ गया। जहाँ जीवनमें विनयका प्रसङ्ग हो वहाँ विनय स्वीकार करना चाहिए-झुक जाना चाहिए और जहाँ कड़ा होनेका प्रसङ्ग हो, दृढ़ताका प्रसङ्ग हो वहाँ दृढ़ हो जाना चाहिए। विवेकपूर्वक यदि हम अपना जीवन व्यतीत करेंगे तो दोष छूट जायेंगे और गुण हमारे जीवनमें बढ़ेंगे। यही उनकी प्रक्रिया है।

प्रश्न : अज्ञानको अलगसे क्यों नहीं समझाया गया? वह यदि ज्ञानका अभाव न होकर उसका विपरीत है तो उसके प्रमुख लक्षणोंको समझकर ही उसे नष्ट किया जा सकता है क्या?

उत्तर : स्पष्ट रूपसे कह दिया गया कि अभिमान न करना ज्ञान है, दम्भ न करना ज्ञान है, हिंसा न करना ज्ञान है, क्षमा करना ज्ञान है, सरल जीवन व्यतीत करना ज्ञान है। अब संस्कृतमें बोलनेकी प्रणाली यह है कि यदि इतना ही कहनेसे कि इसका उलटा अज्ञान है—'अज्ञानं यदतोन्यथा'—अज्ञानका स्वरूप समझमें आ जायेगा। मान न करना ज्ञान है—तो अभिमान करना अज्ञान है। दम्भ न करना ज्ञान है तो दम्भ करना अज्ञान है। एक बार बोलनेसे जब बात स्पष्ट हो जाती है तो उसको बहुत नहीं बोलना चाहिए। हमारे जो ऋषि, महर्षि होते हैं वे सूत्रवत् बोलते हैं।

कपड़ा बनाना तो दूसरोंका काम है। भाष्यकारोंका काम है कपड़ा बनाना और ऋषि लोग तो सूतकी तरह सूत्र देते हैं। अब वे सूतसे चाहे जैसा वस्त्र बना लें, विन्यास कर लें। कपड़ेमें हाथी ही हाथी हो जायगा, चिड़िया ही चिड़िया हो जायगी। महात्मा ही महात्मा हो जायगा। सूत उन्होंने दे दिया और उसकी वृत्ति इकहरा कर लीजिये, दोहरा कर लीजिये। त्रिगुणित कर लीजिये। अपने अनुसार उसकी वृत्ति बना लीजिये। उसका वस्त्र बना लीजिये, उसका विस्तार कर लीजिये। इसमें बहुत स्वतन्त्रता रहती है और यदि सारी बात अलग ही बोल दें तो सुननेवालेको सोचननेका मौका नहीं रहेगा। और इस तरहसे हम दूसरेको विवेकसे वंचित कर देंगे। हम जो बोलें उसमें दूसरेके विवेककी हानि न हो, उसको विवेकका अवसर मिले। वे बढ़ें इसकी गुञ्जाइश अपनी बोलीमें रखनी चाहिए। इसलिए स्पष्ट कह दिया—

एतद्ज्ञानमिति प्रोक्तम् अज्ञानं यदतोऽन्यथा।

माने ज्ञानका साधन तो बता दिया। अब जो इससे उल्टा होगा उसका ज्ञान अज्ञान होगा। इतना ही कहनेसे जैसे बीस ज्ञानके साधन हो गये तो बीस अज्ञानके कारण हो गये। चालीस बात कह दी गयी और बोलना पड़ा केवल एक वाक्य। तो ऋषियोंके बोलनेकी यही प्रणाली थी। वे बहुत विस्तार करके नहीं बोलते थे। संक्षेपमें ही बोलते थे। और भगवान् श्रीकृष्णके सामने तो थोड़ा-सा समय था, दोनों सेनाओंके बीचमें, शंख बज चुके थे, अस्त्र-शस्त्र चलनेवाले थे और वहाँ अर्जुन जैसे समझदार आदमीको यदि पूरा महाभारत सुनाने लगते तो फिर तो काम करनेका कोई अवसर ही नहीं निकलता। इसलिए संक्षेपमें भाषण करना भी एक कला है।

हमने पहले सुना था कांग्रेसके जब अधिवेशन हुआ करते थे तो श्रीनिवास शास्त्री, सत्यमूर्तिजी, राजगोपालचारी इन दक्षिणी लोगोंको जब अधिवेशनमें तीन-तीन मिनटका समय दिया जाता है बोलनेके लिए—वे पहले वक्ताओंको तीन मिनटमें ही ढेर कर देते थे। क्योंकि वहाँ वाद-विवाद सरीखा होता—पक्ष-प्रतिपक्ष होता कि क्या निश्चय किया जाय। ये तीन-तीन मिनटमें अपनी बात ऐसे ढंगसे कह देते थे कि पहले वाली बातका जो प्रतिपक्ष होता, वह सामने आजाता और सबके भाषणमें ताली बजती और सबको लोग उस समय यही समझते कि बिल्कुल ठीक। अब उसके बाद मालवीयजी बोलते तो मालवीयजीका थोड़ा विस्तार करनेका ढंग होता था। गाँधीजी बड़े संक्षेपमें, बड़ी सादगीसे, बोलते थे। तो बोलनेका भी एक ढंग होता है। किसी बातको बढ़ाकर बोला जाता है। कभी किसी बातको छोटी करके बोला जाता है। इसको संस्कृतमें समास-पद्धति और व्यास-पद्धति बोलते हैं। व्यासजी किसी बातको बड़ी करके बोलते हैं। और समास पद्धतिमें बातको थोड़ेमें कह दी जाती है। यहाँ समास-पद्धतिसे अज्ञानका निरूपण किया गया है।

प्रश्न : ब्रह्म क्या ज्ञातासे भिन्न वस्तुके रूपमें ज्ञेय है? वह यदि सत् और असत् दोनों ही नहीं कहा जा सकता तो फिर उसकी प्रतीति या उपलब्धि किस रूपमें हो सकती है?

उत्तर : ज्ञेय शब्दके दो अर्थ संस्कृतमें होते हैं। यह ज्ञेय है माने जानने योग्य है। यह नहीं कि वह ज्ञानका विषय है कि ज्ञानके घेरेमें आगया। हमारा कर्तव्य है कि हम उसको जानें। इसलिए

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।

भगवान् कहते हैं कि अब मैं तुम्हें उस विषयका उपदेश करूँगा—जो जीवनमें अवश्य जानने योग्य है—ज्ञातव्य है—जिसको जाने बिना हमारा जीवन पूर्ण नहीं होता है। जिसको जाने बिना हम पूर्ण शान्ति और पूर्ण आनन्दका अनुभव नहीं कर सकते। वही जानने योग्य है इस जीवनमें, और मैं तुम्हें सुना रहा हूँ। उससे फल-श्रुति भी बता दी। इसको जाननेसे क्या लाभ है? बोले—

यद्ज्ञात्वा अमृतम्-अश्नुते।

जिसको जाननेके साथ-ही-साथ अमृत प्राप्त होता है। यहाँ ज्ञात्वा शब्द जो है—'क्त्वा प्रत्यय' बोलते हैं इसको, उससे इसका अर्थ होता है—साथ-साथ जानना और अमृत होना—जाननेके साथ ही साथ अमृतत्वको प्राप्त कर लेता है, जैसे 'उपविश्य भुङ्क्ते'का अर्थ होता है—बैठकर आदमी खाता है।

अमृतत्वकी प्राप्तिका अर्थ यह है कि कई चीजें ऐसी होती हैं कि कर-करके पैदा की जाती है, कर्मसे बनायी जाती हैं। कई वस्तुएँ ऐसी होती हैं कि उपासना करके भाव बनाया जाता है। राम, कृष्ण, शिव आदिके दर्शन होते हैं। कर्मसे यज्ञ होता है और कर्मसे संसारकी और वस्तुएँ मिलती हैं। एक योगाभ्यास होता है। बहुत दिनों तक अभ्यास करनेके बाद समाधि लगती है। तब शान्ति मिलती है। एक ऐसी अनोखी वस्तु हम तुमको बता रहे हैं जो दुनियामें और कहीं नहीं हैं। वह यह है कि उसके ज्ञान मात्रसे ही, जानने मात्रसे ही अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। आपको यह बात मालूम है कि ज्ञान कोई चीज बताता नहीं है—जो चीज पहलेसे विद्यमान रहती है, मौजूद रहती है, उसको दिखा देता है। अब यदि ज्ञान अन्य रूपसे किसी वस्तुको दिखायेगा तो उसको पानेके लिए कर्म, उपासना, योग कुछ-न-कुछ करना पड़ेगा। या तो ध्यान करना पड़ेगा, या तो वृत्ति बनानी पड़ेगी या तो कर्म करना पड़ेगा। लेकिन जहाँ वह वस्तु अपना आत्मा ही है और नित्य प्राप्त ही है वहाँ केवल उसका ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। दूसरेको जानेंगे तो उससे प्रेम करेंगे या परहेज करेंगे। लेकिन अपनेको जब जानेंगे तो उसमें न राग है, न द्वेष है। न पाना है, न परहेज है। अपना आत्मा ऐसी वस्तु है कि इसके ज्ञान मात्रसे ही मनुष्यको अनन्त जीवन, अमृत जीवनकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिए यहाँ ज्ञानकी ही महिमा विशेष-रूपसे बतायी गयी है और यह बहुत ही सूक्ष्म है क्योंकि इन साधन-सम्पदाओंके होनेपर ही यह ज्ञान अपने अमृत्वको प्रकट करता है।

तमेव विदित्वा अमृतत्वमेति। (श्वेताश्व० 3.8)

जो इसको जानेगा सो अमर हो जायेगा। ऐसा यह तत्त्वज्ञान है जिसका वर्णन करते हैं।

जैसे घड़ा है यह तो हुआ 'घट: अस्ति' और घड़ा नहीं है यह हुआ 'घटो नास्ति' तो किसी चीजके 'है' और 'नहीं' दो रूप होते हैं। यह बात तो ठीक है। परन्तु जो उसको जानता है—जिनको 'अस्ति-नास्ति' दोनोंका ज्ञान है वह क्या है? उसके लिए गीतामें एक प्रक्रिया तो यह दी गयी है कि—

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।

भगवान्‌ने कहा कि अमृत भी मैं ही हूँ; मृत्यु भी मैं ही हूँ, अस्ति भी मैं ही हूँ, नास्ति भी मैं ही हूँ—सत्, असत् सब मैं हूँ। एक पूर्णताका अनुभव सगुण रूपसे भगवान् बता रहे हैं कि जो कुछ 'है' 'नहीं' होने जाता है सो सब मैं ही हूँ। दूसरी जगह बोलते हैं 'सदसत्तत् परं यत्'—जो सत् है वह भी तुम, जो असत् है वह भी तुम और जो दोनोंसे परे है वह भी तुम। तीसरी जगह भगवान् श्रीकृष्ण बोलते हैं—

'न सत्तन्ना सदुच्यते'

वह ऐसी वस्तु है जो वाणीसे कही नहीं जा सकती और मनमें उसका कोई नाम-रूप बैठाया नहीं जा सकता। तो निषेध करनेवालेको ही परब्रह्म परमात्माका स्वरूप बतानेके लिए 'अस्ति' और 'नास्ति'—'सत्' और 'असत्' दोनोंका ही निषेध किया जाता है। आप यह समझ लें कि दुनियामें मजहब तो बहुत हैं और उनकी उपासना-प्रार्थनाके मार्ग भी बहुत हैं। परन्तु अपनी आत्माको ही पूर्ण परमात्माके रूपमें लखानेबाली जो विद्या है वह हमारी वेदान्तविद्या है।

दूसरेकी पूर्णता बतानेके लिए तो उपासना होती है या किसी भावमें दृढ़ स्थिति करनेके लिए योग होता है। कोई वस्तु बनानेके लिए कर्म होता है। परन्तु अपनी पूर्णता जो कि वास्तविक है, सच्ची है, उसको लखा देनेके लिए ज्ञान होता है। तो अपनेको लखानेके लिए यह जरूरी हो जाता है कि अपनेसे अलग जो चीज मालूम पड़ती है—'है' के रूपमें और 'नहीं' के रूपमें, 'सत्' के रूपमें या 'असत्' के रूपमें उसको एकबार निषेध कर दें। अपवाद कर दें। उसका बाध कर दें। जिसका बाध नहीं हो सकता, अपवाद नहीं हो सकता, जिसका निषेध नहीं हो सकता वही अपना आत्मा होता है और उसीको यहाँ इस प्रसङ्गमें ब्रह्मके रूपमें वर्णन किया जा रहा है।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ 13.12
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ 13.13

परमेश्वरका ऐसा बढ़िया स्वरूप यह माननेका नहीं है और यह घड़ेकी तरह देखनेका भी नहीं है। यह अपना ही स्वरूप है और सबको अलग कर देने पर इसका साक्षात् अपरोक्ष अनुभव होता है। यह न स्वर्गके समान परोक्ष है। न घड़ेके समान प्रत्यक्ष है। 'अस्ति' 'नास्ति' पदका विषय नहीं है! तब यह क्या है? जो अस्ति-नास्तिको जानता है वह है। जो स्वर्ग, नरकको मानता है सो है। जो जन्म और मृत्युको जानता है सो है। जो जीव और ईश्वरको जानता है सो है। यह उत्पन्न वस्तु नहीं है। जो जिसको भान हो रहा है, मालूम पड़ रहा है-सोऽहम्। और दुनियामें जितने लोग हैं उन्होंने ईश्वरको ढूँढ़ा है, दुनिया बनानेवालेके रूपमें। परन्तु न तो उस समय दुनिया थी, न उनकी बुद्धि थी, न वे थे। उसका अनुभव नहीं हो सकता कि दुनिया बनानेके पहले क्या थी? और यह अनुभव भी नहीं हो सकता कि दुनिया न रहनेपर, हम न रहनेपर, हमारी बुद्धि न रहनेपर, क्या रहेगा? केवल अन्दाजी बात रहती है, अनुमान लगाया जाता है।

इसलिए हमारी जो सत्यके साक्षात्कारकी पद्धति है, वह सृष्टिके पहले वालेकी नहीं, सृष्टि बनानेवालेकी नहीं और सृष्टि बिगाड़नेवालेकी भी नहीं। जो इस समय है और है-नहीं-दोनोंको प्रकाश रहा है। जिसको दोनोंका भान होता है, उस परमात्माके निरूपणमें हमारा अभिप्राय है। और हम उसको अभी बिना किसी औजारके, बिना किसी यन्त्रके, बिना आँखके, बिना कानके, बिना नाकके, बिना जीभके यहाँ तककी बिना मनके, बिना बुद्धिके हम उस वस्तुका अनुभव करते हैं। न वह परोक्ष है स्वर्गके समान और न तो प्रत्यक्ष है घटके समान-न उसको जाननेके लिए किसी करण या वृत्तिकी आवश्यकता है। वह तो साक्षात् अपना आपा है।

साक्षाद् अपरोक्षात् ब्रह्म।

●

※※

छठा दिवस

(2-11-84)

स्वर्गीया प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधीकी अन्त्येष्टि क्रिया पर पूज्य स्वामीजीका निवेदन-

गर्भाधानके दिनसे लेकर अन्त्येष्टि क्रिया पर्यन्त और उसके बाद भी धर्म संस्कार किये जाते हैं। उपनिषदोंका कहना है कि जब रोग आता है तो वह भी एक तप है। उसको सहना चाहिए। फिर कल्पना ऐसी होती है कि लोग श्मशानमें ले जा रहे हैं-बोले, मेरा वन-गमन हो रहा है। और जब अग्निमें जलाते हैं, अन्त्येष्टि क्रिया करते हैं। अन्त्य: इष्टि है=अन्त्येष्टि। इष्टि माने यज्ञ। अपने शरीरका हवन किया जाता है। इस प्रकार वैदिक धर्मके अनुसार अन्त्येष्टि संस्कार भी एक संस्कार है और वह यज्ञ-रूप है। ऐसा अपने समग्र जीवनको धर्मके रूपमें बना देना यह वैदिक संस्कारकी विशेषता है। आज प्रियदर्शिनी इन्दिरा गांधी-प्रधानमंत्रीकी अन्त्येष्टि क्रिया है। यह बहुत बड़ी आहुति है देशकी ओरसे। इससे भी धर्म सम्पन्न होता है, अन्त:करण शुद्धि होती है। भगवत्-प्रसाद होता है। इसलिए इसके उपलक्ष्यमें आज हम सब लोग खड़े होकर एक मिनटका मनका मौन या मन-ही-मन भगवान्से प्रार्थना करें कि जिससे विश्व मानवताका मंगल हो, राष्ट्रका हित हो, लोगोंके मनमें सद्भाव और शान्तिका उदय हो ऐसा संकल्प करके एक मिनटके लिए खड़े हो जायँ और मौन रहें—

प्रश्न : अद्भुत प्रक्रिया है सृष्टिकी कि बड़े-से-बड़ा आघात पाकर भी क्रम चलता रहता है। शायद प्रभुकी इच्छा क्रम चलाते रहनेकी ही है और सङ्कटके क्षणोंमें वह हमारी परीक्षा भी लेता है कि हम कितने धैर्यके साथ सही क्रम चला सकते हैं। हमलोगोंका गीता-ज्ञान-यज्ञ जो चल रहा है उसके प्रश्न क्रममें आज जो प्रश्न है वह मैं पूज्य गुरुजीके सामने उपस्थित कर रहा हूँ—

ज्ञेयके रूपमें ब्रह्मका निरूपण है, वह सगुण साकार, निर्गुण-निराकार दोनोंका ही मालूम पड़ता है—और परस्पर विरोधी गुणोंसे भरा है। इस वर्णनमें संगति किस प्रकार बिठायें?

उत्तर : परमात्मामें दृष्टि-भेदके कारण भेद जान पड़ते हैं। कोई किसी कोणसे देखता है, कोई किसी कोणसे। हमने चित्र लेते देखा है। ऊपरसे लेते हैं तो आदमी नाटा हो जाता है। नीचेसे लेते हैं तो लम्बा हो जाता है। दाहिनी ओरसे लेते हैं तो दूसरा बायीं ओरसे लेते हैं तो दूसरा। यह मनुष्यमें भेद नहीं होता है, जो चित्र लिया जाता है, उस कैमरेके कोणमें भेद होता है।

जाकी सभी लिखनी बैठी गहि-गहि गर्व गरूर।
भये न केते जगतके चतुर चितेरे कूर।

बहुत बड़े-बड़े चित्रकार अभिमान लेकर बैठे कि हम उसका चित्र बनायेंगे। तस्वीर बनायेंगे। परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। सब अपने-अपने दृष्टिकोणके अनुसार चित्र बना-बनाकर रह गये। जो अज्ञानान्धकारमें इतने डूबे हुए हैं कि उन्हें जड़ता ही दीखती है, ईश्वर नहीं दीखता है। कोई-कोई ऐसे होते हैं उनको जड़ता और चेतना दोनों मिली हुई दिखती है। किसी-किसीको केवल चेतनका ही अनुभव होता है।

※※※

※※

तत्त्व-ज्ञानीकी दृष्टिसे जो निर्गुण, निराकार, अद्वितीय अपना आत्मा है, अज्ञानीकी दृष्टिसे वही विराट् जड़ है और जिज्ञासुकी दृष्टिसे वही जड़ता, चेतनता दोनोंके मूलमें है। इसीको अनिर्वचनीय कहते हैं। तत्त्वज्ञकी दृष्टिसे दूसरा कोई है ही नहीं—अपना आत्मा ही परमात्मा है। जिज्ञासुकी दृष्टिसे वह अनुसन्धान करने योग्य है—है परन्तु अदृश्य है। भक्तकी दृष्टिसे भी दर्शन योग्य है—दर्शन होता भी है और जो संसारकी जड़तामें ही फँसे हुए हैं उनके लिए नहीं है और है भी तो जड़ है। इसलिए ईश्वर वहाँ है जिसको लोग भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणसे भिन्न-भिन्न रूपमें देखते हैं और वह सबमें रह करके भी सबसे निराला होता है। गीतामें—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ (13.15)

सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर भी वही है भीतर भी वही है।

स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। मुण्डकोप. (2.1.2)

विवादमें ऐसा कहा हुआ है। 'अचरं चरमेव च'। वही पृथिवी, पर्वत, पत्थर—यह सब अचरके रूपमें है और वही चर पेड़, पौधे उद्भिज्ज, ऊपरको चलते हैं, वही स्वेदज—जूएँ, खटमलके रूपमें हैं। वही अण्डज पक्षियोंके रूपमें हैं। वही जरायुज, द्विपाद और चतुष्पादके रूपमें हैं और जो कुछ सुने हुए हैं शास्त्रोंमें, देवता दानव। जो कुछ भूत, भविष्य जाना जाता है, सब परमात्माका स्वरूप है।

सूक्ष्मत्वात् तद् अविज्ञेयम्।

इतना सूक्ष्म है कि उसको हम यन्त्रोंके द्वारा—इन्द्रियोंके द्वारा, मनकी कल्पनाके द्वारा, बुद्धिके, विचारोंके द्वारा अथवा अभ्यासजन्य स्थितियोंके द्वारा उसको विज्ञेय नहीं बना सकते क्योंकि वह 'सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरम्'—सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है—'अक्षरात् परत: पर:' सबसे परे जो अक्षर है, उससे भी परे है। इसलिए जो दूर देखता है उसके लिए दूर है। यह आपकी दृष्टि है कि परमात्मा दूर है। जो निकट देखता है उसके लिए निकट है। यह आपकी दृष्टि है कि वह निकट है। दूर और निकट यह तो देशमें होता है, कालमें होता है और देश और काल परमात्माका स्पर्श नहीं करते। इसीसे स्वयं श्रीकृष्ण भी अपनेको इस ढंगसे वर्णन करते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगत्।

यह सारी दुनिया—सारा जगत् एक वस्त्र है, तो मैं उसमें सूत्र हूँ। सबका उपादान मैं हूँ। फिर बोलते हैं 'मत्स्थानि भूतानि' मुझमें दूसरे कोई भूत, दूसरे कोई पदार्थ तो हैं ही नहीं। स्वयं इस ढंगसे अपना वर्णन करते हैं कि ये दुनियाके लोग जितना भी निर्वचन करते हैं वह एक ओर रखे रह जाते हैं और वह निर्वचनोंका जो कर्ता है, भोक्ता है—जो उनको करता है, उनका रस लेता है और जो उनका ज्ञाता है, जानकार है, जो उनका द्रष्टा है, उस द्रष्टाके असली स्वरूपका ज्ञान अगर हो जाय तो परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु न रहे।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजयः।

ऐसा परमात्माका स्वरूप है और तेरहवें अध्यायके इस प्रसंगमें तो उसका इतना उत्तम निरूपण है कि—

※※※

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्। 13.17

वही ज्ञानस्वरूप है। करणरूप ज्ञान नहीं। जिसके द्वारा जाना जाता है वह ज्ञान नहीं। जो बिना ज्ञातारूप अभिमानके और बिना करणरूप साधनके और जो ज्ञेयताका विषय हुए बिना 'ज्ञान' है, वह शुद्ध अद्वितीय 'ज्ञान' कौन? तो बोले परमात्मा। जो जाना जाता है सो—वही है—ज्ञातव्य है। कैसे ज्ञातव्य है? ज्ञानगम्यम्—वह ज्ञानसे ही अमानित्वादि जिसका वर्णन किया है—उसीसे उसका ज्ञान होता है। फिर तो कहीं दूर रहता होगा? बोले नहीं—'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'। सबके हृदयमें—'सर्वस्य हृदि'। चींटीके हृदयमें भी, खटमलके हृदयमें भी, जूँएँके हृदयमें भी, देवता, दानव, मानव सबके हृदयमें जहाँ स्मृति रहती है, संस्कार रहते हैं। हृद् शब्दका अर्थ होता है। 'हंरति संस्कारानीति'। जहाँ स्मृतियाँ इकट्ठी होती रहती है और जहाँसे संस्कारोंके अनुसार विचार नानारूपमें प्रकट होते हैं।

वहीं—उस अपने आपमें ही परमात्माको ढूँढ़िये—वहीं वह स्पष्ट रूपसे स्थित है—साक्षात् अपरोक्ष है। उसको देखनेके लिए न इन्द्रियाँ चाहिए, न मन चाहिए, न बुद्धि चाहिए, न कोई स्थिति चाहिए—वह तो अपना आपा है। यह तो हम दूसरी वस्तुओंको पकड़-पकड़कर उनसे वंचित हो जाते हैं। इसलिए परमात्माके स्वरूपका यहाँ निर्गुण रूपसे भी वर्णन है। 'निर्गुणं गुणभोक्तृ च'। परमात्मा निर्गुण है। और गुणोंका उपलब्धिकारी है। उसीको गुण मालूम पड़ते हैं। 'सर्वेन्द्रिय गुणाभासम्' वही है, 'सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' वही है। यह परमात्माके स्वरूपका वर्णन जो गीतामें है, उसको आप यदि शुद्ध अन्त:करणवाले अमानित्वादि साधन-सम्पन्न अधिकारी हैं तो साक्षात् अपरोक्षरूपमें—जान सकते हैं और—'**यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते**'

उसको जान लेने मात्रसे कुछ करना नहीं—दूसरी चीजका जो ज्ञान होता है वह ज्ञान होनेके बाद कुछ करनेका होता है। माने उसको छोड़ो या उसको पाओ। लेकिन यह जो अपने स्वरूपका ज्ञान है, उसमें 'ज्ञात्वा अमृतमश्नुते'। न कोई कर्म, न कोई उपासना, न कोई अभ्यास, अपने स्वरूपका बोध ही अमृत बना देता है। तो ज्ञान कुछ बनाता नहीं है, ज्ञान तो जो चीज जैसी होती है वैसा लखाता है। अपना स्वरूप अमृत। 'अमृतम् अभयं ब्रह्म'। उस अमृतपर जो परदा पड़ा हुआ है, ज्ञान होते ही वह हट जाता है और हम अपनेको अमृतके रूपमें अनुभव करते हैं। ऐसी श्रुति है।

य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति (श्वेताश्व. 3.1)

प्रश्न : ब्रह्म यदि ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञानगम्य है तो ज्ञाता कौन है?

उत्तर : दूसरेको जाननेके लिए ज्ञाता होता है। जब करणके द्वारा—माने वृत्तिके द्वारा या इन्द्रियके द्वारा—हम किसी वस्तुका ज्ञान प्राप्त करते हैं,'ज्ञान' हो जाता है करण, और उसका जाननेवाला 'अहं' जो है वह ज्ञाता हो जाता है और जो 'इदम्' होता है, उसको 'ज्ञेय' कहते हैं। लेकिन ज्ञाता तो एक शुद्ध वस्तु नहीं है—ज्ञानरूप करण और ज्ञेयरूप दृश्यका ज्ञाता है। परन्तु जिसमें ज्ञाता, ज्ञेयका भेद ही नहीं है और जो 'ज्ञान' करण स्वरूप नहीं है वह तो देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न स्वजातीय, विजातीय, स्वगत-भेदसे रहित साक्षात् ज्ञानरूप ब्रह्म ही है।

आप इस बातपर ध्यान दें कि यदि ब्रह्म हमसे अलग रहेगा या होगा तो अचेतन होगा। क्योंकि उसको जाननेवाले, प्रकाशनेवाले 'हम' हैं और यदि हम ब्रह्मसे अलग होंगे तो कटे, पिटे, परिच्छिन्न होंगे। ब्रह्मसे अलग होनेपर मनुष्य कट-पिट जाता है। आत्मा कटी-पिटी मालूम पड़ती है। और आत्मासे भिन्न होनेपर ब्रह्म जड़ हो जायगा, क्योंकि हम निरिन्द्रियको जड़ नहीं कहते हैं। हम तो दृश्यको जड़ कहते हैं। जो-जो वस्तु दृश्य होगी वह जड़ हो जायेगी। द्रष्टा केवल चेतन होता है और दृश्य होता है जड़ और दृश्यमें देश, काल, वस्तु तीनों होते हैं और वह उस द्रष्टामें भासते हैं जिसमें ये तीनों नहीं हैं। इसलिए—

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते। 13.12
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति। 13.13
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ 13.14
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ 13.15
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ 13.16

यह परमात्माके स्वरूपका जो गीतामें निरूपण है—अधिकारी निरूपणके पश्चात्—यह ऐसा निरूपण है जैसे सब उपनिषदोंका सार-सर्वस्व यहाँ इकट्ठा करके रख दिया गया हो। और एक-एक शब्दपर यदि विचार करें तो एक-एक शब्दमें परमात्माके दर्शन करानेकी शक्ति है। यदि उपासना करनी है, तो परमात्मा साकार भी है। विश्व ही उसका आकार है। यह साकारता है। फिर सारे विश्वकी आराधना नहीं कर पाते, कल्पना भी नहीं कर पाते तो उसके एक अवयवमें परमात्म-बुद्धि करते हैं। मिट्टीमें, जलमें, अग्निमें, वायुमें, आकाशमें, मनमें, इन्द्रियोंमें भी और विज्ञानमें, आनन्दमें, परमात्माकी बुद्धि करते हैं। यह विराट्के एक अवयवकी उपासना है। एक अंगकी, एक अंशमें, जैसे पुत्र पिताका हाथ पकड़कर चले तो लोग कहते हैं यह पिताको पकड़कर चल रहा है। इसी प्रकार एक व्यक्तिकी उपासना की जाती है और सम्पूर्ण व्यक्तियोंका जो आधारभूत परमात्मा है, उसकी उपासना मानी जाती है। उसीके अवतारकी भावना करके अवतारोंकी पूजा होती है। एक-एक मूर्तिमें पूजा होती है।

बुद्धि भगवदाकार बनती है, निमित्त चाहे शिवलिङ्ग हो, शालग्राम हो, राममूर्ति हो, कृष्णमूर्ति हो, शिवमूर्ति हो, मूर्तियाँ अलग-अलग होती हैं, परन्तु उनको निमित्त बना करके, हमारी जो चित्तवृत्ति है वह भगवदाकार, ईश्वराकार होती है। और आकारोंको हटा देनेपर जो निराकार है, सो भी परमात्मा है। निराकार भी सगुण होता है, निर्गुण होता है। तो यदि सगुणताका भाव न हो—कुछ परमात्मासे लेना न हो तो परमात्मा निर्गुण और मैं भी निर्गुण—तो निर्गुण और निर्गुण दोनों एक। परमात्मा कहता है कि हे जीव, तुम सगुण हो। मैं निर्गुण

हूँ। जीव कहता है—नहीं भगवान्—मैं निर्गुण हूँ आप ही सगुण हैं। दोनोंमें यह विवाद अनादि कालसे चल रहा है। जीव कहता है कि ईश्वर सारे अचिन्त्य कल्याण-गुणगण आपमें है। परमात्मा कहता है नहीं-नहीं—मैं तो निर्गुण हूँ, मुझमें कोई गुण नहीं है। यह तो तुम्हारा भाव है, सद्भाव है। भक्ति है कि तुमको मेरे अन्दर गुण दिखायी पड़ता है। जीवात्मा अपनेको निर्गुण कहता है, परमात्माको सगुण। परमात्मा अपनेको निर्गुण कहता है, जीवात्माको सगुण। असलमें जो गुणका अभिमान अपनेमें करेगा वह गुणी हो जायगा, परिच्छिन्न हो जायगा। जब आत्मा भी गुणके अभिमानसे मुक्त होता है, परमात्माको गुणके अभिमानसे मुक्त जानता है तब निर्गुण निर्गुण, निर्विशेष निर्विशेष, निर्धर्मक निर्धर्मक-एक हो जाते हैं। ये धर्म, गुण विशेष हैं। यही अलग करनेवाले होते हैं। वस्तुमें किसी प्रकारका भेद नहीं होता है। भगवान् श्रीकृष्णने सारी गीतामें ही इस उपनिषद्-तत्त्वका निरूपण किया है।

प्रश्न : भक्त यदि ज्ञान, ज्ञेय, क्षेत्र आदिको जानकर ही प्रभुके भावोंको प्राप्त करने योग्य बन सकता है तो ज्ञान भक्तिका अनिवार्य साधन ठहरता है। एक ओर कुछ आचार्य भक्तिको ज्ञान, कर्म आदिसे निरपेक्ष बताते हैं, दूसरी ओर कुछ आचार्य भक्तिको ज्ञानका साधन बताते हैं। गीताकारको क्या अभीष्ट है?

उत्तर : गीतामें साधनके रूपमें भी भक्तिका वर्णन है और बहुत अधिक है। जैसे—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ 14.26

जो अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मेरी आराधना करता है वह गुणातीत हो जाता है और ब्रह्म हो जाता है। यहाँ अव्यभिचारी भक्तियोगको साधन बताया है। जहाँ अमानित्वादि साधनोंका वर्णन है वहाँ भी कहा गया है—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।

भक्ति ज्ञानरूप ही होती है। ज्ञान तो ऐसा होता है—कभी बुराईका ज्ञान होगा तो उससे द्वेष होगा। बुरे आदमीसे द्वेष हो जायेगा। अच्छे आदमीका ज्ञान होगा तो उससे प्रीति हो जायगी। और यदि जो न अच्छा है न बुरा है—दोनोंसे निराला है उसका ज्ञान होगा और अपनी ओर झाँकेंगे तो कितनी अच्छाइयाँ आजतक आयीं और चलीं गयीं और कितनी बुराइयाँ आजतक आयीं और चली गयीं। इसकी कोई सीमा नहीं है। अच्छाइयाँ, बुराइयाँ आती-जाती रहती हैं और अपना आत्मा एक सरीखा रहता है तो परमात्मासे एकताका योग बन जाता है। यहाँ जिस प्रसंगमें यह प्रश्न है वहाँ तो स्पष्ट ही है बिना किसी लाव-लपटके।

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।

मद्भक्ता इति अधिकारी, एतद् विज्ञाय साधनम्, मद्भावायोपपद्यते इति फलम्।

अधिकारी कौन है? भगवान्का भक्त। जो भगवान्का भक्त होता है उसीके सामने भगवान् अपनेको बेपरदा करते हैं, निरावरण करते हैं। सब परदे हटाकर फेंक देते हैं। जो अपना प्रेमी है, सेवक है, जो अपना प्यारा यार है, उसके सामने लोग निरावरण होनेमें कोई संकोच नहीं करते।

माँ अपने पुत्रके सामने दूध पिलानेके लिए अपनेको निरावरण कर देती है। पति-पत्नीके रूपमें निरावरण हो जाते हैं। इसी प्रकार जब कोई भगवान्का सच्चा प्यारा बने, परमात्मासे यारी हो जाय तो वह अपनेको छिपाकर नहीं रखेगा। 'एतद्विज्ञाय'। 'एतद्' माने 'अनादिमत्परम्'से लेकर के यह जो परमात्माके स्वरूपका वर्णन हुआ है—उसका विज्ञान। विज्ञान माने साक्षात् अनुभव। यह विज्ञान शब्द भी उपनिषदोंका ही है। 'विजानतः', 'एकत्वमनुपश्यतः'! विज्ञान—जहाँ परमात्माका विज्ञान हुआ वहाँ 'मद्भावायोपपद्यते'। परमात्मासे एक हो जाता है, इसके ज्ञान-मानसे। क्योंकि श्रुति कहती है—

तदपश्यत्-तदभवत् तदासीत्।

परमात्माको देखा, परमात्मा ही हो गया क्योंकि पहलेसे परमात्मा ही था। अब इस दृष्टिसे देखें तो यहाँ भक्तिको साधनके रूपमें बताया हुआ है। अब भक्त और परमात्माकी अनुभूति दोनोंके बीचमें विज्ञान है। माने, भक्त विज्ञानके द्वारा परमात्मभावको प्राप्त करता है। 'एतद्विज्ञाय'। विज्ञान और परमात्माकी प्राप्ति एक ही है क्योंकि एक साथ—युगपद् इसका प्रयोग है। जैसे उपविश्य भुंक्ते—बैठकर कोई खा रहा है। तो जान करके भगवान्का स्वरूप हो रहा है। कहीं कहीं ऐसा लगता है कि—

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।

ज्ञानी लोग मेरे स्वरूपको जान करके भावसे युक्त होकर भजन करते हैं।

चतुर्विधाभजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ 7.16-17

मैं ज्ञानीका ऐसा प्रिय हूँ कि मेरे और उसके बीचमें कोई अर्थ नहीं है, कोई वस्तु नहीं है। न कुछ लेना है, न कुछ देना है, न कोई इच्छा है, न वासना है, न मम है—

अर्थम् अतिक्रम्य-इति अत्यर्थम्।

कोई भी अर्थ हमारे और उसके बीच नहीं है। क्योंकि राजा होता है, उसका सेवक होता है तो राजा चाहता है कि सेवक हमारी सेवा करे। सेवक चाहता है कि राजा हमारे ऊपर अनुग्रह करे, हमको कुछ दे। परन्तु ज्ञानी भक्त और भगवान्के बीचमें कोई दूसरी चीज होती ही नहीं। न भगवान्को ज्ञानीसे सेवाकी अपेक्षा है और न तो ज्ञानी भक्तको भगवान्से कुछ लेना है। यह लेना-देना तो व्यापार है। इसीसे प्रह्लादने भागवतके सातवें स्कन्धमें कहा है—

अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव॥ (7.10.6)

जो कुछ चाहकर भजन करता है उसके लिए तो प्रह्लादने कहा—

न स भृत्यः स वै वणिक्। (7.10.4)

वह तो सेवक नहीं है, वह तो वणिक् है—व्यापारी है जो कुछ चाहकर भजन करता है। इससे स्पष्ट होता है—सच्ची भक्ति जो है वह ज्ञानीके जीवनमें ही प्रकट होती है। मधुसूदन सरस्वतीने कहा कि जैसे ज्ञानी भक्तके जीवनमें किसीसे द्वेष नहीं होता, 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' सबसे स्नेहका भाव होता है। श्रद्धा आदर और सेवा देती है। प्रेम रस देता है। स्नेह पुष्टि देता है। श्रद्धा बड़ोंके प्रति होती है। प्रेम समान कक्षामें होता है। और स्नेह छोटोंके प्रति होता है। छोटोंको पोषण मिलना चाहिए, पुष्टि मिलनी चाहिए। भागवतमें बताया—

ज्ञानेनासौ विभर्ति माम्।

ज्ञानी अपने ज्ञानके द्वारा मेरा भरत-पोषण करता है। यदि ज्ञानी लोग न हों तो दुनियामें हमारी सत्ताको सुरक्षित रखनेवाला दूसरा कोई रहे ही नहीं। फिर एक स्थान ऐसा आता है जहाँ—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

समः सर्वेषु भूतेषु—जिसके चित्तमें विषमता है उसको पराभक्ति नहीं मिलती है। परा भक्ति तो उसको मिलती है, जो ब्रह्मभूत है, निर्मल अन्तःकरण वाला है और जिसके मनमें शोक और आकांक्षा नहीं है, और सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति राग, द्वेषसे विनिर्मुक्त जो सम है। असलमें शोभा वही जीवन प्राप्त करता है, जो सम होता है। स=समाना, मा=शोभा यस्य असौ समा। प्रकृष्टा मा=प्रमा। मया प्रमया सहितः=समः, मया लक्ष्म्या सहितः=समः। मया शोभया सहितः समः। जो सम होता है, उसको भगवान्‌की परा भक्ति होती है। माने जिससे परे और कोई भक्ति नहीं होती, वह भक्ति प्राप्त होती है। यहाँ यह बात कही गयी कि ब्रह्मज्ञानसे भक्ति की प्राप्ति होती है, परन्तु यहाँ भी अन्तमें जो उपसंहार है,

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ 18.55

यहाँ यह भी बताया कि यह जो पराभक्ति प्राप्त होती है, इस भक्तिसे परमात्माका—जितना बड़ा परमात्मा है, और जो परमात्मा है उसका—तत्त्वतः ज्ञान होता है। और तत्त्वतः ज्ञान होनेपर परमात्मासे एक हो जाता है। भक्तिसे तत्त्वज्ञान और तत्त्वज्ञानसे भगवान्‌की एकता। सारी गीतापर यदि हम दृष्टि डालें तो भगवान्‌ने अर्जुनसे पूछा—

कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजयः॥ 18.72

तुमने एकाग्र चित्तसे श्रवण तो किया और श्रवण करनेसे तुम्हारे मनमें जो अज्ञान, सम्मोह था वह नष्ट तो हो गया—माने भगवान् अर्जुनके अज्ञान सम्मोहका नाश चाहते हैं। यदि अबतक न हुआ हो तो और भी कुछ प्रयत्न करके, उपदेश करके, अज्ञान सम्मोहका नाश करें। और अर्जुनने तुरन्त स्पष्ट रूपसे कह दिया—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। 18.73

तुम्हारा प्रसाद, तुम्हारा अनुग्रह—तुम्हारी कृपा—अर्जुन कृतघ्न नहीं है। कृतज्ञता स्पष्ट है पर उसको मिला क्या? मोहका नाश हो गया और स्मृतिकी प्राप्ति हो गयी और 'करिष्ये वचनं तव'—जो उसके धर्म-

पालनमें विघ्न आया था, प्रतिबन्ध उपस्थित हो गया था, वह प्रतिबन्ध निवृत्त हो गया और उसकी जो प्रथम प्रवृत्ति थी—क्षत्रिय धर्मके अनुसार उसमें प्रवृत्त हो गया। उसीको 'करिष्ये वचनं तव' कहा हुआ है। इसलिए गीताका यदि अनुसंधान करें तो उसमें सकाम धर्मका भी वर्णन है; निष्काम धर्मका भी वर्णन है; उसमें उपासनाका, भगवद्भक्तिका वर्णन है, उसमें योगाभ्यासका वर्णन है; उसमें तत्त्वज्ञानका वर्णन है, उसमें आत्माके अकर्तापनका बीसों जगह वर्णन है, उसमें जगत्‌के मिथ्यात्वका अनेक स्थलोंपर वर्णन हैं, उसमें परमात्माकी अद्वितीयताका अनेक स्थलोंपर वर्णन है और कहीं-कहीं तो नैष्कर्म्यका ऐसा वर्णन है कि जल्दी मनुष्यके ध्यानमें आ भी नहीं सकता—जैसे 'कुर्वन्नपि न लिप्यते'। (5.7) ऐसा लगता है कि भगवान् कह रहे हैं कि करता हुआ भी लिप्त नहीं होता तो करना चाहिए। पर वह 'अपि' शब्द ऐसा है कि वह कहता है कि—

किं पुनः अकुर्वन्।

जो जब करता हुआ भी लेप नहीं होता है तो यदि वह न करनेवाला होगा ओर अपने स्वरूपमें मग्न होगा तब तो कहना ही क्या है? इस प्रकार भगवान्—

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति। (18.49)

यहाँ संन्यासका भी प्रतिपादन पूर्णरूपसे करते हैं। इसलिए गीताको एकांगी नहीं मानना चाहिए। यह तो कामधेनु है। इसमें-से रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैत दुह लेते हैं; निम्बार्काचार्य द्वैताद्वैत, मध्वाचार्य द्वैत, बल्लभाचार्य विशुद्धाद्वैत, कश्मीरी शैव स्वातन्त्र्य, योगी योग, और अद्वैतियोंको इसमें सर्वत्र अद्वैत ही भासता है। इसलिए गीताको एक पन्थकी पुस्तक नहीं मानना चाहिए। यह तो सम्पूर्ण देशके लिए, सम्पूर्ण विश्वके लिए एक सिद्ध वस्तुका निरूपण करनेवाला और मार्गदर्शन करानेवाला, साध्य वस्तुका निरूपण करनेवाला एक महान् ग्रन्थ है। इसको जो लोग एक पन्थका बना देते हैं, वे पन्थमें ही रह जावेंगे। वे मंजिले मकसूदपर, गन्तव्यपर कभी पहुँचेंगे ही नहीं। पन्थमें रहना किसीको अभीष्ट नहीं है। इसलिए सम्पूर्ण पन्थोंको पार करके जहाँ पहुँचना चाहिए उस स्थानपर ध्यान देना चाहिए और एक बात ध्यानमें रखने लायक है—जहाँसे पन्थका प्रारम्भ होता है वहीं आकर पन्थका अन्त होता है। यह नहीं कि पन्थ प्रारम्भ होगा कहीं और उसका अन्त होगा कहीं। इसलिए जिस आत्माके प्रकाशमें पन्थ प्रारम्भ होता है, सारे पन्थोंका अन्त उसीमें आकर होता है।

यहीं गीताका सार भी है। इसमें भक्ति बड़ी कि ज्ञान बड़ा, ऐसा कुछ बतानेकी जरूरत नहीं है।

एकबार श्री उड़िया बाबाजी महाराजसे किसीने पूछा, महाराज भक्ति बड़ी कि ज्ञान बड़ा? बोले भक्ति बड़ी। क्यों महाराज? भक्ति कैसे बड़ी? बोले—ज्ञानमें कोई बड़ा-छोटा नहीं होता—इसलिए भक्ति बड़ी है। बोले महाराज, आपके निरूपणमें और भक्तोंके निरूपणमें क्या अन्तर है? बोले, अन्तर यह है कि भक्त लोग, भक्तिको ही सब कुछ मानते हैं और हम लोग भक्तिसे भी बड़ा कुछ मानते हैं। वह क्या है? 'भगवान्'। जिसकी भक्ति की जाती है वे भगवान् भक्तिसे भी बड़े हैं और वे भक्त-अभक्त दोनोंके हृदयमें एक सरीखे रहते हैं। भक्त और ज्ञानकी लड़ाई बहुत छोटे दर्जेपर है। वह तो जैसे प्रान्त और राष्ट्रकी लड़ाई है—बहुत छोटे दर्जेपर,

****

जैसे जातीयता और मानवताकी लड़ाई है, बहुत छोटे दर्जेपर। जैसे पन्थ-पन्थकी, सम्प्रदाय सम्प्रदायकी, फिरका—फिरकाकी फिरकेबाजी है, वह बहुत छोटे दर्जेपर है।

उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।

जिनका चरित्र उदार है उनके लिए तो सम्पूर्ण मानव, सम्पूर्ण पृथिवी, तीनों लोक, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड, सब-के-सब परमात्माके स्वरूप हैं। और गीता यह बताकर लोगोंको धर्मनिष्ठ बनाती है—यह उसका आश्चर्य है।

प्रश्न : प्रकृति, पुरुष-क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ—दोनोंमें अन्तर क्या है? प्रकृति, पुरुष अनादि हैं—ऐसा माननेसे क्या द्वैतवादकी प्रतिष्ठा नहीं होती? गीतामें किसी एक दार्शनिक सिद्धान्तका प्रतिपादन है या भिन्न-भिन्न सिद्धान्तोंका समन्वय?

उत्तर : प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।। 13.19

क्षेत्र और क्षेत्रमें जो विकार होते हैं उनका सबका कारण प्रकृति है। और कारणरूपसे वह अनादि है। और पुरुष जो है वह द्रष्टा-रूपसे, साक्षीरूपसे अनादि है। अनादितामें एक बात तो लोगोंके ध्यानमें यह नहीं आती है कि जो चीज अनादि होती है उसको वे अनन्त भी मान बैठते हैं।

गीतामें प्रकृति अनन्त है—यह बात तो कहीं मिलेगी नहीं। प्रकृति अनादि है यह बात मिलेगी। अनादि है और प्रवाहरूपसे नित्य है और वास्तविक रूपसे केवल प्रतिभासमात्र है। तत्त्वज्ञकी दृष्टिसे प्रकृति आकाशकी नीलिमाके समान अनादि होकर भी और जबतक हम आँखसे देखेंगे तबतक दीखती रहनेपर भी वस्तुतः प्रकृति परमात्मासे अलग नहीं है।

अब गीतामें प्रकृति अनादि है और जीव भी अनादि है, यह बात जो कही गयी, इसके भाष्यमें शंकर भगवान् कहते हैं—

ईशितव्याभावे ईश्वराभाव-प्रसङ्गः।

यदि हम ऐसा मान लें कि कभी प्रकृति नहीं रहेगी या जीवन नहीं रहेगा या प्रकृति जीव इस समय नहीं हैं ऐसा यदि हम मान लो तो ईश्वर, ईश्वर किसका होगा? यदि प्रकृति और पुरुष दोनों होंगे तभी दोनोंका मालिक ईश्वर होगा। इसलिए ये अनादि है। पर अन्तर यह है कि ये सांख्यकी प्रकृतिके समान स्वतन्त्र प्रकृति नहीं है।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।। 9.10

असलमें अव्यक्त और अव्यक्तसे बुद्धि और बुद्धिसे अहङ्कार और अहङ्कारसे पञ्चमहाभूत—ये सब-के-सब क्षेत्र हैं। और क्षेत्रका विस्तार बतानेके लिए यहाँ प्रकृतिका प्रसंग आया। प्रकृतिसे ही पुरुष बन जाता है—यह चार्वाक-सिद्धान्त है। प्रकृति और पुरुष अलग-अलग है—यह न्याय-वैशेषिक। पर न्याय-

****

****

वैशेषिक प्रकृति शब्दका प्रयोग नहीं करते हैं—परमाणु आदिका करते हैं और पुरुष जो है चेतन वह द्रव्योंमें एक है—वह भी एक पदार्थ है। ऐसा न्याय-वैशेषिक सोचते हैं और प्रकृति, पुरुष दोनों अलग-अलग हैं यह सांख्य और योग कहते हैं। सांख्य सिद्धान्तका निरूपण करता है और योग उसको व्यावहारिक-आभ्यासिक बना देता है—अभ्यासके द्वारा साक्षात्कार हो जाता है। वेदान्त न तो परमाणुओंके समान अनेकता, जीवोंके समान एकता और न तो प्रकृतिकी स्वतन्त्रता मानता है। इन बातोंको वह न स्वीकार करके एक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वका निरूपण करता है। तो तत्त्व-निरूपण शैली ही यह है कि अनेकतासे एकताका हम साक्षात्कार करें।

यहाँ यदि अनेक तत्त्व जो सृष्टिमें दिख रहे हैं, उनको दो विभागोंमें बाँट दिया गया तो इससे कोई अद्वैतका विरोध नहीं हुआ। बल्कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके स्वरूपको अलग-अलग समझानेके लिए और विवेक करनेके लिए कि पहले जो बहुत मानते हो, उनको दोमें तो कर दो। सभी सृष्टिकी राशि हो गयी। एक चैतन्य राशि और एक जड़ राशि। जड़ राशिमें कार्य-कारण भाव होता है इसलिए वह प्रकृति-राशि है और चैतन्य राशिमें कार्य-कारणका विभाग नहीं होता, वहाँ विकार नहीं होते, इसलिए निर्विकार चेतनके विभागमें पुरुषको डाल दिया। इस प्रकार यह विवेककी एक पद्धति है।

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृति-सम्भवान्। 13.19

प्रकृतिमें ही गुणोंका भेद मालूम पड़ता है और प्रकृतिमें ही गुण मालूम पड़ते हैं। और फिर इसका आगे विस्तार भी है—

कार्यकरणकर्तृत्वे, हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।। 13.20

जीव कौन है? जो सुख-दुःखका भोक्ता है और प्रकृति कौन है? जिससे यह कार्य-कारण क्षेत्ररूप बनता है। पर भोक्ताका अर्थ भी ज्ञाता ही होता है—यह बात आपके ध्यानमें रहनी चाहिए। जीभपर आप खट्टा डालिए तो मालूम पड़ेगा खट्टा। उससे यदि आपकी आसक्ति है तो अच्छा लगेगा और यदि खट्टेमें आपकी रुचि नहीं है तो थूक देंगे। स्वाद आता है वासनाके अनुरूप और जो ज्ञान होता है वह वस्तुतः भोग है—सुख-दुःखका भोग वही है। ऐसे ही नाकमें सुगन्ध-दुर्गन्ध आँखमें कुरूप-सुरूप, जीभमें स्वाद-बेस्वाद-त्वचामें कठोर-कोमल—ये सब भोग—माने उपलब्धित्व, ज्ञातृत्व-जानना। केवल जानना ही भोग है। ज्ञान ही भोग है—नामकी चीज नहीं है। ज्ञान न हो, कोई भोग बता दो। यह जो पुरुष है, उसीको सम्पूर्ण भोगोंका ज्ञान होता है। इसलिए ज्ञातृत्वमें हेतु है यह पुरुष। इन दो विभागोंमें सारी विश्व-सृष्टिको लाकरके रख देना-यह वक्ताकी निपुणता है और—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।। 13.23

ऐसे कहके इस ज्ञानका फल बताया और अन्तमें इसी पुरुषको परमात्माका स्वरूप बता दिया।

****

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ 13.22

इसी देहमें परमेश्वर रहता है। परमेश्वर कहीं दूसरे लोकमें नहीं, दूसरे स्थानमें नहीं, दूसरे कालमें नहीं—'अस्मिन् देहे'। यही जो तुम्हारा शरीर है इसमें बैठा हुआ है परमात्मा। उसीको कहते हैं परमात्मा और उसीका नाम है परमेश्वर और गीतामें उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, गुण-भोक्ता अभी-अभी कहा गया है उसको क्योंकि वह परमात्मा ही है।

सच पूछो तो जिससे यह दृश्य ज्ञात होता है—यह शब्द है, स्पर्श है, रूपहै, रस है, गन्ध है, यह कान है, यह त्वचा है, यह आँख है, यह जीभ है, यह नाक है, यह जिसको मालूम पड़ रहे हैं, वे इनसे अलग रहकर—साक्षात् परमात्माके साथ मिला हुआ है और 'न स भूयोऽभिजायते'। इसके पुनर्जन्मका तो कोई कारण ही नहीं है। इसलिए इस परमात्माको जान लेना, सम्पूर्ण बन्धनोंसे, दुःखोंसे, शोकोंसे, मोहोंसे मुक्त होनेकी प्रक्रिया है। 'न स भूयोऽभिजायते' का अर्थ है—हम दिनभरमें दस बार जन्म लेते रहते हैं और दस बार मरते रहते हैं। जब हम अपनेको पापी मानते हैं तो पापीका जन्म हो गया। जब हम अपनेको पुण्यात्मा मानते हैं तो पुण्यात्माका जन्म हो गया। जब हम अपनेको दुःखी मानते हैं तो दुःखीका जन्म हो गया। जब हम अपनेको सुखी मानते हैं तो सुखोंका जन्म हो गया। जिसने अपने वास्तविक स्वरूपको जान लिया वह दिन भरमें हजारों रूपमें जन्म लेता है और मरता है। यह जो वृत्तियोंकी अनेकता हमारे साथ जुड़ी हुई है, इससे वह सर्वथा मुक्त हो जाता है। न जन्मता है और न मरता है। उसका जीवन तो एकरस है। एकरस जीवन व्यतीत करनेके लिए, जिसमें आनन्द ही आनन्द हो, ऐसा जीवन, इस तत्त्वज्ञानकी आवश्यकता होती है।

प्रश्नः कार्य-कारणके कर्तृत्वका हेतु यदि प्रकृति है तो सुख-दुःखका भोक्तृत्व भी उसीका होना चाहिए। फिर पुरुषको सुख-दुःखोंके भोक्तृत्वका हेतु क्यों कहा गया है? क्या यहाँ हेतुके द्वारा कर्तृत्व-भोक्तृत्वके अतिरिक्त कुछ संकेतित है?

अगले श्लोकमें यही बात है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ 13.21

नहीं यह है कि जब हम देहमें स्थित हो जाते हैं, देहको 'मैं', 'मेरा' मान लेते हैं तो देहमें जो बचपन है, जवानी है, बुढ़ापा है, गोरापन है, कालापन है उनके गुणोंका भोग करने लगते हैं प्रकृतिस्थ होनेपर। अर्थात् प्रकृति और प्रकृतिके कार्यमें तादाम्य होनेपर, एकत्व होनेपर, अध्यास हो जानेपर, इसको अपनेमें आरोपित कर लेनेपर, हम कर्ता-भोक्ता बन जाते हैं। यदि प्रकृति और प्रकृतिके कार्यके साथ तादात्म्य न हो तो—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ 2.19

देखो अज्ञान है और—

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ 2.21

सुख-दुःखकी धारा भी प्रकृतिमें ही है। उस प्रकृतिमें 'कारणं गुणसंगोऽस्य'। ये प्रकृतिके गुणोंमें जो संग है,'ये मैं हूँ,' ये मेरा है,' इसीके कारण सद्-असद् योनियोंमें जन्म होता है। सुख-दुःख, सुख-दुःखकी अनुभूति-जन्म-मरणकी अनुभूति ये सब एक दूसरेको अपना स्वरूप मान लेनेके कारण ही होता है। इसका हेतु तादात्म्य है। और असलमें वेदान्तकी दृष्टिसे प्रकृति परमात्मासे भिन्न नहीं होती। एक श्रुति तो कहती है—

मायां तु प्रकृतिं विद्धि मायिनं तु महेश्वरम्। श्वेताश्वतर उप. 4.10

प्रकृति और माया दोनोंका एक ही अर्थ है। वेदान्तसूत्र कहता है—

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। 1.4.23

प्रतिज्ञा और दृष्टान्तके बलसे, एकके विज्ञानसे सबका विज्ञान हो जाता है, इसलिए प्रकृति भी स्वतन्त्र सत्तावाली कोई वस्तु नहीं है। परन्तु जबतक पुरुषोंमें और प्रकृतिमें भेद है तबतक पुरुष अपने स्वरूपको भूलकर प्रकृतिसे एक हो गया तो प्रकृतिके कर्मको अपना कर्म मानने लगा और प्रकृतिके भोगको अपना भोग मानने लगा। लेकिन कर्तापन जो है, कर्तृत्व जो है वह कर्मेन्द्रियोंकी प्रधानतासे है जो कि अन्धी है। और भोग जो हैं वे ज्ञानेन्द्रियोंकी प्रधानतासे हैं जिनमें ज्ञानकी प्रधानता रहती है। इसलिए पुरुषके अत्यधिक निकट होनेके कारण ज्ञानेन्द्रियोंसे होनेवाला जो भोग है, उसका पुरुषमें आरोप कर दिया और कर्मेन्द्रियाँ पुरुषसे थोड़ी दूर पड़ती हैं इसलिए उनका सर्वथा प्रकृतिमें समारोप कर दिया।

इसको देखनेके लिए अमानित्वादि साधन-सम्पत्ति हो तो सबसे बढ़िया और उससे तो अद्वैत तत्त्वका ही अनुभव हो जायेगा, परन्तु वह न हो तो उसके लिए और भी साधन हैं अब साधनोंकी चर्चा आती है तो वह सरल हो जायेगी। परमात्माकी चर्चा तो थोड़ी सर्वसाधारणसे अलग होती है।

•

सातवाँ दिवस

(3-11-84)

प्रश्न : परमात्मा उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर आदि है, इसका अनुभव साधक किस प्रकार करे? इन शब्दोंका रहस्य हृदयंगम हो सके, ऐसी व्याख्या करें। इसीके साथ एक और प्रश्न है कि परमात्माने यह कैसे कहा कि 'द्यूतं छलयतामस्मि'—मैं छल करनेवालोंमें द्यूत हूँ। यह कैसे कहा कि मैं सत् भी हूँ असत् भी हूँ अमृत भी हूँ, मृत्यु भी हूँ। इसके ऊपर विचार बतावें।

उत्तर : पहली बात इसमें ध्यान देने योग्य यह है कि परमात्मा कहीं दूर देशमें नहीं है। 'अस्मिन् देहे'। इसी देहमें परमात्मा है। कहीं दूसरे कालमें भी नहीं है। माने उसके लिए न प्रतीक्षाकी आवश्यकता है, और न लम्बी यात्रा करनेकी। उसके पास पहुँचनेके लिए समाधिकी प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। इससे दूर देश, दूर काल दोनों कट गये।

अस्मिन्नेव देशे, अस्मिन्नेव काले, अस्मिन्नेव देहे।

यह जो एक मोटर सरीखा शरीर बना है—'देह' शब्दका संस्कृतमें अर्थ होता है—ढेर, राशि। जैसे अनेक पुरजोंको जोड़ करके बैलगाड़ी बनती है, मोटर बनती है, वैसे अनेक पुरजोंको जोड़ करके यह शरीर बना है। दर्शनशास्त्रका नियम यह है कि जो चीज बहुत पुरजोंको जोड़कर बनती है वह चीजके लिए नहीं होती है, यह किसी दूसरेके लिए होती है। मोटर मोटरके लिए नहीं, मालिकके लिए होती है। नमक, हल्दी, दाल, पानी पकाकर जब पकवान् बनाते हैं वह पकवानके लिए नहीं होता है, किसीके खानेके लिए होता है। यह देह स्वयं अपनेमें कोई पूर्ण पदार्थ नहीं है। किसीका यह उपकरण है, किसीका वाहन है। हम वाहनको तो देखें लेकिन वाहनके मालिकको न देख सकें, तो पूर्ण दर्शन नहीं हुआ। जड़का दर्शन हुआ, चेतनका दर्शन नहीं हुआ। इस देहको मेरा देह कहनेवाला जो है—जो देहवाला है, उसको पुरुष कहेंगे।

देहेऽस्मिन् पुरुषः परः।

उस पुरुषकी भी कक्षा होती है एक जाग्रतको मेरा कहनेवाला पुरुष, एक स्वप्नको मेरा कहनेवाला पुरुष, एक सुषुप्तिको मेरा कहनेवाला पुरुष। जब जाग्रत पुरुष विलीन हो जाता है, स्वप्न देखनेवालेमें, तो जाग्रत पुरुषसे परे स्वप्न पुरुष हो जाता है और जब स्वप्न देखनेवाला पुरुष, सुषुप्तिवाले पुरुषमें विलीन हो जाता है—तब चैतन्य ही रह जाता है। चैतन्य तो एक होता ही है। तो जरा उसकी तलाश करनी चाहिए कि जो देहको मेरा कहता है, वह कौन है? जो स्वप्नको मेरा कहता है वह कौन है? जो सुषुप्तिको मेरा कहता है वह कौन है? और

आप निश्चित समझो कि हमारा ज्ञान तबतक बिलकुल अधूरा है जबतक हम केवल जाग्रत अवस्थाको ही परमार्थ मानकर, सत्य मानकर विचार करते हैं। अपने जीवनके दो हिस्सेको, जिसमें हम सोते हैं, वह भी विचारणीय है। जिसमें हम स्वप्न देखते हैं, वह भी विचारणीय है। जो तीनोंमें एक रहता है वह भी विचारणीय है। 'देहेऽस्मिन् पुरुषः परः' का अर्थ है कि यह देहरूप पुरुष नहीं अथवा अपनेको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, हिन्दू, मनुष्य माननेवाला पुरुष नहीं है अथवा अज्ञान दशामें सोकर अज्ञानको अपना माननेवाला पुरुष नहीं है। वह पुरुष जो इन सबसे परे है, जिसको सातवें अध्यायमें अपरा प्रकृति, पराप्रकृति और पन्द्रहवें अध्यायमें क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष कहा गया है, क्षर पुरुषसे परे अक्षर पुरुष है और अक्षर पुरुषसे भी परे पुरुषोत्तम है। वही उत्तम पुरुष इस शरीरमें रहता है और उसके अनेक नाम हैं। और वह नाम कहीं गवाहके रूपमें है; सब कुछ देख रहा है, तो उपद्रष्टा है; कहीं मन बुद्धिको अनुमति दे रहा है, उनकी हाँ-में-हाँ मिला रहा है तो अनुमन्ता है। कहीं उनको भरण-पोषण दे रहा है तो भर्ता है, कहीं उनसे सुखकी उपलब्धि कर रहा है तो भोक्ता है, कहीं सबपर नियन्त्रण कर रहा है तो महेश्वर है। भोग लेना भोक्ता-व्यवहार दशामें होता है और महेश्वर तो ऐश्वर्यकी दशामें होता है। यही जो इसी शरीरमें परम पुरुष है, वह परमात्मा है।

मुझको क्या तू ढूँढ़े बन्दे मैं तो तेरे पासमें।

जो इसी शरीरमें है और सबके शरीरमें है। जूँएँके शरीरमें भी है। खटमलके शरीरमें भी है। पेड़-पौधेके शरीरमें भी है। पशु-पक्षीके शरीरमें भी है। वह परमात्मा जो शरीरके भेदसे भिन्न नहीं होता। विज्ञान वह है जो एक वस्तुसे अनेक वस्तु तैयार कर दे। और दर्शन, तत्त्वज्ञान वह वस्तु है जो सम्पूर्ण अनेकतामें एकताका दर्शन कर ले। इसलिए विज्ञान जहाँ संघर्ष, वैमनस्यकी सृष्टि करता है, अपना-पराया बनाता है, वहाँ तत्त्वज्ञान अपने-परायेका भेद मिटाकर परम शान्ति देता है। इसी शरीरमें जो परम पुरुषकी खोज है, वह बहुत आसान है और साक्षात् अपरोक्ष है। अपरोक्ष है माने स्वर्गादिके समान नहीं है और साक्षात् है माने उसमें मनकी कल्पनाकी भी जरूरत नहीं है। ऐसा यह सत्य इसी शरीरमें है और इसको कठिन नहीं कहना चाहिए।

प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्। 9.2

इस आत्माका आप प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं और 'कर्तुंसुसुखम्। बड़ी आसानीसे कर सकते हैं। ये दोनों बातें गीतामें ही हैं।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते। 6.28

बड़ी आसानीसे मनुष्य ब्रह्म-संस्पर्श कर सकता है। दुनियाके साथ जोड़नेमें जितनी कठिनाई पड़ती है; व्याह करनेमें जितनी कठिनाई पड़ती है, मित्रको निभानेमें जितनी कठिनाई पड़ती है, जाति, सम्प्रदायको निभानेमें जितनी कठिनाई पड़ती है, उससे बहुत अधिक आसान है—'अस्मिन् देहे' कहनेका यही अभिप्राय है।

इसी गूड़िके कूड़ेके ढेरमें-मेरा हीरा हेराय गयो।

इस देहके कचरेमें एक बहुमूल्य हीरा पड़ा हुआ है और हम उसको पहचान नहीं पाते। देख नहीं पाते

हैं। यदि सत् और असत्, मृत और अमृत दोनों ही परमात्मा नहीं होगा तो जीवनमें समत्व आ ही नहीं सकता। जीवन-मरण दोनों परमात्मा है। और जिसको दुनिया अपनी दृष्टिसे सत्-असत् बोलती है वह भी परमात्मा है। मजहबी लोगोंने अपना सत्-असत् कुछ अलग बना रखा है, जातिवादी लोगोंने अलग बना रखा है; राष्ट्रवादी लोगोंने अलग बना रखा है। अपने-अपने विचार, अपनी-अपनी मति, अपनी-अपनी कल्पनाके अनुसार लोगोंने सत्-असत् और मृत्यु-अमृतका भेद बना रखा है। वस्तुतः यह भेद परमात्मामें नहीं है। यह बात तेरहवें अध्यायमें—

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ 13.28

तेरहवें अध्यायके अन्तमें जो 2-3 श्लोक हैं उनमें सत्-असत् और मृत्यु-अमृतकी समता अपने आप ही आजाती है। भगवान्ने मरते हुए लोगोंको दिखाया कि मुझमें ही प्रवेश कर रहे हैं और जो रह रहे हैं उनको भी अपनेमें ही दिखाया। भगवान्के शरीरमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड प्रकट हो रहे हैं, रह रहे हैं, नष्ट हो रहे हैं। वे ज्यों-के-त्यों है। सत्-असत्, मृत-अमृत—ये सब परमात्माके स्वरूप हैं। कहीं भी अपनेको परमात्मासे विमुख नहीं करना। सब जगह परमात्माको देखना। अलगसे भी मृत्यु अपनेको बताया हुआ है।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्। 10.34

ऐसा जीवन व्यतीत करना चाहिए जिससे अपनी समता भङ्ग न हो। जैसे पार्ट करते हैं, कभी खलनायकका और कभी नायकका, कभी चोरका, कभी साहुकारका लेकिन पार्ट करनेवाला एक ही रहता है, इसी प्रकार यह सब भगवान्की लीला है और उसको देखते हुए अपना जो अभिनय है, उसको पूरा करना चाहिए। जन्म, मृत्यु, सत्-असत् ये सब परमात्माका स्वरूप है और इसी शरीरमें उपद्रष्टा, अनुमन्ता आदिके रूपमें माने सर्वरूपमें वह रह रहा है।

प्रश्न : पर पुरुष और क्षेत्रज्ञ ये तो अलग सत्ताएँ हैं या दो स्थितियोंमें एक ही तत्त्वके दो नाम हैं? पर पुरुष यदि भर्ता, भोक्ता है तो क्या वह सुख-दुःखसे आबद्ध भी होता है?

उत्तर : यहाँ भोग शब्द जो है वह जैसे भोजनका भोग होता है या स्त्री-पुरुषका भोग होता है, वैसा भोग दर्शनशास्त्रमें नहीं माना जाता। भोग माने होता है, यह सुख है-ऐसे ज्ञानका ही नाम सुख है या दुःख है ऐसे ज्ञानका ही नाम दुःख है। पहले पहचान बना लेते हैं—ऐसा हो तो सुख है—ऐसा हो तो दुःख है और बिलकुल अलग-अलग बनाते हैं। हमारा जब कान छिदवाया गया था तब मैं तो रोया और कर्णवेध संस्कारका उत्सव मनाया गया। तो अपने-अपने ढङ्गसे लोग सुख-दुःखकी कल्पना करके उसको जमा लेते हैं अपने मनमें। और उसका जब ज्ञान होता है तो उस ज्ञानका नाम ही भोग होता है।

भोक्तृत्वं नाम उपलब्धृत्वम्।

शंकराचार्यने टीकामें कहा—भोग माने उपलब्धि-अन्तमें हमें सुखकी संवित् हुई या दुःखकी। इसलिए परमात्माके भोगका अर्थ यह नहीं है कि जैसे पराधीन जीव सुख भोगकर हँसता है और दुःख भोगकर

रोता है। ज्ञान मात्र जिससे सुख और दुःख दोनों प्रकाशित होते हैं उसीको दर्शनशास्त्रमें भोग मानते हैं। परमात्मा ही ज्ञान-स्वरूप है। इसलिए दर्शनमें भी वही है, अनुमन्तृत्वमें भी वही है, भतृत्वमें भी वही है, भोक्तृत्वमें भी वही है, माहेश्वर्यमें भी वही है और सबसे परे रहकर सब कुछ होते हुए भी वही आत्माका परम स्वरूप है, परम आत्मा है—परम मधुर है, शुद्ध है। यह शुद्ध परमात्माका स्वरूप शुद्ध ही रहता है और बाकी सब उपाधिके द्वारा आता है।

प्रश्न : ध्यानयोग, सांख्ययोग और कर्मयोग क्या एक ही फल प्रदान करते हैं? और क्या श्रुति-परायण उपासक भी वही फल पाते हैं? फिर ज्ञान या भक्तिकी महत्ता क्या है? इस श्लोकमें 'अन्येभ्यः' (25) और 'श्रुतिपरायणाः' (25)का क्या अभिप्राय है।

उत्तर : देखो; एक तो मुख्य मत है भगवान् श्रीकृष्णका—

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते। 13.12

मैं वह ज्ञेय तुम्हारे अनुभवमें लाना चाहता हूँ 'प्रवक्ष्यामि' 'वह' धातुसे भी बनता है और 'वच्' धातुसे भी बनता है, भूय धातुसे भी वक्ष्यामि क्रियापद बनता है। भगवान्ने 'प्रवक्ष्यामि' इस उत्तम पुरुषकी क्रियापदका प्रयोग करके यह बताया कि मेरा मत यह है कि 'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते'। ज्ञेय वह है जिसके ज्ञानमानसे ही अमृतमें व्याप्ति हो जाती है। स्वयं मनुष्य अमृत हो जाता है। यहाँ 'अश्नाति' क्रियापद नहीं है। 'अश्नुते' है। अमृतका भोग नहीं होता है, अमृत्वकी प्राप्ति नहीं होती है। और उस ज्ञेयका निरूपण किया, 'अनादिमत्परम् ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते'। अब मतान्तरका उल्लेख करते हैं। मुख्य मत है—यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते' जिसको अनुभव करनेके लिए कुछ करना नहीं पड़ता—न कर्म, न उपासना, न योग, न ध्यान। केवल ज्ञानमात्रसे कृतार्थता। यह तो है गीताका मुख्य मत। अब गौणमतका जो वर्णन है,

'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना'। 13.24

यह 'केचिद्' जो है वह मुख्य मतसे पृथक् करनेके लिए है।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिद् आत्मानं आत्मना।

कोई-कोई लोग ऐसे होते हैं जो 'आत्मनि,' आत्मना, 'आत्मानं' ध्यानेन पश्यन्ति। अपने अन्दर अपने आपसे, अपने आपको ध्यान द्वारा देखते हैं। देखो इसमें देखनेका अधिकरण भी आत्मा ही है और करण भी है 'आत्मना' और कर्म है 'आत्मानम्'। अपने आपमें, अपने आपके द्वारा अपने आपको देखते हैं। माने अपने हृदयमें ही शुद्ध मनके द्वारा अपने शुद्ध स्वरूपका दर्शन करते हैं और यह कैसे होता है? ध्यानके द्वारा। जिनको ज्ञानसे प्राप्ति नहीं हुई, माने शुद्ध ज्ञान नहीं हुआ, उनके लिए 'केचित् ध्यानेन पश्यन्ति'। कोई-कोई ध्यानके द्वारा देखते हैं। 'अन्ये सांख्येन योगेन'—यहाँ भी 'अन्ये' है। एक नम्बर हुआ ज्ञान, दो नम्बर हुआ ध्यान और तीन नम्बर हुआ सांख्ययोगका विचार। यह प्रकृति है, यह पुरुष, यह दृश्य है, यह द्रष्टा है। 'अन्ये सांख्येन योगेन'—विचारके द्वारा। और चार नम्बर कर्मयोग। 'कर्मयोगेन चापरे'। अब पाँचवा नम्बर आया।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते। 13.25

ध्यानयोग, विचारयोग, कर्मयोग यह तो पौरुष है। लेकिन जो यह पौरुष भी नहीं कर सकते हैं वे 'अजानन्तः'—जो सर्वथा अज्ञानके, ध्यानके, विचारके और कर्मयोगके भी अज्ञानी हैं, उनके लिए क्या उपाय है? 'श्रुत्वान्येभ्य उपासते'। उन्हें ज्ञानी पुरुषोंसे श्रवण करके वैसी उपासना करनी चाहिए—श्रद्धा विश्वासपूर्वक।

तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः। 13.25

वे यदि अपने श्रवणके अनुसार ठीक-ठीक साधन करते हैं तो वे भी मृत्युको पार कर जाते हैं। माने मृत्युकी असत्ताको समझ जाते हैं। मौत तो है ही नहीं। मिट्टीकी मृत्यु नहीं होती। घड़ा फूटता है। जलकी मृत्यु नहीं होती, लहर शान्त होती है। अग्निकी मृत्यु नहीं होती, ज्वाला उठना बन्द हो जाता है। वायुकी मृत्यु नहीं होती, साँसका भीतर आना-जाना बन्द होता है। असलमें किसी भी तत्त्वकी मृत्यु होती ही नहीं। इसलिए जो तत्त्वकी दृष्टिसे संसारका, आत्माका, परमात्माका विचार करता है, उसकी दृष्टिमें मृत्यु कहीं मिलती ही नहीं है। इसलिए यदि श्रवणमें भी निष्ठा हो, और अपनेसे जो तत्त्वके अधिक जाननेवाले हैं उनकी बात सुनकर, वैसी उपासना की जाय, तो उनका भी कल्याण हो जाता है। पर श्रोतामें श्रद्धा, विश्वासकी अधिकता होनी चाहिए। एक बहुत बड़ी सम्पत्ति श्रोतामें है। और कर्मयोगमें अनुष्ठान होना चाहिए। और सांख्ययोगीमें द्रष्टा-दृश्यका उत्कृष्ट विचार होना चाहिए। और ध्यानयोगमें चित्तकी एकाग्रता होनी चाहिए। परन्तु इन चारोंके बिना भी जो शुद्धान्तःकरण पुरुष है वह तत्त्वज्ञानके द्वारा परमात्माके स्वरूपको चुटकी बजाते ही जान जाता है।

जिसकी बुद्धि शुद्ध है वह केवल सुनकर ही ग्रहण कर लेता है और नहीं तो बुद्धि कुन्द है, जेहन कुन्द है तो जिन्दगी भर सुनता रहेगा और उसको ग्रहण नहीं होगा। उसको असम्भावना मालूम पड़ेगी कि इतना उच्च कोटिका तत्त्व ऐसे कैसे मिलेगा? कुछ-न-कुछ तो करना चाहिए। क्योंकि कुछ किये बिना तो दुनियामें कुछ नहीं मिलता है, तो यह तत्त्व ही कैसे मिल जायगा। अरे बाबा, बिना कुछ किये ही अपना आपा मिला हुआ है। अपने आत्माकी जो सत्ता है, जो चित्ता है, जो आनन्द है वह कहीं कुछ करनेसे थोड़े ही मिलता है? वह तो मिला हुआ ही है।

ज्ञान मिले हुएको ही मिलाता है और मिटे हुए को ही मिटाता है। न ज्ञान 'है' को मिटाता है न 'नहीं' को बनाता है। ऐसी ज्ञानकी स्थिति है। इसलिए इन श्लोकोंमें ज्ञानकी निरतिशय महिमा बतानेके लिए इन चारोंमें तो कुछ-न-कुछ करना पड़ता है। परन्तु तत्त्वज्ञान जो है वह स्वयंमें परिपूर्ण है। उसमें न ध्यान, न विचार, न कर्मयोग और न तो श्रद्धा, विश्वास, मान्यता। सम्प्रदायोंमें मान्यता होती है। कर्मयोगमें निष्कामता होती है। विचारमें मिली हुई वस्तुओंको पृथक्-पृथक् करनेकी योग्यता होती है। ध्यानमें एकाग्रता होती है। परन्तु ये सब दूसरी वस्तुको पानेके लिए होता है। अपने आपको पानेके लिए तो ये केवल निमित्त मात्र होते हैं। अपना आपा मिला हुआ ही है। इसलिए भगवान्ने तेरहवें अध्यायमें अन्य मतोंका उल्लेख करके अपने मतकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया है। हाँ; अन्तमें विश्वास भी निष्काम कर्मयोगी बना देगा। निष्काम कर्मयोगी विचारवान् हो जायगा। विचारवान् भी ध्यानी हो जायगा। ध्यानीको भी ज्ञान हो जायगा। इसलिए यह स्वतन्त्र साधन नहीं है।

सब भगवद्-अभिमत उसीके अङ्ग हैं। हो सकता है कि यह बात आपको किसी दूसरी टीकामें न मिले। लेकिन इसका जो स्वयं-विमर्श है—अथवा स्वयं-प्रकाश है उसका स्वरूप यही है।

प्रश्न : मृत्युसे तरनेके जिन साधनों, पद्धतियोंका इस अध्यायमें वर्णन किया गया है, उनका अन्तर समझाते हुए यह बतलाइये कि इसमें गीताका झुकाव किस ओर और क्यों है? सामान्यजनके लिए इसमें व्यावहारिक कौन-सा साधन है?

उत्तर : मृत्युकी परवाह नहीं करनी चाहिए। जिसको अपने लक्ष्यसे प्रेम होता है, वह दाहिने, बायें, पीछे नहीं देखता है, वह तो केवल लक्ष्यको ही देखता है। 'नायं हन्ति न हन्यते'। न यह मारता है न मारा जाता है। यह आत्मा अविनाशी है। यह हमारे पौरुषके लिए कितनी बड़ी प्रेरणा है। जैसे एक पक्षी वृक्षपर टाँग दिया गया और दुर्योधनसे पूछा गया, क्या देखता है? दुर्योधन बोला—वृक्षकी डाली है-डालीपर पक्षी है—अरे भाई निशाना तो आँखमें लगाना है। बोला हमको सब दीख रहा है। कर्णसे पूछा गया—तुमको क्या दिखता है? बोला पक्षी दिखता है और उसकी आँख दिखती है। अर्जुनसे पूछा गया—तुमको क्या दिखता है? उसने कहा—हमको आँख दिखती है। आँखमें निशाना मारना है। लक्ष्यमें ध्यान इतना केन्द्रित हो जाना चाहिए कि उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु बुद्धिमें आये ही नहीं; जो डर-डरके पाँव रखेगा, घबड़ाकर पाँव रखेगा वह कहीं-न-कहीं लड़खड़ा जायेगा। जो चीज है ही नहीं उसके लिए डरकर आगे बढ़ना, यह भगवान्को सम्मत नहीं है। गीताका अभिप्राय यह है—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्। (23.7)

छोड़िये इसकी परवाह। आत्मा तो अविनाशी है। खुदीराम बोसका साथी बोला कि 'हमको यदि काला पानीकी सजा होती तो दस-बीस बरसकी और देर हो जाती। अभी तो हम, शरीर छूटेगा, दूसरा जन्म लेंगे और फिर देशकी स्वतन्त्रताके लिए काम करेंगे।' 'तस्मात् युद्धस्व भारत'। जन्म और मृत्युके चक्करमें पड़कर घबड़ाना नहीं। अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए प्रयास करना। आपका जो भी लक्ष्य हो; हमें लक्ष्यमें कोई आपत्ति नहीं है। अर्थ भी लक्ष्य हो सकता है; क्योंकि वह सत्ताका एक स्वरूप है। काम भी लक्ष्यका एक स्वरूप हो सकता है; क्योंकि वह भी आनन्दका ही एक रूप है। किसी वस्तुके रहस्यको समझना भी लक्ष्य हो सकता है; क्योंकि वह चित्तका ही एक स्वरूप है। और अपनेको समग्र रूपमें अनुभव करना भी लक्ष्य हो सकता है; क्योंकि वह भी पूर्णताका ही एक स्वरूप है। इसलिए अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमें किसी प्रकारकी जीवनमें हिचकिचाहट नहीं रहे, दुविधा नहीं रहे, उसकी प्राप्तिमें असंभावना नहीं रहे। हम निर्द्वंद्व होकर अपने लक्ष्यको प्राप्त करें। अनुभव करें, उसके लिए गीता जोर देती है।

साधनोंमें गीताका मत यह नहीं है कि मनुष्य जीवनभर कर्म-योग ही करता रहे, जीवनभर विचार ही करता रहे, जीवनभर ध्यान ही करता रहे, जीवनभर श्रद्धा ही करता रहे। इनमें गीताका तात्पर्य नहीं है। किसी भी साधनके द्वारा हम अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लें, इसमें गीताका अभिप्राय है। वह लक्ष्य कैसे प्राप्त होता है? अज्ञानसम्मोहका नाश होनेपर और सारी गीता अज्ञान-सम्मोहका नाश करनेके लिए कहती है—

वेदाविनाशिनं नित्यं (2.21) **यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।** (13.12)

इसलिए लक्ष्यके बारेमें कोई दुविधा नहीं होनी चाहिए और फिर निर्द्वन्द्व होकर उसकी ओर चल पड़ो।

प्रश्न : विनाशवानोंमें अविनाशीको समभावसे स्थित देख पाना किस तरह संभव होता है? ऐसा सच्चा द्रष्टा बननेमें क्या बाधाएँ हैं और किस साधनापथसे उसका निराकरण किया जा सकता है?

उत्तर : देखो यह जो विनाश है यह भी एक दृश्य है। जैसे सिनेमामें या नाटकमें किसी चीजका विनाश दिखाते हैं तो उस विनाशका तमाशा देखनेवाला भी होता है। यदि विनाश देखा न जाय, विनाशका अनुभव न हो तो विनाश नामकी कोई चीज है यह किसीको पता लगे ही नहीं। है एक ऐसा जो जाग्रतके सम्बन्धोंको देखता है। वस्तुओंको देखता है। जो स्वप्नको बनाकर देखता है। जो सुषुप्तिमें सबको मिटाकर देखता है। उस परमात्माका जो स्वरूप है वह इस प्रकार कहा गया है—

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ (13.28)

आप अपनेको दीन मत समझिये। अपनेको हीन मत समझिये। आप अपनेको असहाय मत समझिये। हमने गाँवमें देखा है, गाँजा पीनेवाला कोई आजाता है और उसकी धूनि जल जाती है तो दो-चार गाँवके गँजेड़ी गाँजा पीनेवाले इकट्ठे हो जाते हैं और उसको दण्डवत् प्रणाम करने लगते हैं। वह साधु पूजा जाता है। आप अपने मार्गपर चलिये। अपनेको असहाय मत समझिये। ईश्वर आपके साथ है। आप दीन-हीन नहीं हैं। आपमें नयी दुनिया बनानेकी शक्ति है। जो शक्ति विश्वामित्रमें नयी सृष्टि करनेकी थी वह आपमें भी है। जो निग्रह-अनुग्रहका सामर्थ्य वसिष्ठमें था वह आपमें भी है। जो परमेश्वर राम-कृष्णके रूपमें आया था, वह आपमें भी मौजूद हैं।

न हिनस्त्यात्मनात्मानम्।

आप अपने आपको स्वयं हीन मत समझिये, दीन मत समझिये। आपके अन्दर वह शक्ति है कि आप जो चाहें सो कर सकते हैं। ईश्वर हो सकते हैं आप! और ईश्वरत्वको छोड़ भी सकते हैं आप! इतना सामर्थ्य! ऐश्वर्यकी उपाधि छोड़ सकते हैं—हमारा संविधान है—आप राष्ट्रपति हो सकते हैं और राष्ट्रपतिका पद त्याग भी सकते हैं। आप प्रधानमंत्री हो सकते हैं और उसका त्याग भी कर सकते हैं। इसी प्रकार इस आत्माका ऐसा सामर्थ्य है कि संसारकी किसी भी वस्तुको यह प्राप्त भी कर सकता है और त्याग भी कर सकता है। अपनेमें जो हीनताका भाव है, दीनताका भाव है—गीता उसपर कहती है, 'न हिनस्त्यात्मनात्मानम्'। आप स्वयं अपने आपको हीन मत बनाइये। 'हिनस्ति'का अर्थ है—हीन न बनना। और आप अपने आपको दीन-हीन मत बनाइये। आप ईश्वरकी शक्तिसे भरपूर हैं। ईश्वरकी सहायता आपको प्राप्त है। ईश्वरकी बुद्धि प्राप्त है। और ईश्वरका ऐश्वर्य और आनन्द भी प्राप्त है। आप आगे बढ़िये और अपनी पूर्णताका अनुभव कीजिये। परमात्मा सबमें हैं। इसीसे आप देखते हैं कि हमारे यहाँ मछली भी

परमैश्वर्यशाली है— मत्स्यावतार। कच्छप भी परमैश्वर्यशाली है। एक मछली प्रलयके जलमें भी औरोंकी रक्षा कर सकती है। एक कछुआ समुद्र-मंथनके लिए—अमृतकी उत्पत्तिके लिए मंदराचलको अपनी पीठपर धारण कर सकता है। एक सूअर भी पानीमें डूबी हुई धरतीको निकाल सकता है। एक घोड़ा भी अपनी हिनहिनाहटसे वेदका ज्ञान दे सकता है। एक नृसिंह भी बड़े-से-बड़े अत्याचारीका दमन कर सकता है। आप मनुष्यके रूपमें हैं। जो शरीर रामका था, जो शरीर कृष्णका था, जो शरीर परशुरामका था अथवा शान्तिकी दृष्टिसे जो शरीर बुद्ध का था, वही मानव शरीर आपको प्राप्त है। आप अपनेको दीन-हीन न समझें; जो अर्जुन धनुष-बाण छोड़कर रोनेको तैयार है, विषादग्रस्त हो गया है—वह अवस्था आपके जीवनमें नहीं रहनी चाहिए।

उत्तिष्ठत भारत, उठो! उठो खड़े हो जाओ। ओ प्रतिभाशाली पुरुष, उठ खड़ा हो। उठो जागो और अग्निका, प्रकाशका, आह्वान करो, अपने तेजको प्रकट करो।

न हिनस्त्यात्मनात्मानम्।

इसमें भगवान्का अभिप्राय है—

कच्चिदज्ञानसंमोह प्रनष्टस्ते धनंजय। (18.72)

मोहान्धकार दूर हो गया कि नहीं! कर दे दूर उसको।

प्रश्न : विनाशवालोंमें अविनाशीको देखनेकी क्षमता कैसे आवे?

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।

उत्तर : यह उपनिषद्में ही है—

अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्वस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ (क० .2.22)

अभीतक किसीने इस दिशामें प्रयास नहीं किया कि गीताके एक-एक श्लोकको उपनिषदोंमें-से निकाल लें। जो उपनिषदोंमें है वही गीतामें है।

वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः। (15.15)

कहके बताया गया है। शरीर अलग-अलग होते हैं परन्तु माटी तो सबमें एक होती है न! पानी तो सबमें एक होता है न! यह तत्त्व है। माटी, पानी यह तत्त्वज्ञानकी परम्परा है और आँख, कान, हाथ-पाँवकी बनावट जो है यह आकृतिकी परम्परा है। नाम तो अलग-अलग एक ही चीजके रख दिये जाते हैं। एक ही पानीके न जाने कितने नाम होते हैं। नाम भेदसे तो वस्तुभेद नहीं होता; परन्तु आकृतिके भेदसे, शकल-सूरतके भेदसे लोग तत्त्वमें अन्तर समझने लगते हैं। इसीको मिटानेके लिए यह बात बतायी जाती है कि माटी, पानी, आग, हवा, आकाश या ज्ञान-तत्त्व या सत्ता या आनन्द, इसमें कोई भेद नहीं है। ये जो भेदभावनाके कारण मनुष्य अपनेको कटा-पिटा समझ लेता है, यह समझ गलत है। इसके लिए क्रमसे विचार करें तो उपनिषदोंमें पंचीकरणका विचार है—अन्नमय, प्राणमय, कोशोंका विवेक है। तत्त्वोंके पंचीकरणका विवेक है। त्रिवृत्-

करणका विवेक है; अवस्थात्रयका विवेक है। विचारके बिना यह मालूम नहीं पड़ता कि सबमें एक ही परमात्मा है।

हमने तो एक दिन नीरजको गाते हुए सुना था—'सपने मिट-मिट जाते हैं जीवन नहीं मिटता है।' मिटनेको तो घड़ीकी एक-एक सेकण्ड मिटती जा रही है। मिनिट मिटते जा रहे हैं। प्रत्येक कण बदलता जा रहा है। क्या आपका बचपन नहीं गया? आपकी जवानी नहीं गयी? आपका अधेड़पना नहीं गया? आपका बुढ़ापा नहीं जा रहा है? तो सबमें आप एक हैं। सब नष्ट होता जा रहा है और आप वही-के-वही हैं। बचपनमें जो मैं खिलौनोंके साथ खेलता था और जवानीमें भोग करता था, और रोगी-अवस्थामें रोगका अनुभव किया, वहीं मैं बुढ़ापमें बुढ़ापेका अनुभव कर रहा हूँ। मैं एक-का-एक हूँ। देखो न! सबके विनाशका, अदर्शनका, लोपका—मैं द्रष्टा हूँ। संस्कृतमें विनाश शब्दका अर्थ होता है—अदर्शन—जो दिख रहा था वह अब नहीं दिख रहा है। जो मालूम पड़ रहा था वह नहीं मालूम पड़ रहा है परन्तु जिसको मालूम पड़ता है वह तो एक ही है न!

आपका अनुभव ज्यों-का-त्यों है यदि उसको जान लीजिये तो फिर तो कहना ही क्या है? इस सृष्टिमें कितने प्रलय आपके सामने होते रहते हैं। आप ध्यान नहीं देते, नहीं तो सचमुच आप अनुभव करते कि मिटनेवालोंमें आप ही, एक ऐसे हैं जो कभी नहीं मिटते हैं। और 'यः पश्यति स पश्यति'—जिसको यह बात नहीं दिखती है वह तो अन्धा है। जिसको यह दिखता है कि बदलाव वाली, नष्ट होनेवाली चीजोंमें परमात्मा एक है, आत्मा एक है, वही असलमें आँखवाला है, वही देखता है।

प्रश्न : आत्मा अकर्ता है और परपुरुष भर्ता-भोक्ता; क्या यह परस्पर विरोधी बात नहीं है।

उत्तर : जितनी बातें बोली जाती हैं वे कुछ समझानेके लिए ही बोली जाती हैं। अपनेमें ज्यों-का-त्यों उनका ग्रहण नहीं होता है। देखो, गीता कहती है कि आत्मा अकर्ता है,

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। (3.27)
यः पश्यति तथात्मानं अकर्तारं स पश्यति। (13.29)

सब लोग अपनेकी अकर्ता नहीं देख पाते। जो देखते हैं कि प्रकृतिके गुण कर्म कर रहे हैं, वे अपनेको अकर्ता अनुभव कर पाते हैं।

अहङ्कार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते। (3.27)

जो अपनेको कर्ता मानता है वह अहङ्कार-विमूढ़ात्मा है। अटक गया है अहङ्कारमें। अब यह पाप-पुण्यका जो दुनियामें चक्र है, जिससे साधारणतः कोई छूट नहीं सकता, उससे छुड़ानेके लिए कर्मको उपाधिके द्वारा किया हुआ बताते हैं। कर्म कहीं समाजके दबावसे होते हैं। वे पंचायती कर्म हो जाते हैं।

अधिष्ठानं तथा कर्ता। (18.14)

हुकुम मिल गया—सञ्चालकका। अब बोले भाई यह तो पार्टीका हुकुम है, इसको तो मानना पड़ेगा। वहाँ कर्ता हो गये। कर्ता न होनेपर भी अपनेको पंचायती मान लेनेसे कर्ता हो गये। भगवान्ने बताया—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः।
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वात् न स पश्यति दुर्मतिः॥ (18.14-16)

यह जो कर्ता है, इसको अपने कर्मका योग करना पड़ता है और वह भोक्ता भी है। इसीप्रकार ईश्वरके स्वरूपमें भी प्रकृतिके कर्तृत्वका आरोप करके, क्योंकि बिना ईश्वरके तो प्रकृति भी नहीं कर सकती—उसको कर्ता भी माना जाता है।

अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्तते। (10.8)

कभी-कभी पासवालेके कामको भी—सेनाकी जीत होती है और राजाकी जीत मानी जाती है। तो यह जो आत्मदेवकी सेना है यह कर्म भी करती है, भोग भी करती है, भरण-पोषण भी करती है। परन्तु सेनाके जो मालिक हैं—उनमें औपचारिक दृष्टिसे इसका आरोप होता है। नहीं तो ईश्वर कर्त्ता है या स्वभाव कर्ता है या प्रकृति कर्त्री है या प्रकृतिके गुण कर्ता हैं, या अज्ञान कर्ता है इसका निरूपण नहीं होता। भोक्तापन भी कर्तामें है।

न करोति न लिप्यते, नायं हन्ति न हन्यते। (2.4)

यह 'हन्यते' भोग है, 'लिप्यते' भोग है। सब-का-सब परमात्माके स्वरूपको समझानेके लिए है, क्योंकि उसीकी सत्तामें उसीकी दृष्टिमें सबका सब हो रहा है, इसलिए जहाँ हम बैठे हैं, वहाँसे उसमें आरोपित कर देते हैं और जब परमात्माके स्वरूपका अनुभव हो जाता है तो यह ज्ञात होता है कि उसमें न कर्म है, न भोग है, न विनाश है, न परिच्छिन्नता है। इसको अनिर्वचनीय कहते हैं। माने तत्त्व-दृष्टिसे न होने पर भी मनुष्य जहाँ बैठकर विचार करता है, वहाँसे ऐसा दीखता है। आकाश नीला न होनेपर भी जब हम आँखके द्वारा देखते हैं तब वह नीला मालूम पड़ता है। इसीप्रकार हम अपने जैसे अन्तःकरणको लेकर परमात्माके बारेमें सोचते हैं, परमात्मामें उन-उन भावोंका आरोप हो जाता है। और जब शुद्ध परमात्माका अनुभव करते हैं तब वह सब कुछ नहीं होता है। नित्य शुद्ध बुद्ध एकरस परमात्मा है।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजव्ययम्। (2.21)

अथवा और भी परमात्माका अनेक स्थानों पर वर्णन है। अभी आया है—

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।

कहीं-कहीं परमात्माके शुद्ध स्वरूपका वर्णन होता है और कहीं 'शाखाचन्द्र-न्याय' से। जैसे द्वितीयाके दिन चन्द्रमाको दिखानेके लिए किसीने कहा वह देखो पेड़! हाँ, देख रहे हैं—उसके ऊपरवाली शाखा। हाँ ठीक है, उसको भी देख रहे हैं। बोले, उससे दो हाथ ऊपर देखो वह एक चाँदीका हँसिया दीख रहा है? हाँ, उसीका नाम चन्द्रमा है। अब न पेड़से उसका कोई सम्बन्ध है, न डालीसे सम्बन्ध है, न दो हाथकी

दूरीसे सम्बन्ध है और न चाँदीके हँसियेसे सम्बन्ध है। परन्तु चन्द्रमाको दिखानेके लिए यह सब बोलना पड़ता है। कहीं-कहीं अज्ञानीको ज्ञान करानेके लिए परमात्मामें यह सब सृष्टि, स्थिति, प्रलय इनका आरोप करके परमात्माको एक बताया जाता है, अन्य कारणोंका वारण करनेके लिए और कहीं-कहीं परमात्माके शुद्ध स्वरूपका वर्णन होता है। इसलिए दृष्टि-भेदसे, अधिकारी-भेदसे, प्रकरण-भेदसे, वक्ताके भेदसे, श्रोताके भेदसे एक ही वस्तुको समझानेके लिए अनेक प्रकारकी प्रक्रिया स्वीकार करनी पड़ती है और खास करके गीता तो एक वस्तुको सिद्ध करनेके लिए प्राय: सभी दर्शनोंके सिद्धान्तको—यहाँ तकको चार्वाक-दर्शनके सिद्धान्तको भी स्वीकार करती है।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥ (2.26)

शोक-निवृत्तिके लिए भगवान्‌ने चार्वाकको भी नहीं छोड़ा। कह दिया कि बाबा, चार्वाक-मतमें भी शोक करनेकी जरूरत नहीं है। मीमांसा-मतमें भी नहीं, न्यायवैशेषिक-मतमें भी नहीं—सांख्ययोगमें भी नहीं। भक्तिमें भी नहीं। ये शोक, मोह, भय जो हैं, ये सिद्धान्तके आधार पर नहीं हैं। ये अज्ञानके आधारपर ही अपने जीवनमें आते हैं। यह गीताका कहना है।

●

आठवाँ दिवस

(4-11-84)

प्रश्न : भगवान्‌को अपनी बातपर या अपने कथ्यके महत्त्वपर श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिए ऋषियों, वेदोंके मन्त्रों और ब्रह्मसूत्रके पदोंका हवाला देनेकी आवश्यकता क्यों पड़ती थी?

उत्तर : भगवान् कहते हैं कि जब मैं भी वेदोंपर और ऋषियों पर श्रद्धा करता हूँ, तो तुम भी करो। अपनी श्रद्धाका हवाला देकर, वे दूसरोंके चित्तमें वेदों और ऋषियोंके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना चाहते हैं, क्योंकि भगवान् हमेशा प्रकट नहीं रहते हैं। कभी-कभी अवतार लेते हैं। और वेद और ऋषि तो हमेशा रहते हैं। यदि लोगोंकी श्रद्धा वेदोंपर और ऋषियोंपर नहीं रहेगी—सब भगवान्‌को ही ढूँढने लगेंगे कि वे बोलें तब श्रद्धा करेंगे तब तो श्रद्धाका ह्रास अथवा विनाश ही हो जायेगा। इसलिए भगवान् केवल अपने वचनपर ही नहीं, वेदों और ऋषियों पर भी श्रद्धा उत्पन्न करवाते हैं।

शिव पुराणमें एक कथा है—जब भीष्म पितामह अपने पिता शान्तनुके लिए पिण्डदान कर रहे थे, तो वहाँ जलमें-से हाथ निकल आया। हाथ किसका है? पिताजीका है। भीष्मने पिण्डदान रोक दिया। हाथमें पिण्ड रख लिया और ब्राह्मणसे पूछा—'शास्त्रमें हाथमें पिण्ड देनेका विधान है या कुशावली वेदीपर?' ब्राह्मणने बताया कि कुशावली वेदीपर ही पिण्डदानका विधान है। तो भीष्म पितामहने कहा कि मैं हाथ पर पिण्डदान नहीं करूँगा। मैं तो शास्त्रमें जैसा लिखा है वैसा ही पिण्डदान करूँगा, क्योंकि बादमें जब लोगोंका पिण्डदान करना होगा और कहेंगे कि हमारे पिताका हाथ प्रकट हो तब पिण्डदान करेंगे तो पिण्डदानकी पद्धतिका लोप हो जायगा। इसलिए शास्त्रोक्त पद्धतिसे ही पिण्डदान करना चाहिए। हमारे शास्त्रपर, परम्परापर, ऋषियोंपर श्रद्धा बनी रहे, इसलिए भगवान् भी कहते हैं कि हम वेदों, शास्त्रों और ऋषियोंके अनुसार ही बोलते हैं। यह बात ईशावास्य उपनिषद्‌में भी है।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे। (10)

केनोपनिषद्‌में भी है।

इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे। (3)

केनोपनिषद्‌में भी यही वचन है। उपनिषद् भी कहते हैं कि हम ऋषियोंपर, धीर पुरुषोंपर, जीवन्मुक्तोंपर श्रद्धा करते हैं। भगवान् श्रद्धा करते हैं, उपनिषद् भी, वेद भी महात्माओंपर श्रद्धा करते हैं। इसलिए श्रद्धाकी सम्पदाको सर्वथा परोक्षपर नहीं डालना चाहिए। प्रत्यक्षमें जो महत्त्व-बुद्धि है, उसके आधारपर श्रद्धा होनी चाहिए। भगवान्‌ने इस परम्पराको बहुत बल दिया है।

प्रश्न : भूतोंके पृथक् भावको एकस्थ देखकर उसीसे सब भूतोंके विस्तारको देखनेका अभिप्राय क्या है? ऐसा करनेमें समर्थको ब्रह्मकी प्राप्ति क्यों हो जाती है?

उत्तर : पहले बताया कि सम्पूर्ण भूतोंमें सम रूपसे परमात्मा स्थित है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।

सम्पूर्ण पदार्थोंमें भूतका अर्थ होता है—'भवन्ति' जो भी कार्यके रूपमें पैदा होते हैं, उनका नाम होता है भूत। जो सबमें समरूपसे परमात्माको देखता है, वह तो ठीक देखता है—

यः पश्यति स पश्यति।

भगवान् कहते है कि और लोग देखते ही नहीं है। सब अन्धे हैं। जो सबमें स्थिति परमेश्वरको नहीं देखते वे सब अन्धे हैं। और फिर बताया कि जब सबमें परमेश्वरको समरूपसे देखने लगते हैं, तो जो सबमें है वह अपनेमें भी है। यह बात कभी-कभी भक्त लोगोंके ध्यानमें नहीं आती है कि हमको तो भगवान् कहते हैं कि चराचरमें भगवान् हैं। माने हमारी दृष्टिसे तुम भगवान् हो। इसका अर्थ यह है कि मैं तो सेवक हूँ—'मैं सेवक सचराचर रूपराशि भगवन्त' मैं सेवक हूँ और चराचर भगवान्का स्वरूप है। लेकिन जब दूसरा देखेगा—हम सैकड़ों लोगोंमें भगवान्का स्वरूप देख रहे हैं। परन्तु ये सैकड़ों लोग हमको क्या देख रहे हैं? यह भी तो सोचो! हमारी दृष्टिमें तुम भगवान् हो, तो तुम्हारी दृष्टिमें हम भी तो भगवान् हो गये न!

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥

जब तुम सबमें परमात्माको देखने लगोगे तो अपनेको भी परमात्माके रूपमें देखोगे और अपनेमें जो दीनता-हीनता-हाय-हाय मेरे पास यह धन नहीं है—यह जन नहीं है—यह शक्ति नहीं है—मैं यह नहीं कर सकता हूँ—इत्यादि अपनेमें जो असमर्थताका भाव है वह मिट जायगा। अब इसके बाद बताते हैं—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥

यह जो भूतोंमें पृथक्ता दिखायी पड़ती है, यह असलमें आपात दृष्टिसे ऐसा मालूम पड़ता है कि यह सब अलग=अलग हैं। देखो, आकारमें भी हम देखें तो सबकी आँख आगेकी ओर हैं और दो-दो हैं—कितनी समानता है। कान दोनों बगलमें हैं। आँखसे सामने देखो, कानसे अगल-बगलकी भी सुन लो—नाकसे सूँघो, जीभसे बोलो, ज्ञानेन्द्रियोंका प्रवाह सामनेकी ओर है और सबके है। ऐसे सबके शरीरमें माटी है, पानी है, आग है, हवा है—जितनी कठोरता है शरीरमें वह माटीकी है, जो द्रव है वह पानीका है, जो परिपाक होता है, वह अग्निका है, जो चेष्टा होती है वह वायुकी है, जो सबके शरीरमें अवकाश है वह आकाशका है। सबके मनमें जो-जो संकल्प होता है वह मनका है; जो विचार होता है वह बुद्धिका है, जो सबका साक्षी है, वह अपना आत्मा है। यह सबके लिए एक-सी ही बात है। ऐसी स्थितिमें यह जो पृथक्-भाव दिखायी पड़ता है, यह केवल उन रेखाओंसे बना हुआ है जो बिन्दु-बिन्दु होते हैं और अपनेमें लम्बाई-चौड़ाई दिखाती हैं। और बिन्दु वह होता है जिसमें लम्बाई-चौड़ाई नहीं होती है। यह चित्र बनाते हैं—क्या है? रेखाओंका ही तो विस्तार है न! यह शकल-सूरतका, नामका जो भेद है, यह बिलकुल ऊपरी है। और धातु एक है। आपने देखा होगा, सोनेके पत्रमें ठप्पा मार देते हैं और उसमें गणेशजीकी मूर्ति, शंकरजीकी मूर्ति उभर आती हैं। यह आँख है, सूँड है, यह मुकुट है,

यह लड्डू है। यह हाथ है, यह पाँव है। छोटे-छोटे पाँव होते हैं, गणेशजी बौने है। पेट बड़ा है, लम्बा है—लम्बोदर हैं। है क्या? वे रेखाएँ जो उसमें उभरीं, उसमें पेट अलग कर दिया, पाँव अलग कर दिया और हाथ अलग कर दिया, सूँड़ अलग कर दिया—लड्डूको अलग बना दिया, आँख अलग बना दिया—है क्या? वह दरअसल है सब-का-सब सोना! जब उस एकपर दृष्टि जाती है तो उनमें चूहा और गणपति दोनों एक हो जाते हैं।

ऐसी कहानी सुनी थी—बचपनमें कि एक सज्जनके घरमें सोनेके गणेश और चूहा दोनों अलग-अलग थे। पहले तो पूजा होती थी, पर संकट हुआ तो बेचनेके लिए गये। व्यापारीने तौला, देखा तो जितना वजन गणेशका, उतना ही वजन चूहेका! उसने दोनोंकी एक कीमत बता दी। उसने शकलकी, सूरतकी, रेखाओंकी, कटिंगकी, कोई कीमत नहीं रखी। सोना बराबर, कीमत दोनोंकी बराबर। सज्जनने कहा—ऐसा कैसे हो सकता है? ये स्वामी हैं गणेश और यह सेवक है चूहा! दोनोंकी कीमत एक कैसे? व्यापारी बोला हम यह सब नहीं जानते। हम सोना जानते हैं।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।

जितना अलगाव दुनियामें मालूम पड़ता है वह एक ही माटी, एक ही पानी, एक ही आग, एक ही हवा, एक ही आकाश, एक ही मन, एक ही बुद्धि और एक ही आत्मा, एक ही परमात्मामें ये सारे-के-सारे भेद मालूम पड़ते हैं। इसीसे वेद भगवान्की प्रतिज्ञा है कि एक वस्तुको यदि ठीक-ठीक जान जाओ तो—

अस्मिन्, श्रुते मते, विज्ञाते सर्वं श्रुतं, मतं, विज्ञातं भवति।

यदि उस एकके बारेमें तुम्हारी जानकारी ठीक-ठीक हो जाय तो तुम सबको सुन लोगे, सबको समझ लोगे, सबका अनुभव कर लोगे। ऐसा एक तत्त्व है। जब एकमें सबको देखेगा और यह देखेगा कि उसीमें यह सारा विस्तार है। जैसे सूतका विस्तार वस्त्र है, और है सब-का-सब सूत। वस्त्रमें ऐसे ढंगसे सूतको बैठाते हैं कि उसमें गाँधीजी दिखने लगते हैं। हाथमें डण्डा हैं। एक पाँव आगे एक पाँव पीछे। डांडीकी यात्रा कर रहे हैं। और है केवल वह सूतोंका एक प्रकारका विन्यास। और सूत क्या है? रेशे है? रेशे क्या है? बिनौलामें-से निकले हैं। बिनौला क्या है? संस्कार-विशिष्ट पंचभूत हैं। जब हम मूलका अनुसन्धान करते हैं तो मालूम पड़ता है कि जो जगत्का मूलतत्त्व है, उपादान है, वही सबके रूपमें है। तब हमें ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, ऐसा नहीं है। 'ब्रह्म संपद्यते तदा—उस समय हम ही ब्रह्म हो जाते हैं। जहाँ यह बात मालूम पड़ी, कि एकका यह सारा विस्तार है—

तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।

जो-जो 'अनुद्रष्टा' है, 'एकस्थम् अनुपश्यति' जिसने एकमें सबका अनुभव कर लिया, वही 'ब्रह्म सम्पद्यते' वही जो विधाता है, अदृष्ट द्रष्टा है, अश्रुत-श्रोता है, अविज्ञात-विज्ञाता है वही ब्रह्म हो जाता है। इस प्रकार भगवान्ने विचारशीलके लिए भेदभावका सर्वथा निषेध कर दिया। भेद जो है यही मृत्युका कारण है। जो एकत्व देखता है—

अथ सोऽभयं गतो भवति। (तै० प० 2.7.1)

उसको अभयकी प्राप्ति हो जाती है और;

उदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवति।

जो थोड़ा-सा भी भेद करता है, उसको दूसरेसे भय होता है।

द्वितीयाद् वै भयं भवति। (वृहदा० 1.4.2)

इसलिए एकत्व-दर्शनपूर्वक अपने आपको ब्रह्मके रूपमें अनुभव करना, यह भगवान्‌के वचनका तात्पर्य है।

प्रश्न : पुरुषको और गुणोंके साथ प्रकृतिको क्या साथ-साथ जानना पड़ता है? क्या इनको अलग-अलग भी जाना जा सकता है? एवं 'वेत्ति' का अर्थ क्या है? उन्हें जान लेनेके बाद सर्वथा वर्तमान रहनेवाला ज्ञाता फिर क्यों नहीं पैदा होता?

उत्तर : य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥

पुरुषका वर्णन किया पहले क्षेत्रज्ञके रूपमें।

एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।

प्रकृतिका वर्णन किया क्षेत्रके रूपमें। अब ये हो गये दोनों प्रकृति और पुरुष। और 'एवं वेत्ति'का अर्थ है—

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥
सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥

जब उसको 'अचरं चरमेव च, ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम्'—इस प्रकार प्रकृति और पुरुष—दोनोंको—परमात्मासे अभिन्न जान लेते हैं, तब 'सर्वथा वर्तमानोऽपि'—चाहे वह दत्तात्रेयके समान स्वच्छन्द विचरण करें, चाहे वसिष्ठके समान ज्ञानोपदेश करें, चाहे जनकके समान राज्य करें, चाहे श्रीकृष्णके समान रास-विहार करें—'सर्वथा वर्तमानोऽपि'—उनके बरतावमें कहीं भी भेदभाव नहीं होता—चाहे जैसे रहें; लेकिन ब्रह्मसे एकता हो जाने पर पुनर्जन्मकी प्राप्ति नहीं होती। माने बारम्बार अहंभावमें परिवर्तन नहीं होता। पुनर्जन्मका अर्थ यह है कि मैं पहले गृहस्थ-जन्म था; फिर संन्यासीका भाव आया तो संन्यासी-जन्म हो गया; जब पापीका भाव आया तो पापी-जन्म हो गया; जब पुण्यात्माका भाव आया तो पुण्यात्मा-जन्म हो गया। जन्म माने देशसे देशान्तरमें या आकारसे आकारान्तरमें या कालसे कालान्तरमें जानेका नाम जन्म नहीं है। भावसे भावान्तरका होना ही जन्म है। जिसको अपने ब्रह्मत्वका बोध हो जाता है, उसको फिर मैं जीव हूँ, मनुष्य हूँ, हिन्दू हूँ, ब्राह्मण हूँ, संन्यासी हूँ,

पापी हूँ, पुण्यात्मा हूँ, इस प्रकारका भावोदय उसके चित्तमें नहीं होता है। उसने वस्तुतः अपने परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका साक्षात्कार कर लिया है। जन्म जैसा लोकमें प्रसिद्ध है, वैसा नहीं होता। दिनभरमें कई बार पुण्यात्माके रूपमें, कई बार हम पशु हो जाते हैं—किसीको काटना चाहते हैं तो सर्प हो जाते हैं। खा जाना चाहते हैं तो शेर हो जाते हैं। यही जन्म है, जो हमारे मनमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है—आता-जाता रहता है। जब अपने स्वरूपका सच्चा बोध और अनुभव हो जाता है तो भाव-परिवर्तनकी वहाँ गुंजाइश नहीं होती। सत्यका साक्षात्कार हो जाता है। चाहे जैसे हैं—रोते हैं, गाते हैं, धरतीपर लोटते हैं, सब कुछ भूल जाते हैं, सब कुछ याद रखते हैं। लेकिन अपने स्वरूपमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं पड़ता है। महात्मा लोग एक भावकी दृष्टताको ही—साक्षात्कारको ही—पुनर्जन्मसे मुक्ति मानते हैं। नहीं तो दिनभरमें चौदह जन्म होगा और चौदह मृत्यु होगी। कभी दुःखी होंगे, कभी सुखी होंगे, कभी रोयेंगे, कभी हँसेंगे। उन सबमें जो एक है, उसका साक्षात्कार हो गया तो चाहे जो होता रहे।

'सर्वथा वर्तमानोऽपि' 'किं पुनः अवर्तमानः'?

और यदि वह समाधिमें ही रहे और यदि वह निश्चित रूपसे परमात्मारूपमें ही रहे तब तो कहना ही क्या है? कोई भी बरताव उसके लाभ-हानिका हेतु नहीं हो सकता।

'हत्वाऽपि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते।
'न करोति, न लिप्यते' 'कुर्वन्नपि न लिप्यते'—
नायं हन्ति न हन्यते'।

सारी गीतामें यही बात बतायी हुई है।

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।

योगीके लिए बताया—

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।
'सर्वथा वर्तमानोऽपि'—

गीतामें दो बार आया है। वह तो परमात्मामें ही है। उसके लिए जन्म-मरण सब परमात्म-स्वरूप ही है।

प्रश्न : पुरुष और प्रकृतिको क्या अलग-अलग भी जाना जा सकता है? क्या यह सम्भव है कि हम केवल प्रकृतिको जानें, पुरुषको न जानें या केवल पुरुषको जानें और प्रकृतिको न जानें, या दोनोंको साथ-साथ जाना जाता है?

उत्तर : ऐसा है कि विवेक दशामें (विवेक माने अलग-अलग करना) पहले संप्रज्ञात समाधि लगती है। वह स्थूल आलम्बनको लेकर भी होती है और सूक्ष्म आलम्बनको लेकर भी होती है। आलम्बनके बिना समाधि नहीं होती। सम्प्रज्ञात समाधि बिना आलम्बनके नहीं होती। तीसरी समाधिमें आनन्दका आलम्बन रहता है। चौथी समाधिमें 'अस्मि' 'हूँ' केवल इसका आलम्बन रहता है। लेकिन विवेकख्याति न होनेके कारण यहाँ

****

द्रष्टा और दृश्य दोनों एक होते हैं। जब विवेकख्याति हो जाती है और असम्प्रज्ञात समाधि लगती है उस निरुद्ध दशामें प्रकृति परित्यक्त हो जाती है और द्रष्टा जो है वह उससे अलग हो जाता है। इसको विवेक कहते हैं। माने समाधि जो है वह सांख्योक्त तत्त्वोंका साक्षात्कार करा देती है—गुणों सहित प्रकृति यह दृश्य-कक्षामें निरुद्ध हो गयी है और द्रष्टा चेतन उससे बिलकुल अलग रहता है। सिद्धान्त है सांख्यका और उसके अनुभवकी प्रक्रिया के रूपमें योग है। ऐसे ही वैशेषिकके तत्त्व हैं और न्याय उनमें प्रमाण है। और ऐसे वेदान्तका तत्त्व है और उसमें मीमांसाके द्वारा अन्तःकरण शुद्धि—ये दो-दो दर्शन एक-एक जोड़ीके रूपमें होते हैं। यह प्रकृति-पुरुषका विवेक है, यह सांख्यका सिद्धान्त है और योग उस सिद्धान्तको अनुभव करानेवाली प्रक्रिया है। सो समाधि-दशामें सर्वथा ही द्रष्टा-दृश्यका पृथक्त्व हो जाता है। और कभी-कभी तो द्रष्टा अपने स्वरूपमें ऐसा अवस्थित होता है कि प्रकृति और गुणोंका पता ही नहीं चलता कि वे हैं।

दृश्यका दर्शन ही नहीं होता, 'विवेक' माने पृथक्करण भी होता है। दोनोंकी पृथक्-पृथक् अवस्थिति भी होती है और अज्ञान-दशामें जब देहसे एक हो करके रहते हैं तो द्रष्टाका पता नहीं चलता है। सुषुप्ति कालमें जिसको विवेक नहीं है उसको द्रष्टाका पता नहीं चल सकता। और समाधि कालमें जहाँ द्रष्टा स्वरूपमें अवस्थित है, वहाँ प्रकृतिका पता नहीं चल सकता। तादात्म्यकी दशामें दोनोंकी पृथक्ता रहती है और निर्विकल्प, निर्बीज समाधिमें आत्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु प्रतीत ही नहीं होती है। परन्तु वेदान्त इन दोनोंसे विलक्षण है। ये साधनाके साथ सम्बन्ध रखनेवाली बातें हैं, इसलिए साधारण लोगोंकी बुद्धिमें इसका आना जरा कठिन पड़ता है। अविवेकीके लिए शरीर ही है, आत्मा नहीं है—जैसे चार्वाकके लिए—और विवेकी के लिए व्यवहार दशामें भी देह और आत्माका पार्थक्य है और समाधि दशामें उसकी अपने आपमें स्थिति है। आत्मा ही है—दृश्य नहीं है। परन्तु ये सब चित्तकी दशाएँ है। तत्त्व दृष्टिसे जो विवेचन है वह बिलकुल दूसरा होता है। इसलिए व्यवहार दशामें एकता है, विवेक दशामें पृथक्ता है और अनुभव दशामें अद्वितीयता है। इस तरहसे

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।

× × ×

कृष्णो भोगी शुकः त्यागी।

कृष्ण भोगी हैं, शुक त्यागी हैं। 'नृपौ जनक-राघवौ'—जनक और रामचन्द्र राजा है। 'कर्मनिष्ठा वसिष्ठाद्या'। वसिष्ठ आदि कर्मनिष्ठ हैं। इनके ज्ञानमें कोई फर्क है? नहीं, ज्ञानमें कोई फर्क नहीं हैं। पुरुष और प्रकृतिको गुणोंके साथ जो जान लेता है—माने दोनोंका प्रकाशक जो एक ज्ञान है—एकत्वका ज्ञान जिसको प्राप्त हो जाता है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।

इसमें प्रधानता 'वेत्ति'की है, न पुरुषकी है, न प्रकृतिकी है, न गुणोंकी है।

'एवं' माने 'अचरं चरमेव च'।

****

****

सूक्ष्मत्वाद् तदविज्ञेम्, ज्ञानं, ज्ञेयं, ज्ञानगम्यम्।

इस प्रकार जो जान लेता है,

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।

उसका शरीर चाहे जैसा रहे, वह धरतीपर लोट रहा हो, हाय-हाय कर रहा हो लेकिन—

ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः (परमार्थसार 81)

वह ज्ञानी पुरुष ज्ञान होते ही मुक्त हो गया है और उसको रोना, गाना, हँसना, लोटना-पोटना, सब अपना स्वरूप ही मालूम पड़ता है और जैसे एक अभिनेता घावका अनुभव करता है और प्रेमका अनुभव करता है—और उसका अभिनय करता है, लेकिन है वह एक-का-एक, इसी प्रकार तत्त्वज्ञको उस स्वरूपकी प्राप्ति हो गयी है कि उसकी जो मरजी होती है, सो नाट्य कर लेता है और अपने स्वरूपमें स्थित रहता है। और नाट्यमें तन्मय भी हो जाता है। एक नाटकका वर्णन मैंने सुना था कि बंगालमें कोई 'नील दर्पण'-नाटक हो रहा था। और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर उसको देखनेके लिए गये थे। नाटकमें अंग्रेजने एक भारतीय स्त्रीके साथ छेड़छाड़ की तो ईश्वरचन्द्र विद्यासागरको इतना क्रोध आया कि यह भूल गये कि नाटक है और वह चढ़ गये मञ्चपर और लेकर जूता, उस अंग्रेज बने हुए पात्रको पीटना शुरू कर दिया। परदा गिरा, मैनेजर आया। धन्य है कि आज हमारा नाटक इतना सफल हुआ कि ईश्वरचन्द्र विद्यासागरने भी उसको सच्चा समझ लिया। ज्ञानी लोगोंको कोई भी नाटक करनेमें किसी प्रकारकी दुविधा नहीं होती है। और वे अपने स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं। इसलिए 'सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते'।

प्रश्न : परमात्मा शरीरमें रहकर अलिप्त है, अकर्ता है, फिर भी सर्वलोक-प्रकाशक है, यह कैसे संभव है?

उत्तर : अनादित्वात्, निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति, न लिप्यते।।

यह आत्माका जो परम रूप है, जैसे गुड़का परम रूप शक्कर है, शक्करका परम रूप मिश्री है, मिश्रीका परम रूप ओला है, ओलाका परम रूप कन्द है। कन्दकी प्रथा सर्वत्र नहीं है और ओला भी काशीमें तो हमको मिल जाता था—पर सब जगह न मिले। जितना-जितना शुद्ध करते जाते हैं गुड़को-उतना ही उतना शुद्ध रूपसे प्रकाशित होता जाता है। गुड़की मैल निकालते जाओ, निकालते जाओ अंततोगत्वा वह शुद्ध ग्लुकोजके रूपमे, माधुर्यके रूपमें रह जायेगा। इसी प्रकार आत्माके साथ हम लोगोंने जो बाहरकी चीजें जोड़ रखी हैं—हम धनी है, हम हाकिम हैं, हम विद्वान् हैं, हम समाधिमान् हैं।

यह सब बाहरसे आयी हुई चीजें अपने साथ जोड़ी हुई हैं। शुद्ध करनेका अर्थ हुआ, इनको अपने अन्दरसे हटाकर, शुद्ध अपना स्वरूप रह जाय। फिर क्या होगा? अब सोचें कि हमारा जन्म कब हुआ? अपना जन्म अनुभवके क्षेत्रमें नहीं होगा। किसीको यह मालूम नहीं है कि हमने अपना जन्म होते देखा है। और किसीके भी अनुभवके क्षेत्रमें मृत्यु नहीं है कि हमने अपनेको मरते देखा है। जो अपनेको जन्मते देखेगा वह

****

जन्मके पहलेसे होगा और अपनी मृत्यु देखेगा वह मृत्युके बादमें भी रहेगा। इसलिए हड्डी-मांसका जन्म-मृत्यु भले ही होता है पर अनुभवका जन्म और मृत्यु नहीं होता। अनुभव तो अनादि होता है। और अनादिके साथ-साथ उसमें सत्त्व, रज, तम ये गुण नहीं होते हैं। यहाँतक कि दया और क्रोध, राग और द्वेष, सुख और दुःख, ये भी गुण ही हैं। ये भी उसमें नहीं होते हैं। इसलिए जिसका जन्म होता है, उसका तो व्यय होता है, वह धीरे-धीरे घिस जाता है।

अरे बुढ़ापा तोरे मारे हम तो अब नकियाय गये रे!

व्यय होता है उसका, जो जन्मता है। उसकी शक्ति खर्च होती जाती है। लेकिन जिसका जन्म ही नहीं है, जिसकी मृत्यु ही नहीं है, और जिसमें ये सत्त्व, रज, तब जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति—अवस्था ही नहीं है। उसमें व्यय होनेका घिसनेका, पुराना पड़नेका, उसकी मरम्मत करनेकी कोई जरूरत नहीं पड़ती है। अब वही आत्मा, वही परमात्मा, आत्माका वही परमरूप, वही शक्कर, मिश्री, ओला, कन्द, ग्लुकोजका शुद्ध रूप।

परमात्मा माने हमारी आत्मा ही अमिश्रित, शुद्ध-स्वरूप। उसीको बोलते हैं परमात्मा। जैसे मधुरका परम मधुर। इसी प्रकार ज्ञानका परम ज्ञान। उसीका नाम होता है परमात्मा। और वह ऐसा है कि न उसमें कभी जन्म हैं, न कभी 'अस्ति' पदका विषय है, न कभी वृद्धि है, न अपक्षय है, न विनाश है। षड्भाव विकारोंसे रहित यह आत्माका स्वरूप है। सो 'शरीरस्थोऽपि' जब शरीरमें है तब भी वह न तो कोई पाप-पुण्य करता है और न उसके साथ लिप्त होता है। माने शुद्ध आत्मा जो है, वह न कर्ता है, न भोक्ता है। इसलिए न उसको पाप-पुण्य लगता है, न उसमें कभी सुख-दुःख होता है। आत्माका स्वरूप ऐसा ही है। न वह पापी है, न पुण्यात्मा है, न राग करता है, न द्वेष करता है। न नरकमें जाता है, न स्वर्गमें जाता है। न वह कटता है न पिटता है।

न करोति न लिप्यते।

वह सर्वदा अखण्ड रूपमें ही रहता है। उसमें किसी प्रकारका विकार नहीं है—प्रकार भी नहीं है, संस्कार नहीं है। आकारसे, प्रकारसे, और संस्कारसे रहित अपना आत्मा है। इसमें पाप-पुण्य, राग-द्वेष, सुख-दुःख, आना-जाना, कटा हुआ और पूरा ये भेद इस आत्मामें नहीं होते।

न करोति न लिप्यते।

प्रश्न : ऐसे आत्माका शरीरस्थ होनेका क्या प्रयोजन है? और वह सर्वलोक प्रकाशक कैसे हो जाता है?

उत्तर : जान-बूझकर कोई अपनेको गरीब नहीं बनाता। गरीब हो ही जाता है। किसी दिन आपको सुनाया होगा—मैं अलिफ या ब क्लासमें पढ़ता था और जोड़ना था हमको 8 और 6=14 बतानेकी जगह हमने अपनी पटरी 13 लिख दिया। इन्स्पेक्टरने पूछा कि यह तुमको किसने सिखाया है कि 8 और 6 तेरह होता है। अब बताओ क्या बतायें? बेवकूफी सिखायी नहीं जाती है। बेवकूफी अपने अन्दर रहती है। और वह दूर करनेपर दूर हो जाती है। यह जो शरीरमें स्थिति है, यह तो इस समय हमको प्राप्त है—हम शरीरस्थ हो रहे हैं। परन्तु शरीरस्थ होनेपर भी, इससे छूटनेका उपाय सोचो। जब साँप सामने आता है, तो यह मत सोचो कि यह

किस जातिका है। यह मत सोचो कि यह विषैला है कि निर्विष है। पहले उसको झटक दो, वह जाकर दूर गिर पड़े। जब हमसे दूर हो जाय तब सोच लेना कि यह कहाँसे आया है। असलमें यह हमारा आत्मा जन्मसे लेकर अबतक अपनेको शरीर समझता रहा है—हमने अपनेको शरीर समझा है। किसने समझाया, इससे कोई मतलब नहीं। अब हमें विवेक करना है।

अज्ञान अनादि होता है मतलब अज्ञान आगन्तुक नहीं होता। सिखाया हुआ नहीं होता। यह तो ऐसा है जैसे एक दिन कर्णसे किसीने पूछा-तुम कौन हो भाई? बोला—मैं राधाका बेटा हूँ। था तो वह कुन्ती-पुत्र। लेकिन सुनते-सुनते उसको यह भ्रम हो गया था कि मैं राधेय हूँ—राधाका पुत्र हूँ। अब उस राधाके पुत्र बने हुए कर्णको कुन्ती-पुत्र बननेमें कितनी देर है वह असलमें कुन्ती-पुत्र ही है और लोगोंके सिखाने-पढ़ानेसे अपनेको राधाका पुत्र मानता है। जहाँ उसका भ्रम मिटा, भ्रम मिटनेके बाद एक भी क्रिया नहीं करनी पड़ेगी उसको कुन्ती पुत्र होनेके लिए।

इसी प्रकार हम रतनगढ़में रहते थे तो हमको लगता था कि जो हनुमानपार्क है और हनुमान-पुस्तकालय—वह जहाँ हम भाईजीके घरमें रहते हैं—वहाँसे पूर्व दिशामें है। और जो गुरुकुल-ऋषिकुल है वह पश्चिम दिशामें है। भुवालकाजीका घर दक्षिण दिशामें है। स्टेशन उत्तर दिशामें है। परन्तु हमारी समझमें धीरे-धीरे सूर्योदय, सूर्योस्त देखकर आ गया कि हमको दिग्भ्रम है। दिग्भ्रममें पूर्व पश्चिम नहीं हो जाता, पश्चिम पूर्व नहीं हो जाता। अपनी बुद्धिका ही भ्रम होता है। इसी प्रकार जो अशरीरी है, उस आत्माको शरीरमें स्थित होनेका भ्रम हो गया है कि यह शरीर मेरा है। यह शरीर मैं हूँ। यह शरीर सच्चा है। इसके बिना मैं रह नहीं सकता हूँ। जब आत्मज्ञान होता है (जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण बता रहे हैं) अर्थात् अनादि, निर्गुण, अव्यय, अविनाशी, आत्मदेवका जब ज्ञान होता है, तब जाना जाता है कि न शरीर मेरा है, न शरीरवाला मैं हूँ। अब उसमें शरीरके द्वारा जो कर्म होते हैं, उनमें न तो कर्तापनेका भय होता है और न तो भोक्तापनेका भ्रम होता है। वह छूट जाता है। असलमें यह एक भूल ही है जिनमें यह सारी दुनिया दुःख पा रहा है। यदि यह भूल मिट जाये तो दुःख होनेका कोई कारण ही नहीं है।

प्रश्न : फिर यह सर्वलोक-प्रकाशक है, ऐसा कहनेका क्या अर्थ है?

उत्तर : माने हम आत्माके बारेमें दो चीज बताना चाहते हैं। एक तो जो कुछ मालूम पड़ता है वह। आत्माको माने अपने आपको। ईश्वर है यह भी अपनेको मालूम पड़ता है और दुनिया है यह भी मालूम पड़ता है, अपने आपको। एक तो हम यह बताना चाहते हैं कि जितना भी ज्ञान होता है, जितना भी प्रकाश है, वह आत्माका ही है। और दूसरी बात यह बताना चाहते हैं कि जैसे सूर्य अलग रहकर सबको दिखाता है, ऐसे हमारा ज्ञान, आत्मा अलग रहकर नहीं दिखाता। बल्कि अपने अन्दर ही सबको दिखाता है। इसका अर्थ हुआ दृश्य होते हैं, उसमें माँ, बाप, भाई, बन्धु, पत्नी, मित्र, शत्रु, अच्छा-बुरा जो कुछ स्वप्नमें होता है, वह मुझसे मालूम पड़ता है और मुझमें ही मालूम पड़ता है।

स्वप्नमें एक पचास वर्षका आदमी मिला और उसका दस वर्षका बेटा है। न बेटा दस वर्षका है, न

आदमी पचास वर्षका है, यह अभी मालूम पड़ता है। बेटेका वजन बीस पौंड है और बापका वजन पचास पौंड है। असलमें न वह पचास पौंड है न बीस पौंड। इसी प्रकार एक छोटा लगता है—लम्बाईमें बहुत कम है। और एक बड़ा लगता है छः फुटका, सात फुटका। लेकिन वहाँ लम्बाई-चौड़ाई सब मुझमें है। वहाँ वजन मुझमें है। वहाँ उसकी उम्र मुझमें है। उम्र दिखानेवाला भी उसको देखनेवाला भी, बाप-बेटेको दिखानेवाला प्रकाशक भी मैं हूँ और उनका आधार—जिसमें वे दिख रहे हैं वह अधिष्ठान भी मैं हूँ। इसी प्रकार यह समझानेके लिए जो संसार दीख रहा है, इसका प्रकाशक भी आत्मा है और इसका अधिष्ठान भी आत्मा है। यह दुनिया ऐसे स्वप्रकाश सत्-अधिष्ठानमें दिख रही है जिसमें न इसकी उम्र है, न लम्बाई, न चौड़ाई है, न वजन है—अपने अभावके अधिकरणमें दीखनेके कारण यह बिना हुए ही दिख रही है। यह दो बात समझनेके लिए यहाँ भगवान्‌ने एक साथ ही दो दृष्टान्त दिये हैं—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।।
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।।

एक आकशका दृष्टान्त है: जैसे आकाशमें सब हैं वैसे आत्मामें सब हैं। जैसे सूर्य सबको प्रकाशित करता है वैसे आत्मा ही सबको प्रकाशित करता है। माने आत्मा वह सत्ता है जिसमें सबके आकारकी रेखाएँ खिंचती हैं—और आत्मा वह प्रकाश है जिसमें यह सब कुछ मालूम पड़ता है। ज्ञानकी ऐसी महिमा है कि मालूम पड़े तो सुख, मालूम पड़े तो दुःख, मालूम पड़े तो ईश्वर, मालूम पड़े तो जीव, मालूम पड़े तो जाना, मालूम पड़े तो पुण्यात्मा, मालूम पड़े तो आना, मालूम पड़े तो पापी, मालूम पड़े तो छोटा, मालूम पड़े तो बड़ा। इस प्रतीतिका इतना महत्त्व है कि बौद्धों ने तो सारी सृष्टिको ही 'प्रतीतिके समुत्पाद' के रूपमें निरूपण किया। पहले मालूम पड़ता है, फिर होता है, यह एक प्रक्रिया है। पहले होता है फिर मालूम पड़ता है, यह दूसरी प्रक्रिया है। पर मालूम पड़ना और होना दोनों एक साथ ही हैं, यह तीसरी प्रक्रिया है। मालूम पड़ना और होना दोनों ही केवल अज्ञान विजृम्भित हैं और मालूम पड़ना और होना दोनों अपने आत्माका स्वरूप ही है—यह पाँचवी प्रक्रिया है।

इस प्रकार सृष्टिके रहस्यको समझनेके लिए लोग अपना जीवन खपाते हैं—जैसे व्यापारी व्यापारके लिए, शिकारी शिकारके लिए, भोगी भोगके लिए, संग्रही संग्रहके लिए अपने समग्र जीवनको समर्पित कर देता है, इसी प्रकार जो अपने समग्र जीवनको सत्यके चिन्तनमें और साक्षात्कारमें लगा देते हैं, उन लोगोंको यह मालूम पड़ता है कि यहाँ कुम्हार और माटी दो नहीं हैं। यह जो घड़ा दिख रहा है वह कुम्हार और माटी दोनों एक ही चीज है—एक तेजस् तत्त्व है, उसीसे पानी बना, ऊष्मासे ही जल बना और जल ही माटी बना। सब तेजस् तत्त्व ही है। परन्तु उसी माटीसे घड़ा बन गया। घड़ेमें पानी रख दिया और पानीमें सूर्य जो तेजस् तत्त्व है उसका प्रतिबिम्ब मालूम पड़ने लगा। यह आत्मापर परमात्माका जो भेद है वह बिम्ब-प्रतिबिम्बके दृष्टान्तसे या आभासके दृष्टान्तसे

या अवच्छेदके दृष्टान्तसे या दृष्टि-सृष्टिके दृष्टान्तसे स्वप्नके समान समझाया जाता है। यह नहीं कि परब्रह्म परमात्मा कोई अवच्छेद है या बिम्ब-प्रतिबिम्ब है या कोई आभास है, या कोई दृष्टि-सृष्टि है। यह सब प्रक्रिया परमात्माको समझानेके लिए है। जो यहाँ जिसमें दीख रहा है, वह भी परमात्मा है और जिससे दीख रहा है वह परमात्मा है। और यह दीखता और दिखाना ये दोनों हमारे आत्माका ही स्वरूप है।

यह बतानेके लिए उपर्युक्त दोनों श्लोक यहाँ बोले गये हैं। और आकाशका दृष्टान्त देकरके दोनोंकी एकता—'अधिष्ठान सत्' और 'प्रकाशक चित्'—ये सत् और चित् दोनों अलग-अलग नहीं हैं। यदि दोनों अलग-अलग होवें तो बेमजा हो जायेगा बिलकुल। चित्‌के बिना सत् सिर्फ जड़ रह जायेगा। चितिसंज्ञाने धातुसे चित् शब्द बनता है। यदि होश न हो तो केवल बेहोशी, मूर्च्छा जड़ता रहेगी। और यदि सत् न हो तो चित् क्षणिक हो जायेगा-वह टूट-टूटकर मर-मरके-क्षण-क्षणमें पैदा होता रहेगा। चित्‌की क्षणिकता भी अनुभवके विरूद्ध है और सत्‌की जड़ता भी अनुभवके विरुद्ध है। इसलिए सत् आकाश और चित् प्रकाशक सूर्य इन दोनोंकी एकता बतानेमें ही अभिप्राय है। आकाशमें ही सूर्य दिखता रहता है। दिखता है, प्रकाशता है। आकाशसे ही एक होता है। यह सच्चिदानन्द परमात्माकी एकता बतानेके लिए दृष्टान्त है।

प्रश्न : अनुभवका जन्म-मरण नहीं होता तो अनुभव होता किसका है? अनुभव है क्या? क्या अनुभव और आत्मा एक ही है?

उत्तर : 'अनु' माने पीछे 'भव' माने होना—'भवनं भवः।'

अनु पश्चाद् भवनं—अनुभवः।

जो सबके पीछे रहकर सबको प्रकाशित करे उसका नाम अनुभव। ज्ञानकी पराकाष्ठा। लेकिन भव जोड़नेके कारण यह भी सत्ता हो गया। 'भू' धातु जुड़नेके कारण तो यह सत्ता हो गया और 'अनु' जुड़नेके कारण यह ज्ञान हो गया। इसलिए अपनी आत्माके अगर पीछे कोई है तो कल्पना मात्र है। और अपनी आत्माके सामने कोई है तो जीने-मरनेवाला है, आने-जानेवाला है। आने-जानेवाला भी अनुभव नहीं है और पीछे जो कल्पित है वह भी अनुभव नहीं है। अनुभव तो वह है जो आगे और पीछे, दोनोंकी कल्पनाको प्रकाशित करता रहता है। इसलिए, अनुभवका न जन्म है, न मरण है और न अनुभवमें परिवर्तन है। यदि परिवर्तन होवे तो उस परिवर्तनका जो अनुभव है, वह अपने आत्माका स्वरूप है। इसलिए अनुभवमें छः बातें नहीं होतीं। एक तो वह जन्मता नहीं है। दूसरा सामने आकर दृश्य नहीं होता। तीसरा बढ़ता नहीं है, चौथा घटता नहीं है। पाँचवा—बदलता नहीं है। छठा क्षीण नहीं होता है और अनुभवका विनाश कभी नहीं होता है।

जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति।

ये छः बातें अनुभवमें नहीं होती हैं। अनुभव अपने आत्माका ही स्वरूप है और एकरस है। चाहे कितना भी परिवर्तन हो, शरीर बदल जायगा, मन बदल जागया, पाप-पुण्य बदल जायगा, राग-द्वेष बदल जागया, ह्रास-विकास होता रहेगा। और ये जो आत्मदेव हैं—सर्वदा एकरस, सन्मात्र, चिन्मात्र, आनन्दमात्र रहते हैं।

●

****

नववाँ दिवस

(5-11-84)

सौ० जयश्री मोहता द्वारा समापन भाषण

पूज्य स्वामीजी महाराज,

आजके सत्रके बाद इस वर्षका यह अनुष्ठान समाप्त होगा। प्रवचन हो, अथवा जिज्ञासाओंके उत्तर, पूज्य श्रीस्वामीजीकी दिव्यवाणीका प्रभाव और आनन्द कुछ और ही है। गहरी-से-गहरी बातें अथवा ऊँचे-से-ऊँचे तत्त्वोंका विवेचन श्रीस्वामीजी महाराज इतने सरल और बोधगम्य तरीकेसे करते हैं कि श्रोता सहज हीमें मुग्ध हो जाते हैं। हमारे परिवारकी हार्दिक श्रद्धा और सादर प्रमाण ज्ञापित करते हुए और आभार मानते हुए पूज्य श्रीमहाराजजीसे निवेदन है कि, इधर वर्षों की परम्पराके अनुसार दीपावलीके बादके ये दिन प्रति वर्ष हमारे लिए सुनिश्चित और सुरक्षित रखें। ईश्वर आपको उत्तम स्वास्थ्य और दीर्घायु प्रदान करे और इसी प्रकार आप देशमें ज्ञान एवं प्रकाश प्रसारित करते रहें। आपके साथ विराजमान स्वामी श्रीप्रबुद्धानन्दजी महाराजकी उपस्थिति आयोजन-गरिमाको बढ़ाती है।

आप सभी देवियों और महानुभावोंने पधारकर इस सत्संगमें हमारा साथ दिया, हम आपके आभारी है। इस कार्यक्रममें जिन-जिन महानुभावोंने योगदान दिया, उनको भी हम धन्यवाद देते हैं और सबके मंगलके लिए ईश्वरसे प्रार्थना करते हैं।

× × ×

प्रश्न : प्रश्नोत्तरका जो पावन ज्ञान-प्रवाह चल रहा है, उसीके क्रममें एक प्रश्न है—'भूत-प्रकृति-मोक्ष' का तात्पर्य क्या है? क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके अन्तरके बोधके साथ-साथ उसे जाननेसे परब्रह्मकी प्राप्ति कैसे हो जाती है?

उत्तर : इस श्लोकमें जिसके बारेमें यह प्रश्न है, मानों तेरहवें अध्यायका सारा ही अर्थ एकत्र करके रख दिया गया है, और फलश्रुति भी कर दी गयी है। वैसे गीतामें तेरहवाँ ही अध्याय ऐसा है जिसमें तीन बार फलश्रुति आयी है।

मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।

जब मेरा भक्त क्षेत्र, ज्ञान-ज्ञेयको ठीक-ठीक जान लेता है तो मेरा स्वरूप हो जाता है। यहाँ अधिकारीकी प्रधानतासे है। दूसरी फलश्रुति है—

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।

यदि इसको ठीक-ठीक जान ले तो यह जो जीवनमें, मरणमें परिवर्तनकी कल्पना है वह छूट जाती है और निर्द्वन्द्व व्यवहार कर सकता है। आपको मालूम है कि यदि दुविधामें पड़े रहे और कोई व्यापार करें तो उसमें सफलता मिलना मुश्किल है। और दुविधामें पड़े हुए भोग करें तो उसमें भी सफलता मिलना, सुख मिलना मुश्किल है। और कोई धर्मका काम करें, उसमें भी दुविधा हो तो धर्म पूर्ण नहीं होता।

संदिग्धो हि हतो मन्त्रः।

****

****

बिलकुल निश्चयात्मक रूपसे सब कुछ करना चाहिए। यह तेरहवाँ अध्याय मनुष्यको अपना कर्म करनेसे—निर्द्वन्द्व-दुविधा रहित और निर्भय बना देता है। पहले बताया भगवत्प्राप्तिरूप फल। दूसरेमें बताया, इसी जीवनमें हम असंदिग्ध, निःसंशय होकर अपने सारे काम करें। यह छुट्टी कब मिलती है? जब यह ज्ञान हो जाता है। आप किधर भी चलिये दाहिने, बाँये, सामने, पीछे, ऊपर, नीचे अपने लक्ष्यपर पहुँच जायेंगे। 'सर्वथा वर्तमानोऽपि'—जैसे किसीको अमेरिका जाना हो तो चाहे जापानकी ओरसे जाय, चाहे यूरोपकी ओरसे—वह वहाँ पहुँच ही जायगा। इसी प्रकार जब परमात्मा सर्वरूप है, परमात्माके सिवाय और कुछ नहीं है तो वह साधनाके चाहे जिस रूपको स्वीकार करेगा वह परमात्माकी ओर पहुँच जायगा। तीसरी फलश्रुति यह है।

ये विदुः यान्ति ते परम्।

इसमें मोक्ष शब्दका भी प्रयोग है जो इसके पहले नहीं आया है। तेरहवें अध्यायमें इसी श्लोकमें मोक्षका प्रयोग है।

ये ज्ञानचक्षुषा क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः एवमन्तरं भूतप्रकृत्तिमोक्षं च विदुः, ते परं यान्ति, परम् ब्रह्म यान्ति।

जैसा कि इस अध्यायमें निरूपण किया गया है, उसमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ-खेत और खेतिहर किसान—यह शरीर क्षेत्र है, खेत है और इसमें पाप-पुण्यका बीज बोनेवाला किसान है—क्षेत्री और उसका फल उसको मिलता है सुख-दुःखके रूपमें, बन्धन-मुक्तिके रूपमें—समझ आवश्यक है—जैसे यन्त्र चलानेवालेको यन्त्रके एक-एक पुरजेका और उसमें बिजली दौड़नेका, उसमें काम करनेका पूरा-का-पूरा ज्ञान होना चाहिए। वैसे शरीररूप जो यह यन्त्र है इसको चलानेवाले को भी इसके बारेमें पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए, तब इसको ठीक-ठीक चला सकता है। यन्त्र क्या है? बिजली क्या है? ज्ञान क्या है? इसका अन्तर—सबमें जो वैलक्षण्य है—विशेष है वह क्या है? एककी पहचानसे दूसरेकी पहचान अलग है—अलग-अलग सबको पहचान लेना चाहिए।

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, सन्धान, चेतना, धृति ये सब इस शरीरमें विकार हैं और विकारके आधार हैं महाभूत—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और अहंकार जो सबको समन्वित करते हैं। हाथसे ग्रास उठाते हैं तो हाथ ग्रासको मुँहमें ही डाले—आँखके पास मक्खी आवे तो उसको हाथ जाकर हटावे। जो आँख और हाथ दोनोंको मेरा समझनेवाला है, वह मेरावाला अहंकार है। और उसमें जो बुद्धि है और उसमें सबके मूलमें एक ऐसी चीज है जो किसी इन्द्रियके द्वारा देखी नहीं जाती। उसको अव्यक्त बोलते हैं जो किसी इन्द्रियके द्वारा देखी नहीं जाती। उसको अव्यक्त बोलते हैं। यह है क्षेत्र—माने मशीनकी बॉडी क्या है इस बातको ठीक-ठीक समझना और उसको चलानेका ज्ञान और चलानेकी शक्तिका ज्ञान—यह जब होगा तो जैसे हम कोई मशीन ठीक-ठीक चलाते हैं—चाहे तो उसे उखाड़कर रख दें और फिर जोड़ लें। चाहे तो जहाँ चाहे उठाकर ले जावें-उसमें कुछ टूट जाय बिगड़ जाय तो उसको बना लें। ये सारी विधियाँ क्षेत्रको जान लेनेसे, शरीरको जान लेनेसे, आ जाती हैं। जो लोग यन्त्रके एक-एक पुरजेको नहीं जानते हैं, वे जरा-सी रुकावट पड़ जाने पर ही घबड़ा जाते हैं। और जो लोग उसके रहस्यको जानते हैं उनको कोई घबड़ाहट नहीं होती।

****

****

यह रहा एक पुरजा और इस पर बैठा है क्षेत्रज्ञ—परन्तु क्षेत्रज्ञ कितना बड़ा है, जिसका पता लोगोंको नहीं चलता। आप क्या है? अपने स्वरूपको नहीं जानते हैं। कभी अपनेको नाना समझते हैं—कभी मामा, कभी पिता, कभी पुत्र, कभी भाई, कभी बहन। यह सब तो आप समझते हैं। लेकिन जो अविच्छेद्य मानवता आपके साथ लगी है, उसपर ध्यान नहीं जाता है। आप केवल नाना-नानी—मामा-मामी, बाप-बेटा, भाई-बहन नहीं है। आप केवल साले-बहनोई नहीं हैं, फूफा-फूफी नहीं है। एक मनुष्यता है आपके अन्दर जिसके बिना आप दूसरा कोई हो ही नहीं सकते। आप अपनेको हिन्दू तो मान बैठते हैं पर मानवको भूल जाते हैं। आप अपनेको मुसलमान मान लेते हैं—मानवताको भूल जाते हैं। तो व्यावहारिक दृष्टिसे मानवता है ब्रह्म और उसमें जितने रिश्ते, नाते हैं—चाहे तो जातिके हों, चाहे सम्प्रदायके हों, चाहे परिवारके हों—वे सब कल्पित हैं।

एक दृष्टिसे आप पिता हैं, दूसरेकी दृष्टिसे पुत्र हैं। तो अनिर्वचनीय हो गया। न आप केवल पिता हैं न केवल पुत्र हैं, न केवल मामा हैं, न नाना हैं लेकिन आप मनुष्य जरूर हैं। इसी प्रकार जब अपने स्वरूपका ज्ञान होता है तो आप पाप-पुण्यके करनेवाले हैं। सुख-दु:ख भोगनेवाले हैं, नरक-स्वर्गमें जानेवाले हैं, एक टुकड़े हैं, कतरा है। लेकिन एक चीज ऐसी है, एक सत्ता ऐसी है, एक ज्ञान ऐसा है, एक आनन्द ऐसा है जिसके बिना आप और कुछ है ही नहीं। जब आप हैं तब सब कुछ है। आप अपने प्यारे हैं तब सब कुछ हैं। यह जो अपना आपा है जिसके बिना दूसरा कुछ हो ही नहीं सकता, उसको भूल जाते हैं। उस क्षेत्रज्ञको माने शरीररूपी जो खेत है, इसका जो जाननेवाला है उसको जानना—तब होगा जब कुछ साधन होगा। कुछ निवृत्ति होगी, कुछ भजन होगा। इसलिए अन्तमें यह बताते हैं कि—

'ये तु ज्ञानचक्षुषाः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयो एवम् अन्तरं, भूतप्रकृतिमोक्षं च विदुः।'

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका अन्तर करो। अपनेको मामा, नाना, चाचा सारेसे एकबार अलग करो। मनुष्यके रूपमें समझो। यह समझमें कैसे आयेगा?' 'ज्ञानचक्षुषा'। अपनेको ब्रह्मरूपमें समझो। यह कैसे आयेगा? 'ज्ञानचक्षुषा'। इसके लिए साधन है, शास्त्र, आचार्य, सत्संम्प्रदायके द्वारा जो आपको सत्-ज्ञान मिला है उसकी आँखसे इसको दिखये। रंगीन चश्मेसे नहीं देखिये। शुद्ध चश्मेसे देखिये। हमको किसीने बताया था कि सूर्यकी रोशनीमें कोई रंग नहीं है। लेकिन जितनी रोशनी गढ़ी गयी है, बल्बकी, दीपककी, उनमें कोई-न-कोई रंग होता है। एक ज्ञान ऐसा होता है जिनमें कोई संस्कार नहीं है विकार नहीं है, प्रकार नहीं है, आकार नहीं है। एक ऐसा ज्ञान होता है जिसमें कोई चिन्ता नहीं है, कोई व्याधि, रोग नहीं है। कोई समाधिकी एकाग्रता नहीं है और उपाधिका अन्य पदार्थ उपाधिरूप जुड़ा हुआ है। आधि, व्याधि, समाधि, उपाधि इनसे रहित एक ज्ञान होता है। उस ज्ञानसे जब हम किसी चीजको देखते हैं तब बिलकुल ठीक-ठीक देखते हैं। और चश्मोंपर रंग चढ़ाकर देखते हैं, तो क्जिस रंगसे चश्मेको रंग देंगे, उस रंगकी वह चीज दीखने लगेगी।

इसलिए 'ज्ञानचक्षुषा'का अर्थ है कि आप अपने मनगढ़न्त जो विकार और संस्कार है उनसे मुक्त रहकर ज्ञानदृष्टिसे जब आप देखेंगे तो यह शरीर अलग रह जायेगा। 'ज्ञानचक्षुषा' कहनेका एक अर्थ यह भी है कि सचमुच डंडेसे मारकर या चाकूसे काटकर शरीरको अलग करना नहीं पड़ेगा। ज्ञानसे ही अलगाव मालूम

****

****

पड़ जायगा कि शरीर क्या है और हम क्या हैं! यह बात समझनेकी है फिर यह जो क्षेत्रज्ञ है यह सबके शरीरमें एक है। 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'। बड़ी अद्भुत बात है यह कि सबके शरीरमें माटी तो तत्त्व रूपसे एक है और जल भी तत्त्व रूपसे एक है और ऊष्मा भी तत्त्व रूपसे एक है और ऊष्मा भी तत्त्व रूपसे एक है—वायु भी। हम सब लोग एक ही हवागें सांस लेते हैं। आकाश भी सबमें एक है और उस आकाशको अपने अन्दर भान करानेवाला जो चेतन है वह एक है; इसमें तो कोई शंका ही नहीं है। जब हमारे और आपके शरीरकी हवा एक है, एक हवामें हम साँस लेते हैं और आकाश एक है तो आकाशसे भी सूक्ष्म उसको प्रकाशित करनेवाला चेतन तत्त्व है। वह आपसे—हमसे अलग हो ही कैसे सकता है? पहले देहमें-से चेतनको अलग समझिये, जानिये। और इसके बाद अद्भुत बात बतायी—'भूत-प्रकृतिमोक्षं च'—भूत और उनकी प्रकृतिको जानना चाहिए।

पहले हम लोगोंको महात्मा लोग सुनाया करते थे कि मशान चेतता है तो उसमें ऐसा लगता है कि भूत-प्रेत नाच रहे हैं, उनके घरमें ब्याह-शादी हो रही है—होता कुछ नहीं—लेकिन मालूम पड़ता है। इसी प्रकार ये जो भूत हैं—मिट्टी, पानी, आग, हवा, आकाश ये भूतकी तरह हैं। महादेव शिवजीके महाश्मशानमें ये बिना हुए ही हमारी इन्द्रियोंके दोषसे मालूम पड़ते हैं, यदि हमारी इन्द्रियाँ निर्दुष्ट हो जायँ या देखना पसंद न करें तो यह सारा श्मशानका खेल बन्द हो जायगा। महाश्मशान ज्यों-का-त्यों। भूतोंकी प्रकृति क्या है? उसका नाम है अविद्या—अज्ञान। असलमें एक सत्ताको न जाननेके कारण ही हमको भूतोंकी अलग-अलग सत्ता मालूम पड़ती है। तो भूतोंकी जो प्रकृति है—अविद्या, अज्ञान, नासमझी—जितना भी भेद-विभेद मालूम पड़ता है, जिसके लिए हम लड़ते हैं—वह सब हमारी नासमझीका खेल है—नहीं तो यदि स्वप्नावस्थापर विचार करें तो वहाँका जीना, वहाँका मरना, वहाँका सुख, वहाँका दु:ख, वहाँका ब्याह, वहाँका गौना, सब एक ही है। स्वप्नके दृश्य अलग-अलग मालूम पड़नेपर भी वस्तुत: एक ही तत्त्व के ताने-बाने हैं। यह बात कब मालूम पड़ती है? जब हम अभिमान छोड़कर, दम्भ छोड़कर, हिंसा छोड़कर, अपराधीके पीछे डंडा लेकर दौड़ना छोड़कर और छलकपट छोड़कर ज्ञानी सद्गुरूकी शरणमें जाते हैं तब यह मालूम पड़ता है। तो भूत-प्रकृति मोक्षका अर्थ यह है कि यह जो कार्य और कारण, भूत माने कार्य और प्रकृति, माने कारण, इन दोनोंका मोक्ष, मोक्ष माने दोनोंका छूट जाना, दोनोंको उसके अभावके अधिकरण परब्रह्म परमात्मामें देखना। यह दृष्टि जिसको प्राप्त हो जाती है वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार भक्तियोग बारहवें अध्यायमें 'धर्म्यामृत'का वर्णन किया और यहाँ तेरहवें अध्यायमें शुद्ध अमृतका वर्णन किया।

धर्मयुक्त अमृत माने धर्म्यामृत-साधन सहित अमृतका निरूपण और यहाँ फलात्मक अमृतका निरूपण किया। जो इसको जान जाते हैं उसको परम सत्य, परम तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है, नहीं तो लोग कुहासेमें घिर गये हैं और एक दूसरेको देखते नहीं हैं। एक दूसरेको पहचानते नहीं हैं। अपना हाथ भी अपनेको नहीं दिखता है—ऐसा घोर अन्धकार—और एक दूसरेको पुकारकर, बोल-बोलकर अपना व्यवहार चलाते हैं। देखता किसीको कोई नहीं—केवल जबानी जमा-खर्चमें लगे हैं, न धर्म समझे, न अधर्म समझे, न सुख जाने, न दु:ख जाने। यदि यही पूछें कि आप सुख किसको मानते हैं तो यह बता देंगे—इतना रुपया हो, ऐसी स्त्री हो,

****

ऐसा मकान हो और ऐसा भोग हो तो उसका नाम सुख है। सुख सब चाहते हैं परन्तु सुखको पहचानते नहीं हैं। दु:खसे परहेज करते हैं पर दु:खको पहचानते नहीं हैं। अपना-पराया मानते हैं पर अपने-परायेको पहचानते नहीं हैं। ऐसे घोर अन्धकारमें यह जीवन व्यतीत हो रहा है।

नीहारेण प्रावृता प्रजल्प्या:। (तै० स० 4.6.2.2)

कुहासेमें घिरे हुए हैं, केवल बकवाद करते हैं। इन्द्रियोंकी तृप्तिमें, खाने-पीनेमें फँस गये हैं। एक नौकरकी तरह मजदूरकी तरह अपने मनकी नौकरीमें लगे हुए हैं। ऐसी स्थिति लोगोंकी हो गयी है। परन्तु यदि अभिमान, दम्भ छोड़कर सद्गुरुकी शरण लेकर पवित्रतासे रहकर, स्थिर चित्तसे इन्द्रियोंको रोककर, यदि कोई इन इन्द्रियोंके पीछे रहनेवाले, **धियो यो न: प्रचोदयात्—**

इस सत्यको समझ जाय तो न केवल मोक्ष—मोक्ष माने संसारमें जितने संशय है, दुविधा हैं, उनसे छुटकारा, जितनी चंचलता है, विक्षेप है उनसे छुटकारा, नरक-स्वर्गसे छुटकारा कहीं जाना नहीं, आप जहाँ हैं, वहीं आप अपना पाँव जमा लीजिये और परब्रह्म परमात्मा सत्य प्राप्त है। अन्यथा जाना-आना लगा रहेगा एवं भटकना पड़ेगा। इसलिए ये जो हमारे उपनिषद्, गीता आदि शास्त्र हैं ये केवल मरनेके बादके लिए नहीं हैं। यह जो पुरोहितोंकी विद्या है, या मौलवियोंकी है या पादरियोंकी है या दस्तूरोंकी है या ग्रन्थियोंकी है, यह विद्या मरनेके बादके लिए है। और यह जो हमारी उपषिद्-विद्या है, अध्यात्म-विद्या है, यह इसी जीवनके लिए है कि हम कैसे काम करें, कैसे भोग करें, कैसे धर्म करें और सब कुछ करते हुए भी निर्द्वन्द्व, निर्भय, निर्मुक्त रहें। इसलिए—**ये विदु: ते परम् यान्ति।**

जो इसको जान लेते हैं और अपने बारेमें केवल जानना ही होता है। हम अपनेको छोड़ नहीं सकते, इसलिए छोड़नेका प्रयास मत कीजिये। अच्छा; हमको पाना नहीं है कि हम किसी प्रकारसे हमको पायें। हम तो मिले हुए ही हैं। जिसको छोड़ सकते नहीं और जो मिला हुआ ही है उसको तो जान लेनेसे ही कि यह नित्य, शुद्ध-बुद्ध, मुक्त है—परब्रह्म परमात्माका स्वरूप है, उसकी प्राप्ति हो जाती है। यहाँ 'भूत-प्रकृतिमोक्ष'का अर्थ यह है कि यह कार्यकारण रूप जो शरीर है, इससे विलक्षण रूपमें जब अपनेको जान लेंगे तो इसके सगे-सम्बन्धियोंमें फँसेंगे नहीं, इसकी आधि-व्याधिमें फँसेंगे नहीं। इसके रोग-रागमें फँसेंगे नहीं और निर्द्वन्द्व हो करके बिना पीछेकी ओर देखे, और बिना आगे पाँव फिसले, हमारे चलनेमें हमारा पाँव पीछे फिसल जाय तो भी गिरते हैं और आगे ज्यादा फिसल जायँ तो भी गिरते हैं और वहीं-का-वहीं गड़ जाय तो यात्रा ही बन्द हो जाती है। इसलिए इसको कहते हैं भूतकी चिन्ता, भविष्यका भय, भूतके लिए शोक, होनेवालेके लिए भय—इसको छोड़कर और वर्तमानमें कहीं भी मोह न हो—ये काले बाल हमारे हमेशा बने रहें—नहीं; जब काले होते हैं तब तो जवानी है। खूब उत्साहसे काम कीजिये और जब सफेद होते हैं तो आप बुजुर्ग हो गये—अनुभवी हो गये और अपने अनुभवसे लोगोंको शिक्षा दीजिये, उनको चलनेका रास्ता बताइये। काले बाल हैं तो आप उत्साही, नवजवान, कर्तव्य-परायण हैं—और सफेद बाल हैं तो आप अनुभवी हैं। सब बुजुर्गोंसे बड़े सब, अनुभवियोंमें श्रेष्ठ, आप सबको ज्ञान दीजिये। यह तो विद्या है।

ये विदु: यान्ति ते परम् यान्ति।

'अनुभवन्ति'। ज्ञानके साथ ही यह अनुभव हो जायगा कि संसारमें कोई ऐसा बन्धन नहीं है जो आपको बाँध सके, ऐसा कोई भय नहीं है जो आपको डरा सके। कोई ऐसा शोक नहीं है जो आपको हमेशाके लिए शोकग्रस्त कर सके। कोई ऐसा मोह नहीं है जो छूट न सके। 'चरैवेति चरैवेति' चलते चलो—चलते चलो! आगे मधु ही मधु है। 'चरन्वै मधुं विन्दति' (7.13.17) जो चलता है उसको मधु परमानन्दकी प्राप्ति होती है।

प्रश्न : गीताके तेरहवें अध्यायमें ईश्वर, परमेश्वर, आत्मा, परमात्मा, पर एवं ब्रह्मका प्रयोग एक ही तत्त्वकी भिन्न स्थितियोंके द्योतकके रूपमें सकारण प्रयुक्त हुए हैं या वे एकदम पर्यायवाची हैं?

उत्तर : वैसे तो सभी शब्दोंके अर्थमें कुछ-न-कुछ विशेषता बतायी जा सकती है और उसके ठीक-ठीक अर्थका जो ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए जानना आवश्यक भी है। परन्तु तत्त्व एक ही होता है। घड़ेका आकार अलग है, सकोरेका आकार, खपरैलका आकार अलग है परन्तु सबका नाम मिट्टी है कि नहीं? तत्त्वत: सब-के-सब मिट्टी हैं।

एक सुनार था, उसके यहाँ कोई ग्राहक आया तो उसने अपने बेटेसे कहा कि तिजोरीमें सोना रक्खा हुआ है, ले आवो। बेटेने जाकर देखा, लौटकर आया पिताजी उसमें तो सोना नहीं है। बड़ा आश्चर्य हुआ पिताको! गया, दिखाया-यह देखो-कंगन है—सोना ही तो है! नहीं पिताजी, यह कंगन है, सोना नहीं है। कंगन नाम है, परन्तु तत्त्व सोना है। उसने कड़ा उठाया, पिताजी यह तो कड़ा है— नहीं यह सोना है, कुण्डल उठाया—यह तो कुण्डल है, हार है—नहीं बेटा; यह सब सोना है! सिल्ली है? नहीं यह भी सोना है। तत्त्वकी दृष्टिसे सिल्ली नाम लो चाहे सोनेका चूर्ण नाम हो, चाहे कंगन हो, कड़ा हो, हार हो, कुण्डल तो—काम लेनेवालोंके लिए वह अलग-अलग है और जो तत्त्व देखते हैं, उनके लिए तो एक ही है। इसमें यह तत्त्वज्ञान उसका स्थिर होता है जिसको पहननेके काममें सोना नहीं लेना है। सोनेकी जो पूँजी है उसको जो पहचानना चाहता है उसके लिए सब सोना है, चाहे उसको नाम कुछ भी हो, रूप कुछ भी हो।

एक बापने अपने बेटेसे कहा कि बेटा; यह काम कर दो तो तुम्हें मिठाई खिलायेंगे। काम कर दिया बेटेने। अब उसका बाप मिठाई लेकर आया, बोला पिताजी यह मिठाई तो नहीं है। यह क्या है? यह तो पेड़ा है, बरफी है। अब तो जो शक्ल-सूरत लेकर बाप आवे उसका कोई न कोई नाम रखा हुआ है—यह शक्कर है, यह मिश्री है। भाई यह सब मिठाई है—इसका नाम चाहे कुछ भी रखा हो—और शकल-सूरत कैसी भी बना दी गई हो। परन्तु यह सब मिठाई हैं। तुम्हें आँखके लिए रूप चाहिए, नाकके लिए गंध चाहिए। जीभके लिए स्वाद चाहिए। लेकिन है यह सब-की-सब मिठाई। जो पहचान लेते हैं—उस मिठाईको—

'नारायण तिन कहँ सब फीको जिन चाखी'

यह रूप-मिठाई। यह जो परमात्माके स्वरूपकी मधुरता, माधुर्य जिसने चख लिया उसके लिए सब-का-सब मीठा ही मीठा हो जाता है। चाहे नाम कुछ भी हो, रूप कुछ भी हो। तो अवान्तर अर्थ अलग-अलग होते हैं। अहंका जो सार है उसको आत्मा कहते हैं। सबके अहं अहं अहं—बुलबुले उठ दाल चुर रही है,

बुलबुले उठ रहे हैं—फुदुर-फुदुर-फुदुर—लेकिन वह है सब पानी ही। इसी प्रकार सबके हृदयमें जो एक चेतन जाग्रत हो रहा है, वह अहंका जो सार है, उसको कहते हैं आत्मा। वह जाग्रत-अवस्थामें विषयोंको देखता है, ग्रहण करता है। स्वप्नावस्थामें सब बना लेता है। सुषुप्ति अवस्थामें सबका संहार कर लेता है और तीनों में बिलकुल एक सरोखा साक्षी रहता है। अब जो सक्षी अलग-अलग मालूम पड़ते हैं उनको एकमें देखो तो उनका नाम परमात्मा हो गया और वही सब ब्रह्मा आदि ईश्वरोंसे बड़ा है। इसलिए उसको परमेश्वर कहेंगे। सबसे बड़ा ऐश्वर्य उसीमें है, इसलिए उसको महेश्वर कहेंगे। और जिसमें किसी प्रकारका परिच्छेद, टुकड़ा कतरा नहीं है उसको ब्रह्म कहते हैं। जो सबको सत्ता स्फूर्ति देनेवाला और सबसे परे है उसको पर कहते हैं। ये सब एकके ही बहुत सारे नाम हैं, परन्तु कोई-न-कोई विशेषता सूचित करनेके लिए इन नामोंका खास-खास तरहसे प्रयोग होता है और आत्मा, सत्य, ब्रह्म, परमात्मा, परतत्त्व ये सब जो हैं वे व्यवहार के लिए हैं—

'कल्पितव्यवहारार्थं तस्य संज्ञा महात्मनः।'

उसी एक सत्य तत्त्वके अनेक नाम रखे गये हैं—परस्पर व्यवहार करनेके लिए। यह तो एक भाषाकी बात हुई। दुनियामें जितनी भाषाएँ हैं और जितनी लिपियाँ हैं, उनमें शब्द तो अलग-अलग होते हैं और उनसे भाषा भी अलग-अलग बनती है, परन्तु तत्त्व तो सबमें एक ही होता है। इसलिए जो एकत्त्वको पहचानते हैं वे सबमें उस एकको देख लेते हैं और इससे किसीके प्रति नफरत, या मुहब्बत नहीं होती; मुहब्बतमें फँसकर बुराई करना या नफरतमें फँसकर बुराई करना ये दोनों बुराई-बुराई हैं। जो परमात्माकी एकताको जान लेता है वह इन बुराइयोंसे मुक्त हो जाता है।

प्रश्न : गीताके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें जो पुष्पिका है उसमें कहा है—श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे—तो एक ही साथ गीताको उपनिषद्, ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र तीनों क्यों कहा गया?

उत्तर : यों कहा गया कि गीताके एक, एक श्लोकको चाहें तो उपनिषद् मन्त्रोंके साथ मिला सकते हैं। जो कुछ उपनिषदोंमें कहा गया है, वह सब गीताके श्लोकोंमें मिलता है। दूसरी बात यह है कि उपनिषद् जो है वह मनुष्यको परमात्माके पास पहुँचा देती है इसलिए उसका नाम उपनिषद् है। गीता भी परमात्माके पास पहुँचा देती है। उपनिषदोंके द्वारा ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति होती है। गीताके द्वारा ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति होती है, इसलिए यह ब्रह्मविद्या है। इसकी विशेषता यह है कि जहाँ उपनिषदें निवृत्ति-परायण वैराग्यवान्की ओर ज्यादा झुकती हैं—वहाँ गीता निवृत्ति-परायण वैराग्यवान्के प्रति अत्यन्त महत्त्व-बुद्धि रखते हुए भी उसकी ओर झुकती नहीं है। यह तो युद्धभूमिमें आकरके अपना महत्त्व दिखाती है।

हमसे भगवान्ने कहा—हमको मन्दिर पसन्द नहीं हैं। इसमें बन्द मत करो। ताला मत लगाओ। हमको ले चलो दुकानेमें, मैदानमें, सब जगह ईश्वर चाहिए। धर्मने कहा हमको केवल यज्ञशालामें कैद मत करो—धूँआ खाते-खाते बहुत दिन हो गया—अब जरा घरमें ले चलो—परिवारमें ले चलो। यह जो गीता भगवती हैं यह ब्रह्मविद्याके साथ-साथ योगशास्त्र भी है। योगशास्त्रका अर्थ यह है कि आप कर्मयोग करें, भक्तियोग करें।

अष्टांग योग करें। गीता कहती है—खूब व्यवहारमें लगे रहें, काम खूब करें। यह गीता ब्रह्मको गाँवमें लेकर आयी है, युद्धभूमिमें लेकर आयी है। अरण्य-भूमिसे रणभूमि लेकर आयी है। यह ब्रह्मविद्या है। यह उपनिषद्, जो पहले संन्यासी होकर पढ़ा करते थे, उसको गृहस्थोंके घरमें ले करके आयी है, इसलिए योगशास्त्र है। वहाँ निवृत्ति-परायण होकरके लोग शान्त एकान्तमें बैठते थे। वहाँ ब्रह्मविद्या रहती थी। अब काम-धन्धा करते हुए—**सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।**

सब काम करते जाओ और यह ब्रह्मज्ञान तुमको शक्ति देता रहेगा। इसलिए इसको योगशास्त्र कहते हैं। लोकमान्य तिलकने गीतापर अपना 'गीता-रहस्य' लिखा है—गीताकी टीका तो उनकी बहुत छोटी-सी है; परन्तु 'रहस्य' में ही उनका सारा ज्ञान-विज्ञान भरा हुआ है। उन्होंने योगशास्त्रपर बहुत अधिक जोर दिया है और कहा है कि जंगलमें, पहाड़में, नदियोंके संगमपर रहनेवाले जो महात्मा है उनकी विद्याको गीता हमारे परिवारमें, घरमें सब जगह पहुँचा देती है, इसलिए गीताका नाम योगशास्त्र है।

प्रश्न :-ज्ञानके, व्यवहारके, भक्तिके बहुत-से साधन आपने गीताके अनुसार बताये। किन्तु हम साधारण लोग, किस साधनको स्वीकार कर आगे बढ़नेमें समर्थ होंगे? कौन उपाय सुरक्षित और सुगम है।

उत्तर : ऐसा है कि हम जब-जब घोड़ेपर चढ़ेंगे तब-तब पट्से गिर पड़ेंगे। बड़ा कठिन लगता है घोड़ेपर चढ़ना। और साइकिलपर तो बैठनेको जब मिला—तो साइकिल उलट गयी। कितना कठिन है साइकिल चलाना मेरे लिए और उन बच्चोंको देखते हैं कि जब साइकिल दोनों पाँवसे चलाते हैं और हाथ दोनों उठा देते है—कभी-कभी पाँव चलाना भी बन्द कर देते हैं और सर्कसमें तो साइकिलको कुएँमें भी उतार लेते हैं। सुगम और कठिन क्या होता है? जिसको जिसका अभ्याय होता है वह उसके लिए सुगम हो जाता है। और जिसका जिसको अभ्यास नहीं होता है, अभ्यास माने आदत; दुहराना, उसके लिए वह कठिन हो जाता है। असलमें कठिनता और सुगमता किसी साधनमें नहीं होती और न तो किसी साध्यमें। जो हमारे लिए अन किया है, जिसको हमने कभी नहीं किया है, अनजाना है, जिसको हमने नहीं जाना है, वह हमारे लिए कठिन मालूम पड़ता है। और जो किया हुआ है, करनेका अभ्यास है, वह सरल हो जाता है। किसी भी वस्तुमें सुगमता और कठिनता स्वरूपसे नहीं होती है। गोस्वामीजी कहते हैं—

रघुपति भगति करत कठिनाई।

भगवान्की भक्ति बड़ी कठिन है। हाँ; होगी! फिर एक जगह कहते हैं—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा।
जोग न जप तप मख उपवासा॥

हमारे झँवरजीको राग-रागिनी बजाना हो तो पट बजायेंगे—कोई गा रहा हो पट बता देंगे कौन-सी रागिनी कहाँ चूक गया? और हम लोग तो सब धान सोलह पसेरी, पहचानते ही नहीं है कि क्या है! ऐसी स्थितिमें साधनको सुगम, कठिन, मत कहो। हमने ऐसे साधन करनेवाले देखे हैं कि जिनके रोम-रोमसे भगवान्के नामकी ध्वनि निकलती है। ऐसे साधन करनेवाले देखे हैं जो घण्टों चुपचाप, बिना हिले-डुले,

गीता-दर्शन

(12)

गीता अध्याय -14

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला

श्रीहरिः

शुभाशीर्वाद

बिरला-परिवार अपनी परम्परागत धर्मरुचिके कारण सर्वत्र प्रसिद्ध है। प्रायः उसके द्वारा निरन्तर कोई-न-कोई धार्मिक कार्य सम्पन्न होता रहता है। यह गीता-दर्शन भी अनेक वर्षोंसे चले आ रहे गीता-प्रवचनका एक अध्याय है। श्रीमती सरला एवं श्रीबसन्त कुमार बिरलाकी ओरसे 'संगीतकला मन्दिर'में यह चौदहवें अध्यायके प्रवचन आयोजित हुए थे। उनके परिवार एवं इष्ट मित्रों तथा साधारण जनताने इसका पूरा आनन्द लिया है। हम भगवान्से प्रार्थना करते हैं, इसी प्रकार मानव-जीवनको सदाचार, सद्भाव, सद्बुद्धिसे सम्पन्न करनेके लिए, इनका उत्साह बढ़ाता रहे। भगवान्की कृपा तो सर्वत्र है ही।

बम्बई
17-7-86

अखण्डानन्द सरस्वती

समारम्भ
15-11-85
स्वागत-भाषण :

श्रीरमणलालजी बिन्नाणी

परम श्रद्धेय, युग-पुरुष, युगके प्रकाण्ड महान् विद्वान स्वामी अखण्डानन्दजी महाराजके चरणोंमें हम सबका सादर प्रणाम! महानुभावों! यह हमारा परम सौभाग्य है कि महाराजश्रीके दिव्य वचन सुननेका हमें सुअवसर, सौभाग्य मिल रहा है। हमारे देशके परम संत, महान् विभूति, प्रकाण्ड विद्वान्, अधिकारी व्याख्याता—(और क्या-क्या कहें) स्वामी अखण्डानन्दजी महाराजका सान्निध्य—हमारे परम सौभाग्यका उदय है। प्रतिवर्ष इन दिनों स्वामीजी यहाँ पधारकर हम सबपर बड़ी कृपा करते हैं। स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज—अखण्ड आनन्द तो हैं ही लेकिन मैं कहना चाहूँगा—विद्वत्ताकी साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। कितनी गहरी पैठ आपकी है—हमारे धर्मग्रन्थोंमें! ऐसे महामानव, महामना, महान् सन्तका सान्निध्य पाकर हम अपनेको कृतकृत्य मानते हैं।

यह प्रातःकालीन कार्यक्रम बिरला-पार्कमें हुआ करता था। कुछ ऐसे कारण बन गये कि इस बार यह कार्यक्रम बिरला-पार्कमें सम्भव नहीं हो सका और संगीतकला मन्दिर तथा संगीतकला मन्दिर ट्रस्टके साथ यह प्रोग्राम यहाँ कर लिया। यह भी हमारा बड़ा सौभाग्य है।

इस वर्षका सत्संग-प्रसंग गीताके 14 वें अध्यायमें केन्द्रित रहेगा। इस प्रश्नोत्तर-सत्रमें यह लाभ है कि इसके श्रोता भी अपने घरमें गीताका अध्ययन करते हैं। इस वर्ष प्रश्न काफी आये हैं। यह रुचि सराहनीय है। मैं सबका नाम नहीं लूँगा पर श्री रामकरणजी गुप्ताने सत्ताइस पेज (Full Scape) पर प्रश्न लिखकर भेजे हैं। वे प्रश्न दो दिन पूर्व ही प्राप्त हुए हैं और दिवालीका मौका होनेसे ज्यादा ध्यान न दे सके। अब ध्यान देकर जितने प्रश्न पूछ सकेंगे, पूछेंगे।

पूज्य महाराजजीने विगत वर्षोंमें बताया कि गीता हमारी माता है। माता जिस तरह दूध पिलाकर हमें पुष्ट बनाती है, हमें सशक्त बनाती है, जीवनयापन करनेके लिए हमारे शरीरको सुदृढ़ करती है, उसी प्रकार गीता माता मानसिक स्तरपर हमें बहुत सुदृढ़ बनाती है और जीवनकी विषमतामें हम जहाँ खड़े होते हैं, वहाँ हमें रास्ता दिखाती है, प्रकाश दिखाती है। गीता स्वयं पद्मनाभके श्रीमुखसे विनिःसृत है और उनकी अपनी वाणी है, उनका अपना वचन है। गीता स्वयं प्रश्न और उत्तरोंपर ही आधारित है।

आप पहले ही श्लोकमें देखेंगे कि 'किमकुर्वत संजय।' धृतराष्ट्र पूछते हैं कि क्या किया? यहींसे प्रश्न चालू होता है और सारी गीता वहींसे उत्तर है। इसके बाद भी जगह-जगहपर अर्जुन पूछते हैं और भगवान् जवाब देते हैं। भगवान् पूछते हैं, अर्जुन भी जबाब देते हैं। अर्जुनने कहा 'पृच्छामि त्वां' मैं पूछ रहा हूँ और उसके बाद भगवान् सारा उपदेश देते हैं। यह प्रणाली गीता सम्मत है। और श्रोता भी इसमें शरीक हो जाते हैं। श्रोताओंके भ्रम-निवारणका यह सुन्दर संयोग है। अठारहवें अध्यायके बहत्तरवें श्लोकमें भगवान्ने यही कहा है कि—**कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेणचेता।**

हमें एकाग्र चित्तसे सुनना चाहिए। भगवान्ने अर्जुनसे पूछा मैंने जो कहा वह तुमने एकाग्र चित्तसे सुना तो—तब अर्जुन जवाब देते हैं—**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।**

तो मैं निवेदन करना चाहूँगा कि हम जितना ध्यानसे सुनेंगे उतना ही हमें लाभ होगा। चौदहवें अध्यायका हम अध्ययन घरपर करके आवें तो इसका अनुसरण करनेमें, समझनेमें बड़ी सुविधा होगी। मैं महाराजजीको पुनः प्रणाम करता हूँ।

गीता अध्याय - 14

प्रवचन : 1

प्रश्न : हम चौदहवें अध्यायमें प्रवेश करें उसके पूर्व चौदहवें अध्यायकी भूमिका एवं सन्दर्भके बारेमें हम श्रद्धेय स्वामीजीसे संक्षेपमें अपेक्षा रखते हैं कि वे हमें प्रवेश करावें। इससे आवश्यक पृष्ठभूमि बनेगी!

उत्तर : तेरहवें अध्यायमें ब्रह्मतत्त्वका सम्पूर्ण निरूपण किया गया है।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते। 13.12
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।। 13.13

चर-अचर स्थावर-जंगम सब परमात्माका स्वरूप है। जो कुछ प्रपंचमें चेतन मालूम पड़ता है और जो कुछ अचेतन मालूम पड़ता है। मालूम पड़ते हैं दो तरहके परन्तु हैं सब परमात्माके ही स्वरूप। इस बातको समझनेके लिए तेरहवें अध्यायके प्रारम्भमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका उल्लेख किया है। और बीच-बीचमें—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। 13.19
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह। 13.23

प्रकृति और पुरुष, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, सर्वभूत और सर्वमें स्थित परमात्मा—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।। 13.27

बादमें भूत प्रकृतिसे मोक्षका वर्णन किया। यह अलग-अलग अन्तःकरणके कारण, अलग-अलग वासनाओंके कारण, अलग-अलग शरीरोंके कारण, जो अलग-अलग भूत, पैदा होनेवाले पदार्थ दिखायी पड़ रहे हैं, इनकी एक प्रकृति है, उससे जो मुक्त हो जाते हैं, वे परतत्त्वको प्राप्त होते हैं।

भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्। 13.34

संगति तेरहवें अध्यायकी चौदहवें अध्यायके साथ इतनी स्पष्ट है कि तेरहवें अध्यायके अन्तमें है 'परम्'—

भूतप्रकृति मोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।

और चौदहवाँ अध्याय जब भगवान् आरम्भ करते हैं तो—

परम् भूयः प्रवक्ष्यामि।

तेरहवें अध्यायके अन्तमें 'परम्' और चौदहवें अध्यायके प्रारम्भमें 'परम्'। परम् यान्ति, परम् प्रवक्ष्यामि। उस परतत्त्वके निरूपणके लिए जो आवश्यक, अनिवार्य तत्त्व है उसका निरूपण चौदहवें अध्यायमें किया हुआ है। ऐसा अद्भुत है यह अध्याय कि संसारमें लोग सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण मानते हैं।

****

तमोगुणसे श्रेष्ठ रजोगुण, रजोगुणसे श्रेष्ठ सत्त्वगुण। सत्त्वगुणसे ऊपर भी कुछ है, इस बातको प्रायः जानते ही नहीं हैं और चौदहवें अध्यायका समग्र प्रतिपाद्य यह है कि आप तमोगुण, रजोगुण, सतोगुण—सबसे विलक्षण हैं—सबसे अन्तरंग हैं—गुणातीत हैं। जबतक आप अपनेको गुणातीत नहीं समझेंगे तबतक कर्तापन और भोक्तापनसे मुक्ति नहीं होगी और करते रहेंगे कर्म और कर्मका फल भोगते रहेंगे। संसारमें 'जायस्व' 'म्रियस्व'—पैदा होओ और मरो इसीमें फँसे रह जायेंगे।

चौदहवाँ अध्याय यह बताता है कि सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण बन्धनके हेतु हैं। यह जरूर है कि सत्त्व गुण अच्छाईसे बाँधता है, तमोगुण बुराईसे बाँधता है और रजोगुण अच्छाई-बुराई दोनोंसे बाँधता है! सत्त्वं सुखे संजयति।

सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ।

सत्त्वगुण सुखासक्ति और ज्ञानासक्तिमें बाँध देता है। दोनोंमें बन्धन। रजोगुण तृष्णामें बाँधता है। आलस्य प्रमादमें तमोगुण बाँधता है। तीनोंके लक्षण, तीनोंके फल अलग-अलग बताये और तीनोंसे अलग होनेका उपाय बताया। और तीनोंसे अलग हुए जो महापुरुष हैं उनका लक्षण बताया। अब आप भगवान्‌के मुखसे जब चौदहवें अध्यायका श्रवण करते हैं तब मालूम होता है—कि वहाँ त्वं-पदार्थ-प्रधान निरूपण है—हम गुणातीत कैसे हैं? और पन्द्रहवें अध्यायमें तत्-पदार्थ-प्रधान निरूपण है कि परमात्मा क्षर और अक्षर दोनोंसे विलक्षण पुरुषोत्तम कैसे हैं? तत्-पदार्थका निरूपण प्रधान रूपसे पन्द्रवें अध्यायमें है और त्वं-पदार्थका (त्वं-पदार्थ माने आत्मा मैं) निरूपण है चौदहवें अध्यायमें। एक बात ध्यान रखिये कि ईश्वर आपके हृदयमें ही है। जितना-जितना आप बाहरसे भीतर प्रवेश करेंगे, उतना ही-उतना परमात्माके निकट पहुँचेंगे और परमात्माका अनुभव होगा।

एकबार एक महात्मासे मैं सत्संग कर रहा था—सामने श्लोक आया—

न जायते म्रियते वा कदाचित्।

आत्माका न जन्म है न मरण है। मैं तो उस समय यही समझता था कि कोई आत्मा नामकी वस्तु होगी और उसका जन्म-मरण नहीं होता होगा। महात्माने बताया—यह तुम्हारा ही वर्णन है—

न जायते न म्रियते वा कदाचित्।

यह तुम हो, न तुम्हारा जन्म है, न मरण है।

न हन्यते हन्यमाने शरीरे।

कोई दूसरा आत्मा हो, कोई दूसरा परमात्मा हो, उसके शरीरकी मृत्यु तो प्राप्त है ही नहीं। मृत्यु तो इसी शरीरकी होती है। इसलिए इस शरीरमें रहकर तुम अजन्मा हो और अमृत हो। गीता तुम्हारा ही, तुम्हारे ही स्वरूपका निरूपण करती है।

देखो, आप धर्म करो परन्तु जन्म और मृत्युसे डरकर धर्म मत करो। धर्म तो आपका स्वभाव बन जाय। जिस समय हम कोई काम करते हैं, अच्छा काम करते हैं, और चाहते हैं कि इसके बाद हमको इसका

****

****

कुछ इनाम मिले, पुरस्कार मिले—हमने सुना है कि होटलमें बेअरा लोग सेवा करते हैं तो बादमें कुछ उम्मीद रखते हैं! उसको क्या कहते हैं? हाँ 'टिप'—हम तो जानते नहीं क्या होता है—जो लोग अच्छा काम करके और उसका कुछ इनाम या पुरस्कार चाहने लग जाते हैं, तो उनकी कक्षा, उनकी कोटि वही हो जाती है। जो कर्म हम कर रहे हैं उसके प्रति महत्त्वबुद्धि नहीं हो तो—उसके फलके प्रति महत्त्वबुद्धि हो जाती है। जो घरमें आया है, हमको मिल रहा है, हम जो कर रहे हैं, उसके प्रति तो आदर-बुद्धि है नहीं और जो अभी नहीं आया है, पता नहीं आयेगा कि नहीं आयेगा, उसकी ओर हमारी नजर चली गयी। कर्मसे तादात्म्य करके जो सत्-स्वरूप परमात्मा सत्कर्मके रूपमें हमारे जीवनमें आया, उसका अनादर हो गया। कर्मके रूपमें हमारे जीवनमें परमात्मा ही आया है क्योंकि सत् तादात्म्यके बिना कर्म तो होगा ही नहीं।

और यदि वह सत्कर्म है तो उचित होगा और उचित होगा तो आपका प्रिय होना चाहिए। वह सत्कर्म है, आपकी जानकारीसे ठीक है, आपका प्यारा है, वह तो इस समय आपके जीवनमें बरत रहा है और आप उसकी ओरसे अपनी नजर हटाकर आगेके लिए कुछ चाह रहे हैं। गीता आपके उस स्वरूपका वर्णन करती है कि आप धर्मके लिए हैं, आप अजर हैं, आप अमर हैं—सत्कर्म कीजिये। न पीछे घूमकर अपने जन्मके कारणकी ओर देखनेकी आवश्यकता है, और न तो, वर्तमानको छोड़कर भविष्यकी ओर देखनेकी बहुत आवश्यकता है, आप सत्कर्म इसी समय कीजिये और उसके औचित्यका और उसके आनन्दका अनुभव करते चलिये। आपके जीवनमें जो सद्‌गुण है उसका सदुपयोग कीजिये।

जो योग्यता भगवान्‌ने आपको दी है—पाँवसे चलनेकी योग्यता दी है, हाथसे काम करनेकी योग्यता है, मुँहसे बोलनेकी योग्यता है, दिलसे प्यार करनेकी योग्यता है—यो योग्यता भगवान्‌ने आपको दी है, उसका आप अपने जीवनमें सदुपयोग कीजिये। और इसके बदलेमें कुछ चाहिए मत और अपने कर्तापनका अभिमान मत रखिये। तीन बातोंपर ध्यान रखकर जब आप कर्म करते हैं,तो वह कर्म आपके बन्धनका कारण नहीं बनता है। 'ज्ञानानां उत्तमम् परम् ज्ञानं प्रवक्ष्यामि'। ज्ञान माने ज्ञानके साधन। पहले आप समझिये, उत्तम ज्ञान प्राप्त कीजिये। श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त कीजिये। आपके जीवनमें साध्य क्या है? साधन क्या है? आप भक्ति कीजिये, अपनेको अजर-अमर जानकर। आप सत्कर्म कीजिये—अपने अजर-अमर जानकर। आप योग कीजिये अपनेको अजर-अमर जानकर। आप तत्त्वज्ञान प्राप्त कीजिये, अपनेको अजर-अमर जानकर। यही जो अमृतका अनुभव है—अपने जीवनमें अमृतत्वका अनुभव, वह गीता देती है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंको यही ज्ञान प्राप्त हुआ है।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥

ज्ञानोंका उत्तम ज्ञान—ज्ञान तो बहुत सारे हैं। गीता आपको अमरत्वका सन्देश पहले देती है। एक दिन मर जायेंगे ऐसा सोचकर आप कर्मसे विमुख मत हो जाइये। सत्कर्म करते चलिये। मर जायेंगे तो पता नहीं क्या होगा, ऐसा सोचकर भक्ति मत छोड़िये, आपको भगवान् मिलेंगे और अपनी बुद्धिकी मन्दता देखकर या

****

अयोग्यता देखकर निराश मत होइये। आपको भगवत्-तत्त्वका ज्ञान होगा। गीता आशाका ग्रन्थ है, उत्साहका ग्रन्थ है, प्रेरणाका ग्रन्थ है, अमृतत्वके प्रदानका ग्रन्थ है। छोटी-छोटी चीजोंसे आपका ध्यान हटाता है।

आप जरा-सा ध्यान दें, अर्जुनको यह डर था कि इस महाभारत युद्धमें न जाने कौन-कौन, कितने-कितने बड़े लोग मर जायेंगे। श्रीकृष्णने कहा—ये मरेंगे नहीं ये तो मरे हुए हैं। ग्यारहवें अध्यायमें स्पष्ट दिखा दिया कि ये तो मरे हुए हैं। तुम अपने कर्म करते जाओ। अपने धर्मसे विमुख मत होओ। यह गीताका सन्देश है। चौदहवें अध्यायमें इस सन्देशको इतने अच्छे ढंगसे समझाया गया है कि ये तो सत्त्व, रज, तमकी वृत्तियाँ हैं, ये तो दूसरेमें हैं, ये तो प्रकृतिमें हैं, ये तो गुणोंकी वृत्तियाँ हैं और तुम स्वयं गुणातीत हो। चौदहवाँ अध्याय गुणोंको पकड़नेके लिए नहीं है, गुणोंको छोड़नेके लिए है। गुणातीत होनेके लिए है। कहीं कोई आसक्त न हो। सत्त्वगुणमें आसक्त होकर रजोगुणी-तमोगुणीका तिरस्कार न करें और तमोगुणमें स्थित होकर, रजोगुणी-सतोगुणीका तिरस्कार न करें। ये तो अपने आपमें बरतते रहते हैं। आप अपनी स्थितिमें सम होकर—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरः तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ 14.24
मानापमानयोस्तुल्यः तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।

इस प्रकार आप अपने जीवनको समतामें स्थित रखकर चलते रहिये। आपके साथ इन गुणोंका लेप नहीं होगा। सब गुणोंसे मुक्त रहेंगे। क्योंकि गुणोंके साथ अगर जुड़े रहेंगे तो कोई गुण आपको ऊपर ले जायेगा, 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था'—कोई आपको बीचमें लटका देगा—'मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः', कोई आपको नीचे ले जायगा। परन्तु गुणोंसे न अटककर, गुणोंसे भटकाये न भटककर, यदि आप सम रहकर, स्वस्थ रहकर, बिना किसी घबड़ाहटके, बिना किसी भयके, अपने कर्तव्य कर्मका पालन करते जायेंगे तो कहीं भी आपके जीवनमें च्युति नहीं आयेगी। इसके लिए भगवान्ने उत्तमोत्तम ज्ञान, परम ज्ञानका चौदहवें अध्यायमें उपदेश दिया है और साथ-ही-साथ यह बताया है, कि पहले जितने ऋषि, मुनि हुए हैं, उन्होंने इसी ज्ञानको स्वीकार करके—

यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः।

इसी ज्ञानका आश्रय लेकर परा सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। उनको मुक्ति मिली है, मुक्ति मिलती नहीं है, मुक्ति तो आत्माका स्वरूप है। उनको भगवान् मिले हैं—भगवान् कहीं दूर नहीं रहते, वे तो अपने हृदयमें ही रहते हैं। उनको शुद्ध अन्तःकरण प्राप्त हुआ है। वह शुद्ध अन्तःकरण इसी ज्ञानसे प्राप्त हुआ है। परा सिद्धिमें अर्थकी प्राप्ति, धर्मकी प्राप्ति. कामकी प्राप्ति—धर्मार्थ कामकी प्राप्ति अर्थ, काम धर्मकी प्राप्ति और मोक्षकी प्राप्ति इसी ज्ञानसे होती है। भगवान्ने चौदहवें अध्यायकी यहाँ तक प्रशंसा की रुचि उत्पन्न करनेके लिए—

इदं ज्ञानं उपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ 14.2

आपको ऐसा सम जीवन प्राप्त होगा कि सृष्टि होती रहे, आप नहीं होंगे। आपका जन्म नहीं होगा। और सृष्टि व्याकुल रहे, व्यथासे, पीड़ित रहे परन्तु स्वयं आप पीड़ित हुए बिना ही साक्षी बने रहेंगे, भक्त बने रहेंगे—सत्कर्मके कर्त्ता बने रहेंगे—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य।

इसमें विद्वानोंने ऐसा भेद किया है।

यज्ज्ञात्वा मुनयःसर्वे—

ज्ञात्वा—केवल जान लेने मात्रसे—आप चौदहवें अध्यायको केवल समझ लीजिये—इसमें समझना यही है कि हमारा स्वरूप गुणातीत है।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ 14.19

सत्त्वगुणकी धारा आती है, आप अच्छे काम करते हैं। रजोगुणकी धारा आती है, आप व्यापारके काममें लग जाते हैं—

रजोरागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्। 14.7

आपमें तमोगुणकी वृत्ति आती है, आप सो जाते हैं। आप शान्तिसे बैठ जाते हैं। ये तो शरीरमें आते हैं, जाते हैं, रहते हैं। आप स्वयं गुणातीत हैं। इनमें किसीसे बँधिये मत और—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति॥ 14.22

आपके जीवनके लिए एक परम आवश्यक और परम उपयोगी और परम सुखप्रद, शान्तिप्रद मार्ग भगवान् चौदहवें अध्यायमें बताते हैं और इसकी महिमा यह है कि 'यज्ज्ञात्वा' इसको समझ लेने मात्रसे, इसका ज्ञान प्राप्त कर लेने मात्रसे पहले भी मुनियोंको सिद्धि मिली है और—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।

इस ज्ञानका यदि तुम आश्रय ले लोगे तो मेरी समर्धता प्राप्त होगी। माने जैसा मैं हूँ—मैं ब्रह्मा होकर सृष्टि बनाता हूँ—ज्यों-का-त्यों। मैं रुद्र होकर सृष्टिका संहार करता हूँ—ज्यों-का-त्यों। न सृष्टि बनानेमें हमको कोई राग है और न इसका प्रलय करनेमें कोई द्वेष है। सृष्टि, स्थिति, प्रलयमें एकरस रहकर—जैसे मैं सारा कार्य सम्पन्न कर रहा हूँ। वैसे तुम भी असंग रहकर सारा कार्य सम्पन्न करो।

'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य' और 'ज्ञात्वा' ये दोनों असमाप्त क्रिया हैं। जाननेके समकाल ही 'ज्ञात्वा अनुष्ठाय' और—इसमें अनुष्ठाय पदका अध्याहार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। आपको 'परम सिद्धि' इसको जानने मात्रसे मिलेगी। इसमें करना नहीं है, इसमें केवल जानना है।

कितनी बातें ऐसी होती है—जैसे पत्नी हो मायकेमें और पति अपने घरमें हो। उसको समाचार मिला कि पुत्र हुआ है तो पुत्र होनेके ज्ञानमात्रसे ही वह सुखी हो जाता है। किसीके घरमें हीरा है। मालूम नहीं है।

मालूम पड़ने मात्रसे ही वह सुखी हो जाता है। इसी प्रकार 'यज्ज्ञात्वा' और 'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य' का अर्थ है—जानने मात्रसे परम कल्याण।

यह बात आजकलके कर्मपरायण लोगोंके ध्यानमें नहीं आती है और महात्मा लोग जब जानते हैं—मैं अजर हूँ, मैं अमर हूँ, मैं असंग हूँ, मैं चिन्मात्र हूँ, मैं परमानन्द स्वरूप हूँ तो इस ज्ञान मात्रसे ही उनके लिए फिर कुछ कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता है। सारे कर्त्तव्य अपने आप ही पूरे होते रहते हैं। इसलिए चौदहवें अध्यायका महात्म्य बहुत बड़ा है और उसका प्रेमसे श्रवण करना चाहिए।

प्रश्न : बड़ा ही सुन्दर और बोधगम्य हमारे लिए पूज्य महाराजश्रीने आगेका कार्यक्रम बना दिया चौदहवें अध्यायका सारा सारांश कहकर, और हमें सूत्र भी दे दिया और वह यह—पहला श्लोक है—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।

ज्ञान तो अपने आपमें उत्तम है ही लेकिन यहाँ ज्ञानके साथ उत्तमम् एक तुलनात्मक विशेषण है। तीन अवस्थाएँ होती है। मूलावस्था, उत्तरावस्था और उत्तमावस्था—तो ज्ञान और फिर उत्तम ज्ञानके निरूपणके लिए हमारा निवेदन है। ज्ञानके भी कई भेद-विभेद हो सकते हैं भौतिक भी, आध्यात्मिक भी—भौतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञानोंके भेदोंको बताते हुए उत्तम ज्ञानका स्वरूप बतानेकी कृपा करें और यह ज्ञान किस प्रकार साधारण ज्ञानसे उत्तम है यह बतावें?

उत्तर : ज्ञानके तीन भेद और उसके अतिरिक्त एक चौथा भेद है। चार भेद गीतामें बताये गये हैं।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ 18.22

तमोगुणी ज्ञानका क्या स्वरूप है? एक छोटी-सी चीज पकड़ लो और समझते हैं कि यही सब कुछ है। आपकी बुद्धि छोटेमें लगी तो छोटी और बड़ेमें लगी तो बड़ी! बुद्धि स्वयंमें छोटी-बड़ी नहीं होती है। आपको एक उदाहरण दें। सम्भव है कोई यहाँ अपनेको ऐसा माननेवाले हों तो बुरा लगे उनको।

आप एक हिन्दू हैं—बहुत बढ़िया! आप हिन्दुत्वमें आसक्ति कर लीजिये। पर आप एक मनुष्य भी है। हैं कि नहीं? जब आप अपनेको हिन्दू मानकर अपनी मनुष्यताको भूल जाते हैं तो आपका वह हिन्दुत्व तमोगुणी हो जाता है। वह फिर मुसलमानको मारने लगेगा, ईसाईको मारने लगेगा। एक छोटी-सी चीज है—संसारकी मानवतामें 'हिन्दुत्व' कितना छोटा है! कहाँ मानवताका दृष्टिकोण और कहाँ—मैं अन्त्यज हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, फिर मैं हिन्दू हूँ और मैं मानव हूँ। एक हिन्दूको मनुष्य होनेमें क्या लगता है? कौन-सी साधना करेगा तो हिन्दू हो जायगा—केवल ज्ञानका ही फर्क है न! केवल बुद्धिका ही फर्क है। जिनको हिन्दुओंसे रुपया मिलता है वे अपनेको हिन्दू मानकर हिन्दुत्वका प्रचार करते हैं और जिनको देशी-विदेशी, जाति—सबसे जिनको धन मिलता है वे सबके प्रति समान हो जाते हैं। वहाँ तो प्रीति धनसे है। न हिन्दुत्वसे है, न मनुष्यत्वसे है। एक गुटमें आसक्ति—फिर एक पार्टीमें आसक्ति फिर 'सर्वजनहिताय' सबके मंगलमें आसक्ति।

जिसमें कोई युक्ति नहीं है, तत्त्वार्थ भी नहीं है, अल्प है यह तामस ज्ञान हो गया। और जो विभक्त ज्ञान है—बाँटता है—प्रान्तका इतना पक्षपात हुआ कि देशका भले ही नाश हो जाय और देशसे इतनी आसक्ति हुई कि विदेशका नाश हो जाय। यह क्या हुआ? अपनी पार्टीको देखना, दूसरेको न देखना। देहके प्रति आसक्ति, परिवारके प्रति आसक्ति, जातिके प्रति आसक्ति, सम्प्रदायके प्रति आसक्ति, प्रान्तके प्रति आसक्ति, राष्ट्रके प्रति आसक्ति जबकि पृथिवीमें ईश्वरने कोई राष्ट्र-भेद नहीं बनाया।

जब कि ईश्वरने मनुष्यतामें कोई जाति नहीं बनायी, धर्ममें कोई सम्प्रदाय नहीं बनाया। यह जो भेदमें आसक्ति है यह राजस ज्ञान है। और जो सर्वभूतेषु—सबमें एक परमेश्वर है—यह ज्ञान सात्त्विक ज्ञान है। अब 'ज्ञानानां उत्तमम् ज्ञानम्' का आप अर्थ लगा लीजिये। यह जो तमोगुणी ज्ञान है, छोटी-सी चीजमें फँसा हुआ और यह जो ज्ञान है भेद बनानेवाला, कहाँ हिन्दुस्तान, पाकिस्तानके बीचमें नया समुद्र आगया, कोई नया पहाड़ आगया, कोई प्रकृतिने दोनोंको फाड़-फाड़कर अलग कर दिया!

अब 'ज्ञानानां उत्तमम् ज्ञानं'—तमोगुणी, रजोगुणी सत्त्वगुणी—ये जो तीन प्रकारके ज्ञान हैं इनमें उत्तम ज्ञानको लो। उत्तम ज्ञान कैसा है? वह तो ज्ञान एक है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। 13.27

अथवा चौदहवें ही अध्यायमें आप पढ़िये। ये गुणके भेदसे ज्ञानीमें भेद होता है नहीं तो—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति। 14.22

न किसीसे द्वेष है, न किसीसे राग है।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ 14.23
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चन। 14.24

यह उत्तम-से-उत्तम—

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्। 13.17

'ज्ञानानां उत्तमम् ज्ञानम्' का अर्थ हुआ—तमोगुणी ज्ञानसे भी उत्तम, रजोगुणी ज्ञानसे भी उत्तम और सत्त्वगुणी ज्ञानसे भी उत्तम। वह क्या है?

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।

सबके हृदयमें विराजमान जो वह ज्ञान है, जिसमें 'मैं' और 'मेरा' किसीके प्रति नहीं है, उस शुद्ध ज्ञानका—उसकी दो प्रक्रिया बतायी है। एक तो कर्त्तापनको गुणोंपर डाल दो—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।

और एक भगवान्की भक्तिपर—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

ऐसे मत देखो कि इसमें भगवान् हैं, इसमें भगवान् नहीं है। अरे बाबा, कितने बड़े-बड़े राज्याध्यक्ष हुए—राजा हुए, सम्राट् हुए—उनका बड़प्पन कहाँ है? कितने इन्द्र हुए, कितने ब्रह्मा हुए—बदल गये। आज लोगोंको उनका नाम भी नहीं मालूम है। दुनियामें कौन-सी चीज है, जिसको पकड़कर बैठा जाय! पकड़कर बैठने योग्य तो एक परमात्मा है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

अद्वैत ब्रह्मभावकी स्थिति कैसे होगी? सबमें देखो परमेश्वरको। यह बल्ब ही छोटे-बड़े होते हैं—बिजली एक होती है। लाउडस्पीकरमें वही बिजली शब्दको ऊँचा कर देती है। पंखेमें आकर वही बिजली हवा देती है। एअर कंडीशनमें आकर ठंडक देती है। बल्बमें आकर रोशनी देती है। वही गन्धका विस्तार करती है। विद्युत एक है। सबमें परमात्माको देखो। बच्चेके लिए पङ्खा अलग है। बल्ब अलग है, लेकिन जो विद्युत्-तत्त्वका ज्ञाता है, उसमें सबमें एक परमात्मा है। यह ज्ञान है। —इन्द्रपद भी हमेशा नहीं रहता है। टूट जाता है। ब्रह्माका पद भी हमेशा नहीं रहता। न तो ये साम्राज्य हमेशा रहे हैं, न सम्राट् हमेशा रहे हैं—न देवी-देवता हमेशा रहे हैं। सबमें जो एक परमात्मा है वही हमेशाकी सीमाको पारकर रहता है। वही वस्तुओंकी सीमाको पारकर रहता है। वह मजहबोंमें, जातियोंमें, प्रान्तोमें, राष्ट्रोंमें, लोक-परलोकमें कहीं भी अलग-अलग नहीं होता। उसी एकको पकड़ो—

ज्ञानानां उत्तमम् ज्ञानम्।

वही सम्पूर्ण ज्ञानोंका उत्तम ज्ञान है और उसके ज्ञानमात्रसे ही परासिद्धि मिलती है और उसके ज्ञानमात्रसे ही यह आत्मा परमात्मा हो जाता है।

●

प्रवचन : 2

16-11-85

प्रश्न : परां सिद्धिमितो गता:—भगवान्के कथनके इस ज्ञानको जानकर मुनियोंको भी परम सिद्धि मिलती है। सिद्धि और परम सिद्धिको समझानेकी कृपा करें।

उत्तर : जनक आदि जो महापुरुष हुए हैं उन्होंने कर्मसे ही संसिद्धि प्राप्त की है। 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।' अपने कर्मके द्वारा परमात्माकी आराधना करो, सिद्धि मिलेगी। वहाँ तो 'जनकादयः' विशेष नाम है और यहाँ तो किसीका नाम नहीं है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

मनुष्य मात्रको सिद्धि मिलती है और सिद्धि भी सब तरहकी। तैत्तिरीय उपनिषद्में उपनिषद्के पाठका जो फल बताया है उसमें 'अन्नवान् अन्नादो भवति (3.9) कहा गया है। अन्न माने भोगकी सामग्री बहुत होती है और भोगका सामर्थ्य भी होता है। यह उपनिषद्का फल दिखाया। आश्चर्य है माने किसीके पास रोटी तो बहुत है पर पचता नहीं, खानेका सामर्थ्य नहीं है।

सन् 36में हमलोग एक सेठजीके घर गये थे। बहुत दुबले-पतले हो गये थे। धूपमें सबेरे लेटते थे। दो घण्टा मालिश होती थी। रूखा एक या दो फुलका खा सकते थे। हमलोग जब भोजन करने बैठे (उस समय हमारी उम्र 24-26 वर्षकी होगी) हमलोग तो एक-एक सेर खीर खा जाते। वे आश्चर्यचकित हो जाते। अन्नवान् होना और अन्नाद होना। भोगकी सामग्री हो, भोगका सामर्थ्य हो और 'प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन' (तै०उप०3.9) इसलिए उपनिषद् कहता है-धर्म हो, प्रजा अनुकूल हो, घोड़ा, गाय हो, (आजकल मोटर समझ लो) ब्रह्मचर्य हो-यह तैत्तिरीय उपनिषद्का फल उपनिषद्में ही कहा है। यह जो अध्यात्म विद्या है, यह केवल स्वर्गकी प्राप्तिके लिए नहीं है; न तो बैकुण्ठमें जानेके लिए है। इस लोकमें भी सुखी रहें और परलोकमें भी सुखी रहें, इसके लिए कौन-सी सिद्धि चाहिए? गीतामें बताया है-

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

भगवान् कहाँ हैं? हमारे भीतर रहकर हमारे जीवनका संचालन कर रहे हैं। और वे 'सर्वमिदं ततम्'—जैसे कपड़ेमें सूत वैसे वे हमारे जीवनमें व्याप्त हैं। वही चलानेवाले हैं और वही चलाये जानेवाले शरीरके रूपमें हैं।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

चाहे कोई भी मनुष्य हो—जात-पाँतकी कोई बात नहीं। हमारा पन्थ, ग्रन्थसे कोई मतभेद नहीं, किसीके लिए बाइबिल है तो कुरान नहीं है; किसीके लिए कुरान है तो बाइबिल नहीं है। किसीके लिए मनुस्मृति है, तो किसीके लिए जिन्दावेस्थ है।

एक मनुष्यको जीवनको सफल बनानेके लिए संचालकके रूपमें ईश्वर और उनके नाम-रूपका दर्शन करते हुए आगे चलते रहना चाहिए। किसीने कहा, महाराज! हमारे हाथ-पाँव मजबूत हो जायेंगे तब आपकी सेवा करेंगे। एक गरीबने कहा, जब हमारे पास लाखों रुपये हो जायेंगे, तब आपकी सेवा करेंगे। दोनों गलत रास्तेपर हैं। तुम्हें भगवान्ने योग्यता दी है, 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'—जो तुम कर सकते हो वह सब लगाओ—परमेश्वरकी सेवाके लिए। रोटी बनाओ परमेश्वरकी सेवाके लिए। सीमेन्ट बनाओ, कपड़े बनाओ! सर्वके रूपमें परमेश्वर है, उसकी सेवामें तुम्हारी शक्तिका जितना भी योग हो सकता हो उतना करो। 'स्वकर्मणा तमभ्यर्चय'—जो तुम्हारा कर्म है, उसीके द्वारा परमात्माकी आराधना होती है। चलनेका सामर्थ्य है, तो चलकर करो। हाथसे करनेका सामर्थ्य है, तो हाथसे करो। बोलनेका सामर्थ्य है तो बोलकर करो। बुद्धि और भावका सामर्थ्य है, तो बुद्धि और भावसे करो। सभी मनुष्य कर सकते हैं। वहाँ ब्राह्मण शब्द नहीं है, क्षत्रिय नहीं है, वैश्य नहीं है, शूद्र नहीं है, वहाँ है मानव मात्रको सिद्धि प्राप्त होती है। अब देखो, यह सिद्धी संन्यासियोंके लिए भी है, उसका भी वर्णन गीतामें है—

नैष्कर्म्य सिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।

कर्मसे, कर्तृत्वसे, परिछिन्नताके अभिमानसे, मुक्त होकर ब्रह्मरूपकी प्राप्ति होती है।

सर्वभावकी प्राप्ति भी होती है। यह उत्तम ज्ञान ऐसा है कि इसी ज्ञानसे बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंको सिद्धि मिली है। कौन-सी सिद्धि मिली है? परासिद्धि मिली है। परासिद्धि माने जिससे परे और कुछ नहीं। इस अध्यायमें उसी ज्ञानका वर्णन है। इससे अर्थसिद्धि भी होती है—भोग-सिद्धि भी होती है, धर्म-सिद्धि भी होती है, मोक्ष-सिद्धि भी होती है। मननशील पुरुषको जो कुछ करना हो, समझ-बूझकर करना चाहिए। हम जो काम कर रहे हैं, उसका प्रयोजन क्या है? प्रयोजन माने कामना नहीं। मैं उसका अधिकारी हूँ कि नहीं। और जिस स्तरसे मैं कर रहा हूँ, साध्यके साथ इसका क्या सम्बन्ध है, इसका ज्ञान हो। और कर्मके स्वरूपका बोध हो। अपने अधिकारका बोध, कर्मके स्वरूपका बोध, प्रयोजनका बोध और जो कर्म हम कर रहे हैं, उससे इस प्रयोजनकी सिद्धि होती है कि नहीं इसका बोध होना चाहिए। 'यज्ज्ञात्वा मनुयः सर्वे'—'ज्ञात्वा' है न! अच्छी तरहसे कर्मको समझकर कीजिये।

दुनियाकी हालत तो यह है कि पीछेसे कोई ढकेल रहा है, कालके साथ तादात्म्य करके

ढकेलनेवाला कौन है? हम जानते नहीं। और ढकेले हुए जा रहे हैं। कहाँ जाकर पहुँचेंगे या गिरेंगे, इसका पता नहीं है। एक अन्धेके पीछे दूसरा अन्धा चल रहा है। बिलकुल अन्धकार-अन्धकारमें चलानेवालेको भी अन्धकारमें छोड़ दिया तुमने, फिर भूल गये और जहाँ पहुँचाना है उसको भी भूल गये। एक विदग्ध जीवन हमारा चल रहा है।

'मनुयः' का अर्थ है मननशील। 'मननात् मुनिः'। जो भी काम करना हो, विचार करके करो, बुद्धिको छोड़ करके कोई काम मत करो। इसलिए सर्वोत्तम ज्ञानको जानना परासिद्धिकी प्राप्तिका साधन है। और सिद्धि आप जैसी चाहते हैं, वैसी मिलेगी। अर्थ-सिद्धि मिलेगी, धर्म-सिद्धि मिलेगी। धन रहता है बाहर, बैंकमें, तिजोरीमें, जेबमें और काम रहता है मनमें और धर्म रहता है बुद्धिमें और मोक्ष रहता है अपनी आत्मामें। काममुनि भी मुनि होता है—वात्स्यायन मुनि, जिन्होंने कामशास्त्रका निर्माण किया। धर्ममुनि, मन्वादि, ये धर्ममुनि हैं और मोक्षमुनि याज्ञवल्क्यादि उपनिषदोंके आचार्य हैं। सबको इसी ज्ञानका उत्तम रूप जान लेनेसे ही सफलताकी पराकाष्ठा प्राप्त हुई है, उसीको सिद्धि कहते हैं।

× × ×

प्रश्न : 'ज्ञानानाम् उत्तमम्' को परमसिद्धि और 'मम साधर्म्य' बताया है। इन दोनों अवस्थाओंके सात्त्विक भेदों और अभेदोंको बतानेकी कृपा करें।

उत्तर : जो अमृतका पुत्र है, वह अमृत ही होता है। सेठका बेटा सेठ, ब्राह्मणका बेटा ब्राह्मण। यहाँ जो श्लोक है-

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥

इस ज्ञानका आश्रय ले लो। साधर्म्य का अर्थ है, जैसे ईश्वर निरन्तर सृष्टि-स्थिति-प्रलयके कर्ममें लगा हुआ भी असंग है और उसके ऊपर कर्मका कोई प्रभाव नहीं है, कभी बँटता नहीं है। 'मम साधर्म्यमागताः'का अर्थ है कि सबमें समाधि लगायी फिर भी उसकी आसक्ति नहीं हुई। सृष्टि बनायी तो यह नहीं कि हमेशा बनाते ही रहेंगे। पालन किया तो यह नहीं कि पालन ही करते रहेंगे। यह नहीं कि संहार किया तो संहार ही करते रहेंगे। जब अपने समक्ष, अपने सामने जो चीज अपने कर्त्तव्यके रूपमें उपस्थित होती है, अपने संकल्पसे, अपने भावमें उसको करते हुए तब अपना जो ऐश्वर्य है, जो ईश्वरता है, वह बनी रहती है।

ईश्वरताका अर्थ है कि संसारकी किसी भी वस्तुसे अभिभूत न होना, दबना नहीं। ऐसी दुनियामें कोई चीज नहीं है-न नाम, न रूप, न इतिहास, न भूगोल। ईसाकी कब्र कहाँ है? कश्मीरमें है कि इंग्लैण्डमें है। खोजो, आपकी रुचि है उसमें। गड़े मुर्दोंको उखाड़-उखाड़कर फेंको-यह ईसाका है कि नहीं है? भूगोलका पता लगाओ। हिन्दुस्तान-पाकिस्तानकी सीमा हमारे सामने ही तो बनी है। कालका आदि नहीं है, इसलिए इतिहास कल्पित रेखासे आरम्भ होता है। देशका आदि नहीं है, इसलिए भूगोल कल्पित रेखासे उत्पन्न होता है, विश्वसृष्टिका आदि नहीं है, अन्त नहीं है। इसलिए जो कोई इसकी उत्पत्ति और प्रलयका वर्णन करते हैं,

कल्पित रेखासे करते हैं। इसलिए कल्पित वस्तुओंमें न फँसकर जो सब कल्पनामें अकल्पित है, इसपर दृष्टि रखकर कल्पनाओंके साथ खेलो। यह तो मनोरंजनकी सामग्री है—बनाओ, बिगाड़ो, छोड़ो, पकड़ो—ये सब मनोरंजनकी सामग्री है। सबमें एक परमात्मा ऐसा है जो छोड़नेकी वस्तु नहीं है।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।

ईश्वरत्वकी प्राप्ति माने अनभिभूत जीवन। कोई स्त्री, कोई पुरुष, कोई कर्म, कोई भोग; कोई वस्तु तुम्हें अपनेमें न ले सके, पूर्ण स्वातन्त्र्यमय जीवन। न कामकी परतन्त्रता, न अर्थकी परतन्त्रता, न धर्मकी परतन्त्रता, न ईश्वरकी परतन्त्रता। जो लोग 'विष्णु सहस्त्र नाम'का पाठ करते हैं-वे 'ईश:'के साथ 'अनीश:'का पाठ जरूर करते होंगे। 'ईश: अनीश:।' ईश्वरका कोई ईश्वर नहीं। सृष्टि होती है तो होती रहे-हमारा जन्म नहीं है। हम तो सृष्टि होनेके पहले भी थे और बादमें भी रहेंगे। अच्छा बताओ सृष्टि होनेके बाद ज्ञान बना तो सृष्टि क्या अज्ञानसे बनी? ज्ञान अगर ईश्वरके बाद हुआ, तो क्या ईश्वर अज्ञान था? जीवनमें ईश्वरत्वका आभिर्भाव होता है। यह प्राणी, देखनेमें यह छोटा-सा मनुष्य, ईश्वर हो जाय, जब इस ज्ञानका आश्रय लें।

मम साधर्म्यमागताः।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।

'व्यथन्ति'की जगह पाणिनीय व्याकरणके अनुसार बोलें तो 'व्यथन्ते' बोलना पड़ेगा। प्रलये न व्यथन्ति च—हो जाय प्रलय, कोई व्यथा नहीं है। ऐसा सुख, ऐसा ज्ञान, ऐसा आनन्द—इसीके आश्रयसे प्राप्त होता है।

× ×

प्रश्न : भगवान्ने दूसरे श्लोकमें बतलाया कि इस ज्ञानका आश्रय प्राप्त किये पुरुष सृष्टिके आदिमें पुन: उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकालमें भी व्याकुल नहीं होते। सर्ग एवं प्रलयकालके सिद्धान्तोंको स्पष्ट करें!

उत्तर : है तो स्पष्ट। वैसे गीतामें-

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।।

तो यह सर्गका स्पष्टीकरण हो ही गया। जैसे हमलोग नींदमें होते हैं। वह प्रलयकी स्थिति है। और नींद टूटते ही होश जो आता है, वह महत्तत्त्वकी स्थिति है। फिर मैं कौन हूँ यह अहंकारकी स्थिति है। और फिर स्पर्श, शब्द, रूप, रस, गन्ध दुनिया दिखने लगती है। उसको पंचतन्मात्रा बोलते हैं। तो प्रकृति, सुषुप्ति और होशका आना, बुद्धिका जागरण, यह महत्तत्त्व है। और अहं-भावका उदय यह अहंकार है और शब्द स्पर्शात्मक प्रपंचका मालूम पड़ना, यह पंचतन्मात्रा है। जैसे रोज हमलोग सोते हैं, जागते हैं, रोज सृष्टिका क्रम हमारे सामने आता है। जब सोने लगते हैं तो पहले बाहरी दुनियाके बारेमें सोचनेसे अरुचि हो जाती है। चुपचाप लेट जाते हैं, थोड़ी कुछ बात इधरकी आयी, तो आयी, नहीं तो फिर बेहोश हो जाते हैं। उस समय न शब्द,

स्पर्श, रूप, रस दिखायी पड़ता है, न अहंभाव रहता है, न बुद्धि जागती है। सब-का-सब प्रकृतिमें लीन हो जाता है। यह जो सांख्यशास्त्रका सिद्धान्त है सृष्टि और प्रलयका, वह हमारे दैनिक अनुभवपर ही आधारित है; इसको वेदान्तमें अनुमान बोलते हैं, जैसे हम सोते, जागते हैं वैसे समूची प्रकृति भी सोती, जागती है। इसी प्रकार यह सृष्टि होती है। और ब्रह्मसूत्रमें अनुमानको मुख्य प्रमाण नहीं, आगमको मुख्य प्रमाण माना गया है।

अब आप देखो, कि जहाँ हम बैठे हैं, वहींसे सृष्टिके बारेमें सोचा जाये। हमको एक नहीं, अनेक चित्र दिख रहे हैं, सब तस्वीरें ही तो हैं। आकृति हैं। आकृति कैसे बनती है? रेखाओंसे रेखाएँ कैसे बनती हैं? बिन्दुसे बिन्दु एक दूसरेसे सम्बद्ध हुए बिना ही रेखाकी प्रतीति कराते हैं? जो सूक्ष्म-वीक्षण यन्त्र होता है, जिससे छोटी-छोटी चीजोंका देख लेते हैं। आप किसी रेखाको देखिये, एक रेखा नहीं है, उसमें तो हमारों बिन्दु हैं और बिन्दु वह हैं जिनमें न लम्बाई है, न चौड़ाई है, पर अपने अधिष्ठानमें होते हैं।

आकृतिका मूल क्या हुआ? रेखा-रेखाका मूल क्या हुआ? बिन्दु-बिन्दुका क्या हुआ? अधिष्ठान, उसीको सत्-तत्त्व कहते हैं। जहाँ हम बैठे हैं, यहाँसे हमने रेखाके आधारपर परब्रह्म परमात्मामें बिन्दुओंकी कल्पना की और बिन्दु-बिन्दु अपने अनादि संस्कारगत विशेषता के कारण, पृथक्-पृथक् आकृति बनाता है। जैसे, आप कागजपर लिखते हैं, 'अ', 'अ' में कोण होते हैं। प्रत्येक अक्षरोंकी अलग-अलग पूजा भी की जाती है। इनके मन्त्र भी होते हैं। पंचकोण आकृतिका नाम संस्कृत भाषा में 'अ' है। देखेंगे तो उसमें केवल पंचकोण रेखा ही नहीं है, बिन्दु भी है। अपने स्थानमें प्रत्येक बिन्दु लम्बाई, चौड़ाईसे रहित है, इसलिए सृष्टिका मूल केवल सत्ता है।

अब आप शब्दको देखिये—बोलते हैं 'अ', 'क', 'च', 'ट', 'त', 'प', 'य'—ये क्या हैं? इसको अष्टवर्ग बोलते हैं। ये हैं क्या? एक ध्वनि है। और उसमें हम कहीं गलाको दबाते हैं—अमुक प्रयत्नसे अमुक स्थानपर तो 'अ' निकलता है। दूसरे स्थानको, दूसरे प्रयत्नसे दबाते हैं, तो 'क' निकलता है। इसीप्रकार स्थान-प्रयत्न भेदसे 'च' निकलता है। फिर 'ट' निकलता है, फिर 'त' निकलता है। यह क्या होता है? ध्वनि है। और उसमें स्थान-विशेषसे, प्रयत्न-विशेषसे अनेकता आती है। जैसे, हम हारमोनियममें सरगम निकालते हैं। जैसे, तबलेमें ताधिन्नाधिन निकालते हैं, जैसे पाँवके पटकनमें ताताथेई निकालते हैं, इसी प्रकार हम एक ही ध्वनिमें-से अनेक ध्वनि प्रकट कर लेते हैं। यह नाम-सृष्टि हुई।

रूप-सृष्टि होती है बिन्दुओंसे और नाम-सृष्टि होती है ध्वनिसे। अब ध्वनि क्या है? जहाँ स्पन्दन होगा, वहाँ ध्वनि होगी। स्पन्दन माने हिलना। बिना पहले हिले ध्वनि नहीं हो सकती और जब, जहाँ हिलना नहीं है, जो साक्षी है, अधिष्ठान है, जो ज्ञानस्वरूप है, जो हिलनेको जाननेवाला एकरस है, उसमें ध्वनियाँ भी नहीं हैं। स्पन्दनसे ही क्रिया होती है, स्पन्दनसे ही ध्वनि निकलती है, स्पन्दनसे ही बिन्दु होते हैं। नाद और बिन्दु ये दोनों सृष्टिके मूलमें होते हैं।

जब हमलोग किसी देवी-देवताकी उपासना करते हैं, तब उसमें नाद और बिन्दु दोनोंका उपयोग करते हैं। राम शब्द—यह ध्वनिका एक रूप है और रामकी आकृति बिन्दुका एक रूप है और इन दोनोंको जब

एकमें जोड़ देंगे, तब हमारा इष्टदेव हो जावेगा। वह हमारे मनको वहाँ ले जावेगा, जहाँ नाम और रूप दोनोंकी प्रतीति हो रही है। इसलिए सृष्टिकी नामरूप-क्रियात्मक प्रक्रियाका अनुभव महात्मा लोग करते हैं कि सृष्टि कैसे होती है। इसीसे सिद्ध महापुरुष नवीन सृष्टिकी रचना भी कर सकते हैं, जिसका आजकल लोगोंको विश्वास नहीं होता है।

विश्वामित्रकी सृष्टिका वर्णन शास्त्रोंमें आता ही है। विश्वामित्रने ब्रह्माकी सृष्टि से एक पृथक् सृष्टि बना दी। एक पृथक् स्वर्ग बना दिया। दक्ष प्रजापति मनसे ही सृष्टि किया करते थे।

मनसा प्रजाः असृजत्।

ऐसा वेदोंमें वर्णन है। इसलिए यह सृष्टि-स्थितिका क्रम बिलकुल अलग है, वह न हमारे करनेसे होता है, न हमारे बिगाड़नेसे बिगड़ता है। इसलिए—

सर्गेपि नोपजायन्ते, प्रलये न व्यथन्ति च।

जन्म-मरणका हमको कोई भय नहीं है क्योंकि हमारा जन्म और मरण है ही नहीं।

× × ×

प्रश्न : प्रलयके विषयमें और बतावें। प्रलय कब होता है? क्यों होता है?

उत्तर : जब संसारमें पाप और दुःखकी वृद्धि हो जाती है और अव्यवस्था हो जाती है; एक दूसरेका खून चूसने लगते हैं, उनको चबाने लगते हैं; जब कोई सामाजिक, धार्मिक, प्रशासनिक व्यवस्था नहीं रहती है; जब मनुष्य और पशुमें कोई अन्तर नहीं रहता है, तब परमेश्वर कहता है-मैंने तो अपने मजेके लिए सृष्टि की थी, अब बेमजा हो गया। बेमजा हो गया, तो वह सृष्टिको समेट लेता है। भामतीकार वाचस्पति मिश्रने एक श्लोक लिखा है। वे बड़े अद्भुत विद्वान् थे—सभी दर्शनोंपर उनकी टीका, उनका भाष्य मिलता है। न्याय-वैशेषिक-सांख्य-योग-मीमांसा-वेदान्त, सबपर। ऐसे विलक्षण थे कि विवाह हुए तीस वर्ष हो चुके थे और उनकी पत्नी उनकी सेवामें रहती थी-ध्यान ही नहीं—लिख रहे हैं।

एक दिन कोई आया कि हमारी कन्याका विवाह है, आप कुछ सहायता कर दीजिये। उन्होंने इधर-उधर देखा, कुछ मालूम नहीं था, उनकी पत्नीने अपना कंगन उतारकर रख दिया। आप इसको दे दीजिये। तब पूछा कि तुम कौन हो? मैं आपकी पत्नी हूँ।

पत्नी शब्दके लिए संस्कृतमें धर्मपत्नी कहनेकी आवश्यकता नहीं है। पत्नी शब्द ही बनता है कि जो धर्मके अनुसार पत्नी हो।

पत्युर्नो यज्ञ संयोगे। (अष्टाध्यायी 4.1.33)

पति शब्दसे 'न' प्रत्यय होता ही तब है जब धर्मके अनुसार विवाह हुआ हो। हिन्दीमें तो 'धर्मपत्नी-अधर्मपत्नी' दोनों बोलते होंगे। संस्कृत भाषामें पत्नीके साथ धर्म शब्द नहीं जुड़ता है। पत्नी तो वही है जो धर्मके अनुसार अपनी है।

कौन हो देवी? मैं आपकी पत्नी हूँ। हाँ, ब्याह तो मेरा हुआ था। अच्छा तुम्हें क्या चाहिये? महाराज,

पत्नीको अपना नाम चले, यही चाहिए—उसका अभिप्राय था कि पुत्र हो! बोले—अच्छा, नाम चले तो यह ग्रन्थ मैं लिख रहा हूँ, इसका नाम 'भामती' रख देता हूँ। ऐसे थे वाचस्पति मिश्र। उन्होंने सृष्टि-प्रलयका ऐसा वर्णन किया है—

निःश्वसितमस्यवेदाः।

भगवान्को थोड़ी-थोड़ी नींद आ रही थी, तो नाक घड़घड़ायी। तो उनके नाककी जो घड़घड़ाहट है, वे वेद बन गये।

वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि।

अपनी आवाज सुनकर ही उन्होंने आँख खोलकर देखा-यह आवाज कहाँसे आयी? तो पंचभूत-पाँचभूत दिखायी पड़ने लगे-पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश।

स्मितमेतस्य चराचरम्।

पाँच भूत देखकर भगवान्को मुसकान आ गयी। जब मुस्कराये तो यह चराचर सृष्टि लाखों, करोड़ों रूपोंमें बन गयी।

अस्य च सुप्तं महाप्रलयः। (भामतीका मङ्गलाचरण, श्लोक 2)

और फिर वे अलसा गये—देखनेमें थक गये। अपनी आँख बन्द की, तो प्रलय हो गया। यह भगवान्का देखना, मुस्कराना, आँख बन्द कर लेना—इसीका नाम सृष्टि, स्थिति, प्रलय होता है। पहले मैं शास्त्रीय ढंगसे बिन्दु और नादकी बात सुना रहा था। अब ये भावुकताकी रीतिसे सुना दी। भगवान्ने आँख खोली तो सृष्टि, भगवान्ने आँख बन्द की तो प्रलय। इसमें उनको कोई श्रम नहीं होता है। यह तो पलक खुलती है, पलक बन्द होती है। सृष्टि होती है, प्रलय होता है। यहाँ तक हमारे विद्वानोंका सूक्ष्म अन्वेषण है कि कोई भी वस्तु दो क्षण तक रहती ही नहीं है।

आमका फल कब बढ़ता है? आपके बाल कब बढ़ते हैं? आपको पता नहीं है। पानीकी धारा वही, वही मालूम पड़ती है, दीपक वही, वही मालूम पड़ता है, पर बदलता जाता है। प्रतिक्षण नयी वस्तुका जन्म होता है और पुरानी वस्तुका प्रलय होता है। इसीसे भामतीकार मानते हैं कि अज्ञान भी अनेक हैं, ज्ञान भी अनेक हैं। घरका ज्ञान प्रत्येक क्षणमें नया-नया उत्पन्न होता है और पुराने अज्ञानका नाश करता जाता है।

यह जो सृष्टि, स्थिति, प्रलय हैं—एक तो होते हैं स्वाभाविक—प्रत्येक वस्तुका प्रतिक्षण हो रहा है। जो कल था वह आज नहीं है, पर मालूम नहीं पड़ता है। आपके बाल बदल गये। आपके रक्तमें परिवर्तन हो गया। मलापसरण हो गया। रोएँ बढ़ गये। पाचन हो गया। कल वाला तो कुछ है ही नहीं। एक सृष्टिप्रलय ऐसा होता है और एक होता है—कालमें गणना करते हैं—जब ब्रह्माजीका एक कल्प पूरा होता है, उनको निद्रा आती है तब एक प्रलय होता है। और दूसरा प्रलय यह होता है, जब प्रकृति शान्त हो जाती है—ठप्प! कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड भी उस समय नहीं होते हैं और एक प्रलय तब होता है जब महापुरुषको अपनी आत्माके स्वरूपका

बोध होता है। ब्रह्मज्ञान होता है। उसको बोलते हैं—आत्यन्तिक प्रलय। नित्य प्रलय, नैमित्तिक प्रलय, प्राकृत प्रलय और आत्यन्तिक प्रलय। ये चार प्रकारके प्रलय माने गये हैं। महात्मा जीवनमें जीवित रहता है, लोगोंकी दृष्टिमें वह बोलता है, हँसता है, खेलता है। लेकिन उसके प्रपंचका आत्यन्तिक प्रलय हो चुका है। न उसमें जन्म है, मृत्यु है, न कर्म है, न कर्मफल है, न भोग है—ऐसा होता है महात्मा।

× × ×

प्रश्न : 'मम साधर्म्य' का यह पद द्वैतपरक है या अद्वैतपरक?

उत्तर : जो द्वैत प्रेमी हैं, उनके लिए द्वैतपरक है। जो अद्वैतके प्रेमी हैं, उनके लिए अद्वैतपरक है। हमारा कोई द्वैत-अद्वैतमें आग्रह नहीं है। यह जो द्वैत-अद्वैतका झगड़ा है वह बहुत निचले स्तरपर है।

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समं तत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम्॥

कोई अद्वैत चाहते हैं, कोई द्वैत चाहते हैं। और वे सब तत्त्व जिसमें द्वैत-अद्वैतकी कल्पना की हुई है वे तो सम हैं और महात्मा लोग इसी उसीको जानते हैं। असली धर्म वहीं है जिसमें विवाद नहीं है; असली धर्म वह है जिसमें विरोध नहीं है। जो एकका विरोध करके धर्म होता है, वह धर्म नहीं, कुधर्म है।

अविवादोऽविरुद्धश्च देशितस्तं नमाम्यहम्। (माण्डूक्यकारिका 4.2)

गौड़पादाचार्य कहते हैं—हम ऐसे धर्मका उपदेश करते हैं जिसमें न विवाद है और न तो विरोध है। विवाद और विरोधसे बिलकुल रहित धर्म-उपासनामें भगवान्का अनुरोध है। तुम जो करो सो ठीक है। योगमें निरोध है और ज्ञानमें अविरोध है।

धर्म यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुवर्त्म तत्।
अविरोधस्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम॥

महाभारतमें कहते हैं कि धर्म वह है जो वाद-विवादमें नहीं पड़ता है। तुम्हारी दृष्टिसे, तुम जहाँ बैठे हो, वहाँसे वैसे ही दिखता है।

एक बार ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों इकट्ठे हुए। शंकरजीने कहा कि तुमलोगोंकी शकल-सूरत ठीक नहीं बनी है। सिरपर जटा रखो परन्तु दाढ़ी-मूँछ मत रखो। शंकरजीके दाढ़ी-मूँछ नहीं होती, सिरपर जटा होती है। सबको ऐसे ही रहना चाहिए। ब्रह्माजीने कहा कि दाढ़ी-मूँछ तो जरूर चाहिए, सिपर छोटे-छोटे बाल हों तो कोई हरज नहीं। मुकुटसे उनको ढक देना चाहिए, पर दाढ़ी-मूँछ जरूर होनी चाहिए। बड़े-बूढ़ोंकी यह पहचान है। विष्णु भगवान्ने कहा कि न तो दाढ़ी-मूँछकी जरूरत है, न तो सिरपर बड़े-बड़े बात बाल रखनेकी जरूरत है। जब तीनोंमें वाद-विवाद हुआ, तो आँख लाल होने लगी। विवाद होने लगा। अब ब्रह्मा, विष्णु, महेश होकर दाढ़ी-मूँछके विषयमें वाद-विवाद करें, कितनी नीच दृष्टि है, कितनी हीन दृष्टि है। छोटी-छोटी बातोंको विवादका, विरोधका आधार नहीं बनाना चाहिए। चाहे द्वैत हो, चाहे अद्वैत—जो द्वैतका प्रेमी है, भक्त है, उसको हम द्वैतके अनुसार उसकी व्याख्या करके सुना देते हैं। और जो अद्वैतका प्रेमी है, उसको अद्वैतकी व्याख्या

करके सुना देते हैं। जब वह अधिकारी होगा, जब उसका अन्तःकरण शुद्ध होगा निर्वासन होगा, तब वास्तविक अर्थ अपने आप ही उसकी समझमें आ जायेगा।

× × ×

प्रश्न : महद्ब्रह्म शब्दसे क्या प्रकृतिका निर्देश होता है? महद्ब्रह्म शब्दका प्रयोग सांख्य वेदान्त आदिमें हम कहीं नहीं पाते। इस शब्दका भगवान् क्यों प्रयोग करते हैं? इसके तात्पर्यका कृपया विशद वर्णन करें।

उत्तर : प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि होते हैं। यह गीताका सिद्धान्त है—

पुरुषं प्रकृतिं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणाँश्चैव विद्धि प्रकृति-संभवान्॥

प्रकृतिकी उत्पत्ति नहीं होती वह अनादि है। स्वरूपसे ब्रह्म है और कारणरूपसे उसको प्रकृति कहते हैं—

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। (ब्रह्मसूत्र 1.4.23)

इसमें कहा गया है कि प्रकृतिका जो वस्तुतः स्वरूप है वह ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। यहाँ सृष्टिकी जो प्रक्रिया बतायी गयी है, वहाँ उद्बुद्ध प्रकृतिका नाम 'महद्ब्रह्म' है। ब्रह्म महद् और महद् ब्रह्म दोनों तरहसे प्रयोग किया हुआ है। तीसरे श्लोक में 'ममयोनिर्महद्ब्रह्म' है और चौथे श्लोक में—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

पहली बात यह है कि आदि सृष्टिमें कैसे हुआ? असलमें सृष्टि आदि होती ही नहीं, अनादि होती है। इसलिए 'बीजांकुर न्याय'से—जैसे बीजसे वृक्ष होता है, फिर वृक्षसे बीज होता है, इसी प्रकार यह प्रकृति-पुरुषकी धारा चलती रहती है। इसमें—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥

जो प्रकृति-पुरुषके परम तत्त्वको जान जाता है, वह मुक्त हो जाता है। यहाँ जो उत्पत्ति बतायी है, वह न पुरुषकी है, न प्रकृतिकी। यह तो शरीरोंकी उत्पत्ति होती है और आत्मा तो चेतन है, साक्षात् ज्ञानस्वरूप है; उसकी उत्पत्ति नहीं होती है। अब देखो, उत्पत्तिकी प्रक्रिया कितनी सरल रीतिसे समझायी गयी है। जैसे, माता-पितासे सन्तानकी उत्पत्ति होती है, 'मम योनिर्महद् ब्रह्म'—मेरी पत्नी है। भगवान् कहते हैं—मेरी पत्नी है। कौन? महद् ब्रह्म। महद् ब्रह्म माने महत्तत्त्वके रूपमें उद्बुद्ध प्रकृति और वस्तुतः वह भी ब्रह्मस्वरूप ही है। माने मैं ही हूँ, वो ही माने माता-पितामें कोई भेद नहीं है।

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।

जब प्रकृतिमें परिणाम होता है और वह महत्त्वके रूपमें प्रकट होती है-महद् ब्रह्म—तब उसमें

भगवान् गर्भ माने चिदाभास पड़ता है। उस समय स्वच्छ होती है प्रकृति अर्थात् महत्तत्त्व। उसमें भगवान्‌की परछाईं पड़ती है। वह जो प्रकृतिमें पड़ी हुई भगवान्‌की छाया है, उसीको बोलते हैं गर्भाधान। अब उसी प्रकृतिमें अनेक प्रकारके शरीर—बेटा-बेटी, देवताओंके भी होते हैं।

कहते हैं न कि इन्द्रके पुत्रका नाम जयन्त है और इन्द्रकी बेटीका नाम जयन्ती है, इन्द्रकी पत्नीका नाम शची है। शंकरके महाकाली है, विष्णुके लक्ष्मी है। ऐसे जो परमेश्वर हैं, उसकी जो प्रथम उद्‌बुद्ध ज्ञानशक्ति है, उस ज्ञानशक्तिमें जो परमेश्वरका प्रतिबिम्ब है, छाया है, आभास है, अथवा तदवच्छिन्न चैतन्य है—वेदान्तियोंमें तरह-तरहकी बात चलती है। जैसे, माता-पितासे सृष्टि होती है, यह बात बालक समझते हैं। उसी प्रकार माता है महद्‌बुद्धि, जो कि वस्तुतः ब्रह्म है और प्रकृतिका प्रथम परिणाम बुद्धिरूप, ज्ञानरूप है। उसमें जो भगवान्‌की छाया है उसीसे ये सारे-के-सारे शरीर—जैसे, धूप-छाँह होता है—चमाचम चमक रहा है। शुद्ध प्रकृतिमें ये अनेक जीवोंके शरीर—बेटा-बेटी भी और जूँआ और खटमल भी और ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी, ये सब-के-सब उसी महाप्रकृति, महामाताके गर्भमें परमपिता परमेश्वरके प्रतिबिम्बिनसे उत्पन्न होते हैं। इसीसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है।

कहनेका अभिप्राय यह है कि सबके पिता परमेश्वर हैं। यदि पिताका पर्यवसान करना हो कि आदि पिता कौन होगा? तो वह परमेश्वर होगा। आदि माता कौन होगी? तो प्रकृति—महत्तत्त्व होगा। असलमें सबके माता-पिता वही हैं और उनकी प्रकृति पुरुषकी सेवा करते हुए, ज्ञानके द्वारा परमात्माकी सेवा करते हुए और कर्मके द्वारा प्रकृतिकी सेवा करते हुए, प्रत्येक जीवको अपना जीवन यापन करना चाहिए। माता-पिताकी सेवा छोड़कर और कोई मार्ग नहीं है।

मातृदेवो भव।
पितृदेवो भव।
मातर एव देवाः।

हमारे देवता कौन हैं? ये माताएँ—एक माँ का अर्थ नहीं है वहाँ, वहाँ सभी माताएँ देवता हैं, पूजनीय हैं और पितृदेवो भव—सभी पिता अपने पिता हैं। सभी मनुष्य अपने पिता हैं। जैसे, माता-पिताके प्रति अपना कर्तव्य होता है कि उनकी सेवा करें, इसी प्रकार संसारमें जितने भी स्त्री-पुरुष हैं, उनके प्रति अपना कर्तव्य है कि हम अपने सद्‌भावयुक्त सेवाके द्वारा सबको सुख पहुँचावें। सबके ज्ञानमें सहायता करें। सबके सत्कर्ममें, सुखमें वृद्धि हो। इसीलिए यहाँ माता-पिताके रूपमें परमेश्वरका वर्णन है कि आप ईश्वरके प्रति जो कर्तव्य निभाना है, वह सबके प्रति निभावें। माताके प्रति जो कर्तव्य निभाना है, वह सबके प्रति निभावें।

तेरहवें अध्यायमें क्षेत्र कहा हुआ है—खेत और क्षेत्रज्ञ—क्षेत्रज्ञ माने खेतको जाननेवाला किसान। इसमें कैसी माटी है, कितनी गीली है, कितनी सूखी है, यह करैली है कि बलसुनरी है? (ये मिट्टीके भेद होते हैं)—इसमें कौन-सा बीज बोवेंगे तो उससे उत्पादन बढ़िया होगा? जैसे, क्षेत्रज्ञ अपने खेतमें खेती करता है। इसीप्रकार यह परमेश्वर जो है, अपनी पत्नीरूप प्रकृतिमें नाना प्रकारकी सन्तान उत्पन्न करता है। बीजप्रद—

जैसे, खेतमें किसान बीज बोता है, इसप्रकार भगवान् प्रकृतिमें बीज बोते हैं, और नाना प्रकारकी पौध पैदा होती है। यह है—

अहं बीजप्रदः पिता।

× × ×

प्रश्न : प्रकृतिको महद्‌रूपी योनि, अपनेको बीजप्रदाता कहकर सृष्टिके मूलमें द्वैत है, ऐसा प्रभु मानते हैं। गीताको अद्वैतवर्षिणी कैसे कहा जाय?

उत्तर : जहाँ सृष्टि और प्रलयका वर्णन है, वहाँ द्वैत नहीं होगा तो सृष्टि कैसी? और द्वैत नहीं होगा, तो प्रलय कैसा? यह एक अद्‌भुत दृष्टि है, जैसे मिट्टी रहती है—मिट्टी अद्वैत है और घड़े द्वैत हैं। है कि नहीं भाई? ऐसे ही पंचभूत एक है और सृष्टिमें नाम-रूप अनेक होते हैं। तो परमात्मा चेतन एक है और चिदाभास अनेक हैं। एकतामें कोई फरक न डालकर ही यह अनेकताकी सृष्टि और प्रलय होता है। आकाश एक है और हर घड़ेमें आकाश अलग-अलग है। वायु एक है, वायु अद्वैत है, लेकिन हमलोगोंके शरीरके भेदसे वही श्वासरूप होकर अनेक हो जाता है। तो क्या अनेक प्राण होनेसे, अनेक साँस होनेसे, वायुमें भेद हो जाता है? क्या नाकमें छेद अलग है, कानमें अलग है, मुँहमें अलग है, पेटमें अलग है तो आकाशमें भेद हो जाता है?

क्या सौ घड़ोंमें सूर्यकी सौ परछाई पड़ती हो तो सूर्य अनेक हो जाता है? समुद्रमें अगर कोटि-कोटि तरंगे उठती हों तो क्या समुद्र अलग-अलग हो जाता है? और पृथिवीमें कोटि-कोटि धूलिकण उड़ रहे हों, तो क्या पृथिवीतत्त्व अलग हो जाता है? इसलिए अद्वैत तत्त्व अक्षुण्ण रहते हुए भी, ज्यों-का-त्यों रहते हुए भी, उसमें अनेकताका आभास होता है। यह सृष्टि होनेसे परमात्माके स्वरूपमें किसी प्रकारका द्वैत नहीं होता है। यदि आपको घड़ेसे पानी पीना है, घरमें रखना है, तो आप बाजारसे खरीदकर ले आइये। आपके लिए वह घड़ा है और जिसको उसमें कुछ रखना नहीं है, पानी पीना नहीं है, जिसको कोई उससे प्रयोजन नहीं है, जो निर्वासन है, उसके लिए जैसी माटी वैसा घड़ा। निर्वासन पुरुषके लिए तत्त्व अद्वैत होता है और वासनावान्‌के लिए इसमें अनेकता दिखायी पड़ती है और अनेकता दिखायी पड़नेसे एकतामें कोई बाधा नहीं पड़ती है।

●

प्रवचन : 3

17-11-85

प्रश्न : कल परमपूज्य स्वामीजीने जो कहा, उसपर एक प्रश्न है। चौथे श्लोकमें नाना प्रकारके योनियोंकी त्रिगुणमयी माया-रूप योनि और ब्रह्म, बीजप्रद पिता कहा गया है। पाँचवें श्लोकके अनुसार प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुण जीवात्माको बाँधते है। यहाँ तक तो समझमें आता है कि अपने त्रिगुणात्मक आचरणोंसे जीवात्मा बार-बार जन्मान्तरमें बँधता रहता है; किन्तु आद्य स्थितिमें जब जीवात्मा विशुद्ध चैतन्य था, उसे परमात्माने अपनेसे पृथक् प्रपंचमें क्यों डाला?

उत्तर : वैसे उन्होंने कल ध्यानसे सुना होता तो इस प्रश्नका उत्तर उसमें आ गया था। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों अनादि होते हैं।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं। अनादि हैं माने किसी कालमें उत्पन्न नहीं हुए हैं। यदि आप मानोगे कि जीवात्मा और प्रकृति दोनों कालमें हुए हैं, तो जगत्का मूलतत्त्व काल ही हो जायगा। वहाँ तो जगत्का मूलतत्त्व परमात्मा है और वह अनादि प्रकृतिके संयोगसे सबका उत्पादक है—

यावत्संजायते किंचित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञ संयोगात् तद् विद्धि भरतर्षभ॥

क्षेत्र भी अनादि है, क्षेत्रज्ञ भी अनादि है और इनका संयोग भी अनादि है। महाप्रलयके समयमें ये जो योनियाँ हैं, अर्थात् स्त्री है, पुरुष है, पशु है, पक्षी है—ये सब शरीर नहीं रहते हैं और जब सृष्टि होती है तब ये शरीर उत्पन्न हो जाते हैं। और अविद्यावान् जो जीव है, वह महाप्रलयके समय शान्त रहता है और सृष्टिके समय शरीरधारी होकर अपना कोई काम करता है। यह विशुद्ध चैतन्यस्वरूपसे तब भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा। अविद्याके कारण अपनेको कालमें, जन्म लेनेवाले शरीर, स्थान-विशेषमें रहनेवाले शरीर, रूप-विशेषमें रहनेवाले शरीर या नाममें रहनेवाले शरीरको अपना आपा मान लेता है। इसलिए उत्पत्ति जो है वह जीवकी कभी नहीं होती। जीव अनादि और ब्रह्मविद्याके द्वारा उसके जीवत्वकी निवृत्ति, ब्रह्मत्वका बोध होता है।

जीवकी उत्पत्ति ईश्वरसे भी नहीं होती है क्योंकि वह ईश्वरका स्वरूप है। और प्रकृतिकी उत्पत्ति भी कभी नहीं होती है, वह तो अनादि है। और यह जब तक प्रपंच है—जब तक माने हमेशा, यह प्रपंच चलता रहता है। जीवात्माको अपने ब्रह्म होनेका ज्ञान होता है, वह मुक्त हो जाता है और यह सृष्टि तो—

यथापूर्वम् अकल्पयत्। (ऋग० 10-190-3)

जैसे महाप्रलयके पहले थी वैसे ही बादमें रहती है—अनादि है और चलती रहती है। इसलिए जीव कभी विशुद्ध चैतन्य था और अब वह अशुद्ध चैतन्य हो गया, ऐसा नहीं है। जीव तो वस्तुत: विशुद्ध चैतन्य

ही है; परन्तु अपने स्वरूपके अज्ञानके कारण, यह प्रकृतिके कार्य जो शरीर हैं उनमें 'मैं' और 'मेरा' करके फँस जाता है और तत्त्वज्ञानके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर मुक्त हो जाता है। अज्ञानकी प्रकृति होती है कि आपसे पूछें कि आप रशियन भाषा और लिपि जानते हो? तो बहुत-से लोग इसमें होंगे, कहेंगे हाँ, जानते हैं, कबसे जानते है? जबसे सीखा है, तबसे जानते हैं। कबसे नहीं जानते थे? जन्मसे नहीं जानते थे। पूर्व जन्म में? तो सीखकर ही तो जाना होगा न! जो रशियन भाषा और लिपिका आपको अज्ञान होगा, वह अज्ञान अनादि होगा। लेकिन सीखनेसे उसकी निवृत्ति हो जायेगी। इसी प्रकार अविद्याको अनादि मानते हैं। प्रकृति भी अनादि है। जीव भी अनादि है। परमेश्वर भी अनादि है। यह सृष्टिकी प्रक्रिया भी अनादि और प्रवाह रूपसे नित्य है। इसमें जो अविवेकके कारण सम्बन्ध है, अविद्याके कारण जो 'मैं', 'मेरा' है—वह तत्त्वज्ञानसे निवृत्त होता है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।।

जन्म, मरणसे उसका सम्बन्ध छूट जाता है। देखो, जीवको यहाँ भी उत्पन्न नहीं बताया। श्लोक तो शायद आपने उद्धृत भी किया है—**निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।**

देही तो अव्यय है, माने यह जीवात्मा जो है, यह तो अव्यय है, अनादि है, अनन्त है। इसकी जो परिच्छिन्नता है, वह अविद्याकल्पित है। अनादि भावरूप अविद्याके द्वारा यह कल्पित है और ज्ञाननिवर्त्य है। इसलिए शरीरोंकी उत्पत्ति ही प्रकृति और प्रारब्धके अनुसार होती है। जीवात्माकी और प्रकृतिकी उत्पत्ति नहीं होती है। ये अनादि होते हैं और तत्त्वज्ञानके द्वारा बाध्य होते हैं। जबतक तत्त्वज्ञान नहीं होगा तबतक इनसे मुक्ति नहीं मिल सकती।

× × ×

प्रश्न : महद्ब्रह्मयोनि तथा बीजप्रद पिता द्वारा अनगिनत शरीरधारी जीवोंकी उत्पत्ति होती है। क्या प्रत्येक उत्पत्ति इस प्रकारके संयोगसे ही होती है? अथवा सृष्टिके प्रारम्भ कालमें ऐसी होती है? क्या प्रारम्भिक जीव-सृष्टिकी वृद्धिमें जीव एवं प्रकृति ही हेतु है? परमात्मा नहीं है? इसके अतिरिक्त क्या दूसरा कोई रहस्य सृष्टि एवं जीवोंकी उत्पत्तिका है?

उत्तर : मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

भगवान् हैं अध्यक्ष और उनकी अध्यक्षतामें प्रकृति चराचरकी सृष्टि करती है। परमात्माकी अध्यक्षतामें प्रकृति सृष्टि करती है। यह बात तो गीताको मान्य है, पर स्वतन्त्र प्रकृति गीताको मान्य नहीं है। प्रकृति भगवान्के अधीन रहकर अपना सारा काम करती है। जीवोंकी उत्पत्ति होती है, यह बात तो गीताको बिलकुल मान्य नहीं है। शरीरोंकी उत्पत्ति होती है और कर्मके अनुसार वे बदलते भी रहते हैं। कभी कर्मके अनुसार मनुष्य होगा, कभी पशु होगा, कभी पक्षी होगा, कभी देवता होगा; परन्तु जीव तो तबतक जीव रहेगा, जबतक उसको अपने ब्रह्मपनेका ज्ञान नहीं हो जाता।

इसलिए सारे प्रश्नका उत्तर यह हुआ कि प्रकृतिके द्वारा, कर्मानुसार शरीरकी सृष्टि होती है; परन्तु अध्यक्ष है परमात्मा। परमात्माके स्वामित्वमें यह उत्पत्ति होती है और परमात्माका बोध होनेपर जब परमात्मासे एकता हो जाती है, तब प्रकृति और कर्मकी गति वहाँ नहीं रहती है। अब आप शायद अनादित्वके बारेमें कुछ शंकाशील है! आप पूर्वकी आदि बताइये।

कल एक सज्जन आये थे, वे पूर्वी धर्म और पश्चिमी धर्मकी बात कर रहे थे। भाई, पूर्वी और पश्चिमीका भेद कैसे होता है? क्या पश्चिमी देशमें सूर्योदय नहीं होता? क्या वहाँ सूर्यास्त नहीं होता? जहाँ सूर्योदय होता है वहाँ पूर्व है, जहाँ सूर्यास्त होता है वहाँ पश्चिम है। पूर्व और पश्चिम तो सर्वत्र ही रहते हैं। यदि कोई चाहे कि हम यहाँसे जापानकी ओर जाकर पूर्वकी आदि पकड़ लें, तो उसके बाद भी पूर्व, उसके बाद भी पूर्व। हम लंदनसे पश्चिम जायें, तो वहाँ पश्चिमका आदि-अन्त मिलेगा? नहीं, कितना भी जाओ आदि-अन्त नहीं मिलेगा। बल्कि उसीमें आदमी बेहोश होकर गिर पड़ेगा, भटक जायेगा, मर जायगा। देशका आदि-अन्त नहीं होता, न ऊपर, न नीचे, न दाहिने, न बायें, न सामने, न पीछे।

इसी प्रकार काल जो है—कोई भूतकी आदि चाहे कि हम स्पर्श करें, तो वह केवल कल्पना ही कर सकता है, उसके पहले, उसके पहले, उसके पहले, उसके बाद, उसके बाद, उसके बाद। काल भी भूतकाल भी, अनादि होता है और भविष्यकाल अनन्त होता है। इसलिए जो लोग इतिहास लिखते हैं, वे एक झूठी विभाजक कल्पना कर लेते हैं कि यहाँसे इतिहासका आदिकाल है, यहाँसे मध्यकाल है, यहाँसे वर्तमानकाल है। यदि एक सेकेण्डका हम अरब हिस्सा कर दें, नहीं, अरब-अरब हिस्सा कर दें, तब भी भूत-भविष्य उसका पिण्ड नहीं छोड़ेंगे। इसलिए देश, काल और वस्तुएँ—ये जिसको आप सृष्टि बोलते हैं, ये वस्तुएँ—इनका भी आदि-अन्त नहीं होता है। ये सब प्रवाहरूपसे चलती रहती हैं। इनमें जो मैं-मेरा है, वह आत्मा और अनात्माके अविवेकके कारण है। और इनमें जो भी परिच्छिन्न होगा, वह दृश्य होगा। उसमें जो आत्मवुद्धि है, वह अपने स्वरूपके अज्ञानके कारण है। इसलिए हमारे वेद, शास्त्र, पुराण, महात्मा समय-समयपर आनेवाले भगवान्—ये सब उसी अज्ञानको दूर करनेके लिए उपदेश करते हैं।

× × ×

प्रश्न : महद्ब्रह्म योनि तथा बीजप्रद पिताकी संतान तो पिताके तुल्य ही होनी चाहिये। उसका पतन किस प्रकार होता है?

उत्तर : ऐसा है कि पिता और पुत्र तो वस्तुतः एक ही हैं। अपने पिताका अज्ञान और अपने पुत्रत्वका अज्ञान—यह अज्ञान अपनेको छोटा बना देता है, तब हम अपनेको कंगाल अनुभव करने लगते हैं। हमारे पास यह नहीं, यह नहीं, यह चाहिए, यह चाहिए, यह चाहिए। फिर अपने स्वरूपके अज्ञानसे और दूसरेमें महत्त्वबुद्धि होनेसे कामना होती है और कामनाकी पूर्ति करनेके लिए कर्म होते हैं। कर्ममें पाप-पुण्य होते हैं और पाप-पुण्यसे बँधकर विवशता आ जाती है, फिर नरक और स्वर्गमें आना-जाना पड़ता है, तो असलमें हम जिस अमृतके पुत्र हैं, जिस परमात्माकी संतान हैं, उसका अज्ञान ही क्षुद्रताका कारण है। यहाँ तो बाप और

बेटेका सम्बन्ध ही अज्ञान हो गया है। हमारी समझमें ही नहीं आता कि हम परमात्माकी सन्तानें हैं और हमको परमात्म-स्वरूप ही होना चाहिए और यदि आपको इसका बोध है तो बहुत बढ़िया। आप सचमुच परमात्मासे भिन्न नहीं हैं। परमात्माके पुत्र है, परमात्माके समान नहीं है, परमात्मा ही हैं।

× × ×

प्रश्न : बीज और चेतन तत्त्वपर प्रकाश डालें।

उत्तर : देखो, माटी तो सब बीजोंमें माटी ही रहती है और बीजके भेदसे एक ही खेतमें, एक साथ ही, मेड़पर आलू लगा देते हैं। और गन्नेको नालीमें लगा देते हैं और लाल मिर्चके बीज उसपर छिड़क देते हैं। माटी एक रहती है और लाल मिर्चका बीज तीता होता है, उससे तीती मिर्च पैदा होती है। गन्नासे मीठा रस पैदा होता है। और आलूको चाहे मीठेमें मिलाओ, चाहे खट्टेमें, चाहे नमकमें—सबके साथ मिलनेको तैयार है। माटी एक होनेपर भी बीजके भेदसे जैसे, पौधे अलग हो जाते हैं, इसी प्रकार यह जो जीव है—(आपने ध्यान दिया होगा—ज ई, व, व ई और ज)—चेतनकी प्रधानतासे जो बीज होता है, उसको जीव कहते हैं। बीज और जीव दोनों मूलतः एक ही हैं। पेड़-पौधा चाहे कुछ भी हों, उसमें जीव होता है और बीज भी होता है। मिट्टीके एक होनेपर भी बीजकी अनेकतासे पौधेमें अनेकता हो जाती है। इसी प्रकार चेतनके एक होनेपर भी कर्मरूप संस्कारकी अनेकताके कारण जीवमें अनेकता हो जाती है। और जबतक वह अपनेको कर्ता, भोक्ता मानता रहेगा, तबतक वह अलगाव बना रहेगा। और बादमें ब्रह्मज्ञानसे अपनेको वह गुणोंसे मुक्त कर लेगा।

आगे इसी अध्यायमें आवेगा—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

वह जीव परमात्मा हो जावेगा। कौन जीव? जो गुणोंको अपनेसे अलग कर देगा और कर्ता, भोक्तापन उनमें डाल देगा। और जो भक्ति करेगा वह भी—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

दो उपाय बताया—या तो गुण और आत्माका विवेक हो जाय, तो आप गुणोंके बन्धनसे, जन्म, मृत्युसे छूट जायेंगे। आपकी जो बीजात्मकता है। वह दग्ध हो जायगी। फिर कोई पौध पैदा नहीं होगी—न मनुष्यकी, न पशुकी, न पक्षीकी। फिर तो आप अपनेको परमात्माके रूपमें ही अनुभव कर सकेंगे। दूसरा उपाय है भक्ति।

× × ×

प्रश्न : प्रकृतिसे उत्पन्न सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण अव्यय जीवात्माको कैसे बाँध लेते हैं? कृपया विस्तारसे समझावें।

उत्तर : एक महात्माके पास कोई सज्जन गये और बहुत दुःखी हुए कि महाराज संसारके लोगोंने

हमको ऐसा पकड़ रखा है कि हम छूटते ही नहीं है। मन होता है कि छूटें, एकान्तमें बैठें, भगवान्‌का भजन करें। परन्तु लोग हमको छूटने ही नहीं देते हैं। तो महात्मा चुप रहे। थोड़ी देर बाद बगीचेमें जाकर उन्होंने एक पेड़को पकड़ लिया और पुकारने लगे—दौड़ो, छुड़ाओ रे! पेड़ने हमको पकड़ लिया है। अब जो भक्त था उसने कहा महाराज, पेड़ने आपको नहीं पकड़ा है। अब वे चिल्लाये—नहीं नहीं, पेड़ने हमको पकड़ लिया है। अन्तमें उन्होंने बताया कि ये गुण किसीको नहीं बाँधते हैं, हम ही जब अपनेको गुणी मान बैठते हैं, तो उनके साथ बँध जाते हैं। जहाँ-जहाँ आप गुण प्रकट करोगे या गुणको पकड़ोगे, वहाँ-वहाँ आपके लिए बन्धन हो जावेगा।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति-संभवाः।

संस्कृत भाषामें गुण माने रस्सी होता है। और उसको हम अपने शरीरमें लपेट लेते हैं—अहं गुणवान्, अहं गुणी। देखो, यह हड्डी, मांस, चामका जो बना हुआ शरीर है, यह तो तमोगुणका कार्य है और इसमें जो क्रिया होती है—चलना, फिरना, उठना, बैठना, यह रजोगुणका कार्य है। और इसमें जो ज्ञान होता है, यह शब्द है, स्पर्श है, रूप है, रस है, गंध है यह सत्त्वगुणका कार्य है। यह तीनों बात हमारे जीवनमें प्रत्यक्ष देखनेमें आती है।

जड़ शरीरके कारणके रूपसे तमस्‌का और क्रियाके कारणके रूपमें रजस्‌का और ज्ञानके कारणके रूपमें सत्त्वका अनुमान होता है कि इन तीनोंके तीन मूल होने चाहिए। और गुणोंके मूल साम्यावस्थामें जब यह सृष्टि नहीं होती है, तब एक होने चाहिए। उसीको प्रकृति कहते हैं और एक ही बूँद वह पानी है जो पिताके शरीरमें-से माताके शरीरमें आया था। और उसीमें-से आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा-ये सब निकल आये। ज्ञानेन्द्रियाँ आगयीं, उसीमें-से हाथपाँव कर्मेन्द्रियाँ आगयीं और उसीसे हड्डी मांसका शरीर निकल आया। वह बीजात्मक प्रकृति जो है वही केवल पिताके शरीरमें-से आयी थी और उसीके ये सब हाथ, पाँव, आँख, कान, नाक और यह हड्डी, मांसका डेढ़-दो मन वजनका शरीर प्रकट हो गया। यह चमत्कार है, यह आश्चर्य है! प्रकृतिके एक बूँद पानीने यह क्या कौशल दिखाया है? क्या निपुणता दिखायी है? इससे बढ़िया चमत्कार और कोई नहीं हो सकता।

आपके घरमें शहद गिरना चमत्कार नहीं है। भभूत गिरना चमत्कार नहीं है। आपके मनकी बातको कोई जानले, यह चमत्कार नहीं है। यह एक बूँद पानीका चमत्कार, जिसमें बुद्धि है और जिसमें प्रेम है, जिसमें इन्द्रियाँ हैं, कर्मेन्द्रिया हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ है, शरीर है, यह चमत्कार है! यही प्रकृतिके—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति-संभवाः।

तो ये एक बीजमें-से निकले हुए, लेकिन आँखसे देखनेमें हम इतने फँस गये। कानसे सुननेमें इतने फँस गये। हाथ पाँवसे काम करनेमें इतने फँस गये और यह हड्डी, मांस, चामके शरीरको ऐसा मैं मान लिया कि हम बँध गये। इसलिए यह जो रस्सी है, उसको गुण कहा जाता है।

पहले एक उपदेशक थे, वे बोला करते थे—

भली बावली बावली, सब कोई भरि लेत।

यह जो पानीकी बावली होती है, यह पगली सचमुच बहुत भली है, क्योंकि जो चाहे, सो इसमें-से जाकर पानी निकाल ले आवे।

भली बावली बावली, सब कोई भरि लेत।
भूप कूपकी एक गति, गुण बिन बूँद न देत॥

पर राजा और कुँआ इनकी एक गति है, क्योंकि रस्सी न हो तो कुँआ पानी न देगा और गुण न हो तो राजा एक पैसा नहीं देगा। गुणोंको हमने जो गुण समझ लिया, आगे आवेगा। कौन गुण कैसे बाँधता है यह अगले श्लोकोंमे आने ही वाला है। आप पूछते हैं, हम गुणोंके साथ कैसे बँधते हैं? और गीता स्वयं आगे बताती है कि कैसे गुण बाँधते हैं—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥

सत्त्वगुण निर्मल है, क्योंकि उससे ज्ञान प्रकट होता है और उसमें कोई दुःख नहीं है। आपको शरीरमें दुःख होता है, आँखका गोलक दुखता है, देखनेवाली आँख नहीं दुखती है। कानका गोलक दुखता है, सुननेवाला कान नहीं दुखता है। वह तो ज्ञानात्मक है। 'अनामय' माने दुःख रहित—निर्मल है, प्रकाशक है। बाँधता कैसे है?

सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।

जब आप सुख लेनेके आदी हो जाते हैं कि हमको तो बस मजा-ही-मजा चाहिए। अरे भाई, आप भोजन करते हैं और यदि चाहें कि मीठा-ही-मीठा खायें, वही बहुत मजेदार है या नमक-ही-नमक खायँ, तो आप ऊब जायेंगे, कै आने लगेगी। इसी प्रकार जो लोग सुखका आस्वादन करने लगते हैं—भोजनके समान ही उसमें थोड़ी मिर्च भी चाहिए। उसमें थोड़ी खटाई चाहिए, थोड़ा नमक चाहिए, थोड़ा तीता चाहिए, थोड़ा कसैला चाहिए। छह रसोंको मिलाकर जब आप भोजन करेंगे तब वह शरीरके लिए उपयोगी होगा।

इसी प्रकार जीवनमें जब सुखासक्ति हो जाती है कि नहीं हम तो बच्चेकी तरह खीर ही खायेंगे, रोने लग जायेंगे और 'ज्ञानसङ्गेन चानघ' का हम तो हर बातको ठीक-ठीक समझकर ही रहेंगे। अतः हर बातको ठीक-ठीक समझना तो यह एक जीवनमें होना सम्भव नहीं है। एक परमात्माको समझ सकते हैं ठीक-ठीक और बाकी तो दुनिया सदैव बदलती रहती है। देश बदलता है, काल बदलता है, नाम बदलते हैं, रूप बदलते हैं, शकल-सूरत बदलती है। जब तुम्हारी आसक्ति होगी कि हमारी चाम चिकनी ही रहे, इसमें झुर्रियाँ न पड़ें। कितना ही स्नो-पावडर लगाओ, आप क्या हमेशा उसको चिकना रख सकोगे? क्या बालको काला रख सकोगे? क्या आँख, कान, नाकको ऐसे ही रख सकोगे? यह जब हम ज्ञानकी आसक्ति और सुखकी आसक्तिमें फँस जाते हैं—यह ऐसा रहेगा तभी हम सुखी होंगे। बाबा कभी बिना बिस्तरके भी सो जाया करो और कभी बिना नमक, मीठाके भी खा लिया करो। जीवनका यही रंग-ढंग है।

जहाँ आसक्ति हुई, सुखके निमित्तमें आसक्ति होगी तो भी फँसोगे। यदि आपकी पत्नी जान जायगी कि ये मेरे बिना नहीं रह सकते तो आपसे ऐसे काम भी करायेगी जो आपको नहीं करना चाहिए। और जब पति जान जायगा कि पत्नी हमारी गुलाम है, हमारे बिना नहीं रह सकती—यह आसक्ति ही गन्दे कामकी ओर ले जाती है। इस आसक्तिसे ही हम बुराईमें फँसते हैं। वही बन्धन जो जाता है। सुखसङ्ग और ज्ञानसङ्ग ये दो सात्त्विकतामें ही हैं। जिन लोगोंके पवित्रताका अभ्यास हो जाता है—स्नान करनेपर कोई छू न दे। देख लो मजा! उनके मनमें क्रोध आ जावेगा। क्यों भाई, आप पवित्रात्मा हैं। शरीरमें अपरसके कपड़े पहनते हैं, स्नान करके अलग रहते हैं, मिट्टीसे हाथ धोते हैं। किसीने छू लिया तो आपको क्रोध क्यों आ गया? भाई, उस पवित्रतासे इतने बँध गये कि उसको छोड़ नहीं सकते। हर स्थितिके लिए मनुष्यको तैयार रहना चाहिए। देखो, उपनिषदोंमें क्या आता है? जूठे उड़दको खा लिया, जूठा पानी नहीं पीया। यह सत्त्वगुण बन्धनमें हेतु, आरामतलब बना देता है और जानकारीके पीछे इतना डाल देता है कि सारा काम छूट जाय। और—

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णा सङ्गसमुद्भवम्।

रजोगुणमें रंगीनी है। संन्यासी लोग भस्म लगाते हैं और वैष्णव लोग रंगीन माटीका तिलक लगाते हैं। भस्मका अर्थ है उनका प्रारब्ध, उनका प्रपंच भस्म हो गया है। अब प्रारब्ध तो उनके शरीरमें भस्मके रूपमें जला हुआ प्रारब्ध लगा है। और वे रागात्मक हैं, रंगीनी हैं-बड़े-बड़े मजे हैं। मनमें फिर तृष्णा होती है। तृष्णा माने संस्कृतमें होता है 'प्यास'। आप देखो, आप प्यासे हो कि तृप्त हो। संसारमें जितनी-जितनी तृप्ति होती है, उतनी-उतनी प्यास बढ़ती है और जितनी-जितनी प्यास बढ़ती है, उतनी-उतनी तृप्ति होती है। और संसारको छोड़ नहीं सकते। तो तृष्णा और आसक्ति ये राग के दो कार्य हैं। और रजोगुण इनसे बाँधता है—

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णा सङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनाम्॥

अब उसमें कर्मासक्ति आ जावेगी—यह करे, यह करे, यह करे। बोले बाबा, एक सेठ थे। हम तो सेठोंकी ही हँसी करते हैं। क्या करें? उनसे किसीने कहा कि चलो हाथी बाबाका दर्शन कर आओ। तो कहने, सुननेसे बिचारे गये। अब हाथी बाबाने कहा—भाई, तुम बहुत दिनके बाद आये। बोले, महाराज, क्या करें, मरनेकी फुरसत नहीं है। हाथी बाबाने कहा, भाई मरना आवेगा तब तो फुरसत मिलही जायेगी। उसके लिए आप क्यों फिक्र करते हो।

मनुष्यको ऐसी कर्मासक्ति हो जाती है कि वह अपने दूसरे कर्तव्योंको भी भूल जाता है। थोड़ा अपने अच्छे-बुरे कर्मोंकी याद करे। सन्ध्या-वन्दनमें अच्छे-बुरे कर्मोंकी याद की जाती है। 'यदह्ना पापमकार्षम्' इत्यादि मन्त्रमें दिनमें किये गये पापकी बात कही जाती है। उसी प्रकार 'यद्रात्र्या·····' इत्यादि मन्त्रमें रातमें कृत पापकी बात कही जाती है। इन पापोंकी याद करके, उनका प्रक्षालन होता है। अब सन्ध्या-वन्दन करके—माने अपनी बुराइयोंके प्रक्षालनका समय नहीं है। आप शरीरको तो धो लेंगे जरूर, लेकिन मनको धोनेके लिए आपके जीवनमें फुरसत नहीं होती है। कर्मासक्ति इतनी बढ़ जाती है कि

ईश्वरको भूल जाता है, अपनी आत्माको भूल जाता है, दुनियाको भूल जाता है, दीनको भूल जाता है और फँस जाता है। और—

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥

अज्ञान माने बेवकूफी। ये हाथ-पाँव बेवकूफ होते हैं और बुद्धि समझदार होती है। बुद्धि ज्ञानवती है और हाथ-पाँव ना समझ हैं। आँख देखती हैं, कान सुनता है लेकिन हाथ-पाँव देखते नहीं हैं। आँख देखकर बतायेगी—पाँव यहाँ रखो। यह अज्ञानसे तमस्‌की उत्पत्ति होती है। अज्ञान माने प्रकृति—'तमस्त्वज्ञानजं विद्धि' यह अज्ञान सबको मोहित कर लेता है। मोहित कर लेता है माने मोहमें डाल देता है—

प्रमादालस्यनिद्राभिः तन्निबध्नाति भारत।

जीवनमें प्रमाद आ जाता है। समयपर कामकी याद न आना, अपने कर्तव्यका स्फुरण ही न होना, प्रमाद है। नशेमें आ गये, भूल गये मैं कौन हूँ? मोहन—माने मोह—नशा। उसमें क्या होता है? नालीमें गिर पड़े फिर भी पता नहीं है।

एक श्रीमतीजी हमको बताती थीं कि उनके पति जब चार बजेके करीब बाहरसे लौटकर आते हैं और मोटरसे उतरते हैं तो मैं खड़ी देखती रहती हूँ छज्जेपरसे और जब वे मोटरसे बाहर निकलकर गिर पड़ते हैं, कभी-कभी नालीमें गिर पड़ते हैं, तब मैं दौड़कर जाती हूँ और उनको उठाकर ले आती हूँ, धोती हूँ, स्नान कराती हूँ। जैसे वे स्वस्थ हो वैसा काम करती हूँ। तुम्हारा मन कैसा रहता है? तो वह बोली—मेरा मन ऐसा रहता है कि इसी समय तो इनको मेरी जरूरत है। देखो, यह है पत्नीका भाव। यह तमोगुण सबको मोहित कर लेता है। इसमें अपने कर्तव्यका बोध नहीं रहता और बोध होनेपर भी आलस्य आ जाता है कि चलो आज नहीं, कल कर लेंगे। वह कल फिर कभी नहीं आता है। और ऐसे ही लोगोंके जीवनमें तनाव बहुत ज्यादा होता है जो अपने समयका काम समयपर पूरा नहीं करते। आलसी लोगोंके जीवनमें ही तनाव बहुत ज्यादा रहता है और नहीं तो फिर निद्रा, सो गये। कैसे बँधे आप? तमोगुणके द्वारा बँध गये। यह एक बीजमें-से ही तीनों निकले हुए हैं। आपको यह सम्हालकर देखना पड़ेगा कि आप कहाँ फँसते हैं? निकम्मे हो गये, निद्रामें फँस गये—

मा ते संगोस्त्वकर्मणि।

निकम्मापन तो अपने जीवनमें आना ही नहीं चाहिए और आलस्य माने जिस समयका जो कर्तव्य है उस समय रसके साथ, रुचिके साथ उसको पूरा न करना और विस्मरण हो जाना। भूल ही जाय, कर्तव्य याद ही न आवे तो समझना तमोगुण बहुत बढ़ रहा है। यह जीवको बाँध करके कहाँ पटकते हैं, सुखमें और ज्ञानमें आसक्ति होनेसे बन्धन बना है। जैसे एक हाथी हथिनीका स्पर्श करके मुग्ध हो जाता है—वहाँ बँध गया और रजोगुणने तृष्णा उत्पन्न की—हमको यह चाहिए, यह चाहिए—

यद् यत् प्रीतिकरं पुसां वस्तु मैत्रेय जायते।
तदेव दुःखवृक्षस्य बीजत्वमुपगच्छति।। (विष्णु पु० 6.5.55)

दुनियामें जिसमें हम ज्यादा मजा लेने लगते हैं, वही अन्तमें हमको दुःख देनेवाली सिद्ध होती है। उसीसे स्वास्थ्य बिगड़ता है, उसीसे बुद्धि बेकाबू हो जाती है। अगर अपने जीवनको बनाना है, तो दुनियामें बहुत मजा लेनेकी कोशिश करेंगे तो अन्तमें शरीर अशक्त हो जायगा। आपकी इन्द्रियाँ आपका साथ नहीं देंगी। आपके मनकी रुचि बदल जायगी। रुचि आबद्ध हो जायगी, इसलिए जहाँ तक हो सके, तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण इन तीनोंके बन्धनसे मुक्त होकर व्यवहार करना चाहिए। उन्मुक्त व्यवहार—कहीं फँसाव न हो, पाँव ऐसी जगह रखिये जहाँसे उठा सकें। हाथ ऐसी जगह डालिये जहाँसे खींच सकें। आपके जीवनमें ऐसी आदतें हों कि उनको छोड़ करके भी आप रह सकते हों। यह जो गुणोंकी आसक्ति है यह मनुष्योंको बहुत दुःख देती है—इन सब गुणोंसे छूटनेकी बात आगे बतायी गयी है। इसी अध्यायके अन्तमें बताया है कि आप परमात्माकी भक्ति कीजिये—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

यदि आप परमेश्वरकी भक्ति करेंगे तो इन गुणोंमें कहीं आपकी आसक्ति नहीं होगी। कहीं बन्धन नहीं होगा। आपके दिल, दिमागमें कहीं तनाव नहीं रहेगा। मस्त होकर आप अपने सारे कर्त्तव्योंको पूरा करेंगे। यह गीता जीनेकी कला है। जीवनका ग्रन्थ है। यह आपके जीवनको अमृतमय बनानेवाला है।

× × ×

प्रश्न : यहाँ 'देहिनम्' जीवात्माको अव्यय कहा गया है जबकि परमात्मा और ब्रह्मको भी अव्यय कहा जाता है, फिर क्या दोनों एक हैं? समझानेकी कृपा करें।

उत्तर : 'अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्' यह जो अश्वत्थ है वह अव्यय है। संसारवृक्ष अव्यय है। 'देहे देहिनमव्ययम्'—यह आत्मा भी अव्यय है और परमात्मा भी अव्यय है। यहाँ अव्ययपर विचार करेंगे। व्यय माने होता है घिसना। जैसे कोई मशीन चलते-चलते घिस जाती है, तो उसको बदलना पड़ता है, इसी प्रकार व्यय कहते हैं—

वि इति विपरीतम् एति—व्ययनं व्ययः।

जैसा पहले था वैसा नहीं रहा। आपका शरीर व्यय है, आपका मकान व्यय है। इतना बड़ा व्यय है कि मालूम तो पड़ता नहीं! हम पहले स्वर्गाश्रममें जाते तो गंगा-किनारे एक जगह बैठते। एक वहाँ चट्टान थी। गंगाकी धारा उसपरसे छलककर गिरती थी। हर साल वैसी-की-वैसी। लेकिन सोचो क्या वही जल, वही धारा—कहाँ-की-कहाँ मिनिटोंमें जाती थी। पर मालूम पड़ती थी उसी प्रकार छलक रही है। इसी प्रकार यह जो संसार है, यह तो सदैव परिवर्तित होता रहता है।

आत्मा और इस संसारको भी अव्यय कहा जाता है। और अव्यय माने अपने सत्-स्वरूपसे इसमें कोई परिवर्ततन नहीं है, अपने चित्-स्वरूपसे इसमें कोई परिवर्तन नहीं है, अपने आनन्द-स्वरूपसे इसमें कोई

परिवर्तन नहीं है। उसीको अव्यय बोलते हैं। यदि आप अपनेको अव्ययसे एक समझें तो इस संसारके व्ययका कोई प्रभाव आपके ऊपर नहीं पड़ेगा।

एक माता थीं। उनके बारेमें लोग यह प्रचार करते थे कि ये कभी वृद्ध नहीं होंगी। जब बाल सफेद होने लगे तो रोज देख-देखकर उनके सफेद बाल निकाल दिये जाते थे कि वृद्ध नहीं हो रही हैं। बादमें रँगानेका भी कार्यक्रम आ गया। अब दाँत भी टूटने लगे और झुर्रियाँ भी पड़ गयीं। आँख भी कमजोर हो गयी। चश्मा लगानेकी जरूरत पड़ी। तो यह संसार व्यय हो रहा है। वही दीपकलिका नहीं है जो एक मिनिट पहले थी। बत्ती जल गयी। तेल जल गया। यह वही बल्बकी रोशनी नहीं है। यूनिट-पर-यूनिट खाती जा रही है। नयी शक्ति आती है, जलती है, खर्च होती है। यह खर्चनेका नाम ही व्यय है। आत्मा ही एक ऐसी वस्तु है जिसकी ख-रचना नहीं होती। ख-रचना माने शून्य रचना, खात्मा-शून्यात्मा। आत्मा ही एक ऐसा है जिसका खात्मा नहीं है और जिसका ख-रचना नहीं है। यह ज्यों-का-त्यों रहता है। इसीलिए सत्‌रूपमें प्रपंच और चित्‌रूपमें जीवात्मा और आनन्दरूपमें परमात्मा, ये अव्यय हैं और तीनोंको ही अव्यय कहा गया है।

× × ×

प्रश्न : दसवें श्लोकमें बतलाया है कि रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण प्रबल होता है। रजोगुण एवं सत्त्वगुणको दबाकर तमोगुण प्रबल होता है। तमोगुण और सत्त्वगुणको दबाकर रजोगुण प्रबल होता है। कृपया इस प्रक्रियाको दृष्टान्तके साथ समझावें।

उत्तर : एक दिन मनमें आया कि आओ, मन्दिरमें चलें, भगवान्‌का दर्शन कर आवें। ठीक उसके दूसरे ही क्षणमें आया कि आज तो टी०वी० पर बहुत बढ़िया नाटक आ रहा है, वह देखना चाहिए। फिर उसके एक क्षण बाद आया—अजी ऐसे ही थक गये हैं, अब टी०वी० कौन देखे—सो जायें। अब आप देखो, ये तीनों अपने ही मनकी वृत्तियाँ हैं—एक सो जानेकी वृत्ति है, टी०वी० देखनेकी वृत्ति है और एक मन्दिरमें दर्शन करनेकी वृत्ति है। आपके मनमें जब दर्शन करनेकी वृत्ति प्रबल होगी तो टी०वी० और सोना छोड़ देंगे और रजोगुणकी वृत्ति प्रबल होगी तो दर्शन और सोना छोड़ देंगे, टी०वी० देखेंगे। और जब तमोगुणकी वृत्ति प्रबल हो जायेगी। तो सब छोड़-छोड़कर सो जायेंगे।

हमसे एकने कहा कि महाराज, आप रविवारको हमारे यहाँ टेलीफोन मत करवाया करना, क्योंकि उस दिन टी०वी० पर बहुत बढ़िया नाटक आता है, तो देखनेमें 'डिस्टर्ब' होता है। अब यह देखो, कौन-सी वृत्ति किसको दबाती है। तमोगुण वृत्ति रजोगुणीको, रजोगुणी सत्त्वगुणीको, सत्त्वगुणी रजोगुणीको, रजोगुणी तमोगुणीको। यह परस्पर एक दूसरेसे लड़ते ही रहते हैं। आप जिसके पक्षमें हो जावेंगे, यह प्रबल हो जावेगा।

आप सत्त्वगुणी प्रकृतिके पक्षमें हो जावें, इसके लिए यहाँ इसका वर्णन है। वैसे तो तीनोंमें-से कोई भी गुण पकड़नेके लिए यह अध्याय है। परन्तु इनमें भी जब अच्छे गुण और बुरे गुणका भेद करना है तो आप खूब मौजसे अपना विवेक करके देख लीजिये। जो परमात्माका आनन्द है, उसमें न वस्तुकी आवश्यकता है, न परिश्रमकी आवश्यकता है और न किसी प्रकारका तनाव है। और परमात्माके सिवाय दूसरी वस्तुओंका जो

आनन्द है, उसमें या तो निकम्मापन है, या तो किसी चीजकी जरूरत है, या तो किसी मेहनतकी, परिश्रमकी आवश्यकता है—वह शान्त आनन्द नहीं है। इसलिए आप इन गुणोंसे मुक्त रहनेके लिए थोड़ा विचार करें।

इसके लिए भगवान् अर्जुनको कह रहे हैं कि गुणोंसे असङ्ग हो जाओ। दिनभर पूजा ही करते रहो, यह बात नहीं है, या दिनभर काम ही करते रहो, यह बात नहीं है, दिनभर सोते ही रहो, यह बात नहीं है। अपने जीवनको व्यवस्थित कर लो। समयपर पूजा करो, समयपर काम करो, समयपर विश्राम करो और तीनोंमें एक होनेसे तुम इनसे असङ्ग रहोगे। यदि एक-एकको ही अपने जीवनमें ग्रहण करना चाहोगे, तो आसक्ति होनेसे बँध जाओगे। इसलिए व्यवस्थापूर्वक इनका सेवन करो—यह इसका अभिप्राय है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।

यह जो श्लोक है, उसमें यह बात कही गयी—'भारत' सम्बोधन है। कहनेका अर्थ यह है कि हे प्रतिभाशाली स्त्री पुरुषों!', 'भा' माने प्रतिभा और 'रत' माने प्रतिभामें रुचि रखनेवाले। हे बुद्धिमान् पुरुष, स्त्री—कोई भी हो—देवता, दानव। यदि वह बुद्धिमान है तो अपने जीवनको व्यवस्थापूर्वक चलाना चाहिए और व्यवस्था यह है कि सोये तो सोते ही न रह गये। पूजा करने बैठे, तो पूजा ही करते न रह गये और खाने-पीने, गप्प हाँकने बैठे, तो उसीमें न रह गये। अपने समय और अपने कर्तव्यका ध्यान रख करके अपने जीवनको ठीक ढंगसे चलाना चाहिए।

× × ×

प्रश्न : आजका विश्व रजोगुण-तमोगुण-प्रधान है। और परिस्थितियाँ तमोगुण, रजोगुणकी ओर—कर्म, राग, लोभकी ओर ढकेल रही है। इन परिस्थितियोंमें रहते हुए तमोगुणसे रजोगुण और रजोगुणसे सत्त्वगुणकी ओर कैसे अभियान किया जाय?

उत्तर : देखो, एक तो संसारमें तमोगुण और रजोगुणकी ही प्रवृत्ति है। यह मान बैठना तो आप अपने चारों ओरके जैसे घेरेमें घिरे हुए हैं—जैसे अखबार पढ़ते हैं, जैसी किताबें पढ़ते हैं, जैसे लोगोंमें रहते हैं, उसका बहुत असर पड़ता है, इसलिए मान्यताएँ बन जाती हैं। हमको तो ऐसा लगता है—वृन्दावनमें अगर निकलो तो जगह-जगह आपको संकीर्तन मिलेगी। देवताका दर्शन मिलेगा वहाँ गरीबोंकी सेवा मिलेगी, वहाँ विद्याध्ययन मिलेगा। ऐसा लगेगा कि सत्त्वगुण रजोगुण, तमोगुणसे दबा नहीं है। अभी सत्त्वगुण है। लेकिन आप हरीसन रोडमें चले जाओ या बम्बई कालबादेवी रोडमें चल जाओ या चाँदनी चौकमें चले जाओ तो आपको रजोगुण ही रजोगुण दिखाई पड़ेगा। असलमें मनुष्य अपने घिरावसे इतना अभिभूत हो गया है कि संसारमें अभी कितना सत्त्वगुण है, कितना रजोगुण है; कितना तमोगुण है—उसको यह अपनी बुद्धिसे ही नापता है।

हमको तो आज जितने संकीर्तन मिलते हैं और जितनी कथा वार्ता मिलती है और संत्सगकी चर्चा जितनी मिलती है, हमारा हरिद्वार, ऋषिकेश, हमारी विद्याकी नगरी काशी, हमारी प्रेमकी नगरी वृन्दावन—विनयकी नगरी अयोध्या, प्रणयकी नगरी ब्रजभूमि—परिणयकी नगरी द्वारिका—सब जगह तमोगुण ही तमोगुण हो या रजोगुण ही रजोगुण हो, ऐसा नहीं है। आप यही सत्त्वगुणी परिस्थिति चाहते हों तो कलकत्तेमें ही हम दस

नहीं, बीस-बीस नहीं, पचास ऐसी परिस्थितियाँ बता सकते हैं जहाँ आप अपने सत्त्वगुणको बढ़ा सकते हैं। और रजोगुणकी परिस्थिति बढ़ानेके लिए भी और तमोगुणकी परिस्थिति बढ़ानेके लिए भी। यहाँ मदिरालय होंगे, वेश्यालय होंगे, मांसालय होंगे। तो तमोगुणी प्रकृति बढ़ानेवाले स्थान भी यहीं है। रजोगुणी प्रकृति बढ़ानेवाले स्थान भी यहीं हैं। सत्त्वगुणी स्थान भी यहीं हैं, जहाँ आपकी वृत्ति सत्त्वगुणी बने। अब यह रही कि आपकी बुद्धि किसका चुनाव करती है। आप जैसे लोगोंमें बैठेंगे, वैसे ही हो जायेंगे।

यादृशान् सन्निविशते, यादृशांश्चोपसेवते।

आप बड़ा किसको मानते हैं? आप किनके साथ बैठते-उठते हैं? आपके मनमें क्या बननेकी इच्छा है? आप देखिये तो! सच पूछो तो हरिद्वारमें, ऋषिकेशमें, वृन्दावनमें, हिमालयमें रमण महर्षिके आश्रममें, अरविन्द-आश्रममें और शंकराचार्योंके आश्रमोंमें कलकत्ते बम्बईसे निकलकर ही लोग जाते हैं। यहींके लोग वहाँ बड़े सात्त्विक और बड़े महात्मा बनते हैं। आप जिस घेरावमें रचपच गये हैं, वही-वही आपको दिखता है। सबके लिए हृदयमें परमेश्वर हैं, सबके लिए उत्थानकी सम्भावना है। आप बिलकुल निराश न हों, उदास न हों। यदि आप अपनेको सात्त्विक प्रकृतिमें स्थित करनेका प्रयास करेंगे तो सात्त्विक पुरुष आपके चारों ओर आ जायेंगे। सात्त्विक स्त्रियाँ आ जायेंगी और सात्त्विक भोजन मिलने लगेगा। सात्त्विक वातावरण बन जायेगा। आपकी आत्मामें वह शक्ति है कि केवल आपके आसपासको नहीं, यदि आप सात्त्विकताको धारण करें तो विश्वमें सात्त्विकता आपको दिखने लग जायेगी।

दो हजार वर्ष पहले एक ईसा हुए। और उनका प्रभाव इतना है कि अब भी सेवा और प्रार्थनाकी वृत्ति चलती रहती है। एक शंकरचार्य—आपको मालूम है, देशके कितने विद्वान् उनके सिद्धान्त और उनके साधन और उनकी प्रक्रिया समझनेमें अपना समय व्यतीत कर रहे हैं। एक रामानुजाचार्य हुए, उनके कितने मन्दिर हैं, कितने मठ हैं। एक बुद्ध हुए, कितने बौद्ध हैं—एक महावीर हुए—कितने जैन हैं। हम तो आपसे यह आग्रह करते हैं कि आप तमोगुण और रजोगुणकी वृद्धि मत देखिये, अपनेको सत्त्वगुणी बनाइये। और जब आप अपनेको सत्त्वगुणी बनायेंगे तो सब दुनिया ही आपके लिये सत्त्वगुणी हो जायेगी। इसलिए आप दूसरोंकी परिस्थिति मत देखिये—स्वयं अपनी देखिये। आपके पीछे दुनिया चलने लगेगी।

हमारे गाँवके पास पहले गाँजा पीनेवाले लोग आया करते थे। एक साधु आगया—जटाजूटधारी गाँजा पीता था। आकर गाँवके बाहर पेड़के नीचे बैठ गया। थोड़ी देरमें वहाँ आग आगयी, चिलम आगयी, गाँजा आगया और सौ पचास आदमी वहाँ घेरकर बैठ गये—कि किसकी लौ ऊपर उठती है! एक गाँजा पीनेवाला आया और उसके पास तुरन्त आसपासके गाँवके गाँजा पीनेवाले इकट्ठे हो गये! आप स्वयं अपनेको सात्त्विक बनाइये फिर देखिये आपके शहरमें, आपके गाँवमें, आपके आसपास देश-विदेशमें जो सात्त्विकताके प्रेमी होंगे, वे आपके पास आयेंगे और आपका वातावरण सात्त्विक बना देंगे। और आप दूसरोंको सात्त्विक बनाना चाहेंगे तो आपके चाहनेसे दूसरे सात्त्विक नहीं बनेंगे। आप अपनेको चाहिये और अपनेको सात्त्विक बनाइये।

●

प्रवचन : 4

18-11-84

प्रश्न : एक प्रबुद्ध जिज्ञासुने अंग्रेजीमें प्रश्न भेजा है जिसका हिन्दीकरण इस प्रकार है—सारे विश्वमें सृष्टिके उद्भव और उद्देश्यके बारेमें बड़ा विवाद है। चौदहवाँ अध्याय इस दिशामें प्रकाश डालता है। पू० स्वामीजी महाराजसे यह बतानेके लिए अनुरोध है कि आत्माका किस प्रकार उस विराट्से सीधा सम्बन्ध है और किस प्रकार ईश्वर बीजका प्रदाता है।

उत्तर : जैसे लकड़ीके बने कुर्सी और मेज लकड़ीसे सम्बन्ध रखे बिना नहीं हो सकते, जैसे नीबूकी खटास, इमलीकी खटास, गन्नेकी मिठास—जलसे सम्बन्ध रखे बिना नहीं हो सकते। गन्नेमें भी रस है। नीबूमें भी रस है, इमलीमें भी रस है, आममें भी रस है। बिना रसके तो चावल, गेहूँ कुछ नहीं होते। परन्तु वे यदि समष्टि जलसे सम्बन्ध न रखते हों तो उनका कोई अस्तित्व नहीं हो सकता, न खट्टा न मीठा, न नमकीन, न कड़ुवा, न तीता, न कसैला जैसे छहों रस और उनके मिश्रणसे बने हुए अनेक प्रकारके रस जलके साथ सम्बन्ध रखते हैं। जैसे अनेक प्रकारके रूप चाहे वे कृत्रिम हों, चाहे स्वाभाविक हों, प्रकाशसे सम्बन्ध रखते हैं। जैसे किसी प्रकारकी वायु चाहे वह शरीरके भीतर हो, चाहे बाहर हो, चाहे भोंपूमें हो, समष्टि वायुके साथ सम्बन्ध रखे बिना नहीं हो सकता। जैसे कोई भी शब्द आकाशसे सम्बन्ध रखे बिना नहीं हो सकता। वैसे ये अलग-अलग जो वस्तुएँ हैं किसी एक सत्ताके तादाम्यके बिना नहीं हो सकती है।

कुछ दार्शनिक मानते हैं कि समवाय सम्बन्धसे सबमें सत्ता अनुगत होती है—जैसे कपड़ेमें सूत। कोई मानते हैं समवाय-घटित सामान्याधिकरण्यसे सत्ता सबमें अनुगत होती है। कोई मानते हैं सत्ता तादात्म्यसे अनुगत होती है। तो प्रबुद्ध श्रोताको, जिज्ञासुको यह समझना चाहिए कि पृथक्-पृथक् कीट-पतंग आदि प्राणियोंमें, पशु-पक्षी आदि प्राणियोंमें, मनुष्यादि प्राणियोंमें जो एक चेतना अनुगत है वह अपनी समष्टि चेतनासे सम्बन्ध रखती है। पूर्णतासे सम्बन्ध रखे बिना कोई परिच्छिन्नता हो ही नहीं सकती। परिच्छन्नताके बिना पूर्णता होती है। परन्तु पूर्णताके बिना परिच्छिन्नता नहीं होती।

इसी प्रकार चाहे कोई अपने अन्त:करणमें सोचे ईश्वर है और कोई सोचे ईश्वर नहीं है। ये दोनों प्रकारके विचार जिस चेतनासे प्रकाशित होते हैं, आस्तिकमें भी और नास्तिकमें भी, वह महाचैतन्य, वह पूर्णचैतन्य-सर्वव्यापी है। और उसीकी देखरेखमें, साक्षित्वमें, उसीकी अधिष्ठानतामें, यह सारी-की-सारी सृष्टि होती है। उसके सम्बन्धके बिना तो कोई सृष्टि है ही नहीं। रही बात सृष्टि होने की प्रक्रिया, तो प्रक्रियाके सम्बन्धमें जो विचारशील महापुरुष हों, वे अनुमान करते हैं। प्रत्यक्षके आधारपर जितने अनुमान होते हैं, वे सब दूसरेके बारेमें होते हैं। अपने स्वरूपके सम्बन्धमें अनुमान नहीं होता है।

यह तो साक्षात् अनुभव-स्वरूप है। इसलिए बाहरका कोई दूसरा ईश्वर है, तो वह हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है। लेकिन जहाँ अपना आत्मा ही परमेश्वर है, वहाँ उसके होनेमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं

है। और उसीके सम्बन्धसे ये सारी सत्ताएँ, सारी चेतनाएँ सारी प्रियताएँ और सारी वस्तुएँ—रोशन हो रही हैं, दीख रही हैं। यह अनुभव ही परमात्माका एक ऐसा स्वरूप है जिसके कोई काट नहीं सकता। सब-के-सब जो इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष होते हैं, कट सकते हैं, सारे अनुमान कट सकते हैं। उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि कट सकती है परन्तु जो सबका अनुभव करनेवाला अपना आत्मा है वह नहीं कट सकता और उसके बिना आँख, कान, नाक सबके अलग-अलग होनेपर भी कोई काम नहीं कर सकते हैं।

उस परमात्माके साथ इस सृष्टिका सम्बन्ध, तादात्म्य सम्बन्ध है। अर्थात् परमात्मा ही सृष्टिके रूपमें दीख रहा है, और अपने प्यारसे, अनुग्रहसे भर रहा है। उसके सम्बन्धके बिना तो सृष्टिकी कोई वस्तु ही नहीं हो सकती। इसलिए—**तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।**

वह सर्वज्ञ है। कौन? जो सर्वरूपमें और सब भावनाओंके द्वारा परमेश्वरका भजन करता है।

× × ×

प्रश्न : महद् ब्रह्मयोनि तथा ब्रह्मबीजसे उत्पन्न हुए जीवको प्रकृतिके गुण बाँधते हैं। अन्यथा वह जीवात्मा अविनाशी होता है। जिस कालमें वह गुणोंके संसर्गमें नहीं आता, वह किस प्रकारकी अविनाशी अवस्थामें स्थित रहता है?

उत्तर : ऐसा है कि अवस्थाएँ जो हैं, ये कालकी बच्ची हैं। अवस्थाएँ माने कालके टुकड़े। जाग्रत् अवस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्ति-अवस्था, समाधि-अवस्था। समाधिमें भी चार प्रकारके सम्प्रज्ञात और चार प्रकारके असम्प्रज्ञात—आठ अवस्थाएँ—सम्पूर्ण निरोध—से सब-के-सब कालकी सीमाके भीतर होते हैं। इन सब अवस्थाओंके आते-जाते, चलते-बदलते रहनेपर भी जो एकरस प्रकाशमान है, उसका नाम परमात्मा होता है और उसीसे एक होनेपर महात्मा हो जाता है।

जब तक किसी अवस्थाके साथ तादात्म्य है (तादात्म्य माने एकता), तबतक शुद्ध स्थिति नहीं है। यहाँ कहीं भी दृश्यमें बँध जाना—स्थूल वस्तुमें बँधना, सूक्ष्म वस्तुमें बँधना और आनन्दमें बँधना अपनी अस्मितामें बँधना ये चार प्रकारकी तो सम्प्रज्ञात समाधि हैं और सविकल्प, निर्विकल्प, सबीज, निर्बीज ये चार प्रकारकी असंप्रज्ञात समाधि हैं—इनमें-से किसी अवस्थाको हम यह नहीं कह सकते कि यह परमात्मा है, क्योंकि अवस्था अन्तर्देशमें होती है इसलिए देशकी बच्ची हैं। किसी कालमें होती हैं इसलिए कालकी बच्ची हैं। उनका कोई आकार होता है इसलिए वस्तुकी बच्ची हैं।

देश, काल, वस्तु इन तीनोंका जो अधिष्ठान है, जिसमें ये आरोपित हैं, अध्यस्त हैं और इनका जो स्वयं प्रकाश प्रकाशक है, उसको परमात्मा कहते हैं। और जिसको उसका अनुभव हो जाता है—अवस्थाओंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। आसमानमें जैसे बादल उड़ते-पड़ते, गिरते-पड़ते रहते हैं वैसे अवस्थाएँ भी आती जाती रहती हैं। इनकी कोई परवाह उस महात्माको नहीं होती जो परमात्मासे एक हो जाता है।

× × ×

प्रश्न : छठा श्लोक है—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥

सत्त्वगुणको प्रकाशक अनामय तथा निर्मल बताया एवं उससे सुख एवं ज्ञानके प्रति आसक्ति भी होती है और मनुष्यको बाँधता भी है। तो सत्त्वगुण निर्मल तथा अनामय किस प्रकार हुआ?

उत्तर : ऐसा है कि देखो आपके शरीरमें एक तो हैं नाखून—हाथमें पाँवमें—और एक है आँख, आँखकी पुतली! आप आँखकी पुतलीसे तो देख सकते हैं और पाँवके नाखूनसे नहीं देख सकते। इसका अर्थ हुआ कि सत्ता और ज्ञान एक होनेपर भी पाँवमें तमोगुणका आवरण बहुत अधिक है। अँधेरा है—और आँखमें तमोगुणका आवरण बहुत कम है। ज्ञानात्मक इन्द्रियाँ ऊपरी भागमें ही अधिक होती हैं। जैसे गन्ध सूँघनेके लिए नाक, रस चखनेके लिए ज़ीभ, रूप देखनेके लिए आँख, छूनेके लिए त्वचा और सुननेके लिए कान और विचार करनेके लिए बुद्धि। चिन्ता ज्यादा होती है तो सिर दुखने लगता है और सिरपर पसीना आ जाता है और भय होता है तो दिल धड़कने लगता है। भयका निवास-स्थान हुआ नीचेकी ओर चिन्ताका निवासस्थान हो गया ऊपरकी ओर।

ज्ञान—यह दैहिक आवरणको पार करके रहता है और यह वस्तुका बोध कराता है। हाथ बोध नहीं कराता, आँख बोध कराती है। जीभ बोध नहीं कराती, कान बोध कराता है। बोधक जो इन्द्रियाँ हैं वे सात्त्विक हैं—मन भी सत्त्वगुणका, बुद्धि भी सत्त्वगुणकी, ज्ञानेन्द्रियाँ भी सत्त्वगुणकी और ये कर्मेन्द्रियाँ जो हैं, ये जड़ात्मक हैं। जड़ और चेतन उभयात्मक यह जीवन है। इसमें सत्त्वकी प्रधानतासे ज्ञान होता है और उसमें जितना तम हड्डीमें होता है या मांसमें होता है या नाखूनमें होता है, उतना तम वस्तुके प्रकाशक इन्द्रियोंमें नहीं होता। इसलिए वे निर्मल होती हैं और दूसरी वस्तुओंका बोध कराती हैं। निर्मल होनेसे सत्-अंशकी प्रधानता, प्रकाशक होनेसे चिद्अंशकी प्रधानता और अनामय होनेसे आनन्दांशकी प्रधानता भी होती है। बिना ज्ञानके कोई आनन्द नहीं हो सकता।

आनन्दकी तो अज्ञात सत्ता होती ही नहीं है। यह सुख-दु:ख जितनी देर जाने जाते हैं, उतनी ही देर होते हैं और जितनी देर होते हैं, उतनी ही देर जाने जाते हैं। इसलिए सुख-दु:खकी सत्ता अज्ञात सत्ता नहीं होती। इसलिए इनको ऐन्द्रियक नहीं मानते हैं-'साक्षिभास्य' मानते हैं।

यह सत्त्वगुण जो है यह निर्मल है, माने सत् है, प्रकाशक है माने चित् है और अनामय है माने आनन्द है। अब यह तो बहुत बढ़िया है। परमात्माका स्वरूप है। लेकिन जब हम बँधते हैं तब कैसे? जैसे आँखसे बारम्बार यही रूप देखें। किसीको किसीका सौन्दर्य या रूप प्रिय लगने लगता है तो उसके चारों ओर मँडराने लगते हैं। किसीका रूप या सुन्दरता देखनेमें आसक्ति हो जाय तो वहीं जायेगा। भोजनमें किसी वस्तुसे आसक्ति हो जाय तो संदेश खानेके लिए कलकत्ता आना पड़े। फल खानेके लिए कश्मीर जाना पड़े। स्वच्छन्द रहनेके लिए गोआ जाना पड़े। भोग-विलासकी राजधानी पेरिस जाना पड़ेगा। कमाईके लिए अमेरिका जाना पड़ेगा। यही बन्धन है, रस्सी है जो आपको जगह-जगह खींचकर ले जाती है। यह सुखमें बाँधता है और ज्ञानमें भी बाँधता है।

देखना ज्ञान है, भोगना सुख है और इसमें बन्धन न हो तो सत्त्वगुण है तो परमात्माका स्वरूप ही है। आप बिना बँधे रहिये। कश्मीर जाइये तो वहाँकी विशेषता देखिये और सुन्दरवनमें जाइये तो वहाँकी विशेषता

देखिये। केरलमें केरलकी, हिमालयमें हिमालयकी—यह नहीं कि बस अब तो हम यही भोगेंगे और यही देखेंगे और यही करेंगे। छोड़ते चलो भाई! आगे बढ़ना जीवन है। पहलेका पाँव रखा हुआ है, वहीं गड़ मत जाओ। आगे पाँव रखो बढ़ते चलो, बढ़ते चलो!

संगच्छध्वं संवदध्वं-संवोमनांसि जानताम्। (ऋग.10.191.2.)

मिलो-जुलो, बोलो-चालो पर आपकी प्रगतिमें कोई बाधा न पड़े तभी मंगल है। मंगल शब्दका अर्थ संस्कृतमें प्रगति होता है। बढ़ते चलिये खूब आनन्दसे। बन्धन छोड़कर तत्त्वको जीवनमें रखिये। जीवनमें सत्त्वगुण तो रहे परन्तु बन्धन न रहे। यही आपका विवेक है।

× × ×

प्रश्न : क्या सत्त्वगुणकी उपलब्धि होनेमें ईश्वर-कृपा अनिवार्य है? अथवा वह ज्ञान, भक्ति, कर्मयोग आदिके साधन-अभ्याससे हो सकती है?

उत्तर : ऐसा है कि ईश्वरकी कृपा तो प्रधान है ही—उसकी शानके खिलाफ तो मैं कुछ नहीं बोलूँगा। सभी बातोंमें ईश्वरकी कृपा है। परन्तु वह कब होगी और कब हमारे अनुभवमें आयेगी, इसका हमको कोई पता नहीं है; ऐसी स्थितिमें जब हम किसी वस्तुको छोड़ देते हैं कि ईश्वरकी मर्जी होगी जब तब वह हमसे आकर मिलेगा तो इसका अर्थ यह होता है कि मेरे मनमें उसके लिए कोई लालसा, कोई उत्कंठा या कोई व्याकुलता नहीं है इसलिए ईश्वरकी जब मर्जी होगी, जब कृपा होगी, करेगा, कृपालु होगा, अनुग्रह करेगा। और हमारा काम यह है कि अपना हाथ-पाँव पीटें, थोड़ा अपने पाँवसे उसकी ओर चलें। थोड़ा अपने हाथसे उसके लिए कुछ करें, जीभसे उसके लिए बोलें, मनसे उसको प्यार दें, बुद्धिसे उसके बारेमें विचार करें।

जब हम अपने कर्तव्यको पूरा करेंगे तो ईश्वरका अनुग्रह जो कि सदा है, सर्वत्र है, वह अपने आप ही अनुभवमें आने लगेगा। लेकिन यदि हम अपनी ओरसे कुछ नहीं करेंगे, केवल उसीके ऊपर छोड़ेंगे तो ईश्वर यह भी तो सोच सकता है कि इसको मेरी कृपाकी आवश्यकता ही नहीं है तो इतनी जल्दी क्या है करनेकी। कृपा आनेमें लाखों जन्मकी देर हो सकती है। लेकिन यदि आप उसके लिए व्याकुल होंगे, उत्कण्ठित होंगे तो वह एक क्षणकी भी देर नहीं करेगा। इसलिए सत्त्वगुणकी वृद्धिको आप ईश्वरपर मत छोड़िये। सात्त्विक देशमें रहिये। कालका सात्त्विक उपयोग कीजिये। जैसे तीर्थ है, मन्दिर है, सत्संग है, आपके रहनेका स्थान सत्संगमय हो, आप प्रात:कालका समय कैसे व्यतीत करते हैं? सोकर व्यतीत करते हैं तमोगुणमें, भोग-विलासमें व्यतीत करते हैं रजोगुणमें और परमात्माके चिन्तनमें करते हैं तो सत्त्वगुणमें। आप मन्त्र कैसा जपते हैं—कोई भूत, भैरव, हिंसा-प्रधान दुश्मनको मारनेके लिए या बलि चढ़ानेके लिए मन्त्रका जप करते हैं—सात्त्विक मन्त्रका जप कीजिये। बारम्बार भगवान्‌के चरणोंकी शरणागति। आप अपने लिए एक नया जन्म ग्रहण कर लीजिये। ईश्वरका दिया हुआ, प्रकृतिका दिया हुआ जन्म—मनुष्य है। आप वैष्णव हो जाइये, आप शिव-भक्त हो जाइये और आप अपने कर्मपर भी दृष्टि रखिये कि कैसा करते हैं! श्रीमद्भागवतमें यह प्रसंग आया है कि जन्म, कर्म, ध्यान, मन्त्र, संस्कार आदि दस बातोंपर यदि ध्यान रखा जाये तो आप पवित्र सात्त्विक हो सकते हैं।

※※

आप ध्यान क्या करते हैं, जप क्या करते हैं, आपके संस्कार कैसे हैं? ये सब सत्त्वगुणी हों। आप पानी कैसा पीते हैं? पानी तो बोतलमें रंगीन पानी भी होता है—वह भी पानी है और एक पवित्र गंगोत्रीका, गोमुखका पानी, पानी है। तो कैसा जल पीते हैं? कैसे स्थानमें रहते हैं? क्या खाते हैं? कैसा संग करते हैं? सात्त्विक वस्तुओंके व्यवहारसे सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है।

× × ×

प्रश्न : ज्ञानका संग यदि अभिमान एवं अहंकार उत्पन्न करे तो वह ज्ञान ही किस प्रकार जानें?

उत्तर : ज्ञानका संग यह है कि मैं जितना जानता हूँ और जो जानता हूँ वह तो ठीक है और बाकी दूसरे लोग जो जानते हैं सो गलत है। अपनी बुद्धिका और अपनी मान्यताका जो दुराग्रह है, यही है ज्ञानासक्ति। आप नये-नये ज्ञानके लिए हमेशा उत्सुक रहिये, तैयार रहिये। आप कपड़ा तो नया-नया चाहते हैं, साबुन नया-नया चाहते हैं। बालोंकी तर्ज भी नयी-नयी चाहते हैं और संगीतमें कितने राग-रागिनी निकालते हैं, चित्र कैसे बनाते हैं। जरा अपने ज्ञानमें जो दुराग्रह हो जाता है कि मेरा ही ज्ञान ठीक है और दूसरेका ज्ञान ठीक नहीं है। यह तो ऐसा ही है कि आँख कहे कि जो मैंने देखा सो ठीक—कान, तुम्हारा सुना हुआ ठीक नहीं और नाक कहे कि जो मैंने सूँघा सो ठीक, जीभ तुम्हारा चखा हुआ ठीक नहीं। जैसे अपनी ही इन्द्रियाँ आपसमें लड़ जायँ वैसे जब हम अपनी बुद्धि और ज्ञानमें अत्यन्त दुराग्रही हो जाते हैं तब वह ज्ञानासक्ति होती है। अरे दूसरेकी भी मानते चलो न! हाँ बाबा, यों ही सही—यदि उसमें अधर्म नहीं है, यदि उसमें पतन नहीं है। कोई युक्तियुक्त बात कहता है तो उसे स्वीकार करते चलो।

युक्तियुक्तम् उपादेयं वचनं बालकादपि।

एक बालक कभी युक्तियुक्त बात कहे तो उसको स्वीकार कीजिये।

अयुक्तं च वचस्त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना।

ब्रह्माजी आकर भी यदि युक्ति-विरुद्ध बात बोलते हों तो उसको नहीं मानना चाहिए।

युक्तिहीन-विचारे तु धर्महानिः प्रजायते।
केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः॥

केवल किताब देखकर निर्णय नहीं करना चाहिए। क्योंकि यदि युक्तिहीन विचार होगा तो वह किताब ही मर जायेगी। इसलिए ज्ञानमें जो दुराग्रह है, वही उसका आसंग है, वही उसकी आसक्ति है।

एक महात्माके पास हम लोग जाते थे। उनसे कहा—महाराज, वे तो ऐसा मानते हैं। बोले—'बेटा, जहाँ वे बैठे हैं, वहाँसे ऐसा ही दिखता है। जैसी आँख उन्होंने बनायी है, वहाँसे ही दिखता है। बिलकुल ठीक है—और कभी तो ऐसा बोलते हैं कि वे जहाँ बैठे हैं वहाँसे ऐसा ही दिखता है।' जैसे फोटो लेते समय हम जिस कोणसे फोटो लेते हैं—वही होता है। नीचेसे फोटो लें तो लम्बा हो जायगा और ऊपरसे फोटो लें तो छोटा हो जायगा। बगलसे फोटो लें तो दूसरा हो जायगा। इसप्रकार जो अपनी बुद्धि जिस कोणपर रखकर दुनियाकी देखता है, उसको वैसी ही मालूम पड़ती है। इसलिए केवल अपने कैमरेका जो दुराग्रह है उसे छोड़ो।

※※

※※

बोले भाई—अपनी घड़ीमें बारह बजकर एक मिनिट हुआ है—दूसरेने कहा नहीं अभी आधा मिनिट हुआ है। तीसरेने कहा—अभी बारह ही बजे हैं। अब वह बारह और आधा मिनट और एक मिनटके लिए जो झगड़ा है वह बिलकुल मूर्खतापूर्ण है। इसी प्रकार ज्ञानासक्तिमें भी, जहाँ हम दूसरेके ज्ञानका अपमान करते है, वह ठीक नहीं है। बच्चे भी जैसा देखते हैं वैसा बोलते हैं। उनकी नजरसे नजर मिलाकर आप देखिये और इतनी उदारता आपके जीवनमें आनी चाहिए कि दूसरेकी दृष्टिसे भी आपकी दृष्टि मिल सके। ज्ञानासक्ति छोड़कर ज्ञानका आदर करना चाहिए। मनुस्मृतिमें तो ऐसा कहा है—

आर्षधर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥ (12.106)

जो ऋषियोंके द्वारा किया गया धर्मोपदेश है उसको अविरोधी तर्कसे उसका अनुसंधान करना चाहिए। उसकी यथार्थता प्रकट होगी। ज्ञानमें जड़ताका सन्निवेश नहीं होना चाहिए। दुराग्रह जड़ता है और ज्ञान प्रकाश है।

× × ×

प्रश्न : कामना तथा आसक्ति क्यों पैदा होती है? इनकी उत्पत्तिको कैसे रोका जाय? अथवा कम किया जाय। किस प्रकारकी कामना तथा आसक्ति शुभकर, हितकर हो सकती है?

उत्तर : जो शुभमें आसक्ति है, वह शुभ है और जो अशुभमें आसक्ति है वह अशुभ है। हितकारी आसक्ति वही है जो संसारकी आसक्तियोंसे छुड़ावे और सबसे बड़ा हित वह है जिसमें सबमें निहित हित-स्वरूप परमात्माका दर्शन हो। राजा प्रतर्दनपर इन्द्र प्रसन्न हुए। युद्धमें प्रतर्दनने सहायता की थी—बोले प्रतर्दन, 'वर माँग लो'। प्रतर्दनने कहाकि मैं इतना शक्तिशाली हूँ कि तुम्हारी भी मदद कर सकता हूँ युद्धमें, तो तुमसे मैं और क्या माँगू?

यदेव हिततमं तदेव मे ब्रूहि।

जो सबसे बड़ा हित हो वह हमको बताओ। इन्द्रने कहा, 'मामेव विजानीहि' अपने स्वरूपको जानो। यह जो कामना होती है, यह अपनेको कंगाल समझकर होती है। जो लोग अपनेको बड़े आदमी मानते हैं, वे माफ करें—यदि उनके भीतर चाह है, कामना है, तो उनका सुख दूसरी जगह रखा हुआ है। यदि उनके हृदयमें सुख होता, उनके पास सुख होता तो वह दूसरी वस्तुसे सुख लेना क्यों चाहते? अपने आपमें तृप्त रहते। अपने सच्चिदानन्द-स्वरूपका अज्ञान है, अतः दूसरेमें सुखका भ्रम और फिर दूसरेको समेटकर सुखी होनेका भ्रम होता है और 'इससे हमको सुख मिला' यह भ्रम होता है।

असलमें कोई किसीको सुख नहीं देता है। सुख तो स्वसंवेद्य है, साक्षिभास्य है, अपने हृदयमें रहता है। सुखका देना-लेना नहीं होता। सुख कोई व्यापारकी चीज नहीं है। जब हम अपने स्वरूपभूत सुखसे विमुख हो जाते हैं, और दूसरेमें सुखकी कल्पना करते हैं, तो उसकी कामना होती है; और इससे हमको सुख मिल रहा है, यह भ्रम जब होता है तब उससे आसक्ति हो जाती है। किसी दूसरेमें सुख मानकर उसको चाहा जाता

※※

है और उससे सुख मिला, यह भ्रम होनेपर आसक्ति हो जाती है। इसलिए अनमिले सुखकी कामना होती है और मिले हुए सुखसे आसक्ति हो जाती है। असलमें सुखसे न आसक्ति होती है, न कामना होती है। जिसको हम सुखका निमित्त मान बैठते हैं, उसकी कामना और उसमें आसक्ति होती है। और असलमें सुख तो अपनेको ही होता है। सुखकी अज्ञात सत्ता नहीं होती।

सुख तो जगमग, जगमग, झिलमिल, झिलमिल, झलकता हुआ बिलकुल चमचम चमकता हुआ अपनी आत्माका स्वरूप है। दूसरेकी कामना क्यों? 'जब अपनी ही कुदरत, अपना ही जलवा, तब तेरी तमन्ना कौन करे?' अपनेको कंगाल मानकर तब हम दूसरेसे सुख चाहते हैं और अपने सुखको जब नहीं समझते हैं, सोचते हैं, दूसरेसे मिल रहा है, तब उससे आसक्ति हो जाती है।

प्रश्न : अज्ञान द्वारा तमोगुण उत्पन्न होता है जो प्रमाद, निद्रा, आलस्यमें बाँधता है। अज्ञान किस प्रकार उत्पन्न होता है? क्यों उत्पन्न होता है? देहका ध्यान तथा उसमें मोह तो जीवमात्रका सहज स्वभाव है। उससे त्राण पानेके लिए क्या किया जाय?

उत्तर : वेबकूफी कब पैदा हुई? यहाँ इतिहासके विद्वान् बैठे होंगे बड़े-बड़े! अभी उनकी खोजमें यह बात नहीं आयी है। अज्ञान माने बेवकूफी। न तो यह किसी स्कूलमें पढ़ायी गयी, न कालेजमें पढ़ायी गयी। न इसके लिए किसी सन्त-महन्तने उपदेश किया। यह तो आगयी है। ऐसा मालूम पड़ता है।

इसके लिए महात्मा लोग कहते हैं कि जैसे कोई आदमी कहीं बैठा हो और उसके सामने एक साँप गिर जाय तो पहला काम यह है कि उसको दूर झटक दो या मार डालो। यह नहीं कि पहले यह खोज करोगे कि यह किस जातिका है, कितने वर्ष पहले पैदा हुआ था और विषैला है कि नहीं? यह कोबरा है कि गेहुँअन है?

साँपोंकी बहुत जातियाँ होती हैं। भविष्य पुराणमें तो साँपोंकी कई सौ जातियोंकी गणना है और उनके लक्षण हैं, पहचान हैं। आप पहचान पहले मत कीजिये कि इस साँपका बाप कौन था और कितने वर्षकी इसकी उम्र है। और यह विषैला है कि नही है। पहले उसको फेंक दीजिये। इसी तरहसे यह बेवकूफी हमारे जीवनमें जो आगयी है कि हम किसी चीजको ठीक-ठीक समझ नहीं पाते, उसको फेंक दें। आप बुरा न मानें!

हाथमें एक तृण ले लीजिये। आप देखेंगे वह पीला है, और मान बैठेंगे कि हाँ, मैंने देख लिया कि यह तृण पीला है या हरा है। आँखसे देख लिया। परन्तु क्या तृणको देख लिया? नाकसे सूँघेंगे, तो उसमें एक गन्ध आयेगी। वह तो आँखसे नहीं मालूम पड़ी। जीभसे चखिये, तो उसमें एक स्वाद आयेगा। वह तो आँखसे नहीं मालूम पड़ा। त्वचासे सटाइये तो वह कोमल या कठोर मालूम पड़ेगा। और कानके पास ले मत जाइये—वह मशीन लगा लीजिये, जिससे एक शब्द लाखों गुना होकर सुनायी पड़ता है, तो आपको उस तृणमें शब्द भी सुनाई पड़ेगा। तो आप तृणको कितना जानते हैं? एक इन्द्रियसे जानते हैं, अनेक इन्द्रियसे जानते हैं। तृणके चूरेको जानते हैं, कि तृणके द्रवको जानते हैं, कि नाम-रूप न रहनेपर तृणकी जो सत्ता है, उसको जानते हैं, कि उसकी सत्ता, जो ज्ञानसे अभिन्न है उसको जानते हैं? जहाँ आप और तृण दोनों एक हैं, उसको जानते हैं? क्या जानते हैं? यह

जो हमारा ऐन्द्रियिक बोध है, यह बहुत अल्प है। और सचमुच अज्ञानसे ही यह अन्धकार हमारे सामने आया है। **'तमस्त्वज्ञानजं विद्धि'**

यह तमस् अज्ञानका बेटा है। इसमें सब लोग मोहमें पड़ जाते हैं और प्रमाद जीवनमें आया, तब तो बस मृत्यु ही मृत्यु है। वह जिन्दा नहीं है, मुर्दा है वह आदमी जिसका जगमगाता हुआ ज्ञान सर्वदा सावधान नहीं रहता है। अपनी बुद्धिको सावधान रखिये। उसको किसीके चक्करमें मत फँसने दीजिये भगवान्ने आपको बुद्धि दी है, वह आपके कल्याणके लिए पर्याप्त है। उसके लिए किसीके चक्करमें पड़ना तमोगुणी होना है। तो प्रमाद, आलस्य, निद्रा इनसे बचकर अपने कर्तव्यका पालन करते चलिये।

अगले श्लोकोंमें है कि यह तमस् जो है, यह ज्ञानका आवरक है। **ज्ञानमावृत्य देहिनम्**

आवरण माने परदा है। ज्ञानके तीन परदोंका उल्लेख गीतामें मिलता है। एक तो—

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।

अज्ञानसे ज्ञान ढँक गया है। दूसरा है, काम-क्रोधसे ज्ञान ढँक गया है—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥

जब हम सत्त्वको, अपने ज्ञानको पराधीन कर देते हैं—पराधीन कर देते हैं माने—हजार वर्ष पहले तो ज्ञान था और अब नहीं है। हमने ज्ञानको कबरमें गाड़ दिया। जब यह हमने सोचा कि एक हजार वर्ष पहले या दस हजार वर्ष पहले ज्ञान था, अब नहीं है, तो हमने ज्ञानको दफना दिया। और ज्ञानको यदि यह कह दिया कि यह सौ-दो-सौ वर्ष बाद पैदा होगा या दस-बीस वर्ष पैदा हुआ, तो अभी बन्ध्यापुत्र हो गया, उसका जन्म ही नहीं हुआ है। और ज्ञानको यदि पराधीन कर दिया, तो यह भी ज्ञानका एक परदा है। ज्ञान स्वतन्त्ररूपसे सबका प्रकाशक है, पराधीनरूपसे नहीं। ज्ञान स्वतः-प्रकाश है, इसलिए ज्ञानको जब हम पराधीन कर देते हैं, तो वह आवृत हो जाता है। प्रमाद, आलस्य, निद्रासे तो जीवनमें बुद्धि दब जाती है, यह देखनेमें ही आता है। जैसे—

एक बूढ़े सज्जन कहते थे कि इस किशोरीसे हमारा विवाह नहीं होगा, तो मैं मर जाऊँगा। अब देखो न! उनका ज्ञान पराधीन हो गया न! उस किशोरीमें उनका ज्ञान चला गया। अरे! यह खाये बिना हम दुःखी हो गये, यह मिले बिना हम दुखी हो गये। और भगवान्! हम कितनी बढ़िया रेशमी साड़ी पहना करते थे, आज हमको सूती साड़ी पहनना पड़ रहा है। तो तुम्हारा सारा ज्ञान साड़ीमें चला गया न! इसलिए प्रमाद, आलस्य, निद्राके रूपमें तमोगुण ज्ञानको आवृत करता है और जब क्रोध आता है, दुश्मनको मारना चाहते हैं, उसको नुकसान पहुँचाना चाहते हैं, तब ज्ञानपर परदा आ जाता है। जब हम दूसरी चीजमें अपनी जान रख देते हैं, अपने प्राण रख देते हैं!

तो ज्ञानपर परदा आजाता है। नानीकी कहानियोंमें सुना करते थे कि अमुक दैत्य जो है वह अपनी जान किसी तोतामें रखता था। वह तोता जबतक न मरे तबतक वह दैत्य नहीं मरता। वह तो महाराज, जब पता लग गया कि तोतेमें इसकी जान रहती है, तो तोतेका गला ऐंठ दिया और दैत्य मर गया। हमलोग जो अपनी जान किसी दूसरेमें रखकर जी रहे हैं, यह काम है और दूसरोंके नुकसानमें रखकर जी रहे हैं, यह क्रोध है और

****

प्रमाद आलस्यमें रखकर जी रहे हैं, यह तम है और नासमझीमें जी रहे हैं। कौन पीछेसे ढकेल रहा है? पता नहीं। कहाँ जा रहे है? पता नहीं। यही तो जीवन है न! अगले क्षणमें कहाँ गिरेंगे? इसकी मालूम नहीं है। और पीछेसे ढकेलनेवाला परमेश्वर है, तो अभी उसका आनन्द ले लीजिये! और यदि आपके जीवनका संचालक काम, क्रोध है, तो आप कहाँ जायेंगे? पता नहीं।

प्रश्न : तमोगुणको पार करनेपर मनुष्य रजोगुणमें स्थित होगा या वह सीधा सत्त्वगुणमें जा सकता है?

उत्तर : ऐसा है कि इसमें क्रम नहीं है। क्योंकि प्रकृति त्रिगुणमयी है। एक साथ ही तीनों गुण प्रकृतिमें उद्‌भूत होते हैं। इसलिए सीधे तमोगुणसे सत्त्वगुणमें जा सकते हैं और सत्त्वगुणसे सीधे तमोगुणी भी हो सकते हैं। और सत्त्वगुणसे रजोगुणमें भी जा सकते हैं और तमोगुणसे रजोगुणमें भी जा सकते हैं। इसलिए ये प्रकृतिके तीनों गुण युगपत् होते हैं। वे प्रलयमें साम्यावस्थामें रहते हैं और सृष्टिमें विषम अवस्थामें रहते हैं; परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि एक गुणसे दूसरे गुणमें जायँ। माने पहले सो रहे हैं तो सोकर उठें, तो पहले पूजा न करें। पहले दुश्मनको मार लें या पहले भोग कर लें, तब पूजामें जायँ। ऐसा कभी नहीं करना, बल्कि जिस समय नींद टूटती है, उस समय मनमें वासनाओंका उदय कम रहता है। कलकी बातें प्रायः भूली रहती हैं। उस समय यदि परमात्माका चिन्तन करो—सीधे नींदमें-से उठकर परमात्माके चिन्तनमें चले जाओ, तो परमात्माका चिन्तन बहुत अधिक होगा। इसलिए बीचमें रजोगुण लानेका प्रयास मत करो कि पहले भोग करलें, कि पहले दुश्मनको मार लें, तब परमात्माका चिन्तन करें। इनमें क्रम नहीं है।

ये युगपद् होते हैं और आपके वशमें हैं। आप चाहे जब तमोगुणको छोड़कर अपनेको परमात्माके चिन्तनमें, सत्त्वके चिन्तनमें, दूसरोंके हितके चिन्तनमें, दूसरोंकी सेवामें लगा सकते हैं। यदि आपका जीवन दूसरोंकी सेवामें लगा है, दूसरोंकी भलाईमें लगा है, सबमें एक परमात्माको देख रहा है, तो फिर रजोगुणमें ले जानेकी कोई जरूरत नहीं है। यदि क्रम मानोगे तो सत्त्वगुणके बाद तमोगुणमें जाना भी आवश्यक हो जायेगा। इसलिए इनमें क्रम नहीं है। वे एक साथ रहते हैं। आप एकको अपनाइये। चुन लीजिये एकको कि हमको इस गुणकी प्रधानता से काम करना है।

प्रश्न : सत्त्वगुणके विकरिग्त स्वरूपकी विशेषताएँ कृपया निरूपित करें।

उत्तर : देखो, सत्त्वमें 'सत्'में 'त्व' प्रत्यय लगा हुआ है। सतोभावः सत्त्वम्। सत्का जो भाव है, उसका नाम है सत्त्व। माने भावात्मक सत्ता। एक वस्तुसत्ता और एक भावात्मक सत्ता। वस्तुसत्ताको परमात्मा कहते हैं और भावात्मक सत्ताको सत्त्वगुण कहते हैं। इसका विकास क्या है? आप जितना-जितना सत्के पास पहुँचेंगे, उतना विकास है। संसारमें जो कुछ है, उसमें सत्ता है। आप उसके कितने निकट हैं? आपने बीचमें समुद्र, पहाड़, चहारदिवारी और तार खींचकर सत्तामें कोई भेद तो नहीं बनाया है?

पहला सत्त्वगुण स्वरूप है अभेद दृष्टि। और दूसरी, एक बात देखो, बहुत सहज है, सरल है। सत्तामें चाहे कोई कुछ भी आरोप करे, एक वस्तु है, उसको कोई भली समझे, कोई बुरी समझे, अप्रिय समझे—वह वस्तु ज्यों-कि-त्यों रहती है।

****

****

आपके अन्दर सत्त्वगुण बढ़ रहा है, यह कब समझा जायगा? कि मध्यस्थ द्वारा जो आपके बारेमें कही हुई बातें हैं—कोई आपके प्रशंसक हैं, कोई आपके निन्दक हैं, कोई आपके आलोचक हैं, कोई आपके गुण-दोष दोनों बतानेवाले हैं, उनका असर आपके चित्तपर बिलकुल न पड़े। सबमें अभेद-दृष्टिमें-भावात्मक सत्ताका लक्षण है और अध्यस्त कुछ भी हो, तुम्हारे ऊपर चाहे कोई कुछ भी आरोपित करे, उसका प्रभाव आपपर नहीं पड़ना चाहिए। इसीसे क्षमा जो है सद्‌गुण है, क्योंकि वह आरोपको नहीं देखती है। सहिष्णुता सद्‌गुण है, अहिंसा सद्‌गुण है, अस्तेय सद्‌गुण है, क्योंकि ये सत्त्व हैं।

आप एक अखण्ड पूर्ण सत्ताके जितने पास रहोगे, उतना ही सात्त्विक रहोगे। और बीच-बीचमें कभी सत्ता दिख गयी, कभी नहीं दिखी, वह रजस् आपका शीशा है, बिलकुल स्वच्छ। आप ज्यों-के-त्यों दिखते हैं—वह हो गया सत्त्वगुण। आपके शीशेमें कहीं पीछेसे मसाला उड़ गया है, कहीं रह गया है, कहीं धूल पड़ गयी है। कहीं नहीं पड़ी है—कुछ दिखता है। कुछ नहीं दिखता है—उसका नाम रजोगुण हो गया। और बिलकुल अँधेरा है, कुछ दिखता ही नहीं है—शीशा एकदम नष्ट-भ्रष्ट हो गया तो उसका नाम तमोगुण हो जाता है। सत्त्वगुणकी वृद्धि कब समझना चाहिए? कि जब जीवनमें—

'सर्वद्वारेषु देहेस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥

सारी इन्द्रियोंमें प्रकाश हो—आँख गलत न देखे, कान गलत न सुने या ग्रहण ही न करे!

हमारे उड़िया बाबाजी महाराजसे कोई कहता कि महाराज, वे हमारी निन्दा करते हैं, बड़ा क्रोध आता है। तो तूँ सुनता क्यों है? मच्छरकी बोली क्यों समझने लगा तूँ? ऐसे ही बोलते थे—तूँ मच्छरकी बोली समझनेकी कोशिश क्यों करता है? कोई भुनभुनाता है, भुनभुनाने दो!

एक माता थीं। हमारे सामने ही चर्चा हो रही थी, उनसे किसीने कहा कि आपके पीठके पीछे लोग आपकी निन्दा करते हैं। तो बोलीं कि पीठके पीछे निन्दा करते हैं तो क्या हुआ? पीठके पीछेसे गोली भी मार दे, तो हमारा क्या बिगड़ता है? पीठ पीछे जहाँ हम हैं ही नहीं, वहाँ गोली मार दे कि गाली दे दे, उससे क्या बिगड़ता है? तो सत्त्वकी वृद्धि तभी समझना चाहिए जब प्रकाश-ही-प्रकाश जीवनमें रहे। इसीमें ऊर्ध्वगति है।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः।

सत्त्वगुणकी वृद्धिमें उन्नति है। उन्नति माने, ऊपर उठना। ऊर्ध्वगति—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

आपका अधोगमन तभी रुकेगा, रजोगुण तभी मिटेगा, जब सत्त्वगुणका आश्रय आप जीवनमें लेंगे। सत्त्वगुणका आश्रय यह है कि आपके मनमें आपको कंगाल बनानेवाली कोई चाह न हो और किसीको हानि पहुँचानेकी वृत्ति न रहे। हानि-लाभ दोनोंमें आपकी वृत्ति समान रहे!

●

****

प्रवचन : 5

19-11-85

प्रश्न : गुणोंके लक्षण—ग्यारहवें श्लोकमें—सत्त्वगुण याने चेतनता, विवेकशक्ति आदिका उदय अथवा अभिवृद्धि, बाहरवें श्लोकमें—रजोगुण याने लोभ, स्वार्थ, अशान्ति, विषय भोगोंकी लालसा आदिमें वृद्धि और तेरहवें श्लोकमें—कर्त्तव्य कर्मोंमें अप्रवृत्ति, प्रमाद, निद्रा आदिकी स्थितियोंमें रुचि अथवा अभिवृद्धि के सूत्र कहे हैं। उनके संकेत सूत्र क्या हैं? साधारणतया मानव परदोषदर्शी होता है और स्वयंको निर्दोष अथवा दोषमुक्त समझ लेता है। अपने लिए तो वह सहनशील और क्षमाशील होता है, तो फिर सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, प्रवृत्तियोंके उदय अथवा अवसानका मापदण्ड क्या होगा? कृपया बतायें।

उत्तर : अपने जीवनमें सत्त्वगुणकी जो वृद्धि होती है, उसकी पहचान क्या है? पहचानको संस्कृत भाषामें लक्षण बोलते हैं। लक्षण, लखाना, पहचान—संस्कृत शब्द देखकर ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि न जाने इसमें क्या है? वहीं जो हम अपने घरोंमें अपनी बोलचालमें बोलते हैं, वही बात संस्कृतमें बोली हुई होती हैं। उसको अपनी घर-घरेलू भाषा से दूर नहीं करना चाहिए। सत्त्वगुण जब बढ़ता है, तब क्या होता है कि हमारा यह जो जीवन है, यह ज्ञान, कर्म दोनोंके मेलसे बना हुआ है। कुछ कर्म, करनेके लिए इन्द्रियाँ हैं, कुछ ज्ञान प्राप्त करनेके लिए इन्द्रियाँ हैं। कान, त्वचा, आँख, रसना और नासिका ये ज्ञान प्राप्त करनेके लिए हैं और हाथ, पाँव, जीभ, मलत्याग, मूत्रत्यागके लिए पाँच कर्मेन्द्रियाँ बनी हुई हैं। ये घरके समान हैं, तो सत्त्वगुणकी वृद्धिकी पहचान यह है कि—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।

रोशनी-ही-रोशनी, प्रकाश-ही-प्रकाश। ऐसा न मालूम पड़े कि कुछ सूझता ही नहीं है या ठीक-ठीक सूझता है। कुछ नहीं सूझ रहा है, यह तमोगुणकी वृद्धिकी पहचान है और बिलकुल ठीक सुन रहे हैं, छू रहे हैं, देख रहे हैं, चख रहे हैं, सूँध रहे हैं। हमारा मन सही जगहपर प्यार कर रहा है, हमारी बुद्धि सही-सही विचार कर रही है। तो न सूझना भी नहीं है और संशय भी नहीं है। इस तरहसे अपने निश्चयात्मक जीवनकी जो प्रवृत्ति है उसको सत्त्वगुणकी वृद्धि कहते हैं। तो, वह इसी देहमें, इसी जीवनमें रहता है। आप देखो, आपका मन कैसे काम करता है? भाई, हमको अमुक मन्दिरमें दर्शन करनेके लिए जाना है—ठीक है। जायँ कि न जायँ! एक विकल्प। अब विचार करके उचित निर्णय किया कि आज इस समय जाना चाहिए या इस समय नहीं जाना चाहिए। यदि जानेका निर्णय हुआ, तो चलनेकी क्रिया हुई। चाहे सवारीसे जाओ चाहे पैदल जाओ।

एक ही बातके बारेमें आपके मनकी चार स्थितियाँ हुईं—जाना हैं, जायँ कि न जायँ? जाना या न जाना उचित है और उसका फिर क्रियान्वयन होना। यह जो हमारा प्रकाशात्मक जीवन है, उसमें दुविधामें रहनेके लिए कोई क्षण नहीं है।

बहुशाखाह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।

आप कोई भी व्यवसाय करते हैं। व्यवसाय माने संस्कृतमें निश्चय होता है—'वि' माने विशेष और 'अवसाय' माने अन्तिम। विशेष और अन्तिम निश्चयका नाम व्यवसाय होता है कि हाँ, यह करना ही है। देखो, व्यापारमें भी उस आदमीको सफलता नहीं मिलती है, जो शीघ्र निश्चय नहीं कर सकता। निर्णय करनेकी शक्ति जिसकी बराबर बनी रहती है, उसमें सत्त्वगुण है और जिसमें दुविधा बनी रहती है—उसमें रजोगुण है और जिसको कुछ सूझता ही नहीं है कि क्या करें, क्या न करें—उसमें तमोगुण है। तमोगुण मान अंधेरा। रजोगुण माने धुन्ध छायी हुई। तमस् माने रातका अंधेरा और रजस् माने आसमानमें जैसे धूल छा गयी हो, धुन्ध छा गया हो और सत्त्व माने निर्मल आकाश, निर्मल प्रकाश। सुननेमें भी शंका न हो कि हमने ठीक सुना कि नहीं! देखनेमें भी शंका न हो कि हमने ठीक देखा कि नहीं! चखनेमें शंका न हो कि यह नमक है कि खटाई है! कभी-कभी लोग पूरा-पूरा भोजन कर लेते हैं और उनको पता ही नहीं चलता कि क्या खाया!

हमने एक सेठजीके बारेमें सुना था कि वे अपने नौकरोंसे पूछ लिया करते थे कि अभी मैंने भोजन किया है कि नहीं किया? कभी-कभी नौकर ऐसे ही कह देते कि आपने भोजन कर लिया है, तो वे अपने काममें लग जाते। सत्त्वगुणका लक्षण यह है कि न तो जीवन अन्धा हो और न तो दुविधामें हो। निश्चयात्मक रूपसे अपने लक्ष्यकी ओर गतिशील हो, तो कहेंगे कि इनके जीवनमें सत्त्वगुण बढ़ा है। प्रकाश माने ज्ञान। गीताने ही इस श्लोकमें व्याख्या कर दी—

सर्वद्वारेषु देहेस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥

निश्चित रूपसे ही उसके जीवनमें सत्त्वगुणकी वृद्धि हो रही है। अब यह हुई सत्त्वगुणकी पहचान—

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥

भरतवंशियोंमें तुम श्रेष्ठ ज्ञानी हो। ऋषभ माने अपने ज्ञानसे जो प्रकाशमान हो, उसको ऋषभ कहते हैं—

ऋषेण ज्ञानेन भाति इति ऋषभः।

भरतवंशियोंमें तुम्हारा ज्ञान श्रेष्ठ है। इसलिए रजोगुणको पहचानो कि रजोगुण क्या होता है? तो उसमें आया लोभ। पहली बात है लोभ। परधनलिप्सा—दूसरेके जेबमें जो पैसा है वह हमारे जेबमें आजाय। इसमें भी ऐसा होता है—मर्यादाके अनुकूल, संविधानके अनुकूल, औचित्यका परित्याग किये बिना वह हमारे पास आये। यदि औचित्य बना रहेगा, तब तो सत्त्वगुण बना रहेगा और यदि उचित, अनुचितका ध्यान छूट जायगा, तो सत्त्वगुण छूट जायगा। लोभ माने दूसरेके पास जो न्यायोचित धन है, उसको उचित, अनुचित मार्गसे हड़प लेनेकी इच्छा! और प्रवृत्ति माने बस लगे हुए हैं। प्रवृत्तिमें यह नहीं देख रहे हैं कि कहाँ जायेंगे!

एकदिन एक बालकने मुझसे बम्बईमें पूछा था कि हमको व्यापारमें किस बातका ध्यान रखना

****

पत्नीको छोड़ देंगे, या पत्नीसे प्रेम करेंगे तो माँको छोड़ देंगे, या गुरुसे प्रेम करेंगे तो पिता, माता, भाई, बेटेको छोड़ देंगे। ऐसा नहीं, उनका ऑफिस अलग-अलग होना चाहिए और पिछली बार उस ऑफिसका काम जहाँ तक देखा है वहींसे उसकी कड़ी जुड़ जानी चाहिए। अगर वह कड़ी नहीं जुड़ पाती है, तो समझना चाहिए कि हमारी बुद्धि रजोगुणसे आच्छादित है।

मैंने सुना था कि एक सज्जनकी स्मरणशक्तिकी बड़ी प्रशंसा थी कि उनको याद रहता है। तीस वर्षके बाद किसी व्यक्तिसे वे मिले। उस व्यक्तिने पूछा—हमलोगोंने क्या खाया था? उसने झट कहा—खिचड़ी। फिर 20-25 वर्ष और बीत गये फिर दोनों मिले, तो उस आदमीने पूछा—किस चीजके साथ? न आगे-न पीछे, प्रश्न कर दिया किस चीजके साथ? खिचड़ीकी याद नहीं दिलायी। पर उसने झट बोल दिया—चटनीके साथ। अपना दिमाग ऐसा रहना चाहिए कि जहाँसे जिस आदमीसे बातचीत करके छोड़ें—मिलनेपर हमारे दिलकी कड़ी वहीं-की-वहीं जुड़ जाय। जब हम अपने दिल-दिमागको बहुत अधिक फैला देते हैं और कड़ी टूट जाती है, तो वह जो कड़ी टूट जाती है, वह हमारे जीवनको एक रेखामें, एक लक्ष्यकी ओर चलनेमें बाधक हो जाती है।

कर्मोंका आरम्भ—आरम्भ माने सकाम कर्मोंका आरम्भ। निष्काम कर्ममें तो ऐसी प्रवृत्ति अधिक होती ही नहीं है। दूसरी बात यह है कि आप जब काम करते हैं तब आपके चित्तकी शान्ति बनी रहती है कि नहीं? रजोगुणकी पहचान क्या है? अशान्ति। हमारे चित्तमें शान्ति नहीं है। जो काम हम करते हैं, वह उतावलीमें करते हैं, घबड़ाकर करते हैं। चित्तमें अशान्ति नहीं होनी चाहिए। जिनलोगोंको कभी व्यापारमें घाटा लग जाता है, घबड़ा जाते हैं।

भागवतमें वर्णन है कि रुक्मीकी पौत्रीके विवाहमें जुआ होने लगा। बरातियोंके साथ घरातियोंका। उसमें झूठमूठ बेईमानीसे कह दें कि बलरामजी हार गये। फिर दाँव-पर-दाँव लगने लगे। लाखका लगा, फिर करोड़का लगा, फिर अरबका लगा, फिर पद्मका लगा। अब जोशमें आगये और जब जोशमें आगये, तो जूआ खेलनेवालेको ही मार डाला। जूआ कितना दुखदायी होता है कि उसमें जब आदमी जोशमें आता है तो युधिष्ठिर अपनी पत्नीको दाँवपर लगा सकते हैं और बलरामजी उस व्यक्तिको मार सकते हैं, जिसको छुड़ानेके लिए कृष्णसे उन्होंने भला-बुरा कहा था। चित्त भी उबले नहीं। सब काम ठंडे चित्तसे करेंगे, तब तो सात्त्विक होगा और यदि हमारा चित्त गरमा जायगा, जोशमें आ जायगा, तो सब काम बिगड़ जायेंगे।

एकबार हमारे एक मित्र अदालतमें बयान दे रहे थे, तो वकील उनसे जितनी भी जिरह करे, वे बड़े बुद्धिमान्, विद्वान् थे, काट दें। वकील घबड़ा गया। घबड़ाकर उसने उनको उत्तेजित कर दिया। उत्तेजित कर दिया, तो वे बोले तुम क्या हमसे जिरह करोगे? दस वर्ष हम तुमको पढ़ा देंगे। बहस पूरी हो गयी। अपनी विद्या, अपनी बुद्धि, अपना धन, अपनी योग्यताको लेकर जब हम शानमें आजाते हैं, तो हृदयमें अशान्ति हो जाती है। यह रजोगुणका लक्षण है। और स्पृहा—किसी वस्तुको पानेके लिए जो लोभ है, वह दूसरी चीज है। पर उस चीजको पानेके लिए जो प्रक्रिया है, वह स्पृहाकी कक्षामें आती है।

****

****

एक व्याख्या तो इसकी यह है कि ठीक है, लोभ आपके मनमें है, बात नहीं कोई, पर कैसे ले लें? चोरोंसे ले लें, जूआसे ले लें, छीनकर ले लें। जब स्पृहा बढ़ती है, तो वह अनुचित मार्गमें ले जाती है। स्पृहाका दूसरा अर्थ यह है कि हम किसी चीजको चाहते हैं, यह तो लोभ है और वह हमेशा हमारे पास बनी रहे, यह स्पृहा है। एक चीज हमारे पास नहीं है, उसको चाहते हैं, यह काम हुआ और होनेपर भी उसको बहुत अधिक चाहते हैं यह लोभ हुआ और आयी हुई चीज हमारे पास ही रह जाय, यह स्पृहा हुई। और यह मेरी है, इसमें तुम्हारा कोई हिस्सा नहीं है, यह ममता हुई। और मैं इस चीजका मालिक हूँ, यह अहंकार हुआ। अब देख लो, आपके जीवनमें रजोगुण किस तरहसे काम कर रहा है—

रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।

जब रजोगुणकी वृद्धि होती, माने धुन्ध छाया हुआ होता है, तो इसमें धुन्ध क्या है? हमारे पास जो है, वह नहीं दीखता है। जो हमारे पास नहीं है और दूसरेके पास है, वह दीखने लगता है। हम अपनी सम्पदाका आनन्द नहीं ले पाते, दूसरेकी सम्पदाके लिए व्याकुल हो जाते हैं। तो धुन्ध छाया, यह कि अपने घरकी चीज तो दीख नहीं रही है और पराये घरकी चीज दीख रही है। पर इसलिए पराये घरकी चीज दीख रही है, तो अँधेरा नहीं है और अपने घरकी चीज दीख नहीं रही है, तो धूल छायी हुई है। यह हो गया 'रजस्येतानि जायन्ते।' और—

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते.....

यह तमस्‌में—अँधेरेमें क्या स्थिति होती है कि न अपनी, न परायी। न दुनिया दीखती है ठीक, न जीव दिखते हैं ठीक, न ईश्वर दिखता है ठीक। बिलकुल अन्धकार छाया हुआ है। जो काम हम करने जा रहे हैं या कर रहे हैं, उससे हमारे भूतका क्या होगा? भूत माने पहले जो कर्म किये हैं, जो सेवा की है, जो उत्पादन किया है, जो समझा है, अब हम जो काम करने जा रहे हैं, हमारे उस अतीत जीवनपर, हमारी अतीत सेवापर, अतीत योग्यतापर इस कामका क्या असर पड़ेगा? आपने वर्षों तक बड़ी ईमानदारीसे काम किया और एक छोटी-सी चीजके लिए आपकी बुद्धिपर इतना अन्धकार छा गया कि सबको मटियामेट कर दिया। बीस वर्षमें जो विश्वास प्राप्त हुआ, वह पाँच मिनिटमें समाप्त हो गया। दूसरेके विश्वासका नाश हुआ और अपनी जो विश्वसनीयता थी वह गयी। इसको अप्रकाश कहेंगे। अच्छा, आगे क्या होगा? सब सूझना चाहिए!

बुद्धि जो है वह भूत और वर्तमानके आधारपर भविष्यको देख लेती है। भविष्य दिखता है—कब दिखता है? जब हम अपने भूतको ठीक-ठीक रखते हैं और वर्तमानको ठीक रखते हैं तो भविष्य ठीक होगा। भविष्यमें इसकी क्या गति हो सकती है यह नहीं सूझेगा। अपने भूतकी योग्यता भूल गयी और भविष्यमें इसका फल क्या होगा। इसपर दृष्टि नहीं गयी और अँधेरेमें ही उठकर चल पड़े। यह हो गया तमस्। इसका नाम हो गया अप्रकाश। बोले कि सूझता नहीं है तो क्या करें? हाथ-पाँव हिलाना बन्द कर दें?

****

एक व्याख्या तो इसकी यह है कि ठीक है, लोभ आपके मनमें है, बात नहीं कोई, पर कैसे ले लें? चोरोंसे ले लें, जूआसे ले लें, छीनकर ले लें। जब स्पृहा बढ़ती है, तो वह अनुचित मार्गमें ले जाती है। स्पृहाका दूसरा अर्थ यह है कि हम किसी चीजको चाहते हैं, यह तो लोभ है और वह हमेशा हमारे पास बनी रहे, यह स्पृहा है। एक चीज हमारे पास नहीं है, उसको चाहते हैं, यह काम हुआ और होनेपर भी उसको बहुत अधिक चाहते हैं यह लोभ हुआ और आयी हुई चीज हमारे पास ही रह जाय, यह स्पृहा हुई। और यह मेरी है, इसमें तुम्हारा कोई हिस्सा नहीं है, यह ममता हुई। और मैं इस चीजका मालिक हूँ, यह अहंकार हुआ। अब देख लो, आपके जीवनमें रजोगुण किस तरहसे काम कर रहा है—

रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।

जब रजोगुणकी वृद्धि होती, माने धुन्ध छाया हुआ होता है, तो इसमें धुन्ध क्या है? हमारे पास जो है, वह नहीं दीखता है। जो हमारे पास नहीं है और दूसरेके पास है, वह दीखने लगता है। हम अपनी सम्पदाका आनन्द नहीं ले पाते, दूसरेकी सम्पदाके लिए व्याकुल हो जाते हैं। तो धुन्ध छाया, यह कि अपने घरकी चीज तो दीख नहीं रही है और पराये घरकी चीज दीख रही है। पर इसलिए पराये घरकी चीज दीख रही है, तो अँधेरा नहीं है और अपने घरकी चीज दीख नहीं रही है, तो धूल छायी हुई है। यह हो गया 'रजस्येतानि जायन्ते।' और—

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते.....

यह तमस्में—अँधेरेमें क्या स्थिति होती है कि न अपनी, न परायी। न दुनिया दीखती है ठीक, न जीव दिखते हैं ठीक, न ईश्वर दिखता है ठीक। बिलकुल अन्धकार छाया हुआ है। जो काम हम करने जा रहे हैं या कर रहे हैं, उससे हमारे भूतका क्या होगा? भूत माने पहले जो कर्म किये हैं, जो सेवा की है, जो उत्पादन किया है, जो समझा है, अब हम जो काम करने जा रहे हैं, हमारे उस अतीत जीवनपर, हमारी अतीत सेवापर, अतीत योग्यतापर इस कामका क्या असर पड़ेगा? आपने वर्षों तक बड़ी ईमानदारीसे काम किया और एक छोटी-सी चीजके लिए आपकी बुद्धिपर इतना अन्धकार छा गया कि सबको मटियामेट कर दिया। बीस वर्षमें जो विश्वास प्राप्त हुआ, वह पाँच मिनिटमें समाप्त हो गया। दूसरेके विश्वासका नाश हुआ और अपनी जो विश्वसनीयता थी वह गयी। इसको अप्रकाश कहेंगे। अच्छा, आगे क्या होगा? सब सूझना चाहिए!

बुद्धि जो है वह भूत और वर्तमानके आधारपर भविष्यको देख लेती है। भविष्य दिखता है—कब दिखता है? जब हम अपने भूतको ठीक-ठीक रखते हैं और वर्तमानको ठीक रखते हैं तो भविष्य ठीक होगा। भविष्यमें इसकी क्या गति हो सकती है यह नहीं सूझेगा। अपने भूतकी योग्यता भूल गयी और भविष्यमें इसका फल क्या होगा। इसपर दृष्टि नहीं गयी और अँधेरेमें ही उठकर चल पड़े। यह हो गया तमस्। इसका नाम हो गया अप्रकाश। बोले कि सूझता नहीं है तो क्या करें? हाथ-पाँव हिलाना बन्द कर दें?

बैठे-बैठे किसीको पुकार तो लो? जहाँ चक्षुज्योति काम नहीं करती है, आँखसे नहीं दिखायी पड़ता और जहाँ मनज्योति काम नहीं करती है—माने मनसे समझमें नहीं आती है। उस समय वाक्ज्योति काम करती है। वाक्ज्योति माने वाणी। आप अपनी वाणीका भी प्रयोग कीजिये और दूसरेकी वाणी सुनिये। वाणी ऐसी चीज है जो वक्ताको जगा देती है।

आपको खूब नींद आ रही हो, उस समय आप गीताका पाठ शुरू कर दीजिये, थोड़ी देरमें नींद भाग जायगी। जपमें नींद आती हो पाठ कीजिये। ध्यानमें नींद आती हो तो जप कीजिये। बन्द आँखमें नींद आती हो तो खुली आँखसे कीजिये। जब आप अपनेको प्रवृत्ति-शून्य कर देंगे, तब तो घोर तमस्में, घोर अन्धकारमें लीन हो जायेंगे।

गाँवमें पहले लालटेन थी ही नहीं। हमारे पढ़नेके समय मिट्टीकी ढिबरी होती थी। छोटी-छोटी, उसमें किरासिनका तेल भरकर जलाते थे। पढ़कर अगर उसको बुझा न दें तो सबेरे उठनेपर नाकमें-से कालिख निकलती थी। कालिख भर जाती थी। जहाँ लालटेन नहीं होती है और अँधेरेमें कोई आता हुआ दिखता है तो पूछ लेते हैं—'कौन है?' और वह बता देता है कि मैं अमुक हूँ। व्यवहार हो जाता है। तो यदि आप अँधेरेमें अपना व्यवहार ही बन्द कर देंगे, तो उस अँधेरेको दूर करनेका उपाय नहीं हो सकेगा। इसलिए उस समय यदि मानसिक प्रवृत्ति या चाक्षुष प्रवृत्ति न होती हो तो वाक्प्रवृत्तिके द्वारा उस अन्धकारको दूर करना चाहिए। यह तमोगुणको दूर करनेके लिए स्वाध्याय, जप, पाठसे बढ़कर और कोई उपाय नहीं है।

ये जो लोग कहते हैं न, कि हम तीन घंटा ध्यान करके आये हैं—वे तीन घंटा नहीं, तीन मिनट भी ध्यान नहीं करते हैं। बिना पाठके, बिना जपके, वाक्शक्ति जो है वह जाग्रत नहीं होगी। और बिना वाक्शक्तिके जागरणके लक्ष्यमें भी उसका नाम होता है और उसके रूप होते हैं, उनका ग्रहण नहीं होगा। इसलिए अप्रवृत्ति जो है, अपना हाथ-पाँव बन्द करके बैठ जाना। हाय, हाय मुझसे तो कुछ होता नहीं, मेरे किये क्या होगा? यह तमोगुणी प्रवृत्ति है। माने वह आदमी अन्धकारमें डूबा हुआ है—बौद्धिक अन्धकारमें। एक होता है चाक्षुष अन्धकार, वह बाहर होता है और तमोगुण जो है वह बौद्धिक अन्धकार है और वह हमारे भीतर रहता है।

पाकिस्तानसे एक सज्जन वृन्दावनमें आकर रहे। वे बताते थे कि मैं अपनी दूकानका सब सार लेकर आया हूँ। पाकिस्तानसे खाली हाथ नहीं आया हूँ। लेकर आये हो तो यहाँ कुछ काम करो। बोले, सोच रहा हूँ महाराज! पचीस वर्ष बीत गये, वे सोचते ही रहे। सब लाये थे, वह खतम हो गया। मर भी गये। सोचना, सोचना भी एक हद तक ही होता है। यह नहीं कि सोचने-सोचनेमें में ही अपना जीवन व्यतीत हो जाय। जितना-जितना समझमें आता जाय, उतना करते भी जाना चाहिए, नहीं तो तमोगुण और घना हो जाता है।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च।

अच्छा बोले—करना तो चाहते हैं, पर क्या करें हमको समय पर याद ही नहीं आती है। प्रमाद आ जाता है। यह भी तमोगुण है। क्यों नहीं अपने कर्तव्यका स्मरण होता है? क्यों नहीं स्फुरण होता है?

एक हरदत्तजी ब्रह्मचारी थे—अभी दो वर्ष पहले तक तो वे थे। 85-90 वर्षकी उम्र हो गयी थी। एक बार गीता प्रेसमें मुझसे मिलनेके लिए आये। मैंने वहाँके प्रबन्धकको बुलाया और कह दिया कि ब्रह्मचारीजीके सोनेकी, भोजन आदिकी व्यवस्था तुम कर दो और कल इनसे हम मिलेंगे। पाँच या सात विषयों के वे आचार्य थे। जिनके जिम्मे यह काम था, उन्होंने एक कमरा खोल दिया, बिस्तर लगा दिया, बिछा दिया और उसके बाद चले गये। दूसरे दिन दस बजे ब्रह्मचारीजी स्नान करके, ध्यान करके—वे बड़े पवित्र, बड़े तेजस्वी प्रकाशमान पुरुष थे, मेरे पास मिलनेके लिए आये। तो मैंने उनसे पूछा कि रातमें आपका सब भोजन-भाजन ठीक हो गया? तो बोले—हाँ, हाँ सब ठीक हो गया। जब उन्होंने हाँ, हाँ सब ठीक हो गया कहा, तब मेरे मनमें शंका हुई। फिर जिनके जिम्मे काम था उनको बुलाया। अब वे बोले कि हाय! हाय! मैं तो भूल गया, मुझे तो नींद आ गयी। मैंने तो इनको खिलाया ही नहीं। अब देखो, अतिथि घरमें आया और उसको हम खिलाना-पिलाना ही भूल जायँ तो यह तमोगुण नहीं तो और क्या है? इसीका नाम है, बुद्धिका, मनका अन्धकार। इसीका नाम है तमस्—जिसके मनमें अपने कर्तव्यका स्फुरण होता है, उसको अपना कर्तव्य पूरा किये बिना, नींद कैसे आ सकती है? यह जो मतवालापन है—प्रमाद जो है वह मतवालापन है, एक प्रकारका पागलपन है। और सावाधन रहकर इसको दूर करना चाहिए।

मोहका अर्थ है चित्तका विपरीत हो जाना। 'मुह् वैचित्ये'। अच्छेको बुरा समझे, बुरेको अच्छा समझे। असलमें यह होता कैसे है? कि हम जब अपनेमें ही, अपनी बुद्धिमें, अपने विचारमें अपने मनमें खोट रखते हैं—जैसे हमलोग चार जने बैठते हैं। एकने अपने बच्चेकी बात शुरू की। मैंने जब बोलना शुरू किया तो किसीने अपने बच्चेकी बात शुरू कर दी। जब उसने बच्चेकी बात शुरू की तो उसमें आप दिलचस्पी लीजिये। उनकी क्या उमर है? कैसे पढ़ते हैं? किस विषयमें उनकी रुचि है? क्या काम करते है? जब किसीने अपने बच्चेकी बात शुरू की तो आप उसके बच्चेकी बातमें दिलचस्पी लीजिये। वहाँ अपने बच्चेकी बात क्यों शुरू करते हैं कि हाँ, हाँ, हमारा भी बच्चा ऐसा ही है और उसका ऐसा हुआ था, उसका ऐसा हुआ था। अब सामनेवाला जो अपने बच्चेके बारेमें अपने मनकी बात कहना चाहता था, वह तो जहाँ-की-तहाँ धरी रह गयी। और बीचमें आपका बच्चा आगया। यह क्या है? यह अपने बच्चेके प्रति मोह है।

एकने अपनी बात शुरू की कि हमने काम-धन्धा ऐसे शुरू किया था और उसको ऐसे बढ़ाया और ऐसे फैक्टरी लगायी। वह अपनी बुद्धि और अपने गुणकी महिमा सुनाना चाहता था आपको। उसमें उसकी दिलचस्पी थी। और आपने बीचमें ही अपने व्यापार और अपनी फैक्टरी और अपनी निपुणताकी बात करनी शुरू कर दी। यह क्या है? असलमें बुद्धिकी विपरीतता है और मोहाक्रान्त बुद्धि है जो सामनेवालेकी दिलचस्पीसे नहीं मिल सकी और अपनी दिलचस्पीमें उसको खींच लेनेका प्रयास कर रही है।

बड़ी सहानुभूतिके साथ उसकी बात सुनिये जो आपको सुना रहा है। चित्तकी विपरीतताका नाम होता है 'वैचित्य' और मोह शब्दका संस्कृतमें अर्थ होता है 'वैचित्य'। कहाँ है मोह आपका? वहीं खुलेगा, जब

दूसरा कोई अपने मनकी बात कहने लगेगा तो आप उसके मनकी सुनना पसन्द नहीं करेंगे। अपने मनकी कहना शुरू कर देंगे। माने अपना मन और अपनी मनोवृत्तियोंमें आपका बहुत बड़ा मोह है।

'प्रमादो मोह एव च' 'प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च'।

तमोगुणकी वृद्धि होनेपर यहाँ आलस्यको बीचमें और भी लेना चाहिए। प्रमाद और मोहके बीचमें आलस्यको भी लेना चाहिए। ऐसा आचार्योंका मत है। क्योंकि प्रमादका अर्थ तो होता है बिलकुल भूल जाना और अपने मोहकी वस्तुओंमें इतना डूब जाना कि दूसरेकी बात न सुन सकें। और आलस्य होता है—स्मरण तो है कि यह काम करना चाहिए, इनसे मिलना चाहिए; परन्तु याद आने पर भी अलसा गये। उस मनुष्यके जीवनमें कभी शान्ति नहीं रह सकती और कभी श्रीलक्ष्मीका निवास नहीं रह सकता। वह अलस हो जाता है। 'न लसति'—उसकी शोभा नष्ट हो जाती है और अरस हो जाता है। उसके जीवनमें कोई रस भी नहीं रहेगा और कोई शोभा भी नहीं रहेगी। जो भीतरसे स्मरण आये हुए और बुद्धिसे बताये हुए कामको, अपने मन और बुद्धिका, अपने ज्ञान और अपने कर्तव्यका, तिरस्कार करके बैठा रह जायगा। इसलिए प्रमादमें स्मरण नहीं होता है—आलसमें स्मरण होनेपर भी कर्तव्यसे विमुखता होती है और मोहमें दूसरेकी न सुनकर अपनी-ही-अपनी हाँकनेकी वृत्ति होती है। यह तमोगुणके बढ़नेपर होता है।

इसमें भी सावधान रहनेकी बात है कि हम गुणातीत हो जायँ। हमारा सात्त्विकताका बन्धन भी दूसरेके लिए दु:खदायी न हो। आप दूसरेको यह मत टोकिये कि तुम यह क्यों करते हो? आप आवश्यकता हो तो यह बता दीजिये कि यह हमारा नियम है, हम यह चीज नहीं करते हैं। हम यह नहीं खाते हैं, हम ऐसे नहीं रहते हैं—अपने नियम मर्यादाको आप भले प्रकट कर दीजिये। लेकिन दूसरेकी रहनीपर आक्षेप करनेका कोई कारण नहीं है।

सात्त्विक लोगोंमें प्राय: यह बात आजाती है कि वे अपनी रहनीमें ठीक रहते हैं, लेकिन दूसरोंकी तमोगुणी और रजोगुणी रहनीपर आक्षेप करते रहते हैं। जहाँ वे दूसरोंपर आक्षेप करनेके लिए जाते है वहाँ उसकी बुद्धि भी क्षिप्त हो जाती है, विक्षिप्त हो जाती है। अपना घर छोड़कर पराये घरमें चली जाती है। जैसे कोई स्त्री शृङ्गार तो अपने घरमें करे लेकिन शृङ्गार करके अपने पतिके सामने न जाय उसको खुश न करे और बाजारमें चली जाय कि दूसरे लोग हमको इस शृङ्गारमें देख-देखकरके खुश होंगे। इस प्रकारकी जो प्रवृत्ति है वह सात्त्विकतामें भी बन्धनका हेतु है। हम अपनी पवित्रतामें और अपनी रहनीमें और अपने ढंगमें इतने फँस जायँ कि दूसरोंको बुरा समझने लगे।

हमने हिमालयमें देखा—लोग मुर्दा फेंककर-जलाकर-स्नान नहीं करते हैं, वही कपड़ा पहने हुए चले जाते हैं। केरलमें हमने देखा, वहाँके बड़े-बड़े प्रोफेसर भी कोट-पैंट नहीं पहनते हैं, केवल चद्दर ओढ़कर कॉलेजमें चले जाते हैं। अब हम उनके ऊपर आक्षेप करने लगें कि तुम सिले कपड़े नहीं पहनते, उनसे कहें कि तुम स्नान नहीं करते!

कलकत्तेमें एक कसेराजी थे। वे अदालतमें गये। वहाँ जाकर बोल पड़े 'जय राम हरे, सुखधाम हरे!'

लोगोंने कहा—यह अदालत है, यहाँ मत बोलो, मत बोलो। उन्होंने कहा—'मैं तो धर्मराज युधिष्ठिरकी अदालतमें आया हूँ, कोई हिरण्यकशिपुकी अदालतमें थोड़े ही आया हूँ कि भगवान्‌का नाम मत लो। अपनी सात्त्विकता भी अपने लिए ही होनी चाहिए।' दूसरेके ऊपर आक्षेप करनेके लिए नहीं।

× × ×

प्रश्न : चौदहवें श्लोकके अनुसार सत्त्वगुणमें स्थित आत्मा निर्मल लोगोंको प्राप्त करता है और पन्द्रहवें श्लोकके अनुसार रजोगुणी आसक्त लोगोंमें और तमोगुणी मूढ योनियोंमें जन्म लेता है। कृपया इस कथनका सन्दर्भ भगवान्‌के इस वाक्यके साथ—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।

समझानेकी कृपा करें।

उत्तर : **यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।**
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥

अब बताते हैं कि मृत्युके समय अपने जीवनमें कौन-सा गुण रहेगा, तो उत्तम फलकी प्राप्ति होगी! यहाँ यह बताया है कि यदि अपने जीवनमें सत्त्वगुणकी वृद्धि हो तो बड़े-बड़े ज्ञानियोंको जिन उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है, वह आपकी भी होगी। सत्त्वगुणमें रहनेका फल—देखो, एक तो आपका भूत सुधरता जायगा। वर्तमान ही भूत होता जाता है, आप इस समय सत्त्वगुणमें स्थित रहिये, अच्छा काम कीजिए, आपके पिछले काम सब अच्छे हो जायेंगे। और जो आगेसे आयेगा वह भी अच्छा होगा। क्योंकि भविष्यको वर्तमानमें से होकर गुजरना पड़ता है। और वर्तमानको ही भूत होना पड़ता है। जिसका वर्तमान मीठा होगा, मधुर होगा—जो कड़वा भविष्य भी आनेवाला होगा, उसकी मीठी जीभपर आकर मीठा हो जायेगा। और पहले जो उसके जीवनमें कड़वाहट रही होगी, वह भी हर क्षणमें मीठी होती जायगी। इसलिए हमें सुवृत्तमें हमेशा अच्छे काममें रहना चाहिए। जो उत्तम काम है, आपकी योग्यता जो है, उससे बड़ा काम करना शुरू करोगे तो उसमें सफलता मिलना कठिन हो जायगा। लाख रुपयेका काम करनेकी योग्यता मिलना कठिन हो जायगा। लाख रुपयेका काम करनेकी योग्यता है और करोड़की शुरू करोगे तो उसमें सफलता मिलना कठिन हो जायगा। अपनी योग्यताके अनुसार चलना चाहिए। और अपना बड़प्पन न धनमें, न विद्यामें, न बुद्धिमें, न जातिमें, न मजहबमें, कहीं भी दिखानेकी आवश्यकता नहीं रहती है। तदेतत् सुकृतम् इसका नाम होता है सुकृत और इसका फल होता है सात्त्विक और वह फल कैसा होता है? निर्मल होता है। हमारे तन-मनकी जो मलिनता है, वह धुल जाती है। देखो, क्या आश्चर्य है कि हम अपने कपड़ेको कितना साफ रखना चाहते हैं, मकानको कितना साफ रखना चाहते हैं! मकान साफ रहे, मोटर साफ रहे, कपड़ा साफ रहे, शरीर साफ रहे। साफ माने स्वच्छ रहे। लेकिन मनके बारेमें क्या सोचते हैं? वह तो बड़ी महत्त्वपूर्ण वस्तु है। आपका वस्त्र और शरीर खूब

स्वच्छ रहे और मनमें मलिनता भरी रहे तो आप क्या स्वच्छ रहेंगे? उस स्वच्छताको बढ़ानेका एक ही उपाय है। उसको आप ध्यानमें लीजिये। कूएँमें-से जितना पानी निकलता है और लोगोंके काम आता है, उसको लोग पीते हैं, नहाते हैं—उतना ही कूएँमें भीतरसे और स्वच्छ-से-स्वच्छ जल बाहर निकलता आता है। और यदि कुएँके जलका ठीक-ठीक उपयोग न किया जाय—वह स्नान और पानके काममें न आये तो वह जल गन्दा हो जाता है, उसमें कूड़ा पड़ जाता है और कभी-कभी तो इतना विषैला हो जाता है कि यदि कोई कुएँमें उतरे तो उसकी हवासे उसकी मृत्यु हो जाती है। ऐसा मैंने कितनी बार गाँवमें देखा है कि ऐसा कूँआ खाली रहे और लोग उसमें साफ करनेके लिए उतरे तो उन्हींका सफाया हो गया। हमेशा कूएँका पानी लोगोंके काम आना चाहिए। आपके जीवनमें भी कुछ सद्‌गुण रहेंगे, कुछ योग्यता है, उसका यदि आप सदुपयोग करते हैं तो आपकी योग्यता और बढ़ेगी। सुकृतका अर्थ है कि आप जो भी काम करें, अपनी योग्यताके अनुसार करें और पूरी रुचिके साथ करें और अपने मनको उसमें पूरी तरह लगाकर करें। यह बात सब लोगोंके समझमें आनेकी नहीं है। परन्तु है बिलकुल सत्य कि सब स्थानमें, सब समयमें, सबके रूपमें परमात्मा मौजूद है। आप यदि ईमानदारीसे, रुचिसे अपना मन पूरा वहाँ लगा देंगे तो वहीं आपको परमात्माका दर्शन हो जायगा। यह जो आपका मन इधर-उधर भटकता फिरता है, वह किसी भी कामको आप बढ़िया तरहसे करके देखिये तो—सुष्टु कृतम्=सुकृतम्—जो अच्छी तरहसे किया जाय, भलीभाँति किया जाय, उसका नाम होता है 'सुकृत'। भगवान्‌का भजन सुकृती लोग करते हैं, यह बात तो गीतामें आपने पढ़ी ही है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।

जो सुकृतो मनुष्य होते हैं, वे भगवान्‌का भजन करते हैं और भले वे भगवान्‌का भजन किसी भी लक्ष्यसे करें, पर भगवान्‌के लिए करें! 'जनाः सुकृतिनोऽर्जुन' आर्त, दुःख मिटानेके लिए भगवान्‌का भजन कीजिये।

यहीं एक सेठ थे, उनका नाम तो हम भूल गये हैं—जब यहाँ बड़े-बड़े कविराज लोग हुआ करते थे—अस्पतालमें निश्चय हो गया था कि उनका पाँव काट दिया जायगा। उनके पाँवमें कोई दोष था। बड़े डरे और जब मनमें भय आया तो उनको कोई सहारा नहीं दिखा और भगवान्‌के चित्रको अपने हृदयमें लगाया और आर्त हो करके उन्होंने प्रभुको पुकारा! नींद आगयी। नींदमें स्वप्न आया कि तुम अच्छे हो गये, उठो! नींद टूटी। उन्होंने कहा—यह तो सपना है, इसमें क्या रखा है! फिर रोये, रोकर भगवान्‌के चित्रको हृदयसे चिपकाया और भगवान्‌के सिवाय और कोई सहारा नहीं है, बिलकुल अनन्य। न कोई उपाय, न कोई व्यक्ति अब तो हमारे दोनों पाँव कट जायँगे! निराश्रय होकरके, अकिंचन होकरके, अनन्यगति हो करके उन्होंने भगवान्‌को पुकारा। फिर स्वप्न आया। भगवान्‌ने कहा—अरे, तू उठ तो भाई! अच्छा हो गया। दूसरी बार सपना आया, तीसरी बार सपना आया। उन्होंने सोचा, सचमुच देखें क्या बात है! पलंगपरसे अपना पाँव नीचे किया तो सचमुच नीचे उतर गये। उतरकर वे बाथरूममें गये। अपने आप सब काम कर लिया। फिर लौटकर आये और देखा कि हम तो बिलकुल ठीक हैं। तो वे चुपकेसे अस्पतालमें-से अपने घर चले गये। सबेरे जब ऑपरेशनके

समय डॉक्टर लोग इकट्ठे हुए तो वहाँ रोगी ही नहीं। खोज हुई तो उन्होंने अपने घरसे बताया कि मैं तो बिलकुल ठीक हूँ। तो डॉक्टर लोग उनके घरमें ही गये कि कहीं पागल तो नहीं हो गया है। और जाकर जाँचकी तो पाँवमें कोई रोग नहीं।

आर्त लोग यदि भगवान्के प्रति अनन्यगतिक और अकिंचन (दूसरेका कोई सहारा नहीं है और दूसरा कोई अपने पास उपाय नहीं है)—होकर भजन करते हैं और भगवान् उनकी आर्ति पूरी करते हैं। अर्थार्थीको अर्थ मिलता है। ध्रुवको अर्थ मिला। जिज्ञासुको ज्ञान मिला। ज्ञानीको जीवनमुक्तिका विलक्षण सुख मिला। जो सात्त्विक पुरुष होगा, जिसके जीवनमें सत्त्वगुण होगा और सुकृति होगा, तो उसके अन्तिम जीवनके अन्तमें भगवान्का स्मरण होता है और—

अन्तकाले च गामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।

उसको तो भगवान्की प्राप्ति हो जाती है। इसलिए अपने जीवनमें सत्त्वगुण बढ़ाना चाहिए। परन्तु यह अध्याय जो है वह केवल सत्त्वगुण तक ही पहुँचाकर छोड़नेके लिए नहीं है—गुणातीत करनेके लिए है। आपको आश्चर्य होगा कि जहाँ ब्रह्मसूत्रमें यह विचार है—

रम्भति संपरिष्वक्तो।

रम्भति अधिकरणमें कि जब पुण्यात्मा मनुष्य मरने लगता है तो दो अमानव पुरुष आते हैं और उसको लेकर परलोकमें जाते हैं। वहाँ शंकराचार्यने लिखा है कि देखो, यह जो प्रसंग है, यह चाहनेके लिए नहीं है कि भगवान्के पार्षद आयें और हमको ले जायें—यह भगवान्के पार्षदोंको कष्ट देनेके लिए नहीं है। बल्कि इतना वैराग्य देनेके लिए हैं कि हमको कहीं जाने-आनेकी आवश्यकता ही न रहे। इसलिए सत्त्वगुण भी निर्मल फलकी प्राप्तिके लिए नहीं है और वह निर्मल फल कोई है तो निर्माय परमात्माकी, मायारहित परमात्माकी प्राप्ति है। गुणातीत होनेके लिए ही यह सारा-का-सारा प्रसंग है।

•

प्रवचन : 6

20-11-85

प्रश्न : जन्मके पूर्व और मृत्युके उपरान्त, यह प्रश्न संसारके बुद्धिजीवियोंके विचार-विमर्शमें बराबर रहता है—मृत्यु ध्रुव है। यह तो संसारके सभी आस्तिक अथवा नास्तिक मानते ही हैं। लेकिन जहाँ हमारे यहाँ 'ध्रुवं जन्म मृतस्य च' स्पष्ट उद्घोष है, वहाँ संसारके अन्य धर्मावलम्बी अपनेको भ्रममें ही पाते हैं। जीवन, मृत्यु और पुर्नजन्मकी इस प्रक्रियापर कुछ प्रकाश डालनेकी कृपा करें!

उत्तर : जो वर्तमान जन्मको ठीक-ठीक समझ लेता है, वही जन्मके पूर्वकी और मृत्युके अनन्तरकी स्थितिको समझ सकता है। वर्तमान जीवन ही जिसकी समझमें नहीं आया. वह पूर्व जीवन और उत्तर जीवनकी कल्पना भी क्या कर सकता है? तत्त्व-दृष्टि जो है वह सर्वोत्तम होती है। कारण, हमेशा ही अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार कल्पित होता है। हमारा जन्म क्यों हुआ? ईश्वरकी इच्छासे। तो ईश्वरकी इच्छा किसीको पशु, किसीको पक्षी, किसीको मनुष्य, किसीको सुखी, किसीको दुःखी, किसीको लम्बा, किसीको नाटा, किसीको लँगड़ा, किसीको स्वस्थ-सुन्दर, ऐसे भिन्न-भिन्न रूपमें बनानेकी क्यों इच्छा हुई? इसका उत्तर है कि जिसका जैसा पूर्व कर्म होता है, उसके अनुसार ईश्वर नया जन्म देता है। यदि अपनी मौजसे ईश्वर सबको जन्म देता है, किसीको पशु, पक्षी, मनुष्य, सुखी, दुःखी, लँगड़ा, लूला, काना, आँखवाला बनाता है तो यह तो एक प्रकारकी बड़ी उच्छृङ्खलता हुई।

एक ही प्रकारके जीव, एक ही प्रकारके उपादान, एक ही बनानेवाला और तरह-तरहके बनाकर रख दे, किसीको सुखी, किसीको दुःखी, तो वह तो अन्याय होगा। इसलिए कर्मकी अपेक्षासे ईश्वर जन्म देता है। जो पापी है उसको शूकर-योनिकी प्राप्ति होती है और जिसके कर्म-पुण्य होते हैं, उसको देवयोनि, मनुष्ययोनिकी प्राप्ति होती है। ईश्वरको बनानेके लिए भी कोई अपेक्षा चाहिए, इसके लिए पूर्व-पूर्व कर्मकी आवश्यकता होती है। मुसलमान और ईसाई मानते हैं कि ईश्वर स्वेच्छासे ही विषम सृष्टि बना देता है और वैदिक धर्म मानता है कि कर्मानुसार बनाता तो ईश्वर ही है, परन्तु जिसका जैसा कर्म होता है, उसके अनुसार बनाता है।

कई चीजें ऐसी होती हैं, जिनको हम बनाते नहीं हैं, बनी-बनायी मिलती हैं। जैसे पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, ये प्रलयके पूर्व भी होते हैं। प्रलयकालमें बीज रूपसे रहते हैं और सृष्टि कालमें अङ्कुरित अथवा पल्लवित, पुष्पित, फलित वृक्षके समान रहते हैं। और नींद तो सबको आती है। जागना भी सबको होता है, सपने भी सबको आते हैं। अब इनका जो सदुपयोग, दुरुपयोग है, वह कैसा है?

मैंने सुना एक बार रामकृष्ण परमहंसने देखा कि ढोलक बजाते हुए लोग बड़े ऊँचे स्वरसे कीर्तन करते हुए जा रहे हैं, तो वे दु:खी हो गये। किसीने पूछा, आप दु:खी क्यों हो रहे हैं? बोले-ये सब खोल बजाते हुए, कीर्तन करते हुए एक जगह इकट्ठे होंगे और जब रातको बाहरके लोग चले जायेंगे, तब ये कहीं चोरी करेंगे, कहीं डाका डालेंगे, व्यभिचार करेंगे, अनाचार करेंगे। ऊपरसे दिखावा है सत्त्वगुणका और भीतर रजोगुणी, तमोगुणी कर्म करनेकी इच्छा है।

एक व्यक्ति है, वह बहुत जल्दी सो जाता है कि जल्दी उठेंगे, पर जल्दी उठकर क्या करेंगे? भगवान्का भजन करेंगे या कोई व्यापारका हिसाब-किताब लगायेंगे अथवा भोग-विलास करेंगे या कहीं चोरी, डाका करनेके लिए जायेंगे। इस तमोगुणी निद्राका जो आगे सदुपयोग होगा उसकी दृष्टिसे निद्राका महत्त्व या उसकी न्यूनता होगी। आप किस कामके लिए सत्त्वगुण स्वीकार कर रहे हैं।

'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटकमें एक दृश्य दिया है कि काशीमें एक सज्जन थे। वे प्रात:काल सबसे पहले जाकर गंगास्नान करते और गंगाजीमें जो भीतरतक लकड़ीके पट्टे लगे हुए होते उनपर जाकर बैठ जाते। हाथमें जपमाला। परन्तु उनका उद्देश्य यह था कि प्रात:काल वहाँ जो स्त्रियाँ आकर स्नान करती हैं, उनके स्नान करते हुए शरीरको देखें। प्रात:काल उठना भी सात्त्विक, स्नान करना भी सात्त्विक और जप करना भी सात्त्विक; परन्तु उद्देश्य उनका निम्नकोटिका। यह सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण भी सबके जीवनमें आते हैं; परन्तु वे उद्देश्यके अनुसार फल देते हैं। प्रकृतिके गुणोंमें भी, जीवनमें, तमोगुण वृत्ति है, रजोगुणकी वृत्ति है, सत्त्वगुणकी वृत्ति है; परन्तु जब उसका सदुपयोग किया जाय तो ईश्वर उन सबका फल भी उत्तम देता है। इसलिए इस जन्मको देखकरके पूर्वजन्मका अनुमान हो जाता है। जो नरकमें खूब दु:ख भोग करके आता है, वह इतना चिड़चिड़ा होता है कि वह सबको डाँटने-फटकरनेका ही मजा लेता है। और जो स्वर्गका सुख भोगकर तृप्त होकर आता है वह सबको तृप्ति प्रदान करता है। श्रीमद्भागवतमें पाँचवें स्कन्धमें एक श्लोक आता है कि—

मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति।
भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यत:॥ 4.29.66

मनुष्यका जो वर्तमान मन है वह बता देता है कि यह कहाँसे आया है। नरकसे आया है कि स्वर्गसे। जैसे कोई रुईकी गोदाममें-से आये तो उसके शरीरपर, कपड़ेपर कुछ रुईके रेशे लगे होंगे और यदि कोई कोयलेके खानेमें-से निकले तो कुछ कोयलेके कण उसके ऊपर पड़े होंगे। यदि कोई दवाके कारखानेसे निकले, तो दवाकी कुछ गन्ध उसके शरीरमें लगी होगी। इसी प्रकार मनुष्यका जो यह जन्म होता है, उसीके द्वारा पूर्व जन्मका अनुमान किया जाता है कि ईश्वरने कैसा जन्म दिया था। और आगे यह कहाँ जायगा?

समझ लो कि किसीकी रुचि मांस खानेमें बहुत अधिक है। ठीक है, ईश्वर देख रहा है कि अभी मांस खानेकी इसकी वासना है, तो उसको मांसाशी योनियोंमें भेज देगा। वह गीध हो जायेगा, वह चील हो जायेगा,

वह कौआ हो जायगा और वहाँ जाकर अपने मांस खानेकी वासना पूरी करेगा। कोई दूसरोंको बहुत सताता है, साँप हो जायगा। वह दूसरोंको काटेगा, बिच्छू हो जायगा, डंक मारेगा। मनुष्य होगा तो वह ऐसी कड़वी बात और ऐसी व्यंग्य वक्रोक्ति, दूसरेके दिलमें चुभ जानेवाली बात बोलेगा। और यदि वह सुखी होगा तो सुख देनेवाली बात बोलेगा। कोई कहेगा—शान्त होकर भजन करना अच्छा है, तो कोई कहेगा कि दिन-रात कर्ममें लगे रहना अच्छा है।

यह जो वर्तमान जीवन है, यही पूर्वजीवन और भविष्य जीवनका सूचक है। अब किसका जन्म नहीं होगा, इसका भी पता लगता है। कैसे लगता है? किजिसके जीवनमें वासना जितनी कम है, जो सर्वथा निर्वासन है, उसको ईश्वर कहाँ भेजेगा? ईश्वरको भेजनेके लिए कोई जगह ही नहीं हो सकती उसके लिए, जहाँ निर्वासन पुरुषको भेजे। तो ईश्वर कहता है भाई! निर्वासन आत्मा तो हमारी है; आओ तुम हमसे एक हो जाओ; अब तुम्हें जन्म-मृत्युके चक्करमें नहीं पड़ता पड़ेगा। तो जो इस जीवनमें निर्विकर होगा वह निर्विकार ब्रह्मसे एक होगा। जो ऐश्वर्यवासन होनेवाला होगा, वह अगले जन्ममें शक्तिशाली होगा। जो हिंसा, चोरी, व्यभिचार, झूठमें लगा होगा उसको उसकी सुविधावाली योनि और जन्म आगे मिलेंगे। और जो पवित्रताके विचार वाला होगा, उसको पवित्रता मिलेगी।

एक दार्शनिक दृष्टिकोण होता है और एक पौराणिक, मजहबी दृष्टिकोण होता है। हमारे धर्मके मूलमें अन्ततोगत्वा दर्शन है—अनुभूति है। और इसी जीवनमें वह अनुभूति प्राप्त हो सकती है—वैदिक धर्ममें। और जो दूसरे धर्म हैं वे पौराणिक हैं और प्राय: कथा, कहानियोंके आधारपर बने हुए हैं और उनमें श्रद्धा और आदेश तो बहुत अधिक हैं; परन्तु उनका उपपादन अनुभूति और युक्तिके द्वारा कम मिलता है। हमने कुरानशरीफके हर सफेदपर प्राय: पढ़ा कि जो कुरानशरीफ और अपने पैगम्बरको नहीं मानता है, वह दोजखमें डाल दिया जाता है। परन्तु अपने जो वेद हैं, उपनिषद् हैं, दर्शन शास्त्र हैं—उनमें ऐसी मजहबीमें बातें नहीं हैं। अपने धर्ममें भी मजहबी किताबें बहुत हैं—कि जो वैष्णव नहीं होगा वह नरकमें जायगा, जो शैव नहीं होगा वह नरकमें जायगा। ये मजहब हैं एक-एक देवताकी उपासनामें निष्ठा करानेके लिए हैं। दर्शनशास्त्रकी जो स्थिति है वह सर्वथा निर्मल हैं। आप जान सकते है कि आप पूर्वजन्ममें कहाँसे आये हैं, अगले जन्ममें कहाँ जायेंगे या आपका जन्म नहीं होगा। इसको आप इसी जन्ममें जान सकते हैं—

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोध: (योगशास्त्र 2.39)

एक महात्मासे मैंने पूछा कि आप पूर्व जन्म या उत्तर जन्मकी बात सही-सही जान सकते हैं? उन्होंने कहा, दूसरोंकी तो नहीं पर अपनी जान सकते हैं। अच्छा—अपनी जान सकते हैं, तो कैसे जान सकते हैं? जो कुछ परिग्रह हुआ है, माने जो कुछ हमने बाहरसे लिया है, कुछ इस जन्ममें लिया है, कुछ पूर्व जन्मका भी हो सकता है, तो जो इस जन्ममें हमने ग्रहण किया है, उसको हम छोड़ देंगे तो पूर्वजन्मके संस्कार कितने आये हैं, इसका पता लग जायेगा। कुछ नानीसे लेते हैं, कुछ नानासे लेते हैं। कुछ दादीसे लेते हैं, कुछ दादासे लेते हैं, कुछ अपने पूर्वजन्मका होता है, कुछ गर्भका होता है, कुछ संगका होता है, कुछ पढ़े-लिखेका होता है कुछ

खाने-पीनेका होता है—इन सबको जब छोड़ देते हैं और अपने शुद्ध रूपमें स्थित होते है तो अपना अतीत भी और अपना भविष्य भी दीखने लगता है। इसलिए पूर्वजन्मकी और उत्तर जन्मकी एक दार्शनिक, वैज्ञानिक प्रक्रिया है। हमने तो गरुड़ पुराणके बहुत-से पाठ किये हैं, प्रवचन भी किये हैं। जिनमें नरक, स्वर्ग, पूर्वजन्मका बहुत वर्णन होता है। तबियत घिनघिना जाती है। ऐसे तमोगुणी, रजोगुणी, सत्त्वगुणी प्रवृत्तियोंका भी कोई मूल है, और आगे उसका कोई फल है—यह बात सुनिश्चित है।

× × ×

प्रश्न : श्लोक 14-15 एवं 16में भगवान् अलग-अलग गुणोंको प्राप्त होकर मरनेवालेकी गति उत्तम, मध्यम और अधम लोकोंकी प्राप्ति बतलाते हैं। मरणोपरान्त प्राप्त होनेवाले लोकों और विभिन्न योनियोंका तात्त्विक विवेचन करनेकी कृपा करें। कृपया परलोकका भी तात्त्विक विवेचन गीताके सिद्धान्तों एवं हिन्दू मान्यताओंके अनुसार हमें समझायें।

उत्तर : भाई देखो, दर्शनमें हिन्दू-मुसलमानका लिहाज नहीं किया जाता। सत्य, सत्य ही होता है। वह हिन्दू, मुसलमान, ईसाईके लिए अलग-अलग नहीं होता है। आचार अलग-अलग होते हैं। विचारके सूत्रमें हम कार्य कारण सम्बन्धसे जुड़े होते हैं, जो कि प्राकृत हैं। प्रकृति कारण होती है और उसके कार्य होते हैं बीजके अनुसार। आमका पेड़ अपने बीज के अनुसार होता है और आँवलेका पेड़ अपने बीजके अनुसार होता है। बीजके अनुसार वृक्ष बनता है और वृक्षके अनुसार फिर उसके फल होते हैं। यहाँ तक यह कार्य-कारणका अनुसन्धान है, वहाँ तक धर्मकी दृष्टिसे बहुत उपयोगी है। और जिसको देखना है कि इसमें है क्या? वह यदि बीजको जलाकर—आगमें जलाकर नहीं, अपनी बौद्धिक अग्निमें बीजत्वको जला दे, तो देखेगा कि उसमें मिट्टी-पानी-आगके सिवाय कुछ नहीं है और मिट्टी, पानी, आगको भी यदि तात्त्विक दृष्टिसे देखे, तो सत्ताके सिवाय और कुछ नहीं है। और सत्ताको भी यदि जाँचें तो वह चेतनसे पृथक् सत्ताका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है।

चेतन सत् होनेके कारण अविनाशी है और सत् चेतन होनेके कारण जड़ नहीं है। सत् होनेके कारण चेतन क्षणिक नहीं है और चेतन होनेके कारण सत् जड़ नहीं है, दृश्य नहीं है। इस प्रकार जब आप विचार करेंगे तो आपका आत्मा ही सच्चिदानन्दघन रूपसे प्राप्त होता है और चाहे इसको वैदिक दृष्टि कहो, चाहे हिन्दू दृष्टि कहो, चाहे भारतीय दृष्टि कहो। नाम आप अपने प्रसन्नताके अनुसार, जैसे आपको सन्तोष होता हो वैसे रख लो। यह आत्मा सच्चिदानन्दघन है। इसके सिवाय और कोई सत्य नहीं है। सब सत्य अपनी-अपनी मान्यताके सत्य हैं और जब हम अपनी अज्ञान मूलक मान्यताओंसे ऊपर उठेंगे तब इस सत्यका साक्षात्कार होगा। और सत्य तत्त्व होता है। जो नाम और रूपकी उत्पत्तिके पूर्व होता है। नाम-रूपके पृथक्-पृथक् होनेपर भी होता है और नाम-रूपके मिट जानेपर भी होता है। वही सच्चिदानन्दघन अद्वितीय, पृथक् चैतन्य ही ब्रह्म है, सत्य है। इसके सिवा और कोई सत्यता अनुभव-सिद्ध या वेद-उपनिषद्-अपौरुषेय-ज्ञानसे सिद्ध और दूसरी कोई सत्ता नहीं है।

प्रश्न : इन योनियोंके चक्रके बारेमें कुछ प्रकाश डालें। कहते हैं योनियाँ कुल 84 लाख हैं। यदि ऐसा है, तो यह तो एक बहुत बड़ा चक्र है। इस चक्रमें आत्मा एक योनिसे एक ही बार गुजरती है अथवा एक बारसे अधिक?

उत्तर : ऐसा है कि ये योनियाँ तो मनमें जितनी वासनाएँ हैं, उनकी वृत्तियोंको गिन-गिन करके योनियाँ बनी हैं। माने योनियाँ हैं भिन्न-भिन्न प्रकारके आकार। आकारका निर्माण वासनासे होता है। इसलिए चार इनके आकार हैं और चौरासी लाख इनके रूप हैं। चार खजाने और उनमें चौरासी लाख रूप। उनको गिनती करनेकी प्रक्रिया भी है। आप देखो, एक वे प्राणी हैं जो पृथिवीको छेदकर बाहर निकलते हैं। जैसे पेड़-पौधे हैं, इनको उद्भिज्ज बोलते हैं। यह धरतीको छेदकर नीचेसे ऊपर निकलते हैं। और पाँवसे खाते-पीते हैं। यह अपना भोजन नीचेसे ही ले लेते हैं। इनको पादप बोलते हैं।

पादैः पिबन्ति इति पादपाः।

जो अपने पाँवसे ही अपना भोजन ले लेते हैं। उसके बाद दूसरी योनि होती हैं 'स्वेदज' जो पसीनेसे, मैलसे जो पैदा हो जाती है। जैसे सिरमें जुएँ होती हैं। खटमल हैं। ये पानीकी विशेषतासे ही पैदा होते हैं? पृथिवीकी विशेषतासे उद्भिज्ज और जलकी विशेषतासे 'स्वदेज' होते हैं। उसके बाद अण्डज होते हैं। उनमें जल पृथिवी, वायु, आकाश—विशेषता तो सबकी होती है। परन्तु वे अण्डज होते हैं—द्विपाद और तिर्यक् गति होते हैं। पेड़-पौधे नीचेसे भोजन लेते हैं, ऊपर बढ़ते हैं और स्वेदज और अण्डज ये आगेसे भोजन लेते हैं और पीछेको ले जाते हैं और ये आकाशमें तिरछे चलते हैं। तिर्यक् गति होती है इनकी।

चौथे होते हैं 'जरायुज'—जरायुज माने जो जेरमें बँधे हुए पैदा होते हैं। जिनमें ऊपरसे एक परदा होता है लगा हुआ, उनमें पशु भी होते हैं और मनुष्य भी होते हैं। वे चतुष्पाद, चार पाँववाले पशु होते हैं और दो पाँववाले मनुष्य होते हैं। यह प्रकृति ही मिट्टी, पानी, आगको उद्भिज्जका रूप देती है, उद्भिज्जका और वही स्वेदजका रूप देती है, वही अण्डजका रूप देती है और वही जरायुका रूप देती है। परन्तु जरायुजोंमें पशु और मनुष्यमें भेद होता है। पशु तिर्यक् गामी होता है और वह स्वतन्त्र कर्मका अधिकारी नहीं होता। क्योंकि उसके हाथ नहीं हैं। इसलिए पशुको कभी पापपुण्य नहीं लगता है। क्योंकि कर्म करनेके लिए उसके हाथ होते ही नहीं, न तो वाणी होती है बोलनेके लिए। उनकी वाणी दूसरे प्रकारकी होती है। वह अ-च-ट-प आदिके रूपमें सिखायी हुई नहीं होती है।

यह जो जरायुकी चौथी कोटि है। इसमें द्विपाद और चतुष्पाद होते हैं। जो द्विपाद होते हैं, उनके दो हाथ होते हैं और हाथ भी ऐसे होते हैं कि उनसे वह 'स्वाहा-स्वाहा' अग्निको आहुति भी दे सकें और स्वच्छन्द रूपसे अपने मुँहमें अपने हाथसे उठाकर जो चाहें सो खायें और जो चाहें सो न खायें। कर्म करनेमें स्वतन्त्रता मनुष्य योनिमें आकर प्राप्त होती है। इसका अर्थ है कि प्रकृति एक प्राणी को जितना उन्नत बना सकती है, उतना उन्नत बना देती है। प्राणि वर्गमें मनुष्य सर्वोत्तम है। यह खाता है ऊपर और इसका जाना होता है नीचे। इसलिए ऊर्ध्वस्रोत, तिर्यक् स्रोत और अधःस्रोत ये तीन प्रकारके प्राणी स्रोतकी दृष्टिसे माने जाते हैं। अब प्रकृतिने जहाँ

****

तक आपको पहुँचाना था, पहुँचा दिया। अब आप चाहें कि इस प्रकृतिके चक्करसे छूट जायँ और ऊर्ध्वस्रोत, तिर्यक् स्रोत, अध:स्रोत, तीनोंसे छूटकर आप परमात्माके साथ मिल जायँ।

मनुष्यमें तीन बातकी पूर्णता स्पष्टरूपसे देखनेमें आती है। एक तो वह अपनी बुद्धिके द्वारा नवीन-नवीन आविष्कार कर सकता है। आप देखते हैं कि चींटियोंकी रहनी हजारों वर्ष पहले थी वैसी ही है, बिल खोदना, अण्डे देना और उसमें रहना, खाने-पीनेकी वही रीति। चिड़ियोंके घोंसले भी वैसे ही हैं। पशुओंके घरमें सुगन्ध लेनेके लिए इत्र और सेंट नहीं बनते हैं। माने बाँधमें विशेषता बनानेकी बुद्धि उनमें नहीं है। तरह-तरहके भोजन, आग जलाकर रसोई भी उनके घरमें नहीं बनती है। तरह-तरहके रसास्वादनकी बुद्धि भी उनमें नहीं है। वे चित्र भी नहीं बनाते हैं और तरह-तरहकी डिजाइनके कपड़े भी बनाते हैं। रूप निर्माणकी क्षमता भी पशुओंमें नहीं है। और पंखा लगाना, अपने लिए सुकोमल स्पर्शकी व्यवस्था करना, ये भी उनके यहाँ नहीं है। और ये बाजे-गाजे, ये राग-रागिनी, ये तरह-तरहकी भाषा पशु बनाते नहीं हैं। ये सब नवीन-नवीन आविष्कारकी बुद्धि मनुष्यमें आती है।

हाथी, घोड़े, गाय, बैल जैसे हजारों वर्ष पहले रहते थे, वैसे ही रहते हैं। पेड़ोंपर घोंसला बनानेवाले पक्षी—जैसे पहले घोंसला बनाते थे, वैसा ही अब भी बनाते हैं। लेकिन मनुष्यने अपने गन्धमें, रूपमें, स्पर्शमें, शब्दमें, रहनीमें और नवीन-नवीन ज्ञान प्राप्त करनेमें अद्भुत उन्नति प्राप्त की है और आविष्कार किये हैं।

इसलिए मनुष्य-योनिकी सबसे बड़ी विशेषता यह है—नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि—प्रतिभा, जिसमें नयी-नयी बातें आती हैं। दूसरी बात है, कर्म करनेकी जो प्रणाली है, वह मनुष्यकी जैसी है वह भी पशु-पक्षियोंमें नहीं है। वह प्रकृतिके अधीन होकर जैसे रहते आये हैं, रहते हैं और मनुष्यमें तो प्रकृतिसे पार जानेकी क्षमता है, योग्यता है। तीसरी बात है मुसकान। आँखोंमें जो यह प्यार है, यह तो पशुओंमें आ जाता है और पूँछ हिलाकर जो चापलूसी है वह पशुओंमें भी है। वे चाटते भी बड़े प्रेमसे हैं। लेकिन यह जो हमारी मन्द-मन्द मुसकान है या ठठाकर हमारी जो हँसी है, वह सत्की प्रधानतासे मनुष्यमें कर्मका प्रकाश होता है। और चित्की प्रधानतासे बुद्धिका प्रकाश होता है और आनन्दकी प्रधानतासे मुस्कानकी प्रधानता मनुष्यके जीवनमें आती है। माने सच्चिदानन्दके आविर्भावकी योग्यता मनुष्यके शरीरमें होती है। इसलिए जिन तीन गुणोंका वर्णन चौदहवें अध्यायमें बड़े विस्तारसे किया हुआ है, उसके अतिक्रमणकी योग्यता जो है वह मनुष्यमें आती है, यह बात स्पष्ट रूपसे कही गयी है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।

यह चाहे तो इसका आगे जन्म न हो, यह चाहे तो बुढ़ापेके दु:खसे मुक्त हो जाय। यह चाहे तो मृत्युके दु:खसे मुक्त हो जाय। ऐसी योग्यता मनुष्यके शरीरमें आती है। कहते हैं कि यह मनुष्य शरीर कैसा है? एक अन्धे आदमीको एक बहुत बड़ी चहारदीवारीके भीतर छोड़ दिया गया और कह दिया गया कि तुम दीवाल पकड़ लो। जहाँ द्वार मिले वहाँ बाहर निकल जाना। तुम कैदसे मुक्त हो जाओगे। अब चार वर्ण और चौरासी लाख योनि इनका भी एक हिसाब है, गणित है—पर मुझे गणित बहुत अधिक नहीं आता है, इसलिए मैं हिसाब

****

****

लगाकर नहीं बता सकता कि योनियोंके चौरासी लाख रूप कैसे होते हैं। वैसे वर्णन तो इनका भी शास्त्रोंमें मिलता है। अब यह मनुष्ययोनि जो प्राप्त हुई है, यह अन्धेको द्वार प्राप्त करनेकी योग्यता इसमें है। यदि यह भीत (दीवाल)को पकड़े हुए चले और द्वार मिल जाय तो वहाँसे निकल जाय; लेकिन यदि बद-किस्मतीसे इसके सिरमें खुजली हो जाय और दीवार छोड़कर अपना सिर खुजलाने लगे, विषय-भोगमें लग जाय। तो संसारसे निकल नहीं सकता।

ये विषय-भोग एक तरहकी खुजली ही है। यह बात आपके ध्यानमें नहीं आयेगी। कानकी खुजली मिटानेके लिए, मीठी आवाज और मीठा संगीत, त्वचाकी खुजली मिटानेके लिए मधुर-मधुर स्पर्श, जीभकी खुजली मिटानेके लिए रस, नाककी खुजली मिटानेके लिए गन्ध। ये असलमें सब-का-सब विस्तार इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिए ही प्रपंचका हुआ है। प्रशंसा सुननेमें बहुत रस आता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने कह दिया—

कोउ भल कहउ-देउ कछु कोऊ, असि वासना हृदयते न जाई।

जहाँ अपनी प्रशंसा होती है, वहाँ बारम्बार सुननेका मन होता है।

हमारे पास एक सज्जन थे, केवल एक कटिवस्त्र पहने हुए। हमारे पास एक झोला लिये हुए आये थे। पर वे जब कुछ लिखते थे तो बहुत बढ़िया लिखते थे। पंडित रामकिंकरजी उपाध्यायने उनका लिखा हुआ पढ़ा, बोले—यह तो खलिल जिब्रानकी तरह लिखते हैं—बहुत बढ़िया। यह सुनकर उस आदमीको कितना अच्छा लगा! हम तो हमेशा ही डाँट-फटकारकर रखते थे। ईमानदार बहुत था। जब पंडितजी कहीं गये तो वह भी सामान लेकर पंडितजीके पास पहुँच गया। फिर पंडितजीने उसको डाँट-फटकारकर मेरे पास भेज दिया। क्यों गया? अपनी प्रशंसा उसको इतनी प्यारी लगी—यह जो हमलोगोंके मनमें बाहरसे खुजला-खुजलाकर अपनेको सुखी करनेकी आदत पड़ गयी है, वह बहुत दु:खदायी होती है।

अपने भोग-विलासमें न अटककर, खुजली मिटानेमें न लगकर, हमें इस द्वारका सदुपयोग करना चाहिए। आप सुन रहे हैं, तमोगुणकी निन्दा, पर आप सोइये न! पाँच घण्टेकी, छ: घण्टेकी नींद ले लीजिये। बच्चेको तो अठारह घण्टे तक ही नींद आये तो अच्छा रहता है। परन्तु बड़े-बूढ़ोंको छ: घण्टेसे अधिक नींद नहीं लेना चाहिए। और बाकी जो आपका समय बीतता है, आप उसको अपने व्यापारमें लगाइये, अपने धर्म-कर्ममें लगाइये। उसका दुरुपयोग मत कीजिये। व्यर्थकी बात करनेमें जो समय जाता है, केवल उसको छोड़ दीजिये। देखिये, आपका जीवन बिलकुल दिव्य हो जायगा। आप बोलनेके पहले सोच लीजिये कि यदि हम यह बात न बोलें तो क्या किसीको कुछ हानि हो जायगी? बस इतना ही ध्यानमें रखिये। यदि आपके न बोलनेसे आपकी या किसी दूसरेकी हानि न हो तो उस बातको बोलनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। आप देखेंगे कि आपके जीवनमें पाँच, छ: घण्टे समय बिलकुल सही-सही बितानेका शुभ अवसर मिल जायगा। आप सोइये, परन्तु उठनेके बाद बढ़िया काम करनेके लिए, आप कर्म कीजिये, कमाइये, व्यापार कीजिये, परन्तु उस व्यापारसे जो आमदनी होती है उसको अच्छे

****

कामर्में लगाइये तो आपका वह रजोगुणी व्यापार सत्त्वगुणमें ले जायगा। आपकी वह तमोगुणी निद्रा सत्त्वगुणमें ले जायगी।

कोई बुराई करनेकी हो और आप आलस्य कर जायँ- -कौन जाय, पीछे कर लेंगे। बुरा काम मनमें आ रहा हो—अलसा जाइये उस समय! वह आलस्य आपको बुरे कामसे बचा देगा। भूल जायँ—कोई बात नहीं। भूल गये, बुरे कामसे बच गये। प्रमादसे यदि बुरे काम भूल जाते हैं और आलस्यसे यदि बुरे काम छूट जाते हैं और निद्रासे यदि अच्छा काम करनेमें आपको मदद मिलती है तो वह तमोगुण भी आपके लिए बहुत हितकारी है। और रजोगुणसे आप खूब धन कमाइये और दुनियामें बड़े-बड़े काम कीजिये। आप उत्साही जवान बनिये, जीवनमें उन्नतिकी आशा रखिये। खूब खाइये, पीजिये और अपने निश्चयपर दृढ़ रहिये। बलवान् हो जाइये। परन्तु किसलिए? आपका उद्देश्य क्या है?

पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुबर भगत जासु सुत होई।।

आप पुत्र पैदा कीजिये, परन्तु ऐसा पुत्र पैदा कीजिये जो भगवान्का भक्त हो और ऐसा कब होगा? जब आपके हृदयमें भक्ति रहेगी तो आपके हृदयका रस, आपके पुत्रके हृदयमें भी जायगा। वह भी भक्त होगा। वह स्वार्थी न हो, वह लोक-कल्याणकारी हो। हम अपने वर्तमान जीवनको जितना ठीक-ठीक व्यतीत करेंगे, हमारा भविष्य-जीवन या जीवन्मुक्तिका सुख या भगवत्-प्राप्ति, ये सब हमारे हाथमें है। यह मनुष्य-शरीर प्रकृतिके द्वारा जितना उन्नत किया जा सकता है, उतना उन्नत कर दिया गया है—अब उसकी उन्नतिका लाभ उठाना तो—

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।

अथवा

.....उत्तमविदां लोकान् अमलान् प्रतिपद्यते।

यह सब-का-सब आपके हाथमें है। आप अपने तमोगुणका भी सदुपयोग कीजिये। रजोगुणका भी सदुपयोग कीजिये। नहीं तो जिन्दगीभरकी कमाई रखी-रखी मिट्टीमें मिल जायगी।

जबलपुरमें एक सज्जन थे। बड़ी मुश्किलसे 400 रु० उनके पास इकट्ठे हुए। उन्होंने कहाकि इसको रख दें। उन्होंने एक डब्बेमें 400 रु० के नोट भरे और धरतीमें गाड़ दिया। चार महीने बाद जरूरत पड़ी। जब निकाला तो वह नोट पानी हो गये थे। न अपने काम आये, न दूसरेके काम आये। वह तो गल गये। इसी प्रकार यह रजोगुण और तमोगुण इसका भी अपने जीवनमें सदुपयोग हो। अपनेको दुरुपयोगसे बचाइये। सात्त्विकताकी धारणा कीजिये। सात्त्विक होकरके ही आप गुणातीत होंगे।

मृत्युके समय मोह सबको होता है। मोह माने बेहोशी। सबको बेहोशी आती है। लेकिन बेहोश होनेके एक क्षण पहले जो आपके चित्तकी स्थिति होगी, जो वृत्ति होगी—अव्यवहितपूर्ण क्षणमें जैसी वृत्ति होगी, वैसा अगला जन्म मिलेगा। और अव्यवहित-पूर्वक्षणमें वृत्ति कैसी होगी? जिसका आप जीवनभर अभ्यास करेंगे। यह नहीं कि मरनेके समय एकाएक भगवान्का स्मरण आजायेगा—या आप बड़े भारी उदार

हो जायेंगे। मरते समय सब दान कर जायेंगे। अरे, वह तो सब-का-सब छूटनेवाला है ही! यदि आप जीवनमें ही उदारताके साथ दान करके अपने धनका आनन्द लें और दूसरोंका भी भला करके अपनी कर्म-शक्तिका आनन्द लें और दूसरोंको ज्ञान-दान करके और सुख-दान करके अपनी वाणीका आनन्द लें तो आपका अगला जन्म भी बहुत बढ़िया होगा।

× × ×

प्रश्न : संस्कार किसे कहते हैं? संस्कार जीवनको किस प्रकार प्रभावित करते हैं? एक जन्मके कर्मोंके फल क्या मृत्युके साथ ही समाप्त हो जाते हैं अथवा ये जन्ममें भी उनका प्रभाव रहता है? जिस प्रकार व्यवसायमें वर्ष समाप्त होनेपर, उस वर्षका लेखा-जोखा, वर्ष समाप्त होनेसे ही समाप्त नहीं होता, बल्कि आगामी वर्षमें भी उसी प्रकार स्थापित रहता है; इसी प्रकार पूर्व जन्मके कर्म अथवा उनके फलका प्रभाव नये जन्ममें भी उसी प्रकार रहता है क्या?

उत्तर : हाँ जी! रहता तो है ही है। वह तो देखनेमें आता है और अगले जन्ममें भी रह सकता है। लेकिन यदि आप सावधान होकर और सत्पुरुषोंकी सलाहसे अपने कर्मको सुधारें और उनके प्रभावसे मुक्त होना चाहें तो मुक्त भी हो सकते हैं। इसलिए सत्संगके द्वारा आप जो चाहे सो प्राप्त कर सकते हैं। संसारमें जितने भी सत्-परिवर्तन हुए हैं, वे सत्संगके द्वारा ही हुए हैं।

मति, कीरति, गति भूति भलाई।
जो जेहि जतन जहाँ जो पाई।।
सो जानब सतसंग प्रभाऊ।
लोकहुँ ब्देहुँ न आन उपाऊ।।

आप जिसको सत् समझते हैं, उससे आसक्ति कीजिये। सत्कर्मसे, सद्भावके, सद्विचारसे, सद्स्थितिसे, सत्पुरुषसे, सद्ज्ञानसे, सत्तत्त्वसे—जिसको आप सत् समझते हैं, उसके प्रति अपने जीवनकी रुझान, अपने जीवनका रुख मोड़ दीजिये और आपका जीवन सुखी हो जायेगा। और कर्मोंका प्रभाव तो स्पष्ट रूपसे इस जीवनमें देखनेको आता है और यदि इसमें हम मुक्त न हुए, गुणातीत न हुए तो वह अगले जन्ममें जायेंगे ही। गीतामें ऐसे भी कहा है कि योगी भी यदि भ्रष्ट हो जाय तो अगले जन्ममें पैदा होगा—

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।

एक सज्जन योग कर रहे थे, योग करते-करते एक राजकुमार साहब उनके पास दर्शन करने आये, तो उनके मनमें आया कि हम भी राजकुमार हो जाते, इसी वासनाको लिये हुए मर गये। तो राजाके घरमें उनका जन्म हुआ, राजकुमार हुए। राजकुमार होनेकी वासना पूरी होनेपर फिर उनका शरीर छूट गया। और फिर दूसरे जन्ममें उन्होंने योगाभ्यास किया—या उसी जन्ममें—राजकुमार होनेके बाद उन्होंने राज्यका भोग नहीं किया। योगाभ्यास किया और अपना जो लक्ष्य था, उद्देश्य था, उसको प्राप्त कर लिया।

प्रभाव तो पड़ता ही है। इसके लिए आपकी बुद्धिमें जो सत् है उसको आप स्वीकार कीजिये। और

****

उसके अनुसार अपना जीवन बनाइये। हमारे बताये हुए सत्यपर उतना ध्यान मत दीजिये, अपने बुद्धिके जाने हुए सत्यपर ध्यान दीजिये। यदि आप अपने ज्ञानका अपमान नहीं करेंगे, अपने उत्कृष्ट ज्ञानको जीवनमें उतरने देंगे, उसमें बाधा नहीं डालेंगे तो आपका जीवन उत्कृष्ट हो जायगा। और वासना तो कष्ट देती ही है।

सुनते हैं अयोध्याजीमें एक संत थे, उन्होंने अपने शिष्योंसे कहा कि जब मैं मरूँगा तो मुझे लेनेके लिए विमान आयेगा और उसमें घण्टियाँ बजती होंगी और मैं शरीर छोड़कर उसमें बैठूँगा और भगवान्‌के धाममें जाऊँगा। सन्त तो मर गये। परन्तु न विमान आया, न घंटियाँ बजीं। उनके शिष्योंने कहा कि हमारे गुरुजीकी बात झूठी तो नहीं हो सकती। कोई-न-कोई बाधा पड़ गयी। अयोध्याजीके सब सन्त मणि-पर्वतपर इकट्ठे किये गये। और वहाँ यह निश्चय हुआ कि सन्त जहाँ मरा है, वहाँ चलकर देखो। वहाँ देखा, तो सामने एक बड़ा सुन्दर फल वृक्षपर लगा हुआ था। मधुर, मधुर और देखनेमें भी बहुत सुन्दर। बोले, इसको तोड़ो। फलको तोड़ा तो उसमें एक कीड़ा मिला। सन्तोंने कहा—इसको रामका नाम सुनाओ और सद्‌गति दो। रामनाम सुनाकर जब सद्‌गति दी गयी फलवाले कीड़ेको, तो तुरन्त घण्टे बजने लगे और लेनेके लिए विमान आगया।

मनुष्यको अपने जीवनमें सावधानीसे रहना चाहिए। यदि वह गुणोंमें रहेगा, तो गुणोंके चक्रसे छूटेगा नहीं और यदि वह अपनी गुणातीत आत्माको जान लेगा—आपके साथ कभी आकर गुण्डा मिलता है और कभी आकर भलेमानुस मिलता है। कभी आपके जीवनमें कोई सत्पुरुष आजाता है। वे तीनों आते हैं और चले जाते हैं, परन्तु आप वे तीन नहीं हैं, चौथे हैं। तमोगुण आता है, जाता है, आप उसको पकड़कर मत रखिये। क्योंकि उसके लिए तो—नींद आयेगी तो आप नींदसे लड़िये मत। कर्म-प्रेरणा आवेगी ही, लड़िये मत—कुछ कर लीजिये। उनको आने-जाने दीजिये। और आप तो वे चौथे व्यक्ति हैं जो इन तीनोंके आने-जानेसे अलग होते हैं।

अपने उस स्वरूपकी ओर ध्यान ले जानेके लिए ही यह चौदहवाँ अध्याय है। चौदहवाँ अध्याय आपको तमोगुणी, रजोगुणी या सत्त्वगुणी बतानेके लिए नहीं है या आपको उनमें बाँधकर रखनेके लिए नहीं है। यह अध्याय तो तीनों गुणोंसे मुक्त करनेके लिए है। इस बातपरसे ध्यान हटना नहीं चाहिए। यह अध्याय तो त्रिगुणातीत होनेके लिए है—

त्रैगुण्यविषया वेदाः निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

स्वर्ग-नरकके चक्करमें मत पड़ो और न मर्त्यलोकमें रहनेकी इच्छा करो। अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओ, इसके लिए यह गीता आती है।

× × ×

प्रश्न : उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने गुणोंको ही कर्ता बतलाया है—गुण गुणोंमें वर्त रहे हैं। जीवात्मा तो मोहवश अपनेको कर्ता मान लेता है। कृपगा इसे समझावें!

उत्तर : **नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।**
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

****

****

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतश्नुते ॥ गीता 14.19-20

यह कहते हैं कि ये तीन गुण कर्ता हैं माने मनुष्य प्रकृतिके जो गुण अपने जीवनमें प्रधानता या गौणतासे आगये हैं, उनके अनुसार कर्म करता है। परन्तु जिनके साथ कर्म किया जाता है, वे भी गुण हैं और जो कर्म करते हैं, वे भी गुण हैं। यह गुण-गुणीका जो सम्बन्ध है, वह प्रकृतिमें है। और आप प्रकृतिसे मुक्त हैं। प्रकृति क्या है? कोई भी काम करते-करते, उसको करनेकी आदत पड़ जाती है। जैसे एक आदमी कुर्सीपर बैठता है, तो पाँव हिलाता रहता है। एक आदमी किसीके घरमें प्रवेश करता है, तो दरवाजेसे बोलता हुआ ही, यह नहीं कि पहले मिल लें, नमस्कार, प्रणाम कर लें, तब बातचीत शुरू करें। नहीं, वह तो दरवाजेमें प्रवेश करते ही बोलना शुरू कर देता है। एक आदमी जो बोलनेकी आवश्यकता नहीं है, वह भी बोलता है। क्यों बोलता है? ऐसा करते-करते उसका ऐसा स्वभाव बन गया है। तो यह इसी जन्मके कर्मोंका बना हुआ प्रारब्ध है।

जीवोंके जीवनमें प्रारब्ध काम करता है, वह यही है कि उसकी ऐसी आदत पड़ गयी है। बंगाली है, तो उसको जन्मसे भात खानेकी आदत पड़ गयी है। पंजाबी है, तो जन्मसे रोटी खानेकी आदत पड़ गयी है और दक्षिणी है, तो उसको दोसा, इडली खानेकी आदत पड़ गयी है। वही उसकी प्रकृति हो गयी है। उसके शरीरके साथ तादात्म्य हो गया है उसका। उसके बिना रहनेमें उसको कष्ट होता है। यह जो हमारे शरीरकी प्रकृति है—(जड़ता एक प्रकृति है) उसमें आलस्य, निद्रा आदि आते हैं और क्रिया दूसरी प्रकृति है, जिसमें काम किया जाता है—उसको रजोगुण बोलते हैं और एक शान्त रहनेकी प्रकृति होती है, वह सत्त्वगुणी प्रकृति होती है। यह प्राणियोंमें अलग-अलग होती है।

प्राणियोंमें भी हंसकी प्रकृति अलग है और कौएकी प्रकृति अलग है। पेड़ोंमें बबूलकी, शीसमकी, आमकी, पीपलकी यह प्रकृति अलग-अलग होती है। पशुओमें भी गायकी, भैंसकी प्रकृति अलग-अलग है। भैंस अगर सड़कपर आजाय, आप भोंपू बजाते रहिये, वह हटनेका नाम नहीं लेगी। गधेको जबतक डण्डा न मारो, हटेगा नहीं—उसकी आदत पड़ गयी है। और हरिण हो, तो आपकी मोटरको दूरसे देखकर ही भाग जायगा। खरगोश हो, तो वह भाग जायगा। ये सबके शरीरके साथ, कुछ पूर्वजन्मके कारण, कुछ इस जन्मके कारण आदतें बन जाती हैं और उनके कारण वह कर्म करता है और ऐसा मानता है कि जो कुछ होता है सो सब मैं ही करता हूँ।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।

आप गीता पढ़ेंगे, तो एक निष्कर्षपर अवश्य पहुँचेंगे। गीताका कहना है कि—इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते। आँख रूप देखेगी, कान शब्द सुनेगा, त्वचा स्पर्श करेगी। यह तो कानका स्वभाव है, प्रकृति है शब्द सुननेकी, आँखकी प्रकृति है रूप देखनेकी—इन्द्रियाणि इद्रियार्थेषु वर्तन्ते। गुणा गुणेषु वर्तन्ते। गुण गुणोंमें—गुण माने इन्द्रियाँ और गुण माने विषय। इन्द्रियाँ विषयोंमें बरतती हैं। किसीने कहा कि प्रकृतिसे ही कर्म होते है। किसीने कहीं कहा—

****

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।

स्वभावसे कर्म होते हैं। कोई कहते हैं—श्री कृष्ण ही कहीं बोलते हैं कि—

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।

ईश्वर सबको खेल खिला रहा है। और कहीं आयेगा नहीं, यह पाँच वस्तुएँ हैं, वे मिलकर कर्म करती हैं—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्। गीता 18.14
शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः। गीता 18.15

सब इन्हींसे होता है। अरे यह तो इतनी अलग-अलग बात हो गयी, जिसकी कोई हद नहीं। इन्द्रियाँ इन्द्रियोंमें बरतती हैं, गुण गुणोंमें बरतते हैं; प्रकृतिसे कर्म होता है, स्वभावसे कर्म होता है; पञ्चायतसे कर्म होता है। आपको मालूम है, यहाँ आपका जितना वजन है, यदि आप रॉकेटपर चन्द्रलोकको यात्रा करें तो ऊपर जाकर आपका वजन इतना कम हो सकता है कि आप आसमानमें उड़ सकते हैं। यह तो प्रकृतिकी एक ऐसी स्थिति है कि आप इतना वजन लिये हुए यहाँ बैठे हुए हैं। यह चौदहवाँ अध्याय बताता है कि आप यह नहीं हैं। जो कुछ किया जा रहा है या जो कुछ हो रहा है या जो कुछ कहा जा रहा है,आप वह नहीं हैं। आप इससे कुछ विलक्षण हैं। ये कर्म तो गुणोंके अनुसार होते हैं। कुलका निष्कर्ष क्या है? कि आप कर्ता नहीं हैं, अकर्ता हैं—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।

न आप करते हैं, न किये जाते हैं—

'नायं हन्ति न हन्यते', 'वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्'।

सारी गीताका अनेक प्रकारसे बात कही जानेपर भी निष्कर्ष यही निकलेगा कि आत्मा जो है वह असंग है, अकर्ता है, अभोक्ता है; वह तो 'उपद्रष्टानुमन्ता च'—इस शरीरमें परमात्माका नाम ही आत्मा है। तो प्रकृतिके गुणोंसे मुक्त करनेके लिए इस अध्यायमें आपके गुणोंके कर्तृत्वका वर्णन है और अपने अकर्ता आत्माका वर्णन है।

●

प्रवचन : 7

21-11-85

प्रश्न : बीसवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि इन तीनों गुणोंको लाँघकर ऊपर उठ जानेवाला पुरुष सभी प्रकारके दुःखोंसे मुक्त हो जाता है और 'अमृतमश्नुते'—कृपया इसका निरूपण करें।

उत्तर : श्लोक है—

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्म-मृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ गीता 14.20

इसके पहले—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ गीता 14.19

इसमें दो बातपर जोर दिया गया है। दो हैं साधन और एक है उसका फल। साधन यह है कि आप गुणोंको इन आँखोंसे नहीं देख सकते, इस बातको समझ लीजिये। न्याय वैशेषिकमें जो गुण होते हैं, वे तो कोई प्रत्यक्ष होते हैं, कोई अनुमानित होते हैं। गीतामें जिस सांख्ययोगके अनुसार गुणोंका वर्णन हो रहा है, वे गुण स्थूल नहीं हैं कि हम इन्द्रियोंके द्वारा उनको देख सकें कि यह सत्त्वगुण है, यह रजोगुण है, यह तमोगुण है।

गुणानां परमं रूप न दृष्टिपथमृच्छन्ति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्॥

(व्यासभाष्य 4.13 में उद्धृत वाक्य)

सत्त्व, रज, तम तीनों गुण इन्द्रियोंसे नहीं देखे जाते और जो देखनेमें आते हैं, वे तो जादुगिरीके खेलके समान हैं। उनमें फँसना नहीं चाहिए। इन गुणोंको हम कैसे पहचानते हैं? कि जब हमारे मनकी वृत्ति शान्त, प्रकाशमय, सुखमय रहती है, तब यह सत्त्वगुणका कार्य है और जब हमारी वृत्ति राग, तृष्णासे युक्त होती है, तब यह रजोगुणका कार्य है। और जब मोह, अन्धकार, तमस्‌में हमारी वृत्ति होती है तब वह तमोगुणका कार्य होता है। कार्य देखकर कारणका अनुमान होता है। जीवनमें कुछ दोषोंको यदि समेटकर देखना हो—माने कम-से-कम सिमटे हुए रूपमें आप अपने दोषोंको जान लें तो सावधान रहनेमें, बचनेमें, सुलभता होती है। राग, द्वेष, और मोह कुल ये तीन दोष हैं। एक तो हमारे जीवनमें जितने दोष आते हैं, जब हम किसी वस्तुके, चीजके मोहमें फँस जाते हैं। फिर राग, मुहब्बत कर बैठते हैं। यह चीज हमारे पास होनी ही चाहिए। यह भोग हमको मिलना ही चाहिए। यह आदमी हमारे साथ रहना ही चाहिए। हमारी स्थिति हमेशा ऐसी ही रहनी चाहिए।

एक तो मुहब्बतके कारण हमारे जीवनमें दोष आते हैं। उतना धन बनाये रखनेके लिए, उतने सम्बन्धी बनाये रखनेके लिए। शरीरमें वैसी ही अवस्था, वैसा ही बल बनाये रखनेके लिए, अपने परिवारको उसी रूपमें रखनेके लिए मनमें राग होता है। राग मोहके रूपमें बदल जाता है। इसी प्रकार मनमें द्वेष होता है। यह चीज

नहीं होनी चाहिए। यह सामूहिक रूपसे भी होता है और व्यक्तिगत रूपसे भी होता है। यह आदमी ऐसा नहीं होना चाहिए। यह काम ऐसा नहीं होना चाहिए। यह वस्तु ऐसी नहीं होनी चाहिए। जैसे भगवान्‌ने हमको जज बनाकर भेजा हो, हम किसीके पहरेदार हों। हम अपनेको मालिक मान बैठते हैं कि यह चीज ऐसी नहीं होनी चाहिए। पहले समझा-बुझाकर काम लेना चाहते हैं, नहीं होता है, तो डाँट-डपटकर काम लेना चाहते हैं और फिर भी नहीं होता है, तो दूसरेको नुकसान पहुँचाकर भी वैसा काम करना चाहते हैं।

आप देखेंगे कि जीवनमें जितने भी दोष आते हैं, उनमें कहीं राग है, मुहब्बत है, कहीं द्वेष है, नफरत है, दुश्मनी है। और कहीं मोह है। बिना समझे-बूझे हम उसके साथ जकड़ गये हैं। जड़ हो गये हैं। तो आप सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणको ढूँढने कहाँ जायेंगे? यह देखिये कि हमारा मन यह काम रागसे, द्वेषसे या मोहसे तो नहीं कर रहा है? यही राग, द्वेष, मोह हमसे बहुत सारे काम करवाते हैं। हमारे पास इतना धन है, रहे, हो जाय, इस रागसे हम लोगोंके मनमें लोभ, चोरी, बेईमानी, छल-कपट आता है। यह हमारा दुश्मन हमसे ऊपर न उठे, हमारे सामने न बैठे, इस द्वेषके कारण हम दूसरोंको हानि पहुँचाने लगते हैं। और कभी-कभी तो ऐसी नासमझीमें फँस जाते हैं कि कुछ दीखता ही नहीं है।

अब यह बात जो है, राग, द्वेष, मोह—यह स्थानसे भी होता है। जूआघरमें जायेंगे, तो देखते-देखते एकाध दाँव लगानेका मन हो जायेगा। मन्दिरमें जायेंगे, भगवान्‌का नाम लेनेका मन हो जायेगा। सिनेमा देखेंगे, टी.वी. देखेंगे, वीडियो देखेंगे, तो अपनी आँखको कोई दृश्य इतना भा जायगा कि ऐसा फर्नीचर हमारे घरमें आये। ऐसे सुन्दर स्त्री-पुरुष हों, ऐसी बातें आपसमें की जायँ, ऐसे काम किये जायँ, तो स्थानका भी प्रभाव पड़ता है और वस्तुओंका भी प्रभाव पड़ता है। माँस खाना शुरू कर दें, तो हत्या करनेकी मनोवृत्ति भी आजायेगी। और गंगाजल पीयेंगे, तो मन दूसरा होगा, शराब पीयेंगे, तो मन दूसरा होगा और दान करेंगे, तो मन दूसरा होगा और दान लेने लगेंगे—तो मन दूसरा हो जायगा। यह सब गुणोंके कार्य हैं। इनके भीतर सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणकी वृत्ति बैठी रहती है। ऐसे ही काल भी सत्त्वगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी होता है। वस्तु भी होती है, स्थान भी होता है। आदमी भी होते हैं। जैसे आप आदमीका—सत्त्वगुणी, रजोगुणीका संग करेंगे, उनका असर आपके जीवनमें आने लगेगा। संगका रंग जरूर चढ़ता है। इसके लिए मनुष्यको बहुत सावधान रहना चाहिए। यही जो सात्त्विक, राजस, तामस स्थान हैं, समय है, क्रिया है, व्यक्ति है, भाव है इनसे मनुष्योंके जीवनका निर्माण होता है।

इसमें पहली बात यह कही गयी कि 'अनुपश्यति'। आपकी दृष्टि बनी रहे कि यह क्या हो रहा है? आँख सावधान रहनी चाहिए। आप कहाँ फँसते जा रहे हैं? माने इतनी वेगसे मोटर न चलायें कि जहाँ रोकनेकी जगह हो, वहाँ आप रोक न सकें। मोटरमें वेग उतना ही होना चाहिए कि वह ब्रेकको तोड़ न दे। ब्रेक ही मोटरको रोक दे। इसलिए दृष्टि हमेशा बनी रहनी चाहिए कि हम अब किसको देखनेमें फँस रहे हैं, किससे बात करनेमें फँस रहे हैं, क्या खाने-पीनेमें फँस रहे हैं?

हमारे गाँवके पास एक आदमी था, वह अफीम खाता था। जिस दिन उसको नहीं मिलती, उस दिन

आकर वह पहले तो कहता कि थोड़ी-सी अफीम दे दो। फिर गिड़गिड़ाता, फिर रोने लगता, फिर धरतीपर लोट-पोट हो जाता और इतनेपर भी न दें, तो गाली दे देता। बचपनमें हमलोगोंके घरोंमें अफीमकी खेती होती थी। तो जिसकी अफीमकी आदत पड़ जाती है, गाँजा पीनेकी आदत पड़ जाती हैं, भाँग खानेकी आदत पड़ जाती है। शराब पीनेकी आदत पड़ जाती है, वह छूटती नहीं है। नशीली चीजें जो हैं, वे बुद्धिको भ्रष्ट करती हैं। बुद्धि परसे अपना नियन्त्रण हटा देती हैं—जैसे कोई मोटर चलाये और मोटरपर उसका नियन्त्रण न रहे, वैसी स्थिति होती है।

बचपनमें हम लोग दौड़ते थे। तो जब बहुत वेगमें दौड़ते थे, तो जहाँ रुकना चाहिए, वहाँ नहीं रुकते थे, उसके आगे चले जाते थे। गिरनेकी जगह होती तो गिर पड़ते थे। इसलिए 'अनुपश्यति' जो है उसका अर्थ है—आप होने दीजिये, परन्तु पीछे रहकर देखते रहिये। आप देखभालका काम कीजिये। वही मत हो जाइये!

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।

अच्छे काम कीजिये। लेकिन, उसके किये बिना रहा न जाय, यह तो फसाव हो गया और

गुणेभ्यश्च परं वेत्ति

इस पर ध्यान रखें। आप वह हैं कि आपके जीवनमें कभी सत्त्वगुण आता है, कभी रजोगुण आता है, कभी तमोगुण आता है। आप उनसे तटस्थ रहकर, कूटस्थ रहकर और उदासीन रहकर, उनको आने-जाने दीजिये और उनका सदुपयोग कीजिये। आप नींद लीजिये, परन्तु कब-से-कब तक लेना है, इसका नियन्त्रण रखिये। निन्द्रा भी एक वृत्ति है। समाधि लगानेके लिए निन्द्रापर भी विजय प्राप्त करना पड़ता है। जब चाहें, तब दुनियाकी चिन्ता छोड़कर सो जायँ और जब जागनेका संकल्प हो, बिना घड़ीके, बिना आलर्मके ठीक आज हमको दो बजकर पाँच मिनिट पर आपकी नींद अपने-आप टूट जायगी; क्योंकि आपका जो संकल्प है वह निद्रासे भी गहरा है और वह निन्द्राको तोड़ सकेगा। अपनेको गुणोंसे अलग रखकरके और गुणोंकी वृत्तिको देखते रहिये, उनका दर्शन करते रहिये। वृत्ति सारूप्य मत होने दीजिये।

जैसे देखो, हमारे साथ कई लोग आगे पीछे चलते हैं। कहते चलते हैं, पाँव मत छूइये, महाराजजीका रास्ता मत रोकिये। खास करके वृन्दावनमें भीड़ होती है—तो ऐसा करते हैं। जब कोई नहीं मानता है, तो मना करनेवालेको क्रोध आता है—ऐ, तुम नहीं मानते हो? इतनेपर भी न माने, तो जाकर हाथसे पकड़ लेते हैं और पकड़नेपर भी पाँव छूना चाहे तो जबरदस्ती उसको ढकेल देते हैं। मैं पूछता हूँ कि भाई, यह जो तुमको क्रोध आया, उसको झटक दिया, वह मेरा पाँव छू रहा था, इस कारण आया कि उसने तुम्हारी बात नहीं मानी, इस कारण आया! आप दृष्टि देखो, आपकी दृष्टि बनी रहे! असलमें आपको क्रोध इसलिए आया कि बार-बार आपके मना करनेपर भी आपकी बात उसने नहीं मानी। हमको तो हँसी आ गयी। छू ही लेता तो क्या बात थी? एक क्षण रुक जाते। परन्तु मना करनेवालेकी आँख लाल हो जाती है। जबान कड़ी हो जाती है और हाथसे वह झटका देता है। उन लोगोंको मैं मना भी कर देता हूँ कि मेरे आस-पास मत चलो।

आप अपने मनपर दृष्टि रखिये। जब उसमें पहले भलमनसाहतसे कोई बात आती है और बादमें

उसमें बाधा पड़नेपर क्रोध आता है। फिर बादमें बदला लेनेके लिए उसके संस्कार पड़ जाते हैं। द्वेष हो जाता है। ऐसी स्थितिमें 'अनुपश्यति' और 'गुणेभ्यश्च परं वेत्ति' पर ध्यान दें। दृष्टि बनी रहे। अच्छा, वह दृष्टि कैसे बनी रहेगी? जब आप इन गुणोंसे परे अपने आपको जानेंगे।

गुणेभ्यश्च परम् आत्मानं वेत्ति।

भगवान् कहते हैं कि मेरे प्यारे जीव, मेरे भक्त! यदि तुम्हारी ऐसी दृष्टि बनी रही, इस बातको तुमने पहले खूब समझ लिया और ऐसी दृष्टि तुम्हारी बन गयी। तो 'मद्भावं सोऽधिगच्छति'। मैं और तुम दोनों एक हो गये। तुम्हें मेरे भावका, मेरे स्वरूपका, मेरे स्वभावका, मेरे अन्दर जो गुण हैं, उनका तुमको अधिगम हो गया, प्राप्ति हो गयी। तुम तो मेरे जैसे हो गये। जैसे सृष्टि होती है, स्थिति होती है, प्रलय होता है और मैं एक सरीखा रहता हूँ, वैसे तुम हो गये। इसलिए, जहाँ समझदारी आयी और गुणोंके साथ एकता नहीं हुई, दृष्टि बन गयी।

आगरा जिलामें एक खांडे गाँव है, वहाँ कई कट्टर वेदान्ती रहा करते थे। सन्'36में मैं वहाँ गया था। वहाँके जो वयोवृद्ध वेदान्ती थे, वह जब देखते कि अभी वेदान्त इसकी समझमें नहीं आया, कहीं विचारा लुभा गया, कहीं गुस्सा आ गया, कहीं फँस गया, तो कहते थे कि भाई, तुमने वेदान्त तो बहुत सुना; लेकिन अभी दृष्टि नहीं बनी। दृष्टि बननी चाहिए। और दृष्टि समझदारीसे बनती है और यदि समझदारीसे दृष्टि बन गयी, तो यह जीव शिव हो गया। शिव वे हैं, जिनके सिरपर पवित्रताकी गंगा, आनन्दमय चन्द्रमा—वह ज्ञानदृष्टि-तृतीय नेत्र भी है; पवित्रताकी गंगा भी है और आनन्दकी चाँदनी भी है। गलेमें खोपड़ीकी भी माला है तमोगुणका मूर्तरूप है। भस्म लगा है शरीरमें, मुर्देका और सर्प लिपटा हुआ शरीरमें, रजोगुणका मूर्तरूप है। और शिव मस्ताने हैं। मद्भावं सोऽधिगच्छति'का अर्थ होता है कि वह जीव ही शिव हो जाता है, जब वह समझ लेता है पूरा, उसकी दृष्टि बन जाती है। अपने-आपको गुणोंसे न्यारा, निराला जान लेता है, उसको परमात्माके भावकी प्राप्ति हो जाती है।

अब कहते कि कहीं किसीके मनमें ऐसा न आये कि यह सब मरनेके बाद होता होगा! देखो, ये जो पुरोहित लोग हैं, वे मरनेके बाद स्वर्ग मिलेगा, इसका प्रतिपादन करते हैं। यज्ञ करो—स्वर्ग मिलेगा। मौलवी लोग कहते हैं—कुरानपर यकीन लाओ, मुहम्मदपर यकीन लाओ, मरनेके बाद विहिश्त मिलेगा। पादरी लोग तो चिट्ठी लिखकर भी देते थे, कि तुम्हें स्वर्गमें हमारी चिट्ठीके साथ कब्रमें गाड़े जाओगे, तो स्थान मिलेगा। ये मजहबी लोग हैं। मौलवी, पादरी, पुरोहित, दस्तूर ये सब मजहबी लोग होते हैं। और यह जो भगवान्का रास्ता है, मार्ग है यह मजहबी नहीं है। यह मरनेके बादका कुछ नहीं बताता।

इसी जीवनको अमृतमय बना देता है। अमृत स्वर्गमें है कि नहीं है, इसमें शंका है, क्योंकि इसको सिद्ध करनेके लिए कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हैं, तो उसको असिद्ध करनेके लिए भी कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। इसलिए हमेशा ही कुछ लोग उसपर शंका करेंगे और कुछ लोग नहीं करेंगे। परन्तु यह जो भगवान्की वाणी है, वह कहीं अमृत बना देनके लिए नहीं, यहीं अमृतमें व्याप्त हो जानेके लिए है—

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्। गीता 14.20

यही जन्म लिया हुआ जो शरीर है, इससे परे, इसकी मृत्यु होनेवाली है, उससे भी परे—इसमें जो दुःख आते हैं, उससे भी परे। विमुक्त हो जाओगे इसी जीवनमें। तो पूर्व जन्मोंके कर्मोंके फलस्वरूप यह तुम्हारा जीवन है और न तो मरनेके बाद कोई अगला जीवन बनानेवाला है और न तो इस जीवनमें दुःख भोगनेवाला है। आप इन तीनों गुणोंसे परे होकर ऐसी दृष्टि बना लीजिये कि ये गुण आते-जाते रहते हैं—आप गंगा-तटसे भी गुजरिये, गंगोत्री भी देखिये और हरिसन रोड भी देखिये। आप विशाल समुद्रका दर्शन भी कीजिये और कालबा देवी रोड भी देखिये। इस जीवनमें जन्म है, तो रोग भी आयेंगे। आयेंगे, चले जावेंगे—इस जन्ममें संयोग भी होगा, वियोग भी होगा। इसमें तो संयोग, वियोग, सुख, दुःख, राग, द्वेष, जाग्रत, सुषुप्ति ये वृत्तियाँ आती-जाती रहेंगी।

आपके देहमें आनेवाली जो चित्त-वृत्तियाँ हैं, उनके साथ मिलिये मत। जिस समय हमको क्रोध आता है, क्या होता है? पहले तो क्रोध कहींसे आता है, फिर अपने मनमें आकर जरा अपनी तेजी, अपनी लाली डालता है और फिर हम अपने मैंको उसके साथ मिला देते हैं। योगकी भाषामें इसको 'वृत्तिसारूप्य' बोलते हैं। मैं और क्रोध दोनों एक हो जाते हैं। मैं क्रोधसे अलग नहीं रह पाता हूँ, क्रोधसे अभिन्न हो जाता हूँ। देखो, हमारी घड़ीको कोई गलत बताता है, तो हम आग्रह करते हैं कि हमारी घड़ी सही है, तुम्हारी गलत है। क्योंजी? तुम्हारी ही घड़ी क्यों सही है, दूसरेकी क्यों नहीं है? कोई कहता है—यहाँसे पाँच मील है, आप कहते हैं, नहीं, साढ़े पाँच मील है। क्योंकि अपनी जीभसे निकली हुई बात। उसके साथ हमारा 'मैं-मेरा' मिल जाता है। इसी प्रकार काम आता है तो मैं कामसे मिल जाता हूँ। अब वह सत्ता तो होती है अपनी, ज्ञान होता है अपना, प्रियता होती है अपनी और जब हम कामसे, क्रोधसे, लोभसे मिलते हैं तो अपनी सारी सत्ता काममयी, क्रोधमयी, लोभमयी, मोहमयी हो जाती है और हम कहते हैं, इसके बिना हम नहीं रह सकते। क्रोध ही सबसे बढ़िया है।

ज्यों मैं दंड करहुँ नहीं तोरा। भ्रष्ट होई श्रुति मारग मोरा॥

यदि यह भोग मैंने नहीं किया, तो हमारे जीवनमें क्या रहा? हमने अपनेको उठाकर बिलकुल क्रोधकी आगमें डाल दिया। हमने कामकी आँधीमें फेंक दिया। हमने अपनेको उठाकर लोभके दलदलमें, लोभके पानीमें डुबो दिया। अब वही अच्छा लगता है। जैसे, नरकके कीड़ेको नरक अच्छे लगते हैं नरकके कीड़े नरकमें व्याह भी करते हैं, उनके बच्चे भी होते हैं, उनकी वृद्धि भी होती है। नरकमें जो कीड़े होते हैं, उनको रोग भी होता है और उसकी दवा भी होती है। जब हम अपनेको काम, क्रोध, लोभके साथ मिला देते हैं, तब हम उनसे अभिन्न हो जाते हैं।

हमारे एक बड़े घनिष्ठ एवं बुद्धिमान मित्र थे। दो आदमी झगड़ा कर रहे थे, उनको समझानेके लिए बीचमें चले गये। वे समझने लगे कि ये हमारे दुश्मन हैं और हमारे बीचमें आकर हमलोगोंको नकुसान पहुँचाना चाहते हैं। दोनोंने लाठी मारी और बेचारे वहीं ढेर हो गये। उनका नाम था तारकेश्वर। अच्छे लोगोंमें उनकी गिनती थी। जब हम क्रोधके साथ एक एक हो जाते हैं और हमारे क्रोधको कोई गलत बताता है कि तुम क्रोध करते हो, तो ठीक नहीं करते हो, तो क्रोध क्योंकि मैं हूँ, मेरा है, इसलिए क्रोध ही श्रेष्ठ लगता है। काम क्योंकि

मैं हूँ, मेरा हो गया है, इसलिए काम ही श्रेष्ठ लगता है। ऐ, तुम चुप रहो, हम जो कर रहे हैं, सो ठीक! लोभ क्योंकि मैं और मेरा हो जाता है, मैं उससे मिल जाता हूँ, इसलिए हम लोभको सही बताने लगते हैं। आप अपने दोष, दुर्गुणोंको क्यों नहीं देख पाते हैं? जैसे आँखकी पुतली अपनेको नहीं देख पाती है, दूसरेको देखती है, वैसे ही मैं भी दूसरेको देखता है, मैं को नहीं देख पाता है।

जब हमारा मैं काममें, क्रोधके, लोभमें मिल जाता है। तब हम मैं को नहीं देख पाते हैं। इसलिए इन तीनों गुणोंसे अलग होकर—यह नहीं कि बोलने लगे, तो दूसरेकी बात सुनते ही नहीं। अरे भाई, उसके भी बुद्धि है, कुछ बोल रहा है, उसकी भी सुन तो लो। शिष्टाचार तो यह है कि यदि कोई बोलता हो, तो जबतक उसकी बोली खत्म न हो जाय, तबतक या तो सुनते रहो, या बहुत विस्तार हो, तो वहाँसे हाथ जोड़कर उठ जाओ। लेकिन बोलते समय तुम जब स्वयं अपनी जीभको नहीं रोक पाते, अनावश्यक होनेपर भी बोलते जाते हो, तब तुम हृदयमें नहीं हो। तब तुम मस्तिष्कमें नहीं हो, तब तुम आकर जीभपर बैठ गये। ऐसे ही भोजन करने लगे, तो वह भोजन आपके लिए हितकारी है कि यह बुद्धि दिमागको छोड़ करके जीभ पर आकर बैठ गयी और आपका दिल जो है वह दिलमें न रहकर भोजनके स्वादमें आकर बैठ गया।

आपने अपने दिल और दिमागको भोजनके साथ मिला दिया और आप स्वयं उसके साथ मिल गये। अब क्या खा रहे हैं, कितना खा रहे हैं, उसका पता हीं नहीं चलता। हर बातमें जो अपनी एक तटस्थ दृष्टि है, कूटस्थ दृष्टि है, वह नष्ट नहीं होनी चाहिए। और यदि आपकी दृष्टि बनी है, तो आपके जीवनमें जो रोग, भोग, वियोग—जो इसमें जीवन, मरण, वनगमन, भवन-दहन, होता है, सबमें आप एकरस रहेंगे—

विमुक्तोऽमृतम् अश्नुते।

संस्कृत भाषामें एक क्रियापद होता है '**अश्नाति**' और एक क्रियापद होता है 'अश्नुते' तो 'अश्नाति' होता है आस्वादन, भोजनके अर्थमें और 'अश्नुते' होता है व्याप्ति के अर्थ में।

अश्नुते इति अक्षरम्।

जैसे आप अंग्रेजी लिपिमें 'क' लिखते हैं और रशियनमें 'क' लिखते हैं, चाइनामें 'क' लिखते हैं, तमिलमें, तेलगूमें, हिन्दीमें, संस्कृतमें, लिपि अलग-अलग होने पर भी 'क' एक ही होता है, तो उसको अक्षर कहते हैं।

लिपि अलग-अलग होनेसे, अक्षरमें अन्तर नहीं होता। 'अमृतम् अश्नुते'का अर्थ होता है—काम अलग होगा, क्रोध अलग होगा, लोभ अलग होगा, नींद अलग होगी, सपना अलग होगा, सुषुप्ति अलग होगी। ये सब होंगे लिपिके समान और आप होंगे उस 'क' अक्षरके समान, जो सब लिपियोंमें एक है—

अमृतम् अश्नुते

लिपियाँ बनती और बदलती रहेंगी, बिगड़ती रहेंगी। हमारे देखते-देखते भाषा और लिपिमें बहुत फर्क पड़ा है। लिपिमें भी और भाषामें भी। मूर्धन्य षकार और ख लिखनेमें पहले प्राय: भेद नहीं होता था। रेफ एकदम दूसरे ढंगसे लिखा जाता था। हमारे बचपनमें कायस्थ लिपिमें अलग होता था, ब्राह्मण लिपिमें अलग

होता था। अभी तो ऐतिहासिक लोग लिपियोंका अध्ययन करनेमें लगे हुए हैं कि यह कौन-सी लिपि है। परन्तु अ क च ट त प वही पुराने हैं। यह जो जीवनकी परिस्थितियाँ हैं यह बदलती रहती हैं इसमें एक अमृत है, परिस्थितियाँ मरती रहती हैं, स्थान बदलते रहते हैं, समय बदलता रहता है, वस्तुएँ बदलती रहती हैं, उनकी शकल-सूरत बदलती रहती है, मरती रहती है, नष्ट होती रहती है; परन्तु उसमें एक अमृत है, जो कभी मरता नहीं है और वह क्या है? उसीका नाम है परमात्मा, उसीका नाम है आत्मा!

'अमृतम् अश्नुते' अर्थात् आप आत्माके रूपमें, आप परमात्माके रूपमें स्थित रहेंगे। 'विमुक्तोऽमृतमश्नुते'। कितनी बार आपको दु:ख नहीं आया है।

एक दिन हमारे लिए किसी होमियोपैथिक डॉक्टरको बुलाकर लाये थे, वह अमेरिकाके ताजा, लेटेस्ट होमियोपैथ सीखकर आया था। बड़ा तेजस्वी! उसने हमको एक दवा दे दी। हमारे शरीरमें दाने निकल आये। मैंने उसको फिर बुलवाया। भाई, ये तो दानें निकल आये। बोले, स्वामीजी! आपको बचपनमें कभी खाज हुई थी? मैंने कहा—हाँ, हुई थी। तो बोले, ठीक है, वह जो भीतर छिपी थी, वह जाहिर हो रही है। मैंने कहा, क्यों डॉक्टर, बचपनसे अबतक जितने रोग हैं, उन सबको उभाड़कर तुम ठीक करोगे? हे भगवान्! ये जो दाने उभड़े हैं, उनको आप शान्त कर दो। हम बचपनसे अबतक हुए रोगोंको झेलनेके लिए तैयार नहीं है। रोग तो कितने हुए हैं, कितने गये हैं।

अच्छा यदि बचपनसे आप यह देखने लगें कि आपके जीवनमें आनेवाले कितने लोगोंसे वियोग हुआ है? वे आपको छोड़कर चले गये हैं या उनको छोड़कर आप चले गये हैं। या कितने लोग मर गये हैं, तो उनकी गणना क्या सम्भव है? और उस अवसरपर कितना दु:ख हुआ था? लेकिन, आप उनकी याद भी पूरी तरहसे नहीं कर सकते हैं।

आत्मा वह तत्त्व है, वह अमृत है जो किसीके मरनेपर मरता नहीं है। देहके मरनेपर भी मरता नहीं है। सपनाके मरनेपर नहीं मरता है जैसे,वैसे जाग्रतके मरनेपर भी नहीं मरता है। वैसे सुषुप्तिके मरनेपर भी नहीं मरता है। ऐसा एक अमृत तत्त्व है और हमारी व्याप्ति जैसे अभी काममें है, क्रोधमें है, लोभमें है, मोहमें है, उसमें हम डूब गये हैं, गर्त हो गये हैं, जैसे हम देहमें डूब गये हैं। ऐसे हम देहकी जगहपर आत्मामें, परमात्मामें डूब जायँगे—स्वयं अमृत हो जायँगे।

विमुक्तोऽमृतमश्नुते।

अर्जुनने कहा कि यह तो बहुत बढ़िया बात है। इसके बाद उसने प्रश्न कर दिया।

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चेतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते॥ 14.21

देखो, अर्जुनकी स्थितिपर आप ध्यान दो। दोनों ओर सेना खड़ी है। एक ओर कौरवोंकी, एक ओर पाण्डवोंकी। बीचमें है अर्जुनका रथ और उसपर आज्ञाकारी सारथी हैं स्वयं भगवान्। अर्जुनके आज्ञाकारी हैं भगवान्! भगवान्का आज्ञाकारी अर्जुन नहीं है। अद्भुत दृश्य है और इसका फल यह हुआ कि वह भगवान्को

अपने मनके अनुसार चलाना चाहता है। जैसे उत्तर युद्धमें यह हुआ था कि उत्तरके सारथि बने अर्जुन और बादमें उत्तर सारथि बनाकर तो ले गया। बोला कि बस मैं तो नहीं लड़ूँगा, मैं तो भाग जाऊँगा। अर्जुनको यह बात अच्छी नहीं लगी। उत्तरको पकड़कर रथमें बाँध दिया और स्वयं युद्ध करके उसने कौरवोंपर विजय प्राप्त की। जो दशा उत्तरकी हुई थी, गो-ग्रह युद्धमें वही दशा अर्जुनकी हो गयी, कौरव-पाण्डव युद्धमें।

श्रीकृष्णको सारथि बनाकर सामने ला दिया। अब वह यह नहीं देखता है कि हमने किसको सारथि बनाया है, इसकी भी कुछ इज्जत है, इसका भी कुछ गौरव है, इसका भी कुछ स्थान है। बोले मैं तो नहीं लड़ूँगा। बैठ गया नीचे। कृष्णने उसको समझाया। उस समय भी वह कह रहा है 'न योत्स्य इति'। मैं लड़ूँगा नहीं, मैं लड़ूँगा नहीं। अब वही अर्जुन है गीता श्रवण करता हुआ-न तो उसको कौरवी सेनाका ध्यान है और न पाण्डवी सेनाका ध्यान है—न अपने गौरवका, वीरताका ध्यान है। वह तो श्रीकृष्णकी बात सुननेमें, उनकी समझदारीको ग्रहण करनेमें—श्रीकृष्णकी बुद्धिसे अपनी बुद्धि मिलानेमें, इतना तन्मय हो गया है कि उसको दूसरा कुछ सूझता ही नहीं। दोनों ओर शंख बज चुके हैं 'प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते'—बस अस्त्र-शस्त्र गिरनेवाले हैं और अर्जुन—देखो परिस्थितिसे कितना ऊपर उठ गया है। न धर्मराज्य स्थापनाकी सात्त्विकता है, न दुश्मनोंको मारनेके लिए रजोगुण है।

कहा अच्छा—तो कैसे होता है महाराज यह बताओ। यह दो मित्रोंका संवाद। मिल गयी आँख। आपके दु:खके समय आपके मनके विपरीत कोई क्रिया हो तो इस बातपर ध्यान देना कि भगवान्‌की आँख मिल रही है क्या? भगवान्‌की बुद्धिसे आपकी बुद्धि मिल रही है क्या? भगवान्‌की क्रियासे आपकी क्रिया मिल रही है क्या? आप बिलकुल उलटा चाहते हैं, कि जो क्रिया मुझे पसन्द है वह भगवान् करे। जो मेरी आँखको पसन्द है, वही भगवान्‌की आँखको पसन्द हो, जो मेरी बुद्धिको पसन्द है, वही भगवान्‌की बुद्धिको पसन्द हो! आप तो भगवान्‌की बुद्धिको, दृष्टिको, क्रियाको अपने अनुसार बनाना चाहते हैं। जरा बनके तो देखिये—अरे कृष्ण बताओ तो सही, प्यारे—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।

प्रभु हो तुम तो, मेरे सारथि नहीं हो, नौकर नहीं हो, आज्ञाकारी नहीं हो। तब कौन हो? तुम तो मेरे प्रभु हो, तुम तो मेरे जीवन रथके सारथि हो। तुम तो मेरे प्रेम रथके सारथि हो, तुम मेरे ज्ञान-रथके सारथि हो। प्रभु! प्रभविष्णो! तब, जो इन गुणोंसे पार जाता है, उसके अन्दर कौन-कौनसे चिह्न होते हैं?

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणान्नेतानतीतो भवति प्रभो!

एतान् त्रीन्गुणान् अतीतः पुरुषः कैर्लिङ्गैः भवति।

उसमें कौन-से चिह्न ऐसे होते हैं कि हम पहचान लें कि वह तीनों गुणोंसे परे पहुँच गया है। किमाचार:—उसका आचरण कैसा होता है? कैसा आचरण होनेपर पहचानें कि यह गुणातीत है।

रज्जब रोष न कीजिये, कोई कहे क्यों ही,
हँसके उत्तर दीजिये, हाँ बाबा यों ही।

अरे चल भाई, ऐसे ही सही। जहाँ तक धर्मकी हानि न हो, वहाँ तक दूसरेकी बात स्वीकार करनेमें केवल अपना अहंकार ही बाधक है। यदि कोई कहे कि स्वामीजी इस तख्ते पर मत बैठो, नीचे जमीन पर बैठो! तो जमीनपर बैठनेमें क्या आपत्ति है कि हम बड़े हैं, वक्ता हैं, साधु हैं, महात्मा हैं हमको ऊँची चौकीपर बैठना चाहिए। हम नीचे बैठें? आ गया न क्रोध? अरे बाबा, नीचे बैठना है नीचे बैठ जाओ, ऊपर बैठना है, ऊपर बैठ जाओ।

एक बार दिल्लीमें एक बहुत बड़ा यज्ञ हो रहा था। दस लाख आदमी उसमें शामिल हुए—यमुनाके पार—तो श्री उड़ियाबाबाजी महाराजको उन लोगोंने बड़े प्रेमसे आमन्त्रित किया और बड़े-बड़े परचे लगाये। तो हमसे पूछा, वे आवेंगे तो बैठेंगे कहाँ? सब शंकराचार्य तो सोने-चाँदीका सिंहासन लेकर बैठेंगे। सभी सम्प्रदायके आचार्य आनेवाले थे। बाबाको कैसे बैठाया जायगा? मैंने कहा—बाबा तो ऐसे बालूमें बैठते हैं, धूलमें बैठते हैं, बिना आसनके बैठते हैं! उनके लिए क्या प्रश्न है? आवेंगे तो कहीं भी बैठ जावेंगे।

एक जगह वे कासगंजमें गये। सनातनधर्मियोंने बाबाको ऊपर सिंहासनपर बैठा दिया। आर्यसमाजियोंने कहा,—'तुम भी मनुष्य, हम भी मनुष्य, तुम ऊपर क्यों बैठे हो?' लो बाबा, हम तुम्हारे साथ बैठ जाते हैं। सिंहासनपरसे उतरे और उनके साथ बैठ गये। अब सनातनधर्मियोंने कहा—'हम मारेंगे आर्यसमाजियोंको। भाग जाओ तुम लोग हमारी सभामें-से!' बाबा बोले—'भगाओ मत! मारो मत, मैं फिर ऊपर बैठ जाता हूँ।' यह नीचे-ऊपर क्या है? आगे हुए तो ड्राइवर, पीछे हुए तो गार्ड और बीचमें हुए तो दोनोंके मालिक-जनता। आपका जो आत्म-स्वरूप है, उसमें तो कोई बाधा पड़ती नहीं है। किमाचार:—जो गुणोंसे परे है, उसका आचरण क्या होता है? वह भी अर्जुनकी एक गुणातीत अवस्था ही है, जिसमें वह गीता-ज्ञान सुननेके बाद भी कभी रोता है, कभी दु:खी हो जाता है, कभी आगमें जलनेको तैयार हो जाता है। वह सब उसकी गुणातीत अवस्था ही है। वह तो जो नहीं पहचानते हैं, उनकी बात दूसरी है। तो त्रिगुणातीतका आचरण क्या होता है? और-**कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते।**

वह क्या युक्ति है, वह क्या उपाय है। कौन-सा साधन किया जाय, जिससे मनुष्य तीन गुणोंसे परे हो जाय। देखो, तीन गुणोंसे परे हो जाना, माने तीनों गुणोंमें बराबर हो जाना।

आप इस बातको ध्यानमें रखो। गोस्वामी तुलसीदासजीका एक पद है, सम्भवत: दोहा है कि कृष्ण पक्षमें जितने घण्टेतक अन्धकार रहता है, उतने ही घण्टे तक शुक्लपक्षमें प्रकाश और शुक्लपक्षमें जितने घण्टे तक प्रकाश रहता है, उतने ही घण्टे तक कृष्णपक्षमें अन्धकार। दोनोंमें कोई फर्क नहीं है।

नामभेद विधि कीन्ह सम प्रकास, तम पक्ष दोहू नामभेद विधि कीन्ह।

हमारे जीवनमें जितना जागना आवश्यक है, उतना ही सोना भी और जितना जागना और सोना आवश्यक है, उतना ही कर्म करना भी! तब बोले भाई—

कथं चैतांस्त्रीन्गुणानति वर्तते।

ये तीनों गुण ही है—सोना भी गुण है, जागना भी गुण है, काम करना भी गुण है। परन्तु जब एकमें

आप इतने आबद्ध हो जाओगे कि दूसरेका तिरस्कार करोगे, और अपने भावोंमें फँस जाओगे। बस एक ही बात है। किसी गुणसे सटो मत, हटो मत, पचाते हुए चले चलो। 'चरैवेति'। चले चलो, चले चलो। इन तीन गुणोंसे परे होनेका उपाय क्या है? कौन-सा साधन करें तो तीनों गुणोंसे परे हो जायँ।

यह अर्जुनकी, (अर्जुन माने एक सीधा सादा, सरल व्यक्ति) उँचाई है। उँचाई तो बहुत है; परन्तु बहुत सीधा है। अर्जुन शब्दका अर्थ ही होता है—बहुत ऊँचा है; परन्तु बहुत सीधा है। अर्जुन वृक्ष है, परन्तु सीधा, ऊँचाईमें गया हुआ है। सरल है, ऋजु है, अपने मनकी बात इसने पूछ ली और भगवान् श्रीकृष्णने उत्तर दिया—'अरे अर्जुन! तुम तो बड़े बुद्धिमान हो। पाण्डव शब्दका अर्थ पण्डित होता है। पण्डा शब्द (पडिधातुसे बना) बुद्धिके अर्थमें होता है। इसीसे पण्डित शब्द भी बनता है और पाण्डु शब्द भी बनता है और पाण्डव भी इसीसे बनता है। श्रीकृष्ण कहते हैं, अर्जुन बड़े बुद्धिमान हो। क्या बुद्धिमानी है महाराज, हमारे अन्दर? बुद्धिमानी यह है कि तुम पूछ रहे हो त्रिगुणातीत हुए पुरुषका लक्षण, उसके आचरण और त्रिगुणातीत होनेका उपाय। इससे बड़ा बुद्धिमान् और कौन होगा, जो ऐसे जीवनका मार्ग पूछे, जिसमें न सुख हो, न दुःख हो, न संयोग हो, न वियोग, न राग हो, न द्वेष हो, न मृत्यु हो, न अमृत हो। ऐसे जीवनका मार्ग पूछनेवाला कितना बुद्धिमान होगा!

श्रीकृष्णने 'पाण्डव' कहा। तुम हमारे फुफेरे भाई हो, पाण्डुके पुत्र हो, बुद्धिमान् हो। आओ अब हम इसका उपाय बताते हैं।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ 14.22-27

अब तीन दिनोंमें गुणातीतका लक्षण आपको सुनायेंगे।

●

प्रवचन : 8

22-11-85

प्रश्न : कल परम श्रद्धेय स्वामीजी महाराजने बीसवें एवं इक्कीसवें श्लोकमें सम्बन्धित प्रश्नोंके बड़े ही बोधगम्य उत्तर दिये। और हमारा मार्ग प्रशस्त किया। अब सिर्फ तीन दिन बाकी हैं। और विवेचनके लिए छः श्लोक बाकी हैं। इन छः श्लोकोंके मुख्य केन्द्र विषय हैं—गुणातीतके लक्षण और स्थितिमें पहुँचनेके साधन, अव्यभिचारिणी भक्ति, 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहं' श्लोक आदि। इनके बारेमें अब हम प्रश्नके रूपमें अपनी जिज्ञासाएँ नहीं उपस्थित करना चाहते। यूँ स्वामीजी महाराजके विवेचनमें सभी सम्भव प्रश्नों, जिज्ञासाओंके उत्तर समाहित रहते ही हैं। बल्कि अन्य प्रश्नोंका भी बहुत कुछ रहता है। पू० स्वामीजी महाराजसे निवेदन है कि चौदहवें अध्यायके उपसंहारके इन श्लोकोंमें निहित तत्त्वोंके विवेचन, निरूपण रूपका शुभारम्भ करें। प्रणाम!

उत्तर : स्थितप्रज्ञ, भक्त, गुणातीत, जिज्ञासु एवं तत्त्वज्ञानी इन सबके लक्षण स्थान-स्थानपर गीतामें आये हैं। दूसरे अध्यायमें सत्पुरुषका वर्णन स्थितप्रज्ञके नामसे किया गया है। उनकी बुद्धि स्थित होती है, डावाँडोल बुद्धिवाला मनुष्य सत्पुरुष नहीं हो सकता। आज कुछ, कल कुछ, परसों कुछ—किसी बातपर स्थिर न रहे। किसी निश्चयपर स्थिर न रहे। तो प्रज्ञा होनी चाहिए स्थिर—माने सत्पुरुष होनेके लिए दृढ़निश्चयी, स्थिरनिश्चयी होना आवश्यक है। बुद्धि आपकी स्थिर है, निश्चय स्थिर है, परन्तु आपकी प्रीति कहीं डावाँडोल हो जाय तो! आज इसके पक्षमें हो गयी, कल उसके पक्षमें हो गयी। तो अपनी आसक्ति प्रीतिके अनुसार बदलते रहेंगे। स्थितप्रज्ञमें जहाँ बुद्धिकी स्थिरता है, वहाँ भक्तमें आसक्तिकी स्थिरता है, प्रीतिकी स्थिरता है। यदि प्रीति स्थिर नहीं होगी, तो मनुष्य गृह-पशुके समान द्वार-द्वारपर भटकेगा। सिरपर बोझ लिये वैसे, फिर भी यह मूढ़ मनुष्य मानेगा नहीं, वहाँ-वहाँ भटकेगा! अपने स्वरूपका या कर्त्तव्यका दृढ़निश्चय और प्रीति भगवान्से होनी चाहिए जिज्ञासुके जीवनमें सद्गुण चाहिए—तेरहवें अध्यायमें—

अमानित्वमदंभित्वम् अहिंसा क्षान्तिरार्जवम्। गीता 13.7

स्वयं अभिमानी न हो, दूसरोंको सम्मान दान करें। क्योंकि जो लोग बहुत कृपण होते हैं, कँजूस होते हैं, उन्हें भी सम्मान-दानमें तो कोई हिचक है ही नहीं। यदि वे किसीको देखकर खड़े हो जायँ, हाथ जोड़ लें, मुस्करा दें, स्वागत करलें, तो उनका पैसा तो खर्च होता नहीं है। और कुछ नहीं दे सकते, तो दूसरोंको मान-दान तो करना ही चाहिए, सम्मान देना चाहिए और स्वयं मान नहीं करना चाहिए।

बीस गुणोंका वर्णन जिज्ञासुके जीवनमें किया गया। चौदहवें अध्यायमें गुणोंका वर्णन किया गया। यह गुणोंका स्वभाव ऐसा है कि ये जीवनमें बदलते रहते हैं। कभी प्रकाश, कभी प्रवृत्ति, कभी मोह—सामान्य रूपसे ये जीवनमें आते ही रहते हैं।

हमने एक ऐसा महात्मा देखा, जो लेटा ही रहता था; सो हमारे साथ रहनेवाले ब्रह्मचारी, संन्यासी हमको तो अकेले छोड़ जायँ और जो लेटा हुआ था, उसको चारों ओर घेरकर बैठ जायँ और जब यह कहे

****

चाय, चाय, चाय तो सौ कुल्हड़ तक लोग उसको चाय पिला देते थे, पर लेटा ही रहता था। पोस्ट ऑफिस के सामने बगलमें सड़कपर और ऐसे ही लेटा रहता था। अब कोई जाकर कहे—ओ महात्मा, क्यों पड़े-पड़े निकम्मे यहाँ अपना जीवन नष्ट कर रहे हो? अरे भाई, वह तो मस्त रहता था। भला! उसकी उस चुप्पीमें, उस शान्तिमें, उस निकम्मेपनमें कितनी ऊँची स्थिति छिपी हुई थी इसको साधारण लोग पहचान नहीं पाते थे।

एक महात्मा जबलपुरके पास भेड़ाघाटमें थे, लेटे रहते थे, शरीर जरा मोटा था। ऋषिकेशमें कैलाशके स्वामी चैतन्यगिरिजीने कहा—ओ! महात्मा, क्या पड़ा हुआ है तमोगुणी! उसने इशारेसे बुलाया था। हमारी हथेली कानमें लगाओ। हथेलीमें-से राम-राम! सिरपर कान रखो—राम-राम! छातीपर कान रखो—राम-राम! तलवेमें कान रखो—राम-राम! तो बाहरसे देखनेमें जो तमोगुणी मालूम पड़ते हैं, उनके भीतर भी बहुत शान्ति और सत्त्वगुण रहता है। सामान्यतः हम पहचान नहीं पाते हैं।

वृन्दावनके पास एक बहुत बड़ा कुँआ है। मन्दिर सौ वर्ष पुराना है। अब तो नष्ट-भ्रष्ट हो गया, टूट-टाट रहा है। एक-दिन हमको कोई दिखानेके लिए ले गया था। चार सौ वर्षका वहाँ तमाल वृक्ष है। मालूम हुआ कि उस कूएँका पानी पहले बहुत मीठा था। एक ऐसा घूमता हुआ कोई औघड़ आया और उसने कुएँपर बैठकर ही दातुन करना शुरू किया। वहाँके पुजारियोंने उसको मना किया कि यह कुआँ पवित्र है ठाकुरजीको सेवाके लिए, भोग लगानेके लिए बना हुआ है। इसपर बैठकर दातुन मत करो—नहीं माना। नहीं माना तो उसको चार-छः गाली सुनायी। हटा दिया उसको जबरदस्ती वहाँसे। उसने कहा जाओ तुम्हारे कुँएका पानी अब खारा हो जायगा। तबसे वह कुँआ ऐसे ही पड़ा है। पानी खारा है। कौन पहचान सकता है कि कौन-सा व्यक्ति किस अवस्थामें घूम रहा है?

एक समय ऐसा था, जब मेरे मनमें था कि जो लोग भजन करते हैं, वही सबसे श्रेष्ठ हैं। एक संन्यासी बड़े विद्वान् भी थे, प्रसिद्ध भी थे, परन्तु वे राजनीतिमें बहुत दिलचस्पी रखते थे। मैंने उड़ियाबाबाजी महाराजसे कहाँ—'महाराज यह शान्ति छोड़कर, ध्यान-धारणा छोड़कर, ये तो सुधारमें लग गये। बाबा बोले, ठीक है, जिसको शान्ति आवे वह शान्त रहे और जिसको प्रवृत्ति आवे वो प्रवृत्तिमें रहे। जैसे शान्ति जीवनमें अपने आप आयी है, वैसे प्रवृत्ति भी अपने आप आयी है। तुमको उसमें दोष देखनेका कोई प्रयोजन नहीं है, कोई अधिकार नहीं है, वे प्रवृत्त होते हैं, तो होने दो। ऐसा कहते थे बाबा! तो बहुत-कर हमलोग दूसरोंके बारेमें अधिक सोचते हैं और अपनी स्थितिके बारेमें कम देखते हैं। होना यह चाहिए कि पहले हम अपनी स्थितिको ठीक-ठीक पहचान लें और उसके बाद दूसरेको देखें, तो दूसरेकी स्थितिको ठीक-ठीक पहचान सकते हैं। आँखका स्वभाव ऐसा बन गया है कि यह दूसरेको देखती है और अपनेको नहीं देखती है।

हमारे पास एक सेठ आते हैं, कलकत्तेमें ही। वे कहते हैं-'पहले हमको भविष्य सूझ जाता था कि क्या होनेवाला है। हाय! हाय! अब नहीं सूझता है। सूझता है। सूझ तो प्रकृतिकी प्रकाशरूपी थी। वह चली गयी। प्रवृत्ति आगयी, प्रवृत्तिके बाद मोह आगया। अब इसके लिए हाय-हाय! करनेकी क्या जरूरत है? जो आया उसका मजा लो!'

****

****

अब एक साधनकी बात आपको सुनाते हैं। मैं भजन करता था, तो नींद आने लगती थी, तो मैंने स्वामीजीसे जाकर पूछा कि महाराज नींद आती है। तो वे बोले कि नींदसे अगर लड़ोगे, तो न भजन होगा, न नींद आयेगी। दोनोंसे वंचित हो जाओगे। इसलिए जब नींद आये, तब जाकर सो जाओ। जब सो जाओगे तो तुम्हारे भीतर जो भजन करनेकी रुचि है, वह तेज होगी और कहेगी कि हाय-हाय! तुम भजन करनेके समय आकर सो गये हो। कितने निकृष्ट हो? भजनकी रुचि बढ़कर नींदको भगा देगी और यदि नींद आजायेगी, तो थोड़ी देर विश्राम करनेके बाद जो भजन करोगे, वह शान्तिसे होगा।

बात यह है कि अपने जीवनमें राग-द्वेष नहीं पालना चाहिए। शान्त व्यक्तिके प्रति भी राग न हो, न द्वेष हो। नहीं तो कहे—महाराज, यह तो दिनभर माला फेरनेमें लगा रहता है। अरे भाई, फेरता है तो फेरने दो। अरे, यह तो इतना काममें लगा रहता है कि इसको खानेकी भी याद नहीं रहती। अरे भाई, ईश्वर-कृपासे काममें इतनी रुचि है, तो करने दो। बोले, इसको तो इतना अपना-अपना-अपना सूझता है कि पराया सूझता ही नहीं। भला अपना तो सूझता है।

तदा बन्धा यदा चित्तमासक्तं कासु दृष्टिषु।

यदि हमारी वृत्ति किसी दृष्टिमें आसक्त हो जाती है, तो वह बन्धन है।

तदा मुक्तिः यदा चित्तं नासक्तं कासु दृष्टिषु।

मुक्ति तब है, जब हमारा दृष्टिकोण कहीं आसक्त नहीं। रास्तेमें चलते-चलते किसी चीजको देखने लगते हैं, ठोकर लग जाती है। किसीको धक्का लग जाता है। साइकिल चलानेवाले दूसरी ओर देखने लगते हैं, तो उनकी साइकिल मुड़कर उधर चली जाती है। इसलिए जो भी काम कीजिये, अपने स्वरूपमें रहकर कीजिये। पाँवसे चलिये, हाथसे काम कीजिये, मुँहसे बोलिये; शौच, लघुशंका कीजिये। आँखसे देखिये, कानसे सुनिये, त्वचासे छूइये, इन्द्रियोंको अपना-अपना काम करने दीजिये। परन्तु किसीमें ऐसी आसक्ति न हो जाय कि हम उसके साथ बँध जायँ। गुणातीत एक सिद्ध स्थिति है, एक महापुरुषकी स्थिति है, एक असंग स्थिति है। जैसे आप नाटकमें किसीका पार्ट करते हैं तो वही नहीं हो जाते हैं।

सुनते हैं एक सज्जन नाटकमें राणाप्रताप बने, तो अपनी पोशाक पहने हुए ही जब घर जाने लगे, तो बसमें आकर बैठे। कण्डक्टरने टिकट माँगा, तो बोले, देखते नहीं, मैं महाराणा प्रताप हूँ। जब बहस शुरू हुई, तो कण्डक्टर बोला—सरकार अब चित्तौड़गढ़ आगया है, अब उतर जाइये। यह अपने पार्टमें इतनी आसक्ति नहीं होनी चाहिए। कर लिया आपने, हो गया। और ईमानदारीकी बात आपको सुनायें—तो हम माताके सामने दूसरे ढंगसे व्यवहार करते हैं, पत्नीके सामने दूसरे ढंगसे, बहनके सामने दूसरे ढंगसे, गुरुके सामने दूसरे ढंगसे। विचार करके आप देखेंगे, तो एक अभिनय, एक नाट्य इस संसारमें चल रहा है। यदि आप पत्नीकी बात माँको और माँकी बात पत्नीको सुनायेंगे, तो दोनोंको पसन्द नहीं आयेगा। दोनोंके मनमें सद्भाव नहीं रहेगा। आप पत्नीसे जैसे मिलना चाहिए, वैसे मिलिये। और माँसे जैसे मिलना चाहिए, वैसे मिलिये। गुरुको जैसे प्रणाम करना चाहिए, वैसा कीजिये। माँकी जैसी सेवा करनी चाहिए, वैसी कीजिये।

****

पत्नीसे जैसा प्रेम करना चाहिए, वैसा कीजिये। अपने बच्चेको वैसा स्नेह दीजिये, जैसा एक बच्चेको देना चाहिए।

व्यापारीसे व्यापारीकी बात कीजिये। राजनीतिक नेताओंसे मिलना हो, तो बहुत सावधान रहिये। उनकी हाँ, ना बहुत धोखा देनेवाली होती है, केवल दिखाऊ होती है।

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।

जब तक आँख खुली रहकर देखना चाहे, आप देखिये। और जब आँख घूमकर अगल-बगल देखना चाहे, तो देख लीजिये। और यदि बन्द होना चाहे, तो उसको बन्द कर लीजिये। आँखके साथ लड़िये मत। एक औचित्यकी स्थापना करके अपने जीवनके क्रमको ज्यों-का-त्यों चलने दीजिये। मनमें किसी वस्तुसे राग न हो जाय, न किसी क्रियासे और न किसी व्यक्तिसे। और द्वेष न हो जाय किसी वस्तुसे, किसी क्रियासे, किसी व्यक्तिसे, किसी स्थानसे। अपने अन्तःकरणकी सुरक्षा आपके किये होगी। आप उसी समय टुकड़े-टुकड़े हो जायँगे, आपकी पूर्णता खण्डित हो जायगी, जब आप राग करके किसीका पक्षपात करेंगे और द्वेष करके क्रूरता, अन्याय करेंगे किसीके साथ मान लो, कभी पक्षपात ही आगया रागके कारण, आ जाने दो; क्योंकि वह तो आनेपर मालूम पड़ता है। लोग मन-मनकी बात करते हैं। अगले क्षण मनमें क्या आयेगा, यह आपको मालूम है? टेलीफोन करके तो आता नहीं, तार देकर आता नहीं, चिट्ठी लिखकर आता नहीं। जब आजाता है, तब मालूम पड़ता है। यदि कभी राग भी आगया, कभी प्रकाश भी आगया, कभी प्रवृत्ति भी आगयी। ठीक है, आ जाने दो। परन्तु मनमें आये और चला जाये—इतना ही उसका जीवन होना चाहिए। जैसे स्वप्न आता है और स्वप्न चला जाता है। यदि रागको रखना चाहेंगे कि रहे, तो वह आपको बाँधेगा। यदि द्वेषको रखना चाहेंगे कि यह बना रहे, तो आपको बाँधेगा।

एक आदमीने किसीको कड़ी आवाजमें कुछ कह दिया और जिन्दगी भरके लिए दिलमें एक गाँठ पड़ गयी। भाई, कह दिया, कह दिया, उड़ गयी उसकी बात। अब तो ऐतिहासिकोंकी और वैज्ञानिकोंको अनुसन्धान करने दीजिये कि उसकी बात आकाशमें कहाँ-कहाँ तक फैली है और कहाँ-कहाँ रह रही है। वह काम वैज्ञानिकोंके जिम्मे कर दीजिये। आपके तो कानमें पड़ी थी और निकल गयी। आपके तो मनमें आयी थी और उसके बाद आपने नींद ले ली। दूसरी हजारों बातें सोच लीं। उनको पकड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

गुणातीतका मुख्य लक्षण यह है कि वह अपने जीवनमें, अपने तनमें, अपने मनमें, पक्षपात करानेवाला राग और दुश्मनी करानेवाला द्वेष अपने जीवनमें नहीं रखता है। यदि आगया, आगया, आकर चला गया। उसके लिए ही, ही, हा, हा,हो, हो,करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। आया, गया। यदि आपसे पूछा जाय कि बचपनसे लेकर अबतक किससे आपका प्रेम हुआ है? किससे आपका द्वेष हुआ है? किसके-किसके मरनेपर आप दुःखी हुए हैं और किसके-किसके मिलनेपर आप सुखी हुए हैं? तो ऐसी लिस्ट बनाकर रख सकना या दिखा सकना किसी मनुष्यके लिए सम्भव नहीं है। एक दिनमें ही मनमें कितने विचार, कितने

संकल्प, कितने भाव आते-जाते हैं और वे आ-जा रहे हैं, यह उनका स्वभाव है। आप दुःखी क्यों होते हैं? जलते क्यों हैं? यह जो मनमें द्वेष आता है, वह अन्तरङ्ग है और क्रोध आता है, जब द्वेष वृत्तिमें अङ्कुरित होता है। जब वह वृक्ष बनता है, तो हिंसा बन जाता है। जब वह पुष्पित और फलित होता है, तब विद्रोह बन जाता है। एक ही द्वेष, क्रोधके रूपमें आपके जीवनमें आता है। सबसे बड़ी सावधानी, जीनेकी कला यही है कि आपके मनमें कोई ऐसा राग-द्वेष न पल जाय, जो राग आपको बाँध दे और द्वेष आपको जला दे। द्वेषका स्वभाव है जलाते रहना—

ज्वलनात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषो द्वेषः।

जो चित्त-वृत्तिका एक खास स्वरूप है जलन, उस जलनका नाम द्वेष है।

सुखानुशायि रञ्जनात्मकश्चित्तवृत्तिविशेष रागः।

कहीं, किसी चीजसे हमको सुख मिला है। उसका रंग चढ़ गया है। मनमें बना है।

एक साधु था, अपने हाथमें खप्पर रखता था। लंगोटी पहनता था और जगह-जगह घूमता रहता था। एक जगह किसी गृहस्थके घरमें गया, बहुत बढ़िया कढ़ी और भात खानेको मिला. उसको बड़ा स्वाद आया। खानेके बाद वह चला गया। एक वर्ष तक उसको कढ़ी-भातकी याद आती रही, बीच-बीचमें, बीच-बीचमें। भजन करने बैठे, कढ़ी-भातकी याद आगयी। एक वर्ष बाद फिर लौटकर उस गाँवमें आया और बोला, भगत! आज हमको फिर कढ़ी-भात खिलाना। और भी कुछ विरक्त पीछेसे आनेवाले हैं, अधिक बनाना। विरक्त तो कोई आया नहीं। उसने कहा अन्तरिक्षसे आयेंगे। एक कमरेमें बैठ गया। वहाँ बहुत सारी कढ़ी और भात रख लिया और खाना शुरू किया। गन्दी बात, बीभत्स! खाते-खाते पेट भर गया। कै आने लगी। खाओ बेटा, सालभर तुम याद करते रहे कढ़ी और भातको, अब आज खाओ! अन्तमें उसे ऐसी ग्लानि हुई कि फिर कढ़ी-भातका नाम लेनेपर भी गिनगिना उठता था। कहीं कढ़ी-भातकी तरह दुनियाकी कोई चीज अपने मनमें समा न जाय, इसका ध्यान रखना चाहिए।

हर ऑफिसको ऑफिसमें रहने दो, उसको घरमें मत लाओ। एक ऑफिसकी बात दूसरे ऑफिसमें मत ले जाओ। यह प्रकाश ऑफिस दूसरा है, प्रवृत्ति ऑफिस दूसरी है। मोह ऑफिस दूसरा है। जहाँ गये, वहाँका आदि-अन्त देखा। कहाँसे छोड़कर गये थे, अब कितना करना है और ध्यान रखो, कहाँ तक किया है और दूसरे ऑफिसमें जाओ, तो वहाँ शुरू कर दो। इस तरह अपने मनके भी ऑफिस होते हैं। एक ऑफिसकी बात दूसरे ऑफिसमें ले जानेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। घरकी बात ऑफिसमें, ऑफिसकी बात घरमें। उनकी बात, उनसे, उनकी बात उनसे न करो।

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।

मुख्य बात यह है कि हमारे जीवनमें राग-द्वेष न हों। अब गुणातीतका लक्षण बताते हैं—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥

आप ऊपर बैठिये, उत् माने ऊपर, उदिति ब्रह्मनाम, उत् माने ब्रह्म, उत् माने परमात्मा, उत् माने ऊर्ध्वमूलका ऊर्ध्व-सबसे ऊपर बैठिये। उसके समान बैठिये।

एक दिन बम्बईमें कफपरेडमें किसीके सबके ऊपरके तल्लेमें गये, तो वह दिखाने लगा कि यहाँ समुद्र कैसा दिखता है! सड़क कैसी दिखती है! नीचे जो सड़क पर मोटरें चलती थीं, वे बिलकुल सूअरकी तरह छोटी-छोटी, छोटी-छोटी लगें। यह मोटरें नहीं दौड़ रही हैं जैसे सूअर दौड़ रहे हैं। आदमी बौने ऐसे दिखते थे। मकान बहुत ऊँचा था। जब मनुष्य परमात्मामें बैठ जाता है, तो ये दुनियाकी जो चीजें हैं, वे अपनी महत्ता खो बैठती हैं। यदि आप सूर्यमें बैठ जायँ, तो यह धरती कितनी बड़ी होगी? आप अन्दाज कर सकते हैं। आप लोग तो जानते हैं। लाखों गुना बड़ा है सूर्य और लाखों मील दूर है। वहाँसे यह धरती कैसी दिखती है? एक बिन्दुके समान! बैठ जाइये न सूर्यमें। आप आकाशमें बैठ जाइये, तो सूर्य आपको कितना बड़ा मालूम पड़ेगा?

आजतक किसी गणितज्ञने, किसी कम्प्यूटरसे क्या यह निकाला है कि आकाशके किस हिस्सेमें सूर्य है? जब आप छोटी चीजको पकड़ते हैं—इसने हमको ऐसे कह दिया, इसने हमको ऐसे देख लिया, इसने हमारे साथ ऐसा व्यवहार कर लिया, तो वह व्यवहार करनेवाला छोटा नहीं होता है। आप स्वयं छोटे हो जाते हैं। आप अपनी स्थितिको तो सम्हालिये। जब पहाड़पर बैठते हैं और नीचे नालेमें कोई जानवर, चाहे शेर हो, चाहे सूअर हो-चलता है, कितना छोटा दिखता है। सेठके घरमें पृथिवीका नक्शा होता है। उसमें भारतवर्ष जरा-सा, कलकत्ता एक बिन्दुके रूपमें। उसमें सेठकी कोठी, बस ईश्वर-कृपासे कहीं छिपी हुई है। हमारी नजर जितनी छोटी है, उतनी छोटी चीजमें अटकती है, यही उसका मापदण्ड है।

बच्चा एक कौड़ीके लिए भी रोता है और उदार पुरुष करोड़ों रुपये फेंक देता है। आप दूसरेको मत देखिये, अपने चित्तको देखिये। जैसे कोई ऊपर बैठा हो, ब्रह्ममें बैठा हो। वैसे आप बैठे हुए हैं। ये जो गुण हैं, ये आते-जाते रहते हैं। रूप भी गुण है, रस भी गुण है, गन्ध भी गुण है; शब्द, स्पर्श भी गुण है। लम्बाई, चौड़ाई भी गुण है, मिलना-जुलना भी गुण है। विभाग भी गुण है। ये आते-जाते रहते हैं। समयमें भी इनका विभाग होता है, स्थानमें भी होता है, व्यक्तिमें भी होता है, चित्तमें भी होता है। जब आपके मनमें भेद-बुद्धि उपजती है, तब आप कलियुगमें हो गये। आपके मनमें संशय आगया, तो आप द्वापरमें पहुँच गये। यज्ञ-याग पूजामें मन लग गया, तो त्रेतामें पहुँच गये। ये सब केवल कालके माप नहीं हैं, कालके कल्पित माप हैं, मनोवृत्तियोंमें अनुभूयमान ये भाव हैं। और वस्तुसत्य ब्रह्ममें इनका कोई अस्तित्व नहीं है। अब 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'—हमारी इन्द्रियाँ—

गुणा इन्द्रियाणि गुणेषु विषयेषु वर्तन्ते।

अरे भाई, कानका काम है शब्द सुनना। सुनने दो, उसको पकड़कर मत रखो। आँखका काम है रूप देखना, देखती हुई चली गयी। उसको पकड़कर चारों ओर मँडराओ मत। नासिकामें सभी तरहकी गन्ध आती है। फूलोंके बगीचेमें जाते हैं, बड़ी सुगन्ध आती है, कहीं गन्दे रास्तेसे निकलते हैं, दुर्गन्ध आजाती है। नाक

दुर्गन्धको भी बता देती है और सुगन्धको भी बता देती है। पर आप उसमें फँसो मत। आपको कभी खानेका नमक मिलता है, कभी खटाई मिलती है, कभी मीठा मिलता है, कभी कसैला मिलता है, कभी तीता मिलता है, कभी कडुआ मिलता है, जीभ सब बताती है। पर जीभको कहीं फँसने मत दीजिये। यह इन्द्रियोंका काम है, विषयोंके साथ बर्तना। विषयोंके साथ बँधना इन्द्रियोंका काम नहीं है। यह बात आप ध्यानमें ले लें।

आँख आपको काला, गोरा बता सकती है, परन्तु आँख आपकी आजतक न काले, गोरेके साथ बँधी है, न बँधेगी। वह तो आप स्वयं अपनेको मनके साथ मिलाकर किसी चीजके साथ बाँधते हैं, आँख तो ज्ञानात्मक है। ज्ञानका काम बन्धनमें डालना नहीं है। वह तो जो चीज जैसी है, आँख वैसा दिखा देती है। काला है, गोरा है। अब काला बहुत प्यारा होता है, गोरा बहुत प्यारा होता है। आखिर हबशियोंमें भी आसक्ति होती है, निग्रो लोगोंमें भी आसक्ति होती है, जंगली जातियोंमें भी आसक्ति होती है। वह तो मोटे-मोटे होंठ और चिपटी नाक और काले शरीर, उसीमें सुन्दरताको देखते हैं और उसमें फँस जाते हैं। और सच पूछो, तो आप भी वैसे ही फँसते हैं। आप अपनी जगहपर बैठे रहिये। इन्द्रियोंके सामने जो आवे, जैसे सड़कपर तमाशा देख रहे हैं। कितने लोग सड़कपरसे आये और गये, आप तो बैठे-बैठे देख रहे हैं।

बहुत वर्षकी बात है, सम्भवतः चालीस वर्षसे अधिक हो गया। मरीन लाईनमें डॉ० मोदी एक सर्जन था, मैं उसके यहाँ बैठा था। मेरे एक मित्रका ऑपरेशन हुआ था। वहाँसे सड़क बताती थी—हजारों आदमी और हजारों मोटरें निकल रही थीं। एक मिनटमें पचास मोटर निकल जायँ। मैं बैठकर देख रहा था। उस समय तो मेरे मनमें यही आता था कि कहीं आग लगी है, उसको बुझानेके लिए ये लोग दौड़ रहे हैं। इतनी भीड़ कहाँ जा रही है? कहीं आग लगी होगी, बुझानेके लिए जा रहे हैं। बादमें मालूम पड़ा कि आग कहीं बाहर नहीं थी, उनके कलेजेमें ही थी और वे उसको बुझानेके लिए दौड़ रहे थे—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।

इन्द्रिय और विषयोंका संयोग होनेपर भी, आँखसे रूप देखनेपर भी, विचलित नहीं होना, रूप अपनी जगहपर, आँख अपनी जगहपर। किसी भी रूपके साथ आजतक आँख नहीं गयी है और कोई भी रूप आँखमें आजतक घुसा नहीं है, और घुस सकता नहीं है। 'योऽवतिष्ठति नेङ्गते'—अपनी जगहपर बिना तनावके निश्चिन्त बैठे हैं। जो होता है, सो होने दो, जो कहा जाता है, सो कहा जाने दो और जो किया जाता है, सो किया जाने दो। तुम अपने स्वरूपसे विचलित मत होओ।

'गुणैर्यो न विचाल्यते। गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते'।

आगे क्या बढ़िया यह गीताका सिद्धान्त है! हमारा जीवन कैसा होना चाहिए? अभी नहीं है। आगे हो जाय! निराश न हों, उदास न हों, उत्साहमें रहें। एक दिन ऐसा आयेगा। हम किसीसे भी निराश नहीं हैं। हम सोचते हैं कि आज वह गिरा है, तो क्या एक दिन उठेगा। आज उसको अपनी गलती नहीं मालूम होती है, तो क्या! एक दिन उसको अपनी गलती मालूम पड़ेगी। आज इसको अपनी योग्यताका पता नहीं है। कल इसको अपनी योग्यताका पता चलेगा। किसीके बारेमें यह सोच बैठना कि यह हमेशा ऐसा ही रहेगा, यह गलत है।

सबके जीवनमें गलती होती है, सबके जीवनमें अच्छाई होती है। और वह समयसे प्रकट होती है। सुख-दुःखसे घबराइये मत।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः सः उच्यते॥ गीता 14.23-24

अब जैसे, आप यह सोचने लगें कि ऐसा तो मेरा जीवन नहीं है, तो मेरे लिए यह बात किस कामकी! नहीं, आप इसपर यदि ध्यान देंगे, तो आपके मनमें आज ही जो दुःखीपन और सुखीपनका अभिमान है, वह टूट जायगा। इसमें स्थिति ऐसी होती है, कि एक तो दुःखके निमित्त होते हैं। कोई मर गया, कोई बिछुड़ गया, कहीं आग लग गयी, दुःख हो गया। ये भौतिक निमित्त हैं और कहीं बिजली गिर गयी, तो दैवी निमित्त हो गया। कोई मनमें उलझन आगयी तो, आध्यात्मिक निमित्त हो गया। अब आप इसकी युक्ति कर सकते हैं कि आपके मनमें दुःख घुसे नहीं, दुःखाकार वृत्ति न हो।

इसके लिए संसारी लोग तो कहते हैं कि जो हम चाहते हैं, वह हमको मिल जाय, तो दुःख नहीं होगा, यही घोर संसारी पुरुषका लक्षण है कि वह कहता है कि हम संसारमें जो चाहते हैं, वही हो और वह हमको मिले, तो हम सुखी हो जायेंगे। परन्तु ऐसा कभी होना सम्भव नहीं है। दूसरे लोग चाहते हैं कि जब हम धर्म करेंगे, धर्मात्मा हो जायेंगे, तो हमेशा सुखी रहेंगे। तो वे भी, पूरी तरहसे धर्मात्मा होना है तो अशक्य, पर हम उनको अशक्य न कहकर कठिन कहते हैं। और दैवी कारण न हो, भौतिक कारण न हो, आध्यात्मिक कारण न हो—जीवनमें दुःखके बारेमें ऐसा नहीं हो सकता। इसका एक बढ़िया उपाय यही है कि आप अपनी प्रीति, आसक्ति, चिन्तन भगवान्‌के साथ जोड़ दीजिये। यदि आपके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति आजायेगी तो आपके हृदयमें दुःखका प्रवेश नहीं होगा। विषय-भोगसे तो दुःख कभी दूर नहीं हो सकता। धर्मानुष्ठानसे पचास प्रतिशत दुःख दूर हो सकता है और भक्तिके अनुष्ठानसे निन्यानबे प्रतिशत दुःख दूर हो सकता है। क्योंकि उसमें भगवान्‌के लिए भी दुःख होता है। तत्त्वज्ञान ऐसा है, जिसमें दुःखका अभिमान मिट जाता है। भक्तिमें क्या होता है कि वृत्ति भगवदाकार हो जाती है, इसलिए दुःखाकार वृत्ति होती ही नहीं और तत्त्वज्ञानमें क्या हो जाता है कि मैं दुःखी हूँ, इस दुखीपनका अभिमान छूट जाता है—

समदुःखसुखः स्वस्थः।

देखो, आप वस्तुसे कैसी ममता जोड़ते हैं—आपकी चीज नहीं थी। उसमें आग लग गयी, जल गयी, आपको मामूली-सा दुःख हुआ। बादमें, भाई! वह तो हमारी थी ही नहीं। और अपनी थी, बेच दिया और उसके बाद उसमें आग लग गयी। तो भी मामूली-सा दुःख हुआ। ईश्वरने अच्छी बुद्धि दी मैंने बेच दी। बीमा करा देते हैं, तो लोग बताते हैं—महाराज, कोई बात नहीं है, बीमा कराया हुआ था। अपनी जो मान लेते हैं। खरीद करके अपनी मानते हैं। बना करके अपनी मानते हैं। मुकदमा जीत करके या युद्धमें जीतकर

अपनी मान लेते हैं। किसीने दान कर दिया, तो अपनी मानते हैं। उत्तराधिकारमें मिल गया, आपकी कमाई मिल गयी, तो अपना मानते हैं। और उसपर अपना कब्जा हो। बारह वर्षसे हमारा कब्जा है, तो कब्जेसे अपना मानते हैं।

चीज तो अपनी कोई होती ही नहीं है। भागवतमें लिखा है कि धरती माता हँस रही थीं। क्यों हँस रही थीं?

दृष्ट्वाऽऽत्मनि जये व्यग्रान् नृपान् हसति भूरियम्। भा० 12.3.1

राजा लोग आपसमें लड़ते हैं। यह धरती मेरी, यह धरती मेरी, धरतीने कहा—ये लोग पैदा ही नहीं हुए थे, इनके बाप, दादा भी पैदा नहीं हुए थे, तबसे मैं हूँ और ये मुझे मेरी-मेरी कहकर अपनी मान रहे हैं। यह देखो, हम मेरी-मेरी मानकर कितना फँसते हैं और सुख-दुःख कैसा बनाते हैं! स्वयं बना-बनाकर, गढ़-गढ़कर, सुख-दुःख अपने जीवनमें बैठा लेते हैं और फिर उसके लिए रोते हैं। गोद लिये हुए बेटेके लिए उतना ही दुःख होता है जितना जन्मे हुए बेटेके लिए। स्त्री-पुरुष विवाह होनेके बाद कितना एक दूसरेको अपना मानते हैं! ये मानी हुई ममता, ये मानी हुई आसक्तियाँ, माना हुआ अपनापन, ये सब हमारे मनके ही बनाये हुए सुख-दुःख होते हैं, जो जितना कम सुख-दुःख बनाकर रखेगा, वह उतना ही स्वस्थ रहेगा। और जो लोग चाहते हैं कि हमारे जीवनमें दुःख आये ही नहीं, वे तो ऐसे बुद्धिमान् हैं कि चाहते हैं, कि रात आये ही नहीं। इसके लिए उद्योग कर रहे हैं कि रात हो ही नहीं।

प्रियव्रतने ऐसा उद्योग किया था कि रात न हो। अन्ततोगत्वा रात आ ही गयी। उसके रोके नहीं रुकी। तो बुढ़ापा आये ही नहीं, जीवनमें वियोग हो ही नहीं। मृत्यु हो ही नहीं। ये जो लोग संसारकी गतिमें ही बाधा डालना चाहते हैं, वे स्वयं बाधित होते रहते हैं। इसलिए भाई, ये सुख और दुःख जो हैं, ये जीवनमें आते हैं। इनके लिए तैयार रहना चाहिए। सुख आये स्वागत है, पधारिये! फिर जाने लगे, तो भले पीछे-पीछे थोड़ी दूरतक जाकर हाथ जोड़ लीजिये। अच्छा आप पधारिये! सुख आपके घरमें एक मेहमान आया था और जितनी देर रहा उतनी देर ही उसका जीवन है, आनेके पहले और जानेके बाद सुखका कोई जीवन नहीं है। दुःख भी जितनी देर आता है, रहता है, जाता है। आवे तो हाथ जोड़ लीजिये—आइये दुःख महाराज, बहुत दिनके बाद आपने दर्शन दिये। या बहुत जल्दी-जल्दी आप आजाया करते हैं। और जब थोड़ी देर रहकर वे जाने लगें, तो पहुँचा दीजिये।

आपके मनका स्वभाव ऐसा है हमने श्मशानमें बैठकर देखा है कि मुर्देको बड़े प्रेम, स्नेह, मोहके साथ श्मशानमें ले आते हैं और जब आगमें जलनेमें देर होती है, तो बैठकर गप्प हाँकते हैं, हँसते हैं फिर खाते-पीते हैं। और नहीं तो जलाकर लौट जाते हैं। दिन-दो-दिन याद आती है, फिर भूल जाते हैं। पहली चोटमें जितना दुःख मालूम पड़ता है, उतना दूसरी, तीसरी, चौथी चोटमें नहीं लगता है।

हमारे समयमें, हमारे बचपनमें एकबार प्लेग आया था। प्लेगका दौर आया था, दिनभरमें गाँवमें कई आदमी मर जाते। लोग उन्हें श्मशान पहुँचानेके लिए ले जाते, तबतक दूसरा मरा मिलता, उसको छोड़कर

आते, तबतक तीसरा मिलता, तो बीचमें बैठ-बैठकर खा-पी लेते थे, फिर दूसरेको लेकर श्मशान जाते थे। आपसमें हँसते भी थे, बात भी करते थे। आप अपने दिमागको भारी क्यों बनाते हैं? सुख-दुःख तो आनेवाली हवा है। कभी दुर्गन्ध आयी, कभी सुगन्ध आयी। कभी रात आयी, कभी दिन आया। मोटरसे चलते हैं, कभी अच्छा रास्ता आया, कभी बुरा रास्ता आया। कभी सामनेसे गन्दा आदमी निकल गया, कभी सुन्दर निकल गया। पर आप स्वस्थ रहिये न! आप अपनेको छोड़कर दूसरेको देखने जाते क्यों हैं?

समदुःखसुखः स्वस्थः।

स्वस्थका लक्षण यही है। हमने पहले आयुर्वेदमें पढ़ा था कि कोई बच्चा हो और बोल न सकता हो, तो उसको कहाँ दर्द हो रहा है, इसका पता कैसे चलेगा? तो लिखा था कि बेहोश आदमीका हाथ भी वहाँ जाता है, जहाँ दर्द है। बच्चेका हाथ भी बारम्बार वहाँ जाना चाहता है, जहाँ उसको दर्द होता है।

आप कहाँ रहना पसन्द करते हैं, अपने घरमें या दूसरेके घरमें? आपके इतने मित्र हैं, इतने सम्बन्धी हैं कि यदि आप घर-घरमें घूमते रहेंगे, यदि आपका मन घर-घरमें घूमता रहेगा, तो आप अपने घरको बिलकुल भूल जायेंगे। आपका दिल-दिमाग गन्दा हो जायगा। क्योंकि आप तो वहाँ रहते ही नहीं हैं। आप अपने कमरेको साफ नहीं रखेंगे, उसको सजाकर नहीं रखेंगे। दूसरेके घरमें जाकर उसका आनन्द लेने लगेंगे। दुनियाकी तो सब चीजें आती है, जाती हैं। अबतक आपने कितनी चीजोंको सुन्दर समझकर अपना घर सजाया है और फिर उनको बदल दिया है। ऐसे आप अपने संसारकी आसक्तियोंको समझिये। इसमें न कोई वस्तु हमेशाके लिए प्रिय होती है, न कोई वस्तु हमेशाके लिए अप्रिय होती है। ये चीजें आपके व्यवहारके लिए हैं। आपके व्यापारके लिए हैं। आप उनसे व्यवहार कीजिये, उनके साथ व्यापार कीजिये, परन्तु उनके साथ चिपक मत जाइये। क्योंकि कितना भी चिपकेंगे, अन्तमें छूटेंगी।

सुनते हैं एक बच्चा था, उसके सामने सोनेकी छोटी-सी चवन्नीवाली गिन्नी आ गयी। उसने हाथमें ली और मुट्ठी बाँध ली। अब मुट्ठी खोले ही नहीं। लोग बहुत घबड़ाये। घंटोंतक मुट्ठी नहीं खुली। तो लोगोंने डॉक्टरको दिखाया। डॉक्टरने कहा कि ऑपरेशन करके खोलेंगे यह तो बन्द हो गयी है। एक वहाँ बुढ़िया माई थी, उसने कहा ठहरो, ठहरो! क्या बात थी? इसने गिन्नीकी चवन्नी लेकर मुट्ठी बन्द कर ली है। खुलती नहीं है, इसके हाथ जकड़ गये हैं। उसने कहा-जरा एक पूरी गिन्नी ले आओ, चार चवन्नी वाली। पूरी गिन्नी आयी, उसने बच्चेको दिखाया। झट उसने अपनी मुट्ठी खोल दी। चवन्नी छोड़कर उसको पकड़ लिया। आप चवन्नीमें मत जकड़ जाइये और फिर जकड़ते चलेंगे, तो अठन्नीमें जकड़ेंगे, रुपयेमें जकड़ेंगे। मजा सबका लेते चलिये। सबमें जो रस है, उसको लेते चलिये। पर फँसिये मत। किसीसे दुश्मनी मत कीजिये, किसीसे फँसिये मत। राग-द्वेष-रहित जीवन ही गुणातीतका जीवन है।

●

प्रवचन : 9

23-11-85

प्रश्न : हमलोग चौदहवें अध्यायके उपसंहारकी ओर हैं। कल जैसा निवेदन किया था कि अब उपसंहारमें चौदहवें अध्यायका सार पूज्य स्वामीजी महाराज समटेंगे। उपसंहारमें प्रश्नकी आवश्यकता नहीं है।

उत्तर : **समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।**
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ गीता 14.24-27

भगवान् श्रीकृष्ण चाहते हैं कि हमारा हृदय सर्वदा प्रेमसे, आनन्दसे, अमृतसे भरपूर रहे। इसके लिए जीवन कैसा होना चाहिए? किमाचारः? अर्जुनका प्रश्न यह है कि गुणातीतका आचरण कैसा होता है? उसका उत्तर दे रहे हैं। इसमें पहली बात यह है कि हम सुखसे चिपक जाते हैं और दुःखसे घबड़ाते हैं। 'ख' शब्द जो है, वह सुखमें भी वही है और दुःखमें भी वही है। 'ख' माने हृदयाकाश, जिसमें तारे छिटकते हैं, जिसमें चाँदनी फैलती है, जिसमें सूर्यका प्रकाश होता है। जिसमें इतने ग्रह, नक्षत्र, तारे, आकाश-गंगाका निवास है।

हमारा वह हृदय वही है; उसमें कभी बादल आ जाते हैं, कभी धुन्ध छा जाती है, आँधी आती है, कभी वर्षा होती है। आकाश तो वही-का-वही है। आप हृदयको आकाशके समान रखिये। उसमें कभी 'सु' आती है, कभी 'दु' आता है। यह दोनों उपसर्ग हैं। 'ख, यह हृदयाकाशका नाम है और उसमें सुष्ठुपना, सुन्दरपना और उसमें दुष्टपना, ये आते-जाते रहते हैं। आप अपने हृदयको ऐसा मत मान लीजिये कि इसमें कल एक बुराई आ गयी थी, तो आज भी रहेगी, कल भी रहेगी, नहीं वह तो आयी-गयी, उसको पकड़िये मत। बार-बार उसकी याद करेंगे, तो और अपना स्थान बनायेगी। कोई अच्छाई आ गयी, तो निरन्तर अच्छाई-ही-अच्छाई हमारे हृदयमें बनी रहे! यह अच्छाईके रहनेमें कोई बाधा पड़ती है तो तनाव मनमें आता है, दुःख आता है। इसलिए गीताके आरम्भमें ही यह बात कह दी गयी कि—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ गीता 2.14-15

आप देखो, यहाँ गुणातीत होनेसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है यह बात कही गयी है और गुणातीत कैसा होता है? सुख-दुःखमें समान होता है। और गीताके आरम्भमें ही यह बात कही गयी—

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते। गीता 2.15

आप धीर रहिये। बच्चा अँधेरेको देखकर घबड़ाता है। बड़ेके लिए तो रोज अँधेरा आना स्वाभाविक है। कभी बुद्धिको सूझ जाता है, कभी नहीं सूझता है। ये दोनों बुद्धिके ही विलास हैं। कालिदासकी एक सूक्ति है, मेघदूत (2.49)में—

कस्यैकान्तंसुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमि क्रमेण।

जैसे, रथका पहिया, वही पहिया, पहियेका वही हिस्सा कभी ऊपर होता है और कभी नीचे होता है। इसी प्रकार हृदयमें कभी सुखकी वृत्ति आती है, कभी दुःखकी वृत्ति आती है। यह तो रथके पहियेके समान ऊपर-नीचे होती रहती है। न कभी किसीको हमेशा सुख मिलता है और न तो कभी किसीको हमेशा दुःख मिलता है। जैसे, कालमें रात-दिन होते हैं, जैसे, स्थानमें कोई अच्छा स्थान, प्रिय स्थान होता है, कोई अप्रिय स्थान होता है। जैसे, वस्तुमें कुछ अच्छा लगता है, कुछ बुरा लगता है, उसी प्रकार इस मनमें भी द्वन्द्व आते रहते हैं। अपनी समता बनी रहनी चाहिए। जैसे आप सिनेमा देखते हैं, उसमें कभी मार-काटका दृश्य आता है और कभी शान्तिके, तो कभी विक्षेपके, कभी उत्थानके दृश्य होते हैं, कभी पतनके दृश्य होते हैं।

इसी प्रकार यह हृदय भी एक नाटकके रङ्गामञ्चके समान ही है। इसमें अनुकूलता, प्रतिकूलताके दृश्य आते-जाते रहते हैं। मैंने जिनको महाराजा देखा, उनको दरिद्र भी देखा। जिनको दरिद्र देखा, उनको धनी भी देखा। स्वस्थको रोगी देखा, रोगीको स्वस्थ देखा। योगीको वियोगी देखा, वियोगीको योगी देखा। यह संसारका बदलना चालू रहता है और इसको देखनेवाला जो साक्षी है, द्रष्टा है, गुणातीत है, वह इसमें कभी फँसता नहीं है, भले कोई दृश्य देख करके आँखमें आँसू आ जाये। भावविह्वल जो जायँ आप और कभी कोई दृश्य देखकरके खिल उठें, यह तो जीवन रहेगा, तो होता ही रहेगा। इसलिए इसमें सुखको पकड़िये मत, दुःखके पीछे डण्डा लेकर पड़िये मत। आया, आया—गया, गया। यही विचित्र जीवनकी कला है कि आप अपनेको एकरस रखिये!

यदि आप यह चाहेंगे कि दुनियामें कोई बुरा आदमी न रहे, कोई मूर्ख न रहे, कोई पागल न रहे, तो आप ही पागल हो जायेंगे। यदि आप सोचें कि दुनियामें मेरे मनके, मेरे विचारके विरुद्ध कोई घटना न घटे, तो घटनाएँ तो घटती रहेंगी और आपका जो दिल है, वह और रुग्ण हो जायगा। उसमें बीमारी आ जायगी। इसलिए जीनेकी एक कला यह है कि सामनेका दृश्य माने वस्तु; क्रिया, व्यक्ति, चाहे अपने अनुकूल हों, चाहे, प्रतिकूल हों, उनकी अनुकूलता और प्रतिकूलतासे अपने दिलपर उनका कोई असर नहीं पड़ना चाहिए।

देखो, 'असर' शब्दको यदि हम संस्कृतका मानें, है तो उर्दूका, तो उसमें जो सरक जाय वह तो 'सर' हुआ, 'सरति अपसरति'—जो दूर हो जाय, वह सर है। और यदि वह न सरके, दिलमें जम जाय, तो उसने

अपना असर छोड़ दिया। नहीं सरकता है। अरे भाई, दिन गया, रात गयी, वह आदमी गया, वह घटना गयी और उसका असर तुम पकड़कर बैठे हुए हो अपने दिलपर। तो तुम्हारे दिलको क्या कोई नया काम नहीं मिलता है?

सुख-दुःखके दृश्यको अपना चित्त देखे, नाटककी तरह देखे, सिनेमाकी तरह देखे। उसको आने दे, जाने दे। दूसरी बात है, जीवनमें स्वस्थता चाहिए। शरीरकी स्वस्थताके लिए तो बहुत डॉक्टर हैं, वैद्य हैं, हकीम हैं पर वह स्वस्थता दूसरी है, जो हम अपने स्वमें, स्वरूपमें स्थित रहते हैं।

आप देखो, एक आदमीने किसीके घरमें चोरी की। उसने सोचा, इसने हमारे घरमें चोरी की है, तो हम भी इसके घरमें चोरी करें। चोरीके बदले जब चोरी करेगा, तो वह स्वयं चोर हो जायगा, वह साहुकार कहाँ रहेगा? एकने गाली दी, उसके बदलेमें दूसरेने भी गाली दी, तो दोनोंका मुँह गन्दा हो गया न!

सुनते हैं पण्डित मोतीलालजीने मालवीयजीसे कहा—'मालवीयजी आप मुझे सौ गाली दें, तब भी मैं बुरा नहीं मानूँगा।' मालवीयजीने कहा—भला मैं अपना मुँह गन्दा क्यों करूँ? मैं गाली दूँगा, तो मेरा मुँह गन्दा होगा न! चाहे दूसरा कोई कैसा भी काम करे, हम अपने स्वरूपके विपरीत न हों। आप परमात्माके अंश हैं।

ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुख राशी॥

आप सहज सुख-राशि हैं, सहज निर्मल हैं, सहज चेतन हैं। अपनेको विकारी हृदयके साथ क्यों जोड़ते हैं? आप अपने स्वरूपके विपरीत काम मत कीजिये। मैंने कई बार सुनाया होगा! एक लड़कीके मुँहसे मैंने सुना—वह रसोइयेको डाँट रही थी कि मैं परोसनेके लिए जाऊँ और ऐसी मोटी-मोटी कच्ची पूरी ले करके जाऊँ? तुम समझते हो कि खानेवाले भिखारी हैं, तो उनको चाहे जैसा दे दिया जाय? और मैं ले जाकर परोस दूँ? बढ़िया पूरी बनाओ, जो मेरे परोसने योग्य हो।

आप अपने स्वरूपका ध्यान रखिये। दूसरेको बिगड़ता देखकर आप अपनेको मत बिगाड़िये।

समलोष्टाश्मकाञ्चन।

मिट्टीका डला, पत्थरका टुकड़ा और सोनेका टुकड़ा—ये उपयोगकी दृष्टिसे इनमें महत्त्व होता है, स्वयंमें ये महत्त्वपूर्ण नहीं होते हैं। मैंने सुना है कि लंका सोनेकी थी। वहाँ माटी थी ही नहीं। एक दिन किसीको कोई रोग हुआ। रावणको ही समझ लो तो सुषेण वैद्य बुलाये गये। उन्होंने कहा—इस रोगको दूर करनेके लिए पीली मिट्टी चाहिए। सारी लंका में खोज हुई, पीली मिट्टी नहीं मिली। यह हुआ कि इसके लिए तो भारतवर्षमें विमान भेजा जाय। विमान भेजा गया। कहाँकी माटी ठीक रहेगी? इसके लिए तो पश्चिमी भारतमें कोई पीली मिट्टी होती है, वह मिट्टी सर्वोत्तम रहेगी।

उस मिट्टीको ले जानेके लिए जितना परिश्रम और जितना व्यय करना पड़ा, वहाँ घरमें सोना होने पर भी वह किसी काम नहीं आया। मिट्टीकी जगह तो मिट्टी ही काम आयेगी। आप सोनेके खेतमें गेहूँ-चावलकी खेती नहीं कर सकते।

आपके घरमें सोनेका जितना उपयोग है, उतना ही मिट्टीका उपयोग है। आप ध्यान देकर देखेंगे,

किसीको बहुत प्रिय समझेंगे, तो वह आपके जीवनमें एक अवरोध उत्पन्न करेगा। बृहदारण्यक उपनिषद्में यह प्रसंग आया है।

प्रियं त्वां रोत्स्यति। 1.4.8

यदि किसीसे तुम बहुत प्रेम करोगे, तो वह तुम्हें आगे बढ़नेसे रोक लेगा। तुम उसीके पास रुक जाओगे।

'रुध् धातु'से 'रोत्स्यति' अथवा रुद् धातु यह शब्द है। रुद्का अर्थ है रोना। यदि तुम संसारकी किसी भी वस्तुसे बहुत प्रेम करोगे, चाहे तो वह तुमको छोड़कर जायगा और चाहे तो उसको छोड़कर तुम्हें जाना पड़ेगा और अन्ततोगत्वा रोना ही हाथ लगेगा। इसलिए संसारमें प्रिय-अप्रिय बराबर ही सुख-दुःख देते हैं। अपनेको सावधान रखना चाहिए। ऐसी जगह हाथ मत डालो, जहाँसे निकाल न सको। तुल्य प्रियाप्रियो धीरः—यह बात कैसे होगी? मनुष्यको धीर होना चाहिए। यह भी गीताके आरम्भमें ही सुनाया गया—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ गीता 2.15

'धत्ते इति धीः।' धी शब्दसे रक् प्रत्यय होकर मत्वर्थमें धीर शब्द बनता है। धीर=धीयुक्त। आप बुद्धिमान बने रहिये। अपनेको सम्हालकर रखिये। धीर माने वह जो अपनेको सम्हालकर रखता है।

धियं राति इति धीरः। धियम् ईरयति इति धीरः।

रक् प्रत्यय हुआ तो धीर बन गया या ईरणसे धीर बन गया। धीर किसको कहते हैं? कि—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः। कुमारसम्भव 1.59

कालिदासका ही यह वचन है। सुन्दर खान-पान देखकर, विचलित न हो, सुन्दर वस्त्राभूषण देखकर विचलित न हो। किसीके शरीरका सौन्दर्य-माधुर्य देखकर विचलित न हो, विकारके हेतु उपस्थित होनेपर भी, क्रोध करनेका कारण होनेपर भी, दुःखी होनेका कारण होनेपर भी, सुखी होनेका कारण होनेपर भी, जिसका चित्त विकृत नहीं होता, उसको धीर कहते हैं—**तुल्यप्रियाप्रियो धीरः**

अब बाहरसे आनेवाली जो बातें होती हैं, उनकी ओर ध्यान खींचते हैं—**तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।**

मानापमानयोस्तुल्यः तुल्यो मित्रारिपक्षयोः। गीता 14.24
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ गीता 14.25
धीरः तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः। गीता 14.14

कोई निन्दा करता है, कोई स्तुति करता है। हमने तो एक ही वस्तुके बारेमें देखा है, उसको कोई अच्छा बताते हैं, तो कोई बुरा बताते हैं। चीज एक ही है। एक ही आदमीमें बारेमें कुछ लोगोंका ख्याल है कि यह बहुत अच्छा है, और कुछ लोगोंका ख्याल है कि यह बहुत बुरा है। सब लोग अपने-अपने भावके अनुसार, निन्दा और स्तुति करते रहते हैं। स्तुति सुनकर तो बड़ी प्रसन्नता होती है। तारीफ करे कोई 'को भल कहउ'। अपनी तारीफ करवानेके लिए तो लोग बड़े-बड़े श्रमके काम करते हैं। बड़ी-बड़ी युक्ति करते हैं कि हमारी

प्रशंसा किसी प्रकारसे हो। परन्तु विचार करके देखें, तो स्तुति सुननेसे अभिमानकी वृद्धि होती है और निन्दा सुननेसे आत्मनिरीक्षणका अवसर मिलता है।

अब आप देखो, यदि हम निन्दा करनेवालेके पीछे डण्डा लेकर दौड़े, तो बेवकूफी हो गयी। और निन्दा करनेवालेकी बात सुनकर हम अपनी ओर देखने लगे कि क्या सचमुच हमारे अन्दर यह दोष है, यह दुर्गुण है? तो वह निन्दा हमारे लिए कल्याणकारिणी हो गयी। कई लोग प्रशंसा सुनकर, स्तुति सुनकर ऐसे फूल जाते हैं कि उसको सच मान बैठते हैं। अपना दोष देखनेमें मुनष्यको निपुण होना चाहिए और दूसरेका गुण देखनेमें निपुण होना चाहिए।

निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिनु पानी, बिनु साबुने निर्मल करे सुभाय॥

निन्दक अपने पास रखना चाहिए। अपने आँगनमें उसके लिए जगह दे देनी चाहिए; क्योंकि वह साबुनका काम करता है। पैसा तो खर्च होवे नहीं और हमारी गलतियोंको बताता रहे।

आपने सुना होगा, परमहंस रामकृष्णके पास, दक्षिणेश्वरमें, जो रसोई बनानेवाला था, वह लोगोंके बीचमें, सार्वजनिक रूपसे परमहंसजीको पागल कहता था और 'दिनभर हुक्का गुड़गुड़ाता रहता है, पागल है, क्या जाकर उसके पास सत्संग करोगे?'—ऐसे बोलता था। और परमहंसजी निर्द्वन्द्व वैसे ही रहते थे। वह जिन्दगीभर उनके साथ रहा। क्या चित्तकी समता है!

दादूदयाल बैठकर शिष्योंको पढ़ा रहे थे। एक माता आयी और उसने गाली देना शुरू किया। शिष्य लोग देखने लगे। बोले, क्या देखते हो, पढ़ो तुम लोग। वह किसीको गाली देती होगी। वह पास आगयी। बोली—'मैं इसीको गाली देती हूँ।' अरे! इसने तो हमको देखा ही नहीं है। उसने आकर उनका सिर हिला दिया, इस दादूको गाली दे रही हूँ। उन्होंने कहा देखो तो, अन्नमय कोष तक तो देखती है यह। इसको अभी प्राणमय, विज्ञानमय, मनोमय, आनन्दमय—साक्षी आत्माका ज्ञान ही नहीं है। मुझको इसने कभी देखा नहीं तो मुझे क्या गाली देगी? आप अपनेको जितना जानते हैं, उतना तो दूसरे जानते ही नहीं हैं। यह दूसरी बात है कि आप अपने बारेमें न सोचें, आप अपने मनकी गंदगीको न समझें, अपने हृदयके दोषको न समझें। दूसरेके बारेमें समझें।

दूसरा ऐंचा-ताना हो तब भी दिख जाता है और अपनी आँखमें बड़ा-सा ढींढर हो, तब भी वह नहीं दिखायी पड़ता है। निन्दा करनेवाला बुरा है, ऐसा क्यों सोचते हैं? यह क्यों नहीं सोचते कि हमारे अन्दर जो दोष है वह बता रहा है या अब नहीं है, आगे होनेकी सम्भावना है, वह बता रहा है। यह तो हमारा कोई गुरु हो, कोई हमारा हितैषी है। इस जन्मका न सही, पूर्व जन्मका गुरु होगा। और दोष बताना गुरुका काम है। जो हमको स्वच्छ करना चाहता है, निर्मल करना चाहता है, जो हमारे जीवनमें कोई दोष नहीं देखना चाहता है, कहीं भी दाग हो और उसको वह धो देना चाहता है। निंदक तो वह काम करता है जो गुरु करते हैं। जीवन्मुक्ति-विवेकमें एक प्रसंग आया है—

****

मन्निन्दया यदि जनः परितोषमेति, नन्वप्रयत्नसुलभोऽयमनुग्रहो मे।

यदि मेरी निन्दा करके किसीको सुख मिलता है, ओ, हो! बड़ी खुशीकी बात है—मैं तो चाहता था कि इसको दस रुपया दें और यह खुश हो जाय। इसको कपड़ा दे दें, खुश हो जाय, दवा दे दें, खुश हो जाय और यह तो हमारे दोष देख-देखकर ही खुश हो रहा है। हमको तो कुछ करना ही नहीं पड़ा। यह तो हमारे दोष देख-देखकर खुश हो गया; क्योंकि दूसरेको खुश करनेके लिए बहुत कुछ करना पड़ता है।

शरीरं यदि निन्दन्ति सहायास्ते जना मम।

यदि शरीरकी निन्दा करते हैं तो क्या समझते हैं कि शरीर कोई बहुत अच्छा है? इस चामकी चिकनाईसे कोई अच्छा नहीं होता है! चामकी चिकनाई और रुक्षता कोई बहुत कीमती चीज नहीं है। असलमें तो शरीरको गन्दा देखकर अपनेको निर्मल आत्माके रूपमें देखना चाहिए। और आत्मा तो सबका एक ही है। निन्दा-स्तुतिका असर क्या है?

जीवन्मुक्ति-विवेकमें, जीवन्मुक्तके लक्षणमें यह बात आयी हुई है। अपनेको झटपट उबल नहीं जाना चाहिए। हर बातमें उखड़ नहीं जाना चाहिए, उत्तेजित नहीं हो जाना चाहिए। गंभीरतासे विचार करना चाहिए। और मान लो उसकी निन्दा झूठी है तो! झूठी है तब तो आपको हँसी आ जानी चाहिए या सहिष्णुता आपकी बढ़नी चाहिए। सच्ची हो तो आत्मनिरीक्षण करके वह दोष निकालना चाहिए और झूठी है तो आपको अपने अन्दर सहिष्णुताका गुण धारण करना चाहिए।

'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' 'मानापमानयोस्तुल्यः।' 'तुल्योमित्रारिपक्षयोः॥'

देखो, मनुस्मृति धर्मशास्त्रका ग्रन्थ है। हमको तो वहाँ पहले-पहले यह बात दृष्टिके सामने आयी—

'सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।' 2.162

जहाँ सम्मान मिले, वहाँ बुद्धिमान पुरुषको उद्विग्न होना चाहिए। जैसे कोई विष पिला रहा हो। क्योंकि सम्मान करनेवाला हमारे अभिमानको बढ़ाता है। और हमारे अभिमानकी वृद्धिमें जो हेतु होता है वह आगेके लिए दुःखकी सृष्टि करता है। यही साधककी पहचान है। यदि वह उन्नति करनेवाला है, तो सम्मानमें फँसेगा नहीं। उसको तो वहाँ पहुँचना है, जहाँ मान-अपमानकी पहुँच ही नहीं है। अपने उस स्वरूपका साक्षात्कार करना है, उस स्वरूपमें स्थित होना है। यदि वह सम्मान प्राप्त कर वहीं रह गया तो यह रुकावट आयी। और—

'अमृतस्येव चाकाङ्क्षेद् अवमानस्य सर्वदा।' मनु० 2.162

जो अपमान होता है उसका अभिनन्दन करें। कई महात्मा ऐसे हुए हैं जिन्होंने अपमानके कारण बहुत उन्नति की है। यहीं बंगालके हारणचन्द्र शास्त्री थे। सन् 42में ब्रिटिश सरकारने उनको महामहोपाध्यायकी पदवी दी। यहाँ उनके माँ-बाप नहीं थे। मामाके घरमें रहते थे। बहुत काम लेते थे वे। पढ़नेकी कोई सुविधा नहीं। वहाँसे भागकर अपने पिताके शिष्य एक बंगालके जज थे, उनके घरमें गये। जज साहबने और ब्राह्मणोंको 5-5 रुपये दक्षिणा दी—उनको दो रुपया दिया। बोले, हमको दो ही क्यों दिया जबकि सबको पाँच-पाँच दिया?

****

****

दस वर्षकी उम्र थी। बोले, तुम भी पढ़-लिखकर जब बड़े होओगे तब तुम्हें पाँच रुपया मिलेंगे, अभी तो तुम अनपढ़ हो। जज साहबके घरसे भी भगे।

रास्तेमें एक मुसलमान मिला। उसने कहा—तुम भूखे हो, प्यासे हो, आओ भोजन करो! बोले, मैं ब्राह्मण हूँ, मुसलमानके घरका नहीं खा सकता। उसने अहीरसे दूध मँगवाया, कँहारसे पानी मँगवाया। उनके लिए सब तैयारी करके खीर पकाकर खिलायी और यहाँसे किराया देकर उनको बनारस भेज दिया। वहाँ जाकरके उन्होंने शिवकुमार शास्त्रीसे अध्ययन किया। व्याकरणके विद्वानोंमें, एक नम्बरके मान्य विद्वान् हो गये। वह पाँच रुपये और दो रुपयेका फर्क उनके दिलमें खटक गया। बड़ी उन्नतिका हेतु हुआ। स्वयं शिवकुमार शास्त्रीजी महाराज भैंस चराते थे। भैंस किसीके खेतमें चली गयी। चाचाने आकर उनको चपत मारा। तू पाणिनि, पतञ्जलि बनना चाहता है? भैंस नहीं देखता, किताब देख रहा है? सोलह वर्षकी उम्रमें वे ऊँदी नामके गाँवसे निकले। काशीसे थोड़ी दूर पर था। उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि मैं अब तबतक घर लौटकर आऊँगा ही नहीं जबतक पातञ्जलि और पाणिनिके समकक्ष विद्वान् नहीं हो जाऊँगा। और सचमुच वे दूसरे पाणिनि, दूसरे पतञ्जलिके समान विद्वान हो गये। अपमान हानिकारक नहीं होता है। उससे लाभ उठानेकी विद्या-बुद्धि होनी चाहिए। देखो, मानमें भी दोष है, यदि आदमी फँस गया। अपमानमें भी दोष है, यदि चिढ़कर उसकी प्रतिक्रियामें लग गया। यह तो दोनों झटककर फेंक देने लायक हैं। अपने रास्तेमें, अपने लक्ष्यकी ओर चलो। न सम्मानमें फँसो, न अपमानसे लड़ो। निकलते जाओ, निकलते जाओ, आगे बढ़ते जाओ—

मानापमानयोस्तुल्यः।

ये दोनों भगवान्ने बराबर तौलकर बनाया है। भक्त लोग तो कहते हैं कि यदि भक्ति करनेमें खूब अपमान हो और भगवान्का भजन होता रहे, आँख बन्द कर—

सम्मानं कलयातिघोर-गरलं नीचापमानं सुधा,
श्रीराधामुरलीधरौ भज सखे वृन्दावनं मा त्यज।

हमारे स्वामी प्रबोधानन्दजी सरस्वती अपने वृन्दावन महिमामृतमें बोलते हैं—

भातृ पिष्ठलते तले विटपिनाम्। 1.48

मेरे प्यारे भाई एक पेड़के नीचे मत रहा करो। नहीं तो यह मेरा पेड़ है, मेरा रहनेका पेड़ है, ऐसा भाव मनमें आ जायेगा। अलग-अलग पेड़के नीचे रहो। और एक गाँवमें भिक्षा मत करो। भिन्न-भिन्न गाँवोंमें भिक्षा करो। और पानी किसीसे माँगकर मत पीओ। यमुनाजीमें पी लिया करो। और जो लोग नया कपड़ा पहनते हैं, उसमें-से चार अंगुल निकाल देते हैं, उसकी लंगोटी बनाकर पहनो और सम्मानको समझो जहर और अपमानको समझो, अमृत! राधा-माधव! राधा-माधव! श्रीराधामरण-श्रीराधाबल्लभ, निकुंजविहारी प्रभुका ध्यान करो, चिन्तन करो, वृन्दावनमें रहो। भक्तोंके लिए तो अपमान जो है, वह संसारमें मोहसे छुड़ानेवाला है। तत्त्वज्ञानियोंके जीवनमें ऐसा हम देखते हैं। साधारण लोगोंकी समझमें यह बात आनेकी नहीं

****

दस वर्षकी उम्र थी। बोले, तुम भी पढ़-लिखकर जब बड़े होओगे तब तुम्हें पाँच रुपया मिलेंगे, अभी तो तुम अनपढ़ हो। जज साहबके घरसे भी भगे।

रास्तेमें एक मुसलमान मिला। उसने कहा—तुम भूखे हो, प्यासे हो, आओ भोजन करो! बोले, मैं ब्राह्मण हूँ, मुसलमानके घरका नहीं खा सकता। उसने अहीरसे दूध मँगवाया, कँहारसे पानी मँगवाया। उनके लिए सब तैयारी करके खीर पकाकर खिलायी और यहाँसे किराया देकर उनको बनारस भेज दिया। वहाँ जाकरके उन्होंने शिवकुमार शास्त्रीसे अध्ययन किया। व्याकरणके विद्वानोंमें, एक नम्बरके मान्य विद्वान् हो गये। वह पाँच रुपये और दो रुपयेका फर्क उनके दिलमें खटक गया। बड़ी उन्नतिका हेतु हुआ। स्वयं शिवकुमार शास्त्रीजी महाराज भैंस चराते थे। भैंस किसीके खेतमें चली गयी। चाचाने आकर उनको चपत मारा। तू पाणिनि, पतञ्जलि बनना चाहता है? भैंस नहीं देखता, किताब देख रहा है? सोलह वर्षकी उम्रमें वे ऊँदी नामके गाँवसे निकले। काशीसे थोड़ी दूर पर था। उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि मैं अब तबतक घर लौटकर आऊँगा ही नहीं जबतक पातञ्जलि और पाणिनिके समकक्ष विद्वान् नहीं हो जाऊँगा। और सचमुच वे दूसरे पाणिनि, दूसरे पतञ्जलिके समान विद्वान हो गये। अपमान हानिकारक नहीं होता है। उससे लाभ उठानेकी विद्या-बुद्धि होनी चाहिए। देखो, मानमें भी दोष है, यदि आदमी फँस गया। अपमानमें भी दोष है, यदि चिढ़कर उसकी प्रतिक्रियामें लग गया। यह तो दोनों झटककर फेंक देने लायक हैं। अपने रास्तेमें, अपने लक्ष्यकी ओर चलो। न सम्मानमें फँसो, न अपमानसे लड़ो। निकलते जाओ, निकलते जाओ, आगे बढ़ते जाओ—

मानापमानयोस्तुल्यः।

ये दोनों भगवान्ने बराबर तौलकर बनाया है। भक्त लोग तो कहते हैं कि यदि भक्ति करनेमें खूब अपमान हो और भगवान्का भजन होता रहे, आँख बन्द कर—

सम्मानं कलयातिघोर-गरलं नीचापमानं सुधा,
श्रीराधामुरलीधरौ भज सखे वृन्दावनं मा त्यज।

हमारे स्वामी प्रबोधानन्दजी सरस्वती अपने वृन्दावन महिमामृतमें बोलते हैं—

भातृ पिष्ठलते तले विटपिनाम्। 1.48

मेरे प्यारे भाई एक पेड़के नीचे मत रहा करो। नहीं तो यह मेरा पेड़ है, मेरा रहनेका पेड़ है, ऐसा भाव मनमें आ जायेगा। अलग-अलग पेड़के नीचे रहो। और एक गाँवमें भिक्षा मत करो। भिन्न-भिन्न गाँवोंमें भिक्षा करो। और पानी किसीसे माँगकर मत पीओ। यमुनाजीमें पी लिया करो। और जो लोग नया कपड़ा पहनते हैं, उसमें-से चार अंगुल निकाल देते हैं, उसकी लंगोटी बनाकर पहनो और सम्मानको समझो जहर और अपमानको समझो, अमृत! राधा-माधव! राधा-माधव! श्रीराधामरण-श्रीराधावल्लभ, निकुंजविहारी प्रभुका ध्यान करो, चिन्तन करो, वृन्दावनमें रहो। भक्तोंके लिए तो अपमान जो है, वह संसारमें मोहसे छुड़ानेवाला है। तत्त्वज्ञानियोंके जीवनमें ऐसा हम देखते हैं। साधारण लोगोंकी समझमें यह बात आनेकी नहीं

है। ब्रह्माजीके पुत्र थे ऋभु। उनको एक ब्राह्मणने एक दिन भिक्षा करायी। जैसे सनक, सनन्दन हैं, नारदजी हैं, ऐसे ही ये ब्रह्माके पुत्र हैं। परन्तु ज्ञाननिष्ठ हैं। भिक्षा करायी, उसने आग्रह किया तो उसको उन्होंने एक मार्ग बता दिया।

ऋभुजीका वचन है—

तस्माच्चरेत् वै योगी सतां मार्गमदूषयन्।
जना मयावमन्येरन् गच्छेयुर्नैव संगतिम्॥ विष्णु पु. 2.13.43

लोगोंको इतनी आदर-बुद्धि न हो जाय कि हमेशा उसको घेरकर रखें, भजन-पूजन न करने दें—आत्मचिन्तन न करने दें। ऐसे अलमस्त रहना चाहिए।

मानापमानयोस्तुल्यः तुल्योमित्रारिपक्षयोः।

अरि कौन? जो हाथमें चक्र लेकर मारनेवाला है जिसमें अरे होते हैं। जंगलमें जो लोग आदिवासी होते हैं, उनके पास ऐसे अरे होते हैं। अभी तक, जो किसीको मारनेके लिए चलाते हैं, कई जगह टेढ़े-मेढ़े होते हैं। तो कहाँ-कहाँ वह टेढ़ा होगा और अपने लक्ष्यको मारकर घूमेगा और फिर उसके हाथ में आ जायेगा। पहले जैसे पुराणोंमें बाणोंके लौटनेका वर्णन आता है, आदिवासियोंके पास अभी तक ऐसी विद्या शेष है कि उनका फेंका हुआ जो शस्त्र है, वह लौटकर उनके पास अपने आ जाता है।

मित्र कौन? जो स्नेहसे अपनेको तर करे। मेद्यनि इति मित्रम्। और 'न राति'—जो सम्मान न दे, स्तुति न करे—अनादर करे, उसको बोलते हैं 'अरि'। दोनोंके दो पक्ष हो जाते हैं। देखो, लोकतन्त्रमें दो पक्ष रहना आवश्यक मानते हैं। अगर दो पक्ष न हों तो एक ही पार्टीके लोग दो पक्ष बनाकर कोई खण्डन करते हैं, कोई मण्डन करते हैं। दोनों पक्षका होना आवश्यक है, जो हमारा गुण भी बताये और उसका सदुपयोग हो और जो हमारा दोष भी बतायें और उसकी निवृत्ति हो। दोनों ही हमारे जीवनके लिए शोधक होते हैं। दुश्मनसे द्वेष मत करो, ईर्ष्या मत करो, स्पर्धा मत करो, वह तो तुम्हारा शोधन करनेके लिए है। यदि एक चीज रुक्षताको मिटानेवाली हैं, तो एक चीज चिकना करनेवाली है। इस बातका ध्यान रखना चाहिए। इसमें बुद्धिका ही फेर होता है।

सबकी बातसे लाभ उठाया जा सकता है और सब क्रियासे लाभ उठाया जा सकता है। सबसे हास्यरसका अनुभव किया जा सकता है। और सबसे बीभत्स और करुणरसका भी अनुभव किया जा सकता है। किसके शरीरमें बीभत्सका अनुभव करनेके लिए गंदगी नहीं है। और किसके शरीरमें गुण नहीं है पारसमणिमें एक प्रसंग आया है आगे गुरु, पीछे शिष्य जा रहे थे। शिष्यने गुरुजीसे कहा—'गुरुजी इस रास्तेसे मत चलिये, देखिये, वह कुत्ता मरा पड़ा है, दुर्गन्ध आ रही है। जरा इसको छोड़कर दूसरे रास्ते चलिये। गुरुजी बोले—देखो तो सही, उसके दाँत कैसे सफेद-सफेद चमक रहे हैं। उसने पूर्व-जन्ममें कोई पुण्य किया होगा, तब उसको इतने स्वच्छ, शुद्ध, निर्मल दाँत मिले होंगे, चलो उसके पाससे चलें। जो आज सुगन्ध है, वही कल दुर्गन्ध हो जायगी। आप अपने शरीरमें इत्र लगायें, सेंट लगायें। हमको तो सेंटकी गन्धसे जुकाम हो जाता है।

लेकिन आज जो सुगन्ध है उसको शरीरमें-से छुड़ाओ मत तो देखो, कल दुर्गन्ध हो जाती है। जिस आदमीको आप अच्छा समझकर उसके गुलाम बन जायँ, तो कल आपको सताना शुरू कर देगा। यह सृष्टिका नियम है। इसलिए—

तुल्यो मित्रारिपक्षयोः सर्वारम्भपरित्यागी।

जरा बात यह कड़वी है—सर्वारम्भपरित्यागी। ये आरम्भ जो किये जाते हैं—जैसे बड़े-बड़े यज्ञ-याग, उत्सव चन्देसे जो होते हैं, जिनके लिए बहुत यत्न करना पड़ता है। अब चन्देके पैसेसे जो यज्ञ होता है, उसका फल पैदा होकर चारों ओर ढूँढता है कि हम किसको मिलें? गणान्न, गणिकान्न और राजान्न—इन तीनोंको धर्मशास्त्रमें एक कोटिमें माना है। वेश्याका अन्न, चन्देका अन्न और राजाका अन्न। राजाके अन्नमें जुर्माना और टैक्स ये दोनों मिले रहते हैं। गणान्नमें भाव-दुर्भाव दोनों मिले रहते हैं।

ये जो क्षेत्रोंमें रोटी बँटती है (आप लोग बुरा मत मानना; क्योंकि इस बातमें हम आपसे ज्यादा अनुभवी हैं) पहले हमारे गुरुजनोंने मना कर दिया-कभी क्षेत्र में रोटी मत खाना। एक गृहस्थके घरमें-से रोटी माँगकर खाओ। क्यों महाराज, इसमें क्या है? इसमें दुर्भाव रहता है। किसीके घरमें कोई प्रायश्चित होता है, कोई श्राद्ध होता है, कोई मर जाता है, मरे हुएके हाथसे छुआकर क्षेत्रमें भेज देते हैं। यह चन्देसे जो काम होता है, वह भले लोकोपकारी हो, वैसे करना चाहिए। आप धर्मशाला बनवाइये, औषधालय खोलिये—वह सब ठीक है। लेकिन ये जो स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिए यज्ञ-याग होते हैं—वे असलमें तो स्वर्गके लिए होते भी नहीं हैं। होते हैं डौंडी बजानेके लिए कि लोग इकट्ठे हों। उनका उद्देश्य—एक पार्टी या पार्टीमें भी एक ही आदमीका स्वार्थ मुख्यरूपसे रहता है।

हमारे साधुओंने एक बार एक ब्राह्मणके आमन्त्रण पर भोजन कर लिया था। दण्डी स्वामी लोग थे। गढ़मुक्तश्वेर में स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज ठहरे हुए थे। दस-बारह दण्डी थे उनके साथ। एक ब्राह्मणने आमन्त्रित किया और सब लोग भोजन करने चले गये। अब उसने भोजन तो खूब बढ़िया कराया ही, दक्षिणा भी दी और वस्त्र भी दिये। जब लौटकर आये तब स्वामीजीने पूछा—अरे वह तो दरिद्र है। इतना रुपया और इतना कपड़ा वह देगा कहाँसे? अब महाराज, तुरन्त आदमीने जाकर पता लगाया तो मालूम हुआ कि एक वेश्याने इसी कामके लिए कि दण्डियोंको हमारी ओरसे भोजन कराओ, दिया था। अब तो प्रायश्चित करो। सब लोगोंसे प्रायश्चित करवाया गया। यह जो गणान्न है, गणिकान्न है, राजान्न है, इनसे बड़े-बड़े काम आरम्भ किये जाते हैं और इसमें भी सार्वजनिक प्रशंसा, स्तुति, यश और कीर्ति प्राप्त करनेकी वासना भरी रहती है। ऐसे आरम्भसे बचना चाहिए। अपनी ओरसे जितना भी धर्म करना हो, करना चाहिए। अपना सर्वस्व दान कर दो।

रामचन्द्रने इतना दान किया था कि उनके पास पहननेके पीताम्बरके सिवाय और जानकीजीके पास सौभाग्य-चिह्नके आभूषणके सिवाय, दूसरा कोई आभूषण नहीं रह गया था—भागवतमें यह बात है। रघुने इतना बड़ा दान किया था, उनके घरमें ब्राह्मणका पाँव धोनेके लिए कोई धातु-पात्र नहीं था, मिट्टीके पात्रमें

उन्होंने धोया था। आप खूब दान कीजिये। खूब उदार रहिये। लेकिन यह जो दूसरोंसे माँग-माँगकर स्वयं स्वर्ग पाना चाहते हैं, वह असलमें लौकिक विशेषता ही प्राप्त करना चाहते हैं और उसका फल, अगर होता भी है तो वह केवल सांसारिक होता है। हृदयको पवित्र करनेवाला नहीं होता। सबसे बड़ा स्वर्ग हमारे हृदयमें है, वैकुण्ठ हमारे हृदयमें है, भगवान् हमारे हृदयमें हैं, आत्मा-परमात्मा हमारे हृदयमें हैं—बड़े-बड़े आरम्भ न कर, ऐसा धर्म करो, जिससे हमारे आत्माके शुद्ध स्वरूपपर जो परदा पड़ा हुआ है, वह फट जाय—

सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।

पर गुणातीत होनेका उपाय क्या है? हम क्या करें? तो तमोगुण, रजोगुण, सत्त्वगुणकी आसक्तिसे, बन्धनसे, बन्धन माने रस्सीका बन्धन नहीं, अपने मनका लगाव, अपने मनका बन्धन—जो सत्त्व, रज, तममें हमारे मनका बन्धन है, उनमें हम न फँसें, इसके लिए क्या उपाय है? क्या साधन है? कैसे रहें? तो हम बिना फँसावके जी सकते हैं, यह बात आपको कल सुनायेंगे!

•

विश्राम दिवस

24.11.85

निवेदन

आज समापनका दिन है। कार्यक्रम इस प्रकार है कि आभार ज्ञापन, इन कार्यक्रमोंके संयोजक श्रीश्रीकान्तजी मन्त्री, प्रस्तुत करेंगे। बड़े ही सौम्य, बड़े ही गम्भीर कार्यकर्ता हैं श्रीकान्तजी मन्त्री। उसके बाद महाराजश्रीका प्रवचन होगा ही। उपसंहार—प्रवचनके रूपमें ही हो गया है। समापनके बाद श्रीविनयबापना एक भजन कहेंगे। जबतक महाराजश्री अपने स्थानसे न उठें तबतक आप भी अपने स्थानपर विराजमान रहें—धन्यवाद!

श्रीकान्त मन्त्री

परम श्रद्धेय महाराजश्री एवं श्रद्धालु श्रोतागण! आज इस दस दिवसीय प्रवचनके समापनके अवसरपर मैं बिरला अकादमी ऑफ आर्ट एण्ड कल्चर, संगीत कला मन्दिर, एवं संगीत कला मन्दिर ट्रस्टकी ओरसे परम श्रद्धेय महाराजश्रीको शत-शत प्रणाम करता हूँ। जिन्होंने हर वर्षकी भाँति इस वर्ष भी हमारा निमन्त्रण स्वीकारकर इस कार्यक्रमके लिए यहाँ पधारनेकी महती कृपा की। विगत 9 दिनोंमें परम श्रद्धेय महाराजजीने प्रश्नोत्तर एवं प्रवचनके माध्यमसे त्रिगुणामयी सृष्टिकी जो विवेचना हमारे लिए की यह सचमुच विलक्षण है। इस विवेचनाके फल स्वरूप हम यह जान पाये कि समय, स्थिति एवं स्थानके अनुरूप गुण बदलते रहते हैं। महत्त्व स्वयं गुणोंका ही नहीं, बल्कि उनके लक्ष्य एवं उद्देश्यका अधिक है। गुणातीतकी स्थिति, त्रिगुणसे अलग या विमुख होनेकी नहीं, बल्कि तीनों गुणोंसे सही समन्वयसे उत्पन्न, सच्चिदानन्द स्वरूप है। गुणातीत होनेके साधनोंको भी महाराजजीने बड़े ही सरल एवं सहज रूपसे हमें समझाया है।

जब मनुष्यका मन अपनी इन्द्रियोंकी क्रिया, प्रक्रियासे विलग एवं तटस्थ हो जाय तब वह अनासक्त हो जाता है। फलस्वरूप सांसारिक क्रिया-कलापोंकी प्रतिक्रिया, उसके मनपर नहीं होती और वह गुणातीत हो जाता है। परम श्रद्धेय महाराजजीका हमपर सदा ही अनुग्रह रहा है। इस वर्ष तो पूर्णतया स्वस्थ न होते हुए भी यहाँ पधारकर हम सबको ज्ञानका प्रकाश देकर लाभान्वित किया। हमारी ईश्वरसे प्रार्थना है कि वह महाराजजीको स्वस्थ रखे और दीर्घायु करे, जिससे हमें आपके प्रवचनका अमृतपान निरन्तर मिलता रहे। हम आशा करते हैं कि अगले वर्ष भी, इसी समय परम श्रद्धेय महाराजजीके प्रश्नोत्तरका पुनः आयोजन करें। अन्तमें मैं एक बार पुनः परम श्रद्धेय महाराजजीके प्रति आप सबकी ओरसे हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ और इनसे आजका उपसंहार आरम्भ करनेका निवेदन करता हूँ।

प्रवचन : 10

महाराजश्री

अनजानमें अज्ञानसे हम त्रिगुणके साथ मिल गये हैं। कभी आलस्य, प्रमाद, निद्रासे मूढ हो जाते हैं—यह तमोगुण है। माने हम अपने मैंको आलस्य, निद्रा प्रमादके साथ एक कर देते हैं। कभी लोभ-कर्म-प्रवृत्ति, अशान्ति, तृष्णा आदिके वेगके साथ अपनेको मिला देते हैं और उन्हींको अच्छा समझकर उसमें डूब जाते हैं। कभी सुख मिलता है, प्रकाश होता है, तो हम अपने मैं को उसके साथ मिला देते हैं।

चौदहवें अध्यायमें पहले विवेकके द्वारा इन अवस्थाओंसे अपने अलग स्वरूपको समझनेका आदेश, उपदेश, संदेश दिया है। इसीको उपनिषद् कहते हैं, और यह बताया कि—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।

विचार-दृष्टिका उदय हो जानेपर, विवेक-दृष्टिका उदय हो जानेपर जब द्रष्टा यह देखने लगता है कि गुणोंके अनुसार ये सब कर्म होते हैं और 'आत्मानं गुणेभ्यः पृथग् वेत्ति' आत्माको इन अवस्थाओंसे इन गुणकी वृत्तियोंसे अलग अनुभव करता है, तब वह मुझसे एक हो जाता है। 'मद्भावं सोऽधिगच्छति'। परन्तु यह विवेक टिकाऊ तब होता है जब मनमें वैराग्य हो। वैराग्यके बिना विवेक निर्बल होता है, कमजोर होता है, हम समझते तो हैं कि इस समय हमको सोना नहीं चाहिए, आलस्य नहीं करना चाहिए, या तृष्णाके जालमें इतना नहीं फँसना चाहिए या हर समय यह ज्ञान और सुखकी स्थिति नहीं बनी रह सकती, तो इसके पीछे दुःखी होंगे। विवेकका उदय होनेपर यह समझमें तो आ जाता है परन्तु वैराग्य न होनेके कारण विवेकमें स्थिरता नहीं होती। माने वृत्ति टिकती नहीं है, दृष्टि बनती नहीं है। इसलिए गुणातीतके लक्षणके पहले विवेक और वैराग्यकी प्रधानतासे गुणातीत होनेका उपाय बताया और गुणातीतके लक्षणके अन्तमें भक्तिके द्वारा गुणातीत होनेका उपाय बताया। इसमें अन्तर क्या है? जैसे आप अज्ञानमें किसीके साथ मिल गये हैं, तो समझ-बूझकर आपको अलग कर लिया और उसके बाद आपकी दृष्टि ऐसी बदली कि जिससे आपने अपनेको अलग किया था उसमें भगवान्‌का दर्शन होने लगा। वेदान्तकी भाषामें इसको 'अन्वय' और 'व्यतिरेक' बोलते हैं।

पहले आप घड़ेसे अलग माटीको समझ लीजिये, मेज, कुर्सीसे अलग लकड़ी, लोहाको समझ लीजिये और उसके बाद यह माटी ही है, यह लकड़ी या लोहा ही है—उसमें जो समताकी बुद्धि है, उसको रख लीजिये। यहाँ भक्तिका अर्थ क्या है? सम्पूर्ण प्रपञ्चको भगवान्‌के रूपमें देखना। तभी आप अव्यभिचारी भक्तिसे युक्त योगी बन सकते हैं। नहीं तो कभी सत्त्वगुणमें गये, कभी रजोगुणमें गये, कभी तमोगुणमें गये—कभी उससे व्याह किया, कभी उससे व्याह किया—जैसे एक व्यभिचारी स्त्रीकी स्थिति हो जाय या एक व्यभिचारी पुरुषकी स्थिति हो जाय। स्त्रीको भी अव्यभिचारिणी होना चाहिए और पुरुषको भी अव्यभिचारी होना चाहिए।

इस प्रकार हमारे जीवनमें टिकाव कैसे आयेगा? जब सर्वत्र भगवद्-भक्ति हो जायेगी। 'मां च'का एक अर्थ तो यह है कि विवेक-वैराग्यके द्वारा आप अपनेको असंग रूपमें जान लीजिये। और 'मां च'में जो 'च' है उसका अर्थ यह हुआ कि भक्तियोगके द्वारा आप सबमें भगवान्‌को देख लीजिये। दोनों तरहसे समता आयेगी।

****

यदि आप अपनेको घड़ा, सिकोरा, खपरैल, सबसे अलग, असंग, साक्षी, आत्माके रूपमें जान लेंगे तो भी दृश्यमात्रमें समता हो जायगी। और यदि आप उसको भगवद्-रूपमें जान लेंगे, तब भी उससे असंगता हो जायेगी। 'मां च'का दूसरा अर्थ है, मामेव अन्वाचय और अवधारण—अवधारणका अर्थ है 'मां च' अर्थात् 'मामेव'। जो अव्यभिचारेण भक्तियोगेन, जो दिखे सो भगवान्। सब भगवान्‌का रूप है। सोता हुआ आदमी भी समाधिस्थ मालूम पड़े।

हमारे पितामह बताया करते थे कि बेटा कोई सो रहा हो तो देखो कि यह निश्चिन्त समाधिमें स्थित हो गया है—यदि बहुत आवश्यक न हो, उसकी कोई हानि न हो रही हो तो उसको जगानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अब उसको विद्याका अध्ययन करना है और सो रहा है, तो जगा दिया, कोई बात नहीं। उसको कहीं जाना है, ट्रेन छूट जानेका डर है तो उसको जगा देना चाहिए। लेकिन निश्चिन्त होकर वह निद्राके समय भी परमात्मासे एक हो रहा है; क्योंकि—

सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति। छान्दोग्य 6.8.1

निद्राके समय वह आत्मा, परमात्मासे एक हो जाता है।

न विदुः सति संपद्यामह। छान्दोग्य 6.9.2

उसको इस बातका पता तो नहीं चलता कि हम परमात्मासे एक हो गये। परन्तु निर्विकार, निश्चिन्त परमात्मासे एक हो जाता हैं। कोई सोया भी हो तो वह परमात्मामें स्थित है। कोई लोभ, तृष्णाके वश होकर भाग-दौड़ कर रहा हो, वह भी अनजानमें—**तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।**

सुखस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिके लिए ही व्याकुल होकर जा रहा है। उसमें दोष-बुद्धि नहीं करनी चाहिए और यदि कोई ज्ञानमें, सुखमें आसक्त हो, देखो, उसको इसीके रूपमें परमात्मा मिल रहे हैं। 'अव्यभिचारेण भक्तियोगेन'का अर्थ है जहाँ देखो, वहाँ परमात्माका ही दर्शन हो रहा है। शाण्डिल्य-भक्तिदर्शनकी व्याख्यामें, भाष्यकार स्वप्रेश्वरने कहा कि आत्मा ब्रह्म है, यह तो हम मानते हैं, परन्तु यह जो वेदान्ती कह देते हैं कि जगत् आत्मा नहीं है, यह उनका अधूरापन है। क्योंकि परमात्मा तो अद्वितीय है, दूसरा कोई है नहीं।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म। (छान्दोग्य 3.14.1)
सद्धीदं सर्वम्। चिद्धीदंसर्वम्। (नृसिंह उत्तर 7-8)
स एवेदं सर्वम्। ब्रह्मैवेदं सर्वम्। (बृहदा० 5.3.1)
आत्मैवेदं सर्वम्। (छा० 7.25.2)
अहमेवेदं सर्वम्। (छान्दोग्य 5.2.6)

केवल गुणातीत हो जाना या असंग हो जाना या विवेक-वैराग्य सम्पन्न हो जाना, इतना ही पर्याप्त नहीं है। बल्कि यह जो उपाधि है, जिसके कारण संसार दिखता है, अपने अन्त:करणकी उपाधि भी, इन्द्रियोंकी उपाधि भी और विषयोंकी उपाधि भी—यह सब परमात्म-स्वरूप हो जायँ, क्योंकि परमात्माके अतिरिक्त तो और कुछ है ही नहीं। तो ये कैसे होंगे? तो ये भक्तियोगके द्वारा होंगे, जब आप सबमें भगवान् देखेंगे।

****

****

आप किसी एक नामको पकड़िये, एक रूपको पकड़िये, और नाम-रूपको पकड़कर एक नामको परमात्माके रूपमें पहचानिये। सब नाम परमात्मा हो जायेंगे। एक रूपको परमात्माके रूपमें पहचानिये, तो सब रूप परमात्मा हो जायेंगे। इसको बोलते हैं—'स्थालीपुलाक-न्याय'। जब बटलोईमें भात पकाते हैं तो एक-एक चावलको उठा-उठाकर देखें कि यह पक गया है कि नहीं, ऐसा तो नहीं हो सकता। चम्मचके अगले या पिछले भागसे दो-चार चावल उठा लेते हैं और उनको देख लेते हैं कि पक गये हैं! हाँ ठीक है, अब इनमें अभिमानकी कणिका नहीं है? बस दो-चार चावल पके हैं तो सब पक गये। इसी प्रकार आप कहीं एक नाममें, एक रूपमें भगवान्‌को पहचान लीजिये तब आप देखेंगे कि जैसे एक घड़ा मिट्टीका है, वैसे सब घड़े मिट्टीके हैं। उपाधियोंको भी माने अपने अन्त:करण, इन्द्रिय शरीर और विषय सहित, सम्पूर्ण प्रपंचको भी, जब आप परमात्माको पहचान लेंगे तो अव्यभिचारी भक्तियोग हो जायगा। माने परमात्माके सिवाय दूसरी किसी वस्तुसे प्रीति या भक्तिका कोई प्रश्न ही नहीं रह जायगा। आप एक बार, एक रूपमें, एक नाममें परमात्माको पहचानिये। परमात्माका स्मरण करते ही, स्फुरण होते ही, आँखोंमें आँसू आजाये, शरीरमें रोमाञ्च हो जाय, कण्ठ गद्‌गद हो जाय, हृदय रससे, तृप्तिसे भर जाय—आपका यह व्यक्तिगत जीवन परमात्मासे परिपूर्ण हो जाय—

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत।

सर्वके रूपमें परमात्माको जाना और सर्वके रूपमें ही परमात्माका भजन करने लगे—ये भी भगवान्, ये भी भगवान्, ये भी भगवान् जब सब भगवान् ही हैं, भगवान्‌के सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, तो भक्तियोगमें जो व्यभिचार है, वह निवृत्त हो जायगा। व्यभिचार क्या है? परमात्माको न पहचानकर किसीसे प्रीति करना। यही व्यभिचार है। आप इस बातको ध्यानमें लो।

एक राजकुमारसे विवाहका दिन तय हो गया था। समय निश्चित था। परन्तु उसी दिन शत्रुसे लड़ाई करनेके लिए उसे मोर्चे पर जाना पड़ा। अब विवाह कैसे हो? तो पहलेकी प्रथाके अनुसार तलवारकी नोकपर सिन्दूर रखकर उसने अपनी ससुराल भेज दिया और वह राजकुमारीके माँगमें डाल दिया गया।

बहुत दिनोंके बाद विजयी होकर राजकुमार लौटा और वह अपनी ससुरालमें गया। और ससुरालमें जाकर सैनिकके रूपमें कहीं सरायमें ठहरा। वहाँ पहले भी ऐसी प्रथा रही होगी कि इस गाँवमें सबसे सुन्दरी कौन है? ऐसी कुछ साँठ-गाँठ जुड़ी कि वही लड़की, जिसके माँगमें तलवारके द्वारा सिन्दूर डाल गया था, वह उसके पास लायी गयी। प्रेम-परस्पर, बातचीत हुई। लड़कीने अपना परिचय बता दिया कि पहले हमारा ब्याह हो गया था—तलवारके सिन्दूरसे परन्तु हमारे पति लौटकर आये नहीं!

अब उसे राजकुमारने बताया कि मैं वहीं हूँ जिससे तुम्हारा विवाह हुआ था। बस लड़की बेहोश होकर गिर गयी और मर गयी। यह क्या हुआ? उसने प्रेम तो अपने पतिके साथ ही किया था, किसी दूसरेके साथ नहीं किया था। उसके अन्दर बेहोशी कहाँसे आयी? उसने अपने पतिसे प्रेम किया था पर वह अज्ञात था। उसको यह मालूम नहीं था कि यह मेरा पति है। इसलिए उसके मनमें व्यभिचारकी वृत्ति आ गयी और वह व्यभिचारिणी हो गयी।

****

अब परमात्माको यदि हम पहचान लेते हैं कि सर्वरूपमें परमात्मा है, तो—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ गीता 14.26

गीतामें भक्तियोग शब्दका प्रयोग अनेक बार आया हुआ है और तेरहवें अध्यायमें भी—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिः अव्यभिचारिणी।

और चौदहवें अध्यायमें—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। गीता 14.26

अनन्य भावसे—

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत। गीता 15.19

परमात्माके स्वरूपको समझो। लिङ्गकी पूजा करो। मिट्टीके रूपमें परमात्माको समझो। शालग्राम शिला भी मृत्तिकाका ही एक भेद है। मिट्टी है। नर्मदा लिङ्गका पत्थर भी मृत्तिकाका ही एक भेद है। आप यदि शालग्राम शिलाके रूपमें अथवा नर्मदा-लिङ्गके रूपमें परमेश्वर पहचानते हैं तो जब आपकी बुद्धि स्वच्छ होगी तो आप पृथिवी मात्रको, पाषाणमात्रको परमेश्वरके रूपमें पहचान सकते हैं।

जलके रूपमें परमात्मा है—यदि कलशके जलको, गंगाजलको, पुष्कर-जलको आप परमात्माके रूपमें समझ सकेंगे तो जलमात्र ही परमात्मा है। यदि आप सूर्यमें, चन्द्रमामें, हीरेमें, मोतीमें परमात्माको समझ सकेंगे, दीपकमें परमात्मा देखकर, अग्निकुण्डमें, होम करते हुए यदि परमात्माको देख सकेंगे तो सब तेजोमय परमात्मा हो जायेगा। आप यदि प्राणमें परमात्माका अनुभव कर सकेंगे तो सम्पूर्ण वायुमें भी परमात्माका अनुभव कर सकेंगे। यदि हृदयाकाशमें परमात्माका अनुभव कर सकेंगे तो सम्पूर्ण महाकाशको भी परमात्माके रूपमें अनुभव कर सकेंगे। इसलिए आप कहीं एक स्थानमें, एक वस्तुमें, एक कालमें, अपनी एक भावनासे, निष्ठावान् होकर परमात्माका दर्शन कीजिये। आपके सारे दुःख मिट जायेंगे—

मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।
न व्यथन्ते।

जन्म और मृत्युका व्यष्टि और समष्टिरूप, जितना भी चक्र है वह सब छूट जायगा, अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा।

गुणातीत होनेका एक उपाय तो यह हुआ कि हम दृश्यमात्रसे अपने आपको विभक्त करके, अलग करके और वैराग्यके बलपर अपने स्वरूपमें टिक जायें। वस्तुतः स्वरूप निर्विकार ही है। परन्तु यदि विवेक और वैराग्यका बल नहीं है, तो आप भगवान्की भक्तिका आश्रय लीजिये। सबसे अलग करके सबको सम और एक कर देना, दूसरी बात है—मिथ्या कर देना दूसरी बात और सर्वके रूपमें परमेश्वरका अनुभव ही है। यह विराट् परमेश्वर है। हाँ, उसका एक अंग भी परमेश्वर है। जैसे बचपनमें हम अपने पितामहकी उँगली

पकड़कर चलते थे। वे हमको चलाते थे। जिस ओरसे सूर्यकी धूप आती थी उस ओर हमारे पितामह स्वयं खड़े होकर चलते थे और जिधर उनके शरीरकी छाया पड़ती थी, उस छायामें मुझे रखा करते थे।

आप इस वात्सल्यपर ध्यान दें। स्मरण हो आता है। अब कोई हमसे पूछता—तुम कैसे चल रहे थे? तो हम कहते—हम अपने बाबाको पकड़कर चल रहे थे। बाबा तो साढ़े तीन हाथके हैं, उनको कैसे पकड़ा? तुमने तो सिर्फ उनकी उँगली पकड़ी! उँगली पकड़ना भी बाबाको ही पकड़ना है। यह विराट्के अवयवमें, जो स्त्रीकी, पुरुषकी, पक्षीकी, मिट्टीकी, पानीकी जो मूर्ति है, ये सब-की-सब मूर्ति भगवान्की ही मूर्ति है। यह दादाकी ऊँगली नहीं है। यह साक्षात् दादा ही है। इस प्रकार जो मूर्तिपूजाका आश्रय लेकर या बिना आश्रयके, भगवान्के एक नामका आश्रय लेकर या बिना किसी आश्रयके किसी क्रियाका आश्रय लेकरके हाथ जोड़ना—यह क्रिया है अथवा बिना क्रियाके आश्रयके; शब्द बोलकर, अथवा बिना बोले, सर्वदेशमें, सर्वकालमें सर्वरूपमें परमात्माका साक्षात् अनुभव करता है, उसकी वृत्ति कभी व्यभिचारिणी होती ही नहीं। वहाँ केवल आत्मा ही ब्रह्म नहीं होता, वहाँ सम्पूर्ण प्रपञ्च ही ब्रह्म हो जाता है। आत्मा ब्रह्म अलग है और प्रपञ्च कुछ अलग है। यह भाव ही मिट जाता है।

स सर्वविद् भजति मां, सर्वभावेन भारत। गीता 15.19
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते।

उसके गुणोंमें गुण-बुद्धि ही नहीं रहती। उसकी जगत्में, जगत्-बुद्धि ही नहीं रहती। उसको प्रकृतिमें प्रकृति-बुद्धि ही नहीं रहती। यह तो सारा-का-सारा बुद्धिका फेर है। आप जानते ही हैं। हम सब मनुष्योंको देख रहे हैं, हमारे सामने बैठे हैं—स्त्री-पुरुषके रूपमें, परन्तु जब किसीको पहचान लेते हैं, तब मालूम पड़ता है, यह इनकी माँ हैं, यह इनका बेटा है, इनका बाप है, यह अमुक है, तमुक है। नहीं तो हैं सब-के-सब मनुष्य। मनुष्यत्व व्यापक है और व्यक्तित्व जो है माता, पिता, पत्नी, पुत्र, भाई, ये व्याप्य हैं। जैसे मनुष्यताके बिना कोई पत्नी, पुत्र आदि नहीं हो सकते। इसी प्रकार परमेश्वर व्यापक है। बिना परमेश्वर व्यापकताके कोई भी व्याप्य वस्तु हो नहीं सकती। इसलिए—

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते। गीता 14.26

'भू' धातुसे भाव अर्थमें क्यच् प्रत्यय हो जाता है, तब भूय शब्द बनता है।

ब्रह्मभूयाय कल्पते, ब्रह्मभावाय कल्पते।

ब्रह्मभावकी उसको प्राप्ति हो जाती है; ब्रह्म भावके योग्य हो जाता है। पहले भी कहा—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ गीता 14.19

और भक्तिके अन्तमें भी बताया—

ब्रह्मभूयाय कल्पते=ब्रह्मभावाय कल्पते।

ब्रह्म भवनके योग्य हो जाता है। माने ब्रह्म ज्ञानकी योग्यता उसके अन्दर आ जाती है। भगवान्से एक होनेकी योग्यता उसके अन्दर आजाती है। इसके बाद प्रश्न यह उठाया कि—होगा स्वयं असंग गुणातीत और भक्ति करेगा भगवान्की और हो जायगा ब्रह्म—भगवान्की भक्ति करेगा और हो जायेगा ब्रह्म। भगवान् तो सगुण हैं और ब्रह्म निर्गुण है। गुणातीत है। अद्भुत है यह गीताका खेल! स्पष्टरूपसे बारहवें अध्यायमें यह बात कही गयी—कि भक्ति करेगा ब्रह्मकी और मिलेंगे कृष्ण। कृष्णका 'माम्' मिलेगा, कृष्णका 'मैं' मिलेगा।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थम् अचलं ध्रुवम्।।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।। गीता 12.3-4

आप सर्वव्यापी, अव्यक्त, कूटस्थकी उपासना कीजिये। कैसे उपासना होती है? तीन बात बतायी। एक तो अपने इन्द्रियोंपर सम्यक् नियम हो। यही नहीं कि चाहे जो खा लिया, चाहे जो पी लिया, चाहे कैसे रह लिया। औचित्यका नियन्त्रण, धर्मका अपनी इन्द्रियोंपर नियन्त्रण रहना चाहिए। और 'सर्वत्र समबुद्धयः'। सबके प्रति बुद्धि समान होनी चाहिए।

उपासनाका दूसरा रूप हुआ। पहला रूप हुआ इन्द्रियोंपर—मनपर नियन्त्रण, उपासनाका दूसरा रूप हुआ, सर्वत्र समबुद्धि और उपासनाका तीसरा रूप हुआ, 'सर्वभूतहिते रताः'। सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हो। माने जान-बूझकर किसीका अहित न करें। 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव'। निर्गुण उपासनाके तीन रूप—'इन्द्रियोंका संनियमन', 'सर्वत्र समबुद्धि' और 'सर्वभूत हितमें रति' और फल क्या हुआ? श्रीकृष्णकी प्राप्ति। निर्गुणोपासना करो और श्रीकृष्णकी प्राप्ति हुई। और यहाँ बताते हैं कि मेरी अव्यभिचारिणी भक्ति करो और फल क्या हुआ? 'ब्रह्मभूयाय कल्पते।' ब्रह्म हो जायगा।

इसका अर्थ हुआ कि जो 'ब्रह्म' है वही 'माम्' है जो 'माम्' वही 'ब्रह्म' है।

योऽहं स एव ब्रह्म—यद् ब्रह्म स एवाहम्।

श्रीकृष्ण बोलते हैं—जो मैं हूँ वही ब्रह्म है, जो ब्रह्म है; वही मैं हूँ। ब्रह्म और मुझ आत्मामें कोई फर्क नहीं है। अर्जुनने तो कहा ही—**परं ब्रह्म परं धाम, पवित्रं परमं भवान्।**

परं ब्रह्म तुम ही हो—अर्जुनका यह वाक्य है। श्रीकृष्णने भी कहा—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। गीता 10.20

सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें एक आत्माके रूपमें स्थित मैं हूँ।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्यस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।। गीता 14.27

संसारके सब प्राणी ऐकान्तिक सुख चाहते हैं। सबके मनमें यह शुभ इच्छा रहती ही है कि हमको सुख-ही-सुख मिले! आप कहते होंगे कि हमको घर चाहिए, हमको धन चाहिए, हमको स्त्री चाहिए, हमको पुत्र

चाहिए। परन्तु आप धनके द्वारा, स्त्रीके द्वारा, घरके द्वारा, पुत्रके द्वारा सुख चाहते हैं। सुख सबका इष्ट, है, अन्तिम इष्ट है। माने सुख किसी दूसरेके लिए नहीं चाहा जाता है। हम धन चाहते हैं। किसके लिए? सुखके लिए। माने धनके लिए धन नहीं चाहते हैं, सुखके लिए धन चाहते हैं। स्त्री चाहते हैं—किसके लिए? सुखके लिए। पुरुष चाहते हैं। किसके लिए? सुखके लिए। परन्तु सुखके किसके लिए चाहते हैं? तो और जितनी भी इच्छाएँ संसारमें होती हैं, वह सुखकी इच्छाके अंगके रूपमें होती हैं। मूलभूत जो जीवनमें है, वह सुखकी इच्छा है। इसलिए—

अन्येच्छानधीन-इच्छा-विषयत्व।

सुखमें है। हम कुछ और पानेके लिए सुख नहीं चाहते है? सुख पानेके लिए सुख चाहते हैं। यह हुई सुखकी परिभाषा। दर्शनशास्त्रमें जब सुखकी परिभाषा करेंगे तो—

अन्येच्छानधीन इच्छाविषयत्व।

जो है वह सुखकी परिभाषा होगी। कितने दिनके लिए चाहते हैं? हमेशाके लिए। कहाँ-कहाँ चाहते हैं? सब जगह। किससे किससे चाहते हैं? सबसे। परिश्रमसे कि बिना परिश्रमसे? बिना परिश्रमसे; बहुत बढ़िया। अच्छा पराधीनता चाहते हैं कि स्वाधीनता? स्वाधीनता चाहते हैं, पराधीनता नहीं। अच्छा सुखको मालूम पड़ता हुआ चाहते हैं कि बिना मालूम पड़ता हुआ—मालूम पड़ता हुआ।

सुखस्यैकान्तिकस्य च।

यह एकान्तिक विषय है सबका। एकामात्र सुख ही सब चाहते हैं और उसको हर जगह चाहते हैं, हर समय चाहते हैं, हर वस्तुसे चाहते हैं, बिना परिश्रमके चाहते हैं, बिना पराधीनताके चाहते हैं और जगमग-जगमग, झिलमिल-झिलमिल करता हुआ, साक्षात् अपरोक्ष सुख चाहते हैं। इसकी प्रतिष्ठा कहाँ है? इसकी प्रतिष्ठा है परमात्मामें—**प्रति-तिष्ठति अस्याम् इति प्रतिष्ठा।**

उसीमें—वही एक वस्तु है, क्योंकि हमेशा वही रहेगी, हर जगह वही रहेगी, हरमें वही रहेगी, बिना परिश्रमके वही मिलेगी, बिना पराधीनताके वही मिलेगी और ज्ञान-स्वरूपसे वही मिलेगी, इसलिए जो लोग ऐकान्तिक सुख चाहते हैं और सब चाहते हैं, वे परमात्माको चाहते हैं। इस ऐकान्तिक सुखका पिण्डीकृत एकमें करके यदि इसका नाम बोलें तो परमात्मा होगा। अच्छाजी, चाहते तो हम सब हैं, यह बात सच्ची है, तब कैसे मिलेगा? 'शाश्वतस्य च धर्मस्य' जहाँ धर्मकी शाश्वत प्रतिष्ठा होगी वहीं इसकी प्राप्ति होगी।

शाश्वत धर्म क्या है? आप देख लो—जरा परमात्माकी ओर देखो! न कभी पैदा होता है न मरता है। परमात्माका धर्म है अजन्मा और अमर—'शाश्वतस्य च धर्मस्य।' चाहे परमात्माको कोई हाँ करे, चाहे ना करे, चाहे गाली दे, चाहे भला कहे, चाहे बुरा—कितना तितिक्षु है, कितना सहिष्णु है, कितना क्षमाशील है। साकार कहो, निराकार कहो, सगुण कहो, निर्गुण कहो, दूर कहो, पास कहो, काँपनेवाला कहो, निष्कंप कहो, 'तदेजति तन्नैजति'—उसके बारेमें चाहे जो बोलो, चाहे जो सोचो, चाहे जो करो, वह टस-से-मस नहीं होता है।

यह परमात्माका धर्म है। जब आपके अन्दर तितिक्षा आयेगी, सहिष्णुता आयेगी, क्षमा आयेगी तब अपने आप ही सत्य, अहिंसा, अस्तेय आपके जीवनमें आकर निवास करेगा। इसका नाम है, शाश्वत धर्म,

गीता-दर्शन

(13)

गीता अध्याय-15

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला

कृतकृत्यश्च भारत!

गीताका पन्द्रहवाँ अध्याय जगत्, जीव, ईश्वर और जीवके लिए ईश्वरकी प्राप्तिका साधन—इनका संक्षेपमें सम्पूर्णरूपसे वर्णन करता है और अन्तमें ज्ञान और कर्म दोनोंकी पूर्णता बताता है। बुद्धिमान् होना और कृतकृत्य होना—यह दोनों पन्द्रहवें अध्यायकी फलश्रुति है।

कर्मयोगी श्रीघनश्यामदास बिरलाने अपना सम्पूर्ण जीवन ज्ञान और कर्मके अनुष्ठान और अनुशीलनमें ही व्यतीत किया। उनके आशीर्वाद और प्रेरणासे उनके पुत्र श्रीबसन्तकुमार बिरला, श्रीमती सरला बिरला एवं उनकी परम्परामें ही उनका प्रभाव स्पष्ट देखनेमें आता है। हम हृदयसे चाहते हैं कि बिरलाजीका यह प्रभाव, प्रेरणा और आशीर्वाद हमेशा इस वंश-परम्परामें बना रहे और ईश्वरके प्रति भक्ति, सदाचार एवं तत्त्वज्ञानके प्रति ऐसी ही अभिरुचि बनी रहे। ईश्वरकी कृपासे सर्वदा इस परिवारके सार्वधिक् उन्नति होती रहे-यही शुभ कामना है।

वृन्दावन
29-7-1987

अखण्डानन्द सरस्वती

****

निवेदन

पूज्य स्वामीजी महाराज, सत्संग-प्रेमियों,

गोस्वामी तुलसीदासजीकी एक अमर पंक्तिसे मैं अपनी बात प्रारम्भ करूँ 'बिनु हरिकृपा मिलहि नहिं सन्ता' प्रभुकी यह अनन्त कृपा है कि हम प्रभातकी इस अमृत-बेलामें पूज्य महाराजश्री अखण्डानन्दजीका, एक ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रियका दर्शन कर रहे हैं, उनकी अनुभूत वाणीका श्रवण कर रहे हैं। जो वाणी भगवद्वाणीको हमारे सामने साकार कर रही है।

श्रीमद्भगवद्गीता केवल ग्रन्थ नहीं है। वह भगवान्की वाङ्मयी काया है। भगवान्का दिव्य अक्षरोंमें अवतरण है। आज हम गीताके पन्द्रहवें अध्यायके जिज्ञासु हैं। पुरुषोत्तमयोगके श्रवणके आकांक्षी। गीताके इसी एक अध्यायको शास्त्र कहा गया है। यह भगवान्के शब्दोंमें गुह्य नहीं; गुह्यतर नहीं, गुह्यतम शास्त्र है, जिसमें क्षरका, जगत्का, जिसमें अक्षरका-सनातन अंशभूत जीवका एवं पुरुषोत्तमका गम्भीर विवेचन है—भक्तिसे परिप्लुत और ज्ञानसे आलोकित। इसी गुह्यतम शास्त्रकी सरलतम व्याख्या सुननेका हमें परम सौभाग्य प्राप्त हो रहा है।

पूज्यश्री महाराजजीका स्वास्थ्य इन दिनोंमें ठीक नहीं है फिर भी वे अपने सब भक्तोंको आशीर्वाद देने स्वयं जाते हैं। हम सब उनके उत्तम स्वास्थ्य एवं दीर्घायुके लिए ईश्वरसे प्रार्थना करें। महाराजश्रीके चरणोंमें प्रणति निवेदन करती हुई एवं आप सभी सहृदय धर्मानुरागी बन्धुओं एवं बहनोंका हार्दिक स्वागत करती हुई मैं हर्षित हो रही हूँ।

पूज्यश्री बिन्नाणीजीका स्वास्थ्य खराब होते हुए भी उन्होंने प्रश्नोत्तर पूछनेका काम अपने जिम्मे लिया। हमलोग उनके आभारी हैं। मैं उनसे प्रार्थना करूँगी कि वे अपना सत्र शुरू करें।

—**सरला बसन्तकुमार बिरला**

****

****

गीता अध्याय -15

प्रवचन : 1

5-11-86

श्रीश्रीमती भगवती गीता, उपनिषद्रूप हैं। अनेक उपनिषदोंका समूह हैं। यहाँतक कि विद्वानोंने प्रकरणको उपनिषद्के रूपमें नहीं, एक-एक श्लोकको भी उपनिषद्के रूपमें बताया है। यह उपनिषद् है। उपनिषद्में वस्तुका निरूपण होता है। कुछ धर्मका, कुछ उपासनाका, कुछ ज्ञानका—सीधा-सादा निरूपण होता है। परन्तु गीताके रूपमें उसको मधुर बना दिया गया। यह गीता उपनिषद् है, संगीतमय उपनिषद् है। इसमें एक माधुर्य है, इसमें एक सौरस्य है, इसमें एक सौरभ्य है, इसमें एक सौकुमार्य है, इसमें एक सस्वर्य है, संगीत है, लोगोंको आकर्षित करनेवाली, लोगोंके कान-कानमें प्रवेश करनेवाली है।

उपनिषदें सबके कानमें नहीं जा सकती थीं। गीता पशु-पक्षीके कानको भी पवित्र करनेवाली है। पेड़-पौधे भी गीताको सुनकर आनन्द लेते हैं। गीत है, गीत भी है तो किसका? बोलते हैं न कि यह अमुक घरानेके संगीतज्ञ हैं, बहुत अच्छा संगीत गाते हैं। तो यह भगवद्-गीता है। इस संगीतके गायक वही बाँसुरीवाले मनमोहन, गोपीजनबल्लभ, श्यामसुन्दर हैं। जो विषादके अवसर पर भी एक दिव्य संगीत गाते हैं और अर्जुनके हृदयको अपने सम्मुख करके उसको अपने हृदयका दान करते हैं।

'गीता मे हृदयं पार्थ' यह मंडप सजा करके विवाहकी रीतिसे हृदय-दान नहीं हुआ है, युद्धभूमिमें, जहाँ दोनों ओरसे युद्धके शंख बज रहे हैं, घोड़े हिनहिना रहे हैं, हाथी चिग्घाड़ रहे हैं-'प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते' वहाँ यह मधुर-मधुर संगीत प्रकट हुआ है। एक मित्र रोता है, एक मित्र गाता है, क्या आश्चर्य है? जहाँ गानेका अवसर है, वहाँ अर्जुन तू रो रहा है? पहला उपदेश है, अर्जुन! मुझे तो यह वातावरण देखकर, परिस्थिति देखकर, संगीत आ रहा है मेरे भीतरसे, और तू रो रहा है? हाँ मित्र। एक मित्र, जिसको भयंकर परिस्थिति समझ रहा है, समस्यासे भरपूर, संघर्षमयी, वहीं दूसरा मित्र है जो उसको उस परिस्थितिके बोझसे सर्वथा मुक्त करके 'प्रहसन्निव भारत'-जोर से हँसकर-ठठाकरके उस परिस्थितिका समाधान करता है। यह सम्वाद है।

वेद भगवान्की आज्ञा है कि हे मनुष्यों, तुम एक स्वरमें बोलो संवदध्वं-संगच्छध्वं-सं वो मनांसि जानताम्-मेरे प्यारे मनुष्यों! कदमसे कदम मिलाकर चलो। संगच्छध्वं-तुम्हारी गति सम्वादी हो। एक पाँव इधर, एक पाँव उधर पड़ रहे हों, ऐसे नहीं। संगच्छध्वं-मिलकर चलो! मिलकर बोलो-संवदध्वम्।

संवादमिममश्रौषं अद्भुतं रोमहर्षणम्।

गीताके अन्तमें सञ्जयने श्रीकृष्ण और अर्जुनके सम्वादको-सम्वाद कहके-दो मित्रोंकी बातचीत-ऐसा

****

कहा। बातचीतमें कोई गोपनीयता नहीं होनी चाहिए-कठोरता भी नहीं होनी चाहिए, बल्कि कोई गुप्त-से-गुप्त बात कहनी हो-इशारा कर दिया कि भाई बात तो गुप्त है, लेकिन सरल ढंगसे कह दी गयी। सम्वादमें दाव-पेंच नहीं होते हैं, सीधा-सादा, सरल होता है। इसीलिए, गीताके अधिकारीका जहाँ वर्णन है, वहाँ ये, तु करके वर्णन आता है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।

यः कश्चित्-कोई भी जाने! उपनिषद्को जाननेमें सबके लिए छूट नहीं है। परन्तु गीताको जाननेमें सबके लिए छुट्टी है, यह सार्वजनिक ग्रन्थ है, सार्वदेशिक है, सार्वभौम है।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम्॥

भगवान्‌की शरण में जो आ जाय उसके लिए गीता खुला ग्रन्थ है।

अब पन्द्रह अध्यायसे पूर्व जब चौदहवाँ अध्याय समाप्त होना है-वहाँ भगवान् एक आकर्षण-सूत्र बोलते हैं। आकर्षण सूत्र क्या है? लोगोंको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिए! ऐसा भगवान् भी करते हैं। जैसे स्त्रियाँ तरह-तरहका शृंगार करती हैं, पुरुष तरह-तरह का शृंगार करते हैं कि लोग हमको देखें-वैसे ही श्रीकृष्ण भगवान्‌ने भी-लोक-हितकी दृष्टिसे सही-आपके कल्याणके लिए-उन्होंने बताया कि जो कुछ है सब मुझ में ही है। मैं ही हूँ। अर्जुन, दुर्योधनकी ओर मत देखो, युधिष्ठिरकी ओर भी मत देखो। ये हाथी-घोड़े अस्त्र-शस्त्र इनकी ओर मत देखो! देखो मेरी ओर और व्यवहार करो सबसे। 'मामनुस्मर युद्धय च'-काकोजीको भी यह अर्धांश बहुत पसन्द था। वैसे चतुर्थांश है। देखो मुझे और अपने जीवनका जो कर्त्तव्य है, उनका पालन करो। देखो मुझे-क्यों देखें तुम्हें? 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्-चौदहवें अध्यायका अन्तिम श्लोक है

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ 14.27

सुना है न वेदान्तोंमें ब्रह्म नाम? सुना तो है-अच्छा सुना है तो एक अद्भुत बात देखनेको मिलेगी कि दस उपनिषदोंमें कहीं भी परमात्मा शब्दका प्रयोग नहीं है। आत्माका है और ब्रह्मका है। और दोनोंकी एकताका है। तीन प्रकारके वाक्य आपको उपनिषदोंमें मिलेंगे। परब्रह्म क्या है? सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म। आत्माका वर्णन मिलेगा। सोऽयमात्मा-अयमात्मा ब्रह्म। परन्तु आत्मा के अतिरिक्त परमात्मा शब्दका प्रयोग नहीं मिलेगा। ब्रह्म या आत्मा-और फिर दोनोंको एक कर दिया। अयं आत्मा ब्रह्म। यह आत्मा ही ब्रह्म है। दुनियाका कोई मजहब या कोई दर्शन ऐसा नहीं है जो हमारी आत्माको ही सर्वशक्ति, सर्वज्ञ, सर्वोपादान परिपूर्ण परमार्थ के रूपमें निरूपण करे ऐसा कोई शास्त्र नहीं है। गीताने कहा सुनते हो-सुनते हो! 'मैं इनके भीतरका रहस्य जानती हूँ। इनका मैं दिल हूँ। गीता मे हृदयं पार्थ। श्रीकृष्ण के हृदय का नाम गीता है। मैं उनका हृदय हूँ। बताती हूँ-ये कृष्ण कौन हैं? इन्हींके मुँहसे सुनो! ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्। मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ।

प्रति इष्ठति अस्याम् इति प्रतिष्ठाम्।

ब्रह्म कहाँ रहता है? श्रीकृष्णकी आत्माके रूपमें साक्षात् है। अच्छा; हमको ब्रह्म नहीं चाहिए। हम तो अमृत पीना चाहते हैं। 'अमृतस्याव्ययस्य च।' मैं अमृतकी भी प्रतिष्ठा हूँ। माने मुझमें ही अमृतका निवास है। मैं अमृत हूँ और वह स्वर्गवाला अमृत नहीं! अव्यय अमृत। अच्छा-यह अमृत तो धर्मसे मिलता है।

बोले—शाश्वत धर्मकी भी प्रतिष्ठा मैं हूँ। धर्मप्रतिष्ठाके लिए तो मेरा अवतार ही हुआ है। फिर -बोले 'सुखस्य एकान्तिकस्य च' जो ऐकान्तिक सुख, मोक्ष सुख है-त्यागका सुख है-ऐकान्तिक सुख माने-जिस सुखसे बड़ा कोई सुख न हो। जिसके बाद कोई सुख न हो। जिसमें तारतम्य न हो, छोटा-बड़ा न तो-तारतम्य न होना माने स्वगत-भेद न होना वैसा सुख दूसरा न होना। माने सजातीय सुख न होना। उसके सिवाय दूसरेमें उस सुखका न होना माने विजातीय सुख न होना। विजातीय, सजातीय-स्वगत-भेदसे मुक्त जो सुख है, वह मैं हूँ। आपका जीवन एक रथ है-आप इसमें रथीके रूपमें बैठे हुए हैं। इन्द्रियाँ इसमें घोड़े हैं। मनकी बागडोर है। बुद्धि इसमें सारथि है। और उसी बुद्धिके अन्तर्यामीके रूपमें स्वयं भगवान् बैठे हुए हैं।

आपका जीवन इस कामके हाँके हँक रहा है-जीवनके रथका सारथि काम है कि जीवनके रथ का सारथि राम है, श्याम है-निश्चिन्त हो जाइये कृष्णने कहा-मेरी ओर आओ। पन्द्रहवें अध्यायमें आरम्भ हुआ तो पहले देखो-संसारको पहचानो। संरारमें कर्मकी गतियोंसे जो ऊँच-नीच योनियाँ प्राप्त होती है, उनको पहचानो। और ये यथार्थ हैं कि अयथार्थ हैं, इनको पहचानो। फिर यथार्थ को पहचानने के लिए जो साधन हैं, उनका अनुष्ठान करो।

अभी चार बात ले लेते हैं। संसारका स्वरूप क्या है? इसमें नीच-ऊँच योनियाँ क्या हैं? और यह यथार्थ हैं कि अयथार्थ हैं और किन साधनोंसे इसकी प्राप्ति होती है। 'ऊर्ध्वमूलमधः शाखं' में संसारका स्वरूप है और 'अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा' में इसकी नीच-ऊँच योनियाँ हैं और 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते' में इसकी अयथार्थताका निरूपण है और 'निर्मानमोहा जितसंगदोषा' में साधनका निरूपण है।

जब पन्द्रहवें अध्यायके बारेमें ही बोलना है तो प्रश्न तो बने बनाये हैं। यह जो जगत् है-संसार है, इसका दो भेद महापुरुषोंने किया है। होता तो सब कुछ परमेश्वरकी शक्तिसे ही है और उसीके ज्ञानसे होता है और उसीके आनन्दसे इसमें आनन्द भी आता है। प्रत्यक्ष परमात्मा! टुकड़े-टुकड़े जर्रे-जर्रे, कतरे-कतरे, जो चीजें हैं, उनको एक सत्ता प्रदान करना-जो अलग-अलग शरीरोंमे ज्ञान मालूम पड़ते हैं, उनको एक ज्ञानका रूप देना-सब सत्ता एक है, सब चेतन एक है-सब सुख एक है, आनन्द एक है। यह मेरा-मेरा करके मनुष्य भटक गया है।

ईश्वरकी सृष्टि—आप ध्यान देकर देखें—भगवान्‌ने एक धरती बनायी, एक पानी बनाया, एक सूर्य, चन्द्रमा तेजस्-तत्त्व बनाया—एक साँस दी सबको—एक हवा दी सबको साँस लेनेके लिए। आकाश बनाया सबके वाक्-व्यवहारके लिए! यदि आकाश न हो तो वाणीका व्यवहार नहीं हो सकता। मुँहमें-से शब्द निकलता है, कानमें प्रवेश करता है। एक छेदमें-से निकला, दूसरेमें गया।

अब यदि दोनोंके बीचमें अवकाश न हो, तो यह शब्द यहीं रुक जायगा, आपके कानतक नहीं

पहुँचेगा। वाक्-व्यवहारके लिए कान बनाया, स्पर्श-व्यवहारके लिए त्वचा बनायी, रूप-व्यवहारके लिए आँख बनायी, स्वाद, रस-व्यवहारके लिए जिह्वा बनायी और गन्ध-व्यवहारके लिए नासिका बनायी। यह सब भगवान्‌की रचना है। स्त्री है, पुरुष है, पशु है, पक्षी है, पेड़ है, पौधा है—यह तत्त्व तात्त्विक जितनी सृष्टि है यह सब परमेश्वरकी बनायी हुई है। सांख्यवादी कहते हैं, प्रकृतिकी बनायी हुई है। वैशेषिकोंने कहा—परमाणुकी बनायी हुई है। जैनोंने कहा पुद्गलोंकी बनायी हुई है।

बौद्धोंने कहा—विज्ञानका ही एक रूप है। हम अपना हाथ झाड़ देते हैं। हमारी बनायी नहीं है—चाहे किसीने बनायी हो, किसी चीजसे बनायी हो, पर यह जो प्राकृत सृष्टि है, ईश्वरीय सृष्टि है, यह हमारी बनायी हुई नहीं है। तब यह जो मेरा-मेरा आता है, वह कहाँसे आता है? पैसेसे खरीदते हैं—या उसमें कुछ हाथसे या मशीनसे टेढ़ामेढ़ा रख देते हैं—रुई तो तुमने बनायी नहीं—कपड़ेके बनानेवाले हो गये। रुई भी बनायी तो कपासका बीज तो तुमने बनाया नहीं; बीज भी बनाया तो मिट्टी तो बनायी नहीं। मिट्टी भी बनायी हो तो पञ्चभूत तो बनाया नहीं—सब ईश्वरीय सृष्टि है और इसको ठीक उसी रूपमें जो देखता है, वह सदा आनन्दमें रहता है, उसको कृष्ण मिल गये। जो कृष्णकी रचना देखे, जो भगवान्‌की रचना देखे—उसको पग-पगपर भगवद् प्राप्ति, रोम-रोमसे भगवद्-प्राप्ति हो जाती है। एक सृष्टि होती है जीवकी बनायी हुई। एकको अनेक करनेमें सबसे ज्यादा यह जीव निपुण है।

साइंसके जो आविष्कार हैं वे विश्लेषण करके एकको अनेक करनेके लिए होते हैं। उसका अनेक उपयोग होता है, उसके अनेक रूप होते हैं। और यह जो भगवल्लीला है वह सबको एकमयी बनाकर, एक बनाकर हमारे हृदयको राग-द्वेषसे रहित करनेकी होती है। 'ऊर्ध्वमूलमधः शाखं अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्'—यह भगवान्‌की रचना है और कहता कौन है? भगवान् ही कहते हैं—श्रीभगवानुवाच।

अब चौदहवें अध्यायवाली बात भी कर देते हैं। माने भगवान् ऐकान्तिक सुखके रूप हैं, यह जाननेके लिए, यह जो ऊपर-ऊपर संसारका पेड़ है, छिलका है इसको अलग करके देखना पड़ेगा। बालूमें सोना मिल गया है, तो सोने और बालूको अलग-अलग करना पड़ेगा। और असली हीरोंमें नकली हीरे मिलाये जाते हैं—राधेश्याम! पहचानना ही मुश्किल हो जाय। यह जो हम अपने सामने देख रहे हैं उसका वृक्षके रूपमें वर्णन किया है। वृक्ष माने पेड़-पौधा संस्कृतमें इसका अर्थ होता है, जो काटनेसे मिटे उसका नाम वृक्ष! ओवृष्टु छेदने! वृष्यते इति वृक्षः।

गेहूँ, जौ, मटर, चने एकबार फल देनेके बाद दुबारा फल नहीं देते, उनका पौधा मिट जाता है, बीज रह जाता है। ओषधियाँ 'फलापाकान्ताः' एकबार उनका फल पग गया, उनका जीवन पूरा। अब अगली पीढ़ीके रूपमें आयेंगे। और वृक्षोंमें कई ऐसे होते हैं, जिनमें पल्लव तो लगता है, और एक ऐसे होते हैं जिनमें पल्लव लगते ही नहीं है। करील है, उसमें पल्लव नहीं लगता है। एक वृक्ष ऐसा होता है जिसमें पल्लव भी लगता है, फूल भी लगता है, परन्तु फल नहीं लगता है। एक वृक्ष ऐसा होता है, जिसमें फल तो लगता है लेकिन फूल नहीं लगते। इनके भेदका भागवतमें वर्णन है। बड़े ध्यानसे पढ़ने लायक है।

यह संसार क्या है? यह वृक्ष है माने यह चलता रहेगा—एकके बाद एक, एकके बाद फल लगता रहेगा, बीज पैदा होते रहेंगे। बढ़ता रहेगा। पुत्र-पुत्रादिके रूपमें हम अमर होते रहेंगे। अमरताकी एक यह भी व्याख्या है। ब्रह्मासे लेकरके आजतक हम पीढ़ी-दर-पीढ़ी होते आये हैं। अनादिकालमें न जाने कब ब्रह्माने यह सृष्टि बनायी थी और उनके सन्तानकी अविच्छिन्न परम्परा आपतक पहुँची है और यह आगे भी चलती रहे तो अमर बनी रहेगी। दार्शनिकोंका एकमत इस प्रकारका है।

अब आओ अश्वत्थकी बात करें। अश्वत्थ माने पीपलका पेड़। बड़का पेड़। अश्वत्थ शब्दका अर्थ संस्कृत भाषामें दोनों ही अर्थमें आता है—बड़ भी और पीपल भी! एक पेड़ है—यह विचित्र है। वह कौन-सा है? ऊर्ध्वमूलं अधःशाखम्। उसकी जड़ तो ऊपरको है और शाखा नीचेको है। देखा कहीं ऐसा पेड़? कोई कौतुकिया हो तो कह भी दे कि, हाँ हम कुल्लूकी तरफ गये थे, वहाँ एक सरोवर है, उसका करार बहुत ऊँचा है। वहाँ ऊपर पेड़ होकर नीचेको लटक गया है। मैंने देखा है। नहीं, उस पेड़से मतलब नहीं है। दृष्टान्त वही होना चाहिए जो सबका देखा हुआ हो। कोई चिन्तामणि है, उसमें कोई विकार नहीं होता और चीजें पैदा हो जाती है। कोई कल्पवृक्ष है, कोई कामधेनु है उसमें-से जो चाहे कोई दुह ले—ये दृष्टान्त नहीं हो सकते। क्योंकि जो दृष्ट हो उसीका दृष्टान्त होता है। देखी हुई चीज हो उससे समझाया जा सकता है।

हाँ, हम आपको ऐसा पेड़ दिखाते हैं जो सबका देखा हुआ है। वह पेड़ कौन-सा है? आप स्वयं हैं। यह जो शरीर है—'ऊर्ध्वमूलं अधः शाखम्।' इसकी जड़ है ऊपरकी ओर और शाखाएँ—हाथ-पैर इत्यादि नीचेकी ओर लटके हुए हैं। 'अश्वत्थं अपि अव्ययं प्राहुः।' है तो यह अश्वत्थ—'ऊर्ध्वमूलं—ऊर्ध्वका अर्थ होता है ऊपर क्योंकि चौदहवें अध्यायमें 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः।' ऊर्ध्व शब्दका प्रयोग है। और उपनिषदोंमें 'मूलेन शुगेन अन्वेषणीयः। एक रस्सी पकड़ लो और ऊपर चढ़ते चले जाओ। इसी प्रकार इस वृक्षका अनुसन्धान करो—ऊपर-ऊपर-ऊपर चलते जाओ तो ऊपर परमात्मा मिलेगा!

हे भगवान्, पहली बात तो यह है कि जहाँ चाँद-सितारे रहते हैं वह संस्कृतमें ऊपरके माने नहीं होता है। संस्कृतमें ऊपरके माने होते हैं जैसे लाउडस्पीकर—इसके भीतर जबान बोलनेवालेकी—इसके ऊपर है बोलें नहीं तो लाउडस्पीकर क्या करेगा? जबानसे ऊपर अपना मन, बोलनेका संकल्प न हो तो क्या होगा? संकल्पके ऊपर भी उसका साक्षी। प्रत्येक शरीरमें एक है सो परमात्मा और जो शरीरमें अलग-अलग मालूम पड़ता है, वह आत्मा ऊर्ध्वमूलं माने—सृष्टिकी उत्पत्ति कहाँसे होती है? यह मेरी माँ है यह सृष्टि कहाँसे आयी? मेरे भीतरसे। यह मेरा बाप है, यह मेरा पुत्र है—एक व्यक्ति आप है, आप अपने पिताके पुत्र हैं, नानाके धेवते हैं, दादाके पौत्र हैं; भाईके भाई हैं; पुत्रके पिता है, पत्नीके पति हैं, बहनके भाई हैं। आप क्या हैं? देखो एक अदद आदमी है और वह इतना कैसे बनकर बैठ गया? यह देखो मानस सृष्टि है—मानसी। इसके सबके ऊपर वह है जो इसको बनानेवाला है, जो जाननेवाला है, अपने भीतर है—भीतरसे भीतर, भीतरसे भीतर, इन्द्रियेभ्य पराह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः। ऊर्ध्व यही है।

मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः।

महतः परमव्यक्तं अव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥

आपकी आत्मा ही सारी सृष्टिको मालूम करती है। जिसको मालूम पड़ता है उसकी सृष्टि है। अश्वत्थः ऊर्ध्वमूलं अधः शाखम्। सबसे ऊपर जो परमात्मा है, ब्रह्म है वह इसका मूल है, मूल है माने जड़ है। मायाविशिष्ट परब्रह्म परमात्मा इसका बीज है। और अधःशाखम्, महतत्त्व, अहंकारतत्त्व, पञ्चतन्मात्रा, षोडशविकार, ये सब इसकी शाखाएँ फैली हुई हैं। माने जितनी ईश्वर सृष्टि हम कहते हैं, या जितनी प्राकृत सृष्टि हम कहते हैं, या जितनी पारमाणविक सृष्टि कहते हैं—या जितनी चातुर्मतिक सृष्टि कहते हैं—यह सब सृष्टि अश्वत्थ रूप है और जड़ है। इसकी अपनी अन्तरात्मा, अन्तर्यामी—ईश्वर भी हमारे हृदयमें बैठकर इस सृष्टिको बनाता है। मैं-ईश्वर-सृष्टि, सृष्टि-ईश्वर-मैं सबसे सुगम अगर संसारमें देखनेकी वस्तु है तो वह ईश्वर हैं। क्योंकि सृष्टि दिखनेसे पहले ही उसका दर्शन हो लेता है।

आप सब लोगोंको भी देखनेसे सुगम क्या है? प्रकाश! पहले हम रोशनीको देख लेते हैं, तब उस रोशनीमें आपको देखते हैं। यह है परमेश्वर! अश्वत्थं। अश्वत्थ शब्दका वर्णन वेदोंमें दो रूपसे आता है। 'एक ब्रह्माश्वत्थ, एक कर्माश्वत्थ! ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ऊर्ध्वमूलं अधःशाखम् अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।

कहते हैं कि एक वन है और उस वनमें कोई पेड़ हैं। उस पेड़को गढ़ करके विश्वकर्माने यह सृष्टि बनायी। वेदमें ऐसा मन्त्र आता है।

कि तत्र वनं कौ वृक्षाः सः।
ब्रह्म तद्वनं ब्रह्मवृक्षा सः॥

इसीसे त्वष्टाने, बढ़ईने, सुतारने गढ़-गढ़कर यह दुनिया बनायी। अश्वत्थ है। अश्वत्थ शब्दका अर्थ शब्दार्थकी दृष्टिसे ऐसा होता है 'न श्वोपि स्थाता-इति अश्वत्थः।' रामानुजने, शंकरने, दोनोंने यह व्युत्पत्ति दी है। कल नहीं रहेगा। 'अ' माने नहीं-'श्वं' माने सुबह-कल, 'स्थ' माने स्थाता। अश्वत्थ—माने यह कलतक नहीं रहेगा। इसलिए इसको कहते हैं अश्वत्थ। है तो इसका रूप बदलता हुआ। नित्य बदलता है। कल जो समुद्रमें जल था, वह आज नहीं है। वह तो परस्परके द्वन्द्वसे कहाँ-का-कहाँ गया। गङ्गाजीमें जो कल जलधारा आ रही थी वह आज नहीं है—चली गयी। वृक्षमें जो कल फल फला था, वह आज नहीं है। परिवर्तन हो गया। सारी सृष्टि परिवर्तनमयी है, वर्तनमयी है, नित्य-नूतन सृष्टिको देखकर परमात्मा प्रसन्न होते हैं और जीव जो अज्ञानी हैं, वे इसके किसी एक रूपको पकड़ लेते हैं और इसका मजा नहीं ले पाते हैं। जब नृत्य करते हैं, तो उसमें छवि जितनी बदलेगी, हस्तक जितने बदलेंगे, नेत्रका संचार जितना बदलेगा, पाँवकी पटकन जितनी बदलेगी, उतना ही तो उसमें आनन्द आवेगा!

यह तो भगवान्के नचकैया रूपका नाम संसार है। वह तो इसका मजा ले रहा है, कभी हाथसे बुलाता है तो कभी यों कर देता है। आओ—भगवान् नाच रहा है। पेड़के रूपमें नाच रहा है, पक्षियोंके रूपमें गा रहा है।

क्या संगीत,क्या संगीत, साँस-साँसमें आकर जीवनदान कर रहा है। वही तो है न! अश्वत्थका एक और अर्थ लेते हैं। अश्वके समान स्थित है।

अश्ववत् तिष्ठति इति अश्वत्थाः। अश्वत्थम् प्राहुरव्ययम्।
अश्वोपि तिष्ठति इति अश्वत्थः। अश्ववत्स्थः अश्वत्थः॥

अश्व जब विश्राम करनेके लिए खड़ा होता है तो उसके तीन पाँव धरतीपर लगे रहते हैं। 'सोयमात्मा चतुष्पाद।' तीन पाँव धरतीपर लगे और एक पाँव जब वह उठा लेता है तो वही उसका विश्राम है। विश्राममें एकपाद जो है वह आत्माका विश्राममें है और तीन पाद प्रपंचमें है। इसीलिए—

पादोस्य विश्वा भूतानि; त्रेधा निदधे पदम्

चतुष्पाद बोलें—तो सत्, चित्, आनन्द-तीन पाद उसके ऊपर हैं—और एक चतुष्पादमें नाम-रूप हैं और ऐसा मानें कि चतुर्थ पाद तुरीय है और तीन पादमें यह सृष्टि है।

इसको भी लोग 'अव्ययं' कहते हैं। 'अव्ययं' कहनेका मतलब है कि अपने आप नहीं मिटेगी। यह मत सोचना कि एक दिन ऐसा आवेगा कि मुक्ति हो जावेगी। एक दिन अपने आप ऐसा आजावेगा कि परमात्मा मिल जावेंगे। इसकी कड़ी जुड़ी रहेगी जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं कर लते।

अपने जीवनको पुरुषार्थमय बनाकर करो—हमारा विश्वास है भाई, मिल जायेंगे परमात्मा! धन्य हो तुम, यह विश्वास जो तुम्हारे अन्तःकरणमें है यह तुम्हारा पुरुषार्थ। विश्वास तुम करोगे, अनुग्रह भगवान् करेगा। अब इस संसारका असली रूप क्या है? रूप इतना नंगा है महाराज! किसीको दिखाने लायक नहीं है। क्षण-क्षण परिणामी है। चीजें बदल रहो हैं और समझी हुई चीजोंको हम सुखदायी समझते हैं। और यदि इसका विश्लेष्ण किया जाय, दुनियाकी बखिया उधेड़ दी जाय तो महाराज बस, बस, देखने लायक नहीं है।

हमारे ही शरीरको यदि बखिया उधेड़ दी जाय तो हम देखनेसे इनकार कर दें। इतना मल है, इतना मूत्र है, निकलता क्या है, इसके भीतरसे—आपको मालूम है नाकमें-से बलगम, मुँहमें-से थूँक और आँखमें-से कीचड़, चाममें-से पसीना, कानमें-से खोंट, यही सब तो इसके भीतरसे निकलता है जो खजाना भरा है, वही तो निकलता है न इसमें-से!

आओ खोलकर रख दें! नहीं-नहीं—वेदोंने कहा ऐसा न करो! संसारकी पोलपट्टी मत उधेड़ो, नहीं तो लीला ही नहीं चलेगी, मना कर दिया। ढँक दिया इसको!

छन्दांसि यस्य पर्णानि—पर्णानि आच्छादकानि।

वेदने कहा देखो—एक होता है नरक वह तो बहुत बुरा है और एक होता है, स्वर्ग वह बहुत अच्छा है। जो अधर्म करते हैं, वे नरकमें जाते हैं, जो धर्म करते हैं, वे स्वर्गमें जाते हैं। जिनका आचरण रमणीय होता है, सुन्दर होता है, वे आगे और सुन्दर हो जाते हैं।

वेदने क्या किया—यह सुन्दर है, यह असुन्दर है, यह हेय है, यह ग्राह्य है, ये उपादेय हैं, ये त्याज्य हैं,

ऐसा भेद बना दिया। स्वर्गके लिए बनाओ यज्ञशाला। क्या सुन्दर रचना करो कि देख-देखकर मुग्ध हो जाओ ओर एक ओर कुरूप नरक रख दो—कि नहीं हम नरकमें नहीं जायेंगे।

चीज बिलकुल एक ही है—एक सोनेका पत्र ले आये, उसके ऊपर ठोंक-ठोंककर चित्र बना दिये। एक ओर गणेश हो गये, दूसरी ओर दक्षिणकाली हो गयी—हड्डियोंकी माला पहने हुए। एक ओर चमाचम चमकते हुए बड़े मुलूक लक्ष्मीनारायण, राधा-कृष्ण, सीताराम। मन्दिर बना, फिर मन्दिरमें-से पनाला बना, पनालेमें-से निकलकर एक जगह पानी इकट्ठा हुआ, पानी इकट्ठा होकर सड़ गया, गन्दा हो गया, पर है सब सोना ही वह तो उसपर केवल लकीर उभारी हुई है, है सब सोना।

ये वेदने भेद किया कि मनुष्य इसको छोड़े, इसको पकड़े तो इसकी जो कुरूपता थी वह ढक गयी। आदमी अच्छेके लिए प्रयास करने लगा—'छन्दांसि छादनात्।' जो ढँक दे उसका नाम होता है छन्द। छन्द माने वेद। वही जैसे पत्तेके बिना पेड़ नंगा होता है छन्द। छन्द माने वेद। वही जैसे पत्तेके बिना पेड़ नंगा होता है, और दर्शनीय नहीं होता है, उसमें सब डाली एक सरीखी नहीं मालूम पड़ती हैं, परन्तु पत्ते लग जानेपर उसमें सुन्दरता आजाती है। कहनेका अभिप्राय यह है कि अश्वत्थ वृक्ष—जिसका मूल ऊर्ध्व, जिसकी शाखाएँ अध:—यह था तो बिलकुल नंगा, यदि इसमें वेद न होते, वाक्य प्रणामके द्वारा यदि इसमें सुन्दर, असुन्दर, देय, उपादेय, अमृत और विषकी कल्पना न आती, यदि वेद इसको सँवारते नहीं, सिंगारते नहीं तो यह कुछ नहीं होता,यह सब वेदोंकी महिमा है। **यस्तं वेद स वेदवित्।**

जो इसको जान लेता है वह वेदवित् है। जानेगा संसारको—अश्वत्थको जो जानेगा—

अश्वत्थं वेद अश्वत्थवित् भवति।

अश्वत्थको जब उसने जान लिया तो अश्वत्थको जाननेवाला हो गया। वह वेदका जाननेवाला कैसे हो गया? जो जिसको जानता है, उसका जाननेवाला होता है। पर यहाँ कृष्णको तो अपनी प्रशंसा ही करनी है। श्रीकृष्ण स्वयं अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करते हैं। जैसे एक सच्चा मनुष्य है तो वह अपनेको मनुष्य नहीं कहेगा तो क्या पशु कहेगा? जो परम सुन्दर, परम मधुर, साक्षात् परमात्माका स्वरूप है, अगर वह अपनेको परब्रह्म परमात्मा नहीं कहे, तो क्या मूर्ख कहे? कि कीड़ा कहे? कि मकोड़ा कहे? **यथा नरत्वप्रवृत्ते नरस्य।**

श्रीकृष्ण जो अपनेको जानते हैं, अनुभव करते हैं, वहीं तो बोलते हैं। छाती ठोंककर इनको कहना है अन्तमें। क्या?

वेदविदेव चाहं; अहमेव च वेदवित्।

असलमें मैं ही वेदवित् हूँ। अब देखो दोनोंको मिला लो। पहले—

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो, वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।

पन्द्रहवाँ अध्यायका आदि है कि वह पुरुष है, वेदवित् मालूम पड़ता है, होगा कोई गोलोकमें, बैकुण्ठमें—बोले वह नहीं वेद विदेव चाहं'—मैं ही वेदवित् हूँ। पहले तो बताया कि मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ, फिर बताया अमृतकी प्रतिष्ठा हूँ, फिर बताया धर्मकी प्रतिष्ठा हूँ, फिर बताया सुखकी प्रतिष्ठा हूँ और बोले कि मैं ही

वेदवित् हूँ। वेदवित् कहनेसे भी श्रीकृष्णको सन्तोष नहीं हुआ। हमलोग वृजवासी हैं, ऐसे ही बोल देते हैं। मित्र हैं, कभी गुल्ली-डण्डा भी खेल लिया, कभी कबड्डी भी खेल ली। यह क्रिकेट, हाँकी तो पता नहीं उस समय थे कि नहीं थे। उसमें एक बात और कहनी थी कि जो वेदवित् होता है वह सर्वविद् हो जाता है।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

जो वेदवित् है वह सर्वविद् है, जो सर्वविद् है वह वेदविद् है। अब देखो उपनिषद्को जोड़ लो। एक ऐसी वस्तु है जिसको जान लेनेपर सब जान लिया जाता है। 'यस्मिन्, दृष्टे, श्रुते, मते, विज्ञाते, सर्वम् दृष्टम्, श्रुतम्, मतम्, विज्ञातम् भवति।'

एक दुनियामें ऐसी चीज है कि उसको जान लो तो सब कुछ जान लिया जायगा। सबको अलग-अलग जाननेकी कोशिश करें? आओ उसीको जान लें। सब कुछ जान लिया जायगा। बोले भाई यह कौन है? सर्वविद्—तो कृष्णने कहा—मुझको जानता है वह सर्वविद् है। तुम क्या जानते हो? तुम अपना जानना बताओ। अहं वेदवित्। मैं वेदवित् हूँ—वेदको जानता हूँ। वेदको कौन जानता है? जो सम्पूर्ण प्रपञ्च और प्रपञ्चाधिष्ठानके रहस्यको जानता है,जो दुनियाको जानता है, दुनियाको रोशन करनेवालेको जानता है, जो दुनियाके अधिष्ठानको जानता है, जो उस स्वप्रकाश अधिष्ठानमें द्वैतके अभावको जानता है, वह जाननेवाला वेदवित् है। वह वेदवित् मैं हूँ। और मैं सर्ववित् हूँ। इसलिए 'यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्'—'स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत'—अर्जुनको कृष्णने कहा—अरे अर्जुन! भारत, तुम बड़े प्रतिभाशाली हो, भरतवंशमें पैदा हुए हो, आनुवंशिक योग्यता है तुम्हारे अन्दर, पीढ़ी दर पीढ़ीसे आयी है और भारत देशके तुम हो लाडले सुपुत्र, भरतवंशके हो और 'भा' माने प्रतिभामें निरन्तर रत हो। देशिक योग्यता है, आनुवंशिक योग्यता है और तुम्हारी प्रातिभ योग्यता है।

इस योग्यतासे सम्पन्न हो। आओ आओ तुम जानो! क्या जानूँ? **मुझे जानो। तुम कौन हो? मैं वेदवित्** हूँ। इसलिए मैं सर्ववित् हूँ। सर्ववित् ही नहीं हूँ, अर्जुन! सुन लो। वेदान्तकृत्—**सम्पूर्ण वेदोंका जो परम तात्पर्य** है अन्त—उसको मैं जानता हूँ। जहाँ वेद नहीं थे, उसको भी जानता **हूँ और जहाँ वेद नहीं होते हैं, उसको भी** जानता हूँ। वेदान्तकृत। मैं वह हूँ जिसमें सम्पूर्ण वेद-वेदान्त पूरे **हो जाते हैं। इस तरह छाती ठोंककर अपने** मित्रके सामने—कभी कभी डींग भी तो हाँकी जाती **है न! अब आओ कल इसके आगेका प्रसंग कहेंगे कुल** 20 श्लोक हैं—3-4 श्लोक रोज कहेंगे पूरा हो जायेगा।

●

****

प्रवचन : 2

6-11-86

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखं अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ 1॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ 2॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥ 3॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ 4॥

यह पन्द्रहवाँ अध्याय पुरुषोत्तम-विज्ञान है। उत्तम पुरुषको पहचाननेकी प्रक्रिया है। अनुभवके क्षेत्रमें उत्तम पुरुष अपनी आत्माको ही कहते हैं। वह अन्य पुरुष हुआ, प्रथम पुरुष तुम, मध्यम पुरुष हुआ और मैं, उत्तम पुरूष हुआ। वह दूर है, तुम निकट है और मैं अपना आपा है। अन्य पुरुष, मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष अपने आत्माका ही नाम होता है। पर आत्माका साक्षात्कार करनेमें बाधा क्या है? हम अपने आत्मासे जो बाहरकी वस्तुएँ हैं उनको पकड़ लेते हैं, उनमें हमारी आसक्ति हो जाती है, संग हो जाता है। यह जो बाहर संसार है, उसके दो प्रकार हैं-एकका नाम है ब्रह्माश्वत्थ और दूसरेका नाम है कर्माश्वत्थ, ये दो विज्ञान यहाँ अश्वत्थके रूप में हैं। अश्वत्थ माने पीपलका पेड़ और कहीं-कहीं अश्वत्थ बड़का भी नाम आता है। कम मिलता है; परन्तु कोषोंमें कहीं-कहीं अश्वत्थका मतलब बट वृक्ष भी है।

यहाँ जब यह बात कही गयी कि सुखस्वरूप केवल परमात्मा ही है-'सुखस्यैकान्तिकस्य च' तो वह सुख जो ऐकान्तिक सुख माने अनन्त सुख, दिव्य सुख। उपनिषदोंमें एक तो सुख भूमाके नामसे वर्णित है छान्दोग्य उपनिषद्में और आनन्द इसी नामसे वर्णन है तैतरीय उपनिषद्में-

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।
आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते॥

सृष्टि के मूलमें आनन्द-ही-आनन्द है। और वही उर्ध्वमूलम् है। इसके अतिरिक्त यह बात कही गयी है कि-

मां च यो व्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

अनन्य योगसे, अव्यभिचारी योगसे जो मेरी भक्ति करता है वह गुणोंका अतिक्रमण करके

****

****

ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है। ब्रह्मभावकी प्राप्तिके लिए भगवान्की भक्ति करनी चाहिए। जिसकी भक्ति की जाती है उस भगवान्का क्या स्वरूप है, पुरुषोत्तमका क्या स्वरूप है, उसका वर्णन करनेके लिए यह पन्द्रहवाँ अध्याय प्रारम्भ होता है।

पहली बात हुई, परमानन्दकी प्राप्तिके लिए, जिसको बृहदारण्यक आदिमें अमृतके नामसे कहा गया है, मधुके नामसे कहा गया है। मधु है, रस है, आनन्द है, सुख है, अमृत है उसकी प्राप्तिकी इच्छा तो सभीको होती है। जानमें-अनजानमें सभी लोग चाहते हैं कि हमको नित्य सुख मिले। सब जगह सुख मिले। सबसे सुख आनन्दित रहते हैं और जो विनश्वरके रूपमें, दुःखीके रूपमें देखते हुए भी इसमें फँस जाते हैं, वे दुःखी होते हैं।

अब अश्वत्थ और अव्यय देखो-गंगाजी एक रकम सेती-मैंने मारवाड़ी लोगोंसे बोलते हुए सुना है-तो एक रकम सेती, ये गंगाजीको जबसे भगीरथ लेकर आये तबसे बह रही हैं और अव्यय हैं। और एक रकम सेती देखो तो निरन्तर बहती जा रही हैं-समुद्रमें मिलती जा रही हैं-बदलती जा रही हैं। तो अब इनको आप अश्वत्थ भी कह सकते हैं और अव्यय भी कह सकते हैं। तो प्रवाह रूपसे तो यह प्रपञ्च है-संसार जो है वह अव्यय है और वस्तुतः यह प्रतिक्षण परिणामी, प्रतिध्वंसी है। इसलिए इसको दोनों ही कहा जा सकता है। दीयेकी लौकी तरह, गंगाजीकी धाराकी तरह, वृक्षमें लगे हुए फलकी तरह। अथवा यह मनुष्यका शरीर, मालूम नहीं पड़ता-आत्मा है नित्य और शरीर है अनित्य।

बाल कब पक गये पता नहीं लगा। एक महात्मा थे उनको यह शौक था कि हमारे बाल काले रहें। तो रोज सबेरे शीशेमें देख लेते और जो सफेद बाल निकलता उसको काट देते। पर कितने दिन तक काटें? आजकल तो बालको रंगकर रखते हैं। पर रँगा हुआ बाल कितने दिनतक रँगा रहेगा? जोड़कर रखते हैं। रँगते भी हैं और जहाँसे टूट गये हों वहाँसे जोड़ते भी हैं और बिलकुल सिर चिकना हो गया हो तो आरोपण भी पर करवाते हैं। हमने देखा है जैसे धानके खेतमें धान रोपते हैं, वैसे लोगोंके सिरमें बाल रोपा हुआ! पर कितनी भी कोशिश करो, यह बदले बिना तो रहेगा नहीं, तो जो प्रतिभाशाली पुरुष होगा, नवनवोन्मशेषशाली पुरुष होगा, वह तो इसके नृत्यके पोज देखेगा कि यह अब कैसा बदल रहा है और जो इसके विनाशको देखेगा वह दुःखी होगा।

वैराग्यके लिए भी इस दुनियाको दिखाना है और आनन्दके लिए भी दिखाना है। इसलिए दो दृष्टि होनेसे 'अश्वत्थमपि अव्ययं प्राहुः।' यद्यपि यह कल नहीं रहनेवाला अश्वत्थ है, तथापि इसको अव्यय कहते हैं। न व्ययति, छीजता नहीं है घटता नहीं है-जैसे सोना है। उसमें तरह-तरहकी शकल बनाओ-भूत-भैरव बनाकर देखो चाहे उसे राधा-कृष्ण बनाकर रास-लीलाका आनन्द लो-सोना-तो-सोना ही है।

आपकी बुद्धिपर बहुत कुछ इस संसारके सुख-दुःख आलम्बित हैं, आधृत हैं। सुख-दुःखको आप संसारमें न देख करके अपनी बुद्धिकी स्थितिसे परखिये। अच्छा; बुद्धिसे परखनेकी प्रक्रिया क्या है? 'छन्दांसि यस्य पर्णानि।' छन्दम् माने वेद। छादनात् छन्दः। देखो एक पेड़ है आपके पास। एक पेड़को वेदने बता दिया यह अयज्ञ है-यज्ञमें इसको काममें नहीं लेते हैं। दूसरे पेड़को बता दिया यह यज्ञ है। यह यज्ञके काममें आयेगा।

****

मनुष्य दोनों है। एकको बता दिया कि यह अन्त्यज है और एकको बता दिया अग्रज है। गाय दोनों जगहमें है। यज्ञमें भी और कसाई-खानेमें भी। एक जगह पाप है-कसाई खानेमें गायका जाना पाप है और यज्ञशालामें गायका जाना पुण्य है। ब्रह्मचारीके लिए चोटी रखना बहुत पुण्य है, आवश्यक है, संन्यासीके लिए चोटी रखना बिलकुल आवश्यक नहीं है-त्याज्य है। गृहस्थके लिए पति पत्नीका सहवास, ऋतुगमन पुण्य है, तो संन्यासीके लिए स्त्रीका स्पर्श भी निषिद्ध है।

अब है क्या? ये वेदोंने भेद बनाये हैं-हमारे व्यवहारकी सिद्धिके लिए। हमारी जीवन-यात्रा चल सके-क्या खाना, क्या नहीं खाना- हम एक दूसरेके साथ व्यवहार कर सकें, इसके लिए भेदकी जरूरत है। 'यात्रार्थं, व्यवहारार्थ, धर्मार्थं'-हम अधर्मसे बचकर धर्म कर सकें, इसके लिए भेदकी जरूरत है और हम विवेक कर सकें कि यह भेद जो बनाया गया है, इसका कारण क्या है? जब हम विवेक करेंगे तो हमारी बुद्धि जागेगी। हमारी बुद्धिको जगानेके लिए ये भेद बनाये गये हैं।

छन्दस क्या करते हैं-ये 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' जैसे हैं- जैसे कहते हैं, सारे जगतको ईश्वरसे ढँक दो तो था तो संसार और उसको ऐसा ढँका कि जो ऊपरकी कालिख थी वह छूट गयी और भीतर जो शीशा था वह चमाचम चमक गया। इसीप्रकार ये वेद जो हैं ये सृष्टिके मूल-रहस्यको चमकानेके लिए, इनका आच्छादन करते हैं। बताया कि जो इस अश्वत्थको जाने ले वह वेदका असली रहस्य जान लेता है। 'यस्तं वेद स वेदवित्।' अन्तमें भी भगवान्ने वेदवित् शब्दका प्रयोग किया। 'वेदैश्च सर्वै रहमेववेद्यः वेदान्तकृतवेदविदेव चाहम्।' जिसने जगतको जान लिया, उसने वेदको जान लिया और मैं ही वेदवेत्ता हूँ, यह भी श्रीकृष्ण कहते हैं। और 'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत' वह सर्ववित् है, तो वेदवित् होना, सर्ववित् होना, और श्रीकृष्ण होना ये तीनों अन्तत्वोगत्वा एक ही बात हो जाती है। वह परमात्माका स्वरूप हो जाता है, जो इस संसारके रहस्यको जानता है।

अब यह अश्वत्थ माने वट, पीपलका वृक्ष दो प्रकारका होता है। एक तो भूत-भैरवका निवास होता है-जब अपने यहाँ श्राद्ध करते हैं तब पीपलपर मटका टाँग देते है, जल देते हैं, पूजा करते हैं, भूतके रूपमें और एक वासुदेवके रूपमें पीपलकी परिक्रमा की जाती है। यह वासुदेव वृक्ष है। शंकरजीका वृक्ष है बड़ और वासुदेवजीका वृक्ष है पीपल और ब्रह्माका वृक्ष है प्लक्ष-पाकड़। यह भगवान्के रूपमें पूज्य भी है और भूतोंके निवासके लिए भी प्रसिद्ध है। रातके समय पीपलके पेड़के नीचे मत जाना। उसके पत्ते फड़फड़ाते हैं तो डर लगता है। थोड़ी-सी भी हवा चले तो पीपलके पत्ते बहुत खड़खड़ाते हैं और अनजान आदमी तो डर जाता है कि कोई इसपर चढ़कर खड़खड़ा रहा है।

अश्वत्थ वृक्ष दो प्रकारके हो गये। वेदोंमें इसका वर्णन है 'ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाखा एषोऽश्वत्थः सनातनः।' यह मन्त्र कठोपनिषद् में भी हूँ और संहितामें भी! कहीं आवकि शाखा है। कहीं आवाक् शाखा है। और शुक्ल यजुर्वेद संहितामें वर्णन है कि 'अश्वत्थे न वो निषदे पर्णे वो वसति।' आप पीपलके पेड़पर रह रहे हैं और पीपलके पत्तेपर जैसे ओसकी एक बूँद लटकी हो, वैसा आपका यह शरीर है। कब पत्ता हिले और गिर जाय। कुछ भी

ठीक नहीं है कि यह ओसके बूँदकी तरह पीपलके पत्तेपर लटका हुआ जीवन कब गिर जायगा। इसलिए यह वैराग्य करने योग्य है। और दूसरा अश्वत्थ बताया कर्माश्वत्थ—उसका अगले श्लोकमें वर्णन है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा, गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ 15.2

यहाँ बताते हैं कि एक तो ऊपरसे नीचे ईश्वरीय शाखा आती है और एक नीचे ऊपर दोनों ओर ले जानेवाली कर्मशाखा है इसकी। 'अधश्च ऊर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा'—ईश्वरके बाद प्रकृति, बेहोशी, निद्रा—उसके बाद होश, बुद्धि, उसके बाद मैं कौन हूँ। आप जागनेका क्रम देख लीजिये। जब आपकी नींद थी, नींद टूटी तो जरा-जरा-सा होश आया, परन्तु मैं कौन हूँ यह स्फुरण नहीं हुआ।

फिर हुआ—मैं हूँ—फिर यह कौन-सा स्थान है—कलकत्ता है कि वृन्दावन है। उसके बाद यह पंचतन्मात्रा क्या है? शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध-प्रतिदिन हमलोग सांख्य तत्त्वका अनुभव करते हैं। निद्रा है प्रकृति और होश आया तो हो गया महतत्त्व और अहंभावका उदय हुआ तो अहंकार हो गया। और शब्द, स्पर्श, रूप,रस, गन्ध इनका दर्शन होने लगा तो पंचतन्मात्रा हो गयी। उनके बाद इनके विकारोंसे सारी सृष्टि बनती है। यह शास्त्रोंमें लिखा है। वह अत्यन्त अननुभूत, किंभूत, किमाकार नहीं है—है तो सब हमारे अनुभवका स्वरूप ही, लेकिन जब कही फँस जाते हैं तब उनका पता नहीं चलता है।

यह ऊपरकी ओर प्रकृतिपर्यन्त और नीचेकी ओर नरक-पर्यन्त, यह संसारका विलास है। कीट है नीचे तो ब्रह्मा है सिरपर और एक तृण है नीचे तो प्रकृति है सबसे ऊपर। प्रकृति ऊपर है और तृण नीचे है। अघश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा।' यह हमारा शरीर है, ऊपर सिर है नीचे हाथ लटके हैं। पाँव लटका है। अधश्च शाखा। 'अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा'-इसमें नीचेसे ऊपर भी जाते हैं और ऊपर से नीचे भी आते हैं। रक्तका संचार है, हृदयमें होता है—सिरमें जाता है। मल है—भोजन करते हैं ऊपर और मूलमूत्रादि नीचे जाते हैं। तो 'अघश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा'-यह सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण इन तीनों गुणोंके अनुसार होते हैं।

विषयप्रवालाः—इसमें ये जो संसारके विषय हैं, माने एक तो शब्द सुनायी पड़ते हैं तो कोई कठोर होता है, बड़ा क्रूर शब्द होता है और कोई बहुत मधुर शब्द होता है। हम कठोर शब्दसे परहेज करते हैं। (परिजिहासा=परहेज) और जो मधुर शब्द होता है—मधुर माने जो मधुका क्षरण करे—'मधु एव मधुरं' अथवा 'मधुराति इति मधुरे।' जो हमारे कानके रास्ते आकर हमारे हृदयमें मधुरताका संचार कर दे। कोई सुकुमार स्पर्श होता है,कोई मृदु स्पर्श होता है और कोई बहुत कठोर स्पर्श होता है। कोई बहुत सुन्दर रूप होता है, कोई कुरूप होता है। कोई पेय बहुत रसदार मधुर होता है और कोई कड़वा होता है, कोई कटु होता है। कोई सुगन्ध है, कोई दुर्गन्ध है।

अतः इन्हींको संसारमें कहते हैं विषय और इनमें लोग फँस जाते हैं। विशिण्वन्ति इति विषयाः। जो लोगोंको विशेष रूपसे सी दें उनका नाम होता है विषय। विशिष्ट-सीना सींय बन्धने-एक दूसरेको बाँध देनेवाला—बखिया काढ़नेवाला, सुईसे सीनेवाला—उसको बोलते हैं विषय।

****

हमारी आँखको रूप बाँधता है, कानको शब्द बाँधता है। इसीसे हम जो बहुएँ आती हैं—तब कह देते हैं तुम दो काम करना अपने घरमें—खूब बढ़िया-बढ़िया तो अपने पतिको भोजन कराना तब उनकी जीभ तुम्हारी पकड़में आजायेगी। वह भी मीठा-मीठा बोलने लगेंगे। और तुम मीठा-मीठा बोलोगी तो उनका कान पकड़ लेना। पतिका कान पकड़ना हो तो मीठा बोलो। माने दोनोंमें परस्पर प्रेम बढ़ानेकी, प्रीति बढ़ानेकी यह रीति है।

यह संसारके जो विषय हैं—सुगन्ध, दुर्गन्ध, सुरस, कुरस, सुरूप कुरूप और सुकुमार, कठोर। मधुर संगीत और कठोर शब्द ये हमारे चारों ओर फैले हुए हैं और ये दोनों ही हमको बाँधते हैं। विषयप्रवाला:। ये देखनेमें तो बड़े सुन्दर होते हैं परन्तु कठोर शब्द द्वेष उत्पन्न करके बाँधता है, जो बुरी वस्तु है वह अपनी बुराईसे हमारे हृदयमें द्वेष पैदा करती है और द्वेषसे क्रोध आने लगता है और क्रोधसे हिंसाका भाव आता है और हिंसाका भाव आनेसे संघर्ष होता है।

यह बुरे भी हमको बाँधते हैं। रातको सोते समय कहीं दुश्मनकी याद आगयी तो उसीके बारेमें चिन्तन करने लगे और संसारमें जो सुन्दर लगते हैं वे भी हमको बाँधते हैं। उनकी प्रियता होनेसे उनके चिन्तनमें सुख आता है। जैसे कोई कवि अपनी कविता रातको लिखने लगे—मन-ही-मन रचना करने लगे—अब उसमें उसका इतना मन लग जायेगा कि नींद नहीं आयेगी। रातभर जागेगा। ये जो प्रिय पदार्थ है— ये हमको निद्रासे, विश्रामसे—(उस काव्यने भी) हमको विरक्त कर दिया। निद्रासे हम छूट गये तो 'विषयप्रवाला:' का अर्थ है कि हमारे दिमागमें जो सुख है, शान्ति है, विश्राम है उसको संसारकी वस्तुएँ अपने साथ बाँध लेती हैं। या तो हम बुरा समझ करके उनका चिन्तन करने लगते हैं या तो भला समझ करके चिन्तन करने लगते हैं। और दिमाग तो रह गया शरीरके भीतर और खिंचाव हो गया बाहर। अब वह जो खिंचाव है, वही हमारे जीवनमें तनाव पैदा करता है और उसीसे किसीको डिप्रेशन (Depreesion) होता है किसीको टेन्शन (Tension) होता है। वह क्यों होता है? क्योंकि एक चीज है तो यहाँ और वह खिंचकर दूसरेके साथ जुड़ गयी है। तो वहाँ खींचती है। वहाँसे यहाँ आती है। यहाँ आये बिना रह नहीं सकती और वहाँ जानेके लिए हमने बहुत सारी सामग्री जोड़ ली है। अब यह जो जीवनमें खिंचाखिंची है यही हमको बहुत तकलीफ देती है।

यह जो संसारके विषय हैं, ये बन्धनके हेतु हैं—और देखनेमें तो हैं प्रबाल-कोंपल—किसी वृक्षमें लाल-लाल पत्ते लगते हैं। देखनेमें कितने आनन्ददायक, देखकर सुखी हो लो। आँखके लिए भोजन देते हैं। परन्तु इस संसारमें फँस गये तो कहीं भी सार नहीं है। कोई भी ऐसी वृत्ति नहीं है जो सोते समय हमारे साथ रह सके। दुनियामें सोते समय, गाढ़ निद्रामें अपने साथ जो चीज रख सको, वह तुम्हारी है। लिखित प्रमाणपत्र ले लो, यदि सुषुप्तिमें वह वस्तु तुम्हारे साथ रह सकती हो तो तुम्हारी है और वह खिंचाव पैदा नहीं करेगी, तनाव पैदा नहीं करेगी। उससे डिप्रेशन, टेन्शन (Depression, Tenison) कुछ नहीं होगा। यदि आप उसको सुषुप्तिमें रख सको तो।

****

****

विषयप्रवाला:—देखनेमें संसारके सम्बन्ध और संसारकी वस्तुएँ बहुत सुखप्रद मालूम पड़ती हैं परन्तु मूलमें इनका कोई तत्त्व नहीं है, कोई रस नहीं है। 'अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि, कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके'। एक तो प्रकृतिमें प्रकृतिसे ऊँचा-नीचा होता है, पहले आकाश है, फिर ऊँचे—फिर वायु है, फिर तेज है, फिर आकाश है अवकाशात्मक पोल उसमें हवा घूमती है वह उससे छोटी है और उस हवासे जो संघर्ष होता है उससे तेज ऊष्मा पैदा होती है—गरमी उससे नीचे है। और बाफ उठती है वह उससे नीचे है, वह जमकर मैल बन जाती है, वह उससे नीचे है। मिट्टी कहाँसे आयी? गतिसे। गति कहाँ हुई? आकाशमें। अब ऊँचे-नीचे कौन हुआ? मिट्टी हो गयी नीचे और आकाश हो गया ऊपर। ऐसे होश कहाँसे निकला? वह हो गया ऊपर। वहाँसे मनमें आया, मनसे आँखोंमें आया। आँखोंसे विषयमें गया तो विषय हो गये नीचे।

इस प्रकार—

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवाला:।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ 15.2

और सब तो हैं सो हैं, पशु हैं, पक्षी हैं, कीट हैं, पतंग हैं परन्तु यह मनुष्य शरीर ऐसा है जो अद्भुत है। यही पाप और पुण्य पैदा करनेमें समर्थ है। साँप किसीको काट ले तो उसको पाप नहीं लगता है और आदमी काट ले तो? पाप लगेगा। वह क्या अद्भुत है! यह पुष्प टपककर शंकरजीकी मूर्तिपर गिर पड़े तो पेड़को पुण्य नहीं होगा, लेकिन एक मनुष्य अपने हाथसे यदि एक पुष्प शंकरजीपर चढ़ा दे, तो उसको पुण्य होगा। ये पाप-पुण्य जो हैं, ये मनुष्य-शरीरमें ही होते हैं, मनुष्य-से ही होते हैं-यह मनुष्यका जो शरीर है सम्बन्ध बनानेवाला है। शास्त्रका इस सम्बन्धमें कहना है कि मनुष्य उसको कहते हैं जो अपने मनके साथ किसीसे सम्बन्ध जोड़ सकता है। मनसा सीव्यति—निरुक्तमें मनुष्य शब्दकी व्युत्पत्ति यह है कि मनसे यह सम्बन्ध बना लेता है। सारे सम्बन्ध—ये मेरे पति हैं, ये मेरी पत्नी है। ये मेरे साले हैं, ये मेरे बहनोई हैं, ये भाभी हैं, ये दादी हैं, ये नानी हैं—ये सब सम्बन्ध मनसे बनाये हुए होते हैं। ये सम्बन्ध मनुष्यको छोड़ करके और किसी भी योनिमें—कीट, पतंग, पशु-पक्षी किसी भी योनिमें ये सम्बन्ध नहीं होते हैं।

इसलिए शास्त्रका आदेश है, ईश्वरका आदेश है कि मनुष्यों, तुम सब कुछ करो परन्तु सम्बन्ध बनानेमें सावधान रहो। 'सम्बन्धे सावधानता।' किसी वस्तुके साथ, स्थानके साथ व्यक्तिके साथ, क्रियाके साथ, भावके साथ सम्बन्ध बनानेमें सावधान रहो। इसीका नाम ध्यान है, इसीका नाम असंगता है। तुम जो सम्बन्ध जोड़ रहे हो उसमें सावधान रहो। यह सम्बन्ध जिससे तुम जोड़ रहो हो उसको घसीटकर तुम चल सकोगे अपने पीछे, यह उम्मीद मत रखो। वह चीज ही तुमको घसीटकर अपने पीछे-पीछे ले जायेगी। इसलिए अपनेको किसीके साथ जोड़नेमें सावधान रहो। तो यह मनुष्यलोक ऐसा है जो सम्बन्ध जोड़ भी सकता है और सम्बन्ध तोड़ भी सकता है और सम्बन्धको मोड़ भी सकता है। मनुष्य-योनिमें, यह शक्ति, यह सामर्थ्य विद्यमान है।

अब तुम ऊपर जाना चाहते हो कि नीचे? 'कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके' इस मनुष्यलोकमें आकर आप ऐसे कर्म कीजियं जिससे आप ऊपर जायें और ऐसे कर्म न कीजिये, जिससे आप नीचे जायँ। ये देखिये, यह

****

भी बहुत साफ है कि यदि आप अपने सिरपर बोझ रखकर यात्रा करना चाहेंगे तो आपपर दबाव ज्यादा पड़ेगा। और यदि बोझ छोड़कर जीवन-यात्रा करना चाहेंगे तो आप हलके-फुलके उड़ते रहेंगे। जो भारसे ग्रस्त है वह नीचे जायेगा और जो भारसे मुक्त है वह ऊपर तैर जायेगा। कर्मानुबन्धीनि-आपके जो कर्म हैं-वही आपको ऊपर-नीचे ले जानेवाले होते हैं। अब यह तो रहा संसारका स्वरूप माने यह हमेशा बदलता रहता है। परन्तु एक मालूम पड़ता है। आप जीवनमें बदलनेका आनन्द लीजिये। बचपन बदलेगा, जवानी आयेगी, जवानीमें बचपनका मजा मत लीजिये। उसको जवानीकी तरह पूरा कीजिये और जवानीमें बुढ़ापेका मजा मत लीजिये और बुढ़ापेमें जवानीका मजा मत लीजिये। जो जब आपके सामने आया, उसका आनन्द लेते चलिये। जो जब आपके सामने आया, उसका आनन्द लेते चलिये। अब इसमें ऐसा है कि आज जो कानून हैं, वे दस वर्ष बाद नहीं रहेंगे। सालतक बदल जायँ इसकी भी शंका है, दुनिया बदल रही हे। जो इस समय है वह अगले क्षणमें बदल सकती है कानून बदल सकते हैं, समाज की रूपरेख बदल सकती हैं व्यापार बदल सकता है लोगोंकी मान्यताएँ बदल सकती हैं। जिसको आज आप सबसे उत्तम समझते हैं, उसको कल सबसे हीन समझा जा सकता है और जिसको आज सबसे हीन समझते हैं, उसको सबसे उत्तम समझा जा सकता है।

ऐसी स्थितिमें आप अपनेको वर्तमानके साथ जोड़े चलिये और यदि वर्तमानके साथ जोड़े नहीं चलेंगे, छूटते हुएको पकड़ लेंगे तो आप भी पीछे रह जायेंगे या जो कभी नहीं आया है उसको पकड़नेकी कोशिश करेंगे तो भी आपके गिर पड़नेकी सम्भावना रहेगी। इसलिए अपने जीवनको ऐसा रखिये जो हर परिस्थितिके साथ, फिट बैठता चले। आपकी योग्यता ऐसी हो जो प्रत्येक क्षणका लाभ उठा सके, प्रत्येक परिस्थितिका लाभ उठा सके, प्रत्येक व्यक्तिका, प्रत्येक वस्तुका, प्रत्येक स्थानका लाभ ले सके। आपके व्यक्तित्वका निर्माण ऐसा हो और यह निर्माण कैसे होता है, तो 'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा' यह बात आगे भगवान्ने इस संसारका रूप बता करके कही।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥ 15.3
ततःपदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृतापुराणी॥ 15.4

जिसको हम पकड़े हुए बैठे हैं, इस संसारका रूप क्या है? जितना हम देखते हैं उतना ही है? जितना हम जानते हैं क्या उतना ही है? यदि आप ऐसा समझ लें कि बस हमने सब जान लिया, इतना ही है तो आपने कुछ नहीं जाना। एक कोण भी नहीं जाना। और यहाँ तो वह विद्या चल रही है-

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत।

यह पन्द्रहवें अध्यायका उपसंहार है कि जो इसको जान लेता है, वह सबको जान लेता है और सबको जान करके सर्वरूपमें मेरी सेवा करता है। अद्भुत है-ऐसा कहीं कोई दर्शन नहीं है, न कोई मजहब है। न्याय और वैशेषिकको तो ऐसा उठा करके 'नासतो विद्यते भावः' इस श्लोकसे फेंक दिया दूर-असत्से उत्पत्ति नहीं

हो सकती और सत्का विनाश नहीं हो सकता-न्याय वैशेषिकको एक ओर रख दिया और 'यामिमां पुष्पितां वाचम्' कहकरके पूर्वमीमांसाको एक ओर फेंक दिया और व्यवहार करनेवालेमें दूसरेके सुख-दुःखके साथ तादात्म्य करनेवालेको परम योगी कहकर समाधिको एक ओर डाल दिया। योग गया। और 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'-कहकर सांख्यको एक ओर फेंका। यह तो ऐसा ग्वाला खड़कझंझारी है कि किसीको छूने नहीं देता है कि कोई आकर उसको छू ले-स्पर्श कर ले। वेदको कह दिया- 'यावानर्थ·····निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।'

वेदकी प्रशंसा करते हुए भी कह दिया कि एक ऐसी अवस्था आती है, जहाँ वेदकी भी आवश्यकता नहीं रहती। सर्वधर्मान्परित्यज्य-धर्मके लिए मरना सिखानेवाला कृष्ण-'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' और बोलता है 'सर्वधर्मान्परित्यज्य।' इतना वह दिव्य पुरुष और यह उसकी दिव्य वाणी। दिव्य गीता-बोल रही है-जैसा तुम देख रहे हो, वैसा नहीं है बाबूजी! यह है जादूका खेल, 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्नच सम्प्रतिष्ठा। अस्य-अश्वत्थस्य इह विचारकाले-तथारूपं न उपलभ्यते।' यदि हम विचार करके देखें तो न तो यह अश्वत्थ ही मालूम पड़ता है और न तो अव्यय ही मालूम पड़ता है। 'अस्य इह तथारूपं नोपलभ्यते'-जिनको मालूम पड़ता है नाशवान, उनको अव्यय नहीं मालूम पड़ता और जिनको मालूम पड़ता है अव्यय उनको यह नाशवान नहीं मालूम पड़ता।

संसारी लोग-इसमें हमेशा रहनेवाले रह करके इसमें फँसे हैं-इसके नाशवान रूपको नहीं देख पाते और जो लोग नाशवान रूपको देखनेमें लगे हैं, उनको नाश ही नाश दिखता है, इसमें जो अविनाशी है, उसका दर्शन नहीं होता। इस नाशीमें अविनाशी है, इस अविनाशीमें भी नाशी है। तत्त्वज्ञ पुरुष जो हैं वे इस विनाशीमें अविनाशीको देखते हैं और जो मूढ़ पुरुष हैं-वे विनाशीमें विनाशीको ही देखते हैं। 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते-इह यथा वस्तुतः अस्य रूपं तथा न उपलभ्यते।' वस्तुको लेकर वे फूले नहीं समाते हैं। जरा-जरा-सी चीजमें उलझ जाते हैं।

देखो-यह हमारे प्रान्तकी सीमा है। उसमें दूसरे प्रान्तकी यह सीमा अवश्य मिलनी चाहिए। तुम्हारा राष्ट्र नहीं है- प्रान्त नहीं है? प्रान्तकी सीमामें फँसे और राष्ट्रसे द्रोह हुआ। और एक राष्ट्रमें फँस गये तो विश्वसे द्रोह हो गया। पशु-पक्षीको सेवामें लग गये तो मनुष्यकी हत्यापर दृष्टि ही नहीं जायेगी और मनुष्यकी हत्यापर दृष्टि चली गयी-तो पशु-पक्षीकी हत्यापर दृष्टि नहीं जायेगी। अपने मजहबमें फँस गये तो दूसरी मजहबकी अच्छाईका पता नहीं लगेगा। अपनी जातिमें फँस गये तो समग्र मनुष्य जाति है, प्राणी जाति है, इसका पता ही नहीं लगेगा। जहाँ आदमी फँसा हुआ है, वहाँ वह देख नहीं पाता कि असलमें हम कहाँ हैं।

देखो बम्बईमें एकके घर गये थे, न जाने कितने मंजिलका वह मकान था-25-30 का होगा। ऊपर चढ़ गये। वहाँ ऊपरसे जो सड़क पर चलती हुई मोटरें दिखती थीं वह मालूम पड़ता था कि सूअर चल रहे हैं या भड़े-बकरी चल रही हैं। ये बड़ी-बड़ी मोटरें भेड़-बकरीसे भी छोटी लगें और मोटरमें बैठते हैं तब-हमारी मोटर सबसे बड़ी है। हमारी मोटर बहुत बढ़िया है। निश्चय करो आप कि आप कहाँ बैठे हो। पूरब हो कि

पश्चिम-देखकर बता दो। ऊपर हो कि नीचे हो कि बीचमें हो, कहाँ हो? आदि और अन्तमें आपके शरीरका वजन कितना है, बताओ? आप रोज तौलते होंगे। एक औंस भी घटने-बढ़ने नहीं देते होंगे! यह ठीक है लेकिन आप यह बताओ आपका शरीरका वजन यहाँ कितना और रॉकेटसे जब चन्द्रलोककी ओर उड़कर जाते हैं तब कितना है? एक वजन पकड़कर बैठ गये न! जिस कालमें आदि और अन्त नहीं है-आप निश्चय कर लो कि कालकी आदि कहाँ है? कहीं होगी, माने अज्ञान है। इसका अन्त कहाँ है-कहीं होगा-क्या मतलब हुआ? अज्ञान है। आप अज्ञानमें ही कालके आदि अन्तका व्यवहार करते हैं।

यदि ज्ञान-दृष्टिसे देखें तो कालका न आदि है, न अन्त है। जिसका आदि और अन्त नहीं होता उसका मध्य होता ही नहीं है। आदिके भाव और अन्तके भावका प्रतियोगी होता है मध्य! और जिसका आदि और अन्त होता ही नहीं है, उसका मध्य होगा ही नहीं। आपकी उम्र कितनी है? कालमें आपकी उम्र कितनी है? देशमें आप कितने इंचके हैं और वजनमें आपका कितना वजन है? 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते'। विचार करके देखो तो जय-जय सीताराम, कुछ नहीं सब ठन-ठन पाल निकलता है। 'नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा' न इसका आदि है, न इसका अन्त है, न इसकी सम्प्रतिष्ठा है, स्थिति है-लेकिन हमारे दिमागमें, हमारी बुद्धिमें, हमारे ज्ञानमें ऐसा जड़ जमा करके यह बैठा है। हमारे पास दो बच्चे खेलनेके लिए आते हैं-छोटा है-उसे कह देता हूँ कि अब तुम्हारे बड़े भाईको अपने पास रखेंगे-तुम जाओ हम तुमको नहीं रखेंगे तो रोने लगता है-दौड़कर अपने भाईको पकड़ लेता है। वह कहता है यह मेरा भाई है-मैं इसको नहीं छोड़ूँगा।

इस संसारमें जड़ कितनी पक्की जमती है-आपको शायद पहले भी सुनाया हो; काशीमें चौकके पास ही रानी कुँआके पास लक्खी-चबूतरा नामकी गली है। म्युनिसिपेलिटीकी एक हाथ जमीन एक सेठने दबा ली थी। दोनों ओरसे मुकदमा चला। प्रिविकौंसिल तक गया। सेठ कहता था, हमारा चबूतरा बन गया है, हम छोड़ेंगे नहीं। म्युनिसिपेलिटी कहती थी यह गलीमें आगया है, हम इसको छुड़ाकर रहेंगे। अंग्रेजोंके जमानेमें मुकदमा चला। लाख रुपया खर्च हुआ। पर सेठने चबूतरा नहीं छोड़ा शान रह गयी। उस मुहल्लेका नाम है लक्खी चबूतरा।

अब आप देखो कहीं-कहीं शान रखनेके लिए हम ऐसी-ऐसी चीजोंको पकड़ लेते हैं, जिसको हम पकड़कर रख नहीं सकते हैं। 'सुविरूढमूलम्।' हमारी ममता, हमारा मोह, हमारी माया-अत्यन्त कठोर हो गयी। पक गयी है। सुविरूढमूलं-ऐसे बोलते हैं जैसे लाख है-चाँदी है, सोना है, उसको गलाते हैं, और गलानेके बाद जैसे साँचमें डालते हैं-वैसी ही उसकी शकल हो जाती है और ऐसी शकल पक्की हो जाती है कि फिर वह छोड़नेका नाम नहीं लेती है।

यह हमारा जो दिल है, हृदय है-संस्कारोंको बटोरकर रखता है। हृत् शब्दका एक अर्थ चोर ही होता है। हरति-इति हृत्। हृदय-जो संस्कारोंको इकट्ठा करके अपने अन्दर रखता है, उसका नाम होता है हृत्-हृ-हरणे- धातु है-तो प्रत्ययान्त है हृत्। बचपनका देखा हुआ आज याद आता है-कलका देखा हुआ आज याद आता है। आजका देखा हुआ कल याद आवेगा।

सो ये स्मृतियाँ हमारी जहाँ छिपी रहती हैं-उसका नाम होता है हृत्। यह संस्कारोंको रखता है। अब कोई-कोई संस्कार ऐसे गाढ़ हो जाते हैं-यह हमारा दुश्मन है, यह हमारा दोस्त है। वैसे मैंने देखा है कि जो हमारे पिता, पितामहके सामने शत्रु थे वे हमारे मित्र हो गये और जो मित्र थे शत्रु हो गये। इसकी भी कोई परम्परा पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहे सो बात नहीं है। आज जो मन है, कल वैसा ही रहेगा, इसका ठेका किसीके पास नहीं है। इसलिए कलके मनपर भरोसा कर-करके चलना नहीं होता है, इस समय जो अपना सावधान मन है, जगमग-जगमग, झिलमिल-झिलमिल, झलकता हुआ, नाचता हुआ, गाता हुआ, बजाता हुआ, परमानन्दमें डूबता हुआ, उतराता हुआ, उसका आप मजा नहीं ले सकते हैं, जब आप ढूँढ़ने लगते हैं, पीछे और आगे तब इसका मजाक हो गया।

हमारे सेठजी हैं, वे कमाते हैं खूब लाखों रुपया कमाते हैं-काहेके लिए? कि अगली पीढ़ीके लिए। यह नहीं कि आज दान देकर आनन्द ले लें, भोग करके आनन्द ले लें। वह इकट्ठा करनेका आनन्द लेते हैं। और इकट्ठा करनेके बाद कभी आनन्द लेंगे ऐसा ख्याल उनके मनमें बना हुआ है। और आज बीत रहा है, पता नहीं कल आवे कि नहीं? इस समय जब तुमने अपने आनन्दको उधार कर दिया-हमारे पितामहने कहा था कि बेटा कभी किसीसे ऋण मत लेना और कभी किसीको ऋण देना भी मत। ऋण लेनेपर भी बोझ होता है और देनेपर उसके पीछे-पीछे घूमना पड़ता है। उन्होंने एक यह भी कहा था कि किसीसे माँगना भी मत और यह भी कि किसीसे दिलाना भी मत। सब ओरसे बाँध दिया।

लेकिन दुनियाका जो व्यवहार है, उसमें आदमी सुखी कैसे रह सकता है-यह सीखना पड़ता है। सीखना यही है कि कहीं चिपक मत जाओ, तिकोनीमें मत घुस जाओ। बहेलिया तिकोनी बनाते हैं- यह तीन पाँवका बनाते हैं, उसमें कोई कीड़ा-मकोड़ा मारकर बाँध देते हैं। उसको खानेको जब चिड़िया जाती है तो तिकोनीमें जो गोंद लगा होता है वह चिड़ियाकी पाँखमें लग जाता है और वहीं पकड़ी जाती है। तुम तिकोनीके भीतर त्रिगुणात्मक सत्त्व, रजस्, तमके भीतर फँसे हुए हो, कभी प्रकाश भी अन्धा बना देता है। बहुत घनघोर प्रकाश हो, तो उसमें दिखायी नहीं पड़ता। कभी अपना हिलना-बोलना भी अन्धा बना देता है और कभी जड़ हो जाना भी अन्धा बना देता है।

तिकोनीके अन्दर मनुष्यका जीवन फँसा हुआ है। जो सावधान नहीं रहेगा, जिसकी प्रतिभा सुषुप्त हो जायेगी, जिसकी बुद्धि जड़ हो जावेगी वह इस जीवनमें परमानन्दका आस्वादन नहीं कर सकता-

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलं असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥

इसको काटनेका क्या उपाय है? पीपलका पेड़ काटना हो तो आप पाप-पुण्यका विचार कर लेना। असलमें किसी भी हरे-भरे पौधेको काटना-यदि उसकी उन्नतिके लिए हो, विकासके लिए हो तब तो हम कह सकते हैं, ये इसको भोजन दे रहे हैं, अन्न दे रहे हैं, कटाई-छँटाई कर रहे हैं, सफाई कर रहे हैं-लेकिन किसी भी पौधेको काटना पुण्य नहीं होता, पाप ही होता है।

एकबार हमलोग एक महात्माका दर्शन करने गये। महात्माजीकी उम्र 90 वर्षकी थी। और कपड़ा पहनते नहीं थे। घासपर ही बैठते थे। ऐसे जीवन व्यतीत करते उनको 50 वर्ष हो चुके थे। नर्मदाकी घाटीमें उन्होंने अपना साधनका जीवन व्यतीत किया था। हमलोग जाकर घासपर बैठे, वे भी दूबपर बैठ हुए थे। हमारे साथीने दूब नोंचना शुरू किया। जैसे किसी भले लोगोंको भी आदत होती है, किसीके घरमें कालीनपर बैठे तो धीरे-धीरे उसके रेशें नोचने लगते हैं। बच्चे भी नोचते हैं, बड़े भी नोचते हैं। बाबाने कहा-यह क्या करता है? इस दूबको गाय खायेगी। दूब घास है, गाय खायेगी तो दूध बनेगा। मनुष्य पीयेगा तो मनुष्य बनेगा।

अब तो यह दूब मनुष्य योनिमें आनेके लिए बिलकुल तैयार बैठी है और तू नोचकर फेंक देगा तो यह फिर मिट्टीकी मिट्टी हो जायेगी। किसी भी हरे-भरे पौधेको काटकर उसे मिट्टी बना देना। यह तो बढ़िया बात नहीं है। लेकिन खासकर यह अश्वत्थ वृक्ष जो है, जिसमें हम वासुदेवकी पूजा करते हैं, 'पत्रे-पत्रे च वासुदेव: वासुदेव नमोस्तुते' -जिसके पत्ते-पत्तेमें वासुदेव हैं, उसको हम काटे क्यों? ठीक है-यहाँ काटनेका जो शस्त्र बताया गया है, वह बड़ा विलक्षण है, वह तो कहते हैं, इसको छूओ मत-असंग-शस्त्रेण-न छूना ही इसको काटना है। स्पर्श मत करो, दूरसे प्रणाम कर लो, दूरसे जल चढ़ा दो। पीपलपर चढ़ाकर बैठो मत, उसको अपने अंकमें मत भरो, गोदमें मत लो, छोड़नेकी वस्तु है। असङ्गशस्त्रेण दृढ़न छित्त्वा। आप किसी वस्तुके साथ चिपकनेमें आसक्त होनेमें डरें-कहीं हम फँस न जायँ, कहीं चिपक न जायें, कहीं बन्धनमें न पड़ जायँ।

ऐसे-ऐसे जादूके खेल हैं, आसमानसे घड़ियाँ बरसती है, और घड़ियाँ इसी धरतीपर किसी कम्पनीकी बनायी हुई होती हैं। राख गिरती हुई दिख सकती है, रोली गिरती हुई दिख सकती है। परन्तु वह भस्म, रोली यहीं की होती है। आप आश्चर्यमें न पड़ें—चिड़ियाँ उड़ती हैं, आदमी उड़ जाय तो आदमी उड़ता है तो आश्चर्य नहीं हो जाता।

दुनियामें जो आश्चर्य दिखायी पड़ते हैं, यह बड़ा चमकदार हीरा है, यह बड़ा चमकदार सोना, यह सुन्दर स्त्री है, यह पुरुष है, यह मूल्यवान पदार्थ-उनसे द्रष्टाका आनन्द लो; परन्तु उनके सङ्गका आनन्द कभी नहीं लेना चाहिए-यह भी न रहेगा दुनियामें, कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो तुम्हारे साथ जायेगी।

यहाँ 'असङ्गशस्त्रेण दृढ़ेन छित्त्वा' का अर्थ है, उसकी आसक्तिमें मत फँसो-आसक्ति छोड़कर, उदासीन रूपसे यदि तुम व्यवहार करोगे, उदासीन माने उपेक्षा नहीं, असङ्गता। जीवनके तीन धन हैं। तत्त्व दृष्टिसे एकता और हृदयकी दृष्टिसे समता और व्यवहारकी दृष्टिसे असङ्गता। चित्तमें शत्रु-मित्र सबके प्रति समता रहे क्योंकि तत्त्व दृष्टिसे एक है। और व्यवहारमें अपनी आत्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है तो कहीं चिपकनेकी कोई जरूरत ही नहीं है। राम-राम कहते चलो, अपना काम करते चलो। न ऊधोका लेना न माधवका देना। मस्त रहो!

●

प्रवचन : 3

7-11-86

पहली बात तो यह है कि अश्वत्थ माने पीपलके पेड़के दो विशेषण दिये गये है। उनमें-से ऊर्ध्वमूलं जो है, उसके साथ अव्ययं और अध:शाखंके साथ अश्वत्थ। अभिप्राय यह हुआ कि जो इस संसार वृक्षका मूल है, वह तो अव्यय है और जो इसकी शाखाएँ हैं-अध:शाखं-वह अश्वत्थ है-कलतक रहनेवाली नहीं हैं। इसलिए अश्वत्थ और अव्यय दोनोंकी व्याख्या मूलसे ही निकल आती है। उसके लिए टीका-टिप्पणीमें जानेकी जरूरत नहीं है। अब ऊर्ध्वमूलंका क्या अर्थ है? यह आगे जाकर प्रकट होता है। आदि पुरुष शब्दका प्रयोग होगा तब आदि पुरुष ही ऊर्ध्व है यह बात निकलेगी।

दूसरी बात इसमें यह है कि जहाँतक ब्रह्माश्वत्थ है, ब्रह्मरूप वृक्ष है, वहाँतक तो मूल ऊर्ध्व है, आदि है अपना आत्मा है-लेकिन जब कर्मानुबन्धी संसारका विस्तार होने लगता है तो ऊपर और नीचे दोनों प्रकार 'अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।' मनुष्य-शरीरमें आनेपर पाप-पुण्य होने लगते हैं। यही सम्पूर्ण योनियोंमें श्रेष्ठ योनि है। पेड़-पौधे नीचे हैं-क्योंकि वे पाँवसे खाते हैं और ऊपरको बढ़ते हैं और मनुष्य ऊपर खाता है और नीचेको जाता है और पशु-पक्षी तिर्यक् होते हैं। प्रकृतिमें प्राणीको जहाँतक उन्नत शरीरकी प्राप्ति हो सकती है, वह मनुष्य है। मनुष्यसे बड़ा और कोई भी शरीर सृष्टिमें नहीं है। प्रकृतिने उसको इतना ऊँचा कर दिया, जिसके आगे वह स्वयं नहीं ले जा सकते।

अब तो ऐसी जगह पहुँचा दिया है, जहाँसे जरा भी ऊपरको छलकें और परम सत्यको, परमात्माको प्राप्त कर लें। इसलिए, जो मनुष्य-शरीर प्राप्त करके भी सत्यकी खोज नहीं करते हैं, सत्य परमेश्वरको प्राप्त नहीं करते हैं, वे बड़े लाभसे वंचित हो जाते हैं। एक कला उद्भिज्ज माने वृक्ष लता आदिमें है। और दो कला जूएँ-खटमल आदिमें है जो कि श्वेदज हैं और तीन कला अण्डजोंमें है-पक्षियोंमें है और चार कला जरायुज पशुओंमें और पाँच कला जरायुज मनुष्योंमें। चेतनाका विकास होता है। छठेमें महापुरुष लोग होते हैं-छह और सात दो कला। पाँचवेंमें साधारण मनुष्य और छठेमें ज्ञानी मनुष्य और सातवेंमें जीवन्मुक्त महापुरुष और सातवीं कलामें तुरीयातीतका सम्पर्क, संस्पर्श होता रहता है।

कबहुँक करि करुणा नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
नरतनु भवबारिधि कहँ बेरा।

यह जो मनुष्यका शरीर है, संसार सागरसे पार जानेके लिए बेड़ा मिला है। यही नाव है, यही जहाज है, इतने ऊपर आ गये हैं कि अब आप अपने मनसे बुद्धिसे परमात्माका स्पर्श कर सकते हैं और स्वयं उससे मिल सकते हैं। और बाकी तो देखो साधना करते हैं तो कोई साधना करते हैं वाणीकी। वैखरी वाणी जिह्वामें है, मध्यमा वाणी है फिर पश्यन्ती है, फिर परा है और परा वाणीमें जाकर चेतनसे मिल जाते हैं, एक हो जाते हैं। और कोई-कोई साधना करते हैं कि मूलाधार, स्वाधिष्ठानसे ऊपर उठते-उठते सहस्त्रार और उसके ऊपर जो चक्र है उनमें जाकर परमात्मासे मिल जाते हैं।

तो परमात्मा ऊपर हैं कि नीचे है? किसीने कहा नहीं-नहीं हृदयमें ही मिलते हैं। ठीक है। किसीने कहा नाभिचक्रमें मिलते हैं, वह भी ठीक हैं। परमात्मा तो सब जगह है। जहाँ आपकी निष्ठा हो जायेगी, वहाँ परमात्माकी प्राप्ति हो जावेगी। चाहे ऊपर और चाहे नीचे। अब आप मनुष्य-शरीरमें आकरके यदि ऐसे कर्म करते हैं कि आपके सिरपर हमेशा बोझ बना रहे, तो जिसपर बोझ रहेगा वह नीचे जावेगा और जो निर्भार हो जायेगा वह ऊपर जायेगा। इसलिए भक्ति भी गोस्वामी तुलसीदासजी माँगते हैं-

भक्ति प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां,

निर्भरभक्ति-निर्भारभक्ति हमारे ऊपर कोई बोझ नहीं रहे। भगवान्पर तो कोई बोझ होता नहीं और जीवने अपना बोझ छोड़ दिया। यह निर्भारता जो है, यह भर और भार शब्द संस्कृतमें एक ही है। निर्भार भक्ति चाहिए-कोई अपनी जिम्मेवारी नहीं। छोटा बच्चा है, माँकी गोदमें है, वह सुलाती है, खिलाती है, पिलाती है ऐसी निर्भरता भगवान्के प्रति होनी चाहिए। इससे ज्ञान और भक्तिमें अन्तर नहीं पड़ता है। ज्ञानी लोग कहते हैं प्रारब्धपर छोड़ दिया, प्रकृतिपर छोड़ दिया। प्रारब्धका संचालक भी परमात्मा ही है और प्रकृतिका संचालक भी परमात्मा ही है और भक्तने सीधे कह दिया भगवान्पर छोड़ दिया। बात एक ही है कि बोझ अपने ऊपर कोई नहीं है।

आप ईश्वरपर कितना विश्वास करते हैं, देख लें, तौल लें अपनेको जितना-जितना आपका विश्वास है, उतनी ही उतनी भगवान्की कृपा है-यह कृपा और अनुग्रह दोनोंके मेलसे ही मनुष्यका जीवन ठीक-ठीक संचालित होता है। अब उसको ढूँढनेकी जो प्रक्रिया बतायी, कि आप एक तो सत्कर्म कीजिये और दूसरे 'असंगशस्त्रेण दृढ़ेन छित्त्वा।' इसको भी बहुत साधारण सरल रीतिसे ही समझना चाहिए क्योंकि व्याख्याका अर्थ कठिनीकरण नहीं होता है-सरलीकरण ही होता है।

ऐसी भाषामें बोला जाय कि सुननेवाला समझ जाय। ये कहते हैं कि यह जो संसाररूपी वृक्ष है, वृक्षमें और संसारमें भेद क्या? वृक्ष तो काटनेसे कटता है, उसके लिए शस्त्र चाहिए, फरसा चाहिए, कुठार चाहिए, लेकिन संसारको काटना हो तो क्या चाहिए? असंगता चाहिए। यह अद्भुत है। वहाँ वृक्ष काटेंगे तो वृक्ष सूख जायेगा, वृक्ष विच्छिन्न हो जायेगा, वृक्ष नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा, कट जायगा। लेकिन असंगताका शस्त्र जो है वह ऐसा है कि वृक्ष ज्यों-का-त्यों बना रहे।

आपको यह नहीं करना है कि संसारमें हीरे-मोती न रहें-उनका अपना स्थान है। स्त्री-पुरुष न रहें, रहें उनका अपना स्थान है। पशु-पक्षी न रहें, उनका अपना स्थान है। अपने-अपने कर्मके अनुसार नाना प्रकारकी आकृति, प्रकृति प्राप्त करके अपने विकार-संस्कारके अनुसार मनुष्य संसारमें व्यवहार कर रहा है। पौधेको वैसे ही धरतीमें उगने दो और ऊपर बढ़ने दो। और पशु-पक्षी जैसे पैदा होते हैं, वैसे ही पैदा होने दो और आसमानमें उड़ने दो या धरतीपर चलने दो। स्त्री वैसी-की-वैसी रहे, पुरुष वैसा-का-वैसा रहे, परन्तु संसारमें किसी प्रकारका परिवर्तन करनेकी इच्छा न करके, असंग बने रहो।

यह सुधारक नहीं है, यह समाज-सेवी तो है, परन्तु समाज-सुधारक नहीं है। सबको सुख मिले,

सबका हित हो यह तो चाहता है, परन्तु जैसा होता जा रहा है, उसको हाँ-हाँ करता जा रहा है। यह नहीं कि ईश्वरसे कह दे कि ठहरो-यह काम ऐसे न हो। ईश्वरका सलाहकार बनना, बड़ी हिमाकतका काम है भला! बड़ा दुस्साहस है कि हम ईश्वरको सलाह दें कि तुमको ऐसे करना चाहिए और ऐसे नहीं करना चाहिए।

असंग शस्त्रका अर्थ यह है कि समाज स्वाभाविक परिवर्तनको स्वीकार करता जा रहा है, और करना चाहिए। यह बात नहीं कि महावीरके बाद बुद्ध न आवें, और बुद्धके बाद गाँधी न आवें, ऐसा नहीं या ईसाके बाद मुहम्मद न आवें-ऐसा भी नहीं। समयके अनुरूप जैसा-जैसा समाजमें, राज्यमें, लोगोंकी रहनीमें परिवर्तन होता जा रहा है-पहले तो जब रेलगाड़ी आयी तो पुराने लोग उसपर बैठना पसन्द नहीं करते थे। हवाई जहाज आया तो उससे डरने लगे। अब तो चन्द्रलोक, शुक्रलोक और मंगललोकमें जानेके लिए भी लोग आगे पाँव बढ़ा रहे हैं।

पुरानी बातोंका इतना न पकड़ा जाय कि हमारा आगे बढ़ना बन्द हो जाय। भूतके प्रति भी असंग और वर्तमानके प्रति भी असंग। यह असंगता-कहें कि फिर तो वेद, शास्त्र सब छूट जायेंगे, सनातन धर्म छूट जायगा, नहीं-इससे वेद, शास्त्र, सनातनधर्म नहीं छूटता है-क्योंकि यह वेद-शास्त्र ही बोल रहा है कि 'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।' तो वेद ही तो बोल रहा है न! 'असंगोऽयं पुरुषः। असंगो न हि सज्जते। यद् भव्यं तद्भाव्यं तद्भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम्।' शास्त्र ही तो बोल रहा है न! इसलिए भूतको पकड़नेकी बहुत जिद्द नहीं करनी चाहिए और वर्तमान इसी रूपमें हमारे साथ चले-राज्यकी यही परिपाटी रहे, माने लोकतन्त्र नहीं रहे इसमें भी आग्रह करनेकी जरूरत नहीं है।

कभी एकतन्त्र होता है, कभी गणतन्त्र होता है, कभी प्रजातन्त्र होता है। यह भी बदलता रहता है। इसमें यह दुराग्रह करके बैठ जाना कि हम तो यही रक्खेंगे और इसमें यह दुराग्रह करके बैठ जाना कि यह न रहे! एक हमको बड़े नेता मिले थे-नाम लेना उचित नहीं है क्योंकि मैं उनकी बात काट रहा हूँ। मैंने उनसे पूछा कि आखिर आप चाहते क्या हैं? तो बोले मैं इतना ही चाहता हूँ कि इन्दिरा सरकार उलट जाय। और मैं कुछ नहीं चाहता। यह तो उलट देनेवाली पद्धति है, यह भी असंगताके विपरीत है। और यह बना रहे यह पद्धति भी असंगताके विपरीत है।

हमें तो जैसा देश हो, जैसा काल हो, जैसी परिस्थिति हो, उसके अनुसार अपना बर्ताव करते जाना चाहिए। हमारे गुरुजीकी मूँछ जब काली-काली थी तब भी कंघीसे ऐसा बनाते थे, जैसे कौएकी पाँख हो और जब सफेद हो गयी, तब भी वैसे हो जमाते थे जैसे बगुलेकी पाँख हो। काले बाल कौएकी पंख जैसे—सफेद बाल बगुलेके पाँख जैसे और बीचमें हो तो तिलतण्डुल डोलायमान—काला तिल और चावल एकमें मिला दिया, उसकी भी एक शोभा है, खिचड़ी है। 'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा' का अर्थ यह है कि आप दुनियाको मत बदलिये, अपने मनको ऐसा बनाइये कि वह हर हालतको ठीक-ठीक स्वीकार करते जाय। यदि बुड्ढे लोग सबेरे स्नान करते हैं, सन्ध्या-वन्दन करते हैं, तो बहुत बढ़िया, उसको स्वीकार कर लीजिये। और यदि बालक लोग रातको ज्यादा जागते हैं—और सबेरे थोड़ी देरतक सोते हैं तो उनको माफ कीजिये, उनके साथ लड़िये मत। अपने

✻✻

बगीचेमें ही आँवलेके दो पेड़ साथ-साथ हैं, एक देशी है एक विदेशी है। जो देशी आँवला है वह सूर्योदयके साथ-साथ जाग जाता है-हरे-भरे पत्ते उसके खिल जाते हैं और जो विदेशी है वह आठ बजेके करीब उठता है।

तो आपको देश, विदेश, दोनोंकी जैसी-जैसी आदत है, स्वभाव है, उसको स्वीकार नहीं करेंगे तो आपके दिमागमें बहुत तनाव पैदा होगा, बहुत खिंचाव रहेगा। 'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।' देशके अनुसार, कालके अनुसार, अपनी वयके अनुसार, अवस्थाके अनुसार, मनोवृत्तिके अनुसार, रुचिके अनुसार मनुष्यकी प्रवृत्ति होती है। उसमें कहीं यदि आप आसक्त हो जायेंगे तो फिर उसीको पकड़े रहनेमें आपकी पूरी ताकत लग जायगी, आपकी शक्ति केवल पकड़े रहनेके लिए नहीं है।

आपकी शक्ति आगे बढ़नेके लिए है—और आगे बढ़िये—जैसे क्षण-क्षण घड़ीकी सुई आगे बढ़ती है, जैसे कण-कणमें निरन्तर परिवर्तन होता है, जैसे कोण-कोणमें नवीन-नवीन पदार्थ भरे पड़े हैं, इसी प्रकार आपकी बुद्धिमें, आपकी प्रतिभामें परमात्माका नया-नया रूप आये—नया-नया दर्शन हो, नया-नया साक्षात्कार हो। मेरे जीवनमें कुछ समय ऐसा रहा है कि जिस दिन हमको कुछ नयी बात न सूँझ जाय वह दिन हमको बेकार लगता था।

'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा' का अर्थ है—फँसिये मत, अटकिये मत। चरैवेति—आगे बढ़िये—चरेवैति। 'ततः पद छेदनेन तन्मार्ग परिमार्गितव्य'—छित्त्वा यह त्वा प्रत्ययका प्रयोग हो जानेपर ततः कहनेकी जरूरत नहीं रहती है। 'छित्त्वा ततः तत् परिमार्गितव्य' ऐसे बोलना चाहिए कि असंगता ही इसका छेदन है, अपनेको कट करो, संसारको कट मत करो। 'असंगशस्त्रेण' का अर्थ यह है कि दुनियाको मत काटो अपने आपको उससे अलग रखो—अलग-न रखो—यह संस्कृतका शब्द अलग-अलग हलन्त भी है—एकारान्त भी है। अलग् भी है और अलग-अलग भी है।

अपनेको अलग रखो, इसके साथ जोड़ो मत। बदलती है तो बदलने दो, नदी बहती है तो बहने दो—अपनेको मत जोड़ो। यह जीवनकी एक व्यवहारकी शैली है—और उत्तम-से उत्तम शैली है। शैली माने धारा-शिलासमुच्चयका नाम होता है शैल—चट्टानें। चट्टानोंको बोलते हैं पहाड़—चट्टानोंका ढेर और उनके ढेरका नाम होता है शैल और शैलमें-से जो धारा निकलती है, झरने निकलते हैं, उसको बोलते हैं शैली—माने यह ज्ञानके पर्वतमें-से तरह-तरहके जो विचारके, प्रतिभाके स्रोत उदय होते हैं उनकी एक शैली होती है—आप अपने जीवनकी यह शैली रखिये कि—

कही फँस मत जाइये। कारखाना घाटेकी ओर जाने लगा—चिपक गये, चिपक गये तो दूसरोंको भी लेकर चला गया। अरे चिपक गये-अरे छोड़ दो भाई—'हम तो छोड़ना चाहते हैं पर यह नहीं छोड़ता है'। ऐसे नहीं पकड़ना चाहिए, अपनेको बचाकर काम करना चाहिए। यह असंगशस्त्रेण हुआ और ततः माने छेदनेन ततः छित्त्वा छेदनेन इत्यर्थः-इस असंगताके द्वारा आप परमात्माके स्वरूपका अनुसन्धान कीजिये। ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं—उस पदका परिमार्गण कीजिये। कौनसा पद? ऊर्ध्वमूल-जो सबसे ऊपर है। वह ऊर्ध्व है और आदि है। इस बातको यदि ध्यानमें रखें तो सारी समस्याएँ हल हो जाती हैं।

✻✻

✻✻

आदि माने आप कहाँ सोचना चाहते हैं कि सृष्टि हुई, उसके पहले सृष्टि पूरबमें हुई कि नीचे हुई कि ऊपर हुई, कि पश्चिममें हुई। सृष्टि हुई। असलमें सृष्टि होती है, जहाँ आप हैं वहाँसे। यह दर्शनशास्त्रकी बात बहुत गम्भीर मानी जाती है कि एक तो होनेवाली सृष्टि होती है जो होती है। और एक मालूम पड़नेवाली सृष्टि होती है। हमको मालूम कैसे पड़ा? होनेकी आदि क्या है? इसका पता लगाना बहुत मुश्किल है। संसारमें कालका आदि कहाँ है? कौन-सा प्रथम क्षण है जहाँसे सृष्टिका प्रथम हुआ वह प्रथम क्षण यत्र सृष्टि प्रवर्वते—जहाँ सृष्टिका फैलाव शुरू हुआ, वह समय कौन-सा है।

वह स्थान कौन-सा है? आपने सुना होगा ब्रह्माजीसे पूछा गया सृष्टिका मध्य कौन-सा है? बीचों-बीच कहाँ है? तो ब्रह्माजीने एक कील उठायी और कानपुरके पास एक बिठूर जगह है, वहाँ उन्होंने गाड़ दी। बोले-सृष्टिका मध्य यह है। अभी जो दर्शन करते हैं तो वहाँ कील गढ़ी हुई है। तो किसीने ब्रह्माजीसे पूछा—यह सृष्टिका मध्य है, यह हम कैसे जानें? बोले नहीं जानते तो आओ ढूँढो। अकबरके बारेमें भी ऐसी ही बात है। बादशाहने पूछा कि बीरबल सृष्टिका बीचोबीच कहाँ है? उसने एक खूँटा लाकर गाड़ दिया—बोला जहाँपनाह जहाँ आप हैं, वही सृष्टिका मध्य है। बोले कैसे? बोला—आप पता लगवा लीजिये—ढूँढनेके लिए सी.आई.डी. लगवा दीजिये। सृष्टिका आदि अन्त जो ढूँढनेको जायगा, उसको सृष्टिका आदि-अंत नहीं मिलेगा। क्या मिलेगा? अज्ञान मिलेगा। अज्ञान माने नासमझी, बेवकूफी। आप कभी जान नहीं सकेंगे कि सृष्टिकी आदि कहाँ है और सृष्टिका अन्त कहाँ है?

सृष्टिकी आदि कब है और सृष्टिका अन्त कब है? कब और कहाँमें नहीं जान सकेंगे। तब कैसे जानेगे? जहाँसे मालूम पड़ता है, इसलिए 'छित्त्वा ततः छेदनेन तत् आत्मपदं तत्पदं आत्मपदं परिमार्गितव्यम्'। आप ढूँढो—ढूँढनेका रास्ता परिमार्गण है—मार्गण नहीं परिमार्गण है। रास्तेसे चलना—इसको ढूँढना नहीं है। रास्तेसे लौटना इसको ढूँढना है। 'परि' उपसर्गका अर्थ कहीं-कहीं वर्जन होता है। वर्जन माने कहीं ढूँढने मत जाओ। ढूँढनेके लिए अपने पास लौट जाओ। देखो तुम क्या हो? घड़ा कहाँसे पैदा हुआ? माटीसे। माटी कहाँसे पैदा हुई? पानीसे। ढूँढते जाओ। आकाश और आकाश कहाँसे पैदा हुआ? यह तो कहना पड़ेगा कि तुम तत्त्वको नहीं जानते हो। उसके कारण आकाश पैदा हुआ या पैदा हुआ ही नहीं है और या तो यह कहना पड़ेगा कि आकाश जिसको मालूम पड़ता है, उससे पैदा हुआ है। इसीको तस्माद्-वा एतस्माद् आत्मनः आकाशःसम्भूतः। हमको मोकलपुरके बाबाने बताया था कि मिट्टी पानीसे, गरमीसे, गरमी हवासे, हवा आसमानसे कैसे पैदा हुए।

महाराज उपनिषदोंमें तो लिखा है। हम उसको मानते हैं—देखो यह जो लिखा है वह सिर्फ माननेके लिए नहीं है, जाननेके लिए भी है। अपने शरीरमें मैल कैसे जमती है? पसीनेसे आती है। मैल माटी है और पसीना पानी है। पसीना कहाँसे आता है? गरमीसे आता है। पसीना पानी है और गरमी तेज है, अग्नि है। गरमी कहाँसे आती है? गरमी गतिसे आती है। जब बुखारमें ठंण्डक लगती है और हमारी नस-नड़ियाँ बड़ी जोरसे काँपने लगती हैं—तो क्यों काँपती हैं? वह ठण्डेको गरम बनानेकी प्रक्रिया है। शारीरिक प्रक्रिया है कि जब शरीर ठण्डा होने लगता है तो हमारी नस-नाड़ियाँ काँपकर उसको गरम बना लेती हैं।

✻✻

गरम होना यह अग्नि है और काँपना यह वायु है। और यह कहाँ होता है? आकाशमें होता है। यह बात केवल सुनने और माननेके लिए नहीं है—जाननेके लिए है और अनुभव करनेके लिए है। दर्शन-शास्त्रका अर्थ ही यह है कि सत्यको, तत्त्वको जो दिखा दे। आप तत्त्वको देखना नहीं चाहते हैं, देखना चाहते हैं कागजका बण्डल—चाहे वह ऑफिसमें रजिस्टर हो, चाहे नोटका बण्डल हो, देखना चाहते हैं, कागजका बण्डल, तत्त्वको, असलियतको कहाँ देखना चाहते हैं? 'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्'-ढूँढो कहाँ ढूँढें? बाहर मत ढूँढो-लौट आओ। यह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख-दु:ख और मोह ये कैसे मालूम पड़ते हैं?

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन्द्रियोंसे मालूम पड़ते हैं और सुख-मोह, ये बुद्धिकी अवस्थाएँ हैं। कहीं नहीं मिलते हैं—आपने सुख कहीं देखा है? सुख लाल होता है कि पीला होता है? स्त्रियोंका सुख और पुरुषोंका सुख सफेद कपड़ेमें भले हो—3-4 दिन पहले एक ब्रह्मचारी आया था, कपड़े तो उसके सफेद थे लेकिन इतने सफेद थे कि बिना (Tinopol) से रंगे इतने सफेद कैसे हो सकते हैं। ब्रह्मचारीजी कपड़ा तो सफेद ही पहनते हैं पर वह टिनोपॉलमें रंगा हुआ होता है। एक साधुका चेहरा जरा खुरदरा था पर दिखते बड़े चिकने थे। बिना स्नो-पावडर लगाये वे उतने चिकने कैसे दिख सकते हैं? परिमार्गण जो है-आप देखें संसारके शब्द, रस, रूप, स्पर्श, गन्ध ये तो इन्द्रियोंसे मालूम पड़ते हैं-लेकिन सुख-दु:ख ये बुद्धिमें होते हैं। यह अपने दिमागमें लोगोंने बैठा लिया है कि गरमी पड़े तो बड़ा दु:ख है—सरदीका मजा लेने ठण्डे देशमें जाते हैं। और ठण्डे दिनोंमें गरमीका मजा लेनेके लिए गरम देशमें जाते हैं। अब यदि आप गरमीके दिनोंमें गरमीका आनन्द ले लें और सरदीके दिनोंमें सरदीका आनन्द ले लें तो कहीं जानेकी जरूरत नहीं पड़ेगी।

सरदीके दिनोंमें ईश्वरकी दी हुई सरदी अच्छी नहीं लगती, गरमी ढूँढते हैं और गरमीके दिनोंमें ईश्वरकी दी हुई गरमी पसन्द नहीं आती है तो सरदी ढूँढनेके लिए जाते हैं। बाबा! यह शरीर गरम-सरद दोनों सहनेके लिए बना है। सुख-दु:ख क्या है? आपके मनमें किसीने बैठा दिया—1000-2000 साड़ी अपने पास हो तो हम बड़े सुखी हैं। साड़ीकी बात कभी-कभी हेमलता हमको सुनाती है। दिखाती है, यह साड़ी वहाँकी बनी है, यह साड़ी यहाँकी बनी है। हमारी जानकारी बढ़ती है उससे। इतनी साड़ी अपने पास हो तब तो हम सुखी हैं और उससे कुछ कम है तो दु:खी हैं। इतना हीरा, इतना मोती, इतना सोना, इतना चाँदी—बाबूकी कोई हँसी कर रहा था कि इतनी आमदनी क्यों हुई इस कारखानेमें? इस मिलमें 20 करोड़ क्यों आया 40 करोड़ आना था! तब किसीने इनकी हँसी कर दी। एक बेटा क्यों हुआ? दो होना चाहिए था। भाई मेरे, यह शब्द, स्पर्श रूप, रस गन्ध तो इन्द्रियोंसे मिलते हैं, देखे जाते हैं पर सुख और दु:ख ये दोनों मनमें ही होते हैं, इनका अधिकरण मन है और हमारे मनमें जैसा बैठा दिया—खाँडके खिलौने—गधे भी और घोड़े भी परन्तु हमको गधा नहीं चाहिए, घोड़ा चाहिए खानेके लिए तो गधा और घोड़ा दोनों शक्कर ही है। सुख और दु:ख जो है ये बिलकुल मनमें बैठाये हुए हैं—ये हैं नहीं। मन:कल्पना हैं ये।

अब सुख-दु:ख मनमें होता है तो मन कहाँसे बना है? हमारे एक सामान्य चेतनमें संस्कार डाल दिये गये हैं। उस चेतनको ढूँढो—'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं'—ज्ञान है-शुद्ध ज्ञान है, उसमें विकार और संस्कार ये

दोनों बाहरके निमित्तसे आये हुए हैं। स्त्रीको देखकर मनमें विकार होता है, क्योंकि हमारे माता-पिताको भी हुआ था। स्त्री-पुरुषको देखकर मनमें विकार आता है और विवाह करते हैं, वह संस्कारसे होता है, कि एक पुरुषमें, एक स्त्रीमें सन्तुष्ट रहना चाहिए। अब विवाह करनेके प्रकार जो हैं, वे देश-विदेशमें, जाति-जातिमें तरह-तरहके हैं। विकार आते हैं, उनके लिए संस्कार होता है। संस्कारके प्रकार होते हैं और वे जो प्रकार हैं वे एक ही प्रकृतिमें भिन्न-भिन्न प्रकार होते हैं। इसलिए आओ उनको अपनी ओरसे ढूँढें। इसको ढूँढनेसे आखिर होगा क्या? बोलते हैं तुम्हारा भटकना छूट जायगा।

यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।

व्याकरणके अनुसार निवर्तन्ते चाहिए परन्तु श्रीकृष्णने अपना व्याकरण लगा दिया इसमें। निवर्तन्ते न कहकर निवर्तन्ति कह दिया। जगह हो तो कहीं जायेंगे और जगह हो तो कहीं आयेंगे। न निवर्तन्ति कहनेका अर्थ है न निवर्तन्ते तो उसका अर्थ होता है-

न प्रवर्तन्ते। न प्रवर्तन्ते न निवर्तन्ते।

वहाँ न जाना है न आना है। कबीर बोलते हैं 'अबकी गौना-बहुरि न आवना'। अबकी जावेंगे तो लौटकर नहीं आवेंगे। 'सुरति बिरहलिया छाई निज देस। जहाँ न सरत. जहाँ न मूरत-पूरन घनी दिनेस। झण्डा गाड़ो जाइके हद-बेहदके पार।' यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः। जहाँ जानेके बाद फिर लौटना नहीं पड़ता। ऐसे घर क्या जाना जहाँसे निकाल दिये जायँ-नरकमें-से भी निकाल दिये जाते हैं, स्वर्गमें-से भी निकाल दिये जाते हैं और तो क्या जय-विजय बैकुण्ठमें-से भी निकाल दिये गये। कथा सब लोग जानते हैं।

गोलोकमें-से श्रीदामाको १०० वर्षके लिए मनुष्यलोकमें आना पड़ा और सौ वर्षके लिए राधारानीका वियोग हो गया श्रीकृष्णसे। जहाँ संयोग और वियोग दोनों लगे हैं वहाँ सुख-दु:खके संस्कार अवश्य रहेंगे। इसलिए सुख-दु:ख और मोह-हम फँसे हैं मोहमें-यह तमोगुणका रूप है और दु:ख जो है वह रजोगुणका रूप है और सुख जो है वह सत्त्वगुणका रूप है। सदंशके अज्ञानसे मोह होता है, चिदंशके अज्ञानसे भ्रम होता है। और आनन्दांशके अज्ञानसे दु:ख होता है आनन्दका विवर्त है सुख और चित्तका विवत है जड़ और सत्का विवर्त है असत् मिथ्या।

इन तीनोंको देखा जाता है, इनका साक्षात् अनुभव होता है, परमात्माका दर्शन होता है, आपके मनमें देखनेकी इच्छा! 'यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।' इसको हम जब 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'का प्रसंग आवेगा तब सुनावेंगे कि यह धाम क्या है-गोलोक है कि वैकुण्ठ है कि स्वर्ग है कि अपने हृदयमें ही कोई भगवान्‌का धाम है कि स्वयं भगवान् ही धाम हैं। स्वयं भगवान् ही धाम हैं, स्वयंप्रकाश होनेसे ज्योतिर्मय हैं, ज्योतिरूप हैं और सद्रूप होनेसे अधिष्ठान हैं-सत् होनेसे सबके अधिष्ठान हैं, और चित् होनेसे सबके प्रकाशक हैं-स्वयं प्रकाश परमात्माका नाम ही धाम है

.............यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ 15.4

✻✻✻

अब उसको कैसे ढूँढना चाहिए इसकी शैली, प्रक्रिया, इसका ढंग बताते हैं। श्रीकृष्ण तो महाराज बड़े नट हैं-भगवान्‌का रूप नट है, शङ्करजीको नटराज बोलते हैं-और श्रीकृष्णको नटवर बोलते हैं।

सोई सोई रूप दिखावइ आपुन होइ न सोई।

गोस्वामीजीने कहा 'जथा अनेक रूप धरि नृत्य करई नट कोई। सोई-सोई भाव दिखावइ आपुन होइ सोई।' कैसे ढूँढना चाहिए? तो नाटक किया-'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये'-यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।' उस आदि पुरुषकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ जिससे ये पुरानी पुराणकालसे यह सृष्टि चली आ रही है, फैली है, यह दुनिया इतनी फैल गयी है-जिस आदि पुरुषसे, उसकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ। प्रपद्ये-माने सृष्टिका आदि जहाँ है वहाँ जाकर इस सृष्टिके रहस्यको जाना जाता है। आदिमें पहुँची-विषयोंकी आदि कहाँ है? इन्द्रियोंमें। इन्द्रियोंकी आदि कहाँ है? पञ्चतन्मात्रमें। पञ्चतन्मात्राकी आदि कहाँ है? मनमें, और मनकी आदि कहाँ है? बुद्धिमें। बुद्धिकी आदि कहाँ है? समष्टि बुद्धिमें और समष्टि बुद्धिको आदि कहाँ है? अव्यक्तमें, प्रकृतिमें और प्रकृतिकी आदि कहाँ है? अपने आपमें।' तमेव चाद्यं पुरुष प्रपद्ये'-यहाँ प्रपद्ये यतः के पाठमें प्राचीनकालसे ही मतभेद चला आ रहा है। 'प्रपद्ये तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ययतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी'-यह एक पाठ है। श्रीरामानुजाचार्यके सम्प्रदायमें इस पाठको स्वीकार करते हैं। ढूँढे कैसे? ईश्वरकी शरणमें होकर ढूँढे। भगवान्‌ने नाटक करके बता दिया कि भगवान्‌की शरणमें होकर, परमेश्वरकी शरणमें होकर ढूँढे।

जब मुझे भी भगवान्‌की शरणमें होकर ढूँढना पड़ता है तो अर्जुन, तुमको तो भगवान्‌की शरणमें होना ही चाहिए। मैं तो हो गया हूँ महाराज-तुम अभी शरणमें कहाँ हुए? अभी तो तुम शरणमें नहीं हुए।

अर्जुनने कहा मैं तो हो चुका हूँ-'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।' मैं तो तुम्हारा शिष्य हूँ, 'शाधि' मेरा शासन करो- आज्ञा दो कि यह करो, यह मत करो-बाबू पहले तो बोल गये कि आज्ञा दो, जो आज्ञा दोगे सो करेंगे और फिर बोल गये कि 'न योत्स्ये इति गोविन्दमुक्त्वा'-मैं लड़ूँगा नहीं। और सब बात तुम्हारी मानूँगा पर लड़नेवाली नहीं मानूँगा।

लो, इसीका नाम शरणागति है! एक बात छोड़कर और सब माननेको तैयार हूँ। तो मानना कहाँ हुआ? भगवान् श्रीकृष्णने कहा 'प्रपद्ये' जो है-मैं स्वयं प्रपद्य होकर जानता हूँ और तुम भी शरण हो करके जानो। और किसी-किसीने तो 'प्रपद्ये यतः' को 'प्रपद्ययतः' कर दिया। प्रपद्यमें-से इ निकालकर यतःके साथ जोड़ दिया।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ययतः प्रवृतिः प्रसृता पुराणी।

तीन पाठ मिलते हैं 'प्रपद्य, प्रपद्ये और प्रपद्ययतः।' अर्जुन भगवान्‌की शरणमें नहीं है क्या? शरणागति ऐसी सीधी-सीधी नहीं है। बहुत सरलता, पूर्ण सरलता जीवनमें हो तब शरणागति होती है। जरा भी दाँव-पेंच होवे तो शरणागति नहीं होती। थोड़ा भी छल-कपट रखकर शरणागति नहीं होती है। बोले-हाँ महाराज और सब तो ठीक है-हम आपकी शरणमें हैं, कहो तो हम होम करें, कहो तो सन्ध्यावन्दन करें, कहो तो गायत्रीका जप करें, कहो तो भूखे रहें-सब आज्ञा पालन करनेके लिए हम तैयार हैं।

✻✻✻

✻✻✻

बोले बस-बस तुम्हारी कमजोरी पकड़ गयी। अभी तुम्हें तुम्हारा धर्म, तुम्हारा मंगल करेगा यह भरोसा है तो आगे कहा-

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।

× × ×

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

देखो यहाँ शरणागति में भी दो भाव है। एक तो 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन'-अपने सब भावोंको लेकर भगवान्‌की शरणमें आओ और एक में है-सब भावोंको छोड़कर भगवान्‌की शरणमें आओ। 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।' अपना सबकुछ लेकर भगवान्‌की शरणमें जाओ। पहलेमें कही गयी बात और दूसरेमें कही गयी-सबकुछ छोड़कर मेरी शरणमें आओ।

अर्जुन-तुम्हें ढूँढना है तो 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृति प्रसृता पुराणी' उस आदि पुरुषको ढूँढो। अच्छा महाराज-यह प्रपत्ति क्या है यही बता दो; शरणागति क्या है? शरणागति यह है कि जब हम अपने स्वामीके पास जाते हैं तो जरा चिकने-चुपड़े होकर जाते हैं।

एक सेठके बारेमें हमको मालूम है-हमारे एक मित्र गये उनसे मिलने-सेठके भी मित्र थे, हमारे भी मित्र थे। सेठने उनको दूरसे देख लिया-आशीर्वाद, नमस्कार हुआ। पहले जाकर बाल बनवाओ, स्नान करो, कुछ नाश्ता-पानी करके फिर मेरे पास आओ। ऐसे रूखे-सूखे, भगे कहाँसे चले आ रहे हो? भगवान्‌के सामने भी जाना हो तो जरा चिकना-चुपड़ा होकर ही जाना चाहिए।

भगवान्‌की बदनामी तो नहीं करवानी चाहिए न! कि भगवान्‌का भक्त होकर, भगवान्‌का सेवक होकर यह दीनहीन है।

मुकुर मलिन अरु नयन विहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना॥

शीशा तो मैला है, गन्दा है और आँख है नहीं-रामरूप कैसे देखेंगे? दुनियाके लिए गरीब हो रहे हैं, हमको यह चाहिए-यह चाहिए। बाबा जाओ! पहले वही लो तुम, फिर पीछे मेरे पास आना। भगवान् कहें-सुग्रीव जा, राज्य कर। विभीषण जा लंकाका राज्य कर, मन्दोदरीके साथ व्याह कर, मेरे पास पीछे आना। अभी तुमलोग मेरे पास रहनेवाले नहीं हो। और श्रीरामने हनुमानजीको नहीं कहा कि आओ! हनुमानजीने खुद ही कहा कि हम तुमको छोड़कर नहीं जावेंगे।

शरणागतिमें भी, कैसी शरणागति होनी चाहिए-'निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः। द्वन्द्वैर्विमुक्ता सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढा पदमव्ययं तत्।'

अब आप देखो-वहाँ तो अव्यय शब्दका प्रयोग अश्वत्थ वृक्षके लिए आया और यहाँ परमात्माके लिए अव्यय शब्दका प्रयोग आया। दोनोंकी मिलान तो करनी ही पड़ेगी। वहाँ अव्ययके साथ एक अश्वत्थकी उपाधि लगी हुई है, इस उपाधिको जब छोड़ देंगे तब निरुपाधिक अव्यय परमात्मा हो जायगा।

इसलिए सोपाधिक परमात्माका नाम अश्वत्थ होगा और निरुपाधिक परमात्माका नाम शुद्ध अव्यय होगा।

✻✻✻

गच्छन्त्यमूढा पदमव्ययं तत्।

परमात्माके पास कौन पहुँचता है? परमात्माके पदका साक्षात्कार किसको होता है? जो मूढ़ नहीं होता। मूढ आदमीको अपने घरमें रख लें तो आग ही लगा दे, कहाँ बरतन फोड़ दे।

हमारे पितामह थे, हमलोगोंको बहुत डाँटते, फटकारते थे। गिलासको थालीमें रक्खा-खनसे बोल गया। अरे राम-राम-राम, क्या करते हो? सावधानीसे रक्खो। चलते समय पाँव क़हीं टकरा गया, ठोकर लग गयी। बोले-देखके चलो। चलते समय सिर दरवाजेमें टकरा जाता था। बड़े होनेपर किवाड़ियोंमें तारकोल लगा होता, उसमें चिपक जाते, तो हर बार डाँट पड़ती कि देखो, यह सब सावधान रहनेके लिए है। सावधान रहो-मूढ हो गया-कौन? जो चिपक गया वह।

मूढ माने अटक जाना। 'गर्भो मूढः।' पेटमें बच्चा भटक गया। माने अपने रास्तेसे नहीं आ रहा है। अब वैद्य लोग औषधि करेंगे, हकीम लोग उसकी युक्ति निकालेंगे, डाक्टर लोग आपरेशन करेंगे तो अब आपरेशनकी जरूरत हो गयी, क्योंकि हम इस प्रकृतिके गर्भमें अटक गये, मूढ हो गये, इससे बाहर निकलनेका उपाय हम नहीं करते हैं, रास्ता ही भूल गया, तो 'परिमार्गितव्यं' करके-अमूढाः जो रास्तेमें कहीं अटकेगा नहीं, भटकेगा नहीं-वह परमात्माके पास पहुँचेगा।

एक जंगलमें कोई आदमी रहता था तो उसको मालूम नहीं था कि हमारे राजा, महाराजा कैसे होते हैं, कोई शहरके सज्जन गये और उन्होंने बताया कि महाराज तो ऐसे होते हैं, ऐसे उनके वस्त्र होते हैं, ऐसे आभूषण होते हैं, ऐसे चमाचम चमकते हैं, उसने कहा कि हम तो राजाका दर्शन करेंगे। अब वह भी अपना कपड़ालत्ता बढ़िया पहनकर राजाके दरवाजेपर पहुँचा, वहाँ देखा-एक आदमी खड़ा है, उसकी पगड़ी और उसकी पोशाक देखकर दण्डवत् करने लगा और कहा महाराज, मैं आपका ही दर्शन करने आया हूँ। बोले-अरे भाई! तुम किसका दर्शन करने आये हो? वह बोला-मैं महाराजका दर्शन करने आया हूँ। मैं महाराज नहीं हूँ, और भीतर जाओ।

अब और भीतर गया तो मुनीम मिला, उसकी शान-बान और-महाराज, आपका दर्शन करनेके लिए मैं आया हूँ-वहाँ मालूम पड़ा कि यह नहीं है। और आगे गया। दीवान साहब मिले-महाराज, मैं आपका ही दर्शन करने आया हूँ बोले-नहीं, नहीं मैं महाराज नहीं हूँ और आगे जाओ, तब वह महाराजके पास पहुँचा, तो जो लोग रास्तेकी वस्तुओंमें ही फँस जाते हैं-बड़े-बड़े चमाचम चमकते हुए दृश्य मिलते हैं। देवताका रूप धारण करके भूत-प्रेत आते हैं, ईश्वरका रूप धारण करके पितर और देवता आते हैं-कभी ब्रह्माको देखकर ईश्वर होनेका भ्रम होता है, कभी रुद्रको देखकर ईश्वर होनेका भ्रम होता है, कभी विष्णुको देखकर ईश्वर होनेका भ्रम होता है और कभी निराकारको देखकर ईश्वरके होनेका भ्रम होता है।

तो अमूढा, जो रास्तेमें छोट-छोटी चीजोंमें नहीं अटकते हैं-जो छोटी-छोटी चीजोंमें ही फंस गये-अठन्नी पकड़कर हाथमें बैठ गये और उसको छोड़नेके लिए तैयार नहीं है तो रुपया कहाँसे आयेगा?

हमारे पास पाकिस्तानसे एक सज्जन आये थे। बहुत रुपया लेकर आये थे। वे कहते थे कि मैं तो

पाकिस्तानसे सार-सार निकालकर ले आया हूँ। कोई काम अब सोच रहा हूँ। तीस वर्षतक जिन्दा रहे-सोचते रहे कि काम क्या करूँ? सब चौपट हो गया, अन्तमें खाने-पीनेको कुछ नहीं रहा। काम तो धड़ाधड़ करना होता है, उत्साहके साथ, साहसके साथ-जिसमें साहस नहीं है वह काम क्या करेगा? यह जो अपने चित्तमें अटकन है, जो भटकन है, जो लटकन है, जो फटकन है, उसको जो छोड़नेके लिए राजी नहीं होगा, मूढ हो जायेगा, वह परमात्माको कैसे प्राप्त करेगा!

आगे बढ़ना है। कैसे आगे बढ़ना है। आप अपनी पकड़को देखिये। निर्मानमोहा—मान, मोह आपकी एक पकड़ है। शान बनानेमें, इज्जत बनानेमें आदमी अपनेको नष्ट कर देता है।

20-25 वर्ष पहले कि बात है, एक सज्जन एकान्तमें हमारे पास दुःखी होने लगे। महाराज, अब तो व्यापार टूट गया, उखड़ गया। अब हमारे जीवनमें कुछ सार नहीं है। मैंने उससे पूछा—तुम्हारे सात मोटरें चलती हैं, जब तुम्हारे पास पैसा कम है तो तुम सातकी जगह दो रख लो। बोले महाराज ऐसा मत कहो—लोगोंको मालूम पड़ेगा कि हमारे पास पैसा कम हो रहा है तो अपना-अपना उठा लेंगे। हमारा कल दिवाला निकलना है तो आज ही निकल जायगा। हमें शान तो बनाये ही रखनी पड़ेगी!

मान अटकाता है। यदि शान-शौकत छोड़कर आदमी सरल जीवन व्यतीत करें, काहेका अभिमान है? मोह है, छोड़ नहीं सकते—एक आदमी पानीमें डूब रहा था—उसको कोई कहे, हम कपड़ा फेंकते हैं, इसको तुम पकड़ लो—तो वह कहेगा हम नहीं पकड़ेंगे। हम पकड़कर निकलेंगे! तो फिर डूबोगे। एकने कहा देखो तुमने उस दूसरे आदमीको पकड़ रखा है, तुम भी डूबोगे, वह भी डूबेगा—छोड़ दो उसको—हम नहीं छोड़ेंगे। दोनों हालतमें डूबेगा।

निर्मानमोहाका अर्थ है, मान है अपनी शानको बनाये रखनेके लिए। अभी हालकी ही बात है एक सज्जन आये थे, उनके कारखानेमें बहुत बड़ा नुकसान हो गया था तो मैंने कहा कि तुम जाहिर करोगे तो सरकारकी ओरसे तुमको मदद भी मिलेगी और सब ठीकठाक हो जायेगा—तो बोले महाराज, हम जाहिर कैसे करें कि हमारा इतना नुकसान हो गया है। तब क्या करेंगे? बोले, जाहिर करेंगे तो लोग अपना शेयर ही निकाल लेंगे। हम तो जाहिर नहीं करेंगे, किसी-न-किसी तरहसे सह लेंगे।

मानसे आदमी दुःखी होता है। और मोहसे भी दुःखी होता है और संगमें भी दुःखी होता है। 'जितसंगदोषा'—छूटता कैसे है? 'अध्यात्मनित्याः' अपने भीतर देखो, तुम्हारे भीतर ईश्वर है। झिलमिल-झिलमिल झलक रहा है, जगमगा रहा है तुम्हारे भीतर, चमचम चमक रहा है। परमेश्वरकी धूप-छाँह क्षण-क्षणमें प्रकट हो रही है और वह धूप-छाँह तुम्हारी है, तुम्हारी छाया है। प्रश्नोपनिषद्में है, 'यथा पुरुषे छाया'—वह परमेश्वर तुम्हारे हृदयमें है। मान, मोह, संग, कामना छोड़ करके परमात्माको देखो, तुम्हारी आँखोंके पीछे परमात्मा है, ऐसा इन्द्र-विरोचनको प्रजापतिने बताया था। तुम्हारी आत्माका ही नाम परमात्मा है! ऐसा सनकादिने कहा है। आप ढूँढ़ो तो सही। 'अध्यात्मनित्य' हो जाओ-आपके हृदयमें ही सत्यकी, परमेश्वरकी, यथार्थकी, परमार्थकी प्राप्ति हो जायगी। ●

****

प्रवचन : 4

8-11-86

भगवान्‌की ओर चलनेके लिए, संसारसे लगाव कम होना चाहिए। काम सब करें पर लगाव भगवान्‌के साथ रखें। जैसे कोई मुनीम सेठके यहाँ काम करता है, तो उसको आश्रय तो सेठका है, लेकिन उसका प्रेम अपनी पत्नीसे, अपने पुत्रसे, अपने घरसे रहता है। परन्तु भक्त जब भगवान्‌की भक्ति करता है, तो उसके आश्रय भी भगवान् हैं और प्रेमास्पद भी भगवान् हैं। मुनीमका मन दो जगह बंटा हुआ है। एक मालिककी सेवा करनेमें और एक अपने शरीर और शरीरके सम्बन्धियोंके पालन-पोषणमें। भक्त जो है वह मुनीम नहीं है। परिवारके लिए सेठका जैसा आश्रय मुनीमने लिया है वैसे नहीं; यह तो भगवान्‌से शुद्ध प्रेम करता है।

आप जानते हैं हमारे ब्रिटिश सरकारके एक सदस्यने, एक स्त्रीसे प्रेम किया और उसके लिए उसने इतना बड़ा साम्राज्य अस्वीकार कर दिया। सम्राट पदको अस्वीकार किया और स्त्रीको प्राप्त किया। भगवत्-प्राप्तिके लिए लालसा जो मनमें होती है वह ऐसी होनी चाहिए कि एक लालसा बन जाय। बम्बईमें एक लड़की थी वह संगीत सीखनेके लिए किसीके पास जाया करती थी। बड़े नामी गायक थे। लड़कीको हो गया उनसे प्रेम—वह 19 वर्षकी और सिखानेवाले चालीस वर्षके। घरवालोंको कुछ पता नहीं था। जब एकदिन उसने घोषणा की कि हम तो उसके साथ विवाह करेंगे, चली गयी उनके घर, फिर पंचायत हुई। बड़े-बड़े लोग इकट्ठे हुए। उसके माँ, बाप, दादा, दादी रोये। मेरे पास भी आकर रोये। लड़कीसे पंचायतमें पूछा गया कि तुम क्या पसन्द करती हो अपने माँ, बाप, दादा, दादी, भाई, बन्धुओंको या उस प्रेमास्पदको? उसने जहाँ बैठी थी वहाँसे उठकर उस व्यक्तिका हाथ पकड़ लिया और बगलमें जाकर बैठ गयी कि मैं तो इनको चाहती हूँ। भगवत्-प्राप्तिके लिए मनमें होनी चाहिए एक लालसा और व्यवहारमें सबसे होनी चाहिए असंगता। संग—आसक्ति केवल भगवान्‌से चाहिए। घूमो फिरो, आओ, जाओ, मिलो, जुलो और अन्तमें आकर भगवान्‌के पास बैठ जाओ।

'जैसे उड़ि जहाजको पंछी, पुनि जहाजपर आवे। मेरो मन अनन्त कहाँ सुख पावै।' मेरा मन अन्यत्र कहाँ सुख प्राप्त करेगा? घूम-फिरकर भगवान्‌के पास आकर बैठेगा—उनसे मिल लिया, उनसे जुल लिया, वह काम कर लिया और अन्तमें विश्राम-स्थान भगवान्‌का स्वरूप ही है। दूसरी बात चाहिए, अनुसंधानकी तीव्र आकांक्षा। हम तो भगवान्‌को पा करके ही रहेंगे। हमेशाके लिए प्राप्त करेंगे और भगवान्‌की प्राप्तिमें भगवान्‌की सहायता ही सर्वोपरि साधना है। यह तो ऐसे हैं कि कोई चाहे कि हम भगवान्‌को प्राप्त करेंगे तो स्वयं नाव लेकर आजाते हैं।

****

****

व्रजमें यह बात प्रसिद्ध है कि गोपियाँ जमुना पारसे जब सायंकाल लौटने लगीं—कोई नाव नहीं थी कोई मल्लाह नहीं था, तो स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण नाव लेकर उनके पास पहुँच गये। उन्होंने उनको पहचाना नहीं कि ये कृष्ण हैं—नाव और पास ले आओ तो बोले, नहीं नाव तो इतनी ही आ सकती है, तुमको आना पड़ेगा। नहीं हम पानीमें नहीं आसकती हैं—बोले इतनी गोपियोंको मैं एकबारमें पार भी नहीं कर सकता। उनका मटका छुड़ा दिया, उनके जेवर उतरवा लिये, उनके कपड़े भी कम करवा दिये और स्वयं उठा-उठाकर अपनी गोदमें ले-लेकर उनको नावपर रख लिया और नाव चलाने लगे।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।

जब मनुष्य भगवान्‌की ओर जानेके लिए तत्पर होता है तो भगवान् स्वयं उसकी यात्रामें सहायता करते हैं। उसको बल देते हैं।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।

जिन्होंने यह दुनियाका जाल फैलाया है। प्रवृत्तिका जाल फैलाया है—अनादि कालसे बहुत पुरानी संसारकी ओर प्रवृत्ति चल रही है। यह जिन्होंने फैलायी है, उन्हींकी शरण ग्रहण करनी चाहिए। कहते हैं कि मल्लाह जब जाल फैलाता है मछलियोंको पकड़नेके लिए तो जो मछली मल्लाहके पाँवके पास चली जाती है वह जालमें नहीं फँसती। जालमें वही मछली फँसती है, जो मछुयेके पाँवसे दूर होती है। जो भगवान्‌के चरणोंकी शरण ग्रहण कर लेते हैं, उनके लिए इस संसारमें फँसनेका डर नहीं रहता है। पहले तो हम लोगोंके घरमें दाल दली जाती थी, आटा पिसा जाता था, चक्की चलती थी, जाँता चलता था। तो उसमें यह बात देखनेमें आयी कि जो मटरमें या अरहरमें या मूँगमें कीड़े हैं—वे चक्की के मध्य लगी कीलके पास जो पहुँच जाते थे वे जिन्दा बच जाते थे और जो कीलके पास नहीं पहुँचते वे पिस जाते थे।

यह भगवान्‌का जो फैलाया हुआ जाल है, चलती हुई चक्की है। इसमें जो कीलके पास पहुँच गया, मछुएके पाँवके पास पहुँच गया वह छूट जाता है। इसलिए इससे छूटनेका उपाय है—भक्ति। इसके सिवाय अपने जीवनमें भगवान्‌की ओर चलनेकी तैयारी चाहिए वह तैयारी हमें ध्यान रखकर करनी चाहिए। तैयारी तो ऐसी है कि यदि वह तैयारी हम अपने जीवनमें करें तो भगवत्-प्राप्ति तो होगी ही, अपने जीवनका भी उत्तमसे उत्तम कोटिका निर्माण हो **सम्मानात् ब्राह्मणो नित्यं उद्विजेत विषादिव।**

एक धर्मात्माको चाहिए कि वह जहाँ सम्मान प्राप्त हो—अखबारोंमें नाम छपे, कीर्ति बढ़े—सरकार खुश हो, लाइसेन्स मिले, इस दृष्टिसे धर्माचरण न करके अपने अन्तःकरणकी शुद्धिकी दृष्टिसे—

योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये।

इससे हमारे हृदयमें पवित्रता आवे इसके लिए कर्म करना चाहिए। सेवक भी हो और मान भी चाहे, तो 'सेवक सुख और मान भिखारी'—सेवामें अपने बड़प्पनको रखकर सेवा नहीं की जाती है। अपने बड़प्पनका त्याग करके सेवाकी जाती है। और ज्ञानकी जो प्राप्ति है, उसमें व्यक्तित्वकी जो अभिमान है वह छोड़ना ही पड़ता है। ज्ञानका अर्थ ही है। कि हम छोटी-छोटी बातोंको लेकर जो अपनेको बड़ा मानते हैं—

****

वहाँसे हम मुक्त हो जायँ। अपने आपको जब परमात्माके प्रति समर्पित करना होता है तो उसमें मानका परित्याग करना पड़ता है। 'मानमोहाभ्यां निष्क्रान्तः निर्मानमोहश्च,निर्मानमोहश्च,निर्मानमोहश्च'-प्रत्येक साधकको अलग-अलग मान और मोहसे मुक्त होना चाहिए। इसमें मान जो है वह स्वनिष्ठ है और मोह जो है वह परनिष्ठ है। अपने बड़प्पनका तो होता है मान। हम बड़े भारी ज्ञानी हो गये—ज्ञानी नहीं हो गये आप अज्ञानी हो गये। 'ज्ञान-मान जहँ एको नाहीं'—ज्ञान तो वह होता है, जहाँ किसी भी प्रकारका मान होता नहीं है। ज्ञानी यह अभिमान नहीं करता कि मैं बड़ा ज्ञानी हूँ।

जीवन तो सर्वथा जिज्ञासुका ही होना चाहिए। नयी-नयी विधा नयी-नयी प्रतिभाका उन्मेष जीवनमें होना चाहिए। नया-नया विकास होना चाहिए। जीवन ठप्प करनेके लिए ज्ञान नहीं है। जीवनको प्रकाशमान करनेके लिए ज्ञान होता है। यदि आप अपने व्यक्तित्वको पकड़कर बैठ जायेंगे—श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके सामने एक दिन चर्चा चलने लगी कि ज्ञानी कौन है? बाबाने ऐसी बात कही कि ज्ञानी तो न आज कोई है, न हुआ, न होगा। लोग आश्चर्यचकित रह गये कि बाबा क्या बोल रहे हैं?

बड़े-बड़े महात्मा बैठे हुए थे। बंगाली बाबा, स्वामी उग्रानन्दजी—12-12 घण्टे एक आसनसे बैठकर बात करनेवाले—एक आसनसे ध्यान करनेवाले—तो बाबाने कहा ज्ञानस्वरूप ब्रह्म तो है परन्तु अपनेको ज्ञानीपनेका अभिमान रखनेवाला कोई नहीं है। यदि ज्ञानीपनेका अभिमान रहेगा तो वह आदमी बनकर रह जायेगा उसमें जो परमात्माका सत्यस्वरूप है, वह प्रकट कैसे होगा? बड़े-बड़े विद्वानोंने,महापुरुषोंने भी यही कहा है कि यह जीवन तो विद्यार्थीका जीवन होना चाहिए। सीखते चलो, सीखते चलो यह मत सोचो कि अब इति-परिमिति हो गयी, इसके आगे कुछ नहीं है।

जो अपने व्यक्तित्वका, अपनी जातिका अभिमान करेगा वह ज्ञानसे वंचित हो जायेगा। यह सिखाना कोई मामूली काम नहीं है। सीखते जाओ और सिखाते जाओ इसमें तो कोई हर्ज नहीं है, लेकिन अब हमको सिखानेका ही अधिकार प्राप्त हो गया है और सीखनेके अधिकार से हम मुक्त हो गये, यह बहुत बड़ी हानि है। दूसरी बात यह है कि यह मोह जो है—मोह माने उलटी खोपड़ी—संस्कृतमें मुह् वैचित्ये—चित्तका विपरीत हो जाना, जहाँसे प्रकाश मिल रहा है उस ओर नहीं देखना—जहाँ अन्धकार है वहाँ देखना—दृश्यकी ओर—प्रपंचकी ओर, जड़ताकी ओर, कि अन्धकारकी ओर जाना है और वहीं मोह हो जाता है। दुनियामें गौतम ऋषिने गिनकर प्रकट किया है कि तीन ही दोष हैं—दोष जीवनमें केवल तीन ही हैं—दुःख तो उन्नीस प्रकारके होते हैं; किन्तु दोष केवल तीन प्रकारके होते हैं। और वे तीन प्रकारके दोष क्या है?

किसीके मुहब्बतमें फँस जाना, राग होना या किसीसे द्वेष, दुश्मनी—नफरत हो जाना और कहीं मोहके चक्करमें फँस जाना। दुनियामें जितने भी दुःख हैं, आपके दुःखका रूप चाहे जो कुछ भी हो, धनका गमन हो, जनका मरण हो, भवनका दहन हो, शरीरमें रोग हो—कुछ भी दुःखका रूप क्यों न हो, परन्तु दुःख केवल तीन ही बातोंसे होता है। जिससे मुहब्बत थी वह छूट गया तो दुःख हुआ। जिससे नफरत थी वह मिल गया तो दुःख हुआ और जिसको हम पकड़कर बैठे, छोड़ नहीं पाते हैं उससे दुःख होता है।

दुःखके केवल तीन ही कारण है। दोष तीन हैं और दुःख उन्नीस है, ऐसी गिनती गौतमने न्यायशास्त्रमें की है।

मान और मोहका परित्याग करके परमेश्वरकी ओर चलिये। और संगका दोष बहुत आता है। नास्तिकोंका संग करो, नास्तिक हो जाओगे। आस्तिकोंका संग करो, आस्तिक हो जाओगे। हमने ऐसे लोगोंको देखा है जो बड़े पवित्र आचरणसे रहते थे, जब उनका संग बिगड़ा तो उनका खान-पान बिगड़ गया। जो माला फेरते थे वे जुआ खेलने लग गये। जो परस्त्री-परपुरुषकी ओर देखते नहीं थे वे व्यभिचारी, अनाचारी हो गये।

संगका बहतु प्रभाव अपने जीवनमें पड़ता है, यह ध्यान रखने योग्य है कि हम संगति किसकी करते हैं? कलकत्तेके एक सज्जन थे, जब उनके पास दस लाख रुपया था तब चौकेमें रसोई बनती थी, ब्राह्मण बनाता था, हाथ-पाँव धोके, कपड़ा उतारके क्यारीमें बैठकर खाते थे। जब पचास लाख हुआ तब क्लबमें गये और वहाँ जाकर उन्होंने खाना शुरू किया, नाचना शुरू किया। फिर वे विदेशमें गये तो वहाँके आचारका जो संस्कार था वह बिलकुल बदल गया।

हमारी अच्छाई-बुराईसे हमारा मतलब नहीं है। मतलब तो यह है कि संगतिका असर बहुत ज्यादा पड़ता है। आप अपने बच्चोंके सम्बन्धमें भी सावधान रहें। वह आपके बहुत प्यारे हैं यह ठीक है, उनके बारेमें आपको बहुत आशा है यह भी है। परन्तु उनके जीवनका निर्माण वैसा ही होगा, जैसोंकी वे संगति करते हैं। संग माने होता है संयम—किसीके साथ मिल जाना, किसीके साथ एक हो जाना। वे कहेंगे—अरे भाई चलो, इसमें क्या रक्खा है कर लो! जिनको रुपये रखनेकी आवश्यकता नहीं है—जिनके पास बहुत है, वे भी जब जूआ खेलनेवाले, लाटरीवाले, सटोरियोंके साथ पड़ते हैं तो उनकी वही गति हो जाती है। सदाचारी भी दुराचारीके साथ पड़कर दुराचारी हो जाता है।

तीसरी बात—इसके सम्बन्धमें यह है कि हमें अपने बारेमें विचार करना चाहिए। हम दूसरोंके बारेमें तो बहुत विचार करते हैं; लेकिन अपने बारेमें कम सोचते हैं—यह हमारे जीवनका एक दुर्गुण है, एक दोष है।

मनु और याज्ञवल्क्य तो कहते हैं कि जब प्रातःकाल नींद टूटे— ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय'—ब्राह्ममुहूर्तमें उठें, उस समय शान्ति रहती है—कोई हल्ला-गुल्ला नहीं रहता है, मनको खींचनेवाले कोई आकर्षण नहीं होते हैं, तो उस समय बैठकर यह निश्चय करना चाहिए कि आज हम कौन-सा लोकहितका काम करेंगे। आप 24 घण्टेके लिए प्रातःकाल योजना बना लो, आज इतने प्यासोंको पानी पिलायेंगे, इतने भूखोंको अन्न देंगे, इतने रोगियोंको औषधि देंगे, इतना विद्यादान करेंगे, इतने लोगोंको सुख पहुँचायेंगे, ऐसा मीठा बोलेंगे—प्रातःकाल ही योजना बना लो कि आज 24 घण्टेमें हम किसीको दुःख नहीं पहुँचायेंगे और जहाँतक हो सकेगा दूसरेको सुख पहुँचायेंगे।

मनु और याज्ञवल्क्य दोनोंका कहना है कि प्रातःकाल उठकर परमात्माका चिन्तन भले न हो लेकिन अपने पूरे दिनके लिए यह योजना हो जानी चाहिए कि आज हमारे पास क्या-क्या आयेगा और उसका हम

कहाँ-कहाँ सदुपयोग करेंगे। केवल कमानेकी ही योजना नहीं बनानी चाहिए, उसको खर्चनेकी भी योजना बनानी चाहिए।

आज जीवनमें धर्माचरण, धर्मानुष्ठान, परोपकार कितना होगा—यह सोच लें और आज घरमें धनागमन कितना होगा यह सोच लें और यदि देने-लेनेका चिन्तन न करके, भगवान्का ध्यान करें तो इससे बढ़कर और होगा ही क्या? और भगवान् पूर्ण होता है वह मँगता नहीं होता है।

आप उसको कितना प्रेम दे रहे हैं, इसपर विचार कीजिये। आपलोग शायद अच्छा न समझें पर हम एकके बारेमें जानते हैं—अच्छे घरानेके अच्छे लोग थे। कोई चन्दा माँगने आये तो पाँच रुपया देकर उसको विदा कर देते थे। लेकिन अपने मनमें जब संकल्प उठता था कि हम यह करेंगे तो वे बहुत बड़े-बड़े काम कर लेते थे।

भगवान् कभी, कहीं किसीसे कुछ माँगता नहीं है तो भक्तलोग सर्वस्व उसको अर्पित कर देते हैं। और जब भगवान् माँगनेको जाता है तो भगवान्को भी कष्ट उठाना पड़ता है।

आपने यह कथा सुनी होगी कि भगवान् विष्णु बलिके दरवाजेपर माँगनेके लिए चले गये तो पहले तो उनको छोटा बनना पड़ा—छल करना पड़ा, दम्भ करना पड़ा, मँगते बने—बलिने अपना सर्वस्व दे दिया। बलि तो पूर्ण हो गये। जिसने दिया वह पूर्ण हो गया जिसने लिया वह बौना हो गया। वामन हो गया। लक्ष्मीजी नाराज हुईं कि तुम मेरे पति होकर माँगनेको गये? तुम भिखारी हो गये—अब मैं तुम्हारे साथ नहीं रहूँगी। नारायणको छोड़ दिया, अलग चली गयीं।

यह कथा पुराणोंमें है। जब लक्ष्मीजी चली गयीं, तो नारायणके पास कुछ नहीं, अब तीर्थयात्रा करें, भीख माँगें और खायँ, लेकिन ऋषि-महर्षि लोगोंने उनका साथ नहीं छोड़ा। सब बड़े-बड़े महात्मा भगवान्के साथ हो गये। मण्डली चलने लगी। भिक्षा आने लगी। खाने लगे। लक्ष्मीने तो त्याग कर दिया। यात्रा करते-करते एक वृक्ष मिला। वह बिलकुल सूखा हुआ था, एक पत्ता नहीं, हरियाली नहीं—फल नहीं, फूल नहीं—सूखा-सूखा और आस-पास कहीं पानी नहीं, कहीं हरियाली नहीं, योजनों तक सब सूखा-सूखा। तीर्थयात्रा करते हुए लोग वहाँ पहुँचे-किसीको खानेके लिए कुछ नहीं-भिक्षा भी कहाँसे मिले? देखा उस पेड़के खोड़रमें एक तोता, एक शुक रह रहा था। वह भी विचारा दुबला-पतला सूख गया था। ऋषियोंने पूछा कि शुकजी आप इसमें क्यों रहते हैं? शुकने बताया कि क्या बताऊँ महाराज; एक दिन ऐसा था कि यह वृक्ष वृक्ष नहीं-कल्पवृक्ष था। हरा, भरा, फल-फूलोंसे लदा हुआ। जो कुछ भी चाहे उसको देनेवाला था। लेकिन समयके फेरसे दुर्भाग्य हुआ, इसके पास कुछ नहीं रहा।

उन दिनों मैं इसपर रहता था, इसका फल खाता था; इसके फूलोंकी सुगन्ध और उनकी सुन्दरता देख-देख करके आनन्दित होता था-जहाँ जो चाहिए था अन्न, जो चाहिए था जल वह सब यहाँ सुलभ था, इसका मैंने बर्षोंतक आनन्द लिया। अब इसका जब दुर्भाग्य आ गया तो मैं इसको छोड़कर कैसे जाऊँ? जिसका मैंने सहारा लिया उसका परित्याग कर देना, बड़ा भारी पाप है। इसलिए मैं मरूँगा तो इस पेड़के साथ

और जीऊँगा तो इस पेड़के साथ। इसीलिए यहाँ रहकर तपस्या कर रहा हूँ। अपने आश्रयका परित्याग नहीं करना चाहिए। तुरन्त यह बात दुनियामें फैल गयी कि एक ऐसा तोता है जिसने अपने सूखे पेड़का भी परित्याग नहीं किया। लक्ष्मीजीको मालूम हुआ, ओहो! मैं तो हमेशा भगवान्के वक्ष:स्थलके आश्रयपर रही, आज वे भिखारी हो गये तो मुझे उनको नहीं छोड़ना चाहिए।

वे नारायणके पास आगयीं। और फिर भगवान् लक्ष्मी-सम्पन्न हो गये। पुराणोंमें ऐसी कथा आती है। हमें अपने बारेमें यह विचार करना चाहिए कि जिसके प्रकाश से हमें बुद्धि मिलती है, जिसकी सत्तासे हमको जीवन मिलता है, जिसके आनन्दसे हमको आनन्द मिलता है, वह जो हमारे आत्माके रूपमें परमात्मा है, वह हमारे शरीरमें कैसे रहता है? और किस ढंगसे अपना कार्यसम्पादन करता है-निरन्तर सत्ता, स्फूर्ति और आनन्द देनेवाला परमात्मा हमारे हृदयमें है, उसके बारेमें थोड़ा-सा विचार जरूर करना चाहिए। जैसे हमें आमदनी कहाँसे होती है, यह बात सोचते हैं; जैसे हमें सदाचार कहाँसे मिलता है, यह बात सोचते हैं, जैसे हमें सुख कहाँसे मिलता है यह बात सोचते हैं, वैसे ही हमारे भीतर वह कौन-सा झरना है, वह कौन-सा स्रोत है है, वह कौन-सा उद्गम है, जहाँसे यह बुद्धि निकल-निकल करके आती है, वह कौन-सा स्रोत है जहाँसे आँखसे देखनेकी रोशनी आती है। इसका नाम है अध्यात्मनित्या। आँखमें देखनेवाली ज्योति कहाँसे आती है? कानमें सुननेवाली शक्ति कहाँसे आती है? त्वचामें स्पर्शका सम्वेदन कैसे होता है? नाक गन्ध कैसे ग्रहण करती है? जिह्वामें स्वाद कैसे आता है? पाँव कैसे चलते हैं? हाथ कैसे काम करते हैं? जीभ कैसे बोलती है?

हमारे अन्त:करणमें स्मृतियाँ कैसे रहती हैं? इस मशीनको भी आप अपने कारखानेकी मशीन समझते हैं! आप अपनी मोटरकी मशीनको समझते हैं ठीक है-लेकिन यह मशीन, जिसपर आप बैठे हुए हैं, जिसके द्वारा सारे काम हुए हैं, उसको नहीं समझ पाते हैं। अध्यात्मनित्याका अर्थ है-'आत्मनि एव इति अध्यात्मं'-इस शरीरमें जो मशीनें चल रही हैं, उन मशीनोंको ठीक-ठीक समझना। और उसपर जब विचार करेंगे तो देखेंगे-इस बैटरीको चालू रखनेवाला, इस बिजलीको चालू रखनेवाला एक पॉवर हाउस है और उस पॉवर हाउसमें भी जहाँसे शक्ति आती है। कहाँसे शक्ति पैदा होती है? अनन्त आकाशमें एक महाशक्ति भरी हुए है उसको हम पावर हाउसमें प्रकट करते हैं और वहाँसे लाइन जोड़-जोड़ करके सब जगह पहुँचाते हैं।

इसीप्रकार एक अनन्त महाशक्ति है और उसका एक अङ्ग, एक अंश हमारे हृदयमें है और वहाँसे जीवनी शक्तिका प्रवाह होता है। अब दूसरी बात यह है कि जब इतनी बड़ी वस्तु हमारे हृदयमें बैठी है तो हमको उसका आनन्द लेना चाहिए। हमको यह चाहिए, यह चाहिए-अपनी दरिद्रताका इजहार करना-ठीक नहीं। कहते हैं अपने पितासे भी कुछ माँगना नहीं चाहिए। 'माँगन गया सो मर गया'-जो माँगनेके लिए गया वह मर गया माने अपनेको अत्यन्त हीन करके तब वह दूसरेके पास माँगनेके लिए जाता है। अपनेमें हीनबुद्धि नहीं होनी चाहिए। 'स शान्तिमाप्नोति न कामकामी'। गीताका कहना है कि-

आपूर्यमाणं अचलं प्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।

चारों ओरसे नदियाँ आ-आकरके गिर रही हैं; लेकिन समुद्र अपनी मर्यादामें बैठा हुआ है।

****

चारों ओरसे धन आ रहा है समझ लो, लेकिन धन आनेसे हम ऐसी उमंग में आये, ऐसी उमंगमें आ गये कि दूसरे गाँवको डूबा दिया। दूसरेको गरीब बना दिया। नहीं; समुद्रमें कितनी भी नदी गिरे वह अपनी मर्यादाको तोड़ता नहीं है; अपनी मर्यादामें 'अचलं प्रतिष्ठम्' उसकी प्रतिष्ठा अचल है और नदियाँ आ-आकर उसमें प्रवेश कर जाती हैं-इसीप्रकार जो अपने स्वरूपमें बैठा हुआ है, उसको शान्तिकी प्राप्ति होती है। जो हमको यह चाहिए इसके लिए उछल रहा है, छलक रहा है, उसको शान्तिकी प्राप्ति कभी नहीं होती।

कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।

जो संसारकी वस्तुओंको चाह-चाह करके, उनके पीछे दौड़ रहा है, उनको जगह-जगह भटकना पड़ता है।

काम क्या है? यह मौतने एक फन्दा फँसा रखा है। जिसके कारण मनुष्य अपने हृदयदेशमें विराजमान जो कल्पवृक्ष है उसको छोड़ करके बाहर दौड़ता है। 'द्वन्द्वैर्विमुक्ता सुख-दुःखसंथैः।' दुनियामें कभी सुख आता है, कभी दुःख आता है। द्वौ द्वौ इति द्वन्द्वं। द्वन्द्व शब्द कैसे बनता है? दो-दो मिलकर रहते हैं। पाप और पुण्य, राग और द्वेष, सुख और दुःख, जीवन और मरण-ये जीवनमें साथ-साथ लगे हुए होते हैं। ये तो आते-जाते रहते हैं-जैसे आपकी मोटर-गाड़ी चलती है, पहिया नीचे जाता है, फिर ऊपर आता है, फिर नीचे जाता है, फिर ऊपर आता है। फिर नीचे जाता है, फिर ऊपर आता है। इसीप्रकार जीवनमें ये सुख और दुःखकी जो दशाएँ हैं वे आती-जाती रहती हैं। 'नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण'-कालिदास कहते हैं-जैसे रथका पहिया नीचे-ऊपर घूमता है ऐसे ही जीवनकी दशाएँ भी घूमती रहती हैं।

इनको घूमने दीजिये। जैसे रात और दिनका चक्र चलता है। जैसे घड़ीकी सूई घूमकर एकसे बारहतक, बारहसे एकतक चलती रहती है, इसी प्रकार यह हमारे जीवनका चक्र चलता रहता है। यह ज्यादा ध्यान देनेका नहीं है कि क्या आया और क्या गया ऐसे जो संसारकी वस्तुओंमें अटकते नहीं हैं, भटकते नहीं हैं उन्हें अव्यय पदकी प्राप्ति होती है। अव्यय पदका अर्थ है जिसकी कभी हानि नहीं होती, जिसका कभी नाश नहीं होता, जिसकी कभी ग्लानि नहीं होती-ग्लानि, ग्लानिसे विनिर्मुक्त जो पद है, उसको अव्यय कहते हैं।

व्येति विपरीतं एति व्ययनं व्ययः न व्येति इति अव्ययः।

अव्यय किसको कहते हैं? जिसमें कभी ह्रास नहीं होता। जिसमें कभी क्षय नहीं है, व्यय नहीं है, विक्रिया नहीं है-जिसमें समाप्ति नहीं है, जिसको-जितना खरचोगे, उतना ही वह बढ़ेगा, उतना ही वह और-और जाहिर होगा, ऐसा-वह अव्यय पद है। वह अव्यय पद कैसा है? कहाँ है? किधर है? नाम तो बहुत सुननेमें आता है। परन्तु है कहाँ? आओ चलकर उसको आँखोंसे देखें। कैसा है? बोले आँखसे नहीं दिखता है तो मनसे सोचकर देखें कि कैसा है? अच्छा मनसे सोचनेमें भी नहीं आता तो वाणीसे बोलकर देखें कि कैसा है?

****

****

यह उन्होंने प्रमाणका क्रम रखा है। किसी वस्तुको देखना हो तो पहले उसको आँखसे देखते हैं, नाकसे सूँघते हैं, जीभसे चखते हैं, त्वचासे छूते हैं, कानसे सुनते हैं तब उस बातका पता चलता है। ये कहते हैं कि नहीं, 'न तद्भासयते सूर्यः'-सूर्यकी रोशनीमें हमारी आँख देखती है, तो हमारी आँख जिस ओर देखती है और जो देखती है वह , वह नहीं है-सूर्यकी अनुग्रहसे हमारी आँख संसारके रूपको देखती है। माने संसारके रूपसे विलक्षण है, आँखसे भी विलक्षण है और सूर्यसे भी विलक्षण है। इधरसे जरा बन्द करो, इन्द्रियोंकी गति जिधर है, उसको उधरसे थोड़ा रोको।

अच्छा मनसे सोचें-वह क्या है? देखो हम एकबार कुहासेमें फँस गये, कुछ दिखता नहीं था, अन्धकारमय कुहासा था। सामने मालूम पड़ा कि कोई आ रहा है। आँखसे देखनेकी कोशिश की कि कौन आ रहा है- नहीं दिखा। फिर मनसे सोचा कि यह कौन हो सकता है तो मालूम पड़ गया कि अमुक हो सकता है। लेकिन जब मनने भी काम करना बन्द कर दिया- भाई, अन्दाज नहीं लगता कि इस समय कौन आ रहा होगा तो बोलकर पूछा- कौन है भाई? तो उसने वहाँसे बोल दिया, मैं हूँ। तो मैंने बोलकर पूछा और उसने बोलकर बताया और पता चल गया। अब यह परमात्माके बारेमें हमारी इन्द्रियाँ काम नहीं करती हैं; तो आओ मनसे सोचें तो मनका अनुग्राहक चन्द्रमा है। माने चन्द्रमाकी रोशनीसे हमलोग जो अन्न खाते हैं, पानी पीते हैं-इसमें चन्द्रमाकी ज्योति आती है। पन्द्रह दिन न खायें तो हमारी इन्द्रियोंमें कितनी शिथिलता आ जाती है। उपनिषदोंमें इसका उपाख्यान है। अन्न तो इन्द्रियोंको चाहिए। हमारा मन इन्द्रियोंसे बनता है। अन्नमें जो शक्ति है, वह चाँदनीसे आकर औषधि, वनस्पतियोंमें, गेहूँमें, जौमें, मटरमें, चनेमें-चन्द्रमाकी जो रोशनी पड़ती है, उससे उसमें अमृत आता है।

मन भी नहीं सोच सकता है, क्योंकि अन्नकी बनी हुई तो वह चीज है नहीं। अब बोले कि वाणीसे बोलेंगे-तो जो हम खाते-पीते हैं, उससे जो गरमी, ऊष्मा पैदा होती है, उससे शरीरमें आग बनती है, और उससे शरीरमें बोलनेकी शक्ति आती है। सूर्यके द्वारा भास्य जितने भी ऐन्द्रियक पदार्थ हैं-इन्द्रियोंसे मालूम पड़नेवाले-चन्द्रमासे भास्य जितने भी पदार्थ हैं-मनसे मालूम पड़नेवाले, और अग्निसे, ऊष्मासे भास्य जितने भी पदार्थ हैं, जिनको बोलकर बताया जा सकता है, इसके घेरेमें नहीं है।

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।

सूर्य उसको प्रकाशित नहीं करता, चन्द्रमा प्रकाशित नहीं करता-पावक प्रकाशित नहीं करता-तब वह तो कौन है? आप इसको बुझव्वल, इसको पहेली न समझें-यह बिल्कुल साक्षात् वस्तु है। वह कौन-सी वस्तु है, जो आँखसे देखी नहीं जाती, मनसे सोची नहीं जाती और वाणीसे बोली नहीं जा सकती। वह इन्द्रियोंके सामने नहीं है। पीछे है। वह मनके सामने नहीं है, पीछे है, और वह वाणीके सामने नहीं है, पीछे है। कौन है वह जो आँखोंके पीछे बैठ करके, आँखोंके द्वारा झाँक रहा है। आप अपनेको ही तो देखिये न! आप ही तो हैं वह जो आँखसे संसारको देखते हैं। आप ही तो हैं न वह जो कानसे संसारसे संसारको सुनते हैं। आप ही तो हैं न वह जो त्वचा के स्पर्शसे स्पर्श करते हैं। आप ही तो हैं न हो जो जीभसे स्वाद लेते हैं

****

और बोलते हैं-आप ही तो है न हो जो पाँवसे चलते हैं और हाथसे काम करते हैं। तो अव्यय पुरुषका दर्शन करनेके लिए हमको देखे जानेवालेकी ओर नहीं जाना है। देखनेवालीकी ओर लौटना है; थोड़ा-सा पीछे हट जाना है।

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षुंःषि पश्यति।

'वाचा यं न वदति'-वह चीज जो हमारे भीतर है-गोलोकमें जाकर ईश्वरको पाना नहीं है। आपके भीतर, इस जीभके पीछे बैठकर बोलनेकी-ताकत दे रहा है। आँखके पीछे बैठकर आँखको देखनेकी ताकत दे रहा है।

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

दूसरेके पास जायेंगे तो आपको वहाँसे लौटकर अपने पास आना पड़ेगा। यहाँ भाष्यकारोंने यह प्रश्न उठाया है कि जब हम किसीके पास जायेंगे-तो जानेका रास्ता होगा तो लौटनेका भी रास्ता जरूर होगा। इसलिए जहाँ जाकरके लौटना नहीं होता है, वह मेरा परम धाम है। यह बात कैसे कही गयी? यह मेरा परम धाम है यह कहनेका अर्थ है कि मैं ही परम धाम हूँ। संस्कृत भाषाकी यह अद्भुत प्रणाली है बोलते हैं 'राहोः शिरः' राहुका सिर-अच्छा राहु अलग होगा और उसका सिर अलग होगा। नहीं सिरका ही नाम राहु है और राहुका नाम सिर है-दो नहीं होते हैं। वहाँ मेरा कहनेपर भी वह 'मेरा', मुझसे अलग नहीं है। ऐसा बोला जाता है। 'ममैवांशो जीवलोके'। वहाँ भी ऐसा ही है 'तद्धाम परमं मम'। धाम शब्दका संस्कृत भाषामें दो अर्थ होता है। एक तो धाम माने रहनेकी जगह। अष्ठिधान। और एक धाम माने ज्योतिः।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः तमसः परमुच्यते।
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं।

भगवान्का धाम माने जिसमें यह सारी दुनिया रह रही है और जिसकी रोशनीमें दिख रही है। और गत्वाका अर्थ है ज्ञात्वा-उसके सम्बन्धमें जो अज्ञान है वही केवल दूर होना है-उसके पास जाना नहीं है। बल्कि वह तो हमेशा मिला हुआ अपना आत्मा ही है।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।

गम्धातुका अर्थ ज्ञान भी होता है। गत्वाका अर्थ है अधिगत्य अधिगम प्राप्त करके अवगत्य-अवगम्य प्राप्त करके जिसके जाननेमात्रसे-आपको रसोई बनानी हो तो पकानी हो तो पकानी पड़ेगी। अन्न पैदा करना हो तो खेती करनी पड़ेगी। दूसरेके घरसे कोई चीज लेनी हो तो उधार लेना पड़ेगा। कच्ची चीज होगी तो उसे पकानी पड़ेगी। लेकिन यह परमात्मा ऐसा है कि न तो इसको कहींसे उधार लेना है, न पैदा करना है, न पकाना है, न इसको सँवारना- यह तो आपका अपना आत्मा ही है। इसलिए इसको जब जान लेते हैं कि यह मैं ही हूँ।

यदि आप दूसरेको जानोगे तो उससे प्रेम करना पड़ेगा या नफरत करनी पड़ेगी। उसको पाना

पड़ेगा, उसके लिए कुछ करना पड़ेगा। लेकिन अपने आपको यदि जानोगे तो क्या उसके पास जाना पड़ेगा? क्या उसको पकड़कर रखना पड़ेगा? क्या उसको कहींसे लेना पड़ेगा। यह परमात्मा ऐसा धाम है कि इसको कोई जान ले-उपनिषदोंमें केवल आत्मा शब्दसे ही इसका वर्णन आता है। आत्मा माने अपना आपा। परमात्मा शब्दका सीधा प्रयोग दस उपनिषदोंमें कहीं भी नहीं है। आत्मा ही परमात्मा है, आत्मा ही ब्रह्म है।

यह बात पहलेके महात्मा लोग जानते थे। यही भगवान्का परम धाम माने परम स्वरूप है। भगवान् रहते कहाँ हैं? आपमें-आपके रूपमें भगवान् रोशनी कहाँसे देते हैं? आपके रूपसे, आपसे सम्पूर्ण विश्वको प्रकाशित करते हैं।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।

अब ये परम धाम क्यों है? इसके लिए आगेका प्रसंग बताते हैं। देखो इस धामको जान लोगे-मेरे स्वरूपके रूपको तो आना-जाना छूट जायेगा और नहीं जानोगे तो इस संसारका बोझा लेकर विषयोंके साथ फँसकर भटकना पड़ेगा और दुःखी होना पड़ेगा, इसलिए भगवान् अगले प्रसंगमें अपने स्वरूपका निरूपण करते हैं।

•

प्रवचन : 5

9-11-86

जिसको देखनेके लिए दूसरी रोशनीकी, दूसरे प्रकाशकी आवश्यकता होती है, वह परमेश्वर नहीं है। परमेश्वर वह है जिसको देखनेके लिए, दूसरे प्रकाशकी, दूसरे रोशनीकी आवश्यकता नहीं होती है। दुनियामें जितनी चीजें दिखती हैं, उनको देखनेके लिए आँखकी जरूरत होती है और मनकी जरूरत होती है और आँख और मनसे दीखनेवाली वस्तु न हो तो उसको देखनेके लिए वाणीकी आवश्यकता होती है। बोलकर उसको समझाया जाता है। माने किसी भी प्रमाणके द्वारा, परमात्मा-घड़े, कपड़े, मेज, कुर्सीकी तरह नहीं देखा जाता। बल्कि उसीकी रोशनीमें, उसीके प्रकाशमें सबकुछ दिखायी पड़ता है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमाविद्युतो भांति कुतोयमग्निः।
तमेव भांते अनुभाति सर्वम्
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

वेद भगवान् कहते हैं कि वहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं होता है, न चन्द्रमा, न तारे। वहाँ बिजली भी नहीं चमकती है, इस अग्निकी तो पहुँच वहाँ होगी ही कैसे? उसी प्रकाशमें सब प्रकाशित होता है। 'तस्य भासा सर्वमिंद विभाति।' जो कुछ दीख रहा है, उसीकी रोशनीसे रोशन हो रहा है।

हम चाहते हैं कि सूर्यकी रोशनीमें या चन्द्रमाकी रोशनीमें या अग्निकी रोशनीमें परमेश्वरको देखें। यहाँ बताना यह चाहते हैं कि परमात्मा सर्वान्तर है। जो वस्तु आँखसे देखी जाती है और जो वस्तु मनसे देखी जाती है, वह चन्द्रमाकी रोशनीमें देखी जाती है।

मनका देवता चन्द्रमा है और अन्न रसमय है। वही मनमें, विचार करनेकी, अनुमान करनेकी, देखनेकी शक्ति देता है। आँखसे देखा जाता है। मनसे ध्यान किया जाता है और जहाँ आँख और मन दोनोंकी गति नहीं होती उसको बोलकर समझाया जाता है। वाणी प्रमाण वहाँ होती है-जो वस्तु नित्य परोक्ष हो, जैसे हम स्वर्गका वर्णन सुनते हैं, बैकुण्ठका वर्णन सुनते हैं। गोलोक, साकेतलोक, शिवलोक आदिका वर्णन सुनते हैं, उनको कोई चाहे कि हम आँखसे देख लें तो नहीं देख सकता। वह प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान इन प्रमाणोंके विषय नहीं है। तब उनको हम कैसे जान सकते हैं? उनको जाननेके लिए शास्त्र प्रमाणकी आवश्यकता होती है।

यहाँ बता दिया कि शास्त्रसे भी बोल-बोलकर जो समझावेंगे उसकी भी वहाँ तक गति नहीं है तब वह है कौन? यह है 'चक्षुष: चक्षुः।' वह है आँखोंकी आँख। वह है 'मनसो मन:।' मन-का-मन और वह है 'वाचो वाचं।' वाणी-की-वाणी। माने उसको देखनेके लिए यदि बाहर जाना हो तो आप आँखसे देख सकते। या देखी हुई चीजोंके सहारे मनसे सोच सकते। या जीभसे बोलकर बता सकते, यह मेज है, यह कुर्सी है कि इस तरह

ईश्वरको भी जान सकें। लेकिन वह तो इनके पीछे है। वह कहाँ है? आँखसे पीछे बैठकर झाँक रहा है, मनसे पीछे बैठकर मनको विचार करनेकी शक्ति दे रहा है। वहीं जीभके पीछे बैठकर जीवको बोलनेकी शक्ति दे रहा है। कान अलग-अलग हैं, त्वचा अलग-अलग हैं, आँखें अलग-अलग हैं, जीभ अलग-अलग हैं, नासिका अलग-अलग हैं अपने-अपने विषयको देखते हैं ये बाहर; परन्तु इनमें जो रोशनी देनेवाला भीतर है, वह परमात्मा है।

यदि उससे एकबार साक्षात्कार हो जाय तो वह फिर भूल नहीं सकता। यह नहीं कि फिर हम अपनेको शरीर मान लेंगे।

एकबार एक महात्माने मेरे ऊपर कृपा की। उनको श्रीमद्भागवत अच्छा नहीं लगता था। उनके लिए बहुत अप्रिय ग्रन्थ था। थे बहुत अच्छे महात्मा। मैंने प्रार्थना की कि आप एकबार थोड़ा-थोड़ा मुझसे सुन लीजिये। उन्होंने घण्टे भरका समय दिया।

मैं बीस वर्षका था। मैंने पहले उनको ग्यारहवाँ स्कन्ध सुनाया। फिर सातवाँ स्कन्द सुनाया, उसके बाद रासपञ्चाध्यायी सुनायी। बड़े प्रसन्न हुए। था तो उनके पास कुछ नहीं, एक खण्डहरमें रहते थे। उन्होंने बुलाया कि आओ, मैं तुम्हें दक्षिणा दूँगा। जब एकान्तमें मैं उनके पास गया- देखने लगा कि क्या देंगे हमको! बोले बैठ जाओ। मैं बैठ गया। बोले कि नारायण, तुम जीव नहीं हो, आँखसे, मनसे, वाणीसे जो बात जगायी जाती है, जिसका ज्ञान दिया जाता है, वह जड़ होती है। और मनको, वाणीको और इन्द्रियोंको लेकर जो बैठा हुआ है, जीव है।

जब जीव इनको छोड़ देता है, माने मन-ही-मन इनका अपवाद कर देता है, अपने स्वरूपमें इनको नहीं देखता है, वह जो मन, वाणी और चक्षुसे मुक्त-माने ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और अन्तःकरणसे विनिर्मुक्त जो आत्मा है वही परमात्मा है।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।

यदि उसका ज्ञान हो जाय, वहाँतक पहुँच जायँ। हम पहुँचते वहीं तक हैं जहाँ तक इन्द्रियाँ जाती हैं या मन जाता है या हम कानसे लोगोंकी आवाज सुनते हैं। वहाँ पहुँच जाओ, जो अपना सच्चा स्वरूप है। उसके अज्ञानके कारण ही हम संसारमें फँसे हुए हैं।

भगवान् कहीं हमसे दूर नहीं है। जहाँ हम हैं वहीं भगवान् हैं। और सच पूछो तो जो हम हैं वही भगवान् हैं, जो भगवान् हैं वही हम हैं।

श्रीरामानुजाचार्यजीसे किसीने पूछा, भगवान् कैसे हैं? तो बोले कि जैसे जाहिर होते हैं। कैसे जाहिर होते हैं? बोले-जैसे हैं। उनमें और उनकी अभिव्यक्तिमें किसी भी प्रकारका अन्तर नहीं है। सबसे निकट अगर हमारे कोई है तो वह भगवान् है। दुनिया दूर-दूर है, आती है, जाती है, दिखती है। एकबार परमेश्वरको देख लो, वह तुम्हारे सुहृद हैं-

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

वह तुम्हारा कल्याण कर रहे हैं। तुम्हारा मंगल कर रहे हैं। एकबार अपने मनको तौलकर देखो, कि आप भगवान्‌को अपने अनुकूल बनाना चाहते हो कि स्वयं भगवान्‌के अनुकूल बनना चाहते हो।

जो तुम कहो सोई भगवान् करे, जो तुम चाहो सोई भगवान् करे। तुम भगवान्‌को अपना सेवक बनाना चाहते हो कि भगवान् जो करता है उसमें अपनी हाँ मिलाना चाहते हो? ऐसा कैसे है कि यह जीव ऐसी जगहपर पहुँच जाता है जहाँसे लौटना नहीं होता। 'अबकी गौना बहुरि नहि औना।' आओ चलें उसी देशमें, जहाँसे फिर लौटना नहीं होता। वह देश कहाँ है? अगर दूसरा होगा तो वहाँसे लौटना जरूर होगा। इसलिए भगवान्‌का स्वरूप बताने लग गये।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥ 15.7-11

भगवान् बताते हैं कि जीव मेरा अंश है। 'मम एव अंशः' यह मिट्टीका अंश नहीं है, पानीका अंश नहीं है, अग्नि, वायु, आकाशका अंश नहीं है। ऐसे कहो कि यह अन्नमय, प्राणमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोश नहीं है। रेशमका जो कीड़ा है वह अपने चारों ओर कोश बनाकर उसमें अपनेको कैद कर लेता है। इसी प्रकार यह जो हड्डी है, मांस है, चाम है, यह तो जैसे मोटरका शरीर होता है वैसे शरीर और इसपर जीवात्मा बैठा हुआ है। वह जीवात्मा है क्या! किसका अंश है? किसका भागीदार है? 'एष ते रुद्रभागाः'। वेद भगवान् कहते हैं कि हे परमात्मा यह तुम्हारा भाग है। पर हिस्सेके बारेमें भी विचार करना पड़ता है। यदि एक किलोकी कोई वस्तु हो तो उसके सौ विभाग हो जाते हैं-सौ हिस्से होते हैं-सौ अंश होते हैं। और यदि सौ गजकी कोई वस्तु हो तो एक गज उसका हिस्सा होता है। यदि सौ मिनिटकी कोई चीज हो तो एक मिनिट उसका हिस्सा होता है। माने मिनिट जब गिनतीका होगा तब उसका हिस्सा होगा। फुट जब गिनतीका होगा तब उसका हिस्सा होगा, मिट्टी एक मन होगी तब एक छटाँक उसका हिस्सा हो सकता है।

परन्तु परमात्माका तो कोई तौल-माप नहीं है। वह एक मन या इस मन सरीखा अरबों मन भी उसको नहीं कहा जा सकता-अरबों घण्टे भी नहीं कहा जा सकता। अरबों फुट भी नहीं कहा जा सकता। तब उसका एक अंश क्या होगा? उसका हिस्सा क्या होगा? आकाशका कौन-सा हिस्सा घड़ेमें है? सूर्यका कौन-सा हिस्सा

शीशेमें प्रतिबिम्बित होता है? सूर्यका कोई हिस्सा शीशेमें प्रतिबिम्बित नहीं होता है। शीशेकी उपाधिसे वह चमकता है। 'जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्यः' ब्रह्मसूत्रमें बताया कि सूर्यके प्रतिबिम्बके समान उसकी उपमा दी जाती है। 'आभास एव च।' वह केवल आभास है। जैसे घड़ेके कारण आकाशमें अंशकी प्रतीति होती है। असलमें यदि घड़ेका अपवाद कर दिया जाय तो आकाश आकाश ही है। आकाशको न कहीं आना पड़ेगा, न कहीं जाना पड़ेगा। केवल घड़ेका ख्याल हटा दीजिये। आकाश घड़ेके भीतर गोल-गोल मालूम पड़ता है। घड़ेकी दीवारमें ढका हुआ मालूम पड़ता है। घड़ेसे बाहर बड़ा मालूम पड़ता है।

परन्तु वह न तो ढका है दीवारमें और न घड़ेके बाहर है, न भीतर है, वह तो परिपूर्ण अपने स्वरूपमें स्थित है। इसीप्रकार 'मम एव इव अंशः। ममैवांशी। इवार्थे अत्र एव शब्दः।' अंश वह होता है जो पूर्ण वस्तुमें छेद, भेद उपस्थित करे।

अं परमात्मानं श्यति तनुकरोति इति अंशः।

जो परमात्माको भी छोटा बनाकर दिखा दे, उसका नाम है अंश। यह जीव परिपूर्ण परमात्मा होते हुए भी, एक देहमें अपनेको कैद करके जीवके रूपमें दिखा रहा है। यह असलमें वही है। आप साधारण बालक नहीं हो। आप एक सम्राटके उत्तराधिकारी हो-सम्राट् हो। आप ब्रह्माके पुत्र नहीं हो, ब्रह्माके आत्मा हो। आप विष्णुके द्वारा पालित नहीं हो, विष्णुके आत्मा हो।

आप ईश्वरके द्वारा नियममें नहीं हो, ईश्वरकी आत्मा हो। ईश्वरने अपने प्यारेको अपने बाहर बैठाकर नहीं रखा है। अपने भीतर, अपने आत्मा के रूपमें रक्खा हुआ है। इसलिए यह सनातन है। मनुष्यलोकमें-

ममैवांशो अंश इव अंशः जीवलोके सनातनो जीवभूताः।

अनादि कालसे अपनेको जीवके रूपमें अनुभव कर रहा है।

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिः स्थानि कर्षति।

करता क्या है कि जो शरीरमें, मन और इन्द्रिय हैं। कोई-कोई मनको इन्द्रिय मानते हैं। कोई-कोई मनको इन्द्रिय नहीं मानते हैं। पाँच इन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय हैं। पाँच इन्द्रिय कर्मेन्द्रिय हैं। उनमें पाँच विषय हैं। उनकी पाँच तन्मात्राएँ हैं। ये पाँच-पाँचकी गिनती इनकी चलती है। आजकल वैज्ञानिक लोग कोई चार तत्त्व मानते हैं। चार्वाक भी पहले चार तत्त्व ही माना करता था। पर हमारा जो सनातन यन्त्र है, उससे पाँच ही दिखायी पड़ते हैं। जीभसे स्वाद आता है, उसको जाननेके लिए एक मशीन आपके पास है कि नहीं। आप आँखसे बता दो कि यह खट्टा है कि मीठा! छूकर बता दो कि खट्टा है कि मीठा, सुनकर बता दो कि खट्टा है मीठा, सूँघकर बता दो कि खट्टा है कि मीठा? जब स्वाद नामकी एक वस्तुका सृष्टिमें हमें अनुभव होता है तो उसको जाननेके लिए एक इन्द्रिय भी है, उसको रसना कहते हैं, जो रसको ग्रहण करती है। गन्धको ग्रहण करे सो नासिका। जिससे स्वाद आवे-सो रसना और जो स्वाद ले सो रसना।

इसी प्रकार जो देखे-सो आँख और रूप जिससे देखा जाय उसका नाम आँख। रूप-ग्राहक इन्द्रियका नाम आँख और चक्षु इन्द्रियके द्वारा गृहीत जो स्वरूप-इसीप्रकार त्वचासे गृहीत स्पर्श और स्पर्शकी ग्राहिका

✻✻

त्वचा। शब्दका ग्राहक श्रोत्र और श्रोतके द्वारा गृहीत शब्द। ये पाँच विषय हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, इनके पाँच नौकर हैं। आँखसे देखते हैं। और पाँवसे चलते हैं। अन्धपंगु संयोग न्यायसे यह जीवन चलता है, पाँव बिचारे अन्धे है, उनको सूझता नहीं है और आँखें देखती तो हैं परन्तु स्वयं चल नहीं सकती है।

यह अन्धा पाँव आँखोंको अपने कन्धेपर बैठाकर और आँखसे देखता है और चलता है और आँखें देखती हैं और पाँवसे चलती हैं। इसी प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रियोंको अपने सेवकके रूपमें लेकर, छूनको मन होता है-हाथ ले जाता है-सुननेका मन होता है, जीभ बोल देती है-देखनेका मन है, पाँव वहाँ ले जाता है।

इसी प्रकार खाये हुए को शरीरसे अलग करनेवाले और पीये हुए को शरीरसे अलग करनेवालो ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। पाँच-पाँचका विभाग है। ये शरीरमें हैं।

प्रकृतिस्थानि कर्षति।

इन्हींको कर्षति माने-जीवात्माने अपनी ओर खींच लिया है। ये मेरी आँख, ये मेरा कान, ये मेरी जीभ, ये मेरी नाक, ये मेरा हाथ, ये मेरा पाँव-इसप्रकार कर्षति-इनके साथ अपना तादात्म्य कर लेता है। 'कृष् सत्तायाम्।' इनके साथ जुड़ जाता है। कहता है मैं देखता हूँ, मैं सुनता है, मैं सूँघता हूँ। ये तादात्म्य हो जाना है। इसको अलग करनेके लिए विचार करना पड़ता है कि मैं कान नहीं हूँ। कान तो हमारी एक चीज है। मैं आँख नहीं हूँ, मैं नाक नहीं हूँ, मैं त्वचा नहीं हूँ। मैं जीभ हूँ, मैं हाथ नहीं हूँ, मैं पाँव नहीं हूँ, मैं इनसे एक निराला हूँ। इसलिए इनके साथ जो सुख-दुःख जुड़ा हुआ है सो नहीं है।

अब पकड़ लेनेसे इसमें इतना सामर्थ्य है, क्योंकि यह ईश्वरका अंश है, इतनी शक्ति इसके अन्दर आ जाती है। इनको लेकरके चलता है।

शरीरं यदवाप्नोनि यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥

हवा बहती है-हवा गन्धवाह संस्कृतमें वाह शब्द हैं-उसको उलट दिया तो हवा हो गया। 'गन्ध बहति'-हवा बह रही है-बोलते हैं न! वाह है उसको उलट देनेपर हवा हो गया। हवा चलती है और वह गुलाबके पुष्पमें-से गुलाबकी गन्ध लेती है। चमेलीके पुष्पमें-से चमेलीकी गन्ध लेती है। बेलाके पुष्पमें-से बेलाकी गन्ध लेती है। और जहाँ दुर्गन्ध है, वहाँसे दुर्गन्ध लेती है और वायु उस गन्धको अपने अन्दर लेकरके चली जाती है।

इसीप्रकार यह जीव शरीरमें बैठकर, ईश्वर हो गया है। ईश्वर हो गया है माने मालिक हो गया है। जैसे एक मण्डली लेकर साधु चलता है तो वह मण्डलीश्वर हो जाता है। मण्डलीका ईश्वर है। ईश्वर माने मालिक। जैसे आजकल तहसीलदारको खण्डमण्डलाधीश बोलते हैं, जैसे सामने चौकी रखकर उसपर खड़ाऊँ रख देते हैं न! उसकी पूजा करवाते हैं, उसका नाम हो गया पीठ और वे हो गये, उस पीठके मालिक-पीठेश्वर-पीढ़ाके मालिक, वह जो पीढ़ा रक्खा हुआ है सामने-उसका मालिक, उसका नाम हो गया

✻✻

✻✻

पीठेश्वर-इसी प्रकार ईश्वर शब्दका वहाँ अर्थ है-भागवतमें ईश्वरके लिए जीव शब्दका प्रयोग और जीवके लिए ईश्वर शब्दका प्रयोग है।

स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।

वहाँ जीव माने 'जीवयति सर्वान् इति जीवः ईश्वरः।' जो सबको जीवनदान करे उसका नाम है जीव। जीव माने ईश्वर। और यहाँ ईश्वर शब्दका प्रयोग है। ईश्वर माने समर्थ।

एक व्याकरणाचार्य थे, वे गीता प्रेसमें काम करना चाहते थे। आये तो सेठोंने हमसे कह दिया कि इनसे बात कर लो। मैंने उनसे पूछ लिया-इस-इस श्लोकका अर्थ करो।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।

थे तो व्याकरणाचार्य-बड़े योग्य थे, परन्तु ईश्वर शब्दका अर्थ यहाँ समर्थ है-सामर्थ्यवान है, यहाँ इसका अर्थ परमेश्वर नहीं है। यह बात उनके ध्यानमें नहीं आवे। मैं तो पढ़ा-लिखा नहीं-घण्टोंतक उनको परेशान करता रहा। मैं पढ़ा-लिखा नहीं हूँ-यह तो ईश्वरकी कृपा ही है कि वह अपनी बुद्धि, हमारी बुद्धिसे मिला देता है। वहीं बोलता है-वक्ता मैं नहीं हूँ, श्रोता मैं नहीं हूँ। वही वक्ता है, वही श्रोता है।

अदृष्टं दष्ट्र, अश्रुतं श्रोतृ, अमतं मन्त्री, अविज्ञातं विज्ञातृ।

ईश्वरता इसमें क्या आयी, कि जहाँ यह जाता है वहाँ पाँच इन्द्रिय और मन इनको लेकर जाता है। जहाँसे उठता है, इनको लेकर उठता है। शरीरसे उठता है तो इनको लेकर उठता है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
यद् शरीरं उत्क्रामति यत् शरीरं च अवाप्नोति।

जिस शरीरको छोड़ करके निकल जाता है और जिस शरीरमें जाकरके प्राप्त होता है, यहाँ द्वितीय पादका अर्थ पहले करना चाहिए और प्रथमपादका अर्थ बादमें करना चाहिए।

गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।

ये अपने साथ अपना मन और इन्द्रियोंको लेकर जाता है। समझ लो कि एक आदमी है, उसके मनमें खीर खानेकी वासना है और शरीर छूटा। तो उस वासनाके अनुसार ऐसी जगह वह पहुँचेगा जहाँ खीर खानेको मिले। पुण्य भी होना चाहिए। वैसा कर्म भी होना चाहिए। कर्म भी होना चाहिए, वासना भी होनी चाहिए और उस वस्तुका ज्ञान भी होना चाहिए। सब वहाँ उसको ले जाकर पहुँचा देगा। वासना बतावेगी मार्ग और प्राण उसका करेगा वाहन-प्राण ले जायेगा।

प्राणमें गति है और वासनामें मार्गदर्शन है और आकृतिकी प्राप्ति होगी उसके ज्ञानके अनुसार। स्वर्गका यदि ज्ञान होगा और यहाँ पुण्यकर्म होगा और वहाँ अप्सरा-भोगकी वासना होगी तो वह स्वर्गमें जायेगा, देवता बनेगा, अप्सरा भोगेगा। और यदि उसके पुण्यकर्म नहीं होगे, दुष्कर्म ही होंगे-मान लो उसके मनमें मांस खानेकी वासना आयी तो वह गीध योनिमें चला जायेगा। क्योंकि वहाँ मांस खानेको बहुत मिलेगा। कर्म हम लोगोंको बहुत सोच-समझकर करना चाहिए और वासना भी बहुत सोच-समझकर करनी चाहिए। ऐसा समझो

✻✻

कि आप कल्पवृक्षके नीचे बैठे हुए हैं। आपके हृदयमें कल्पवृक्ष है। आप जीवनमें जो-जो इच्छा करते हैं-वह आपके साथ जुड़ती जाती है। आज नहीं तो कल वह जरूर पूरी होगी। यदि आप बुरी-बुरी इच्छा करेंगे तो आपको उन बुरी-बुरी इच्छाओंका फल भोगना पड़ेगा। और यदि आप अच्छी-अच्छी इच्छा करेंगे तो उन इच्छाओंका फल आपको कभी-न-कभी मिलेगा।

जैसी इच्छा होगी उसको पूरी करनेके अनुसार और इच्छा होती है ज्ञानके अनुसार। आप देखो, कोई काम करनेके लिए क्यों जाते हो? हमारे मनमें यह पानेकी इच्छा है, वह इच्छा यह काम करनेसे पूरी होगी। कर्म करनेसे पहले इच्छा होती है। और किस वस्तुकी होती है? जिस वस्तुको हम अच्छा समझते हैं, उसको हम पाना चाहते हैं और जिसको बुरा समझते हैं, उसको छोड़ना चाहते हैं। समझ हुई मूलमें, समझसे हुई इच्छा और इच्छासे हुआ कर्म। और यह समझवाला यह इच्छावाला, यह करनेवाला बन गया है जीव। यह कर्मवान् है, कर्मी है, यह इच्छावान् है, इच्छुक है और यह समझदार है, बुद्धिमान है। बुद्धि, मन और इन्द्रियोंको अपने साथ जोड़ करके यह जीव कर्ता, भोक्ता बना हुआ है। ये सब-का-सब जैसे-वायु अलग चीज है, गन्ध अलग चीज है लेकिन वायु गन्धको लेकर चलता है। इसी प्रकार यह आत्मा अलग चीज है और ये सब जो इन्द्रियाँ हैं, मन है, यह अलग चीज है। लेकिन यह अपने स्वरूपका ज्ञान न होनेके कारण, इनके साथ तादात्म्य करके इनको पकड़कर, इनको लेकर चलता है। 'श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च' स्पष्ट कर दिया मूलमें ही-

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयान् उपसेवते।

यह इन पाँचों इन्द्रियोंको पकड़ लेता है-श्रोत्र, चक्षु, रसना, घ्राण इनको पकड़ लेता है। 'श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च'-कानको पकड़ता है, आँखको पकड़ता है और त्वचा को पकड़ता है। जो हम छूते हैं, इसीका नाम त्वचा नहीं है। इसमें जो छूनेकी शक्ति है, जो संवेदन है, उसका नाम स्पर्श होता है-त्वचा होता है। हम जो कान पकड़ लेते हैं इसका नाम संस्कृतमें श्रोत्र नहीं है। इसमें जो ज्ञान है, शब्दका जो ज्ञान है, शब्दका जो ज्ञान होता है, उसका नाम श्रोत्र है। स्पर्शके ज्ञानका नाम त्वचा है। रूपके ज्ञानका नाम नेत्र है। स्वादके ज्ञानका नाम जिह्वा है और गन्धके ज्ञानका नाम नासिका है। इनको ले करके और इन सबमें साधारण करणके रूपमें रहनेवाला जो मन है, असाधारण करण हैं ये इन्द्रियाँ और साधारण करण है मन।

उनको ले करके यह विषयोंका सेवन करता है। विषयोंका सेवन तो 'इन्द्रियस्येन्द्रियास्र्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।' आँख रूप ही देखेगी और कान शब्द ही सुनेगा, त्वचा स्पर्श ही करेगी। यह तो ठीक है कि उनके अपने विषय व्यवस्थित हैं। परन्तु उनमें जो हम फँस जाते हैं वह सबसे बड़ा दोष है और सबसे बड़ा दुःख है। हमको ये संगीत सुने बिना तो नींद ही नहीं आती है। ऐसी मीठी-मीठी बात सुने बिना हमको नींद नहीं आती है। हमको तो ऐसी एक महारानी मिलीं कि उन्होंने बताया कि रातको यदि हमें हाथ रखनेके लिए हमारे पतिदेव साथ न हों तो हमको नींद नहीं आती है।

बहुत प्रेम है, उनके प्रेमकी तो प्रशंसा करनी ही पड़ेगी। पर मैंने ढिठाई कर पूछ दिया, कि जब वे

कहीं बाहर जाते हैं, तब तुम क्या करती हो? तो हमारे पास—3-4 हिजड़े नौकर रखे हुए हैं। उनको रातको हम अपने पलंगपर सुलाकर और उनके ऊपर हाथ रखकर सोते हैं। इस प्रकारका जो बन्धन है—यह बात कहने लायक तो नहीं है—मैं समझता हूँ कि गन्दी बात है—लेकिन जब हम किसी विषयके चक्करमें फँस जाते हैं तब कितने पराधीन हो जाते हैं, इसका यह नमूना है। यह खाये बिना नहीं रह सकते, यह पीये बिना नहीं रह सकते, यह पहने बिना नहीं रह सकते। जो वृन्दावन कोई आते हैं तो चिट्ठी लिखते हैं, वहाँ एयर कण्डीशन है कि नहीं? वहाँ अंग्रेजी ढङ्गके शौचालय हैं कि नहीं है?

एक वजीरका बालक था उसे पूनासे हरिद्वार जाने-आनेमें पाँच दिन लगा और पाँच दिनतक वह बाथरूममें नहीं गया। क्योंकि उसको अंग्रेजी ढंगका शौचालय नहीं मिल सका। तो इस तरहसे अपनी आदत जो बिगाड़ लेते हैं न, उसीका नाम विषय सेवन। विषय माने बन्धन। अपनेको किसी चीजके साथ बाँध लिया। अब जो लोग इसमें विमूढ हो जाते हैं, उनको इसका पता नहीं चलता है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥

यह कब सुखी होता है और कब दुःखी—'गुणान्वितम्'। कब यह इस शरीरको छोड़ देता है और कब इसमें स्थित रहता है और कब इसमें भोग करता है? कब सुखी-दुःखी होता है। इस बातका पता हम लोगोंको नहीं लगता। हम तो अपनेको शरीर मानकर ही इसमें डूबे हुए हैं। कभी इस ओर ध्यान ही नहीं जाता कि आखिर मैं क्या हूँ। जब देखो तब यह क्या है? यह क्या है? बहुत विचार करेंगे तो वह क्या है—वह क्या है? गये थे कश्मीर—देखा वहाँ एक कब्र है। तो वह कब्र कितनी पुरानी होगी, इसका उन्होंने पता लगाना शुरू किया। यह किसकी कब्र हो सकती है, अन्दाजा लगाना शुरू किया। वहाँकी मिट्टी खोदी गयी, वहाँसे हड्डी निकाली गयी।

अरे यह तो लगता है कि कई हजार वर्ष पुरानी है। कई हजार वर्ष पुरानी है तो किसकी होगी? सोचो। इसका तो पता लगा रहे हैं—उसको बोलते हैं गड़े मुर्दे उखाड़ना। सृष्टिके आरम्भमें क्या था और अन्तमें क्या रहेगा? भूतमें क्या था? भविष्यमें क्या होगा? अरे वर्तमानको तो ठीक करो भाई! तो क्या निकल गया, क्या रहा है? क्या भोग कर रहा है? इस समय कैसे सुख-दुःख मिल रहा है? इस बातका जो लोग विशेष करके मूढ़ हो गये हैं, उनको इस बातका पता नहीं चलता है।

पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।

जिनको ज्ञानकी दृष्टि प्राप्त हो गयी है, वही इसको देखते हैं। दूरबीनसे हम देख लेते हैं कि बन्द कमरेमें भी क्या कर रहे थे और एकान्तमें दूसरोंके लिए लगी हुई है, अपने घरमें क्या हो रहा है, अपने दिलमें क्या हो रहा है, इसका पता नहीं चलता। जिनके ज्ञानचक्षु खुल जाते हैं-यह चामकी बनी हुई आँख

****

नहीं है, यह मांसकी बनी हुई आँख नहीं है। यह ज्ञानकी आँख है, उस आँखसे यह बात दिखायी पड़ती है कि यह निकलनेवाला कोई और ही है। यह आने-जानेवाला कोई और ही है। यह सुख-दुःख भोगनेवाला कोई और ही है।

गह तो सब गुणोंका खेल है, यह मैं नहीं हूँ, जिनकी ज्ञानदृष्टि खुल जाती है और यह बोध हो जाता है। आपको देखिये संसारमें सुख भी मिले तो उसको छोड़नेका मन नहीं होता है और दुःखके चक्करमें ऐसे फँस जाते हैं कि छोड़नेका मन होनेपर भी उससे छूट नहीं पाते हैं। दुःखी, दुःखी, दुःखी और पता चलता नहीं कि हम इसमें फँस गये। एक डाक्टरने किसी महिलाको औषधि दी। और कहा कि देखो इसको रोज-रोज मत खाना। तो महिलाने कहा कि, 'यह दवाई जो तुम बता रहे हो इसको बीस वर्षसे रोज खाती हूँ। अबतक तो मुझे आदत पड़ी नहीं। अब क्या पड़ेगी? ये सौ-सौ धक्के खायें और तमाशा घुसकर देखें-

विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।

जो असलमें ज्ञानदृष्टिसे अपने आपको देखता है, वही दूसरेको ठीक-ठीक देखता है। जो अपनेको ही ठीक-ठीक नहीं देख पाता वह दूसरेको कहाँसे ठीक-ठीक देख पावेगा। अपनी आँखमें बड़ा-सा फोड़ा हो गया हो तब भी नहीं दिखता है और दूसरेकी आँखमें जरा-सा कोई तिल हो गया है तो वह दिखायी पड़ जाता है। हमारी आदत जो दूसरोंको देखनेकी पड़ गयी है, वह हमारे जीवनमें सबसे बुरी आदत है। हमें अपनेको देखकर अपने कर्तव्यका भी निश्चय करना चाहिए और अपने प्राप्तव्यका भी निश्चय करना चाहिए। अपने त्यक्तव्यका भी निश्चय करना चाहिए। अपने भोक्तव्यका भी निश्चय करना चाहिए। अपने ज्ञातव्यका भी निश्चय करना चाहिए। अपनी ओर देखना बहुत जरूरी है।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥

जो योगी, जो साधक, जो जिज्ञासु इसके लिए यत्न करता है, प्रयत्न करता है, वे देखते हैं कि सारा-का-सारा मालमत्ता तो अपने घरमें रखा है।

आत्मनि हृदये एव स्थितम्।

तुम्हारी पूँजी कहाँ है? दिखती नहीं है, है तो यहीं परन्तु दीखती नहीं है। एक सज्जनने अपने बालकको कन्धेपर बिठा लिया और बच्चा उनके सिरका सहारा लेकर सो गया। अब उनको ख्याल रहा तो ढूँढ़ने लगे, हमारा बालक कहाँ गया? चारों ओर ढूँढें-चारों ओर ढूँढे, मिले नहीं। जब बहुत व्याकुल हुए, चिल्लाये, उनकी पत्नीने कहा, ये तुम्हारे कन्धेपर क्या है? अरे हाँ, यह तो हमारे कन्धेपर ही है। एकके गलेमें हार था-ख्याल छूट गया, हमारा हार क्या हुआ? घरमें ढूँढ लिया। पुलिसमें रिपोर्ट लिखा दी। पुलिसवालेने पूछा, तुम्हारे पास कितने हार हैं? बोले, हार तो एक ही है। बोले तुम्हारे गलेमें क्या है? अरे हाँ हमारे गलेमें ही है।

इसीप्रकार जिस चीजको हम खोया हुआ मानकर, इधर-उधर ढूँढते हैं, है वह तो हमारे हृदयमें ही, हमारे शरीरमें ही मौजूद है। जब योगी पुरुष दूसरी ओरसे दृष्टि हटा करके अपने आपमें ही देखनेका प्रयास

****

****

करता है तब वह देख लेता है। लेकिन कौन देखता है? जिसने सद्गुरुकी कृपासे, शास्त्रोंके प्रसादसे, अपने अन्तःकारणकी पवित्रताके और सत्सम्प्रदायके अनुसार, यह नहीं कि चाहे जिसको गुरु बना लिया। आजकल बहुत-से दुराचारी सदाचारीके नामसे घूमते हैं। आजकल बहुत-से दुष्ट, शिष्टके नामसे घूमते हैं, आज बहुत-से दुरात्मा, महात्माके नामसे घूमते हैं। यह नहीं कि जिसका कोई सत्सम्प्रदाय नहीं है, जिसको शास्त्रकी अनुकूलता प्राप्त नहीं है, जिसके सद्गुरु नहीं है, जिसका अन्तःकरण पवित्र नहीं है, वह चाहे कि हम इसको ढूँढ लें तो वह इसको नहीं ढूँढ सकता। यह तो अभिमानी लोगोंकी बात है कि हमको सत्सम्प्रदायकी, सद्गुरुकी, सत्-शास्त्रकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिए सदाचारी हो, और कृतप्रज्ञ हो।

सद्गुरु, सत्शास्त्रसे अपनी बुद्धिका जिसने निर्माण किया हो उसको परमात्माकी प्राप्ति होती है।

नाविरतो दुश्चरितात् नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

केवल बहुत-सी किताब पढ़ लेनेसे परमात्माका, सत्यका, यथार्थका, परमार्थका दर्शन नहीं होता है। यह केवल पढ़ाई-लिखाईकी वस्तु नही है। जो दुश्चरित्रसे अपनेको अलग कर लेता है, दुश्चरित्र छोड़ देता है-जारी, चोरी, हिंसा इनसे अपनेको मुक्त कर लेता है:

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।

हम अधम बनेंगे तो भगवान् हमारा उद्धार करेंगे। अरे भगवान् उद्धार करेंगे, उनकी कृपालुताको तो देखते नहीं है, बल्कि और अधम बनने जा रहे हैं। अधम बनकर अपना उद्धार नहीं करवाया जाता है। भगवान्की पसंदगीमें आकर अपना उद्धार करवाया जाता है। केवल पढ़े-लिखे होनेसे काम नहीं चलता। दुश्चरित्रता छोड़ देनी चाहिए। काम, क्रोध मनमें रखकर परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती है। उसको निकालना पड़ता है। 'नासमाहिता:' चित्तको विक्षिप्त रखकर परमात्माकी प्राप्ति नहीं की जाती है। चित्तको शान्त रखना पड़ता है, समाहित रखना पड़ता है। और जो सिद्धियोंके जालमें फँस जाता है-यह भस्म गिर रहा है, यह शहद गिर रहा है। अँगूठी बरस रही है, यह घड़ी निकल रही है। आसमानमें उड़ रहे हैं। विक्षेप ही है।

चाहे जो खाओ, जो पीओ, जो मौज करो और परमात्मा हमको प्राप्त हो जायेगा। ऐसा नहीं हैं-

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो...............

जिन्होंने सद्गुरु, सत्सम्प्रदाय, सत्शास्त्रसे अपने जीवनको पवित्र नहीं किया है, उन अकृतात्माओंको इस परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। यह तो सद्गुरु, सत्सम्प्रदाय, सदाचार, सद्भावनाके प्रकर्षसे-उत्कर्षसे ही परमात्माकी प्राप्ति होती है।

●

****

****

प्रवचन : 6

10-11-86

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः।

प्रयत्न तो करते हैं, परन्तु साधन-सम्पत्तिके द्वारा अपने हृदयका निर्माण नहीं किया है। अकृतात्मा-माने अपने अन्तकरणकी शुद्धि के लिए उन्होंने कोई प्रयास नहीं किया और 'अचेतसः'। गुरुसम्प्रदायसे रहित हैं। वे कितना भी प्रयत्न करें, उन्हें इस आत्माका दर्शन नहीं होता। बाहरकी वस्तुओंका जो अनुभव होता है, उसकमें शम, दम आदि साधनकी आवश्यकता नहीं रहती है। घड़ा देखते हैं, कपड़ा देखते हैं, स्त्री देखते हैं, पुरुष देखते हैं, मेज देखते हैं। लेकिन यह जो वस्तु है, यह सर्वान्तर है। सबके भीतर है। बाहरकी चीजको देखनेके लिए जिन साधनोंकी आवश्यकता होती है। इसमें चाहिए कृतात्मा। अकृतात्माको इसका दर्शन नहीं होता।

जिसने विवेक, वैराग्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान, मुमुक्षा आदिके द्वारा अपने आत्माका सम्पादन कर लिया है, वह पात्र है। इसमें जो अलगकी चीजें जुड़ गयी हैं, उनसे अपने को अलग कर चुका है। लोक में तो देखो कैसा व्यवहार होता है। एक किसान के घर गये, उसके बैल देखने लगे। उसने कहा-महाराज, और बैल तो सब बैल हैं पर यह बैल तो मेरा प्राण है। और सब तो हमारे प्यारे हैं ही, पर यह पुत्र तो मेरा आत्मा ही है। यहाँ जो प्राणका विवेक है, आत्माका विवेक है, वह कौन-सा प्राण है। जिसको तुम बैल बता रहे हो। वह कौन-सा आत्मा है जिसको तुम पुत्र-शिष्य बता रहे हो। विवेक करके जो बैलको प्राण समझनेवाला है, उसको अलग समझो। इतना विवेक तो हम कर पाते हैं, लेकिन वह अलग किया हुआ क्या है- यह बात केवल अलग कर देनेसे ही मालूम नहीं पड़ती। क्योंकि वह तो अलग किया जाता है और फिर मिलता है-फिर अलग किया जाता है।

मैं एक स्त्री-पुरुषको जानता हूँ- जब उनमें लड़ाई होती है तो तलाक हो जाता है। फिर थोड़े दिनोंके बाद मेल हो जाताहै तो फिर ब्याह कर लेते हैं। यह जो दुनियाकी चीजें हैं इनसे तो मिनिटके लिए मिलते हैं मिनिटके लिए अलग होते हैं। दिनभरमें कितनी बार मिलते हैं और कितनी बार अलग होते हैं। यह केवल थोड़ी देर के लिए विचार मनमें हो जाय कि यह मेरा नहीं है और यह मैं नहीं हूँ। 'न एते मम' और 'नाहं एते स्याम'। ये मेरे नहीं हैं और आँख बन्द करके बैठ भी गये। थोड़ा स्तम्भवत्-खम्भेकी तरह शरीर बन भी गया, पीठकी रीढ सीधी हो गयी या दोनों आँखें स्थिर हो गयीं-सिर सीधा हो गया बैठ गये। परन्तु इससे आत्माका दर्शन नहीं होता है। दर्शन होनेके लिए चाहिए-चेतस्।

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः।

यह चेतस् क्या है? जबतक अचेता रहोगे तबतक यह अनुभव नहीं होगा। चेतस्का अर्थ है कि अन्तरङ्ग साधनसे रहित है और अकृतात्माका अर्थ है जो बहिरङ्ग साधनसे रहित हैं। विवेक, वैराग्य, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान और मुमुक्षा—ये सात हैं बहिरङ्ग साधन, चार बोलते हैं इनको क्योंकि साधन-चतुष्टयको एकमें कर देते हैं। और इसके बाद है गुरुकी शरणागति। और गुरुकी शरणागति होनेके बाद जो

****

****

चेतस् है, ज्ञान है, वह गुरुसे प्राप्त होता है। बताना पड़ता है कि जिसको तुमने देहसे, इन्द्रियसे, मनसे अलग किया है, वह अलग किया हुआ कोई शरीरके कोनेमें बैठी हुई चीज नहीं है। वह हृदयके कटोरेमें बैठा हुआ मक्खन जैसा चेतन नहीं है। जिस वस्तुको तुमने अलग किया है वह जो लम्बाई-चौड़ाई, देशकी कल्पना है वह तो है अन्तःकरणमें। जो कालकी कल्पना है, आदि अन्त, अनादि-अनन्त इसकी, यह अन्तःकरणमें है क्योंकि न तो किसीने अनादि देखा है, न तो आदि देखा है। आदि-अनादि दोनों अनदेखे हुए हैं। देशके भी और कालके भी—वे अज्ञात हैं। वस्तुकी भी आदि और अन्त देखे हुए नहीं हैं क्योंकि यह जो बुद्धि शरीरमें पैदा होती है यह अपने आदिको, अन्तको, उपादानको भी नहीं देख सकती और अपनी लम्बाई-चौड़ाई जिसमें मालूम पड़ रही है, उस लम्बाई-चौड़ाईके अधिकरणको भी नहीं देख सकती। और जो इसमें उम्र मालूम पड़ती है उस उम्रकी शुरू कहाँ है और अन्त कहाँ है, उसको भी नहीं देख सकती।

ये जो देश, काल, द्रव्य, इनकी कल्पना करके और हम अपनेको इनसे अलग मान लेते हैं—पर अलग मान लेनेपर भी बाबू—अलगाव ऐसा ही रहता है, जैसे एक थालीमें दाल-चावल मिल गये हों। उसको अलग-अलग करके रख दिया। हृदयमें ही एक अनात्माका अलगाव करके रख देते हैं और एक ओर आत्माका अलगाव करके रख देते हैं। दोनों दिलके कोनेमें ही समाये रहते हैं। मूल वस्तु इसमें यह है कि परिच्छिन्नमें जो मैं है, हड्डी, मांस, चाममें जो मैं है, विष्ठा, मूत्र, पीवमें जो मैं है—सारा जान-बूझ करके आपने अपने मैंको कहाँ बैठाया—देहमें—मैं बड़ाभारी ज्ञानी हूँ, मैं बड़ाभारी विचारक हूँ, मैं बड़ाभारी वैज्ञानिक हूँ। सब कुछ ढूँढ-ढाँढ करके अन्तमें किया क्या? अपनेको वही नरकके नरकमें डाल दिया। यह शरीर प्रत्यक्ष नरक है। ऊपरसे चाहे जितना चिकना-चुपड़ा बना हो, वह कौन-सी वस्तु है जो इस शरीरमें नहीं है। मूत्र है, बिष्ठा है, पीव है, रक्त है, हड्डी है, मांस है, चाम है, थूँक है, कीचड़ है, पसीना है, बलगम है, नाखून है, बाल है, यह कौन-सी वस्तु है कि शरीरमें—बड़े भारी विचारक बने, गड़े मुर्दोंको उखाड़नेमें बड़े समर्थ। यहाँतक कि विश्वका संहार कर सकें ऐसी युक्ति निकालनेमें समर्थ, लेकिन खुद कहाँ बैठे हैं? खुद बैठे हैं देहमें, शरीरमें। चील बहुत ऊँचेतक उड़ती है, परन्तु गिरती है माँसके टुकड़ेपर।

इसी प्रकार जो वैराग्यहीन विचारक हैं, ये उड़ते तो हैं सातवें आसमानमें लेकिन गिरते हैं—आकर बैठ जाते हैं शरीरमें। मान लो एकबार भी विवेक, वैराग्य, समाधि-साधन हो जाय और गुरुकी शरणागति हो, और वह श्रवण करावे, मनन करावे, निदिध्यासन करावे कि देखो तुम जो हो वह इन सब बाहरी पदार्थोंका जो अधिकरण है, हृदय-देशकी लम्बाई-चौड़ाईकी कल्पना, कालके अनन्त होनेकी कल्पना-उपादान—जो मैटर है उसीमें-से सब नाम-रूप पैदा होते हैं। इसकी कल्पना, तुम्हारे अन्तःकरणमें और तुम इस अन्तःकरणसे अलग होनेके कारण—तुम इस अन्तःकरणके द्रष्टा हो, साक्षी हो। दृश्यसे निराला होता है द्रष्टा, इसलिए तुम अपनेको इस देहमें 'मैं' करके मत बैठाओ।

तुम तो देशकी कल्पनासे अछूते हो, कालकी कल्पनासे अछूते हो, वस्तुकी कल्पनासे अछूते हो। स्वयं अद्वितीय ब्रह्म हो। जब यह ज्ञान गुरुके द्वारा प्राप्त होता है—बिना महावाक्य ज्ञानके। गोस्वामीजीने जान-

****

****

बूझकर महावाक्य शब्दका प्रयोग छोड़ दिया है। 'वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुण भवपार न पावें कोई।' वहाँ वाक्य माने 'तत्-पद-वाच्यार्थ' एवं 'त्वं पदवाच्यार्थ' का ज्ञान हो जानेपर भी संसारकी निवृत्ति नहीं होती। जबतक महावाक्यार्थका, लक्ष्यार्थका बोध नहीं होगा तबतक तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। यह सद्गुरुका जो महावाक्य है, वह है कि पहलेसे तुम अलग जो ब्रह्मको जानते थे, वह ब्रह्म तुमसे अलग नहीं है। तुम अपनेको ब्रह्मसे अलग जानते थे सो भी गलत और ब्रह्मको अपनेसे अलग जानते थे भी गलत! न तुम ब्रह्मसे अलग हो, न ब्रह्म तुमसे अलग है। यह जो एकता है, यह चेतसका, तत्त्वज्ञानका दान है, जो गुरुजी करते हैं। और गुरुजी जिस समय शिष्यको यह ज्ञान करा देते हैं, उस समय अपनेको मिटा देते हैं।

अपनेको मिटाकर, शिष्यके शिष्यत्वको भी मिटा देते हैं और गुरुके गुरुत्वको भी मिटा देते हैं। ऐसा ज्ञान दुनियाके किसी मजहबमें नहीं है। न किसी विज्ञानमें है—जो गुरु-शिष्य दोनों अपने अहंको मारकर एकत्वमें स्थित हो जायँ। यह जो हमलोग सारा वेदान्त विचार करके, अन्तमें देहमें ही 'मैं' करके बैठते हैं वही सबसे बड़ा प्रतिबन्ध है। ये परमात्मा असलमें है क्या? उसीके प्रकाशमें सब प्रकाश हो रहा है। देखो यहाँ नाम ले करके बताते हैं।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो, मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ 15.12-15
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।

ये भगवान्‌की शक्ति दिखती हैं। धारणी शक्ति पृथिवीमें है। यह सबको अपने ऊपर धारण करती है और बीजरूपमें भी धारण करती है। जैसे ये पेड़-पौधे हैं, इनका बीज कहाँ होता है? मिट्टीका एक टुकड़ा अमुक संस्कारसे संस्कृत है-वह इमलीके पेड़में-से निकला है इसलिए उस मिट्टीके टुकड़ेमें इमलीके संस्कार आ गये हैं। अब वह इमलीका बीज बन गया। आमका एक बीज है, वह आमके पेड़में-से आया है इसलिए आमकी विशेषताको लेकर आया है। है तो वह मिट्टी ही। आमको कौन धारण करता है? इमलीको, अमरूदको, नीबूको कौन धारण करता है? और ये हमलोगोंके जो शरीर हैं, इनका बोझा कौन उठता है? और अन्नके द्वारा इस शरीरको परिपुष्ट कौन करता है? धारिणी शक्ति पृथिवीमें रहती है। 'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।' आपने देखा होगा कभी किसीको भूत-प्रेतका आवेश होता है। भूत-प्रेतका आवेश न भी हो तो, तो काम-क्रोधका आवेश तो होता ही है। देखनेमें आता है-क्रोध सिरपर चढ़कर बैठता है-तुरन्त बोलने लगते हैं-

****

****

ज्यौं खल दण्ड करउँ नहिं तोरा। होहि भ्रष्ट श्रुति मारग मोरा॥

क्रोधका आवेश होता है, कामका आवेश होता है। मैंने अपने कानसे सुना, एक सेठने कहा कि इस लड़कीसे मेरा ब्याह नहीं होगा तो मैं मर जाऊँगा। यह चीज हमको नहीं मिलेगी तो हम जीकर क्या करेंगे! एक चीज जब दूसरी चीजमें प्रवेश करके अपने आपको भुला देती है, तब उसका नाम आवेश होता है। यह भगवान्‌का आवेश ऐसा होता है, जिसमें वे अपनेको भूलते नहीं है। 'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।' मैं इस पृथिवीमें प्रवेश करके, आविष्ट होकरके, माने स्वयं पृथिवीरूप होकरके। 'अहं पृथिवी' ऐसा अनुभव करके, 'भूतानि धारयामि।' संसारके सम्पूर्ण शरीरधारी प्राणियोंको धारण करता हूँ-ओजसूसे, अपनी शक्तिसे। आपको धारण करनेवाला कौन है?

बोले हम तो धरतीपर रहते हैं। अरे भाई, तुम तो धरतीपर रहते हो-धरतीमें कौन रहता है? वही परमेश्वर जो है, वह धरतीमें रहकर, धरती बनकर, जो पृथिवीकी आत्मा है, यह 'पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिवीम् यमयति।' जो पृथिवीमें रहकर पृथिवीको नियमित करती है वह शक्ति। 'पृथिवी यस्य शरीरं'-पृथिवी जिसका शरीर है, 'यं पृथिवी न वेद'-जिसको पृथिवी नहीं जानती है। पृथिवीमें घुस करके पृथिवीके द्वारा सारा काम वह सम्पादन कर रहा है। किसीको अन्न बनकर भोजन दे रहा है। कहीं पेड़-पौधे बन करके चारों ओर हरियाली बिखेर रहा है। कहीं फूल बन करके खिल रहा है, कहीं फल बन करके स्वाद बन रहा है, कहीं मनुष्य, पशु, पक्षी, यह परमात्मा चींटी बनकर रेंगे रहा है। वीर वधूटी बनकर धरतीकी शोभा बढ़ा रहा है। यह परमात्मा ही चिड़िया बन करके चहक रहा है। यहीं लता-वृक्ष बन करके फल-फूल रहा है, यही स्त्री, पुरुष बन करके नाना प्रकारकी प्रीति, रीति कर रहा है। 'यह है सब उस एकतत्त्वका-एक परमात्माका खेल!

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥

मैंने एक महात्मासे बचपनमें कहा कि हमको भगवान्‌का दर्शन करा दीजिये। बोले गीता पढ़ी है? मैंने कहा, हाँ, महाराज पढ़ी तो है। बोले कि भगवान् कहते हैं कि 'रसोहममप्सु कौन्तेय,' जलमें मैं रस हूँ और 'प्रभास्मि शशिसूर्ययोः' और सूर्य-चन्द्रमामें प्रभा हूँ। वे कहते हैं-'पुण्यो गंधः पृथिव्यां च।' पृथिवीमें मैं गन्ध हूँ। वे कहते हैं 'पवनः पवतामास्मि'। पवित्र करनेवालोंमें मैं वायु हूँ। वे कहते हैं 'तेजश्चामि विभावसौ।' अग्निमें मैं तेज हूँ। वे कहते हैं-'शब्दः खे।' आकाशमें मैं शब्द हूँ। वे कहते हैं प्रत्येक मनुष्यमें मैं पौरुष हूँ। 'पौरुषं नृषु'। इतने भगवान् तुम्हारे सामने खड़े हैं। पेड़ोंमें पीपल बनकर खड़े हैं। घोड़ोमें उच्चैश्रवा बनके खड़े हैं। हाथियोंमें ऐरावत बनकर खड़े हैं।

इतने रूप धारण करके, तुम्हारी इन्द्रियोंमें मन बन करके बैठे हुए हैं। इतने भगवान् तो तुम्हारे सामने खड़े हैं, इनको तुमने क्या निहाल कर दिया, इनकी क्यों सेवा की? इनकी क्या भक्ति की? इनकी क्या पूजा की? कि और भगवान् जो छिपे हैं वे तुम्हारे सामने प्रकट हो जायँ! भगवान् तुम्हारे घरमें तुम्हारी सेवा लेनेके लिए, तुम्हारा कल्याण करनेके लिए भिखारी बनकर आते हैं, जैसे बलिके घरमें गये थे कि हमको खानेके लिए

****

****

एक रोटी दे दो। क्या सेवा करते हो उनकी? वे नंगे होकर तुमसे कपड़ा लेनेके लिए आते हैं। क्या सेवा करते हो? रोगी होकर तुमसे दवा लेनेके लिए आते हैं। क्या सेवा करते हो? वह विद्यार्थी बनकर विद्या लेनेके लिए आते हैं, उनकी क्या सेवा करते हो? अनेक रूपमें, सर्वरूपमें, सब रूपमें भगवान्।

'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा। पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मक।' ये जितनी औषधि हैं, हमलोग जो खाते-पीते हैं, वे सब औषधि ही हैं। एक चनेकी गोली बनी है, एक मटरकी गोली बनी है, एक अरहरकी, एक मूँगकी, और सबके रंग भी निराले-निराले हैं। जो लोग मैंचिग करनेके लिए रंग मिलाते हैं न! मूँगका रंग अलग, चनाका रंग अलग, मटरका रंग अलग, गेहूँका, जौका रंग अगल, एक दिन इनको एक थालीमें, फैलाकर अलग-अलग जमाकर देखो, क्या बढ़िया चित्र बनता है इससे! ये औषधि हैं, हमको तो जबसे ज्यादा गोली खानेको मिली, तबसे हमने यही निश्चय कर लिया कि जैसे हम चने खाते हैं, चार चने मुँहमें डाल देते हैं, वैसे ही ये चार चने और डाल देते हैं।

चलो भाई यही सही! इनको चना ही मान लो। चना है, जौ है, गेहूँ है, मुँहमें डालकर-डालकर तो खाते ही हैं। सम्पूर्ण औषधियोंमें 'ओषति दोषान्-धत्ते गुणान्' जो हमारे शरीरमें रहनेवाले दोषको तो मिटा दे, जला दे और गुणका आधान कर दे। दोषका अपनयन करे और गुणका आधान करे, उसको कहते हैं औषधि। वह पुष्ट कहाँसे होता है? बोले-**सोमो भूत्वा रसात्मकः।**

यह जो रसात्मक सोम है, चन्द्रमाकी जो किरणें गिरती हैं, वस्तुओंपर उनसे उनमें अमृतका सञ्चार होता है, ऐसी वैदिक और पौराणिक कथाएँ हैं कि चन्द्रमाकी किरणोंमें-से अमृत झरता है और वही जितनी वनस्पति, औषधियाँ-वनस्पति उनको कहते हैं, जिनमें फूल तो हो और फल न हो और जो एकबार फल देकर नष्ट हो जायँ उनको औषधि कहते हैं, और जो काटे बिना बने रहें, और बर्षोंतक बारम्बार फल देते रहें, उनको वृक्ष कहते हैं। औषधि, वनस्पति, वृक्ष इनमें रसका सञ्चार कहाँसे होता है?

देखो, अपनी ओर तो यह प्रथा है कि शरद्-पूर्णिमाके दिन खीर पकाकर चाँदनीमें फैला देते हैं। रातभर चन्द्रमामें-से उसपर रसका सञ्चार होता है और उसको लोग पीते हैं। दमाका रोग दूर होता है। ऐसी लोगोंकी मान्यता है। मैंने खीर तो बहुत बार खायी है पर मुझे दमा नहीं था, इसलिए वह रोग ठीक होता है कि नहीं, इसका मुझे मालूम नहीं पड़ा। जिनको होगा उनको मालूम भी पड़ा होगा। 'सोमो भूत्वा रसात्मकः।' रसात्मक होकरके, क्योंकि जलका तत्त्व है रस। 'रसोहमप्सु कौन्तेय।' हम लोग पहचानते नहीं है। जल केवल रसात्मक हैं। रसतन्मात्रासे जलकी उत्पत्ति होती है। और जलमें रसमात्रा व्याप्त होती है। और रसके बिना जल होता ही नहीं है।

इसलिए रसके अतिरिक्त जलकी कोई सत्ता नहीं है। असलमें रस ही है। जल तो उसका नाम है। उसमें स्वयं सोम बन करके, जिस सोमको यज्ञमें रई और सोम कहकरके वर्णन करते हैं, अग्नि और सोम, रई और सोम-प्राणशक्ति और रसशक्ति इन दोनोंको मिल करके यह जीवन बनता है। वह आप्यायिनी शक्ति, जलके रूपमें कौन है? भगवान्ने कहा-'मैं हूँ'-**सोमो भूत्वा रसात्मकः।**

****

****

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।।
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।

मैं वैश्वानर हूँ, वैश्वानरका अर्थ होता है-अग्नि, विश्व, वैश्वानर ये तेजस्-तत्त्वसे ही सम्पूर्ण विश्व-सृष्टि प्रकट हुई है।

बृहदारण्यक उपनिषदमें आया-'सदेव सोम्य इदमग्रआसीत्।' सबसे पहले तो सत्ता थी, तुरीय। सद्वस्तु। सद्वस्तु वह होती है जो असद्की अपेक्षासे नहीं होती है। और सारी वस्तुएँ सापेक्ष होती हैं। पर यह असद् वस्तुके प्रतियोगीका नाम सब नहीं है। सत् और असत् इन दोनोंसे विलक्षण जो वस्तु है, उसका नाम यहाँ सत् है। वह सत् वस्तुसे क्या हुआ? उस सत् वस्तुसे तेजका ईक्षण किया-तेजने जलका ईक्षण किया और जलने अन्नका ईक्षण किया। ईक्षण करना माने होश-हवासमें, जान-बूझकर किसी वस्तुको पूर्णरूपसे जाँच-पड़ताल करके तब देखना। जब हम संसारमें देखते हैं कि अन्नसे शरीर बनता है और अन्नमें ही शरीरका लय होता है।

एक महात्मा थे वे कहते थे 'गुरु, ये माटीसे पानी और पानीसे माटी-घाससे मांस और मांससे घास बनता है। ये मनुष्य मरते हैं, धरतीमें लीन हो जाते हैं, माटी हो जाते हैं फिर इसमें-से घास होकर निकलते हैं। घास फिर माटी हो जाती है। घाससे मांस, मनुष्यके शरीरसे-घास पैदा होती है और इसी घाससे मनुष्यका शरीर पैदा होता है। ये घास और मांसका बना हुआ शरीर है। ये दोनों गंगाजीकी गोदमें, चेतनाकी अनन्त लहरमें ये उठते और पटकते रहते हैं, उल्लसित और संकुचित होते रहते हैं। रसमय एक अनन्त समुद्र है, वह लहरा रहा है। उसमें ज्वार उठ रहे हैं। उसमें भाटा उठ रहे हैं। अनन्त ज्ञानका, अनन्त रसका एक समुद्र है। उसमें वैश्वानर अग्निके रूपमें, तेजके रूपमें, तेजसे जल और जलसे अन्नकी उत्पत्ति होती है और इन तीनोंके मूलमें सद्वस्तु है। सद्वस्तु तो तुरीय है और तेजस् ईश्वर है और अप् हिरण्यगर्भ है और अन्न पृथिवी है। इनके द्वारा यह सृष्टि चलती है।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।

सबके शरीरमें वैश्वानर, तेजस तत्त्व होकर अग्नि तत्त्वके रूपमें भगवान् प्रविष्ट हैं। और यहाँ रहकर क्या करते हैं? बड़ा मजेदार काम करते हैं। आश्चर्य हो जाय। 'पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।' जो चार प्रकारका अन्न भोजन करते हैं हम, उनको भगवान् प्राणापानसे युक्त हो करके-अब देखो गाम तो हो गयी पृथिवी और रस हो गया जल और वैश्वानर हो गया अग्नि और प्राण अपान हो गये वायु और इसमें आकाशके समान रह करके भगवान् इन सबका पाचन करते हैं। 'पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।' माने ये जो पञ्चभूत हैं, ये सब परमात्माके स्वरूपमें है। परमात्मामें उत्पन्न हैं, परमात्मामें स्थित हैं, परमात्मामें इनका प्रलय होता है और परमात्माके अतिरिक्त ये कुछ नहीं हैं। धारणीशक्ति पृथिवीमें आप्यायनीशक्ति जलमें, प्रकाशिनी और तापिनीशक्ति अग्निमें और प्राणिनीशक्ति वायुमें और व्यापिनीशक्ति आकाशमें होती है। और ये कहाँसे आती है? ये सब-की-सब अपने स्वरूपमें-से ही आती हैं। अपना स्वरूप ही इनको सत्ता देता है, इनको स्फूर्ति देता है।

****

ये सारी सृष्टि केवल परमात्माके प्रकाशसे प्रकाशित हो रही है। परमात्माकी रोशनीसे रोशन हो रही है।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥

इसीसे पहले ही कह दिया कि जो कुछ सूर्यमें, अग्निमें, चन्द्रमामें जितना भी तेज है वह सब परमात्माका तेज है।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

हमारे मनमें सोचनेकी शक्ति कहाँसे आयी? हमारी आँखमें देखनेकी शक्ति कहाँसे आयी? हमारी वाणीमें बोलनेकी शक्ति कहाँसे आयी? ये संसारके छोटे-मोटे विज्ञान हैं, ये तो यान्त्रिक हैं। दो ही चीज इनके भीतर हैं, एक तो मशीन है-यन्त्र और एक गणित है। गणित और यन्त्रके द्वारा जो कुछ जाना जा सकता है, उसको ये जाननेका प्रयास कर रहे हैं। पूरी तरहसे अभी जान भी नहीं पाये हैं। सृष्टिका रहस्य इनके लिए अत्यन्त अज्ञात है। परन्तु ये जो अपने आत्मदेव हैं, ये न किसी मशीनकी नोंकपर चढ़ते हैं और न तो किसी कम्प्यूटरकी गणनामें आते हैं। ये न हों तो कम्प्यूटर किसको बतायेगा? और ये न हों तो मशीनका संचालन कौन करेगा?

ये आत्मदेव ही हैं। जिसने इस शरीरके संचालनको नहीं समझा, वह सम्पूर्ण जगत्के संचालनको तो क्या समझेगा? साढ़े तीन हाथका शरीर तो समझमें आया नहीं, सम्पूर्ण विश्वको क्या समझेगा? अब यह बात है कि पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ये सब-के-सब परमात्माकी शक्तिके विलास है, उनकी लीलाके विलास हैं। पर जो कुछ हो रहा है, उस परमात्माकी शक्तिसे हो रहा है। एकबार श्रीमन्नारायणजी माने जमनालालजीके जँवाई थे- उस समय वे गुजरातमें राज्यपाल थे- बताया कि मैं आईन्स्टीनसे मिलनेके लिए गया था। मैंने उनसे प्रश्न किया कि आपको विज्ञानकी इतनी बड़ी प्रेरणा और इतनी बड़ी सूझ कहाँसे प्राप्त होती है? शिष्टाचारके पश्चात् बैठे, बात-चीत करते रहे-चलते-चलाते वे हमको एक कमरेमें ले गये। उस कमरेमें कोई दूसरी चीज नहीं थी। न कुछ बिछाया हुआ था, न कोई फर्नीचर था, न कोई रोशनी थी। स्वच्छ, निर्मल कमरा था और उसमें मरियमकी गोदमें ईसाकी मूर्ति थी।

बालक ईसा, अपनी माता मरियमकी गोदमें। जाकर आईंस्टीन ने उनको नमस्कार किया और मुझको बताया कि मुझे सारी प्रेरणा इन्हींसे मिलती है। यशोदा मैयाकी गोदमें कृष्ण और कौशल्या माताकी गोदमें राम, मरियमकी गोदमें ईसा-ये हमें विज्ञानकी प्रेरणा देते हैं। वहींसे हमको वह बुद्धि, वह शक्ति, वह युक्ति प्राप्त होती है, जो हमारे जीवनमें आती है। हमारे हृदयमें वे ही बैठे हुए हैं।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥

उन्हींकी ज्योति सूर्यमें है, उन्हींकी ज्योति चन्द्रमामें है, उन्हींकी ज्योति अग्निमें है। उसी परमात्माकी

शक्तिसे हम देखते हैं, उसी परमात्माकी शक्तिसे हम सोचते हैं, उसी परमात्माकी शक्तिसे हम बोलते हैं। परमात्मा कहीं गया हुआ नहीं है। परमात्मा तो यहीं है। केवल हम उसको पपहचानते नहीं। परमात्मा यहीं है, अभी है, यही है परन्तु उसको पहचान नहीं पाते। यदि पहचान लें तो हाजरा-हुजूर है- न टिकट है, न दूर है। सर्वत्र भरपूर है। वह तो यहीं है। इसलिए आगे भगवान् अपना स्वरूप बतलाते हैं।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो, मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो, वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

आदमीके बनाये हुए ज्ञानसे अगर परमात्मा मिल जाय तो उस आदमीको किसने बनाया? उस आदमीको ज्ञान किसने दिया? एक प्रश्न है। आदमीको ज्ञान है। उस आदमीको बनानेवाला कोई कर्ता होना चाहिए, कोई कारण होना चाहिए, कोई उसको ज्ञान देनेवाला होना चाहिए। वही कौन है? हमलोग आदमीको देखते हैं, उसके ज्ञानको देखते हैं, उसके निर्माणको देखते हैं। परन्तु उसके भीतर ज्ञानका सञ्चार करनेवाला, उसको रचनाकी प्रेरणा देनेवाला, उसको क्रियाशक्ति देनेवाला, उसके भीतर कौन बैठा है, जो उस मनुष्यके नामरूपके व्याकरणके पूर्व विद्यमान है, वह कौन है? एक बात सोचो नाम तो तुम्हारा मोहन, सोहन या रिंगू, पिंगू-पैदा होनेके बाद रक्खा गया न! पैदा होनेके पहले तुम्हारा क्या नाम था? भ्रूण था भ्रूण। अच्छा भ्रूण होनेसे पहले क्या? एक रज-कण था। एक बीजकण था।

अरे भाई, वह कण बननेके पहले भी क्या था? पञ्चभूतका मिश्रित कोई झोल था। वह झोल भी क्या था? ढूँढ़ो, 'मूलेन सुंगेन अन्वेषमाणा:।' इस जड़को पकड़करके ढूँढ़ते हुए जड़में चलो। वहा कहाँ मिलेगी? भगवान्ने बताया-हमारा अतापता लेलो-हमारा एड्रेस तो मालूम रहना चाहिए। बोले कि हमको चिट्ठी भेजना हो, तार भेजना हो, टेलीफोन करना हो तो हमारा नम्बर तो ले लो। वह क्या है? कितनी देरमें जुड़ता है? कितनी दूरसे बात करनी पड़ती है? बोले, हमसे बात करनेके लिए दूर फोन नहीं जोड़ना पड़ता, देरसे तार नहीं पहुँचता, टेलीफोन करनेके लिए नम्बर नहीं घुमाने पड़ते। 'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः' हमारे साईंसे किसीने पूछा साईं, हम भगवान्से टेलीफोन करना चाहते हैं, तो उनका नम्बर बता दो!

वे बोले, तुम्हारे हृदयमें वह टेलीफोन है और उसका नंबर है 'शून्य'। दुनियाकी सब बातोंसे खाली करके जब बिलकुल खालीशून्य नम्बर होता है- वहाँ देखो, वहाँ परमात्मा पहलेसे मौजूद है। तुम्हारे निष्प्रपंच हृदयमें, तुम्हारे निर्वासन हृदयमें पहलेसे ही परमात्मा बैठा हुआ है। गाना-बजाना दूसरी चीज है, नाचना-गाना दूसरी चीज है, हिलना, डुलना दूसरी चीज है, कसरत करना दूसरी चीज है, नाटक करना दूसरी चीज है। यह परमात्मा तो हमारे हृदयमें साक्षात् अपरोक्ष हमारी आत्माके रूपमें बैठा हुआ है। भगवान्ने अपना पता बताया। क्या बताया? 'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः'। अरे भाई-मैं तो तुम्हारे नगरमें ही हूँ। नगरमें हैं महाराज? नहीं-नहीं तुम्हारे मुहल्लेमें हूँ। मुहल्लेमें हैं? नहीं तुम्हारे घरमें हूँ। घरमें हो महाराज? मैं घरमें नहीं तुम्हारे कमरेमें हूँ। कमरेमें कहाँ हो? तुम्हारे शरीरमें हूँ। शरीरमें कहाँ हो? तुम्हारे दिलमें हूँ। एकके ही दिलमें हैं महाराज कि सबके? बोले 'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो।' आपका ध्यान नहीं जाता होगा!

भगवान् मच्छरके हृदयमें बैठ करके, या मक्खीके हृदयमें जैठ करके क्या खाते-पीते होंगे? 'पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।' चर्व्य, जैसे पूरी है; मालपुवा है-ये दाँतसे काटकर खाते हैं। उसको चर्व्य कहते हैं। जैसे खीरको बिना चुगले, बिना दाँतसे काटे निगल जाते हैं, उसका नाम भोज्य है। और जब कोई चीज चूसकर फेंक देते हैं तब उसका नाम हो जाता है चोष्य। और चटनीको चाट लेते हैं, उसका नाम है लेह्य। चार प्रकारके जो अन्न है। चर्व्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य-इन चारों प्रकारोंको भगवान् खाते हैं-और संसारके जितने जीव हैं-खाने-पीने वाले शरीरधारी ब्रह्मासे लेकरके कीट पर्यन्त, सबके भीतर बैठ करके खाता कौन है? वही। तो सबका भोजन भी तो वही करता होगा न! महाराष्ट्रमें तो एक कथा है-

भगवान्ने चोखा चमारका खा लिया (विट्ठलनाथने)-सो वहाँके ब्राह्मणोंने उनका वहिष्कार कर दिया। क्यों भगवान्का बहिष्कार कर दिया? विट्ठलनाथ, तुमने चमारके हाथका भोग लगा लिया। अब हम तुम्हारा भोग नहीं पावेंगे। सो सबके शरीरमें बैठकर रहनेवाले, सबको छूनेवाले, सबका खानेवाले, सबका पीनेवाले, सबको अपने हृदयसे लगानेवाले, सबके अपने आप ये प्रभु हैं। सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः।' सबके हृदयमें सम निविष्ट हैं। सम्यक् निविष्ट हैं माने कभी छोड़कर कहीं जाते नहीं। एक क्षणके लिए भी किसीका परित्याग नहीं कर सकते। संसार उसको कहते हैं जो कभी पकड़ा न जाय। जिसको कभी, किसीने पकड़कर, रोककर, अपने पास नहीं रक्खा-न जरासंधने, न पृथुने, न रावणने, न हिरण्यकशिपुने-किसीके भी रोके यह किसीके पास नहीं रुका। न ब्रह्माके पास रुका, न शिवके पास रुका, न विष्णुके पास रुका। उसका नाम संसार है।

वह सरकता है। और जिसको कभी कोई छोड़ नहीं सकता, उसका नाम है आत्मा, उसका नाम है परमात्मा। कोई अपनेकी छोड़ करके कहाँ जा सकता है? वह परमात्मा कहाँ बैठा है? सबके हृदयमें अलग-अलग-एक तृणसे लेकरके प्रकृतिपर्यन्त और एक कीटसे लेकरके हिरण्यगर्भ-पर्यन्त, जितने भी जीव हैं, सबमें वही परमेश्वर व्याप्त हो रहा है। 'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो।' करना क्या है? बड़ा मजा लेता है। कल आपको ईश्वरका स्वरूप सुनायेंगे। बहुत मजेदार है। हँसता है, खेलता है, बोलता है, नाचता है, गाता है, मिलता-जुलता है। ब्याह करता है, बच्चे पैदा करता है। और दिन-रात हमसे मिला रहता है। बदकिस्मती यह है कि हम उसको पहचानते नहीं हैं।

●

प्रवचन : 7

11-11-86

एक महात्मा पुष्करमें थे-उन्होंने एक भजन बनाया था-

कृष्णने कैसी होरी मचाई एक ते होरी मचै नाहिं कबहूँ।
याते करौ बहुताई यही मनमें ठहराई॥

भगवान् अकेले थे, उनके मनमें आयी कि होली खेलूँ तो एकसे तो होली हो नहीं सकती। इसलिए उन्होंने अपनेको बहुत रूपोंमें कर लिया। जैसे कौसल्याजीके महलमें दो रूपमें प्रकट हो गये। और फिर विराट्-रूपमें प्रकट हो गये। जैसे खरदूषणसे युद्ध करते समय भगवान् रामचन्द्र-जितने खरदूषण, उतने ही रामचन्द्र। सबको लगे कि हमारे सामने हमको बाण मार रहे हैं। ये बहुभवन-सामर्थ्य भगवान्में है। यही उनकी लीला है। कितना सुगम कर दिया ईश्वरने अपनेको कि धरतीमें प्रवेश करके मैं तुमको अपनी गोदमें लिये रहता हूँ। अब आप इस बातका अनुभव करें कि मैं तो भगवान्की गोदमें हूँ। आनन्दसे भर जायँ। जितना हम जल लेते हैं -चाहे वह गंगाजल हो, कूपजल हो, सरोवरका जल हो, वर्षाका जल हो-और औषधियोंमें-से-पत्तेको निचोड़कर चाहे जल निकालें, चाहे फलमें-से रस निकालें, उसमें रस बनकर वही बैठे हैं। वही भगवान् जब हमारी जीभ पर रस बनकर आते हैं, तब हमको स्वाद आता है। थोड़ा सावधान होकर ध्यान दीजिये।

बाहरकी अग्निके रूपमें है, प्रज्ज्वलित हवन किया जाता है, सूर्य, चन्द्रमाके रूपमें प्रकट हो प्रकाश देते हैं और हमारे हृदयमें, शरीरमें बैठ करके पाचन क्रिया करते हैं। वही साँसके रूपमें आते हैं, वहीं साँसके रूपमें जाते हैं। प्राण और अपानकी सन्धिमें बैठकर दोनोंको अलग-अलग करते हैं। माने ईश्वर कहीं हमसे दूर नहीं है। केवल ख्यालकी ही कमी है। ईश्वर हमसे दूर नहीं है। एक छोटा बालक था। उन दिनों उसकी उम्र मुझसे बहुत छोटी थी-मैं बड़ा था। मैं जब उसके घर गया तो खूब प्रेम हो गया। बैठकर हमलोग घण्टों बात-चीत करें। समयका फेर। वह पढ़ने लगा और मैं कभी उसके घर गया नहीं। चिट्टी-पत्री होती रही। जब वह बी.ए. या एम.ए में पढ़ रहा था-प्रयागराजमें, तब मैं एकाएक उसके होस्टलके कमरेमें पहुँच गया-उसने हमको पहचाना नहीं और मैंने उसके घरकी कुशल-मंगल पूछी-उसकी माँकी, भाभीकी, बहनकी-उसको यह तो मालूम पड़ गया-हमारे कोई अन्तरंग व्यक्ति हैं।

मैंने कहा-हम यहाँ स्नान करेंगे। हमारे भोजनका प्रबन्ध करो। उसने सब कर दिया-फिर उसने पूछा कि आप बताइये आप कौन हैं? 2-3 घण्टे मैं उसके साथ रहा और नहीं बताया कि कौन हूँ। जब चलते-चलाते उसको बताया कि मैं अमुक हूँ-तब तो वह मेरे साथ लिपट गया। बड़े छलिया हो तुम! यह ईश्वर भी बड़ा छलिया है। इसीको माया कहते हैं। मायाको अपनेसे इतना ढके हुए रहता है कि-

आरामं अस्य पश्यन्ति-न तं पश्यन्ति कश्चन्।

लोग उसके बगीचेको देखते हैं, पर बगीचा बन करके वही लहरा रहा है, वही फूलोंमें सँवरा-सजा हुआ

है। उसीमें इतने स्वादु फल लग रहे हैं। वही छाया दे रहा है। यह बात ध्यानमें नहीं आती कि यह उसीका है। कुछ तो हमलोगोंकी मान्यताएँ और कुछ लोगोंने हमको ईश्वरसे बहुत दूर कर दिया। वह गया स्वर्गमें ईश्वर-और बैकुण्ठमें और गोलोकमें और साकेतमें। यहाँ ईश्वर नहीं है तो और कहाँ है? केवल पहचानने भरकी देर है।

एकबार मैं झूसीमें रहा-इलाहाबादके पास। कोई 7-8 महीना रहा। सन् 36 के लगभगकी बात है-तो मुँहमें जब ग्रास डालूँ तो ऐसा लगे कि भीतर नन्हा-सा कन्हैया बैठा हुआ है और मैं मुँहमें ग्रास डालता हूँ तो छीन लेता है, झपट लेता है और खा लेता है। और हमको अँगूठा दिखाता है। थोड़ा-सा ही ध्यान देने पर आप देखेंगे कि खटमलके शरीरमें भी, जूएँके शरीरमें भी और जिनको हम बहुत गन्दा समझते हैं, उनके शरीरमें भी 'शुनि चैवश्वपाके च'-कुत्ता और चाण्डालके शरीरमें भी वही बैठा हुआ है। और सब लोग जो अपना-अपना भोग लगाते हैं, उनके शरीरमें बैठ-बैठ करके पचानेका काम करता है।

खाते हैं हमलोग और पचाता है वह। 'भोक्तारं यज्ञतपसा'। यज्ञका अर्थ होता है जो हम दूसरोंको खिलाते हैं, सो वो यज्ञ है और जो स्वयं अपने भोगमें संकोच करते हैं-थोड़ा खाते हैं, उसका नाम तप है। माने दूसरोंको खूब खिलावे तो भगवान्‌को खिलाते हैं, और स्वयं अपने भोजनमें जो तपस् करते हैं, धर्म शास्त्रका नियम है-'पूरयेदशनेनार्धम्।' आधा पेट भोजन करना चाहिए। तिहाई तक पानी पिना चाहिए और चौथाई पेट हवा आने-जानेके लिए छोड़ देना चाहिए।

वायोः संचरणार्थं तु तुरीयं अवशेषयेत्।

हवाके लिए जगह पेटमें जरूर छोड़नी चाहिए। ठसाठस नहीं भरना चाहिए। क्योंकि असलमें भगवान् अकेले नहीं पचाते हैं। यह हमलोगोंके लिए उपदेश है। भगवान् भी जब भोजन करते हैं तो एक ओर प्राण और एक ओर अपान। प्राण पाँच और अपान पाँच-इन दस वायुओंको अपने साथ बैठाकर तब भोजन करते हैं। उपनिषद्‌में तो ऐसे कहा है—

केवलाघो भवति यः केवलादी।

जो अकेला भोजन करता है। वह केवल पापका भोजन करता है। खिलाकर खाना चाहिए। बल्कि दूसरेको खिलाकर भूखे भी रह जायँ तो इसमें और तपस्या बढ़ जाती है। लेकिन भगवान् केवल यज्ञ और तपस्या ही नहीं खाते हैं, जो हम आहुति देते हैं और व्रत करते हैं—वही नहीं खाते हैं, वे तो भोक्ता हैं।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥

इस देहमें परमपुरुष परमात्मा रहते हैं। और वे देखते हैं, वे अनुमति देते हैं। वे शरण-पोषण करते हैं और वे भोग भी करते हैं। वो महा ऐश्वर्यशाली हैं—ऐसे परमात्मा हमारे हृदयमें निवास करते हैं। आप ध्यान देंगे तो ईश्वरको ढूँढनेकी जरूरत ही नहीं पड़ेगी। अब और निकट बताते हैं।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो, वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोक्षर उच्यते।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः॥
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

अजी, क्या पूछते हो कि मैं पृथिवी होकर धारण करता हूँ, या पानी होकर सबको तर करता हूँ या अग्नि होकर ऊष्मा देता हूँ या प्राणापानके साथ पचाता हूँ—यह तो बाहरी बात है, भीतरी बात देखो ना! मैं सबके हृदयमें संनिविष्ट हूँ। बदकिस्मती है यह कि हम अपने दिलको ही नहीं जानते हैं कि वह कहाँ है? क्या है?' तेरी गलीमें आके खोये गये हैं दोनों—दिल तुमको ढूँढ़ता है, मैं दिलको ढूँढ़ता हूँ।' कहाँ ढूँढ़ने जाते हो—अपने हृदयको छोड़कर। जिस स्थानमें परमात्मा नहीं है, ऐसा कोई स्थान ही नहीं है। जिस क्षणमें परमात्मा नहीं है, ऐसा कोई क्षण ही नहीं है। जिस कणमें परमात्मा नहीं है ऐसा कोई कण ही नहीं है। सबके हृदयमें है। एक बारकी बात है—बहुत पहलेकी, संन्यासी होनेके पहलेकी! मैं तहसीलके किसी कामसे गया था। हमारे मित्र थे नायब तहसीलदार—मैं तो उनके घरमें बैठ गया। हमारा काम उनको करना था—वे चले गये कचहरी। वे दस बजे गये। चार बजे लौटे।

छः घण्टे मैं उनके घरमें अकेले बैठा रहा। बाहरसे वे किवाड़ी बन्द कर गये थे। छः घण्टेमें मैं जो सोचने लगा—मिट्टीके एक-एक कण, इनके हृदय होता है कि नहीं, दूबके एक-एक टुकड़े—इनका हृदय होता है कि नहीं। दूबमें जड़ लगानेकी जरूरत नहीं पड़ती है। यह गाँठ लगानेसे ही पैदा हो जाती है। गन्नेकी गाँठमें-से ही अङ्कुर निकलते हैं। काटकर कई टुकड़े करके गन्नेको खेतमें बो देते हैं। उनमें चेतना, प्राण है कि नहीं है। पानीके एक-एक बूँदमें जीवाणु हैं कि नहीं हैं। सोचने लगा—अपने मन ही मन। मैंने अपने अँगूठेका एक हिस्सा कर अपने सामने रख लिया। अब उसमें कितने कीटाणु हैं यह तो मैंने पहले देखा हुआ था। जितने कीटाणु, उतने ही उनके दिल, और उनके दिलमें परमात्मा। अब तो दिल ही दिल, दिल ही दिल, यह दुनिया क्या बनी है, दिलोंकी समष्टि है, हृदयोंका समूह है और सबके हृदयमें हृदि—हृदय कहाँ है? जहाँ हमारी यादें रहती हैं।

हरति आहरति संस्कारान् इति हृत् तस्मिन् हृदि।

कलकी देखी हुई बात याद कहाँ रहती है? सो जानेपर तो उसको मिट जाना चाहिए। कल हम शामको आपसे मिले थे। रातको सो गये तो आपको भूल गये थे। और अब आज उठे तो आपकी याद आयी। यह याद कहाँ थी? जिस हृदयमें यह याद सो गयी थी, पहले हुई थी, फिर सोयी थी, अब जगी है। बस; वही तो परमात्माका वक्षःस्थल है, जिसपर हमारी स्मृति जगी थी, सोयी थी, फिर जगी है। और जिसपर सहस्र स्मृतियाँ सोई हुई हैं। सबके दिलमें भगवान् सम्यक् और नि और विष्ट हैं। सम भी उपसर्ग हैं, नि भी उपसर्ग

है। विष्ट जो है वह धातुकी क्रिया है। सम्यक् माने भली-भाँति—नि माने पूर्णरूपसे, निवेश किये हुए हैं, विराजमान हैं। भगवान्‌की शेषशय्या कहाँ है? आपके हृदयमें। भगवान्‌का क्षीर-सागर कहाँ है? आपके हृदयमें। भगवान्‌का बैकुण्ठ कहाँ है? आपके हृदयमें। आपके हृदयमें ही सीता-राम चन्द्रका साकेत है। आपके हृदयमें ही राधा-कृष्णका गोलोक है। आपके हृदयमें ही गौरीशंकरका शिवलोक है, कैलास है। 'हमको क्या तू ढूँढे बन्दे, हम तो तेरे पासमें।' सबके हृदयमें परमेश्वर बैठा हुआ है।

हम उसकी ओर पीठ करके, देखते हैं दुनियाकी ओर—सामने भी है वह! लेकिन हम पहचान नहीं पाते, उसको भूल गये। भूले तो इतने हैं—हम कह दें कि देखो, एक व्यक्ति आ रहा है तो लड़की होगी तो कहेगी हमारा बाप है। पुरुष होगा कोई तो बोलेगा, हमारा भाई है। कोई बोलेगा यह हमारा पिता है, हमारा पुत्र है—हम कहेंगे मनुष्य आ रहा है तो वह तुरन्त हमारी बात काटकर अपनी बातको जोड़ देगा कि मनुष्य नहीं है, यह तो हमारे दादा हैं, मामा हैं, फूफा हैं, बेटा है। मनुष्यको भूल गया मनुष्य—अपने रिश्तेके चक्करमें। ऐसे हम अपने रिश्तोंके चक्करमें, नाम-रूपके चक्करमें, ऐसे भटक गये कि ईश्वरको ही भूल गये। हम इसको ताड़के रूपमें पहचानते हैं, पेड़के रूपमें पहचानते हैं—पञ्चभूतके रूपमें नहीं। पञ्चभूतके रूपमें पहचानते हैं, प्रकृतिके रूपमें नहीं, प्रकृतिके रूपमें पहचानते हैं, ईश्वरके रूपमें नहीं और ईश्वरके रूपमें भी पहचानते हैं तो आत्माके रूपमें नहीं।

यह सब अपना आत्म-स्वरूप ही है। भगवान् कहाँ रहते हैं? सबके हृदयमें भली-भाँति! माने बिना कोई बुराई, भलाई किये और कभी न हटनेवाले ऐसे रूपमें भगवान् संनिविष्ट हैं। बोले, ऐसे भगवान् हृदयमें बैठकर क्या करते हैं? बहुत मजा लेते हैं; वे तो तमाशा ही देखते रहते हैं, लीला करते रहते हैं। 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'—जैसे कोई लोकमें मनुष्य कभी लोगोंमें रहकर खेलना पसन्द करता है, बच्चोंके साथ और कभी एकान्तमें रहकर चिन्तन करना पसन्द करता है। यह मनुष्यकी प्रकृति जैसी देखनेमें आती है। यहाँ मैं देखता हूँ, रतनसी भाई बड़े गम्भीर बैठे रहते हैं, बहुत कम बोलते हैं। लेकिन मैंने इनको देखा है, जब पाँच-चार बच्चे इनको घेरकर बैठते हैं तो उनको खूब चुटकुले सुनाते हैं, कहानियाँ सुनाते हैं, उनको खूब हँसाते हैं। महाबलेश्वरमें ये जो टिंगू-पिंगू थे सब टिंगू-पिंगू हो गये—और हमलोगोंके सामने मालूम पड़ता है जैसे ये महाशय कभी बोलते ही नहीं हैं। यह ईश्वरकी प्रकृति है। उसका जब मन होता है तब एकान्तमें अकेला बैठ जाता है,'एकमेवाऽहं'—मैं ही एक हूँ, मेरे सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं और कभी 'अहमेव सर्व'—मैं ही सब हूँ। हँसता और खेलता है।

'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः।' करता क्या है? 'मत्तःस्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।' हमारे हृदयमें बैठ करके स्मृति, ज्ञान और अपोहन—इसको बहुत सीधी रीतिसे यदि सुनावें तो स्मृति माने होता है—जो अनुभव मैंने कल, पीछे सैकड़ों वर्ष पहले भी किया था, उसको न भूलना। यह योगदर्शनमें स्मृति इसको कहते हैं। 'अनुभूतविषया सम्प्रमोशः स्मृतिः।' न्याय दर्शनमें कहते हैं, 'संस्कारजन्यं ज्ञानं'—जो पहलेका संस्कार है, उससे जो वृत्ति उत्पन्न होती है। इस समय देख तो नहीं रहे हैं, लेकिन पहले देखे हुएकी जो याद आयी वह

स्मृति है। मीमांसक लोग कहते हैं कि यह स्मृति जो है यह प्रमाण नहीं है। कोई कहे कि हमको यह याद आ रही है, याद आनेकी बात नहीं। याद तो झूठकी भी आ सकती है, सचकी भी आ सकती है। हमने एक पुस्तकमें पढ़ा—लेखकने बिलकुल झूठी कहानी गढ़ करके लिखी थी।

अब मैंने वही बात कहीं किसीको सुनायी और कह दिया कि मैंने पढ़ी है। वह कहता है कि झूठी है—झूठी कैसे है? मैंने पढ़ी है। एक पेड़ था, मैंने पूछा इस पेड़का क्या नाम है? बतानेवालेने कह दिया छुहारा है—अब मैं छुहारेको पहचानता नहीं था, उसका पत्ता देख लिया, तना देख लिया, याद कर लिया। कहीं दूसरी जगह वैसा पेड़ देखा तो याद आयी और हमने दूसरेको बता दिया छुहारा है। स्मृतिको तो झूठ और सचका ज्ञान नहीं होता है। इसलिए प्रमाण कोटिमें उसको नहीं मानते हैं।

अदालतमें भी आँखों देखी बात जो होती है, चश्मदीद गवाह जो कहता है, वह प्रमाण मानी जाती है, और जो कहींसे सुनकर आया है और बोलता है, सुनी-सुनायी बातको प्रमाण नहीं माना जाता। स्मृति जो है वह न्याय और वैशेषिक, सांख्य, योग पूर्वमीमांसा, उत्तर मीमांसा—किसी भी दर्शनमें इसको प्रमाण नहीं मानते हैं। पर भगवान् स्मृति देते हैं। यह इतना विलक्षण है, इसके बारेमें लोगोंका ध्यान नहीं जाता क्योंकि रुपया-पैसा कमानेमें लोग ज्यादा लगे हैं, रिश्ते, नातेमें ज्यादा लगे रहते हैं।

एक बार एक आदमी आया, पहले पहचानमें नहीं आया कि वह गेरुआ कपड़ा पहने कौन बैठा है? गौरसे रोशनीमें देखा तो पहचान लिया कि ये प्रबुद्धानन्द बैठे हैं। अब इसके बाद यह बार-बार आता है ये प्रबुद्धानन्द हैं, ये प्रबुद्धानन्द हैं। पहली बार जो हुआ वह तो प्रबुद्धानन्दके अज्ञानको दूर करनेवाली प्रमाण वृत्तिका उदय हुआ और उसके पश्चात् बारम्बार धारावाहिक ज्ञान-स्थलमें उसका अनुवाद होता जा रहा है, ऐसा एक मत है। एक मत है कि नहीं—हर प्रबुद्धानन्दको देखनेमें—जो बीचमें अन्धेरा आता है, अज्ञान आता है उसको दूर करनेके लिए प्रत्येक दर्शनमें प्रमाण-वृत्तिका उदय होता है। एक तीसरा मत है कि एक प्रमाणवृत्ति जबतक प्रबुद्धानन्दको देखते रहोगे तबतक एक ही रहेगी। प्रमाणवृत्ति एक होती है कि प्रमाणवृत्ति अनेक होती है—कि प्रमाणवृत्ति एक हो करके मिट जाती है, फिर केवल उसका धारावाहिक अनुवाद ही रहता है, वृत्ति नहीं रहती है।

ये सब बड़े दार्शनिक, सूक्ष्म विषय हैं—ये मशीनकी नोंकपर समझनेके नहीं हैं और न तो कम्प्यूटरके गणितसे ये समझमें आते हैं। यह साइंसका विषय नहीं है, यह दर्शनशास्त्रका, फिलासॉफीका विषय है। इसको बच्चे-कच्चे लोग नहीं जानते हैं। भगवान् स्मृति देते हैं। अब सीधा-सादा अर्थ आपको सुनाते हैं। यह जो आपको सपना आता है न। स्मृति भी एक प्रकारका स्वप्न है। पिछली बात जो इस समय नहीं है, वह हमारी मनोभूमिमें दीख रही है। न उस चीजकी हमारे मनमें लम्बाई-चौड़ाई है और न तो कोई वजन है, और न तो कोई उम्र है और हमारे दिलपर ऐसे ही घूम गयी। बिना वजनके बिना लम्बाई-चौड़ाईके और बिना उम्रके एक चीज आयी और हमारे मनमें घूम गयी। यह तो सपना हुआ। हमको सपना कौन देता है? हमको सपना भगवान् देते हैं। वही भेजते हैं-स्वप्न कहो क्यों भेजते हैं? यों भेजते हैं कि जरा आप अपनी शक्ति समझिये।

****

जैसे ईश्वरमें नवीन-नवीन सृष्टि बनानेकी शक्ति है, वैसी ही शक्ति आपके अन्दर नवीन-नवीन सृष्टि रचना करनेकी है। उतनी ही शक्ति है, लेकिन आप अपनी उस शक्तिको भूल गये हैं। पावर हाउसके साथ सम्बन्ध टूट गया है।

यह मनुष्यकी शक्ति है, कि जैसे वह स्वप्नमें नयी सृष्टिका निर्माण कर लेता है, वैसे जाग्रत्‌में भी यदि वह अपना पौरुष, उत्साह प्रकट करे, तो नयी सृष्टि बना सकता है। सपने बड़े विलक्षण, विलक्षण आते हैं। मैंने एकबार सपना देखा कि मैं बनारसमें हूँ और किसी अस्पतालमें नर्स हूँ। अस्पतालकी भी हमको याद है-कौन-सा था। और उसमें यह प्रबुद्धानन्द और हमारे पास रहता था वह दादा और प्रज्ञानानन्द-सब बीमार पड़े हैं और मैं दौड़कर किसीका मुँह धुलाता हूँ, किसीको कुल्ला कराता हूँ। उसी नर्सकी पोशाकमें। थोड़ी देरके बाद टूट गया।

एक बार देखा कि हवाई जहाजपर चढ़कर इटलीके युद्धमें गया हूँ और वहाँ हमारे साथी हमको युद्धभूमिमें उतारकर हवाई जहाजसे भाग गये। अब मैं हाथ उठाकर चिल्लाऊँ कि हमको भी लेते चलो। जागनेपर मैंने कहा-'तुम लोगोंने मेरे साथ बड़ा अन्याय किया। वे आश्चर्यचकित हो गये, बोले क्या अन्याय किया? तुम लोग हमको इटली ले जाकर छोड़ गये। बोले बाबा, एक ही तो रात है। हम अपने कमरेमें सोये, तुम अपने कमरेमें सोये। इटली कहाँसे गये? एकबार देखा-स्वामी गंगेश्वरानन्दजी महाराज-उनके आँख नहीं है-मोटर चला रहे हैं और मैं उस मोटरमें बैठा हूँ। कितनी पहाड़ियाँ तय कीं और एक जगह हरी-हरी घासमें बिठाया और वहाँ स्वामी असंगानन्दजी मिल गये। और झट उन्होंने हमारी जाँघपर हाथ फेरा और प्रश्न पूछना शुरू कर दिया। वह ऐसे ही हमार आदर करते थे।

हमसे बहुत बड़े थे, वृद्ध थे, बहुत योग्य थे, पर हमारा आदर वे ऐसे करते थे कि जब मिलते, तो हमसे कुछ-न-कुछ पूछते। यह विद्वानोंका बड़ा भारी आदर है कि उनसे प्रश्न किया जाय। अपनी विद्या-बुद्धिसे, उनकी विद्या, बुद्धि, अनुभव अधिक मान करके उनसे पूछा जाता है। यह मुँह फुलाकर बैठे रहना, यह तो कोई बात नहीं हुई। हमको याद है उन्होंने स्वप्नमें चार पद बोले थे। एकाध तो हमें याद है। 'आत्मा दृश्यैर्न योज्यते।' और दृश्यसे आत्माका वियोग नहीं होता। क्योंकि आत्माके बिना दृश्य रहेगा नहीं। ऐसे तो बहुत-से स्वप्न हैं। ये स्वप्न कौन देता है?

ये स्वप्न प्रभु ही दिखाता है कि देखो तुमने मनमें जैसी नयी सृष्टि बना ली वैसे चाहो तो विश्वामित्रके समान शक्तिशाली होकरके तुम नयी सृष्टि बना सकते हो। तुम्हारे अन्दर इतना पौरुष हैं। इतनी बुद्धि है, इतनी शक्ति है, इतने उत्साहसे काम करो। स्मृति देनेवाला भगवान् 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानं '—ज्ञान माने जाग्रत-अवस्था। जाग्रत-अवस्था भी वही देता है और हमारे कितने सम्बन्ध जोड़ करके क्या-क्या बना देता है। महाराज! जाग्रतपर विचार करें। अद्‌भुत है। आप आँख लेकर आये हैं—आपने अपनी आँख बनायी है? कान, नाक बनाये हैं—जीभ, हाथ, पाँव बनाया है? परमात्माने आपको ऐसा शरीर दिया—जो संसारके पशु, पक्षी किसीको नहीं है। और वह योग्यता दी जो देवताके भीतर भी नहीं होती है।

****

****

देवता वैराग्य नहीं कर सकते। देवता पुण्य नहीं कर सकते। देवताका ज्ञान नहीं हो सकता। कोई-कोई देवता होते हैं, उनको भी विरक्त होकर एक-सी एक वर्ष तक ब्रह्मचर्यका पालन करना पड़े तो इन्द्रको ज्ञान हो सकता है। वह ज्ञान भगवान्‌ने हमको दिया, जिससे हम समझ सकते हैं कि ये नाम-रूप तो बादमें रखे गये हैं। कोई चीज जब शकलवाली होती है, तब उसका नाम रखा जाता है और उसी नामसे उसका परिचय कराया जाता है। लेकिन जब शकल-सूरत नहीं थी, नाम नहीं था तब वह क्या था? एक घड़ा बना—जब घड़ा बन गया, उसका नाम घड़ा हो गया। ठीक है। पर जब घड़ा नहीं बना था और उसका नाम नहीं रक्खा हुआ था, तब वह क्या था? मिट्टी था और इसी प्रकार यह जो संसारकी शकल-सूरत नहीं बनी थी—'नामरूपे व्याकरवाणि' नहीं हुआ था, नाम रूपका व्याकरण नहीं हुआ था, उस समय यह क्या था? उस समय नामरूपके आकारसे विनिर्मुक्त जो स्वरूप था इसका वह तत्त्व है।

उस ज्ञानका साक्षात्कार करनेकी योग्यता भगवान्‌ने दी है। और 'अपोहनं च'—अपोहन माने निद्रा-सुषुप्ति—जिस समय न स्मृति होती है। न ज्ञान होता है। दोनोंका अपोहन हो जाता है। कोई-कोई दोनोंको समझनेकी शक्ति भी बोलते हैं, और कोई-कोई दोनोंका अपोहन माने तिरस्कार—उपेक्षा। स्वप्न और जागृत दोनोंकी उपेक्षा करके मनुष्य सो जाता है। परमात्मा कहाँ रहता है? परमात्मा हमारे सपनेमें स्वप्न दिखाता रहता है, हमारे जागृतमें जागृत दिखाता रहता है, हमारी सुषुप्तिमें, हमको अपनी गोदमें लेकर सुला देता है और इन तीनोंमें वह नहीं सोता है। सब सुलाता, जगाता रहता है लेकिन स्वयं 'तुरीय त्रिषु संततं'—जागृत-स्थान, स्वप्न-स्थान, सुषुप्ति-स्थान—तीनोंमें एक सरीखा जगमग-जगमग, हमारी आत्माके रूपमें, यदि सुषुप्तिमें परमात्मा-सो जाय तो कौन जाने कि सुषुप्ति नामकी कौन चीज होती है।

वह सुषुप्तिको देखकर ही सुषुप्तिको याद करता है जागृतमें। 'वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः।' 'वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।' अब बोले, आखिर आप ऐसे हैं—सबको तो दिखा देते हैं और खुद नहीं दिखते हैं—ऐसे परदा-नशीन हैं कि परदेकी ओटमें-से झाँककर सबको तो देखते रहते हैं और स्वयं किसीको नहीं दिखते हैं। आपको कैसे देखा जाय, यह बताइये। आपसे मिलना कैसे हो? 'वैदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'—मैं केवल वेदोंके द्वारा ही जाना जाता हूँ। जो लोग शास्त्रका रहस्य समझना चाहते हैं, उनको यह मालूम होना चाहिए कि एक नहीं हजार शास्त्र कहें कि तुम्हारे सामने घड़ी नहीं रखी है, किताब नहीं है, फूल नहीं है—हजार-हजार शास्त्र इस बातको कहें, हम नहीं मान सकते। क्यों नहीं मान सकते?

यह तो नेत्रका विषय है। जब हमारा नेत्र कहेगा कि नहीं है जब हमारा हाथ कहेगा कि नहीं है, जब हमारी त्वचा कहेगी कि नहीं है, तब हम मानेंगे कि, हाँ पोथी नहीं है। वेदमें लिखा हुआ होनेसे यह नहीं मान लेंगे कि यहाँ पोथी नहीं है। सब प्रमाणोंका इन्द्रियोंका अपना-अपना विषय होता है।

नैव श्रुतिशतैरपि घटः पटयितुं शक्यते।

शंकराचार्य भगवान् कहते हैं कि सौ-सौ श्रुति यदि घड़ेको कपड़ा कहे तो वह मान्य नहीं होगा। क्योंकि श्रुति प्रमाणका विषय दूसरा है-आँखको यह हक नहीं है कि वह सुगन्ध बतावे और नाकको यह हक

****

नहीं है कि वह शब्द बतावे और जीभको यह हक नहीं है कि वह रूप बतावे। अपनी-अपनी इन्द्रियोंका प्रमाणोंका विषय होता है कि प्रत्यक्षके द्वारा क्या जाना जाता है, अनुमानके द्वारा क्या जाना जाता है। ये जो शास्त्र हैं, उनका विषय अलग है। जो प्रत्यक्षसे, अनुमानसे, उपमानसे और किसी प्रमाणसे बात नहीं जानी जा सकती, उसको बतानेके लिए वेद हैं।

प्रत्यक्षानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्मात्वेदश्च वेदता।।

जो वेदका विषय है, यदि वेद कहता है कि परमात्मा निराकार है और आँख उसको बताने लगती है ठिगना तो आँख नहीं मानी जायगी, वेद माना जायगा। लेकिन वेद जिसको बताता है घड़ा-और आदमी उसको देख रहा है कपड़ा तो वहाँ वेदकी बात नहीं मानी जावेगी। प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय अलग, अनुमानका अलग, उपमानका अलग, अर्थापत्तिका अलग, अनुपलब्धिका अलग। विषयमें प्रमाण क्या है? बोले 'वेद' कैसे प्रमाण हो गया? वेद ऐसे प्रमाण हो गया कि जो वस्तु नित्य परोक्ष होती है। माने कभी, किसीकी आँखोंके सामने नहीं आती, आँखोंसे ओझल है, स्वर्ग है, उसमें एक इन्द्र रहते हैं। ब्रह्मलोक है, उसमें ब्रह्म रहते हैं। बैकुण्ठमें नारायण रहते हैं।

अब ये हमलोगोंकी आँखसे तो दिखता नहीं और अनुमान करनेके लिए कोई युक्ति नहीं। उपमान इसका दुनियामें कोई है नहीं-तब कैसे मानते हैं? यह शब्द-प्रणामसे, शास्त्र-प्रमाणसे मानते हैं। शास्त्र क्या करता है? हमारे हृदयमें कहता है, देखो एक होता है इन्द्र देवता-अच्छा कैसा? तो शकल-सूरत तो पन्द्रह-सोलह वर्षकी-सी होती है और वह तो सम्राट् है, मुकुट धारण करता है और बड़े सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करता है। हाथमें उसके वज्र होता है। शास्त्रसे श्रवण करते हैं तब हमारी मनोवृत्ति तदाकार हो जाती है, इन्द्राकार हो जाती है। और हमारा जो आत्मचैतन्य है, अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य वह इन्द्रावच्छिन्न चैतन्यसे एक हो जाता है। तब हमारा मन ही दो भागमें बँट-बँट करके एक इन्द्र बनके दिखता है और एक देखनेवाला बन करके देखता है।

इसी तरहसे बैकुण्ठ भी है, गोलोक भी है। वहाँ सिवाय वेदके और कोई प्रमाण नहीं हो सकता। अब एक दूसरी बात देखो-कोई चीज है तो सही। परन्तु नित्य अज्ञात है। एक नित्य अज्ञात है, स्वर्ग आदि। उसको हम वेद, शास्त्रसे जान सकते हैं और दूसरे नित्य ज्ञात है अपना आत्मा। क्योंकि मैं नहीं हूँ, यह बोध कभी किसीको नहीं हो सकता। ऐसा माईका लाल दुनियामें कोई नहीं हुआ, न है, होगा जो यह अनुभव करे कि मैं नहीं हूँ। इसीसे परमात्माकी जान भी तभी बचेगी जब वह 'मैं' होगा। यदि मैं नहीं होगा तो परमात्मा होके कभी रहेगा, कभी नहीं रहेगा।

ऐसी स्थितिमें जो नित्य अपरोक्ष है अपना आत्मा वह कैसे मालूम पड़ेगा? वेद उसको बतायेगा-साक्षात् तुम ही ब्रह्म हो, क्योंकि आत्मा नित्य अपरोक्ष होनेपर भी अज्ञात है। उसको अज्ञातता मिटानेके लिए वेदकी जरूरत पड़ती है।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।

एक बात तो हुई कि वेदसे परमात्मा जाना जाता है। दूसरी बात हुई कि सारे वेदोंसे जाना जाता है-चाहे वेदमें इन्द्राय स्वाहा हो, वरुणाय स्वाहा हो-चाहे होम हो, चाहे यज्ञ करो। यह यज्ञ करो ऐसी विधि हो-चाहे देवताके स्वरूपका वर्णन हो, चाहे तपके विधि-विधानका वर्णन हो, चाहे भगवान्‌के ऐश्वर्यका वर्णन हो, चाहे कैसा भी वर्णन हो, सारे-के-सारे वेद घूम-फिर करके कर्मका वर्णन करनेवाले, उपासनाका वर्णन करनेवाले, योगका वर्णन करनेवाले सब वेद अन्ततोगत्त्वा परमात्माका ही वर्णन करते हैं। वेदोंसे जाने जाते हैं, सारे वेदोंसे जाने जाते हैं और जानना चाहिए।

इस जीवनकी सफलता इसमें है कि इसमें परम सत्य परमात्माको जान लें।

न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

तुमने दुनियाकी सब चीज जान ली, लेकिन अपनी आत्माको नहीं जाना, अपनेको नहीं जाना।

हमारे एक मित्र थे, वे एक श्लोक बोला करते थे-आजका जो इतिहासका छात्र है वह बता सकता है कि क्लाईवके कितने कुत्ते थे। कर्जनके कितने कुत्ते घरमें रहते थे। इतिहाससे उसको यह बात मालूम है।

ऐमे-पर्यन्त उत्तीर्णाः इतिहासे प्रतिष्ठितः।
छात्रो वस्तुं न शक्नोति भीष्मः कस्य सुतोऽभवत्॥

लेकिन उसको यह मालूम नहीं है कि भीष्म पितामहका क्या नाम है? आजकलके लड़कोंसे तीन पीढ़ी पहलेका नाम पूछ देते हैं, वे तो कहते हैं, हम नहीं जानते हैं। यह स्थिति तो है अपनी। जाननेवाली सबसे बढ़िया वस्तु क्या है? सर्वोत्तम-अपनेको जान लो सबको जान लिया। 'अहमेव वेद्यो-वेदान्तकृद्'-बोले, वेद ही जानते रहें-नहीं, वेदका जो अन्त है, उसको मैं जानता हूँ-कर देता हूँ। यदि तुमने मुझे जान लिया, आत्माके रूपमें परमात्माको जान लिया तो वेदका अन्त हो गया, वेदके सिद्धान्तका साक्षात्कार हो गया, वेदका पर्यवसान हो गया।

उसके बाद वेद नहीं है। अरे बाबा, यह कैसे तुम कहते हो? इसलिए कहता हूँ कि 'वेदविदेव चाहम्' मैं ही वेद-वित् हूँ। वेदका असली स्वरूप मैं ही जानता हूँ। देखो, शुरूमें ही यह उपक्रम किया। ग्रन्थ कहाँसे आरम्भ हुआ?

यस्तं वेद स वेदवित्।

जो मूल सहित इस ऊर्ध्व अश्वत्थको जानता है, वह वेदवित् है। ठीक है, अब भगवान् कहते हैं कि मैं वेदवित् हूँ। असली वेदको जाननेवाला मैं हूँ।

एक दिन उद्धवजीने कृष्णसे पूछा-महाराज, वेदका सार क्या है? कृष्ण तो बड़े धड़ल्लेसे बोलते हैं-कोई उनको संकोच तो है नहीं-बोले वेदका सार मैं हूँ। 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।' सब वेदोंका सार-सार मैं ही हूँ। परमात्मा ही सब वेदोंका सार है। भागवतमें प्रश्न उठाया-

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्।
इत्यस्याहृदयं लोके नान्योमद्वेद कश्चन॥

कृष्णने कहा कि श्रुति किसका नाम लेती है? किसके लिए विधान करती है? किसका संकल्प करती है? किसका अनुवाद करती है? किसमें विकल्प करती है? कृष्णने छाती ठोंककर उद्धवसे कह दिया-मेरे सिवाय और कोई दूसरा इसको जानता ही नहीं है। अरे महाराज, तो तुम्हीं बताओ न क्या है?

भगवान्ने कहा-संसारमें, सृष्टिमें जितने नाम हैं, सब मेरे नाम हैं। इन्द्र, वरुण, कुबेर, वृक्ष, लता, पशु, पक्षी सब नाम परमात्माके। भक्तोंका पक्ष करते हैं इसलिए भगवान्का नाम पक्षी है। 'पश्यति इति पशु'-देखते हैं-इसलिए भगवान्का नाम पशु है।

एक-एक शब्द परमात्माके वाचक हैं यह मैं जानता हूँ। जब परमात्माके सिवाय दूसरी कोई चीज है ही नहीं तो दूसरेका नाम कहाँसे होगा? सब नाम परमात्माके हैं। क्योंकि सर्वरूपमें परमात्मा है। जब सब गेहूँकी राशि है तो सबका नाम गेहूँ है। यदि सब जौ की राशि है तो सबका नाम जौ है। जब सब परमात्मा है तो सब नाम परमात्माके हैं।

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहं एतावान् सर्ववेदार्थः।

सारे वेदोंका तात्पर्य इतना ही है कि परमात्मा-ही-परमात्मा है। परमात्माके सिवाय और कोई वस्तु नहीं है। इसलिए परमात्माके सिवाय जो कुछ मालूम पड़ता है वह माया-जादूका खेल है, वह अविद्या है, वह अज्ञानका विलास है।

यदविद्याविलासेन भूतभौतिकसृष्टयः।

इसलिए मैं वेदवित् हूँ-श्रीकृष्णने कहा। बोले-यहाँ वेद तो कहते हैं, एकको जाने लेनेसे सर्वका ज्ञान हो जाता है।

यह वेदकी एक विशेष प्रतिभा है। यह और मजहबोंमें नहीं है। एक ऐसी चीज है दुनियाँमें कि जिसको अगर हम जान लें तो कुछ बाकी नहीं रह जाता है। 'यस्मिन् दृष्टे, श्रुते, मते, विज्ञाते सर्वं दृष्टं, श्रुतं, मतं, विज्ञातं भवति। यह चीज ऐसी है कि उसको सुन लो तो सब सुन लिया, उसको समझ लो तो सब समझ लिया, उसका अनुभव हो गया तो सबका अनुभव हो गया। ऐसी एक चीज है इस सृष्टिमें। तो वह कौन-सी चीज है। आप देखना इसी पन्द्रहवें अध्यायके अन्तमें भगवान् बोलते हैं।

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत।

एकके विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा दुनियाके किसी मजहबमें नहीं है। एक ऐसी वस्तु है जिसके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है और वह वस्तु है-दूसरी नहीं वह वस्तु है अपना आत्मा, आत्मानं विजिज्ञासस्वं'। यदि जानना है तो अपने आपको जानो, जिसके जान लेनेपर फिर जानना बाकी नहीं रह जाता। कुछ भी जानना बाकी नहीं रह जाता। वह कौन है? वह परमात्मा है। उस परमात्माका स्वरूप क्या है? कैसे समझना चाहिए? यहाँ ३-४ श्लोकोंमें उसी परमात्माको समझनेकी प्रक्रिया बताते हैं।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः।
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

मैं हूँ पुरुषोत्तम। स्वयं मैं वेदवित् हूँ। स्वयं मैं सर्ववित् हूँ और जो मुझे जान लेता है वह सर्वभावसे मेरा भजन करता है। माने परमात्मा जब सर्व हो गया तो सर्वभावसे चींटीको आटा देते हैं, वह भी परमात्माका भजन है। प्यारकी आँखसे जब पौधेको देखते है, वह भी भगवान्का भजन है। जब आकाशमें फैले हुए ग्रह नक्षत्रोंपर चाँदनी रातमें दृष्टि डालते हैं तो वह भी परमात्माका भजन है। पृथिवीपर सम्हालकर पाँव रखते हैं वह भी भजन है। पानीको गन्दा नहीं करते, वह भी भगवान्का भजन है, अग्निमें सुगन्ध डालते हैं, वह भी भगवान्का भजन है, वायुमें सुगन्ध लाते हैं, उसका नाम भी भगवान्का भजन है। और बढ़िया-बढ़िया शब्द बोलकर आकाशको अपनी मीठी-मीठी आवाजसे, सद्भाव भरी आवाजसे जब हम आकाशको भर देते हैं, तो उसका नाम भजन है। सिर्फ मूर्तिपर दूरसे अक्षत फेंक दिया और चंदन छिड़क दिया और पानी डाल दिया, उसीका नाम ईश्वर-भजन नहीं है। 'सर्वभावेन भारत।' जितना भी अपने हृदयमें भाव है-सबके द्वारा, और जितनी भी वस्तुएँ हैं, पदार्थ हैं, उनके द्वारा, सबके द्वारा ही भगवान्का भजन होता है। ऐसा यह भगवान्का भजन होता है। अब कल इसको 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके'से सुनाऊँगा।

●

प्रवचन : 8

12-11-86

पंचभूतोंको हमलोग देखते हैं-पृथिवी है, अग्नि है, जल है, वायु है, आकाश है। इनकी तन्मात्राओंसे बनी इन्द्रियोंके द्वारा इनका दर्शन होता है। असाधारण करण इन्द्रिय है और साधारण करण मन है। साधारण कारणका अर्थ है कि कोई भी देखो, सुनो सबमें मन तो रहता ही है। अब भगवान्‌ने इनमें अपनी शक्ति बतायी। पृथिवीमें धारणी शक्ति है। वह सबको धारण करती है-

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।

यह धारणी शक्ति पृथिवीकी नहीं है, भगवान्‌की है। यदि भगवान् पृथिवीमें प्रविष्ट न हों तो पृथिवी किसीको धारण नहीं कर सकती। यहाँ तक कि स्वयं भी धृत नहीं रह सकती। वेद में मन्त्र है, 'ये न द्यौरुग्रा: पृथिवी च दृढ़ा:। ये न द्यौस्तविते येन नाका। जिसके कारण पृथिवी दृढ़ है। वही रसात्मक सोम होकर जलमें 'रसोहमप्सु कौन्तेय'-माने जलमें जो तर करनेकी, तृप्त करनेकी आप्यायनी, तर्पणी शक्ति है वह भगवान् है। पृथिवीमें भगवान्, जलमें भगवान्। वैश्वानर-ये जितने भी विश्वमें जीव हैं वे सब वैश्वानर हैं। विश्वनर वैश्वानर। उनमें जो तापिनी और प्रकाशिनी शक्ति है, उसमें सबमें ऊष्मा भी होती है और प्रकाशकी भी शक्ति होती है। 'तेजस् तत्त्व' ठीक है, उसमें तापिनी होनेके कारण भगवान् ही पाचिनी शक्तिके रूपमें भी है और प्रकाशिनी शक्तिके रूपमें भी हैं।

वही भगवान् वायुमें प्राणिनी शक्तिके रूपमें हैं। सबको श्वास देते हैं, प्राण देते हैं। बिल किसीके पास नहीं भेजते हैं। म्युनिसपैलिटी रहनेका हाउस बिल भी लेती है, पानीका नल बिल भी लेती है, रोशनीका बिजली बिल भी लेती है, पंखेका बिल भी लेती है। कोई लाउडस्पीकर लगावें, बोलें तब भी बिल होता है। परमश्वेर सारी शक्ति, सारी सृष्टिको देता है और सबमें व्याप्त होकरके रह रहा है, आकाशमें व्यापिनी शक्ति है। धारिणी, आप्यायिनी, प्रकाशिनी, प्राणिनी और व्यापिनी, इन पाँच शक्तियोंको लेकरके भगवान् पाँचों भूतोंमें प्रवेश करते रहते हैं और हमें उन शक्तियोंके द्वारा उपकृत करते रहते हैं, तृप्त करते रहते हैं, तर करते रहते हैं। दिन-रात चौबीसों घण्टे।

आपकी बुद्धिके भीतर बैठकर आपकी ठीक-ठीक नमकका अन्दाजा बतानेवाला कौन है? 'धियो यो नः प्रचोदयात्।' आपने गायत्री सुनी ही होगी। 'धियो यो नः प्रचोदयात्'-जो हमारी बुद्धिको प्रेरित करता है। प्रचोदयात् लोट् लकारका रूप नहीं है। प्रेरित करता है। प्रेरित करे ऐसी प्रार्थना नहीं है। प्रेरित करता है ऐसा सिद्ध ज्ञान देता है। कौन बताता है कि चावलमें कितना नमक डालो! भगवान्‌का पता क्या है? कौनसे पतेपर चिट्ठी लिखें, तार दें, फोन करें, वह पता क्या है? वैसे तो जो बहुत प्रसिद्ध होता है, उसका पता बतानेकी जरूरत नहीं पड़ती। विदेशसे एक बार चिट्ठी आयी थी, उसपर लिखा था, महात्मा गाँधी; भारत-वर्ष—बस। उसमें साबरमती और अहमदाबाद और गुजरात—लिखनेकी कोई जरूरत नहीं थी। चिट्ठी गाँधीजीको मिल गयी। ईश्वर कहाँ रहता है?

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
अहं सर्वस्य हृदि संनिविष्टः।

न केवलं गवि, न केवलं अप्सु, न केवलं तेजसि किन्तु सर्वस्य हृदि।

मैं केवल धरतीमें हूँ, केवल जलमें हूँ, केवल अग्निमें हूँ, केवल आकाशमें हूँ ऐसा नहीं। मैं सबके हृदयमें बैठा हुआ हूँ। 'सर्वस्य चाहं'—यह च पद जो है वह समुच्चय कर लेता है, खींच लेता है। पृथिवी, जल, अग्निमें तो मैं हूँ ही। सबके माने तुम्हारे, तुम्हारे, तुम्हारे सबके हृदयमें विराजमान हूँ। अब ईश्वरका पता मिल गया। कहाँ? सबका हृदय। हम कहाँ सबका हृदय ढूँढ़ने जायँ? सबका हृदय मत ढूँढो। पहले अपना हृदय तो ढूँढो। देखो, तुम्हारे हृदयमें परमात्मा बैठे हैं। 'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो।' हृदि शब्दका अर्थ आप ऐसा समझें— कि जैसे शरीरमें रक्त है। और रक्तमें वीर्य है और वीर्यके भीतर एक संवेदनात्मक धातु है। वह संवेदनात्मक धातु संस्कारोंको ग्रहण करती है। कल देखा था, हमारे पास एक व्यक्ति आये थे। आज उनकी याद आ रही है। कल उनसे देखकर, उनसे बात करके, उनसे हँसके-खेलके तो हमने अपने हृदयमें संस्कार एकत्रित किया वह संस्कार कहाँ है? उसी संस्कारको पकड़नेवाली धातुको हृत् बोलते हैं। 'आरहति संस्कारान् इति हृत्।'

कलकी याद रखनेवाली जो चीज हमारे हृदयमें है, उसका नाम है हृदय और उसमें रहते हैं भगवान्! अब आप दूसरी बात ध्यानमें लें। 'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः।' सर्वस्य—सबके हृदयमें भगवान् हैं। किस रूपमें हैं? अहंके रूपमें हैं। अहं शब्दको वैयाकरणोंने अस्मत् शब्दका प्रथमामें एक वचन बनाया है। अस् धातुसे अस्ति बनता है, प्रथम पुरुषमें और उत्तम पुरुषमें बनता है अस्मि। अस्मिसे होता है अस्मत् और अस्मत्‌के प्रथमा विभक्तिके एक वचनमें इन लोगोंने अहं बना दिया। असलमें अहं एक पृथक्, स्वतन्त्र अव्यय है। वह क्या है? 'न हन्ति इति अहं।' जो किसीको मारता नहीं है; सबको प्रकाशता है, उसका नाम अहं। 'न हन्यते इति अहं।' यह गीतामें व्युत्पत्ति है। कौमुदी मत खोलो—

नायं हन्ति न हन्यते।

अयं न हन्ति इति अहं, अयं न हन्यते इति अहम्।

न किसीको मारता है, न किसीसे मारा जाता है। 'जिह त्यागे न जिहिते।' कभी छोड़ करके जाता नहीं है, सबके हृदयमें अहं अहं अहं। एक महात्मासे किसीने पूछा महाराज परमात्माको कैसे पहचानें? बोले तुम्हारे घरमें कभी दाल पकायी जाती है? बोले—हाँ? जब पानी आगपर चढ़ा देते हैं, और पानी खुदर-बुदर, खुदर-बुदर होने लगता है, आवाज आने लगती है तो उसमें पानी तो है परमात्मा और खुदर-बुदर उठता है वह है अहं अहं अहं—तत्त्व तो है परमात्मा और उसमें जो अहं, अहं अहंका उल्लास हो रहा है, विमर्श हो रहा है, अहं अहंकी वृत्ति उठ रही है यह है परमात्माकी अभिव्यक्ति। सब अलग-अलग हैं ठीक है। सबका अन्तःकरण अलग-अलग, ठीक है। सबके हृदयमें जो वासना शून्य, कर्तव्यशून्य, भोक्तृत्वशून्य, संस्कारोपलेखपशून्य अहं,

अहं, अहंकी स्फूर्ति हो रही है वह सत्, चित्, आनन्दघन स्वरूप ही है—परमात्मासे पृथक् किंचित् भी नहीं है। और यदि उसके स्वरूपका बोध हो जाय, तो भी परमात्मा और न हो तो भी परमात्मा। हर हालमें परमात्मा ही परमात्मा।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो।

यह परमात्मा सबके हृदयमें बैठकर करता क्या है? एक फकीरसे राजाने पूछा—महाराज, यह परमात्मा क्या काम करता रहता है? निकम्मा है क्या? बोले—हमको बड़ा मानकर पूछ रहे हो या छोटा मानकर? महाराज—आप गुरु हैं, आपको बड़ा मानकर पूछ रहे हैं। अच्छा तो पहले तुम सिंहासनपरसे उतर जाओ। उसपर हमको बैठाओ। महात्मा सिंहासनपर बैठ गये। राजा नीचे बैठ गये। बोले—अच्छा देखो अब मैं राजा हूँ और तुम प्रजा हो। ठीक है। यही काम ईश्वर करता है। राजाको रंक बना दे, रंकको राजा बना दे, यही काम ईश्वरका है। यह सच्ची घटना है। ब्रजमें हमारे ग्वारिया बाबा थे, हमारे जीवन कालमें थे। दतिया राजाके राजगुरु थे। एक बार वहाँ गये, राजाने बड़ा आग्रह किया, महाराज कुछ सेवा बताओ। वे तो फक्कड़ थे, उनको सेवाकी क्या जरूरत? ऐसे तगड़े थे, एक मनकी रजाई लेकर चल रहे थे, स्टेशन मास्टरने कहा—इनके वजनका किराया चुकाओ 20 सेरसे ज्यादा नहीं ले जा सकते!

उन्होंने रजाई खोली और ओढ़ ली। बोले अब ओढ़ी हुई रजाईका किराया कैसे लोगे? बड़े मस्त थे। राजाने कहा—महाराज, कुछ सेवा बताओ। बोले क्या सेवा करेगा? अपना राज्य दे दे हमको! बोले महाराज ब्रिटिश सरकार है, बिना उसके इजाजतके हम राज्य देनेके अधिकारी नहीं है। नहीं दे सकते। अन्तमें उन्होंने कहा कि तीन दिनके लिए हमें राजा बना दे और राजासे कह दिया कि अब तुम राज्यसे बाहर चले जाओ। राजकुमारको सामने बुलाकर दण्ड दिया। रानीसे कहा कि दासीका काम कर। दासीसे कहा कि अब तीन दिनके लिए तू रानी हो जा। यह है ईश्वरका काम। राजा साहब तीन दिनके बाद आये। महाराज, यह सब आपने क्या किया? राजकुमार, लोगोंको कोड़े लगवाया करता था, उसको पता नहीं कि कोड़ा लगनेपर क्या पीड़ा होती है। जरा अनुभव तो करो।

दीवान नौकरोंको छुट्टी नहीं देता था। नौकर हुआ तो उसको मालूम तो पड़े कि छुट्टी कैसे ली जाती है। दीवान छुट्टी क्यों नहीं देता। नौकर दीवान हुआ तो पता तो चले। तो ईश्वर करता क्या है? बैठा बनिया क्या करे? इस कोठेका धान उस कोठेमें करे। सो ऐसे उलट-पलट करता रहता है। यह भी न रहेगा। बदल जायगा। बचपन नहीं रहेगा, जवानी आवेगी, जवानी नहीं, बुढ़ापा आवेगा। जीवनमें सभी प्रकारकी परिस्थितियाँ आवेंगी। जिनको आज धर्म मानते हैं, उनको कल अधर्म मानना पड़ेगा। जिनको आज अधर्म मानते हैं, उनको धर्म मानना पड़ेगा। जिनको आज अछूत मानते हैं, उनको कल ब्राह्मण मानना पड़ेगा। और जिनको आज ब्राह्मण मानते हैं, उनको कल अछूत मानना पड़ेगा। यह उलट-फेर है, यह सृष्टिका स्वभाव है और यह बात योगवासिष्ठें तो भुशुण्डोपाख्यानमें-उन्होंने बताया है कि मैंने-जिनको आजकल ब्राह्मण कहा जाता है, उनका नाम पहले शूद्र था और जिनको पहले शुद्र कहा जाता था, उनका नाम ब्राह्मण है। ब्रह्मा पहले कीड़ेके रूपमें था,

और कीड़ा ब्रह्माके रूपमें था। यह सृष्टिमें जो परिवर्तन चक्र चल रहा है, इसके मूलमें वही महाशक्ति, विशिष्ट परमेश्वर मौजूद है। और यदि तत्त्वकी दृष्टिसे न देखें तो शक्तिकी कल्पना करनेका कोई कारण नहीं है। असंग-अद्वितीय, परिपूर्ण-प्रत्यक् चैतन्यसे अभिन्न अपना स्वरूप ही है परमात्मा। क्या करता है परमात्मा-तो 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च'-ये जो हमें स्मृति होती है-'अनुभूतविषयाः सम्प्रमोशाः।'

जो कल देखा था वह आज भूला नहीं है। कोई संस्कार पड़ गया है कि यह चीज भी है, बुरी है, उसकी स्मृति होती है, संस्कारजन्य ज्ञान। गृहीतग्रहिका वृत्तिः। जो पहले प्रमाणके द्वारा जाना हुआ है, यथार्थ या अयथार्थ उसकी वृत्ति उठनेका नाम स्मृति है। ज्ञान होता है। सो जाग्रत, स्वप्न स्मृति प्रधान है और जाग्रत् ज्ञानप्रधान है और सुषुप्ति अपोहन प्रधान है। जिसमें स्मृति विस्मृति हो जाती है, ज्ञान अज्ञान हो जाता है, जिसमें माता अमाता हो जाती है, पिता अपिता हो जाता है, देवता अदेवता हो जाते हैं। वेद अवेद हो जाते हैं। वह सुषुप्ति है।

तत्र माता अमाता भवति।
पिता अपिता भवति।
देवा अदेवा भवन्ति।
वेदा अवेदा भवन्ति।

सब छूट जाते हैं वह सुषुप्ति है। और स्वप्न वह है।

तत्र न रथा न रथयोगा न पन्थानः।
अथ रथाय रथयोगा पथः सृजते॥

वहाँ न रथ है, न पथ है न घोड़े हैं, न कोई रथ हाँकनेवाला लेकिन यह देखो स्वप्न-मोटर हरहराती हुई चली जा रही है। ड्राइवर चला रहा है। मालिक बैठा हुआ है। सड़क कहीं जाती नहीं है। पर कहते हैं, यह सड़क कहाँ जाती है? यह स्वप्न कौन देखता है? हमारे लिए ये जो तीन अवस्थाएँ हैं, ये ईश्वरके वरदान हैं। पाप-पुण्य करके, अपने जीवनको विकसित या अविकसित-गिरानेके लिए, उठानेके लिए जाग्रत-अवस्था है और नयी सृष्टिकी रचनाका हमारे अन्दर सामर्थ्य है, यह स्वप्नावस्था है और सबके उपसंहारका भी हमारे अन्दर सामर्थ्य है, हम सब बना सकते हैं, यह स्वप्न है। हम सब बिगाड़ सकते हैं, यह सुषुप्ति है और हम नया-नया आविष्कार कर सकते हैं यह जाग्रत है।

ये तीनों भगवान् हमारे हृदयमें बैठ करके दिया करते हैं। अच्छा, उन भगवान्को जाननेका उपाय क्या?

वैदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।

उपनिषदोंकी व्याख्या, उपनिषदोंका सार भगवान् कैसे बताते हैं-अद्भुत है। पहली बात कहते हैं, कि 'अहं वेद्य एव।' ये तो मनुष्यका शरीर मिला है तुम्हें-यह सिर्फ बच्चा-कच्चा पैदा करनेके लिए नहीं मिला है।

सिर्फ धन-दौलत बटोरनेके लिए नहीं मिला है। सिर्फ अखबारोंमें नाम छपवाकर यशस्वी बननेके लिए नहीं मिला है। हिंसा, चोरी, जारी करनेके लिए यह जीवन नहीं मिला है। यह जीवन हमको मिला है-जाननेके लिए-'अहं वेद्य एव।' इस जीवनमें ईश्वरको पहचानो। यह आँखमिचौनीका खेल हो रहा है। हम लोग प्रलयके समय सोये थे तो ईश्वरने हम सबको पकड़-पकड़कर जगा लिया। उठा दिया।

अब ईश्वर लिहाफ ओढकर छिप गया है। इस खेलमें हम लोगोंका कर्त्तव्य है कि हम ईश्वरको पहचान लें। हमने बचपनमें आँखमिचौनीका खेल घरमें खेला है, खलिहानमें खेला है। आँखमिचौनीमें हम छिपे तो हमारे साथीने ढूँढ लिया-साथी छिपा तो हमने ढूँढ लिया। इस समय हमारे जीवनका जो साथी है, हमारे हृदयका सर्वस्व, हमारे प्राणोंका प्राण, हमारे हृदयका हृदय इस समय छिपा हुआ है। और उसके ढूंढे बिना हम इधर-उधर भटक रहे हैं। चले थे ढूँढने ईश्वरको, मनुष्य होकर आये थे-कहीं तान दुपट्टा सो गये, कहीं खाने-पीनेमें लग गये, कहीं रोने-हँसनेमें लग गये। जिस कामके लिए मनुष्य शरीरमें आये थे, उसको बिलकुल भूल गये-'न चेदिहावेदि महती विनष्टिः।' यदि इसी जीवनमें तुमने परमेश्वरको नहीं जान लिया, तो बड़ाभारी विनाश, सत्यानाश, संहार हो गया।

यह जीवन मिलनेका जो फल था, उससे वंचित रह गये।

नर तनु पाइ विषय मन देहीं।
पलटि सुधा ते शठ विष लेहीं॥

मनुष्य शरीर पाकर जो केवल विषय-भोगमें लग जाते हैं, वे अमृतको उलटकर गिरा देते हैं और उसकी जगहपर जहर लेते हैं। पहली बात तो यह है कि इस जीवनमें 'अहं वेद्य एव।' मुझे जानो-ही-जानो। दूसरी बात है 'अहमेव वेद्य'-केवल मुझे ही जानो। मेरे सिवाय और कुछ जाननेका काम नहीं है। माया फैली हुई है, सब जगह छल है, सब जगह कपट है। हम सबकी बात कैसे करें? आप लोग स्वयं ही अपने दिलपर हाथ रखकर अपने आपका परीक्षण कर लें, निरीक्षण कर लें, समीक्षण कर लें। आप सब भले मनुष्य हैं, ईश्वरके रूप हैं-सही हैं पर आपके हृदयमें किसी-न-किसीसे, कोई-न-कोई कपट अवश्य है। माँकी बात पत्नीको नहीं, पत्नीकी बात माँको नहीं। भाईकी बात भाईको नहीं। अपनी बात माँ-बापको नहीं। माँ-बापकी बात परायेको नहीं। ऐसा कोई भी आपके सामने दुनियामें नहीं है जिसके सामने आप अपना पूरा हृदय खोल करके रख देते हैं। आप किस मायाजालमें व्यवहार कर रहे हैं। एक परमात्मा ऐसा है जो अपना आत्मा है, अपना हृदय है।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेस्मिन्पुरुषः परः।

इसी शरीरमें रहता है, परम पुरुष है। परमात्मा है उसका नाम। यहीं रहता है। अहमेव वेद्य-वही जानने योग्य वस्तु है। आत्मानं विजिज्ञासस्व-तद् विजिज्ञासस्व-तद् ब्रह्म-उसको जाननेके लिए विचार करो; क्योंकि वह अनन्त है, अद्वितीय है। उसमें कालकी दाल नहीं गलती है। कभी मरनेवाला नहीं है। वह परदेशमें नहीं जाता। कभी बिछुड़ने वाला नहीं है। वह कभी पराया नहीं होता। परमेश्वरकी यह विशेषता है कि वह कभी

मरता नहीं है। और कभी पराया नहीं हो जाता। हमेशा अपना रहता है, हमारे पास रहता है। हमेशा रहता है। ऐसे प्यारेसे, ऐसे प्रियतमसे यदि आप प्रीति नहीं करेंगे तो आपका जीवन-जीवन क्या है? उसको जानें कैसे? वेद भगवान् बोलते हैं—

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति,
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।

ॐइत्येतत्। सब वेद उसीका वर्णन करते हैं। 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति।' सर्वे वेदा कहनेका अर्थ है।

वेदेनैव अहमेव वेद्य एव।

वेदोंके द्वारा ही, मुझे ही, जानो ही।

बिना वेदके परमात्माकी प्राप्ति, परमात्माका ज्ञान नहीं होता है। मैं उस उपनिषद् पुरुषके सम्बन्धमें प्रश्न करता हूँ जो उपनिषद् प्रतिपाद्य है। क्योंकि आँखसे देखनेका नहीं है, मनसे कल्पना करनेका नहीं है, बुद्धिसे विचार करनेका नहीं है, वह इन्द्रियोंके भी पीछे, मनके भी पीछे द्रष्टा है, दृङ्मात्र है। हाँ सो तो है, पर वह द्रष्टा देश, काल, द्रव्यकी परिच्छेद-भेद-कल्पनासे सर्वथा विनिर्मुक्त-दिक्कालादिके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित, अद्वितीय स्वरूप है। यह बात बिना वेदके मालूम नहीं पड़ सकती। यह प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, चेष्टा-किसी भी प्रमाणके द्वारा इसका साक्षात्कार नहीं हो सकता। इसके लिए उपनिषद् है, जो बताती है, अरे, तू किसको ढूंढ रहा है? तूँ ही तो है-'अन्वेष्टव्यमात्मविज्ञानात्'। जिसको ढूँढ रहे हो उसको पहचानते नहीं हो, तबतक तुम ढूँढनेवाले बने हो। जहाँ वह मिला, जिसको तुम ढूँढ रहे हो-तुम देखते हो कि ढूँढनेवाले तुम ही हो।

हेरनहार हेरान-रहिमन आपुहि आपमें।
विंदुमें सिंधु समान-यह सुनि अचरज मति करै॥

अच्छा तो वेदमें कोई छोटा-सा हिस्सा होगा, जिससे परमात्माका ज्ञान होगा। बोले नहीं 'सर्वैरेव वेदैरहमेव वेद्यः'। सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा मैं ही जाना जाता हूँ। तब वेद ही वेद रहा-नहीं, वेदान्तकृत्। वेदका जो अन्तिम सिद्धान्त है उसको बनानेवाला मैं हूँ। वेदान्तके सिद्धान्तसे भी विलक्षण।

वेदान्तं करोति इति वेदान्तकृत्।
वेदस्य अन्तकृत्-वेदान्तकृत्।

वेदका जहाँ अन्त हो जाता है, वहाँ मैं हूँ। वेदान्तके सिद्धान्तका निश्चय करने वाला मैं हूँ। और मैं ही वेदवित् हूँ। प्रश्न है-एकके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान-सम्पूर्ण वेदोंका तात्पर्य है। एक ऐसी वस्तु है, जिसके जान लेने पर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता। सब कुछ जान लिया जाता है। श्वेतकेतुको अपने पढ़नेका बड़ा भारी

अभिमान हो गया था। मैं पढ़-लिखकर आया हूँ। बापने देखा कि भाई, पढ़ने-लिखनेसे तो जीवनमें विनय आता है, नम्रता आती है। यह हमारा बेटा सब कुछ पढ़-लिखकर आया, सर्वज्ञ होकर आया और इतना उद्धत! सिर नहीं झुकाता है, प्रणाम नहीं करता है। सर्वज्ञ बना बैठा है। बोले बेटा, तुम सब कुछ पढ़-लिखकर तो आये, क्या वह वस्तु तुम जानकर आये, जिस एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है।

श्वेतकेतुने कहा, 'पिताजी यह तो मैंने नहीं पढ़ा। हमारे गुरुको यदि मालूम होता, ऐसा कुछ है, तो हमको जरूर बताते।' नहीं बेटा-एक ऐसी वस्तु है, जिसके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है। ऐसा कैसे हो सकता है? जैसे लोहेके ज्ञानसे सब औजार, जैसे सोनेके ज्ञानसे सब आभूषण, जैसे मिट्टीके ज्ञानसे सब मिट्टीके पात्र, तत्त्वत: ज्ञात हो जाते हैं-नाम-रूपका जो व्याकरण है, उसको अलग करके देखो। सब एक है। तत्त्व एक है। इसी प्रकार इस विश्वसृष्टिका तत्त्व एक है। वह कौन है? सदेव सौम्येदमग्र आसीत्। एक सन्मात्र है और तत्त्वमसि-वही तुम हो।

वेदेश्च सर्वैरहमेव वेद्यो।
वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्।

इसलिए जो ऊर्ध्वमूल सहित समग्र अश्वत्थको जान लेता है-हो गया इसमें मूल सहित अश्वत्थका ज्ञान। माने एकके ज्ञानसे सर्वका ज्ञान। इसलिए 'यस्तं वेद स वेदवित्' और यहाँ 'वेदविदेवचाहं' मैं ही वेदवेत्ता हूँ। और 'स सर्वविद् भजति मां, सर्वभावेन भारत'-यह सर्ववित् हो जाता है। और सर्वरूपमें वह परमात्माको देखता है। ये देखो श्याम! ये देखो श्याम। श्याम-ही-श्याम! श्यामके सिवाय और कुछ है ही नहीं।

यहीं कहूँ श्याम काहू कुञ्जमें फिरत ह्वै हैं
भुज भरि भेंटिबेको हिय उमहत है।

यहीं है किसी-न-किसी रूपमें श्याम। सर्वरूपमें श्याम। उसको अपने हृदयसे लगानेके लिए हमारा हृदय व्याकुल हो रहा है। हिय उमहत है।

यहीं कहूँ श्याम काहू वेशमें फिरत होइ हैं
भुजभरि भेंटिबेको हिय उमहत है।

●

प्रवचन : 9

13-11-86

क्या बोलनेकी शैली है? 'द्वाविमौ'-दो हैं और ये हैं। माने एक नहीं दो हैं और दोनों परस्पर विलक्षण हैं और ये हैं माने दोनों दृश्य हैं। और दोनोंको जो देखनेवाला है सो? वह दोनोंसे निराला है। 'द्वाविमौ'-ये दोनों कौन हैं? हैं तो दोनों पुरुष-और नाम है इनका क्षर-अक्षर। संस्कृत भाषामें-स्त्री-पुरुषका विभाग जैसा व्यवहारमें होता है, ऐसा नहीं है। पुरुष माने जीवात्मा। वह चाहे स्त्रीके शरीरमें हो चाहे पुरुषके शरीरमें हो। उसको पुरुष ही कहते हैं। धर्मशास्त्रियोंकी बात दूसरी है, दर्शनशास्त्रियोंकी बात दूसरी है।

दर्शन शास्त्रमें खांडकी कठपुतली बनायी, स्त्री बनायी कि पुरुष बनाया, दोनों खांड है। दर्शन शास्त्रमें स्त्री, पुरुषका शरीर बना-चाहे स्त्रीका हो चाहे पुरुषका-दोनों प्रकृतिका कार्य है। ईश्वरने बनाया, दोनोंको बनाया। प्रकृतिसे बने, दोनों बने। यह तो बहुत बाहरी स्तरपर स्त्री-पुरुषकी लड़ाई और उनकी श्रेष्ठता, कनिष्ठता-अधिकार-अनधिकारकी बात होती है। ऐसा लगता है कि नरकमें रहकर आये हैं, उसकी चर्चा कर रहे हैं। जरा कड़वी बात है। क्या करना है? पुरुषका अर्थ हुआ-'पुरुषतादात्म्यापन्नौ' जब आत्मा इनसे एक हो जाती है तब इनका अनुभव करती है। चरसे तादात्म्यापन्न हुई तो पशु, पक्षी, वृक्षके रूपमें चल फिर रही है और पत्थरसे तादात्म्यापन्न हुई तो टिकी हुई एक जगह पड़ी है।

दोनों पुरुषसे ही दिखते हैं, पुरुषमें ही है, पुरुषसे ही उनकी सत्ता है। पुरुष माने आत्मा। थोड़ी टेढ़ी बात है। एक है क्षर और एक है अक्षर। ऐसे समझ लो कि घड़ा क्षर है, 'क्षरति'-टूट जाता है और अक्षर मिट्टी है-'न क्षरति'। घड़ेके फूट जानेपर भी मिट्टी ज्यों-की-त्यों रहती है। यों समझो कि पानीका बुलबुला क्षर है और पानी अक्षर है। यों समझो कि आगकी जो लपटें उठती हैं, चिनगारियाँ हैं और लपटें हैं, वे क्षर है और जो सबमें व्यापक गरमी है, ऊष्मा है सो अक्षर है। सांसके रूपमें जो वायु चलती है, पंखेसे जो निकलती है, वह क्षर है। और जो वायुतत्त्व है, वह अक्षर है। जो घटाकाश, मठाकाशके रूपमें दिखता है, वह क्षर है और जो महाकाशके रूपमें दिखता है, वह अक्षर है। अब उधर छोड़ दो।

आँखसे जो घड़ा दिखता है वह क्षर है। और उसको देखनेवाली आँख अक्षर है। देखनेवाली आँख क्षर है और मन अक्षर है! और मन क्षर है और बुद्धि अक्षर है। बुद्धि क्षर है और अपना आत्मा जो है वह अक्षर है। दो हैं। दुनियामें दो चीजें दिखायी पड़ती हैं। एकका नाम है अपरा प्रकृति-पृथिवी, जल, वायु, आकाश आदि और एकका नाम है परा प्रकृति। जीवभूत-एक हो गया-दो पुरुष हो गये। यहाँ दो प्रकृति हो गयी। एक हुआ क्षेत्र, एक हुआ क्षेत्रज्ञ। एक हो गया नपुंसक। एक हो गया पुरुष।

क्षेत्र क्षर है और क्षेत्रज्ञ अक्षर है। अपरा प्रकृति क्षर है और परा प्रकृति अक्षर है। अव्याकृतसे विशिष्ट जो चेतन है वह अक्षर है और व्याकृतसे विशिष्ट जो चेतन है वह क्षर है। व्याकृत माने जिसका नाम रूप जिसमें जाहिर हो गया वह व्याकरण लग गया तो रामः, रामौ, रामाः हो गया। ऐसे विशिष्ट आकृति प्रदान करना। 'रामैः, रामेभ्यः रामाणां, रामेषु'-यह व्याकरण लग गया। एक जो वस्तु थी उसमें नाना प्रकारकी शकल-सूरत हो जाना, इसका नाम क्षर पुरुष है। और बिना शकल-सूरतके जो एक सरीखा रहता है उसका नाम अक्षर हो जाता है। अब आओ आपको फिरसे लौटा लेते हैं। एक कागजपर अक्षर लिखते हैं न! या ताम्रपत्रपर लिखते हैं, तो वह होती है लिपि-जैसे आपको लिखना हो तो उर्दू लिपिमें अलिफ लिखते हैं, दूसरे ढंगसे लिखा जाता है, वह दाहिनेसे बायें चलता है।

अंग्रेजीमें 'ए' लिखते हैं। तमिलमें, तेलगूमें, चाइनामें, रशियनमें 'अ' लिखते हैं। इसमें क्षर कौन है? अक्षर कौन है? लिपि है-चाइना अलग, लॅटीन अलग, रशियन अलग, भारतीय लिपियोंमें भी दक्षिणकी अलग, उत्तरकी अलग है, पर 'अ' सब बोलेंगे। चाहे किसी भी लिपिमें लिखा गया हो। लिपि हो गयी 'चर' और 'अ' हो गया 'अक्षर'। लिपियाँ देश-देशमें, जाति-जातिमें बदलती रहती हैं। और 'अ' कहीं बदलता नहीं है, ज्यों-का-त्यों रहता है। अब देखो, क्षर माने नाशवान-बदलनेवाला। और अक्षर माने अविनाशी-न बदलनेवाला। चर और अचर। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ। परा प्रकृति और अपरा प्रकृति।

ये दोनों हमसे तादात्म्यापन्न हो करके-माने हम जब इनसे मिल जाते हैं, सब ये अलग-अलग दीखने लगते हैं। जिससे हम नहीं मिलेंगे, उसकी तो सत्ता ही नहीं होगी। हम इस देहमें आ गये तो इसका नाम पुरुष हो गया, मनुष्य हो गया, आदमी हो गया। अगर हम इस शरीरमें न हों तो इसका नाम पुरुष नहीं होगा। हम घड़ेको देखते हैं तो घड़ेका नाम घड़ा है। हम नहीं देखते हैं, देखनेवाला न हो तो घड़ेका नाम घड़ा है ही नहीं। कौन देखेगा घड़ेको? मूल तत्त्व कहाँ निकलेगा? देखनेवालेमें निकलेगा।

एकने कहा-भाई, भगवान् श्रीकृष्ण लोगोंके सामने प्रकट होते हैं। मोर मुकुटवाले, बाँसुरी बजाते हुए, मन्द-मन्द मुस्कराते हुए, प्रेम भरी चितवनसे देखते हुए, ठुमुक-ठुमुककर नृत्य करते हुए, श्रीकृष्ण आते हैं-हाँ आते तो हैं-आते होंगे पर कोई देखनेवाला न हो तो! बिना देखनेवालेके प्रकाशके श्रीकृष्णका दर्शन किसको होगा? अच्छा भाई, ईश्वरकी अनुभूति होती है। अनुभूति होती है न! किसको होती है। तुमको ईश्वरकी अनुभूति होगी न! तुम अपनेको ब्रह्मसे अभिन्न समझोगे न! 'तुम' की सत्ता मिटानेवाला दुनियामें और कोई नहीं है। यदि हम मर भी जायें तो मैं मर गया यह कौन जानेगा? और नहीं जानेगा तो मरना हुआ क्या! सर्वोपरि है अपनी सत्ता-गुरुको गुरु बनानेवाली, ईश्वरको ईश्वर बनानेवाली, संसारको संसार बनानेवाली-आत्मसत्ता जो है, अपना अस्तित्व वह सर्वोपरि है। मैं मर गया यह अनुभव कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जिसको अनुभव हो रहा है, वही तो तुम हो।

अब देखो सृष्टिका क्या रहस्य है? अपनी रोशनीमें सबको प्रकाशित करते हुए, रोशन करते हुए, अपने अधिष्ठानरूप आत्मामें सारी कल्पनाओंको धारण करते हुए यह अपना स्वरूप है। क्षर-अक्षर दोनों भगवान् हैं।

आप लोग विष्णु-सहस्त्र नामका पाठ करते हैं? जरूर करते होंगे। न करते हों तो कर लेना चाहिए। 'क्षरं चाक्षरमेव च' यहाँ है न! वहाँ है 'क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च'। विष्णु सहस्त्र नामके अन्त में है। गीतामें है-

चरं चाचरमेव च।
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि।
क्षेत्रज्ञं चापि अपिना
क्षेत्रमपि गृह्यते-
क्षेत्रज्ञं मां विद्धि।
क्षेत्रं चापि मां विद्धि।

सब परमात्मा। आप लोग बड़े बाबू लोग हैं। बड़े-बड़े सांइसके पढ़े हुए लोग आते हैं वे अपनी विद्या-बुद्धिको तो ऐसा उछालते हैं महाराज कि देखकर आश्चर्य होता है। बड़ी विद्या, बड़ी बुद्धि, बड़ा अभिमान-वह जो दुनियामें बतावें कि ऐसा कौन-सा सिद्धान्त है जिसमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ जाननेवाला और जाना जानेवाला-दोनों एक ही है। कहो तो नाम लेकर गिना दें-इसाई, मुसलमान, पारसी, यहूदी, बौद्ध, जैन, सिक्खोंका तो सनातन धर्मके विरुद्ध कुछ नहीं है, केवल गुरु ही उनके अलग हैं। सिद्धान्त सारा-का-सारा सनातन धर्मका है। आचार उन्होंने परिस्थितिके अनुसार बना लिया है।

आपन खेल आप करि देखें,
खेल संकोचै तब नानक ऐके।
कीता न होय थापा न जाय।
आप ही आप निरंजन सोय।

वह करनेसे नहीं होता है। उसकी स्थापना नहीं करनी पड़ती है। आप-ही-आप निरंजन सोय। एक ॐकार सत्गुरुप्रसाद। नारायण, ऐसा कौन-सा मजहब है दुनियामें, कौन-सा सिद्धान्त है, जो बनानेवालेको, बननेवालेको, देखनेवालेको, दीखनेवालेको, सबको एक अद्वैतके रूपमें जानता हो-ऐसा दुनियामें कौन सिद्धान्त है और इस सिद्धान्तके अनुभवके बिना राग-द्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होगी। चीजोंमें राग-द्वेष होगा, भोगोंमें रागद्वेष होगा, भावोंमें रागद्वेष होगा, स्थितियोंमें रागद्वेष होगा। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें रागद्वेष होगा। जीव, ईश्वरमें रागद्वेष होगा। जबतक अपनी आत्माकी अद्वितीयताका बोध नहीं होगा तबतक रागेद्वषकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होगी। यह पाषाणकी रेखा है। यह बिलकुल सच्ची बात है।

और अद्वितीय वस्तु यह होगी कि मैं होगा? अगर अद्वितीय वस्तु यह होगी तो उसको जानेगा कौन? इसलिए केवल आत्मा ही अद्वितीय वस्तु होती है-यह समग्र शास्त्रोंका स्पष्ट रूपसे सिद्धान्त है।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोक्षर उच्यते।

यह समझदारीकी एक प्रक्रिया है। जैसे कोई गणित करना होता है तो उस गणितकी एक शैली होती है, वैसे अद्वितीय तत्त्वको सिद्ध करनेके लिए यह शैली है। एक चीज बदलती हुई दिख रही है। महाराष्ट्रमें

सखा महाराज थे, वह आनन्दीलाल पोद्दारके घरपर आये थे-मैं उस समय संन्यासी नहीं था। लोग मुझे ले गये। उन्होंने कहा कि भाई, तुम नदीके किनारे बैठ जाया करो और देखो यह पानी झर-झर-झर-झर बहता जा रहा है। और एक भँवर पड़ रही है। वहीं तो मालूम पड़ता है यहाँ पानी स्थिर है। तो बहते हुए पानीको भी तुम ही देख रहे हो और भँवरके कारण स्थिर जो पानी मालूम पड़ता है, उसको भी तुम ही देख रहे हो। तुम कौन हो? तुम तटस्थ हो। किनारेपर बैठे हो। ऐसे दुनियामें कोई चीज टिकाऊ मालूम पड़ती है, गुजरातीमें खटाऊ बोलते हैं, जो बहुत दिनतक खटे, काम दे।

एक बल्लभदासजी खटाऊ थे तो मैंने पूछा कि रतनसी खटाऊ और तुम लोग सब एक ही हो तो बोले कि नहीं-असलमें खटाऊ तो हम हैं-ये लोग नहीं हैं। खटाऊ माने टिकाऊ माल हमलोग बनाते हैं। खटाऊ माल बनाते हैं हम टिकाऊ हैं। जहाँ भँवर पड़ता है वहाँ होता है टिकाऊ और जो बहता रहता है वह बहता रहता है। दुनियामें दो चीज देखनेमें आती है। एक बदलती हुई और एक न बदलती हुई। घड़ा बदलता है, कपड़ा बदलता है, मकान बदलता है, आँख नहीं बदलती है। और आँख मन्द हो जाती है, तेज हो जाती है, अन्धी हो जाती है, लेकिन मन नहीं बदलता है। मन बदलता है, जाग्रतमें और, स्वप्नमें और, सुषुप्तिमें और। ये सब क्षर हैं। अक्षर कौन है? जीवात्मा है। वह ज्यों-का-त्यों वहीं देख रहा है। परन्तु वह जो अक्षर है, टिकाऊ है; वह परमात्मा-उससे एक है, यह बात बतायी है। क्रमसे समझाते हैं।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोक्षर उच्यते।

खुदाने 'कुन' बोल दिया और दुनिया बन गयी। वह कुराण है। और खुद-खुद ही बन गया, खुद ही आ गया, वही है। नारायण, यह भक्ति-सिद्धान्त है। खुदाने बनाया यह कर्म-सिद्धान्त और खुद बन गया इस संसारके रूपमें, वही है, वही है यह भक्ति-सिद्धान्त है। और न बनाया, न तो बना; ज्यों-का-त्यों है।

ना कछु हुआ, न है कछु, ना कछु होवनहार।
अनुभवका दीदार है, अपना रूप अपार॥
पाया कहै सो बावरा, खोया कहै सो कूर।
पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों-का-त्यों भरपूर॥

आओ-क्षर माने बदलनेवाली चीज-एक पहले दुनियामें दिखती है-अक्षर-जो उस बदलनेवाली चीजको देखती है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

अब तीसरी वस्तुका वर्णन करते हैं। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और इन तीनोंमें रहनेवाली एक वस्तु। शङ्कराचार्य भगवान् कहते हैं कि यदि वेदके मन्त्र चिल्लाने लगें कि यह घड़ा नहीं है, कपड़ा है-तो हजार बार बोलें-ये घड़ा नहीं यह घड़ा नहीं है, यह उनका विषय नहीं है। आँख बतावेगी कि घड़ा है कि कपड़ा है-वेद नहीं बतावेगा। यह कठोर है कि मुलायम है यह चाम बतावेगा। यह बेला है कि यह चमेली है, सुगन्ध है कि

दुर्गन्ध है यह नाक बतावेगी। वेद चमेलीको गुलाब बतावे, गुलाबको चमेली बतावे-नहीं-जीभ बतावेगी कि खट्टा क्या है, मीठा क्या है? वेद नहीं बतावेगा। यदि दूसरे प्रमाणके द्वारा बतायी हुई चीजको वेद बताता है तो वेद प्रमाण नहीं है। वह तो पिष्ट-पेषण करता है, चर्वण करता है। चबाये हुएको चबाता है। अनुवाद करता है। वेद ऐसी चीज बताता है जो इन इन्द्रियोंके द्वारा नहीं मालूम पड़ती। जो केवल वेदसे ही मालूम पड़ती है और अनुभव हो जाती है।

'अनुभवपर्यवसान'-वेद श्रद्धा है। एक बात और है। आज करेंगे, कल मिलेगा सो नहीं है। यहाँ करेंगे, वहाँ मिलेगा सो भी नहीं है। व्यापारमें रुपया आज लगाते हैं, वर्ष, दो वर्ष, पाँच वर्ष बाद उसका फायदा होता है। अदृष्ट है। हो भी कि नहीं भी हो। स्वर्गके लिए यज्ञ-यागादि करते हैं। अदृष्ट है। कभी मिले भी कभी नहीं भी मिले। देवताकी पूजा करते हैं, कभी कृपा करे, कभी नहीं भी करे। हाथ ही जोड़नेमें रह जावेंगे। लेकिन यह जो वेदान्तका सिद्धान्त है यह कल मिलनेवाला नहीं है, यह पचास वर्ष बाद मिलनेवाला नहीं है। यह स्वर्गमें मिलनेवाला नहीं है। यह दृष्ट सिद्धान्त है। हमें अभी कैवल्य मोक्षका अनुभव होगा-यदि इसका तत्त्वज्ञान हो जाय तो! अदृष्ट सिद्धान्त वेदान्तका सिद्धान्त है ही नहीं। नगद माल है, उधार सौदा बिलकुल नहीं है। एक हाथ दो, एक हाथ लो, ऐसा भी नहीं है। न इसमें देना है, न लेना है और यह अपना आपा है। न निकट, न दूर, हाजरा हुजूर। सर्वत्र भरपूर।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।

ये क्षर अक्षरको छोड़कर जरा अपनेमें लौट आवो। उत्तम पुरुष-क्षर पुरुष 'सः' होता है अक्षर पुरुष 'त्वं' होता है और उत्तम पुरुष तो आप जानते ही हैं, जिसने थोड़ा भी पढ़ा-लिखा होगा, उसने अन्य पुरुष, मध्यम पुरुष प्रथम पुरुष तो पढ़ा ही होगा। उत्तम पुरुषः। छान्दोग्य उपनिषद्में 'उत्तम पुरुषः' इस पदका प्रयोग है। परमात्मा कौन है? उत्तम पुरुष है। उत्तम पुरुष है माने जिसके बिना मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष ये दिखायी नहीं पड़ते हैं। मालूम ही नहीं पड़ते हैं। जिसके बिना 'तुम' मालूम न पड़े और जिसके बिना वह मालूम न पड़े, उसका नाम हुआ 'उत्तम।' पहले, निरुत्तर-जिसके पीछे और कोई नहीं, जिसके ऊपर और कोई नहीं निरतिशय-जिससे बड़ा और कोई नहीं निरुत्तर-जिसके बाद और कोई नहीं वह है 'उत्तम'। यह प्रपंच उत् है। और सूक्ष्म जगत उत्तर है और अपना आत्मा उत्तम है। उत्, उत्तर, उत्तम।

तमसो निष्क्रांताः उत्तमः।

जो तमस्के, अज्ञानके बिलकुल परे है। उसका नाम है 'उत्तमसम्' उत्तमस। वह क्षर और अक्षर दोनोंसे विलक्षण है। भिन्न नहीं है। विलक्षण है। घड़ा माटीसे भिन्न नहीं है-परन्तु माटीसे विलक्षण है। क्योंकि उसमें नाम है, उसमें रूप है। स्त्री पुरुष प्रकृतिसे भिन्न नहीं है। परन्तु विलक्षण है। स्त्री शरीरका लक्षण अलग है, पुरुष शरीरका लक्षण अलग है। लक्षणमें भेद है। तत्त्वमें भेद नहीं है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।

इसीका नाम है परमात्मा। ले आये गन्ना, गन्नेमें-से निकला रस, गन्नेका परम रूप हो गया। गन्ना अपर

रूप हुआ और उसका रस परम रूप हुआ। उसको पका दिया तो वह रसका भी परम रूप हो गया-गुड़ हो गया, राब हो गयी। उसको भी साफ कर दिया तो शक्कर हो गयी। शक्करको और साफ किया तो मिश्री हो गयी। मिश्रीको और साफ किया तो ओला हो गया। बनारसमें ओला खानेको मिलता है। पानीमें डाल दो पानी ठंडा हो जाता है। ओलेको और साफ किया तो उसका बना कंद अब कंद है; ओला है, मिश्री है, शक्कर है, राब है, गुड़ है, रस है। अब रसका परम रूप कौन-सा हुआ? 'कंद'-मिठासका ही एक नाम रस है, गुड़ है, चीनी है ओला है, कन्द है। लेकिन साफ करते गये, साफ करते गये, साफ करते गये। कन्दका बड़ा भारी व्यापार रामघाटमें था, जहाँ श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज रहते थे। और इन सबका वर्णन गौडीय सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें मिलता है- रसका निरूपण करनेके लिए। साफ, साफ, साफ। जहाँ प्रकृति और प्राकृतिक पदार्थोंको साफ करते गये-जहाँ वासनाको साफ करते गये, जहाँ संस्कारको साफ करते गये-जहाँ स्थितियोंको साफ करते गये, वहीं परमात्मा, परममधुर। मधुरका जैसे एक रूप हुआ परममधुर वैसे जीवात्माके स्वच्छ, सुन्दर, स्वरूपका नाम 'आत्मा' है और उसमें भी जब कोई पद, कोई उपाधि, कोई विशेषण नहीं रहता है तब उसका नाम हो जाता है 'परमात्मा'। आत्माके शुद्ध स्वरूपका नाम परमात्मा है।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेस्मिन्पुरुषः परः।

अस्मिन् देहे। इसी देहमें अभिनयेन दर्शयति। ये कृष्णको नाटक करनेकी आदत थी। बहुत नाटक करते थे न! देहेस्मिन् ऐसे बोल दिया। जब अर्जुनसे बात कर रहे थे तो देहेस्मिन् कह दिया। नहीं तो अर्जुनकी छाती पर हाथ रख दिया। देहेस्मिन् पुरुषः परः। इसीमें है-यह परमपुरुष और कहीं नहीं है। ईश्वर यही है, अभी है, यहीं है। ईश्वरके मिलनेमें देर नहीं है। ईश्वरमें दूरी नहीं है। ईश्वरके दूसरापन नहीं है। क्या वह कोई देशका बच्चा है? वह कोई कालका टुकड़ा है? क्या है ईश्वर?

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।

पहली बात तो यह है कि तीनों लोकमें वह प्रविष्ट है। लोक माने लोकके तीन भेद-'लोक्यन्ते त्रिलोकाः'। आलोकमें जो लोक है वही लोक है। आलोक मर्यादित है और लोक अमर्यादित है। द्रष्टा, दर्शन, ध्यान, तीनों लोक है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तीनों लोक हैं। ध्याता, ध्यान, ध्येय तीनों लोक हैं। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों लोक हैं। भूभुर्वः स्वः तीनों लोक हैं। अकार, उकार, मकार तीनों लोक है। लोकत्रयमाविश्य-सबमें आविष्ट है। इसीसे ईशावास्यमिदंमें जहाँ लोकको हटाओ, वहाँ ईश्वर ही ईश्वर है। यो लोकत्रयमाविश्य-एक काम है कि सर्वत्र प्रविष्ट है। पहली सीढ़ी दूसरी सीढ़ी है 'बिभर्ति-बिभ्रिञ् धारणपोषणयोः'-सबका धारण-पोषण करता है। सबमें है, सबका धारण-पोषण करता है और 'ईश्वरः बिभर्त्यव्य ईश्वरः।' जिसमें प्रविष्ट है, वह नाशवान है, जिसका भरण-पोषण करता है वह नाशवान है और वह स्वयं अव्यय है। अव्यय माने कभी खरचता नहीं है। उसका व्यय नहीं होता है। 'विपरीतं न एति-न विपर्येति। न व्येति इति अव्ययः।' सब बदलता है, वह एक सरीखा रहता है। और ईश्वरः माने अन्तर्यामी है। 'उत्तमःपुरुषः स्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।' वही है आत्माका शुद्ध स्वरूप।

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्य ईश्वरः।

स्थूल दृष्टिसे प्रवेश है। उससे सूक्ष्म दृष्टिसे धारण-भरण है। उससे भी सूक्ष्म दृष्टिसे अव्यय है और अव्यय रहकर सबका नियन्त्रण करता है, यह ईश्वर है और-

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

अब क्रम बताते हैं। क्षरमें-से ख्याल हटाओ। कई लोग छोड़ो शब्द सुनकर घबड़ाते हैं। अरे, हम धन, दौलत, घर, बार छोड़ दें, स्त्री-पुरुष छोड़ दें-यह छोड़ना-छोड़ना क्या होता है? ऐसे कुछ नहीं छूटता है। हड्डी, मांस, चामका ढेर ले करके, जब अपने ऊपर इसका बोझा ले करके चल रहे हैं तो छोड़नेका सवाल क्या है? छोड़ना माने ख्याल छोड़ देना। अपने ख्यालमें-से निकाल दो। 'बड़ी मार कबीरकी, चित्तसे दिया उतार।' होता क्या है? मान लो एक संन्यासी हो गये-छोड़ दिया-क्या छोड़ा? घरमें नहीं रहते हैं? उनके पास स्त्रियाँ नहीं आती हैं? उनको खानेके लिए रोटी नहीं चाहिए? खानेके लिए रोटी भी चाहिए, सत्संग करनेके लिए स्त्री-पुरुषोंका आना भी चाहिए। रहनेके लिए कुटिया भी चाहिए। क्या छूटा?

यस्मात्क्षरमतीतोहं

जो क्षर है, जिसका वर्णन किया, जो अक्षर है, उसका वर्णन किया। अब अक्षरमें-से अपने ख्यालको हटा लो, जो नाशवान् है उसमेंसे भी अपने ख्यालको हटाओ और जो नाशवान्में अविनाशी मालूम पड़ता है, उसमें-से भी अपना ख्याल हटाओ। अब रह गया कौन? जिसने ख्याल हटाया, वह रह गया। जिसने ख्याल छोड़ा, वह रह गया अब देखो, अब दो पुरुषको तो छोड़ दिया, एक पुरुष रह गया। क्षर पुरुष छूट गया, अक्षर पुरुष छूट गया। जाग्रत पुरुष छूट गया। जाग्रत और स्वप्न-ये दोनों क्षर पुरुष हैं। और सुष्वशान जो पुरुष है वह अक्षर पुरुष है। यह अद्भुत है। यह स्वप्न और जाग्रत दोनोंके पुरुष जो हैं ये अन्यथा ग्रहण रूप है और सुषुप्तिका जो पुरुष है वह आग्रहरूप है। अक्षर रूप है। जो जाग्रत अवस्थामें अपनेको मैं मानते हैं-ये अन्यथा ग्रहण है। माने जो हम नहीं हैं, उसको हम मानते हैं। स्वप्नमें अन्यथा ग्रहण होता है। और सुषुप्ति अवस्थामें अग्रहण हो जाता है। और ये ग्रहण और अग्रहण दोनोंका जो साक्षी है जो दोनोंमें रहता है, दोनोंको जानता है, दोनोंसे निराला है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्य परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

यस्मात् माने क्योंकि-हिन्दीवाले चूँकि बोलना पसन्द नहीं करेंगे। ये भाषाई लोग, वस्तुको समझनेकी कोशिश नहीं करते हैं। खोलको पकड़कर कोशिश करते हैं। एक आदमी नदीमें नहा रहा था तो मगरने उसका पाँव पकड़ लिया। वह बड़े जोरसे चिल्लाया कि अरे, मगरने पेड़की जड़ पकड़ ली। यह सुनकर सचमुच मगरको भ्रम हो गया कि मैंने कहीं पेड़की जड़ ही तो नहीं पकड़ी है। तो उसका पाँव छोड़ दिया और वह बच निकला। ये लोग वस्तुको नहीं पकड़ते हैं-भाषावादी लोग अपनी भाषाको पकड़ते हैं। किसी भाषामें उत्तम

ज्ञानकी प्राप्ति होती हो, तो उस भाषासे उसको प्राप्त करना चाहिए। यह नहीं कि यह कोई दूसरी भाषा है। आज किसीको विज्ञान सीखना हो, तो अभी यदि ये लोग भारतीय भाषाओंको वैज्ञानिक भाषा बनावेंगे भी तो भी एक पीढ़ी दो पीढ़ीका समय लगेगा!

तबतक क्या हम हम विज्ञानकी शिक्षा प्राप्त न करें? शुरू कर दो, भाषा सीखो, इन्जिनियरिंग है, मेडिकल है। यह चन्द्रलोक आदिमें जानेकी विद्या है, रॉकेट छोड़नेकी विद्या है। बोले नहीं-नहीं-हम दूसरी भाषामें नहीं सीखेंगे। जब हमारी भाषामें यह विद्या आजावेगी तब सीखेंगे। तबतक रहो 'ठनठनपाल'। अरे-मद्रासकी भाषा हम सीखें? असमकी भाषा हम सीखें? यह भाषाका आग्रह करनेवाले बिलकुल दुराग्रही है। प्रान्तीयता फैलानेवाले, जातीयता फैलानेवाले, मजहब-सीताराम! इन्सानको नहीं देखें! एक दिन कोई सज्जन यहाँ आये थे। उन्होंनें कहा मैं मुस्लिम हूँ। अरे, भाई मुस्लिम काहेको, इन्सान हो। हाथ मिलाओ। बम्बईका विशप हमारे पास फूल लेकर आया-उससे हाथ मिलाया। वह ईसाई नहीं है-मनुष्य है, इन्सान है। मेरे हृदयमें जैसा ईश्वर है, वैसा ही उसके हृदयमें है। जब हम अपने दिलको कड़वा रखेंगे तो सब कड़वा।

एक दिन किसीने दिल्लीमें सवाल पूछा था कि हमारे पाँच-सात पीढ़ी पहले सब हिन्दू थे, क्षत्रिय थे, ब्राह्मण थे। प्रसंगवश मुसलमान हो गये। हमारी हिन्दूधर्ममें श्रद्धा है। क्या हिन्दूधर्ममें हमारे लिए स्थान है? भरी सभामें प्रश्न आया। मैंने कहा देखो तुम्हारी कोई व्यक्तिगत या पारिवारिक समस्या है तो तुम आ जाओ हमारे पास-हम तुमको हृदयसे लगाते हैं। जैसे हमारा परिवार है, वैसे तुम हो। और यदि तुम्हारी व्यक्तिगत, पारिवारिक समस्या नहीं है, सिद्धान्तका प्रश्न है तो हाँ; तुम्हारे लिए सिद्धान्तकी दृष्टिसे हिन्दूधर्मका दरवाजा खुला है।

सर्वान् बलवृतान् अर्थान् अकृतान् मनुरब्रवीत्।

जब प्रलोभन देकर बलपूर्वक तुमको मुसलमान बनाया गया है तो तुम हिन्दू हो सकते हो। यह हमारे धर्मशास्त्रका निर्णय है। पट्टाभिराम शास्त्री वहाँ बैठे थे, मनुदेवजी बैठे थे। मैंने कई बात सुनायी। भाषा, प्रान्त, मजहब राजनीतिक पार्टी-क्या राष्ट्रका विध्वंस करनेके लिए होती है? कि राष्ट्रका निर्माण करनेके लिए होती है? राष्ट्रीयता विश्व-मानवताकी रक्षाके लिए होती है। छोटे परसे अपनी नजर उठाओ और राजनीतिक नेताओंके जमूरा मत बनो। एक आदमी नचाता है, दूसरे लोग समझते हैं, हम बड़ा भारी काम कर रहे हैं। क्षरको छोड़ो-अक्षरमें आओ। क्षर-अक्षर दोनोंको छोड़ो-माने उनसे ख्याल हटाओ। पुरुषोत्तमको देखो।

यस्मात्क्षरमतीतोहं अक्षरादपि चोत्तमः।

'अतोऽस्मि लोके वेदे च'-मेरा पुरुषोत्तम इसीलिए नाम है कि मैं किसी पुरुषके रूपमें परिच्छिन्न नहीं हो गया। यदि मैं हिन्दू हो जाता, यदि मैं मुसलमान हो जाता, यदि मैं भारतीय या पाकिस्तानी हो जाता, यदि मैं एशियाई या योरोपीय हो जाता तो मैं मनुष्य कहाँ रहता? पुरुषोत्तम वह ही है जो पुरुषके अवर भावको छोड़कर, परिच्छिन्नताको छोड़कर, छोटे भावको छोड़कर, पूर्णताके भावमें स्थित है। ख्याल ही बदल जाता है। संन्यासी होनेका मतलब ख्याल ही बदला जाता है। त्यागका मतलब ख्याल बदलना ही होता है और व्यावहारिक रूपमें

उसका दूसरा-और सब उसकी सुगमताके लिए है कि भाई, इन्होंने ख्याल छोड़ दिया है तो इनको रोटी खिलाना चाहिए। इनसे हमको कोई डर नहीं है। 'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा।' सर्वभूतोंको, इन्होंने सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदान किया है। संन्यासमें संकल्प होता है-मैंने तीन लोकको वस्तु छोड़ दी।

देवता-दानी सब छोड़ दिये। उनसे मिलनेवाली जो चीज है वह सब छोड़ दिये। उनका हमको कुछ ख्याल नहीं है। हमने कीर्ति, कामिनी, कनक छोड़ दिये। उधरसे हमारा ख्याल हट गया। अब देखो, आप क्या हो! पुरुषोत्तम हो आप।

राजानः यं प्रशंसन्ति यं प्रशंसन्ति पण्डिताः।
साधवो यं प्रशंसन्ति स पार्थ पुरुषोत्तमः॥

वह सेठ, साहुकार, राजाओंका भी आत्मा है। हृदय है। वह विद्वानोंका भी हृदय है। वह सम्पूर्ण प्राणियोंका हृदय है। सारा विश्व उसका प्यारा है। सारे विश्व का वह प्यारा है। अपने आपको सर्व रूपमें अनुभव करता है। अब शेष जो बचा है, वह कल आपको सुनावेंगे, 'कृतकृत्यश्च भारत।'

●

14-11-86

श्रीरमणलालजी बिन्नानीका समापन भाषण

अनन्तश्री सम्पन्न मंगलमूर्ति, तीर्थस्वरूप श्रीस्वामीजी महाराज, संत्सग-प्रेमी देवियों एवं महानुभावों! आज इस स्थानपर इस वर्षका यह 15वें अध्यायका सत्र समापनकी ओर है। पन्द्रहवाँ अध्यायके 20वें श्लोकमें-महाराजश्री अभी कुछ विवेचन भी करेंगे-जो अवशेष रह गया है। और उसका उपसंहार भी 20वें श्लोकमें स्वयं भगवान्ने कहा है कि-

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।

मैं इसको जरा-सा बदल करके कह दूँ कि-

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं त्वयानघ।

जो यह सम्वाद कृष्णका अपने मित्र अर्जुनके साथ है, वह सम्वाद अर्जुनने खूब समझा होगा। हम गीताका पाठ भी रोज करते है, सुनते हैं, उसकी टीका भी पढ़ते हैं। लेकिन आपकी वाणीसे हमें जो सुननेका आनन्द मिला, वह अपने आपमें अलौकिक है, अद्भुत है, अनिर्वचनीय है। कितना प्रगाढ़ आपका अध्ययन है, कितनी आपकी उँचाइयाँ है, कितनी आपकी गहराइयाँ है-कितना अथाह है आपके अन्दरमें ज्ञानका सागर, जो आलोडित होता ही रहता है, और जो इस मुखारविन्दसे जब प्रवाहित होता है-हमारे यहाँ गंगाका जो उद्गम स्थान है वह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, उतना ही पुण्यस्थल है। आपके मुखारविन्दसे जो ऐसी यहाँ ज्ञानगंगा प्रवाहित हुई उसके लिए हम (महाराजश्रीके) बहुत-बहुत उपकृत हैं, बहुत कृतकृत्य हैं। महाराजजीके अस्वास्थ्यका जब सबको पता चला-तो मैं अपनी बात तो कह दूँ-मैं तो बिलकुल हिल गया था। और ईश्वरसे बराबर हम सब प्रार्थना कर रहे हैं कि हमारे देशके महान् सन्तको, महान् विभूतिको चिरायु रखे, खूब स्वस्थ रखे और वे जन-जनका मंगल करते रहें।

इस प्रकार महाराजजी स्वस्थ हुए। मुझे श्रीमती सरलाजी बिरलाने कहा था कि महाराजजी आवेंगे जरूर। हमलोग सब विचलित थे। लेकिन उनका ऐसा दृढ निश्चय था, उनका आत्मबल बोलता था और उन्होंने कहा था कि महाराजजी आवेंगे और हमें अत्यन्त प्रसन्नता है कि महाराजजी यहाँ पधारे और हमें इस प्रकार उपकृत किया। महाराजश्रीने उस दिन अपना रहस्योद्घाटन किया कि मैं कोई पत्र लिखता नहीं, मैं कुछ बोलता नहीं, मैं कुछ जानता भी नहीं-बोलनेवाला कोई और ही है। यह ठीक ही है। महाराजजीके भीतरमें जो ब्रह्म-स्वरूप साक्षात् स्थित हैं-वही बोलते हैं।

वही गीता इस प्रकार सहज रूपमें, सुगम रूपमें हमारे लिए कर देते हैं। गीता पाठ हम रोज करते हैं लेकिन इस प्रकार समझ पाना-जैसे महाराजजीने सरल, सुगम, बोधगम्य रीतिसे जो हमें उपकृत किया, वह अपने आपमें चिरस्मरणीय रहेगा। प्रारम्भके दिन-जैसा कि सौ० सरलाजीने कहा कि-

बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं सन्ता।

बहुत सही बात है। परमात्माकी कृपा इसी प्रकार बनी रहे। हम यह प्रार्थना करते हैं और हमें स्वामीजी महाराजके सान्निध्य और प्रवचनोंका लाभ मिलता रहे। और भी मैं कह दूँ-

आवत ही सर अति कठिनाई।
राम कृपा बिनु आय न जाई॥

हम, आप सब यहाँपर आये लाभ लिया-यह भी भगवान्की विशेष कृपा है, तभी हम आ सकते हैं। कुल मिलाकर ईश्वरकी बड़ी कृपा है-आज आनन्दसे सम्पन्न हो रहा है। मैं आयोजकोंके लिए अपनी ओरसे और आपकी ओरसे कह सकता हूँ कि उनकी ऐसी प्रेरणा, उनका ऐसा नियोजन, उनका ऐसा भाव बराबर बना रहे और हमें प्रतिवर्ष ऐसा सौभाग्य प्रदान करते रहें। इस कामनाके साथ सबोंके प्रति मंगल कामना करते हुए आगामी वर्षके लिए सबको निमन्त्रण है। महाराजजीको बहुत-बहुत प्रणाम!

●

प्रवचन : 10

जब गायसे दूध दूहते हैं तो बछड़ेको तो निमित्त बनाया जाता है, चाहे गायके आगे खड़ा कर दे, चाहे गायके पाँवमें बाँध दे और दूध जो गायका दुहा जाता है, वह बछड़ेके काम तो कम आता है। दूसरे लोग ही उसको खाते-पीते हैं। उपनिषद् हैं गाय और उनके शरीरमें ज्ञानामृत, ज्ञानका दूध भरा हुआ है। पर उस दूधको दुहकर निकालने वाला कोई गोपालनन्दन चाहिए। वह भी बुढ्ढा नहीं है, जवान है। 'दोग्धा गोपालनन्दन:'। निमित्त है अर्जुन और कोई भी सुधी उसका पान कर सकता है। यह दूध उदार है। 'दुग्धं गीतामृतं महत्' महत्का अर्थ है कि यह सब प्राणियोंके लिए है। बल्कि माहात्म्यमें तो यहाँतक कहाँ जाता है कि जिन पेड़-पौधोंने भी गीताका श्रवण कर लिया उनका पेड़-पौधोंकी योनिसे उद्धार हो गया। जिन पशु-पक्षियोंने भी गीताका श्रवण किया,उनका उद्धार हो गया। आप अठारहों अध्यायका माहात्म्य अगर अलग-अलग पढ़ें तो देखेंगे कि किस अध्यायके पाठका क्या माहात्म्य है! ऐसी यह गीता भगवद् वाणी है।

भगवद् वाणीका अर्थ होता है कि जैसे पिता जो कुछ कहता है, अपने सब पुत्रोंकी भलाई ध्यानमें रखकर बोलता है। माताके हृदयमें, पिताके हृदयमें, पक्षपात नहीं होता है। वह अपने सभी सन्तानोंका कल्याण चाहते हैं। इसी प्रकार यह गीता 'दुग्धं गीतामृतं महत्'। महत्का अर्थ है, परम उदार है। सर्वका कल्याण करनेवाली है। भूमिको दिव्य बनानेवाली है। पेड़-पौधोंको कल्याण देनेवाली है और इसका रसास्वादन तो सुधी लोग करते हैं। सुधी माने जिसकी बुद्धि बहुत सुन्दर है, सुष्ठु है। भगवान्ने यह कहा कि वेदका असली रहस्य मैं जानता हूँ। 'वेदविदेव चाहं। अहमेव च वेदवित्'—मैं ही वेदवित्—वेदका रहस्य जाननेवाला हूँ।

एक बातपर आप ध्यान दें। दुनियामें ऐसा कोई मजहब नहीं है जो अपनी बात कहनेके बाद कह दे कि अब हमारी जरूरत नहीं है। अब तुम हमारे कानूनके दायरेसे बाहर हो गये हो। गीताका कहना है कि यदि तुम इसको समझ लो तो वेदके जो विधि-निषेध हैं—वेदका जो घेरा है, उससे बाहर निकल जाते हो।

त्रैगुण्यविषया वेदाः निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

वेद तो त्रिगुण अधिकारीके लिए हैं। सात्त्विक, राजस, तामस अधिकारीके लिए वेद हैं। अर्जुन, तुम तीनों गुणोंसे ऊपर उठ जाओ।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।

जब सब जगह पानी पीनेके लिए मिल रहा हो तो प्याऊपर जानेकी क्या जरूरत है? जब गीताने सब जगह अमृत-ही-अमृत दिखा दिया, दर्शन करा दिया तो अब अमृतकुण्डके पास जानेके लिए वेदकी क्या आवश्यकता है? कोई प्रयोजन नहीं है। अपने घेरेसे बाहर कर देना, यह भारतीय वैदिक संस्कृतिकी विशेषता रही है। वह बन्धन मुक्त कर देता है। अब यहाँ बात आयी पुरुषोत्तमकी। सचमुच हम जिस क्षेत्रमें रहते हों उसमें हमें पुरुषोत्तम ही होकर रहना चाहिए।

मुहूर्तमपि जीवेत नरः शुक्लेन कर्मणा।

आप दो घड़ी जीते रहिये। केवल दो घड़ीकी आपकी आयु हो परन्तु चमककर जीते रहिये। कोयलेकी तरह मत जीइये। हीरेकी तरह चमककर जीयें। भले वह जीवन दो घड़ीका हो।

चमाचम—जगमग जीवन व्यतीत हो—दो घण्टेका हो। बड़ी उम्र होनेसे बड़ी आयु होनेसे कोई विशेषता नहीं होती। सुनते हैं कौएकी आयु हजारों वर्षकी होती है, लेकिन इससे क्या? आयु बड़ी होनेसे कोई मंगल नहीं है। मनुष्यके जीवनमें जो पवित्र आचरण है (एक) इन्द्रियोंमें संयम है (दो) मनमें सद्भावना है (तीन) बुद्धिमें विचार है, विवेक है (चार) और अपनी स्थितिमें दृढ़ता है, निःसंकल्पता है (पाँच)। आपके जीवनमें अशान्ति क्यों रहती है? आप जो चाहते हैं वह नहीं हो रहा है। अशान्ति माने बस इतना ही है कि आप जो चाह रहे हैं, जैसा चाह रहे हैं, वैसा नहीं हो रहा है। अच्छा वैसाकर देना या ऐसा हुआ देना—आपके हाथमें नहीं है। लेकिन उस चाहको छोड़ देना आपके हाथमें है। फिर तो आपके जीवनमें अशान्ति नहीं रहेगी। शान्ति ही शान्ति रहेगी।

चाह चमारी चूहरी सब नीचन कौ नीच।

सारी अशान्तिका, दुःखका मूल यही है कि हम जैसा चाहते हैं जो चाहते हैं वह नहीं हो रहा है। नहीं मिल रहा है। आप व्यक्तिगत विचारसे थोड़ा-सा ऊपर उठिये। आप मिट्टीके पुतलेका विचार मत कीजिये। मिट्टीका विचार कीजिये। 'क्षरः सर्वाणि भूतानि।' मिट्टी, पानी, आग, वायु, आकाश—पाँच विषय, पाँच भूत, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, पाँच अन्तःकरणके विभाग। ये जो पंच पंच मिल करके दुनिया फैली हुई है।

ये सब क्षर हैं। और इनमें जो कूटस्थ है, एक-रस रहता है। लिपियोंमें अलगाव होनेपर भी अ क च ट त प य शकी तरह, अक्षरकी तरह इसमें कूटस्थ—जैसे कितना भी पानी बरसे चित्रकूट सिर उठाये खड़ा है। कूटस्थ। वैसे हो जाइये। जैसे कितने भी जेवर तोड़े जायँ, निहाय जो सुनारके घरमें हैं, वह ज्यों-की-त्यों रहती है। वैसे आप कूटस्थ रहें। कितने भी झूठ आते-जाते रहे, लेकिन उस कूटके घेरेमें भी आप सत्य रहें। ये अक्षर

पुरुष हुआ। इसको ऐसे भी बोल सकते हैं। कि जैसे आकाशका विचार करते हैं तो दो आकाश होते हैं अध्यारोपित। एक सज्जनने पूछा है इसलिए सुना देते हैं।

घटाकाश होता है एक घेरेमें होता नहीं, पर मालूम पड़ता है। हमको दस वर्षकी उम्रमें ठाकुर प्रसिद्धनारायण सिंहने पूछा कि बाबाजी, जब हाथ हम हटाते हैं—दाहिने बायें तो आसमान हटकर जगह करता जाता है कि जहाँ-का-तहाँ रहता है मैंने कहा—आकाश हटता जाता है, हाथ बढ़ता जाता है। बोले कि नहीं—ऐसी बात नहीं है, आकाश अपनी जगहपर रहता है। हाथ उसमें तैरता रहता है। आकाश चलता फिरता है लेकिन जिस आकाशमें घड़ा है वह ज्योंका त्यों रहता है। घटकी उपाधि है। हमारी आँखसे घड़ा दिखता है, उसके घेरेमें जैसा गोल-मटोल घड़ा है—बड़ा पेट, छोटी गरदन—पृथूदराकार। जैसा आकाश मालूम पड़ता है, वैसा आकाश है नहीं। घटकी उपाधिसे आकाश वैसा मालूम पड़ता है।

अब दूसरा आकाश है—घड़ेमें पानी रख दिया और पानीमें बादल सहित आकाश प्रतिबिम्बित हो रहा है। एक हुआ जलाकाश, एक हुए घटकी उपाधिसे ज्यों-का-त्यों आकाश और एक हुआ जलमें प्रतिबिम्बित होनेवाला आकाश। जलाकाश। तीसरा आकाश है जो मेघ दिख रहा है, बादल, उस बादलमें पानीकी बूँद। बूँद, बूँद है। जैसे घड़ेके आकाशमें प्रतिबिम्बित होता है आकाश, घड़ेके जलमें प्रतिबिम्बित होता है, वैसे बादलके जलमें भी प्रतिबिम्बित होता है। उसको कहते हैं मेघाकाश। अब यह घड़ा, जल और मेघ इन तीनोंको जब हटा दिया जाता है तब रह जाता है महाकाश, निरुपाधिक। अब जलाकाश जो है वह मेघाकाशकी उपासना करता है। यह तो है उपासना-उपास्यका विभाग—जलाकाश, मेघाकाशकी उपासना करता है क्योंकि मेघाकाशमें अनुमानसे ही आकाश होता है और जलाकाशमें प्रतिबिम्ब आकाश है। परन्तु वस्तु तत्त्वसे तत्त्वकी दृष्टिसे, वस्तुत: बोलते हैं न! वस्तुत: माने वह जो चीज है, उस चीजकी नजरसे, जब हम देखते हैं तब घटाकाश और महाकाशमें कोई फर्क नहीं है।

जलाकाश प्रतिबिम्ब आकाश है और मेघाकाश भी प्रतिबिम्ब आकाश है। परन्तु घटाकाश और महाकाश ये दोनों एक हैं। इसी प्रकार जीवतत्त्वको समझते हैं। अन्त:करणमें जो शुद्ध चेतन है, अन्त:करणकी उपाधिसे अलग मालूम पड़ता है। उसको कूटस्थ—जीव कहते हैं। और जो अन्त:करणमें प्रतिबिम्बत है वह प्रतिबिम्ब आभास है। ब्रह्मसूत्रमें—'आभास एव च।' ऐसे सूत्र हैं। और बृहदारण्यक उपनिषद्में 'आभासेन जीवेशो करोति।' माया जो है वह आभाससे जीव और ईशका भेद बनाती है।

माया च अविद्या च भवति।

असलमें परब्रह्म परमात्मामें माया और अविद्या कल्पित है। व्यष्टि अन्त:करणमें प्रतिबिम्बित आकाश जीव है। चिदाकाश और समष्टि अन्तकरणमें प्रतिबिम्बित चिदाकाश ईश्वर है। और शुद्ध जो चेतन है-इस अन्त:करणकी उपाधिसे और बिना उपाधिके उस अवच्छिन्न और अनवच्छिन्नमें किसी भी प्रकारका भेद नहीं है। उस ओपाधिक और निरुपाधिक चैतन्यमें किसी भी प्रकारका भेद नहीं है। अब इस बातको इस प्रसंगमें जोड़ लें।

अन्यदेव तद्विदितात् अथो अविदितात् अधि।

जिसको हम जानते है, उससे भी वह विलक्षण है। हम जानते हैं क्षर पुरुषको, सर्वभूतको जानते हैं, उससे विलक्षण है। और अविदित है कारणात्मा-अक्षर पुरुष, अव्याकृत-अव्याकृतो-पाधिक चैतन्य-अव्याकृतविशिष्ट चेतन, वह अविदित है।

अन्यदेव तद्विदितात् अथो अविदितात् अधि।

क्षर और अक्षर दोनोंसे विलक्षण है। कौन है? अब यहाँ देखो ब्रह्म और अनुभवमें फर्क पड़ जाता है। श्रद्धा कहेगी कि यह क्षर पुरुष है, इसके आगे कोई अज्ञात अक्षर पुरुष है और उससे भी परे कोई पुरुषोत्तम परमात्मा है। यह श्रद्धागम्य होगा और जब कहेंगे कि क्षर सर्वभूत क्षर हैं और कारणात्मा अव्याकृतात्मा अक्षर है और उससे परे मैं स्वयं हूँ। पुरुषोत्तम पुरुष। उधर देखोगे तो वह श्रद्धगम्य होगा, और इधर देखोगे तो अनुभवस्वरूप होगा। चीज एक ही है। यदि बीचमें क्षर अक्षरको डालकर उस पार देखोगे तो वह अज्ञात, भावित ईश्वर होगा। और यदि अपनी पर देखोगे तो एक नदी बह रही है क्षरकी, विदितकी, एक नदी बह रही है अविदितकी, अक्षरकी और आप दोनोंके द्रष्टा साक्षी, स्वयं प्रकाश हैं।

अब इस स्वयं-प्रकाशताकी दिक्, काल, वस्तुमें अपरिच्छिन्नता है। वह हमारे अनुभवमें अभी नहीं आ रही है। वेदने केवल अविद्याकी निवृत्तिके लिए कह दिया-

अन्यत्र धर्मात्, अन्यत्राधर्मात्,
अन्यत्रास्मात्कृताकृतात् अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च।
यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।

इस मति और मतिका जो विषय है, इसका जो प्रकाशक है, अधिष्ठान है वही आत्मा है! और जो मतिको लेकरके पकड़े हुए हैं-ये जितने पन्थ बने हैं, ये सब मतिसे बने हैं। जितने प्रान्त् बने हैं सब मतिसे बने हैं। जितने राष्ट्र बने हैं, सब मतिसे बने हैं। जितने ब्रह्माण्ड हैं सब मतिसे बने हैं। ये जो प्रकृति प्राकृत बना है वे मतिसे बने हैं। यह जो दृश्य, द्रष्टाका विभाग बना है, यह मतिसे बना है। जो परम तत्त्व है वह तो, यदि इनमें जो संमूढता है, उससे छूटोगे तब उसका ज्ञान होगा।

यो मामेवमसंसूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ 15.19
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥ 15.20

तो असंमूढ हो जाओ। असंमूढ माने-गच्छन्त्यमूढा पदमव्ययं तत्। जो मूढ हो जाता है उसको अव्यय पदकी प्राप्ति नहीं होती। जो मूढता पर अटकता नहीं है। किसीने कुछ बता दिया, किसीने कुछ बता दिया और बस यही सर्वस्व है, यही वस्तु है, यही तत्त्व है मान करके वहाँ बैठ गये। बाबा, आपको कहीं वेद, शास्त्र,

****

पुराण, बाइबल नहीं मिलेगी जो आपको कहे कि 'त्यज धर्मं अधर्मं च।' धर्म, अधर्म दोनोंका परित्याग करो। 'सर्वधर्मान्परित्यज्य।'

त्यज धर्मं अधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।

झूठ और सच दोनों छोड़ दो। उसे छोड़कर जिस बुद्धिसे सत्य और अनृतका परित्याग करते हो, उस बुद्धिको भी छोड़ दो। 'त्यज धर्म असंकल्पात्-अधर्म चास्य लिप्सया। उभे सत्यानृते बुद्धया-बुद्धिं परम निश्चयात्।' असंकल्पके त्यागसे धर्मका त्याग हो जाता है। लिप्सा, लोभके त्यागसे अधर्मका त्याग हो जाता है और विचार करनेपर सत्य झूठका जो विवाद है, उसका त्याग हो जाता है, और अपने स्वरूपका निश्चय होनेपर, बुद्धिका त्याग हो जाता है और अपने स्वरूपमें बुद्धि नामकी कोई वस्तु है ही नहीं। हम संमूढ कहाँ है? देखो, अधर्ममें संमूढ हैं, धर्ममें संमूढ हैं, सत्यमें संमूढ हैं, अनृतमें संमूढ है। और दोनोंमें संमूढ हैं। बुद्धिमें संमूढ है। निश्चयमें संमूढ है। सोते समय निश्चयका पता नहीं चलता है तो क्या हम कुछ और हो जाते हैं? स्वरूप ही रहता है। जो इस प्रकार असंमूढ रह करके क्षर, अक्षर-क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ-अपरा प्रकृति, परा प्रकृति कहीं भी संमूढ न हो करके मुझे इस प्रकार पुरुषोत्तमको जानता है, उत्तम पुरुषके रूपमें, अन्य पुरुषके रूपमें नहीं। वह नहीं, तुम नहीं, उत्तम पुरुष-अहंके रूपमें। देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छन्न-सजातीय, विजातीय, स्वगत भेदसे रहित अपनी आत्माके रूपमें जानता है। इसका फल क्या हुआ? 'स सर्वविद् भवति।'

एकस्मिन् विज्ञाते, सर्वं विज्ञातं भवति।

जिस एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है। ऐसी एक वस्तु है। मिट्टीके ज्ञानसे, उससे बनी सब चीजें-पानीके ज्ञानसे, उससे बनी सब चीजें, नींबूका बीज पानीका स्वाद अलग दिखा देता है। इमलीका बीज पानीका स्वाद अलग दिखा देता है। अंगूरका बीज पानीका स्वाद अलग दिखा देता है। यह बीज संस्कार है और पानी इमलीमें, नीबूमें, आममें, चावलमें, गेहूँमें कहीं सफेद होता है, कहीं पोला होता है। संतरेका पानी निकला-पीला-पीला निकला, और जौका पानी निकला तो दूध सरीखा सफेद निकलता है। रंग अलग-अलग हो, स्वाद अलग-अलग हो, गुण अलग-अलग हो, लेकिन पानी एक ही है। और वह पानी आप हैं।

घड़े अलग-अलग हों, हीरे अलग-अलग हों, मोती अलग-अलग हों, उनकी शकल सूरत अलग-अलग हो। कोई एक मोती लाखों रुपयेका होता है। हमारे पास एक जौहरी दिखाने लाये थे। लाख-लाख रुपयेके एक-एक मोती हैं। सो भी बीस वर्ष पहले। अब तो उनकी कीमत बहुत बढ़ गयी होगी। हमारे लिए माटीके डलेमें और उसमें कोई फर्क नहीं था। क्योंकि हम मोती पहनते नहीं, हमारे काम आता नहीं, बेचते नहीं तो हमारे लिए जो मिट्टीका डला वैसे ही मोती। चाहे हीरा अलग हो, मोती अलग हो, सोना अलग हो, चाँदी अलग हो, वासना नहीं है तो सब मिट्टी है।

इसी प्रकार जब मनुष्य निर्वासन होकर तत्त्वका विचार करता है, तो आत्मदेवके रूपमें, पुरुषोत्तमके

****

****

रूपमें, उत्तम पुरुषके रूपमें परमात्माको जानता है और वह एकके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान हुआ। 'स सर्वविद्'-वह सर्ववित् हो गया। हुआ था एकविद् और हो गया सर्ववित्। हुआ था वेदवित्-

यस्तं वेद स वेदवित्-वेदविदेव चाहम्।

लेकिन हो गया वेदान्तकृत्। वेदका अन्त देख लिया। बस वेदकी मर्यादा यहीं तक है। इसके आगे अपने स्वरूपमें नहीं है। सर्वविद् तो अब उसकी रहनी बताते हैं।

भजति मां सर्वभावेन भारत।

उसका पुरुषोत्तम कहाँ है? कब है? क्या है? उसका भजन क्या है? बोले सर्वभावेन। यह सर्वभावेन शब्द गीतामें दो बार आया है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।

और यहाँ है—

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत।

सब भगवान् है इस भावनासे—वृन्दावनमें हमारे साईं थे, जब वृन्दावनमें सूअर दिख जाते—तुरन्त हाथ जोड़ते। जय वराह भगवान्की! वानर दिख गया। हनुमान भगवान्की जय। पेड़ दिख गया, अरे इसीकी डालीपर बैठकर तो श्रीकृष्ण बाँसुरी बजाया करते थे! यह तो बड़ा भारी सन्त है। लो बालू आ गयी, झट उठाया, सिरपर रखा। इस बालूमें भगवान् श्रीकृष्ण लोट-पोट हुआ करते थे। वही बालू है, वही जमुना है, वही पावन पुलिन है; वही लता है जिससे श्रीकृष्ण फूल चुना करते थे, राधारानीका श्रृंगार करनेके लिए। वही वृक्ष है जिसपर दोनों पाँव लटकाकर, पीताम्बर फहराकर बैठ जाते और घटोंतक बाँसुरी बजाते रहते थे। वहीं तो वृक्ष है, उस जुमनाके किनारे जानेपर मन वही हो जाता है। वही गौएँ, जिनको वह चराया करते हैं, वही बछड़े हैं, जिनके साथ गायके थनमें मुँह लगाकर श्रीकृष्ण दूध पिया करते थे।

'सर्वभावेन भारत।' यह तो उपलक्षण है, यह तो मैं एक करानेकी बात आपको बोल रहा हूँ। वह है सर्ववित् जिसको सर्वरूपमें परमात्माका दर्शन होता है। और जब सर्वरूपमें परमात्मा होता है—

ईशावस्यामिदं सर्वम् यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

श्रुति कहती है 'स वेद सर्वम्'। वही यह सब है।

ब्रह्मैवेदं सर्वम्। आत्मैवेदं सर्वम्।
अहमेवेदं सर्वम्। सद्हीदं सर्वम्।
चिद्हीदं सर्वम्। सर्वं खल्विदं ब्रह्म।
अपूर्वं, अनपरं, अनन्तरं अबाह्यं तद् एदद् ब्रह्म॥
अयं आत्मा ब्रह्म। एतद् इदं अनुशासनं।
एषो उपदेशः। एषां उपनिषद्॥

परमात्माके सिवाय और कुछ नहीं। अब वह स्वयं परमात्मा और जहाँ हँसता है, खेलता है,

****

महात्माका चलना, हँसना, खेलना, बोलना, रोना, हायहाय करना सब परमात्माका स्वरूप है। जीना, मरना, जड़ होना और विद्वान् होना—सब परमात्मा है। दु:खी होना, सुखी होना सब परमात्मा है। द्वैत होना, अद्वैत होना, सब परमात्मा है। 'स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत।' अर्जुन, तुम बड़े प्रतिभाशाली हो। 'भा'में निरत हो—भा माने प्रतिभा। भरतवंशके आनुवंशिक योग्यतासे सम्पन्न परम प्रतिभाशाली हो तुम। तुम इस बातको समझते हो।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।

अर्जुन, मेरी तुम्हारी जोड़ी अच्छी मिली है। वक्ता मैं और तुम अनघ। अनघ माने निष्पाप। अघ माने पाप।

न हन्यते भोगं बिना इति अघ:।

भोगके बिना जिसका क्षय न हो उसका नाम होता है अघ। अर्जुन कैसे हैं? इनमें कोई अघ है ही नहीं। पहले भी नहीं था। अब भी नहीं है। पीछे भी नहीं रहेगा। जब अर्जुनने कहा-

पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिन:।

इन आततायियोको मारनेपर भी हमको पाप लगेगा। कृष्णने कहा-निष्पाप अर्जुन, न तेरे अन्दर कभी पाप था, न है और न तो होगा। क्योंकि मैं और तू दोनों एक हैं।

कृष्णो धनञ्जयस्य आत्मा, कृष्णस्य आत्मा धनञ्जय:।

महाभारतमें कहा कि कृष्णकी आत्माका नाम अर्जुन है। और अर्जुनकी आत्माका नाम कृष्ण है। इसीसे श्रीकृष्णने धृतराष्ट्रके पास खबर भेजी थी-

यस्त्वां द्वेष्टि, स मां द्वेष्टि, यस्त्वां अनु, स मां अनु।

जो अर्जुनसे द्वेष करता है वह मुझसे द्वेष करता है और जो अर्जुनके पीछे चलता है वह मेरे पीछे चलता है। इसलिए अर्जुन और श्रीकृष्ण तो एक है। वहाँ पापका तो कोई सम्बन्ध ही नहीं है। बोले—अनघ, तू है निष्पाप अर्जुन! विद्या और अविद्याके कार्यसे मुक्त। और यह मेरी कहीं हुई बात है, क्योंकि वेदान्तकृत-वेदवित् मैं हूँ। और मैंने यह सार-सार बात कही है।

एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।

बस, बुद्धिकी यह पराकाष्ठा है। जहाँतक बुद्धिमें एकत्व नहीं आवे, एक रहेगा तो आत्मा ही रहेगा। यह बात आप चाहे डायरीमें नोट कर लीजिये, चाहे अपने हृदयमें, चाहे अपने दिमागमें, यदि एक है, और एक है-यह बात पक्की है, तो वह दूसरा नहीं होगा। आत्मा होगा। यदि दूसरा होगा तो एक वह होगा और एक मैं होऊँगा, दो हो जायेंगे। एक होगा ही नहीं। एक हो ही तब सकता है, जब अपना आत्मा ही अद्वितीय ब्रह्म हो।

यदि ईश्वर अद्वितीय होगा, तो एक ईश्वर और एक मैं दोनों रहेगे और एक जगत् रहेगा। यदि एकत्व है—

सदेव सोम्य इदमग्रआसीत एकमेवाद्वितीयम्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।
एकं वै सद् बिभूव सर्वम्।
एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
बहुधा देवानां नामधा एक एव।

यदि ये स्मृति-श्रुतिके वचन जो हैं, ये सच्चे हैं और सच्चे हैं, तो अपने आत्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। यही 'एषां बुद्धिमतां बुद्धि: मनीषा च मनीषीणां यत् सत्यं अनृतेनेह—मर्त्येनाप्नोति मामृतम्।' यह नकली सिक्का मिला है। यह चल जाय, इसके बदलेमें सच्चा सिक्का मिल जाय। यह शरीर नकली है। 'मर्त्येनाप्रोति मामृतम्।' यही बुद्धिमानोंकी बुद्धि है। यही मनीषियोंकी मनीषा है कि इस थोड़े दिन रहनेवाले शरीरको प्राप्त करके हम अनन्त अद्वितीय वस्तुको प्रात कर लें और अपनी आत्माके रूपमें प्राप्त कर लें।

इति गुह्यतमं शास्त्रं इदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥

'बुद्धवा एतत् कृत्वा बुद्धिमान्स्यात्' नहीं है। यह करके बुद्धिमान होगा ऐसा नहीं है। 'एतत् लब्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्।' यह भी नहीं है। इसके साथ एक बढ़िया युक्ति जुड़ी हुई है। जो चीज करनेसे मिलती है, वह पैदा होती है और मिट जाती है। जो चीज कभी मिलती है, वह छूट जाती है, बिछुड़ जाती है।

सर्वे क्षयान्ता निचया: पतनान्ता समुच्चया:।
संयोगात् विप्रयोगान्ता मरणान्तं वो जीवितम्॥

बाल्मीकि रामायणमें, महाभारतमें यह श्लोक कई बार आता है। 'सर्वे क्षयान्ता निचया।' जो जोड़ेंगे वह क्षीण हो जायगा। और जो ऊपर उठेगा वह नीचे गिरेगा। जो जुड़ेगा वह छूटेगा। 'संयोग विप्रयोगान्ता, मरणान्तं वो जीवितम्। जिसका जन्म होगा वह मरेगा। 'सर्वे क्षयान्ता निचया, पतनान्ता समुच्चय:। संयोगात् विप्रयोगान्ता। मरणान्तं वो जीवितम्।' तब? ज्ञात्वा—अवगत्य, अनुभूय इसको जानने मात्रसे ही मनुष्य सब बुद्धियोंकी बुद्धि—पराकाष्ठाको प्राप्त हो जाता है। अमृतत्वको प्राप्त हो जाता है। अरे मैं तो अमृत हूँ।

बहुत जन्मोंके बाद तब कहीं मनुष्य ज्ञानवान होता है और ज्ञान होते ही जान जाता है, **'वासुदेव: सर्वम्।'** परमात्मा सब है, परन्तु महात्मा दुर्लभ है। 'स महात्मा सुदुर्लभ:।' श्रद्धालुओंके लिए **सुलभ है और** अश्रद्धालुओंके लिए दुर्लभ है। 'सुलभो दुर्लभश्च।' अब इसके बाद बताया कि अब तुम्हारे ऊपर **कोई बोझ नहीं** है। सर्वथा निर्भार हो गये। 'एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्।' चार बात होनी चाहिए। कृतकृत्य, एक **तो कहीं मरते** समय यह ख्याल न आवे कि हमारा यह कर्तव्य बाकी रह गया। मैंने यह नहीं किया। पछताते हुए **मत मरो**— हाय-हाय जिन्दगीमें मैंने यह नहीं किया। जो करना हो सो कर। यह पछताते हुए मत मरो कि **मैंने यह नहीं** छोड़ा। यह नहीं किया, यह नहीं छोड़ा, यह नहीं पाया, यह नहीं जाना।

****

यदि मरते समय यही सोचते हुए मरे कि जिन्दगीमें यह नहीं किया और यह नहीं छोड़ा और यह नहीं पाया और यह नहीं जाना तो पछताते हुए मरोगे। फिरसे लौटकर आना पड़ेगा। करनेके लिए, छोड़नेके लिए, पानेके लिए, जाननेके लिए फिर आना पड़ेगा। और यदि तुमने परम तत्त्वको जान लिया, 'कृतकृत्यश्च भारत' तो अर्जुन! तुम कृतकृत्य हो गये। कृतकृत्य होना—कर्मकी परिसमाप्ति। तब त्यागकी परिसमाप्ति, प्राप्तिकी परिसमाप्ति। सब ज्ञानकी परिसमाप्ति। एक बात यह भी है कि परिसमाप्ति अर्थ संस्कृतमें पूर्णरूपसे प्राप्ति होता है। आप्ति माने प्राप्ति। सम माने अच्छी तरहसे। और परिसमाप्ति, परिपूर्ण, परिसमाप्ति चारों ओरसे, चतुर्मुखी दृष्टिसे, समग्र दृष्टिसे, जो कुछ पाना था सो भली-भाँति प्राप्त कर लिया। इसका नाम संस्कृत भाषामें होता है समाप्ति। वह मरनेके अर्थमें नहीं है, खोनेके अर्थमें नही है। पानेके अर्थमें है, मंगलमय है।

दस दिनका संकल्प था, वह भली-भाँति परिपूर्ण हो गया। इसका नाम होता है—समाप्ति। समापन बोलो, समाप्ति बोलो, पूर्णता बोलो, पूर्णाहुति बोलो—बात कुल-की-कुल यही है, और सबसे बढ़िया यही बात है कि यदि आप परमात्माके इस तत्त्वको जानना चाहते हैं, इसी जीवनमें अनुभव करना चाहते हैं; इसी जीवनमें खुली आँख देखना चाहते हैं—'तूँ कहता कागजकी लेखी, मैं कहता आँखोंकी देखी।' यदि इसी जीवनमें प्राप्त करना है तो अपनेको किसी-न-किसी रूपमें परमात्माके साथ जोड़ो। स्मरण करो, ध्यान करो—स्मरण, ध्यान न हो, तो पूजा करो, पूजा न हो तो भगवान्‌का नाम लो। किसी-न-किसी रूपमें परमात्माके साथ अपनेको जोड़ो। और जब परमात्माके साथ जरा भी जोड़ोगे तो वह ऐसा नटखट है कि उँगली पकड़कर; पहुँचा पकड़ ले; यदि उसको मालूम पड़ जाय कि यह मुझे चाहता है। इतना प्रतीत हो जाय कि यह मुझे चाहता है तो वह जबरदस्ती पकड़कर रुक्मिणीको भीष्मकके घरमें-से जा करके, मन्दिरमें-से, युद्धभूमिमें-से, जाकर हरण कर ले आवे।

मालूम हो जावे कि हाँ—है कोई चाहनेवाला। बस, उसको चाहो, और वह पहुँचा। वह राक्षस-विवाह करके भी तुमको अपनावेगा, इसमें कोई शंका नहीं है। सीताजीसे ब्याह करनेके लिए रामचन्द्र पैदल गये अयोध्यासे—बिना बरात लिये ही। ऋषि-मुनियोंके साथ पैदल चलकर गये। ताड़काको मारा, अहल्याका उद्धार किया, मारीचको आगेके लिए फेंक दिया और सुबाहुको मार दिया-गंगापार की और जा करके धनुष तोड़ा सीताजी को प्राप्त करनेके लिए। एक बार सच्चे हृदयसे जीव कह दे कि हम परमात्माको पाना चाहते हैं, तो परमात्मा जबरदस्ती भी अपनेको मिला लेता है। लेकिन बोलना चाहिए सच्चे हृदयसे।

तवास्मि अभयं।

यह गीता है महाराज—यह कहती है—

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।

अविद्या, बेवकूफी और बेवकूफीसे माने हुए, किये पाप उनसे छूटनेकी जिम्मेदारी—बोले तुम्हारी नहीं, हमारी। पर तुम तो स्वयं हाथ-पाँव पीटकर छूटना चाहते हो, आजाओ मेरी शरणमें, मैं छुड़ानेके लिए तैयार हूँ।

****

****

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।

सर्वत्र है। आयोजनको 15 वर्ष हो गया—आता ही हूँ यहाँ। हमको उपदेश करनेकी वासना नहीं है। प्रचार हमारा मिशन नहीं है। कोई सभा नहीं है। हमलोग तो उस परम्परामें है कि जहाँ किसीको कुछ पूछना हो, जानना हो—आवे और पूछे। पूछनेपर भी हमारा मन हो तो बतावें—न मन हो तो कह दें कि छः महीने अभी गोबर पाथो। फिर बतावेंगे। ऐसी हमारी परम्परा है। लेकिन कुछ कमजोरियाँ भी हैं। वे कमजोरियाँ क्या है? यदि कोई प्रेम करे, सद्भाव करे, श्रद्धा करे, अपना समझे तो हम उसके पाँव भी दबा सकते हैं, उसकी मालिश भी कर सकते हैं। उसके चरणामृत भी ले सकते हैं। क्योंकि हमारे अच्छा-बुरा, बड़ा, छोटा ऐसा कुछ अपने मनमें नहीं है। सब एक ही है। और यह बात संन्यासी होनेपर आयी हो सो बात नहीं है। संन्यासी होनेसे दस वर्ष पहले हमको महात्माओंने यह अनुभव दे दिया था। ग्रन्थ तो मैंने पीछे देखे। दिमाग लायब्रेरी हो गया लेकिन पीछे हुआ। जब प्रभुदत्त ब्रह्मचारीजीने मेरा नाम ही लायब्रेरी रखा था। जैसे लोगोंका दूसरा नाम रखा जाता है।

अबकी उनको सुनाया तो हँसे और हँसकर बोले—मैंने ही तो 'पण्डित प्रवर' भी कहा था। पढ़ना-लिखना तो हुआ बादमें। यह सब भगवान्‌की कृपा है, भगवान्‌का ज्ञान है, भगवान्‌की बुद्धि है। और देखो गीतामें 'कृतकृत्यश्च भारत'—यहाँ कहकर जैसे उपदेशकी समाप्ति कर दी गयी। तब सोलहवें अध्यायमें क्या है? उसमें अर्जुनकी प्रशंसा है। दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्तिका वर्णन करके।

मा शुचः सम्पदं दैवी अभिजातोऽसि पाण्डव।

साधारण लोगोंके लिए आसुरी सम्पत्तिकी निन्दा, दैवी सम्पत्तिकी प्रशंसा और अर्जुनके लिए यह कहना कि तुम देवी सम्पत्ति-सम्पन्न हो, और सत्रहवें अध्यायमें अर्जुनका एक बड़ा विलक्षण प्रश्न है—वह क्या है, कि सोलहवें अध्यायमें कृष्णने कहा कि शास्त्रविधिका परित्याग करके जब कोई काम करता है तो उसको सुख-शांतिकी प्राप्ति नहीं होती। वहाँ अर्जुनने एक प्रश्न कर दिया कि यदि कोई शास्त्रविधिको छोड़ दे और केवल श्रद्धासे काम करे तो उसको सफलता मिलेगी कि नहीं?

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।

अद्भुत है यह-ये जो बड़े-बड़े पीठाधीश्वर लोग हैं, वह इस बातपर ध्यान नहीं देते हैं। कोई शास्त्र नहीं जानता है। शास्त्रकी विधि नहीं जानता है। शास्त्रकी विधि छोड़ देता है। लेकिन उसके हृदयमें श्रद्धा है और वह अच्छा काम कर रहा है तो उसकी क्या स्थिति होगी? तब उन्होंने सत्त्व, रज, तम श्रद्धाका विभाग करके—सात्त्विक श्रद्धासे उसका कल्याण ही होगा—भले उसने शास्त्रविधि छोड़ दी हो। और अठारहवें अध्यायमें सारी गीताका जो सार-सार है—संग्रह, प्रथम अध्यायसे ले करके और पन्द्रहवें अध्यायतक जितनी भी बात कही गयी है और सोलहवें, सत्रहवेंमें भी जो बात कही गयी है, उसको भगवान्‌ने इकट्ठा करके उपसंहार अठारहवें अध्यायमें रख दिया।

****

सो यह गीता तो भगवान्का हृदय है—'गीता मे हृदयं पार्थ' और उन्होंने बड़ा अनुग्रह करके, बड़ी कृपा करके, अपनेको नहीं, अपने दिलको हमलोगोंके प्रति समर्पित किया है और भगवान्के इस हृदयका, इस सद्भावका हम अपने जीवनमें लाभ उठावें, उन्नति करें, हमारा जीवन मङ्गलमय हो, भगवन्मय हो, आनन्दमय हो, अमृतमय हो, रसमय हो, मधुमय हो, लास्यमय हो। थिरकते हुए अपना जीवन व्यतीत करें। इसी प्रार्थनाके साथ हम इस प्रसंगको समाप्त करते हैं। धन्यवाद देनेकी तो आवश्यकता है नहीं-किसको कौन दे? अपनी बेटीको, अपने बेटेको कोई धन्यवाद थोड़े ही देते हैं?

स्वामीश्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

गीता-दर्शन

तीन खण्डोंमें पूज्य महाराजश्री
स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजीके
रोचक, सरस, प्रसन्न एवं गंभीर शैलीमें
प्रदत्त 130 प्रवचनोंका बेजोड़ संकलन है,
जिसके माध्यमसे भगवान् श्रीकृष्णका सन्देश
'गीता-दर्शन'के रुपमें, साधारण-से-साधारण
व्यक्ति भी समझ सकता है। पूर्ण विश्वास है कि
सुधी पाठक वर्ग पूज्य महाराजश्रीकी
प्रस्तुत व्याख्यासे अवश्य
लाभान्वित होंगे।

आनन्द कानन प्रेस
फोन : 2392337